

अप्रैल, १९५०



सचित्र आयुर्वेद

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०
कलकत्ता

सचित्र आयुर्वेद के ग्राहकों का लाभ

हमें यह सूचित करते हुए बहुत ही प्रसन्नता होती है कि श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की तरफ से आयुर्वेदीय चिकित्सा करने वाले वैद्यों को निम्नोक्त पाँच दवाओं के नमूने मुफ्त भेजने की व्यवस्था की गयी है—

१	मण्डूर भस्म	½ तोला
२	लोहभस्म साधारण	३ माशा
३	अभ्रकभस्म	१॥ माशा
४	बंगभस्म	१॥ माशा
५	मकरध्वज	३ मात्रा

इन दवाइयों के नमूने मुफ्त देने की व्यवस्था इसलिए की गयी है, ताकि वैद्यों के मन में बैठी हुई यह धारणा हटे कि विक्रयार्थ बनने वाली औषध घर जैसी नहीं बनती। इस धारणा के विपरीत श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ने यह सिद्ध कर दिया है कि बिक्री के लिए बनने वाली औषध उससे श्रेष्ठ होती है जो वैद्य लोग स्वयं निर्माण करते हैं; क्योंकि हमारा कार्य ही औषध निर्माण करना और दिन-दिन कार्य-क्षेत्र की उन्नति और वृद्धि करना है। निस्सन्देह व्यापार के तत्त्व न जानने वाले कुछ मूर्ख लोग नकली दवा बना कर बेचते हैं, परन्तु वे कभी भी श्रीसम्पन्न नहीं होते, सदा ही दुःखी और दरिद्र बने देखे जाते हैं। वे तो हेय हैं। अनुकरणीय निर्माता वे हैं, जिन की दवा की छाप व्यवहार करने वाले के हृदय पर अंकित हो जाय। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का यह नम्र दावा है कि जो कोई भी एक बार हमारी दवा व्यवहार में लाता है, वह सदा हमारी ही दवा व्यवहार करने को बाध्य हो जाता है।

बहुत से लोग कहा करते हैं कि श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की वैद्यनाथ प्राणदा ही प्रसिद्ध है। सो ठीक है। फिर भी, वैद्यनाथ प्राणदा के अतिरिक्त भस्म और कूपीपक्व रसायन के निर्माण में भी हम लोग भारतवर्ष भर में श्रेष्ठ समझे जाते हैं। इसका एक विशेष कारण है। वह विशेष कारण यह है कि भस्म और कूपीपक्व रसायन बनाने के लिए श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का स्वतन्त्र और निराला प्रबन्ध जहां भस्म और कूपीपक्व रसायन ही तैयार होते हैं। इस रसायन शाला के सब से पास का रेलवे स्टेशन २४ मील पर है। वहां भी पत्थर का कोयला नहीं मिलता। फिर सुदूर देहात में तो उससे भस्म और कूपीपक्व रसायन बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर विशुद्ध आयुर्वेद पद्धति से भस्म और कूपीपक्व रसायन बनाने के लिए वन्योपल, गोबरी, गोमूत्र, घृतकुमारी, अर्कक्षीर, मण्डूर आदि की पूर्ण सुविधा हमारी जैसी शायद ही किसी को प्राप्त हो। इस विशेष प्रबन्ध के बल पर ही हम लोग बढ़िया से बढ़िया भस्म और

(शेष कभर के तीसरे पृष्ठ पर)



सचित्र आयुर्वेद

निर्देशक

संदिग्धवनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद-महामहोपाध्याय, रसायनशास्त्री

श्री पं० भागीरथ स्वामी, आयुर्वेदाचार्य, भिषक्-चूडामणि

प्रधान सम्पादक

पं० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री

सहायक सम्पादक

पं० सभाकान्त झा, आयुर्वेदशास्त्री

वार्षिक मूल्य	४)	साधारण एक प्रति	।=)
यकृत्-अङ्क	१)	आयुर्वेद और सरकारअङ्क	२)

प्राप्ति-स्थान

भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

की

४ निर्माण-शालाएँ

४६ बिक्री-केन्द्र

और १४००० एजेन्सियाँ

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन के अध्यक्ष
आयुर्वेदोद्धारक, आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य का

आशीर्वचन

"'सचित्र आयुर्वेद' आयुर्वेदशास्त्र, वैद्यसमाज और जनता की उत्तम सेवा कर रहा है। मैं उसकी उन्नति की कामना करता हूँ।"

बम्बई,
२५ नवम्बर, १९४६

—*वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य*

आपका सहयोग

तीसरे साल की विशेषताएं

हमारे माननीय ग्राहक एवं अनुग्राहक जानते ही हैं कि यह दूसरे वर्ष का दसवां अंक उनके हाथ में है और दो अंकों के बाद उनका "सचित्र आयुर्वेद" तीसरे वर्ष में प्रवेश करेगा। हमें पूर्ण विश्वास है कि अब तक जिस प्रकार आयुर्वेद-प्रेमी जनता, सरकार एवं वैद्यसमाज का उत्तरोत्तर अधिकाधिक सहयोग हमें मिलता रहा है, वह हम भविष्य में भी इसी क्रम से प्राप्त करते रहेंगे।

तीसरे वर्ष में कुछ नवीन स्थायी स्तम्भ चालू करने के विषय में भी हम अपने माननीय लेखकों से पत्र व्यवहार कर रहे हैं और उन के सहयोग से इस के लिए एक सुनिश्चित योजना बना रहे हैं। आशा है कि इस प्रकार हम तीसरे वर्ष में आप की और भी अधिक सुव्यवस्थित पद्धति से सेवा कर सकेंगे। स्थायी-स्तम्भ बढ़ाने-घटाने के विषय में तथा अन्यान्य संशोधन-परिवर्धन "सचित्र आयुर्वेद" में जो आप चाहते हों, उनके विषय में आप के विचार जान कर हमें हर्ष और लाभ होगा। आप अपने बहुमूल्य समय में से कुछ समय इस के लिए निकाल कर अवश्य ही आयुर्वेदजगत् एवं भारतीय जनता का तथा हमारा बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं।

अवश्य ही यह कहने में हमें कुछ भी संकोच नहीं है कि "सचित्र आयुर्वेद" को सहयोग देकर आप आयुर्वेद शास्त्र, वैद्य समाज और जनता की सेवा में हाथ बँटायेंगे। यह कार्य आप कई प्रकार से कर सकते हैं। आप अपने मित्र वैद्यों के पते हमें लिख कर भेज सकते हैं, जिन के पास "सचित्र आयुर्वेद" की एक प्रति नमूने के रूपमें हम मुफ्त और डाक व्यय अपनी ओर से लगा कर भेजेंगे। इसके अतिरिक्त आप उन्हें स्वयं ग्राहक बना कर चन्दे का रुपया मनियार्डर द्वारा कार्यालय में भेज सकते हैं। पाँच ग्राहक बनाने पर आप को एक वर्ष तक "सचित्र आयुर्वेद" उपहार में दिया जायगा। अथवा आप ६ ग्राहक बना कर अपने विश्वास पर उनसे चन्दा ले सकते हैं और ५ का चन्दा कार्यालय में भेज कर छहो ग्राहकों को "सचित्र आयुर्वेद" भिजवा सकते हैं, यानी एक ग्राहक का चन्दा कमीशन के रूप में अपने पास रख सकते हैं।

साथ ही अपने आदरणीय पाठकों से और हमें उत्साहित करने वाले सभी आयुर्वेद प्रेमियों से एक निवेदन हम अभी से कर देना चाहते हैं कि "सचित्र आयुर्वेद" के तीसरे वर्ष में जो बन्धु ग्राहक बने रहना चाहते हों, या बनना चाहते हों, वे यह वर्ष समाप्त होने से पूर्व ही अपनी सूचना या वार्षिक मूल्य ४) कार्यालय को भेज दें। कारण, विगत दो वर्षों का हमारा अनुभव है कि हमारे बहुसंख्यक ग्राहक नवीन वर्ष शुरू हो जाने के बाद सूचना भेजते हैं, और तब तक प्रथम अंक प्रायः समाप्त हो जाता है, एवं हमें विवश होकर द्वितीय मास से उन्हें ग्राहक बनाना पड़ता है। आशा है कि कृपालु पाठक स्वयं भी हमारी इस विनम्र प्रार्थना पर ध्यान देंगे और अपनेजिन मित्रों को वे ग्राहक बनाना चाहें, उनका भी ध्यान इस ओर आकृष्ट करके उनकी सेवा करने का हमें अवसर देंगे।

व्यवस्थापक—"सचित्र आयुर्वेद" कलकत्ता

विषय-सूची

* श्री धन्वन्तरये नमः *

सचित्र आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष २	कलकत्ता, अप्रैल, १९५०	अङ्क १०

अन्य प्रान्तों के लिए अनुकरणीय

बम्बई प्रान्त के आयुर्वेद महाविद्यालयों को

बम्बई सरकार का अनुदान

अपने सन् १९४९-५० के अनुमान-पत्रक में बम्बई सरकार ने आयुर्वेदीय शिक्षण संस्थाओं को २ लाख ७५ हजार रुपये अनुदान देने का निश्चय किया है। इस रकम का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से है।

आयुर्वेद महाविद्यालय, पूना

(बच्चों के वासगृह, रुग्णालय के उपकरण और स्वस्थवृत्त की साधन-सामग्री के लिए) ....८१,१६० रु०

ओ० नाफ्कर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत

(आयुर्वेदीय रुग्णालय व आयुर्वेद महाविद्यालय की इमारत के लिए)...८१,००० रु०

आर्यांग्ल वैद्यक महाविद्यालय, सतारा

(डा० आगाशे रुग्णालय, व सूतिकागृह की इमारत के लिए)....५१,००० रु०

महागुजरात आयुर्वेद महाविद्यालय, नडियाद

(महाविद्यालय व रुग्णालय की इमारत के लिए) .. ३४,००० रु०

आयुर्वेद महाविद्यालय, अहमदनगर

(सूतिकागृह की इमारत व रुग्णालय के लिए) ....२७,८४० रु०

सम्पादकीय

राष्ट्रनिर्माण का आधार

सुप्रसिद्ध अंग्रेज मनीषी महात्मा रस्किन ने कहा था कि "किसी भी देश का सच्चा धन, वहाँ की स्वस्थ और सुशिक्षित जनता है।" अर्थशास्त्र के विद्यार्थी इस कथन से अच्छी तरह परिचित हैं और साथ ही इस कथन से भी कि हिन्दुस्तान में हम लोग सम्पन्नता के बीच गरीब बन कर रहते हैं।

'गरीब बन' कर रहने का यह अर्थ नहीं कि हम गरीबी का नाटक करते हैं, या विदेह राजा जनक की तरह अनासक्त हो कर सम्पत्ति का उपभोग करते हैं। इस कथन का सीधा अर्थ यह है कि हमारे देश में खनिज, प्राणिज, उद्भिज्ज द्रव्यों की कमी नहीं, प्रकृति ने वह सम्पत्ति हमें प्रचुर परिमाण में दी है, परन्तु हमारे देशवासी इस सम्पत्ति का उपयोग किंवा उपभोग नहीं कर पाते; क्योंकि उनमें स्वास्थ्य का, जीवन का, संस्कृति और शिक्षा का अभाव है। उन्हें नहीं मालूम कि वे क्या हैं और उन का देश क्या है। वे अपनी छिपी हुई शक्तियों को नहीं जानते, अपने देश की मिट्टी में छिपे हुए सुवर्ण को नहीं पहचानते। और यदि पहचानते भी हैं, तो उन में वह उत्साह नहीं है, वह जीवनी-शक्ति नहीं है, जो मिट्टी को सुवर्ण के रूप में परिवर्तित कर देती है।

हमारे मन में स्वभावतः प्रश्न उठता है कि कैसे हम उन में जागृति लाएँ, उन्हें जीवन प्रदान करें, जिस से वे अपनी शक्ति को पहचानें और उस का विकास करें। बड़ी-बड़ी योजनाएँ और मशीनें क्या अपने आप ही राष्ट्रनिर्माण कर देंगी? या उन के पीछे उन के संचालन के लिए जीवित-जागृत मानवों की भी आवश्यकता है?

यह प्रश्न सम्भवतः हमारे माननीय राष्ट्रनिर्माताओं की दृष्टि से ओझल हो रहा है। वे बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाने में लगे हुए हैं—कृषि सुधार की, बाँध बनाने की, बिजली की, पानी की, मशीनों की ये योजनाएँ बुरी नहीं। परन्तु इन योजनाओं का एक दूसरा पहलू भी है, जो शायद अधिक महत्वपूर्ण है। हमें मनुष्यों की आवश्यकता है, जो इन योजनाओं को कार्यान्वित कर के राष्ट्र को समृद्ध और सुखी बनाएँ।

वे मनुष्य कैसे तैयार होंगे? अवश्य ही शिक्षा और स्वास्थ्य की उन्नति से। परन्तु इन दो, सब से अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर हमारी केन्द्रीय सरकार ने एक-एक प्रतिशत ही रुपया खर्च करना स्वीकार किया है। क्या यह एक विडम्बना नहीं है?

व्यायाम-शिक्षण

पिछले दिनों पार्लियामेंट में मैसूर के एक सदस्य ने प्रस्ताव किया था कि विद्यालयों में व्यायाम-शिक्षण शीघ्रातिशीघ्र चालू कर देना चाहिए। प्रत्येक आयुर्वेद-प्रेमी और वैद्य अवश्य ही इस प्रस्ताव का स्वागत करेंगे। वास्तव में पाश्चात्य चिकित्सापद्धति ने औषधि सेवन पर अत्यधिक जोर देकर हमारे देश के जन-स्वास्थ्य को बहुत धक्का पहुंचाया है। परन्तु केवल अस्पताल और डिस्पेन्सरियों की संख्या बढ़ाते चले जाने से और बी० सी० जी० के टीकों पर खर्च बढ़ाते चले जानेसे हमारा जनस्वास्थ्य सुधर जायेगा, इसकी आशा दुराशा मात्र ही है। आयुर्वेद ने पथ्य और स्वस्थवृत्त का जो महत्त्व प्रतिपादित किया है, वह ध्रुव सत्य है। स्वस्थवृत्त एवं व्यायाम प्रभृति

विषयोंका शिक्षण यदि बच्चों को प्रारम्भ से ही दिया जाय, तभी हमारे जनस्वास्थ्य की नींव सुदृढ़ हो सकेगी और हम स्वस्थ शरीर में स्वस्थमनवाले आदर्श नागरिक अपने देश में निर्माण कर सकेंगे।

राजस्थान

सन्तोष भी, असन्तोष भी

हमें यह जान कर अतीव प्रसन्नता हुई कि कविराज प्रताप सिंहजी के सत्प्रयत्नों से राजस्थान में आयुर्वेद की अच्छी प्रगति हुई है। राजस्थान की सरकार ने राजस्थान के विकास के लिये एक करोड़ रुपये की एकवर्षीय योजना बनायी है। फिलहाल १ लाख रुपया आयुर्वेद के विकास के लिए स्वीकार किया गया है। एक प्रतिशत रकम कुछ अधिक नहीं है, परन्तु जब अन्य प्रान्तों से और अपने केन्द्र से तुलना करते हैं, तो राजस्थान सरकार को बधाई दिये बिना हम नहीं रह सकते।

फिर भी, यह प्रगति हमें सन्तोष जनक कैसे जँचे ? जहां चिकित्सा-विभाग में लगभग साढे ग्यारह लाख और स्वास्थ्य-विभाग में साढ़े साठ लाख खर्च किया जायगा और यक्ष्मा की एलोपैथिक-चिकित्सा व बी . सी . जी . के टीके पर ही विशेष रूप से लगभग साढ़े दस लाख रुपया खर्च किया जायगा, वहां आयुर्वेद के विकास के लिये एक लाख रुपया बहुत कम मालूम पड़ता है।

जैसा कि माननीय स्वास्थ्य मन्त्री जीने "आयुर्वेद-मण्डल" का उद्घाटन करते हुये कहा है, हमें आशा करनी चाहिये कि यदि आयुर्वेद-मण्डल ने इस रुपये को समुचित रीति से व्यय करके आयुर्वेद का विकास किया, तो राजस्थान-सरकार इस दिशा में और भी सहायता देगी। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये नियुक्त आयुर्वेद-मण्डल के सभी सदस्य राजस्थान में आयुर्वेद का मस्तक ऊँचा कर सकेंगे, इसकी हमें पूर्ण आशा एवं विश्वास है।

चिकित्सा और जनस्वास्थ्य में उन्नति

राजस्थान सरकार ने राजस्थान के विकास के लिये जो एककरोड़ रुपये की एकवर्षीय योजना बनायी है, उसमें चिकित्सा के मद में ११,'३,५००) खर्च किया जायगा। २५ नई एलोपैथिक डिस्पेन्सरियों और ५० आयुर्वेदीय औषधालय खोले जायंगे। एक चल-चिकित्सालय चालू किया जायगा। १०० ऐसे वैद्यों को आर्थिक सहायता दी जायगी, जो ग्रामों में रह कर चिकित्सा करेंगे। ग्रामों में औषधवितरण की व्यवस्था भी की जायगी।

जनस्वास्थ्य के लिये ६०,५३,००० रु० खर्च किये जाएँगे। ग्रामों में स्वच्छता, मलेरिया-निवारण, विद्यालयों में स्वास्थ्य-शिक्षण, और पौष्टिक भोजन तथा स्वास्थ्य विषयक प्रचारका कार्य किया जायगा।

लगभग ८४ पशुचिकित्सालय खोले जाएँगे, जिस में ५ लाख रु० खर्च होंगे।

उत्तर प्रदेश

अनुस्नातक वैद्य विद्यालय

उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से बनारस विश्वविद्यालय में अनुस्नातक वैद्य विद्यालय (Post Graduate course) आरंभ करने के लिये प्रार्थना की गई है। आयुर्वेद के शिक्षक तैयार करना इसका उद्देश्य होगा। इस अभ्यास क्रम का खर्च उत्तर प्रदेश सरकार देगी।

इस प्रश्न पर बनारस विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग की तरफ से पांच व्यक्तियों की एक समिति ने विचार किया है और सिफारिश की है कि अगले छः महीनों में अनुस्नातक वैद्य विद्यालय आरंभ कर दिया जाय।

ग्रामीणों के लिये चिकित्सा सहायता

प्रत्येक ग्राम को पाँच मील के अन्तर्गत चिकित्सा सहायता मिलनी ही चाहिये, यह उद्देश्य दृष्टि में रखकर उत्तर प्रदेश सरकार चिकित्सा सहायता की योजना बना रही है ।

उत्तर प्रदेश में चिकित्सा की सुविधाओं का विस्तार

राज्य की सरकार ने अपनी चिकित्सा सहायता के विस्तार की योजना के अन्तर्गत कुछ स्थानों पर नये चिकित्सालय खोलने की स्वीकृति दी है। योजना का उद्देश्य यह है कि किसी भी ग्रामीण को औषध लेने के लिये ५ मील से अधिक दूर न जाना पड़े। यह औषधालय निम्न स्थानों पर खोले जायँगे—

ऐलोपैथिक—जैठरा (जिला एटा); भगरुखल और बदयार गाँव (गढ़वाल जिला) ; बराई (गोरखपुर); भनगाहा (बहरायच जिला)।

आयुर्वेदिक—गोरियाबाद (जिला सुल्तान पुर); नीर (जिला हरदोई); पाटल और जंगेठी (जिला मेरठ); ओरय्या-डीह (जिला प्रतापगढ़), नीमसर (जिला सीतापुर); अलीगंज (जिला लखनऊ); सराओं (जिला देवरिया); रानी पुर (जिला झांसी) मादन और बरनहल (जिला मैनपुरी ; बांस गांव और कोपागंज (जिला आजमगढ़ ; नरेचा (जिला फतहपुर); मुंडा गालिब (जिला खीरी ; मूसानगर (जिला कानपुर); बाधुरा जिला मुजफ्फरनगर); मुंडावल (जिला बहरायच); मछली गाँव जिला गोंडा); कुली नगर (जिला बांदा); आर्य बाजार (जिला फैजाबाद); जरी बाजार और तिल्लापुर (जिला इलाहाबाद ; एकदिल (जिला इटावा ; डुमरी (जिला एटा); करौड़ा (जिला बुलंदशहर ; मदकोली (जिला बदायूं); कराली (जिला पीलीभीत) और रतनपुरा (जिला बलिया)।

यूनानी—मुस्मारिया (जिला जालौन); कशीरियां मतलब पुर (जिला शाहजहांपुर); बुरला (जिला अलीगढ़) और कलनपुर (जिला जौनपुर)।

मुजफ्फरनगर की जिला औषधालय परामर्श समिति में हकीम मुसद्दीलाल, श्री तिलकराम वैद्य और श्रीमती सावित्री देवी तथा अलमोड़ा की जिला औषधालय परामर्श समिति में श्रीमती सरला देवी; श्री देवीदत्त पांडे वैद्य और श्री रामदत्त पंत वैद्य नियुक्त किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त परिचर्य्याका शिक्षण देनेके लिये दो केन्द्र खोलने का भी प्रबंध किया जा रहा है। इन केन्द्रों में सामान्य और पुराने रोगों की परिचर्य्या का शिक्षण दिया जायेगा। ये परिचारिकायें इस प्रकार के कामों के लिये ही उपयोगी होंगी। इस प्रकार कुशल परिचारिकाओं को महत्वपूर्ण रोगियों की ओर ध्यान देने का अवसर मिलेगा।

उत्तर प्रदेश के बहुत से स्त्रीरुग्णालयों को सरकार ने अपने हाथ में लेलिया है।

उत्तर प्रदेश में कुष्ठ रोग पर उपचार करने वाले १५ केन्द्र हैं; जिन पर एक लाख ७७ हजार रुपया खर्च होता है। देवरिया और अलमोड़ा में कुष्ठ रोगनिवारक केन्द्र स्थापित किये जाने वाले हैं। कुष्ठ रोग निवारण में भाग लेने वाले समाज सेवकों की नामावली भी तैयार की जाने वाली है।

मध्यप्रदेश—

आयुर्वेदीय शिक्षण संस्थाओं की जाँच

मध्यप्रदेश (सी० पी० बरार) की आयुर्वेदीय शिक्षण संस्थाओं को सरकारी मान्यता देने की दृष्टि से उनकी जाँच करने के लिये तीन सभासदों की एक समिति नियुक्त की गयी है। वै. ल. ठा. शाह आयुर्वेद तीर्थ (अकोला) वैद्य पद्मा वार, आयुर्वेद

तीर्थ (यवत माल) वैद्य गं. बा. वैद्य, आयुर्वेद तीर्थ (चाँदा)।

नागपुर

नागपुर विश्वविद्यालय में आयुर्वेद संशोधन

नागपुर विश्वविद्यायल के २९ वें पदवीदान समारोह में भारत के प्रधान मंत्री माननीय पं. जवाहर लाल नेहरु के दीक्षान्त भाषणके बाद नागपुर विश्वविद्यालय के कोषाध्यक्ष श्री बानखेड़े ने विश्व-विद्यालय के आश्रयदाताओं की नामावली, उनकी दी हुई रकमों के साथ पढ़ कर सुनाई। उसमें आयुर्वेद संशोधन विषयक निम्न लिखित उल्लेख किया गया।

"सन् १९४९ में बंबई के फार्मसिस्ट एसोसियेशन ने नागपुर विश्वविद्यालय को पाँच वर्ष तक प्रतिमास ६००) आयुर्वेदीय संशोधन के लिये देने का निश्चय किया था।"

बम्बई

देशी वैद्यक बोर्ड के नाम में परिवर्तन

पाठकों को स्मरण होगा, हमने 'आयुर्वेद और सरकार अंक' में प्रस्ताव किया था कि 'देशी चिकित्सा पद्धति' शब्द प्रयोग के स्थान में 'आयुर्वेद' या 'आयुर्वेद यूनानी चिकित्सा पद्धति' शब्द प्रयोग होना अधिक अच्छा है। यह विचार बहुतों के मन में उठा था और हमें यह जान कर प्रसन्नता हुई कि विगत १३ मार्च को बम्बई की विधान-सभा में आरोग्य मन्त्री डा० गिल्डर ने यह सूचना दी कि १९३८ के विधान में प्रयुक्त "इण्डियन सिस्टम्स आफ मेडिसिन" शब्द प्रयोग के स्थान में "आयुर्वेदिक एण्ड यूनानी तिब्बी सिस्टम्स आफ मेडिसिन" शब्द प्रयोग किया जाय और बिना किसी टीका-टिप्पणी के उनकी यह सूचना तीनों वाचनों में स्वीकृत हो गयी।

कुष्ठरोग निवारण प्रचार

बम्बई प्रान्तीय सरकार ने भुसावल के सुप्रसिद्ध दे० भ० अण्णा साहेब दास्ता ने B. A. L. L. B. को प्रान्त का सामान्य कुष्ठरोग निवारण प्रचाराधिकारी—नियुक्त किया है। हाल ही में आपने सोजापुर जिले में दौरा किया।

उपवैद्य शिक्षण-क्रम

बंबई में व्यवसासियों को उपवैद्य का शिक्षण देने के लिये फार्मसी क्लास खोली गयी है। बहुत-सी औषधों की दुकानें सोमवार एवं रविवार को बन्द रहती हैं। इसको दृष्टि में रख कर हर रविवार तथा सोमवार को दिन में दो बजे से चार बजे तक ये कक्षाएँ चालू रहेंगी। यह कोर्स तीन मास का है। और कोर्स पूरा होने पर मंडल की तरफ से प्रमाण-पत्र दिए जाएंगे। इस विषय में विशेष जानकारी मंडल के निम्नलिखित पते पर मिलेगी—

७, हबाब टेरेस, लालबाग, बंबई १२

युवा चिकित्सकों को देहाती क्षेत्रों में फैल जाना चाहिए

कलकत्ता मेडिकल कालेज के स्थापना-दिवस पर डा० काटजू का भाषण

कलकत्ता मेडिकल कालेज के स्थापना—दिवस और पुरस्कार वितरण समारोह पर उसकी ११५ वीं वर्षगांठ के अवसर पर शनिवार २८ जनवरी १९५० को सभापपित्व करते हुए पश्चिमी बंगाल के गवर्नर डा० कैलाशनाथ काटजू ने युवा चिकित्सकों से देश की खातिर देहाती क्षेत्रों में फैल जाने की जोरदार अपील की।

छात्रों से आपने कहा कि उन्हें राजनीति में नहीं पड़ना चाहिए। उनके लिये यह बहुत ही अनुचित और अनुदार बात होगी ; जो कि मध्यम श्रेणी के कुटुम्बों के हैं कि वे अपना सारा समय अपने अध्ययन में न लगाएँ।

अपने भाषण प्रारम्भ करते हुए माननीन गवर्नर ने कहा कि महान भारतीय जनतंत्र की स्थापना के बाद वे इस प्रथम ही सार्वजनिक समारोह में भाग ले रहे हैं। और यह उचित तथा योग्य ही है कि यह समारोह एक-ऐसी संस्था का है जो कि जाति के स्वास्थ्य और हित के लिये एक शताब्दी से अधिक समय से कार्य कर रही है। वे भाग्यशाली हैं जो कि इस संस्था में हैं क्योंकि इसकी परम्परा उन्हें बहुत उत्तम प्रेरणाएँ देती हैं जो कि किसी नयी संस्था में उन्हें नये सिरे से चालू करनी होती। आपने आशा प्रकट की कि वर्तमान समय के छात्र उस परम्परा को जारी रखेंगे, जो कि पूर्वके सुप्रसिद्ध चिकित्सा एवं शल्य शास्त्रियों ने स्थापित की हैं ये अपने अवसर का पूर्णतम लाभ उठायेंगे।

चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन

आगे चल कर डा० काटजू ने उन प्रश्नों पर दृष्टिपात किया जो कि पहले कालेज के प्रिन्सिपल डा० चक्रवर्ती ने उठाए थे। आपने अयोग्य युवकों को चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन में आने से अनुत्साहित किया। आपने कहा कि यह समझना एक बड़ी भारी भूल है कि उपाधियों और प्रमाण प्रत्रों को प्राप्त करने के बाद ही किसी का अध्ययन समाप्त हो जाता है। वास्तव में तो चिकित्सकों और वकीलों का, जिनकी कि सदा ही परीक्षा होती रहती है, अध्ययन कभी भी नहीं पूरा होता। जो भी केस वो हाथ में लें, उसी में उनकी परीक्षा है। कानून और चिकित्सा के विषय श्रमसाध्य हैं, जिसका कि अर्थ है कठोर अध्यवसाय और विशिष्ट ज्ञान की प्रेरणा। अत: इन व्यवसायों में उस हालत में लगे रहने से कोई लाभ नहीं जब कि मन ही काम में न लगता हो। यदि कोई छात्र बारह महीने के बाद भी अपने को अयोग्य महसूस करे, तो उसे तुरन्त ही यह मार्ग छोड़ देना चाहिए- ताकि उसे ऐसे समय में असफलता का सामना न करने पड़े। जब कि पीछे लौटना बहुत देर की चीज़ हो चुकी हो।

चिकित्सकों को उपदेश

युवा चिकित्सकों से देहातों में फैल जाने का अनुरोध करते हुए डा० काटजू ने संकेत किया कि शहरों में अपनी संख्या अत्यधिक बढ़ाना स्वयं व्यवसाय की दृष्टि से लाभदायक नहीं है। आपने कहा कि उनमें से प्रत्येक शायद एक सर्वाधिकारी या नील रतन सरकार नहीं बन सकता। आपने उन युवा चिकित्सकों की आवश्यकता पर जोर दिया जो कि देहातों में जाने का चुनाव करें और बीच-बीच में नगरों में स्थित चिकित्सा के आचार्यों के साथ अपना संबंध ताज़ा करते रहें। उन्हें आधुनिकतम अनुसन्धानों को देखकर और उनका अध्ययन कर के अपने ज्ञान का और अधिक बिस्तृत-परिपुष्ट ताजा और पुन: नया कर के देहातों में वापस जाने के योग्य होना चाहिए। इस के लिये उन्हें सुविधाएँ और छात्रबृत्तियाँ तक दी जानी चाहिए। आपने विश्वास प्रकट किया कि एक गाँव में एक चिकित्सक के रहने से गाँव का निवासी कुछ हद तक जनस्वास्थ्य के नियमों और सामान्य स्वच्छता के विषयों में शिक्षा प्राप्त करेगा और उस की अवस्था सुधरेगी।

विशेषज्ञता पर बोलते हुए डा० काटजू ने कहा कि स्नातक का पाठ्यक्रम पूरा हो जाने के बाद यह प्रारंभ

होना चाहिए यह उन के लिये बहुत ही आवश्यक है जो कि देहातों में जाना चाहते हैं; ताकि वे एक सामान्य चिकित्सक की पूरी योग्यता प्राप्त कर सकें। रोग का इलाज करने की अपेक्षा संक्रामक रोगों को न फैलने देने में अधिक कौशल है अतः आपने आशा प्रकट की कि चिकित्सक रोग-प्रतिबंध में विशेषज्ञता प्राप्त करेंगे।

उपचारक पाठ्यक्रम

उपचारक पाठ्यक्रम में प्रविष्ट होने वाले छात्रों की न्यून संख्या पर खेद प्रकट करते हुए माननीय गवर्नर महोदय ने कहा कि किसी भी चिकित्सा पद्धति में चिकित्सक समुचित उपचार व्यवस्था के अभाव में कुछ भी नहीं कर सकता। उपचार का आपने चिकित्सा में ८५% और चिकित्सक का पंद्रह प्रतिशत महत्व बतलाया। आपने महिलाओं से अपील की कि वे देश सेवा के इस क्षेत्र में आगे आएँ।

नगर की अन्यान्य शिक्षण संस्थाओं के ही समान मेडिकल कालेजों में भी स्थानाभाव का जिक्र करते हुए डा० काटजू ने इस विषय में सरकार की चिन्ता प्रकट की किन्तु मार्ग में आने वाली आर्थिक तथा अन्य कठिनाइयों की ओर संकेत किया।

महत्त्वपूर्ण कार्य

"सचित्र आयुर्वेद का 'आयुर्वेद और सरकार अंक' मैंने आद्योपान्त पढ़ा है। आप ने इस के प्रकाशन में अद्वितीय योग्यता तथा परिश्रम का जो परिचय दिया है, उस के लिए अवश्यमेव सम्पूर्ण आयुर्वेद जगत् आप का आभारी रहेगा। वस्तुतः ऐसे विशेषांक की बहुत समय से प्रतीक्षा की जा रही थी। एक ऐसे समय में, जब कि हमारी राष्ट्रीय सरकार आयुर्वेद के सम्वन्ध में किंकर्तव्य विमूढ़ थी, आप ने इस विशेषांक का प्रकाशन कर के एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

"सचित्र आयुर्वेद" की अब तक की इतनी उन्नति उस के सुयोग्य स्टाफ, अटूट लगन और कठिन अध्यवसाय की परिचायक है। मेरी सम्पूर्ण आयुर्वेद प्रेमी जनता, विद्यार्थियों एवं संस्थाओं से प्रार्थना है कि वे इसे अधिकाधिक अपना कर इस पत्र के संचालकों का उत्साह बढ़ाएँ।"

२१-३-५० अशोक कुमार आयुर्वेदालङ्कार-लश्कर

कोई बात उठा नहीं रखी

"देश के स्वतन्त्र हो जाने पर आज आयुर्वेद के प्रति सरकार का क्या कर्तव्य है और वह क्या कर रही है, इन विषयों पर पूर्ण प्रकाश डालने वाले किसी आयुर्वेदीय पत्र के ऐसे विशेषांक की नितान्त आवश्यकता थी जिसमें इस ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करते हुए उस का मार्गदर्शन किया गया हो। 'सचित्र आयुर्वेद' का 'आयुर्वेद और सरकार अङ्क' इस आवश्यकता की पूर्ति करने में पूर्ण सफल रहा है। यह देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि इसे सर्वाङ्गपूर्ण एवं उत्तम से उत्तम बनाने में इसके सम्पादक एवं प्रकाशक महोदयों ने कोई बात उठा नहीं रखी। इसके लिए वे हमारी बधाईके पात्र हैं।"

चुनार, ३०-३-५० —वैद्य ठाकुर दलजीत सिंह

सरकार और आयुर्वेद अंक

एक नवीन दिशा

"नवजागरण के प्रभात में श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा संचालित 'सचित्र आयुर्वेद' का 'आयुर्वेद और सरकार अंक' नया कदम, नयी राह और नये बिचार ले कर प्रकाशित हुआ है।"

"यह निश्चित है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति हमारे भारतीय जनतन्त्र के नवनिर्माण के लिए 'मेरुदण्ड' है। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की शानदार परम्पराने 'सचित्र आयुर्वेद' जैसा मासिकपत्र संचालित करके जो राष्ट्रीय हित किया है' उससे हमारा आज का लिखा जाने वाला इतिहास भविष्य में गौरवान्वित होगा।"

"बैद्यवर पण्डित रामनारायण शर्मा जी का अनुकरणीय उत्साह एवं अध्यवसाय तथा परिपक्व प्रतिभा श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा अहरहः स्वादीयसी सुधा उत्पन्न कर राष्ट्र को जीवनी-शक्ति प्रदान कर रही है। बिद्वान् सम्पादक मण्डल की प्रतिभा मुमूर्षु आर्ष चिकित्सापद्धति को 'सचित्र आयुर्वेद" द्वारा अमृत प्रदान कर रही है।

"आयुर्वेद और सरकार अंक' ने सर्वथा युग की मांग पूरी की है। विषय-निर्वाचन और लेखचयन में नया दृष्टि कोण और नयी प्रेरणा है। सभी लेख 'सत्यं शिवं सुन्दरं' से ओतप्रोत हैं। सम्पादकीय विचारों में प्रेरणा और अध्ययन के सूत्र हैं। हमारा बिश्वास है कि जनता और सरकार—दोनों ही—इस से प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त कर अपने अपने कर्तव्य का पालन करेंगी।"

"सचित्र आयुर्वेद' का ध्येय पवित्र और रचनात्मक है और प्रणाली राष्ट्रीय। हम अपने इस स्वावीर्यगुप्त सहयोगी से उत्तरोत्तर अधिकाधिक राष्ट्रीय हितकी आशा करते हैं।"

१७-३-५०

(प्रयाग के सुप्रसिद्ध मनीषी और पत्रकार)

श्रीयुत देवदत्त शास्त्री

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन के ३७ वें अधिवेशन (देहली) के अध्यक्ष आयुर्वेदमार्त्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य का

भाषण

(गताङ्क से आगे)

योग्य अध्यापक तैयार करना

इस समय आयुर्वेद के योग्य अध्यापक मिलना कठिन हो रहा है। आयुर्वेद विद्यालयों में योग्य अध्यापकों द्वारा आयुर्वेद का अध्यापन न होने के कारण विद्यार्थियों की आयुर्वेद के प्रति उपेक्षा और पाश्चात्य चिकित्सा के प्रति अभिरुचि अधिक देखी जाती है। इसलिये आयुर्वेद में जिनका अच्छा पाण्डित्य हो और आधुनिक चिकित्साशास्त्र का भी जिनको परिचय हो ऐसे अध्यापक तैयार करने के लिये सब प्रकार के साधन-सम्पन्न विद्यालयों में उचित प्रबन्ध किया जाना चाहिये।

आयुर्वेद में अनुसंधान (रिसर्च)

इस समय आयुर्वेद में अनुसन्धान - कार्य आवश्यक है, ऐसा अधिकांश वैद्यों का मत है। हमारे राजकीय नेता, शासकवर्ग और कई डाक्टर भी यही कह रहे हैं। चोपड़ा-कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में आयुर्वेद में अनुसन्धान किस प्रकार हो, इसकी विस्तृत योजना दी है। बम्बई सरकार और केन्द्रीय सरकार ने अनुसंधान के विषय में सिफारिशें करने के लिये कमेटियाँ नियुक्त की हैं, उनकी रिपोर्ट अल्प समय में ही प्रकाशित होगी। आयुर्वेद महा-सम्मेलन को भी इस विषय में वैद्यों का दृष्टिकोण सरकार के सामने रखने और परामर्श देने के लिए विशेषज्ञों की समिति नियुक्त करनी चाहिये, जो आयुर्वेद में अनुसंधान किस प्रकार हो इसकी विस्तृत योजना तैयार कर के सरकार के सामने रखे तथा सरकार या किसी संस्था द्वारा जा अनुसन्धान-कार्य करें उनको परामर्श और सहायता देने का कार्य करें। यदि इस कार्य में आयुर्वेद-महासम्मेलन और वैद्य-समाज उदासीन रहा तो अनुसन्धान-कार्य पर राज्य के द्वारा किये हुए धन का व्यय निष्फल जाने और अनुसन्धान-कार्य से आयुर्वेद को लाभ के स्थान पर हानि होने की सम्भावना है।

आयुर्वेद में अनुसंधान करने वाले आधुनिक विज्ञानवेत्ता और डाक्टरों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि आयुर्वेद के संहिताग्रन्थ जब लिखे गये थे तब इस देश में लेखन-सामग्री (कागज) सुलभ न थी और मुद्रणकला का अभाव था। अतः उन्होंने अपने ग्रन्थ संक्षिप्त एवं सूत्ररूप में लिखे। विद्यार्थियों को पढ़ाते समय अध्यापक लोग संक्षिप्त सूत्रों की विशद व्याख्या मौखिक रूप से करते थे। और बहुत-सी बातें प्रत्यक्ष करके दिखाते थे, उनके पास आधुनिक वैज्ञानिकों के जैसी साधन सामग्री उपलब्ध थी या नहीं यह ऐतिहासिक सामग्री की अनुपलब्धि के कारण कहा नहीं जा सकता, तथापि उनके लेखों में दीर्घकाल का अनुभव, उनकी विलक्षण

अवलोकनशक्ति तथा प्रत्येक विषय का सतत अभ्यास और मनन स्पष्ट देखने में आता है।

आयुर्वेद के लुप्त चिकित्सा-कर्मोंके अनुसन्धान और पुनः प्रचार की आवश्यकता

आयुर्वेद में पंचकर्म (स्नेहन, वमन, विरेचन और बस्तिकर्म) चिकित्सा को विशेष महत्त्व दिया गया है। अनेक रोगों की चिकित्सा में पंचकर्म द्वारा चिकित्सा करना आयुर्वेद में लिखा गया है। बस्तिकर्म का प्रयोग केवल पेट साफ करनेके लिये ही नहीं अपितु अनेक रोगों के निवारण और बाजीकरण के लिये भी किया जाता था। परन्तु इस समय मलबार (केरल) प्रान्त को छोड़कर अन्यत्र इस चिकित्सा का प्रचार नहीं के बराबर है। इस प्रकार अग्निकर्म, क्षारकर्म, रक्तावसेचन, रसायन-चिकित्सा आदि चिकित्सा कर्म लुप्त से हो गये हैं। इनमें अनुसन्धान और इनके पुनः प्रचार की आवश्यकता है। वर्तमान समयमें जिन आयुर्वेद महाविद्यालयों में अच्छे आतुरायल भी हैं वहां इन चिकित्सा-कर्मों का अनुसन्धान और प्रयोग हो सकता है। उनसे यह कार्य हाथ में लेने का मेरा अनुरोध है।

दक्षिण भारत का सिद्धसंप्रदाय

दक्षिण भारत में सिद्धसंप्रदाय नाम से एक आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति प्रचलित है। इस संप्रदाय के आदि प्रवर्तक महर्षि अगस्त्य बताये जाते हैं। इस संप्रदाय का समग्र साहित्य द्रविड़ (तामिल) भाषा में लिखा हुआ है। इसके अनेक ग्रन्थ तामिल लिपि में छपे हुए उपलब्ध होते हैं। मूल सिद्धांतों के विषय में आयुर्वेद से इसमें क्या विशेषता है उसका मुझे पता नहीं। परन्तु तद्देशीय विद्वानों से जो कुछ सुना है उससे मालूम होता है कि भस्म-निर्माण और औषधकल्पों विशेषतः रसयोगों में विशेषता अवश्य है। सिद्धसंप्रदाय के साहित्य का संस्कृत या हिन्दी में अनुवाद होना, उत्तर भारत में उसके प्रचार के लिये आवश्यक है। आयुर्वेद में अनुसन्धान के साथ इसका भी अनुसन्धान होना चाहिये।

आयुर्वेदिक औषधनिर्माणशालायें (फार्मेसियाँ)

आयुर्वेदिक औषधों का जनता में अधिक प्रचार और वैद्यों की सुविधा, वैद्यों को बनाई औषधियां प्राप्त हों, उनका औषधनिर्माण का कष्ट और समय बच जाय तथा वे चिकित्सा-कार्य में अधिक ध्यान और समय दे सकें इसके लिए अच्छी साधन संपन्न और प्रामाणिक फार्मेसियों का होना भी नितान्त आवश्यक है। पाश्चात्य चिकित्सा के प्रचार में फर्मेसियों ने बड़ी सहायता की है, फार्मेसियों के सञ्चालकों को चाहिये कि वे औषधकल्प शास्त्रोक्त विधिसे बनावें, उनमें वे निश्चित और उत्तम औषध-द्रव्यों का ही प्रयोग कर और वैद्य लोग अपने घर में औषध बनावें तो जिस खर्चे पर औषध बने उस मूल्य पर औषधकल्प बेचें तो उनका व्यवसाय अच्छा चलेगा, उनकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी और वैद्य समाज को भी फार्मेसियों से अधिक लाभ पहुंचेगा। फार्मेसी-वालों को चाहिए कि वे आयुर्वेद शास्त्र में जो लाभ-प्रद योग वर्णित हैं परन्तु वैद्यों में प्रचलित नहीं उन योगों को भी बनावें और वैद्य समाज में प्रचलित करें। फार्मेसी वालों को चाहिये कि वे अपने व्यव-साय की उन्नति और आयुर्वेद के हित के लिये अपनी आयसे कुछ भाग औषधनिर्माण विषयक अनुसन्धान के लिए खर्च करें और अपने यहाँ अनुसन्धान विभाग भी आरम्भ करें। फार्मेसीवालों को चाहिए कि औषधनिर्माण विषयक विशेष ज्ञान सम्पादन के लिये वे योग्य विद्वानों को अपनी ओर से छात्रवृत्तियां देकर यूरोप, अमेरिका और जापान भेजें।

राज्यमान्य योगसंग्रह (फार्माकोपिया)

सब फार्मेसियों और अपने घर में औषध बनाने वाले वैद्यों के औषधकल्प (योग) एक निश्चितरूप (स्टेण्डर्ड) के बने, इसलिये नित्योपयोगी योगों का एक संग्रह तैयार करना नितान्त आवश्यक है। इस ग्रन्थ में मान परिभाषा का निर्णय, कल्पों की सामान्य और विशिष्ट निर्माणविधि, उद्भिज्ज-खनिज और प्राणिज-द्रव्यों के शास्त्रीय पर्यायनामों का निर्णय अमुक शास्त्रीय नाम से अमुक ही द्रव्य लेना चाहिये इसका निर्णय, अकृत्रिम और कृत्रिम द्रव्यों की परीक्षण-विधि, सिद्ध औषधकल्पों की यथासम्भव परीक्षण-विधि, योगों की मात्रा, सामान्य और रोग विशेष में अनुपान इन विषयों का समावेश होना चाहिये। यह कार्य राज्य को स्वयं अपने हाथ में लेना चाहिये और यदि राज्य के द्वारा यह कार्य तुरन्त होने की सम्भावना न हो तो आयुर्वेद-महासम्मेलन को यह कार्य राज्य और फार्मेसी वालों की सहायता से करना चाहिये।

आयुर्वेदिक स्वस्थवृत्त का प्रचार

आयुर्वेद तथा धर्म-शास्त्रों में वैयक्तिक स्वास्थ्य-विज्ञान (पर्सनल हाईजीन) का बड़ा सुन्दर वर्णन पाया जाता है। रोगनिवृत्ति की अपेक्षा रोग होने ही न देना, यह अधिक महत्व की बात है। आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त जिसमें दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या और सद्वृत्त का वर्णन है। इस पर सरल भाषा में सोपपत्तिक ग्रन्थ लिखवा कर उसका जनता में अधिक से अधिक प्रचार करना चाहिये। व्याख्याओं, चित्रपटों तथा चलचित्रों द्वारा जनता में आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त का प्रचार होना आवश्यक है। यह कार्य भी आयुर्वेद महासम्मेलन को अपने हाथ में लेना चाहिये। इसके लिये आयुर्वेद महासम्मेलन को अपने निरीक्षण में छोटी पुस्तिकायें (ट्रेक्ट) तैयार करवा कर स्वयं छपवाना, अन्य प्रकाशकों द्वारा छपवा कर प्रकाशित करवाना, और स्वयं तथा अन्यदानी दाताओं के द्वारा उन पुस्तिकाओं को वितीर्ण करवाना, प्राथमिकशाला (स्कूलों) में उनको पाठ्य पुस्तक के रूपमें स्वीकृत कराना आदि उपायों का अवलम्बन करना चाहिये।

आयुर्वेदिक सार्वजनिक औषधालय

आयुर्वेदिक चिकित्सा द्वारा जनता को रोग-मुक्त करने और आयुर्वेद के प्रचार के लिये बड़े शहरों एवं छोटे गांवों में आयुर्वेदिक सार्वजनिक औषधालय खोलने की आवश्यकता है। इस प्रकार के कुछ औषधालय प्रान्तीय सरकारों और धनी-दानियों की ओर से खुले भी हैं। परन्तु कुछ औषधालयों को छोड़ कर अधिकांश औषधालयों की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। इस प्रकार के औषधालयों में अच्छे पण्डित-शास्त्रज्ञ और अनुभव प्राप्त वैद्यों की नियुक्ति होनी चाहिये। उनको अच्छा स्थान, उचित उपकरण-साधन, योग्य सहकारी (कम्पाउण्डर आदि) पर्याप्त मात्रा में औषधं तथा वे निश्चिन्त और संतुष्ट रह कर अपना कार्य कर सकें उतना वेतन भी होना चाहिये। तभी इन औषधालयों से इच्छित लाभ मिल सकेगा और आयुर्वेदिक चिकित्सा में लोगों की श्रद्धा बढ़ेगी। धन-संकोच के कारण यदि अधिक औषधालय न भी खोले जा सकें तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं, परन्तु जो खोले जावें उनमें ऊपर लिखी हुई सब सुविधायें दी जानी चाहिये।

आयुर्वेदिक परिचारक-परिचारिकायें तैयार करना

आयुर्वेद में परिचारक को चिकित्सा का एक अंग माना गया है। वैद्यों को चिकित्सा-कार्य में सहायता और अनुकूलता हो इसलिये आयुर्वेदिक-पद्धति से जिनको स्नेहन, स्वेदन, वस्तिकर्म, प्रलेपन आदि

चिकित्सा-कर्म, क्वाथ, फाण्ट, हिम, क्षीरपाक आदि का ज्ञान प्राप्त हो ऐसे परिचारक-परिचारिकाएँ तैयार करने चाहिये। इनकी शिक्षा के लिये प्रचलित रोगपरिचर्या के ग्रन्थों से उपयुक्तांश लें, उनमें ऊपर लिखे हुए विषय बढ़ा कर उनकी शिक्षा के लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाने चाहिये। जिनमें आतुरालय हों ऐसे वर्तमान आयुर्वेद विद्यालयों में उनके लिये शिक्षा और कर्माभ्यास का प्रबन्ध करना चाहिये।

आयुर्वेदिक उपवैद्य (कंपाउन्डर) तैयार करना

सार्वजनिक आयुर्वेदिक औषधालयों के वैद्यों तथा अन्य चिकित्सकों के सहायतार्थ शिक्षित उपवैद्य तैयार करना आवश्यक है। उनको औषध-द्रव्यों का परिचय, उनकी मात्रा, औषधकल्पों का निर्माण, औषध-प्रयोग-विधियों का ज्ञान तथा औषध-वितरण सम्बन्धी सब आवश्यक ज्ञान होना आवश्यक है। उनकी शिक्षा के लिये स्वतन्त्र पाठ्य-ग्रन्थ बनाना चाहिये और वर्तमान आयुर्वेद-विद्यालयों में ही उनकी शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये। ऊपर मैंने इस समय आयुर्वेद महा-सम्मेलन और वैद्य-समाज को आयुर्वेद की उन्नति के लिये क्या विधायक (रचनात्मक) कार्यक्रम करना चाहिये इसका संक्षेप में विवेचन किया है। अब हमारी राष्ट्रीय सरकार को भी एतद्देशीय चिकित्सा-पद्धति की उन्नति के लिये क्या-क्या करना चाहिये उसका संक्षेप में निर्देश करता हूं।

१—केन्द्रीय चिकित्सा-बोर्ड की स्थापना

(Centrel Board of Indigenous Systems of Medicine)

सरकार को सब से पहले चोपड़ा कमेटी की सलाह के अनुसार एक केन्द्रीय देशीय चिकित्सा-बोर्ड की स्थापना करनी चाहिए; जो समग्र भारतवर्ष के लिये वैद्य, हकीमों को रजिस्टर करने के नियम, पाठ्यक्रम (कोर्स), डिग्रियां आदि देशीय चिकित्सा-सम्बन्धी सब विषयों में राज्य की नीति का निर्माण करें।

२—डायरेक्टर आफ आयुर्वेद की नियुक्ति करना

सरकार को अपने आरोग्य-विभाग (हेल्थ डिपार्टमेन्ट में) देशीय चिकित्सा-विभाग को स्वतन्त्र स्थान देना चाहिए और एक स्वतन्त्र डायरेक्टर आफ आयुर्वेद की नियुक्ति करनी चाहिये। इसका पदाधिकारी वैद्य ही होना चाहिये। राजस्थान यूनियन ने डायरेक्टर आफ़ आयुर्वेद की और उत्तर भारत (यू० पी०) सरकार ने डेप्युटी डायरेक्टर आफ हेल्थ सर्विस के स्थान पर वैद्यों की नियुक्ति की है। इसलिये हम उनका अभिनन्दन करते हैं। अन्य प्रान्तों तथा यूनियनों में भी सत्वर ही डायरेक्टर आफ आयुर्वेद की नियुक्ति करनी चाहिये। इस समय डायरेक्टर आफ हेल्थ सर्विसेस डाक्टर होते हैं, जिससे आयुर्वेद की उन्नति को योग्य अवकाश नहीं मिलता और उनके द्वारा प्रायः उसमें बाधायें पहुंचाई जाती हैं।

३—आयुर्वेदिक-पद्धति की उन्नति के लिये आर्थिक सहायता देना

आयुर्वेदिक-चिकित्सा-पद्धति का अधिक प्रचार करने से सरकार इस समय आरोग्य-विभाग पर जो खर्च कर रही है उसमें बड़ी बचत होगी। थोड़े खर्च में जनता को अधिक सहायता पहुंचाई जा सकेगी। इस समय विदेशों से दवाइयां मंगाने में जो करोड़ों रुपये सरकार और प्रजा को विदेश भेजने पड़ते हैं, वे नहीं भेजने पड़ेंगे। आयुर्वेदिक औषधों के निर्माण से वनस्पति-संग्रह करने वाले ग्राम्य लोगों को अधिक काम मिलेगा और यहां के मजदूरों को अधिक मजदूरी मिलेगी। और इससे लोगों को उनकी प्रकृति देश की जलवायु के अनुसार उनको औषधें मिलेंगी। अतः सरकार को चाहिये कि वह

आयुर्वेद में अनुसन्धान (रिसर्च) का कार्य शीघ्र आरम्भ करे, वर्तमान अस्पतालों में आयुर्वेदिक चिकित्सा के लिये अधिक रोगियों को रखने की व्यवस्था करें। उसमें आयुर्वेदिक-चिकित्सा में अच्छा अनुभव और श्रद्धा रखनेवाले वैद्यों की नियुक्ति करे, आयुर्वेदिक चिकित्सा और औषधों के फलों की परीक्षा करे और जैसे-जैसे वे फलप्रद मालूम होते जावें वैसे-वैसे विदेशी-चिकित्सा और औषधों के स्थान पर आयुर्वेदिक-चिकित्सा और औषधों के प्रयोग को अधिक स्थान देवे। इसलिये सरकार को आयुर्वेदिक अनुसन्धानालय और अधिक आयुर्वेदिक कालेज, अस्पताल और सावजनिक औषधालय खोल कर आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति इस देश की चिकित्सा और स्वास्थ्य-रक्षण की सब आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ हो ऐसा करने में उदारता से धन व्यय करना चाहिये। मुझे आशा ही नहीं अपितु विश्वास है कि इस प्रकार किया हुआ धन व्यय निष्फल नहीं जायगा अपितु लाभप्रद ही सिद्ध होगा।

उपसंहार

आयुर्वेद की और वैद्य-समाज की उन्नति के लिये इस समय हमारे सामने क्या विधायक (रचनात्मक) कार्यक्रम होना चाहिये वह मैंने आपके सामने रक्खा है। उसके साथ सरकार को भी भारतीय चिकित्सा-पद्धति को उन्नत करने तथा उसके द्वारा जनता को लाभ पहुंचाने के लिये क्या करना चाहिये इसका भी संक्षेप में निर्देश किया है। आप भी अपनी ओर से अपने सुझाव रख सकते हैं। आयुर्वेद के लिये यह क्रान्ति का समय है। आपको इस अधिवेशन में केवल भावनावश नहीं किन्तु विचारपूर्वक और दीर्घ-दृष्टि से वर्तमान परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर निर्णय करने होंगे। इन निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिये तन, मन और धन से भरसक प्रयत्न करने होंगे। इस समय हमारी सरकार की आयुर्वेद के प्रति नीति अस्पष्ट है। इधर पाश्चात्य संस्कृति से रंगे हुए और राज्याश्रय से परिपुष्ट डाक्टर लोग अज्ञान और स्वर्थ-वश आयुर्वेद को मिटाने के लिये उद्यत हैं। वे लोग यह प्रचार कर रहे हैं कि आयुर्वेद किसी समय में उन्नत होगा, परन्तु इस विज्ञान-युग में जब कि आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र वैज्ञानिक वेग से प्रगति कर रहा है, नित्य नवीन-नवीन सिद्धफल औषधों का आविष्कार हो रहा है तब आयुर्वेद के गड़े हुये मुर्दों को पुनः जीवित करने का यत्न और उसके लिये सरकार का धन का व्यय करना निरर्थक है। उनका यह भ्रम है। आयुर्वेद अब भी जीवित है। उसमें अनेक सिद्धान्त और औषधरूप रत्नों का भण्डार भरा हुआ है। परन्तु काल की उथल-पुथल और राज्यकर्त्ताओं की उदासीनता तथा प्रोत्साहन के अभाव के कारण जीर्ण-शीर्ण अवश्य हुआ है। यदि इसको प्रोत्साहन दिया जावे, इसमें अन्वेषण-कार्य किया जावे तथा इसका जीर्णोद्धार और नव-निर्माण हो तो आज भी यह समग्र जगत् का उपकार कर सकता है। इस समय वैद्य-समाज यदि असावधान और अकर्मण्य रहा तो इस देश की प्राचीन राष्ट्रीय चिकित्सा के विनाश की सम्भावना है। इसके साथ-साथ आपको यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि दुर्बल मनुष्य (या शास्त्र) जीवित रहने के लिये अयोग्य होता है। जीवित वही रह सकता है जो नवीन आहार (ज्ञान) को ग्रहण करके अपने में हज़म कर लेता है। आपको भी नवीन विचार और ज्ञान से आयुर्वेद को परिवर्द्धित-पुष्ट करना होगा। हमारे महर्षियों ने सत्य ज्ञान को कहीं से भी लेने का उपदेश किया है। (नीचादप्युत्तमां विद्याम्—मनु)। आपको आयुर्वेद को परिवर्द्धित करके तत् द्वारा अपने को राष्ट्र की चिकित्सा और स्वास्थ्यसंबन्धि रक्षण की सब जिम्मेदारियों को उठाने के लिये समर्थ बनाना होगा। यदि यह कार्य कर सकें तो आयुर्वेद का भावी उज्ज्वल है। अन्यथा हम लोगों की अकर्मण्यता के कारण आयुर्वेद की अधोगति अवश्यम्भावी है। कोई भी विद्या या कला की उन्नति राज्याश्रय के बिना नहीं हो सकती। अब सरकार हमारी ही है। आयुर्वेद की उन्नति के लिये सरकार से सहायता मांगना हमारा हक है। और इस देश की चिकित्सा-पद्धति को सहायता देकर उन्नत करना राज्य का धर्म है।

निखिल भारतीयायुर्वेद विद्यापीठ सप्तत्रिंशत्तम शिक्षा-सम्मेलनस्य

सभापतेः

श्री हनुमान् आयुर्वेद विद्यालयाध्यक्षस्य, रतनगढ़ (बीकानेर)

वैद्य पं० श्री मणिराम शर्मा भिषगाचार्यस्य

भाषणम्

(गताङ्क से आगे)

प्राच्यप्रतीच्यचिकित्सयोस्तुलना

इयं नव्यानां विज्ञाननिकषे निघृष्टा भव्या चिकित्साकृतिः। एतच्चिकित्साक्रमेण तु रोगश्चान्तरान्तरा समेधमानो रोगिणं जीर्णयंश्च तिरोहितो भवति। तदात्वे रोगी चेत्थं व्यवस्यति यन्नवीन भिषजा चमत्कारिणी चिकित्सा कृता, यदहं भेषजग्रहणसमकालमेवसुखी सम्पन्न इति स नवीन भिषजी गाढं विश्वसिति, परान् विश्वासयितुं प्रयततेऽपि। तथैव भव्या नव्याः प्रतिश्याय पीनसशूलादिरोगेषु रूपान्तरापन्नमहिफेनादिकमुग्रं संकोचकं द्रव्यान्तरं वा प्रयुज्य तन्निरोधयन्ति। तथैव वृक्कशूलादौ पीडाशान्तिर्निद्राप्तिश्च मादकैर्द्रव्यैरेव क्रियते, परं चैतेन यावन्मदावस्था तावदेव शांतिर्नतु चिरस्थायिनी सा। प्रत्युत नाडीचक्रं शून्यं स्तब्धं वा भवति येनरोगान्तरमाप्नोति रोगी।

इतोऽप्यवधीयताम्

भगवान् धन्वन्तरिर्हि विकारकारिणः कुपितान् दोषान् शारीरशल्यतया वर्णयति, शल्यविवेचनावसरे यथा—तत्र शारीरं दन्तरोमनखादिधातवोऽन्नमलाः दोषाश्च दुष्टा इति। इदानीं सूक्ष्मया दृशा विवेच्यं यच्छल्यानि शरीरान्तः शमनीयानि, उताहो समूलोन्मूलनीयानीति। यदि शरीर सद्म, दोषाश्च संकराः कंटका वेति मन्येत, तत्वेन च आलोचयामस्तर्हि तत्र नव्यादृत चिकित्साक्रम उपादेयोऽथवा आयुर्वेदोपदिष्टः क्रम इति सुधिय एव विभावयन्तु। विवेचयन्त्विदानीं विचारचतुराश्चिकित्सकाः यन्नव्यवैद्यैरुपयोगेऽधिक्रियमाणायाः चिकित्सापद्धत्यारायुर्वेदस्तद्विदोवाऽनभिज्ञाः सन्त्यतः सा तैरनुपयुज्यते नेति विभावनीयम्। आधुनिकैर्वैज्ञानिकैस्त्वबहुश्रमेणेयं गवेषणा कृता, कृत्वा चेमां स्वात्मानं धन्यं मान्यमाना आयुर्वेदमाक्षिपन्ति यन्नेदं शास्त्रं विज्ञानतुलया तुलयितुमर्हतीति। परमालोचयन्तु विज्ञाः आयुर्वेदः स्वसेविभ्यश्चिकित्सकेभ्यः पूर्वमेवचिकित्सा प्रयोगः कीदृशो विधेयो वैद्येनेति, कियत् सर्वाङ्गीणसौन्दर्यव्याधितानां कृते परम सुखोदर्कं चोपदिशति। रुग्णेषु स एव चिकित्साप्रयोगः प्रयोक्तव्यः, योऽन्यमन्यं व्याधिमसमुद्भाव्यैव जातं व्याधिं शमयेत्। यश्च प्रयोगो जातं व्याधिं शमयेत् परमन्यमन्यं प्रकोपयेत् कालान्तरे प्रयोगसमकाले वा न स चिकित्सा प्रयोगः प्रयोगस्तदुक्तं स्पष्टशब्दैरेव—

> प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योन्यमन्यमुदीरयेत्।
> नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेत् यो न कोपयेत्॥ ॥इति॥

पूर्वोक्त सूत्रे हि विशुद्धशुद्धेति पदद्वयं सर्वथेदमभिव्यंजयति यदायुर्वेदो वैज्ञानिकानां परं विज्ञानं, यतो ह्याधुनिका नव्या यं चिकित्सा प्रयोग परं विज्ञान मन्वते तत्त्वायुर्वेदज्ञ र्बहुकालपूर्वमेव हेयोपादेयरूपेण स्पष्टं प्रदर्शितमेव।

पंचकर्म

आयुर्वेदविदोविद्वद्वैद्याः ?

भारतीय विद्यावरिष्ठस्यायुर्वेदस्यावनतावनेककारणानि सन्ति। तत्र वैद्यानां तदुपदिष्टमार्गाऽननुसरणमेव प्रधानं कारणम्।

आयुर्वेदे हि प्रत्येकरोगस्य चिकित्साक्रमे समुदितस्य व्यस्तस्य वा पंचकर्मणः समुल्लेखो विलोक्यते तथा स्वस्थस्य स्वास्थ्यानुवर्तनायापि तदुपयोगोपदिष्टः। काले च वैद्यके तत् कियदुपयुक्तमिति विवेचनार्हमेवेति विविच्यते किञ्चित्।

यद्यपि दोषाश्चक्रवद् घूर्णमाने काले स्वस्वसंचयप्रकोपप्रशमनानुकूलकालमासाद्य संचयप्रकोपप्रशममापद्यन्ते, इति प्राकृतिको नियमः—

चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु।
वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशरादिषु॥ इति

यदि चेमे स्वतौ प्रबलप्रकोपकमनापद्यमानाः स्युस्तर्हि प्रकृतिरेव तच्छान्ति करमृतुमासाद्य तं तं दोषं शमयति, यदा च त एव प्रबलं प्रकोपमासादयन्ति तर्हि केवला प्रकृतिस्तच्छमने न प्रभवतीति प्रत्यक्षम्। आयुर्वेदस्य चायं सुपरीक्षितः सिद्धान्तो यत् संचिता क्रुद्धा दोषा मारका गाढं रुजः कारका वा स्युरिति। संचयश्च दोषाणां द्विविधः—सञ्चयोऽत्यर्थसंचयश्चेति भेदात्। ते च यदा संचिताः कुपितास्तदा स्वप्रशमतौ स्वल्पभेषजप्रयोगेन शाम्यन्ति स्वतोवेति बहुशो दृष्टचरं नः। अथ च स्वप्रकोपकतौ प्रबलप्रकोपमासाद्यात्यर्थं संचिताः पंचकर्मभिरनुपक्रम्यमाणाश्च जीवतच्छिद एव प्रायो भवन्ति यथा—

अत्यर्थं संचितास्तेहि क्रुद्धाः स्युर्जीवतच्छिदः।

इति वाग्भटे। एवं च तन्निर्हारकाणां पंचकर्मणामेव केवलानां क्रियानुपयोगस्तदवस्थायामिति चिकित्सा चतुराश्चिकित्सका एव साक्षिणः। प्राचीनकालीना जनाः शास्त्रसंमतामृतुचर्यां दिनचर्यां सदाचारं चाचरंतिस्म। आसंश्च व्रतोपवासजपतपोहोमपुण्यपरायणाः खाद्यपेयभक्ष्यादिकं सर्वमभ्याहारजातं पवित्रमेव जेमन्तिस्म। इदानीन्तनानामिव शीघ्रं शीघ्रं विदेशगमनं न कुर्वतेस्म। हस्तचक्रिक्या पिष्टेन चूर्णेन पवित्रा गृहिण्यो भोजनं सम्पादयामासुः। कूपनदीसरेभ्यो निजहस्ताकृष्टं वस्त्रपूतं जलं प्राप्यापुः। अन्य सर्पिरादिपोषकं पदार्थजातं वास्तविकमेव लेभिरे, अतएव शरीरतो बलतो बुद्धितो वयस्तोऽस्मदपेक्षयैधांचक्रिरे, व्यायाम रुचयश्चासन्। एवं च दोषाणां कृते प्रायः स्वात्मानं चरितार्थयितुमीदृग्विधः समयो दुर्लभं एवासीत्। अतो दोष प्रतिकारिणां पञ्चकर्मणां न ह्यासीत् तावान् प्रयोगः, रसायनैषिण एवं प्रायः पुरैषां प्रयोगमकार्षुरात्ययिके व्याधौ च। प्राक्तनकालापेक्षया चास्मिन् काले पञ्चकर्मणां महतीमावश्यकतां प्रतीमः। यत इदानीन्तना मानवाः शास्त्रसम्मतां सर्वामेव मर्यादां हितोदर्कामपि परिहरन्तो दृष्टाः। सदाचारश्च कः कीदृगित्यपि तैर्न ज्ञायते। सदाचारस्तु तेभ्यो दूरंगत इति स स्वप्रायातोपि न भवति।

व्रतोपवासजपतपहोमादिकाः कुतस्तद्विरुद्धाचरणैरेव समयः संतोषश्च वाराकैर्न लभ्यते। अधुना तु धूमबहुलसुयंत्राकलितासु बाष्पशकटीष्वहरहर्यातायातं विदधानाः स्वाभिमतं देशं यावन्नाप्नुवन्ति तावन्मार्गपाकालयहोटलादिषु पुराणस्य पर्युषितस्य निःसारस्य विद्युच्चक्रिकाकृतचूर्णस्यान्नस्य भोजनं यच्च दर्शनमात्रेणैव सुन्दरं वस्तुतो मिथो विरुद्धेष्वसकृदधिश्रितेषु स्नेहेषु तलितं समुच्छिष्टं येन केनापि स्पृष्टं दृष्टिदुष्टंमुञ्जते।

यंत्रकलयैवाकृष्टं जलं पिबन्ति। कामक्रोधेर्ष्यादिदूषितस्वान्ताः स्वकर्तव्यमार्गभ्रष्टाः ज्ञानदुर्बला एव दोषाणामत्यर्थं संचयं लभन्ते। आलस्यसंचयादिपरायणाः स्वार्थपराः स्वल्पाग्नयः सुकुमारशरीरा वैद्यमानिनो भीरवः कृतघ्नाश्चण्डाश्च दृश्यन्ते। ते बह्वीतिकर्तव्योपलक्षितपंचकर्मचिकित्सां बहुकालफलदां गृहकार्यव्यग्रतया स्वशरीरं प्रत्यननुकूलां मन्यमानाः पाचनचिकित्सयैव व्यवहरन्ति न च तया रोगमुक्ता भवन्तीति। अतो नितरामिदानीं पंचकर्मणामावश्यकतां जानीमहे। यद्यपि पंचकर्मणां पुराणी पद्धतिः सर्वथैव परिमार्जिता सैवाधुनोपयुज्येत, तर्हि तु तदनुसारि सर्वं विधिजातं चतुरान्तम् तथापि न ते बलवन्तः क्लेशसहा नरा न वा स समयः समीरणो वा, साम्प्रतं धनमेव स्वप्राणान् मन्यमानानां वृषवत् सर्वदिनं वहतां त्यक्त व्यायामानामास्यासुखमनुभवतामपि क्रयविक्रयलेखनादिकार्येभ्यः समयमप्राप्तवतां कृते "त्र्यहावरं सप्तदिनं परं" त्वित्याद्युक्त क्रमो नोपयुज्यते। किन्तु यस्मै श्वो विरेचनं देयं तस्मै पूर्वदिन एव भोजनकाले विचारणा विधेया स्नेहसंमिश्रां द्रवप्रायां कृशरां संभोज्य, परदिने च कोष्ठवयःसत्वानुरूपां मात्रां प्रदाय विरेच्यः। विरिक्तश्च तदहरेव विरलद्रव्यमन्नमुपयुंजानः प्रत्यहमिव स्वकार्ये समुपस्थितो भवति : एवं वमनार्हं पयोदध्यादिनापूर्वं समुत्क्लिष्टकफं कृत्वा दधिद्विदलादिकमाकण्ठं पाययित्वा मात्रानुरूपं भेषजं प्रदाय वामयेत्। वान्तश्च स्वसाध्यं कार्यं साधयितुं भृत्यादिषु यातीति बहुशो विहितविधिरयम्। अनेक कल्पेन यथायथं वस्त्यादिकानामुपयोगः कार्यः, भवन्ति चानया रीत्या सुखिनो रोगमुक्ताश्चजनाः। अतः समयानुसारेण पंचकर्मणां पूर्णावश्यकता प्रतीयते। अतस्तदवश्यं वैद्यैर्घ्यानेन प्रयोगेऽधिकर्तव्यम्। रसायनकामास्तु समुदितस्य पंचकर्मणः प्रयोगं मासद्वयेन यथापूर्णं स्यात्तथा चरेयुः।

इदं त्ववश्यमेवावधेयं श्रीमद्भिर्यत् केचन वदन्ति पंचानां स्नेहस्वेदविरेचनवस्तिनस्यानां समाहारः पंचकर्म, तदत्र स्नेहस्वेदौ प्रसिद्धौ, विरेचनं तु शरीरमलविरेचनाद्वमनविरेचनभेदेन द्विविधम्। वस्तिश्च निरुहानुवासनोत्तर भेदेन त्रिविधः। नासया प्रणीयमानमौषधं नस्यं भवतीति, परं चैतन्नायुर्वेदसम्मतम्। यद्यपि विरेचनादौ प्रयोक्तव्ये पूर्वं स्नेहस्वेदयोरावश्यकता, न ह्यनुत्क्लिष्टे दोषे विरेचनादयः प्रयुज्यन्ते तथापि स्नेहस्वेदौ पंचकर्मणः पूर्वकर्मणी वर्तेते, न तु पंचकर्मकायप्रविष्टौ, न हि तौ प्रभूतमलहरणशक्तौ, किन्तु दोषोत्क्लेशं संशमनं वा कुरुतस्तदेवं प्रभूतमलनिर्हारकत्वे सति रोगहरणशक्तिमत्वं तत्वमिति पंचकर्मलक्षणं सुसम्पन्नं भवति। अत आयुर्वेदरूढिसंज्ञया पंचकर्मपदेन वमनविरेचननिरुहानुवासननस्यानि गृह्यन्ते। एतच्च प्रभूत मलहारीति संक्षेपः।

विद्वांसः !

पंचकर्म विषये इदं तु मह्यमतीव रोचते, मन्मतं चापि यत् सर्वाश्चिकित्साः पंचकर्मान्तर्गता, नास्ति कश्चिद्रोगो यत्र पंचकर्म न प्रयुज्येत।

कुत्रचिद्रोगे समुदितं प्रयोगार्हं कुत्रचिद् व्यस्तमिति त्वन्यदेतत् यद्यपि चरके—

> दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद्यस्यैतानि भिषग्वरः।
> न स्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सतः॥

'अस्त्युरुस्तम्भ इत्युक्ते गुरुणा' इति प्रश्नोत्तराभ्यामुरुस्तम्भे समस्तं व्यस्तं वा पंचकर्म तदपहर्तुमसमर्थमिति प्रतिपादितं, तथापि तत्रैव पंचकर्मोपाङ्गभूतः स्नेहस्वेदक्रम उक्तः। यथा—

> स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातमयापहः। इति

तदेवमुरुस्तम्भचिकित्सायां उपक्रमेऽपि यदि विरेचनं स्यात्तदा न दोषावहमपितु हितावहमेव, यतो विरेचनं शोषणकारि तच्च शोषणं तत्र यौगिकम्—

> चतुष्प्रकाराः संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ।
> पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लंघनम्॥

इत्युक्तदिशा दशविधलंघनान्तर्गतं विरेचनं, एवं च लंघनान्तर्गतविरेचनशोषणमुपपन्नमेवातस्तत्रोरुस्तम्भे तद् यौगिकमेव। नन्वेवमवम्यादीनां का गतिरिति ब्रूमः। अवम्यादीनामपि रोगविशेषस्यातीतामवस्थां निरीक्ष्य तत् प्रयोज्यमेव भवति, यथावम्यादीनां वमनादिसाध्यैकरोगे विषगराद्यव्यवहारे तस्य प्रवृत्तिरस्त्येव।

तदुक्तं हि—

न चैकान्ते न निर्दिष्टेऽप्यर्थेऽभिनिविशेद् बुधः।
स्वयमप्यत्र वैद्येन तर्क्यं बुद्धिमता भवेत्॥
उत्पद्यते हि सावस्था देशकालबलं प्रति।
यस्यां कार्यमकार्यं स्यात् कर्मकार्यं च वर्जितम्॥

तदेवं सर्वरोगाणां चिकित्सितं पंचकर्म भवत्येवेत्यवश्यमेव वैद्यैः प्रयोगे करणीयमिति संक्षेपः।

पाठ्यक्रमः

महीयांसो विद्वांसः!

यतो हि प्रगतिशीलेऽस्मिन् युगे प्रत्येकसाहित्ये विज्ञाने च यत्र नवनवा रचना गवेषणाश्च संभवन्ति, अतस्तदेव साहित्यं विज्ञानं वा द्रुतं गच्छता समयेन सहप्रगन्तुं प्रभवति यदुन्नतं स्यात्।

यद्यस्मिन् समयेऽस्मदीयायुर्वेदसाहित्यस्य विज्ञानस्य वा प्रगतिं वृद्धिंविधित्सवो भवन्तस्तर्हि "सुभाषितं बालादपि ग्राह्यम्" इति सूक्तिं स्मारं-स्मारं सुरभारतीकृतसंस्कारेण प्रतीच्यविज्ञानवैभवेनापि प्राच्यायुर्वेदविज्ञानकोषं परिपूरयन्तो यत्र स्यात्प्राच्यप्रतीच्य वैमत्यं तत्र सयुक्तिकं सामञ्जस्यं स्थापयन्तु। वर्तमानसमयेचायुर्वेदस्य पठनपाठनप्रणाली न सर्वाङ्गीणा वर्तते। छात्रा एवमध्यापकाश्च प्रायोऽन्यासां पाश्चात्यादिपद्धतीनामनुकरणं कुर्वाणा आयुर्वेदं नोत्कर्षयन्ति।

पाठ्यक्रमनियंत्रणाभावे बहवश्छात्राः संस्कृतमधीत्य पुनः स्वयमेवायुर्वेदाध्ययनपरायणा आयुर्वेदाचार्योपाधिधारिणोऽपि व्यावहारिकीं चिकित्सां व्यवहारायुर्वेदं वा ज्ञातुं न शक्नुवन्ति। अत इतश्चेतश्च प्रसृतान् विषयान् संगृह्य नवीनैर्विषयाश्च संयोज्य, नवीनग्रंथगतविषयांशाहेयहानोपादेयोपादानपरिवर्तनीयोपवर्तनवर्धनीयोपवर्धनादिरूपाभिनवसंस्कारेण संस्कृता भवेयुर्येन तद्विषयकं ज्ञानं तथैव समयानुसारि सुदृढं सुसंस्कृतं च स्यात्। तदेतत् सर्वं नवीनपाठ्यक्रमनिर्धारणेनैव संभवति। नवीनपाठ्यक्रमविवेचने पाठ्यक्रमाधारभूमिपरिष्करणं कारणमितिकृत्वा पाठ्यक्रमविषयपरिष्करणाय केचित् समुपाया यथामति निर्दिश्यन्ते।

१—द्रव्यगुणविज्ञानम्—

वर्तमानसमये प्राचीनं द्रव्यगुणविज्ञानं न सम्पूर्णं वर्तते, तत्कृते यथा पुरा यैरपि ग्राह्यद्रव्याणि द्वीपान्तरीयवचापारसीकयवानीत्यादीन्यार्यपद्धत्यनुसारेणगुणादिकं, विविच्य संनिवेशितानि तथैवाधुनाऽप्यभिनववनस्पतयो ग्राह्याः।

२—शारीरविज्ञानम्—

प्राचीनशारीरविज्ञानविवृद्ध्यर्थं पाश्चात्यशरीरविज्ञानाश्रयणं नितरामावश्यकम्। यतो हि प्राचीनशारीरे नोपलभ्यन्ते शरीरावयवानां हृदययकृत् पुप्फुसप्लीहवृक्कादीनां पूर्णविवेचनानि किंचास्थिप्रभृतिगणनायां यत्र भेदोऽस्ति तत्र सयुक्तिकं समन्वयं स्थाप्यं स्यात्। यथाहि स्वर्गीयमहामहोपाध्यायगणनाथसेनसरस्वतीमहाभागेन सभूरिपरिश्रमं रचितं प्रत्यक्षशारीरम्।

३—रोगविज्ञानम्—

रोविज्ञाने च समयप्रभावेण जातप्रादुर्भावाणां नवीनानां व्याधीनां नवीननामलक्षणोल्लेखेन समं संनिवेशः कर्तव्यः। सन्ति हि प्रचलिता नवीना रोगाः ये प्राचीनग्रन्थेषु नोपलभ्यन्ते। ये च लभ्यन्ते तेषां लक्षणादिकमतीवसंक्षिप्तम्, साधारणवैद्यानां परिचयाय ज्ञानाय नालमिति। अपिच प्राचीनग्रन्थेषु

प्राचीननामत उल्लिखितानामपिरोगाणामाधुनिकं प्रचलितं प्रान्तीयानुसारं नामापि निर्देष्टव्यं भवेत्। येनाध्येतुस्तत्परिचयः सुखेन स्यात्। एतेन हि चिकित्साकरणे वैद्येभ्योऽप्यधिको लाभः। एतदर्थं सिद्धान्तनिदानादिकमनुकरणीयं खलु।

४—कायचिकित्सा—

आर्याणां हि कायचिकित्सा सर्वचिकित्साशिरोमणिरितिनात्युक्तिः। कायचिकित्साविज्ञाने केवलमौषधिनिर्माणकला नवीनकलालंकृता भवेत्, सूचिवेधचिकित्सा च समाकृष्टा भवेत्।

५—शल्यशालाक्यविज्ञानम्—

एतस्य च परिवर्तनं परिवर्धनं च पाश्चात्यविज्ञान साहाय्यमन्तरेण न कथमपि कर्तुं पारयामः। यद्यपि पुरासमये भारतवर्षे चासीत् शल्यचिकित्सायाः प्रचुरः प्रचार इति प्राचीनग्रन्थावलोकनेन स्पष्टमसन्देहास्पदं, परं शल्यशालाक्यविज्ञाने पाश्चात्यवैज्ञानिकैर्यादृशी खलु सर्वोत्तमा समुन्नतिर्विहिता सा खलूपादेया। शल्यशालाक्ययोः पुनर्निर्माणाय ते प्राच्यप्रतीच्योभयविशेषज्ञा एवं प्रभवन्ति, ये हि विद्वांसः प्राच्ययंत्रशस्त्रादीनि प्रतीच्ययंत्रशस्त्रैः समन्वीय नवीनयंत्रशस्त्राणां च तत्र सन्निवेशं कुर्युः, योग्यासूत्रीयव्रणितोपासनीयादीनां सौश्रुताध्यायानां नवीनरीत्या विवेचनं कुर्युश्च। एवंहि शल्यशालाक्यप्रधानेषु शिरोमुखनेत्रनासिकादिरोगेषु नवीनविधया प्राचीनविधया वा शस्त्रविचारणप्रकारमुपदिशेयुरिति।

६—विषप्रसूति—

कौमार भृत्यरसायनवाजीकरण तंत्राण्यपि यथायोग्यं परिवर्ध्य संकलयितव्यानि खलु।

७—रसविज्ञानम्—

रसशास्त्रं हि बहुविधिमुपलभ्यते, परं प्रायस्तच्छास्त्रं खण्डचतुष्टये विभक्तं विलोक्यते यथा—रसखण्डं, प्रयोग खण्डं, वादखण्डं, मन्त्रखण्डञ्चेति। एते सर्वापि विषयाः स्वस्वस्थाने रम्या एव, परं नहि चात्र वादमंत्रखण्डद्वये समयमहिम्ना साफल्यमनुभूयेत् न वा तत्र कैश्चित् प्रयत्यते। खण्डचतुष्टयात्मकं सर्वं रसविज्ञानं न चिकित्सोपयोगीतिकृत्वा चिकित्सोपयोगिनी बहुशो बहुभिरनुभूतानि रसप्रयोगोभयखण्डात्मकान्यनेकानि चाभिनवानि रसतरंगिणीप्रकाराणि रसपुस्तकानि संकलय्य पाठ्यत्वेन निर्धारयितव्यानि भवेयुरिति। इतोऽप्यधिकं जिज्ञासुभिस्तदेव पुरातनं शास्त्रं स्वेच्छया द्रष्टव्यं भवेदिति।

इदमत्रावधेयम्—गवेषणालब्धं नवीनं चायुर्विज्ञानं सर्वं भाषान्तरे आस्ते, अतो नवीनं सर्वं ग्राह्यांशं वा सरलसंस्कृत भाषायामनूद्य प्रकाशयितव्यं स्यात्। अनुवादे च पारिभाषिकाः शब्दास्तथैव सौकर्याय आहोस्वित् तदर्थे सांकेतिका नवीनाः शब्दा प्रयोज्याः। एतदर्थं विज्ञानकार्यालयतो नागरीप्रचारिणीसभातो लवपुरतः प्रकाशितांग्रेजीसंस्कृतकोषतश्च साहाय्यं ग्राह्यम्। एवं ह्यायुर्वेदसाहित्यस्य विज्ञानस्य वा वृद्धिर्भविष्यति नात्र सन्देहः।

अस्ति च पाठ्यक्रमविषये विदुषां मत भेदः—

१—केचिच्छुद्धायुर्वेदस्य विषयप्रधानं पाठ्यक्रमं स्वीकुर्वन्ति।

२—केचिच्छुद्धायुर्वेदग्रन्थप्रधानं पाठ्यक्रमम्।

३—केचिच्च नव्यार्षग्रन्थ समन्वितं मिश्रं पाठ्यक्रमं मन्यन्ते।

मन्मते हि तृतीयः पक्षो नव्यार्षग्रन्थसमन्वितो मिश्रपाठ्यक्रमात्मकः श्रेयस्करः प्रतिभाति। यतो हि समये-समये आयुर्वेदेऽपि संहिताग्रन्थेषु दृढबलप्रभृतिभिर्विद्वद्भिः प्रतिसंस्कारेण जीर्णोद्धारः कृतस्तथा समयप्रभावेण नष्टप्रायमायुर्वेदावयवं शल्यशालाक्यादिकं प्रतिसंस्कृत्य परिवर्ध्य च नवीनसमुत्पन्नव्याधिजातं समावेश्य तदनुसारं निर्मितनवीन पाठ्यक्रमस्य सर्वत्र विद्यालयेषु प्रचलनं श्रेयस्करं भवेत्। एवं सत्यस्म

स्मदीयपाठ्यक्रमविषयः स्वल्पैरहोभिः समयानुसारी लोकोपकारी हृदयहारी च स्यादत्र किमु वक्तव्यम्। अस्माकं कार्यक्रमे या न्यूनता प्रतीयते सा चेयं तदैव दूरीभूता भवेत्, यदा वयं प्रतिविषयं योग्यान् छात्रान् कारयितुं सततं संलग्ना भवेम। यावद्वयं स्वसाहित्ये पूर्णश्रमतोऽष्टाङ्गसम्बन्धिविषयस्य पूर्णां प्रत्यक्षयोग्यां विशेषतश्च शल्यशालाक्यशवविदारणादिविषयस्य च समुन्नतिं न करिष्यामस्तावत् परेषां पाठ्यक्रमं दृष्ट्वा ज्ञास्यामो यदस्मत्साहित्ये न्यूनता वर्तते, परेषां च पूर्णतेति। परञ्चैतत् स्मर्तव्यं भवेद्यथाधुना वयमायुर्वेदस्य पठनपाठनं योग्यताशून्यं कीरादिपठनवत्कुर्महे, तदाऽप्ययमेव दशा वर्त्स्यत इति।

अतो न्यूनताया मूलं विज्ञाय तच्छेत्तव्यम्। नहि पाश्चात्यविज्ञाने समुन्नतिर्निहिता वर्तते। पाश्चात्यैरपि परिगणितं विषयं विहाय किं नवीनं कृतम्। सर्वोऽप्यायुर्वेदविषय एव परिष्कृतः। परं विशेषता तु तत्र योग्यताया एव। शस्त्रावचारणपटबन्धनप्रक्षालनयन्त्रशस्त्रादिनिर्माणादिषु कृतभूरिश्रमाः कृतव्ययाश्च विशेषतः कृतयोग्याः सन्तीति लोके महत्वबुद्ध्या विलोक्यन्ते। वयं चाकृतयोग्या विशेषतश्च शल्यशालाक्येषु च, अतोऽस्मान् तत्र विषये न सामाद्रियन्ते लोकाः।

पाश्चात्यैः कल्पितं निखिलं सत्यमिति तु न वरम् किमधिकमद्यारभ्य पंचाशद्वर्षेभ्यः पूर्वं पाश्चात्यवैज्ञानिकानां गवेषणा, आधुनिकगवेषणातः सर्वथा पृथगेव, सा तु गतप्रायैव। सत्यं त्वपरिवर्तनशीलं भवति खलु। यथायुर्वेदविद्या सत्या, सृष्टिप्रारम्भतश्चलिता, अद्यापि प्रचलित प्रचलिष्यति च। नहि तदीयसिद्धान्तेषु परिवर्तनं विलोक्यते। त एव वायुसूर्यसोमात्मानो वातपित्तकफा रोगारोग्यैककारणभूता अनुभूयन्ते।

मान्याः !

एतदवश्यं सत्यम्। तदीयसिद्धान्ते वास्तविकता यत्र स्यात् सावश्यं संस्कृते संस्कृत्य संग्रहीतव्या विज्ञैः, मदीयोऽयं स्फुट आशयः। यत् पाश्चात्यैः स्वीकृतं तदस्माभिरपि ज्ञेयम्, तस्य च ज्ञानमस्मदीयतदीयविषयतुलनात्मकज्ञानविवृद्ध्यर्थं सामयिक ज्ञानलाभाय च। अतस्तेषां शास्त्राणामनुवादोऽवश्यमस्मदीयदेवभाषायां विधेयस्तदैव वास्तविकग्राह्यतुलनायां प्रभवेम। एवं सर्वतः पर्यालोचनया नव्यार्थमिश्रितपाठ्यक्रमस्यावश्यकता नितरां वर्तमानसमये प्रतिभाति। न हि च तावत् तेन विनाऽयुर्वेदस्य सर्वांगीणता सामयिकता च संभाव्यते। नवीन पाठ्यक्रम विषये ये मदीयाः विचाराः सन्ति त इदानीं सूत्रत्वेन प्रस्तूयन्ते—

१—पाठ्यक्रमनिर्धारणाय वैद्यविदुषामेका पाठ्यक्रम निर्धारिणी समितिः स्यात्।

२—एका पाठ्यपुस्तकसम्पादिका समितिः।

३—चरकसुश्रुतवाग्भटादिषु समागतविषयान् शेषधातुमलद्रव्यगुणजनपदध्वंस-मानसशल्यशालक्यादीन् पृथग्शः पुस्तकरूपेण सविस्तरं प्रकाशयेत्।

विश्वविद्यालयः

माननीयाः !

नवीनपाठ्याक्रमप्रचाराय लोककल्याणाय च शुभे रम्ये प्रदेशेऽत्रैव दिल्लीनगरे श्रीमन्तः सर्ववैद्यमहोदया आयुर्वेदविश्वविद्यालयं स्थापयन्तु! तत्रास्माकं प्रचलतु सर्वतः परिशुद्धः पाठ्यक्रमतमनुसरन्तो योग्याः स्नातकाश्च संभवन्तु। अन्यथा जयपुरिया वाराणसेयाद्याश्चास्माकं पाठ्यक्रमं न स्वीकरिष्यन्ति। सर्वेषां स्वीयः स्वीयः पाठ्यक्रमो वर्तते। श्रीमन्तो विचारयन्तु आयुर्वेदविश्वविद्यालयमन्तरा कियन्मूल्यमस्मद्विद्यापीठपरीक्षोत्तीर्णछात्राणाम्! विद्यापीठपरीक्षोत्तीर्णाश्छात्राः जयपुरपरीक्षायां प्रवेशं न लभन्ते न यू० पी०, सी० पी० परीक्षायाञ्च।

अतो मया राजपूतानाप्रान्तीयषष्ठवैद्यसम्मेलने

सभापतिपदादत्युच्चैरायुर्वेदविश्वविद्यालयस्य प्रस्तावोऽघोषि,सर्वसम्मत्या स्वीकृतश्च सः, परं विविधकारणैरद्यावधितथैवास्ते। अनुमानतः सन्त्येकत्रिंशत्कोटिपरिमिता जना भारतवर्षे। तत्र सर्वैरथवार्द्धैः सह वैद्यानां सम्बन्धो मास्तु परं चतुर्थांशैः समं तु सम्बन्धोऽस्त्येवेति निर्विवादम्। यद्येते वैद्यमहोदयाः स्वप्रभावेण तेभ्यो जनेभ्य आणकचतुष्टयमपि गृह्णीयुः स्वयं च वैद्या दद्युस्तदा कोटिरूप्यकाणां संग्रहोऽवश्यमेव भविता नात्र शंकालेशोऽपि। परन्तु वैद्यमहाभागा व्यक्तिगतवैमनस्येन स्वार्थपरायणतया चैतत्कार्यं कर्त्तुं सन्नद्धा नाभवन्। अतो बहवो वैद्याः समालोचयन्ति यद्वैद्यसम्मेलनेन किं कृतं, केवलं दिनद्वयं त्रयं वा मनोविनोदं कृत्वेमे निजनिकेतनमलंकुर्वन्ति। समाचारपत्रेषु निजनामप्रकाशनमेव कार्यस्थाने स्थापयन्ति। प्रतिवर्षं ददतु शुल्कं ददतु शुल्कमित्येव आक्षिपन्ति। सत्यं, यस्य दृष्टिर्यावत् प्रसरति तावदेव सः पश्यति, परमियतो वार्ता त्ववश्यमस्ति यद्वयं प्रभावशालिनोऽपि मनोभिलषितमायुर्वेदविश्वविद्यालयमद्यापि निर्मातुं न शक्नुमः। प्रतिदिनं राज्याधिकारिणो जनानुपालभामहे यद्राज्यमस्माकं साहाय्यं न करोति, परमस्माभिरपि क्रियात्मकं कार्यं किं क्रियते? यदि सप्तत्रिंशद्वर्षाभ्यन्तरेऽस्माभिरपि स्वर्गीयपूज्यमालवीयमहाराजकृतहिन्दुविश्वविद्यालयस्येवायुर्वेदविश्वविद्यालयः स्थापितश्चेदभविष्यत् तदाद्य कथं नादास्यन् राज्याधिकारिणोऽस्माकमायुर्वेदविद्यालयार्थं साहाय्यं, परमस्माभिरत्र ध्यानं न दत्तमियमस्माकं महती त्रुटिरभूत्। अस्तु, यदिकश्चिद्दिवामार्गभ्रष्टो रात्रौ गृहमागच्छेत्तदापि स भ्रान्तो न कथ्यते, अतोऽधुनापि संभूय प्रयतितव्यं येनायुर्वेदविश्वविद्यालयस्य स्थापना चिरेणैव कालेन स्यादिति। अन्यथाऽस्मद्विद्यापीठपरीक्षायाः किं महत्त्वं स्यादिति विमृशन्तु विमर्शकाः।

आवश्यकीयम्

१—संस्कृतांग्रेजीभाषाविदो योग्या एव छात्रा भवेयुः, स्युर्नाम संख्यायां स्वल्पा परं योग्या एवाध्याप्याः।

२—भविष्ये यद्यायुर्वेदीयपरीक्षाः सर्वकारेण नियन्त्रिताःस्युस्तदाऽद्ययावधि विद्यापीठीयपरीक्षोत्तीर्णा वैद्या अपि मानार्हाः।

३—तत्रोपस्थिते प्रतिबाधे तन्निराकरणम्।

४—आयुर्वेदीयातुरालयः परिचारिकागृहं प्रसूतिकागृहमित्यादीनां स्थापनं तत्रायुर्वेदसिद्धान्तानुसारेण व्यवस्थापनं च।

अनुसंधानशाला

महीयांसः!

प्रगतिशालिनि समयेऽस्मिन् नात्राभिनिवेष्टव्यमस्माभिर्यदायुर्वेदः पूर्ण एव नात्रपरिवर्द्धनगवेषणे अपेक्षेते। यतो नहि ज्ञानसीमा क्वापि पूर्णा भवत्यतस्तद्विज्ञानमपि निःसीममेव। अद्यत्वे यावदुपलभ्यमानमायुर्वेदसम्बन्धिविज्ञानं तदेककाले युगपदेवर्षिभिः प्राप्तमासीदिति न मन्तव्यम्। तैरपि दिव्यदृशा शनैः शनैरनुसंधायानुसंधाय च महान् ज्ञानराशिः संचितः। यं हि वयमद्यापि विकलाविकलतया कार्येऽधिकुर्महे, तेनापि चाभिमतं फलं प्राप्नुमः। परं कतिकारणैः स विज्ञानराशिस्तावानेव तन्न्यूनो वा तथैवावस्थितो नाग्रे परिवर्द्धितः। अस्तु, यद्गतं तत्तुगतमेवाधुना तु सर्वैः सचेष्टैर्भवितव्यम्। विज्ञानस्य मूलभित्तिरनुसंधानमेव भवति यतस्तदेव तदभिव्यनक्ति एतत्सर्वं समाकलय्यास्माभिः सर्वकारः प्रार्थनीय आयुर्वेद सम्बन्धिनी महती विज्ञानशालोद्घाटनाय।

अत्रानुसंधानीयं विषयं तु यद्यप्यनल्पमेव तथापि सर्वतः प्रथममावश्यकीयं विषयानुसन्धानमेव श्रेयः, येन सर्वकारस्य जनतायाश्च वा, स्पष्टं विदितं भवेद्यदा-

युर्वेदः पूर्णरूपेण विज्ञानसम्मतः, इत्येतदर्थं सर्वतः प्रथम तादृक्विधं वनौषधिजातं पूर्णश्रमेण गवेषणीयं येन पुरा महाभारतकाल एव योद्धृणां व्रणाः सवर्णाः शल्यानि-प्रयोगमात्रेणैव निर्गतान्यभूवन्।

श्रीमन्तः! एतत्त्ववश्यमवधातव्यं भवद्भिः, ये केऽपि वैद्या आयुर्वेदविषयिनीं विचित्रां रचनां रचेयु-रुताहो आयुर्वेदोपकारिणीं चिरस्मरणीयां महतीं सेवां समुपस्थापयेयुश्चेत्तदा तेषां चिरस्मृतयेऽस्माभिधन-राशिः संग्रहीतव्यस्तेन तेषां चिरस्मरणीयं किञ्चित् स्मरणीयं करणीयम्।

सम्प्रति श्रीमतोऽभ्यर्थये, श्री शंकरदा शास्त्रिपदे महाभागाः यैः सर्वतः प्रथममायुर्वेद सम्मेलनं समुद्घा-टितं, येन पूर्वापेक्षयाऽनल्पं वैद्यसंगठनं घटितमिति ते सर्वेषामेव समानार्हास्तेषां चिरस्मरणाय स्मारक-मपेक्षितमिति, तदर्थं वैद्यैरवश्यमेव मुक्तहस्तेन धन-राशिर्देयः। एतदर्थं श्रद्धेय पं० श्री जगन्नाथप्रसाद-शुक्लमहाभागा धन्या यैरेतादृशो यत्नः प्रारब्धः।

वरेण्याः! ये ह्यायुर्वेदीयसाहित्यमभिनव-रचनाभिः परिष्कुर्वते किं वा प्राच्यप्रतीच्यवैमत्यं परि-हृत्य समन्वयन्ति च तेऽवश्यमस्माभिः संमाननीयाः प्रोत्साह्याश्च। अतोऽहं नवीनप्रतिसंस्कृतनिदान-चिकित्सायास्तथा रसेन्द्रसारसंग्रहस्य टीकाद्वयस्य च निर्मातृभ्यः श्रीघनानन्दपन्तेभ्यस्तथा रामरक्षपाठक-रमानाथद्विवेदिप्रभृतिभ्यश्च शतशो धन्यवादान् प्रयच्छामि तदुत्साहमभिनन्दामि च। श्री वैद्यनाथ-आयुर्वेदभवनेनाप्यायुर्वेदीयसाहित्यप्रकाशने बहूपकृत-मिति तदपि धन्यम् परैरनुकरणीयं च।

उपसंहारः

आयुर्वेदपद्धतिमनुसरद्भिर्वैद्यैरितोऽवश्यमेवावधेयम्, सर्वविदितं चाप्येतत्, यदितः किंचिदर्वाचीन-कालेऽस्मदीयसर्वकारेण प्राणिनः कथं स्वस्थाः स्युः, के च तेषां स्वास्थ्यरक्षणोपाया इत्येतन्निश्चेतुं संयोजि-तैका समितिस्तया च सर्वकारसन्मुखेऽऽदमितव्य-बती जनरक्षणोपायस्यैका योजना समुपस्थिता, परञ्चेयममितधनराशिसाध्येति मत्वा सर्वकारेणापरा परिषन्निर्मिता, यस्यां दश सदस्या आसन्। यत्र चैक-मपि वैद्यमनवलोक्य खिन्नान्तःकरणवैद्यसमुदायस्य परमाग्रहेणात्र परिषदि सदस्यत्वेन पूज्य यादवजी शर्माणोऽपि गणिताः। एतैश्च महाभागैर्युक्तिप्रमाणो-पन्यासैरायुर्वेदमहत्त्वं यदा परिषदि प्रकाशितं तदा समित्यायुर्वेदः स्वल्पव्ययेनापि लोककल्याणकारीति कैश्चिदंशैः स्वीकृतम्।

अस्याश्च संसदः सदस्यैरंशतोऽप्यभिमतामायुर्वेदा-नुमोदिनीं योजनां पर्यालोच्य स्वतन्त्रेऽपि भारते पाश्चात्यभाषानुरागिभिस्तदीयसंस्कृतिसंस्कारेणैव देशस्य गौरवं गवेषयद्भिः स्वास्थ्याधिकारिभिर्नव्यैश्चास्याः सभायाः सदस्यैः कृतां योजनामुपेक्ष्य तृतीया समितिः संयोजिता। यया च तं एवमाशासते, नव्य-चिकित्सका एव यद्यायुर्वेदीयं कमपि विषयमपेक्षितं ज्ञास्यन्ति, तदा केवलं तमेवांश क्त्रिवर्षेपूपदिश्यमानं यथा स्यात्तथा पाठ्यक्रमे करिष्यन्ति, येनैलोपैथिक चिकित्सया सहैवास्य प्रयोगो भविष्यतीति।

हन्त! नैतावतापि सन्तुष्यन्ति ते, अस्यामपि योजनायां यद्यायुर्वेदीयभेषजादि विदेशीभेषजापेक्षया स्वल्पलाभकारिस्यात्तदा तदपि तैस्त्यक्ष्यत एवेति कियान् कष्टदः कुठाराघातो वेदोपांगे ह्यायुर्वेदे।

एतत्तु भवतां विदितमेव यत् त्रिदोषसिद्धान्त-मज्ञात्वा पाश्चात्या यद्यायुर्वेदीयभेषजं प्रयोक्ष्यन्ति तदा तत्र कुतः साफल्यम्! एवं चानया योजनया स्वल्पे-नैव समयेन शनैः-शनैः स्वयमेवायुर्वेदशास्त्रमुत्खातं स्यात्। अत आयुर्वेदस्य सत्यसेवां कामयमाना वैद्या आयुर्वेदस्य प्रचाराय प्रसाराय च संनद्धा भवन्तु। सम्प्रति पाश्चात्यसंस्कृतिसंस्कृतपुम्भिर्यानामायुर्वेदजगत्परितः प्रस-

रणम्। तेभ्यश्चायुर्वेदजगति तदीयविचारविद्युत्-पतितुमुद्यतैवातः सर्वैः सम्भूय सर्वप्राणेनायुर्वेदं रक्षयन्तु। यद्यत्र वयमसफलास्तर्हि भारतस्यैव किं, अपितु विश्वस्य रत्नं लुप्तं भविष्यति। समयेऽस्मिन् रचनात्मक कार्यकारिण एवाग्रे भविष्यन्ति।

सभ्याः !

आयुर्वेदविद्भिः सर्वथेदं ज्ञातव्यं यत् सर्वकारेण द्वितीया समितिमुपेक्ष्य तृतीया समितिः संयोजिता। एतेन स्पष्टं ज्ञायते यत् कीदृशोऽनुराग आयुर्वेदं प्रति सर्वकारस्येति। सर्वकारस्वास्थ्यविभागस्यायुर्वेदं प्रत्युदारताशून्येयं नीतिः नैव शोभनेति।

परं चायमतीवमोदावहो विषयो यद् वर्तमान समये राष्ट्रपतिपदमधिरूढा बाबू श्रीराजेन्द्रप्रसाद-महोदयाः भारतीय संस्कृतिसंस्कृताश्चातीव सुहृदयाः सन्ति। आयुर्वेदाचार्यसीकरनिवासि प्रियप्रह्लादराय शर्मणाचिकित्सितानामेतेषां पिलानीनगरे चिकित्सा-सम्बन्धिपरामर्शायाहमेतैर्मिलितोऽस्मि। तेऽतीव गंभीरा मितभाषिणः सौम्याश्च। अतश्चाहं तर्कयामि विश्वसिमि च यदेते प्रदास्यन्त्यायुर्वेदीयचिकित्सायै राष्ट्रीयचिकित्सायाः प्रमुखपदाप्तये सार्वकारीं सहायताम्।

यदि कृतेऽपि यत्ने सफला न भविष्यामस्तदापि न ह्याशा हेया, किन्तु सर्वैरेकीभूय सततं तादृशो यत्नोऽनुष्ठेयः येनायुर्वेदविश्वविद्यालयो भवेदिति।

माननीयाः! श्रीमद्भिरिहागत्य स्वामूल्यं समयं प्रदायायुर्वेदजगत्प्रत्यनुरागस्य पूर्णः परिचयः प्रदत्तस्तदर्थं धन्यवादाः। प्रार्थयामि परेशं यच्छीघ्रमेवोन्नतिं गच्छता राष्ट्रेण सहैवोन्नतिमायुर्वेदोपि प्राप्नुयात्। वैद्यराजश्रीओंकारप्रसादशर्माणस्त्ववश्यमेव धन्यवादार्हाः, येषां प्रस्तावप्रभावेणेदं सम्मेलनं सम्पन्नं। विशेषतश्च नैभारतीय राजधान्यां सम्पादितमिति तेभ्यो हार्दिको धन्यवादः।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

आयु० विश्वविद्यालय

भिषक् चूड़ामणि वैद्य मणिराम शर्मा आयुर्वेदाचार्य
सभापति नि० भा० आ० विद्यापीठ



यद्यपि वात पित्त कफ सूक्ष्म यंत्रों से प्रमाणित नहीं होते तथापि भविष्य में होने की आशा है, जैसे शोथ में लवण निषेध। हमारे शास्त्र में पहिले से ही शोथ में लवण वर्जित है, पाश्चात्य शास्त्र में पहिले निषेध नहीं था अब वर्जित माना जाता है। अतः हमारा आयुर्वेद शास्त्र दिव्य दृष्टि-त्रिकालज्ञ महर्षियों की बुद्धि की उपज है। जिसकी प्रशंसा हम कहाँ तक कर सकते हैं। अब मैं इस विज्ञान को बताने का घर बताता हूँ।

प्रथम निखिलभारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन विशिष्ट वैद्यों का "शिष्ट वैद्य मंडल" के नाम से एक सम्मिति बनावें। पुनः वह शिष्ट वैद्य मंडल धनीमानी तमाम पूंजीपतियों से तन, मन, धन की सहायता प्राप्त करें। राज्याधिकारियों का तथा वैद्य डाक्टरों का पूर्ण सहयोग प्राप्त किया जाय। पुनः औषध, जल, वायु यातायात सम्बन्ध से अत्युत्तम स्थानचुन कर उसमें एक आयुर्वेद विश्वविद्यालय की स्थापना करें।

उसका पाठ्य क्रम सर्वाङ्गीण एवं सर्वमान्य हो। भारत के सारे आयुर्वेद महा विद्यालय उसके नीचे रहें। साथ-साथ वह बृहत् आतुरालय, रसायन-शाला, प्रसूति गृह, प्रायौगिक शाला आदि से सुसज्जित हो। भारत के तमाम प्रान्तों के विद्वान वैद्य आपस में परामर्श कर के शीघ्रातिशीघ्र यह कार्य प्रारम्भ करें। प्रत्येक वैद्य इसको बनाने के लिए प्राण पन से चेष्टा करें। धन दें एवं दिलावें। प्रारम्भ में इसके लिये कम से कम एक करोड़ रुपये इकट्ठे किये जाएँ। भारत में करीब ३१ करोड़ हिन्दू जनता है, उसमें आधी नहीं तो पंचमांश जनता वैद्यों से अवश्य सम्बन्ध रखती है।

नगरों में, छोटे-छोटे ग्रामों में वैद्यों का प्रभाव थोड़ा बहुत अवश्य ही होता है। अगर ये वैद्य महानुभाव अपने प्रभाव से प्रभावित जनता से चार-चार आना भी इकट्ठा करें और स्वयं दें तो एक करोड़ रुपया इकट्ठा हो जाना बड़ी बात नहीं है। वैद्य समाज प्रभावी होता हुआ भी अपना एक आयुर्वेद विश्व विद्यालय बना नहीं सका। हम सरकार को आये दिन कोसते हैं और चिल्लाते हैं कि हमें सरकार आयुर्वेद के लिये सहायता नहीं देती परन्तु स्वयं क्रियात्मक कार्य नहीं करते। अगर स्वर्गीय महामना पूज्य श्री मालवीय जी महारज के हिन्दू विश्व विद्यालय की तरह (जिसका विश्व में तीसरा नम्बर है) हमारा भी एक आयुर्वेद विश्व विद्यालय होता तो क्या मजाल थी सरकार की जो हमें आज सहायत न देती। परन्तु हमने इस तरफ ध्यान न दिया। यह बहुत बड़ी त्रुटि रही,अस्तु दिन का भूला भटका रात को घर आ जावे तो भूला नही समझा जाता। अब भी हमें प्रयत्न करना चाहिये। जिससे आयुर्वेद विश्व विद्यालय बन जावे। इसमें संहिता ग्रन्थों के आधार पर दोषादि विवेचन और पदार्थ विज्ञान, मानस विज्ञान एवं द्रव्यगुण विज्ञान नवीन ग्रन्थों के आधार पर पदार्थ विवेचन पुरःसर योग्य छात्रों को पढ़ाया जाय। आयुर्वेद शास्त्र का पूर्ण ज्ञान कराकर पाश्चात्य शास्त्र का भी ज्ञान कराया जाय।

जो ज्ञान उभय भाषा के जानकारों द्वारा संस्कृत भाषा में अनुवादित हो। फिर यही शिष्ट मंडल भ्रमण द्वारा प्रान्त के वैद्यगण को सम्मिलित कर प्रत्येक गांव में आयुर्वेद-औषधालय खुलवाने की प्रान्तीय सरकारों से जोर दार अपील करें। और अच्छी जन संख्या वाले नगरों में एक-एक आतुरालय, अवश्य खुलवावें। इसमें पंच कर्म-शिराव्यध आदि चिकित्सा का पूर्ण प्रबन्ध हो। प्रत्येक प्रान्त अपने औषधालयोंमें औषधियां प्रदान करनेके लिये अपनी राजधानियों में एक बृहत रसायन शाला का आयोजन करें। और औषध निर्माण करने के लिये उसमें योग्य वैद्य रक्खें जाएँ। कच्ची पक्की औषधियों का पूर्ण संग्रह हो, वहां से सारे प्रान्त में औषधियां भेजी जाएँ। राजधानी में एक आयुर्वेद महाविद्यालय हो उसके नीचे सम्पूर्ण प्रान्त के विद्यालय रहें। साथ ही साथ उसका निजी रसायन-शाला और औषध भंडार हो। छात्र को संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर अपने-अपने प्रान्त में भेजा जाय या विशेषज्ञ होने के लिये केन्द्रीय विश्व विद्यालय में प्रान्त की तरफ से भेजा जाय।

औषध निर्माण

पूर्वोक्त 'शिष्ट वैद्य मंडल' रोगानुसार औषध प्रणाली (फार्मा कोपिया) स्थिर करें। प्रत्येक औषध का मूल्य निर्धारित किया जाय। शिष्ट वैद्य मंडल पन्सारियों की गली-सड़ी पुरानी औषधियों को हटाने कोलिये राजकीय एक्ट काम मे लाएँ। देश के एक अच्छे प्रदेश में प्रसिद्ध और मान्य रसायन शाला स्थापित की जाय। प्रान्तीय अन्य रसायन शालाओं की अपेक्षा इसके विशेषाधिकार हों। यह रसायन शाला देश की सर्व सर्वा "आयुर्वेद औषध-निर्माण" संस्था हो।

इस संस्था में दुर्लभ प्राप्य द्रव्यों की जैसे पारे का अष्टादश संस्कार करना आदि उच्च श्रेणी का और पूर्ण परिष्कृत निर्माण विधियां काम में लाई जाएँ अथवा बड़ी-बड़ी आयुर्वेदिक संस्थाओं जैसे श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० आदि को सरकारी मान्यता दिलाकर प्रमाणित किया जाय। वैद्य लोग अपनी घरेलू औषधियां न बनाकर इन इन प्रमाणिक संस्थाओं व रसायन शालाओं से औषधियां मंगाकर चिकित्सा कार्य में वरतें।

अब देश की आयुर्वेदिक शिक्षा व्यवस्था के बारे में जो-जो बातें आवश्यक हैं; उनकी सूचि निम्न प्रकार है और वास्तव में हमें इन बातों को पूर्ण भी करना हैं। जैसेः—

१—रसायन विद्या, फार्मेसी संचालन आदिका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना।

२—अपने सिद्धान्तों का पूर्ण अध्ययन और उनकी रक्षा करना।

३—आयुर्वेद-अष्टाङ्गों पर ग्रन्थोंकी पूर्ण आलोचना करना।

४—आयुर्वेदीय हस्तलिखित एवं मुद्रित पुस्तकों का बृहत संग्रह।

५—आयुर्वेदीय औषध परीक्षणालय का निर्माण।

६—विश्व विद्यालय की आवश्यता।

७—आयुर्वेदीय औषधों का एक स्टैन्डर्ड कायम किया जाय।

८—आयुर्वेद विद्या के अनुभूत प्रयोग गुप्त न रखे जाएँ।

९—एकता का खूब प्रचार किया जाय।

१०—राज्य से सहायता प्राप्त करना।

११—असेम्बलियों में वैद्यों की उपस्थिति।

१२—हेल्थ ओफिसरों में वैद्यों का चुनाव।

१३—डिस्ट्रिक्टवोर्ड, म्यूनिसपल वोर्ड में वैद्यों की उपस्थिति।

१४—गावों में औषधालयों का प्रचार।

१५—सस्ती से सस्ती औषध बनाना।

१६—ग्राम सेवा संघ का निर्माण।

१७—प्रत्येक मेलादि पर औषध वितरण।

१८—रस संस्कारों का सरल से सरल प्रकार।

१९—विदेशों में आयुर्वेद का प्रचार और एजेन्सी की स्थापना।

२०—विदेश से आने वाले धातु-उपधातुओं का ज्ञान, स्थापना और निर्माण आदिका परिचय। जैसे हिङ्गुल, पारद, रसकपूर, दाल चिकना, ताम्र, यशद, नाग, वंग, गन्धकादि।

२१—विदेश से आनेवाली काष्ठौषधियों की उत्पत्ति का रहस्य ज्ञान। जैसे—कुलिंजन, अकरकरा, लौंग, जावित्री, जायफल, आदि।

२२—प्रत्येक मंदिर एवं धर्मशालादि धार्मिक संस्थाओं में औषधालय खुलवाये जाएँ।

२३—न्यायालयों में जूरी आदि में वैद्यों का स्थान।

२४—आयुर्वेद के अध्ययनाध्यापन एवं संस्कृत विद्या का प्रचार करना।

२५—आयुर्वेद के समुत्थान के लिये छात्रों को छात्रवृत्तियाँ देना।

२६—पारितोषिक के लिये निश्चित रूप से धनराशि-नियत की जाय और उससे स्वर्णपदकादि किसी संस्था में वितरण करना।

२७—अन्वेषण कार्य के लिये वैद्यों को उत्साहित करना और उसकी ओर अधिक ध्यान देना।

२८—आयुर्वेद सम्बन्धी अस्पताल, सेनोटोरियम, परिचारीका गृह (नरसिंह होम) प्रसूति गृह, प्राकृतिक चिकित्सा गृह, आदि की स्थापना और उनमें आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार व्यवस्था करना।

२९—शल्य, शालाक्य, आदि पूर्वोक्त सिद्धान्तों का नवीन सिद्धान्तों के साथ समन्वय करते हुये पुस्तकें लिखना और चिकित्सा करना।

३०—स्नेहन, स्वेदन एवं पंचकर्मों का क्रियात्मक अनुसंधान।

३१—श्रृङ्ग, अग्नि, क्षार, जलौकावचारण, शिरा व्यध आदि का पूर्ण ज्ञान करना।

पाश्चात्य मतानुसार

१—जीवाणुवाद का परीक्षण करना।

२—रोगविज्ञानोपाय का सूक्ष्म रूप से ज्ञान (स्टेथिस्कोप, ब्लड प्रेशर यन्त्र, रक्त शोधक, मूत्र शोधक; पूय शोधक, आदि यन्त्र का अध्ययन)

३—डाक्टरी के स्थूल सिद्धान्तों का परिचय।

४—नवीन प्रणाली का समन्वय।

५—नवीन शास्त्रों का संस्कृत में अनुवाद।

६—वनस्पति विज्ञान का पूर्ण अध्ययन, परिचय और निघन्टुओं के साथ-साथ अंग्रेजी पुस्तकों का अवलोकन।

७—विलायती वृक्षों की—जिनका हमारे यहां उल्लेख नहीं है जानकारी के लिये चेष्टा करना।

८—बिजली के इलाज का भी ज्ञान करना।

९—एक्सरे का प्रयोग।

इन उपरोक्त बातों के पूर्ण होने से हमारे देश में आयुर्वेद शिक्षा व्यवस्था की और औषध निर्माण कार्य की उन्नति हो सकती है।

आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान

वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालङ्कार

प्रस्तुत लेख हम बैद्यनाथ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित अभिनव "आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान" से उद्धृत कर रहे हैं। यह उस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय है। इसमें ग्रन्थकार ने संक्षेप में उन वस्तुओं का उल्लेख किया है, जिनके सम्बन्ध में आयुर्वेदीय-पदार्थविज्ञान तथा इतरदर्शनों में मत-भिन्नता है। ग्रन्थ के आरम्भ में विद्वान् लेखक ने इन सभी भिन्नताओं का एक स्थान पर समावेश इस उद्देश्य से किया है कि जिससे आगे के अध्यायों का समझना सुगम हो जाय और वाचकों के लक्ष्य में यह बात भी सरलता से आ जाय कि वस्तुतः आयुर्वेद का अपना दर्शन है और उसका अध्ययन स्वयं आयुर्वेदीय संहिताओं से ही होना चाहिए। विज्ञ वाचक विचार करें। —स० सम्पादक

वैदिक दर्शन

कौतूहल और जिज्ञासा मानवमात्र के, मानव ही क्यों, प्राणिमात्र के सहज-स्वाभाविक गुण है। जीवन की व्यग्रता के कारण, शिक्षा के दोष से अथवा अन्य कारणों से हमारी तो यह वृत्ति कुण्ठित हो गयी होती है; परन्तु सांसारिक आघात-प्रतिघात से अलिप्त, प्रकृति की पाठशाला के अदूषित विद्यार्थी बालक में ये वृत्तियां यथावत् पायी जाती हैं। उस पर कुछ क्षण भी दृष्टिपात कीजिए, उसकी दृष्टि, उसके कान, उसके हाथ-पैर कभी स्थिर न देखे जायँगे। जरा ऊँचा शब्द, जरा चमकती रंग-विरंगी वस्तु, कोई भी अपूर्व पदार्थ उसकी इन्द्रियों को उत्सुक बना देते हैं। वह उस वस्तु की ओर बढ़ता है, उसे पकड़ता है, झकझोरता या तोड़ डालता है, उसे मुख में रखता है। उसे तोड़ने का अर्थ यह है कि वह उसके आन्तरिक स्वरूप को जाँचना चाहता है। उसे मुख में रखने का अभिप्राय यह है कि जिजीविषा की सहज वृत्ति को चरितार्थ करने के लिए उसमें सर्वप्रथम रसनेन्द्रिय पुष्ट हुई होती है। इसके द्वारा वह विशेषतः अपने हिताहित आहार-द्रव्य की परीक्षा कर सकता है। सामान्यतया इसके द्वारा वह वस्तुमात्र की परीक्षा में प्रवृत्त होता है। बालक का यह कौतूहल—यह औत्सुक्य, सच पूछो तो, उसकी ज्ञानवृद्धि का द्वारभूत है। अज्ञान माता-पिता अथवा गुरु इस वृत्ति को यथायोग्य उत्तर द्वारा परिपुष्ट करने के स्थान पर उलटे कुण्ठित कर देते हैं, यह दौर्भाग्य का विषय है।

भारतीय संस्कृति के उषःकाल में, सृष्टि को देख कर ऋषियों के बाल-सुलभ हृदयों में इसी प्रकार औत्सुक्य और कौतूहल की वृत्ति प्रादुर्भूत हुई थी। इन वृत्तियों के कारण उत्पन्न हुए प्रश्न उस काल के वाङ्मय में स्पष्ट उपलब्ध होते हैं। वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि में ऋषियों की जिज्ञासा-वृत्ति अनेक स्थलों पर परिस्फुट हुई हैं। सृष्टि को देख कर ऋषियों के मन में जो प्रश्न उपस्थित हुए उनका उत्तर जानने का प्रयास जिन ग्रन्थों में विशेषतः किया गया है, उन्हें "दर्शन" यह विशेष नाम दिया गया है। वैदिक अर्थात् वेदमतालम्बी दर्शन छः हैं,

गौतम का न्याय दर्शन, कणाद का वैशेषिक दर्शन, पतञ्जलिका योगदर्शन, कपिल का सांख्य दर्शन जैमिनी का मीमांसा दर्शन तथा व्यास का ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन।

आयुर्वेद के आधारभूत दर्शन

दर्शनों की चिन्तन-धारा से आषकाल की अन्य विद्याएं तथा कलाएं भी अस्पृष्ट न रहीं। समकालिक होने से अथवा दर्शन और आयुर्वेद दोनों के कर्ता और प्रवक्ता एक होने से आयुर्वेद पर भी दर्शनों का प्रभाव स्पष्ट पड़ा है। यों, आयुर्वेदीय संहिताओं पर छहों दर्शनों की छाया पड़ी है, तथापि मुख्यतया इस पर सांख्य का और उससे उतर कर वैशेषिक का प्रभाव पड़ा है।

आयुर्वेद के दर्शन की मौलिकता

ऊपर लिखे दो दर्शनों में जिन संज्ञाओं[1] का प्रयोग हुआ है उन्हींका प्रयोग आयुर्वेदीय संहिताकारों ने भी किया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने उन्हीं सिद्धान्तोंका तद्वत उल्लेख भी किया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि, उन्होंने आँख मींच कर दर्शनों का ही पल्ला पकड़ा है। सत्य यह है कि, दोनों तन्त्रों (दर्शन और आयुर्वेद) में संज्ञाओं का साम्य होते हुए भी एक ही पदार्थ के विषय में दर्शनों ने जो कुछ कहा है, उससे भिन्न स्वशास्त्रोपयोगी मन्तव्य आयुर्वेदीय संहिताकारों ने व्यक्त किया है। एवम् दर्शनों के सिद्धान्त का यथावत् प्रतिपादन करते हुए उन्होंने आगे अपने मत का भी उल्लेख कर दिया है।

आशय यह है कि, आयुर्वेद के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिये दार्शनिक चर्चा के चक्र में विद्यार्थियों को निरर्थक फेरने की जो परिपाटी अब तक चली आयी है वह निःसन्देह आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों से अलिप्त ही रखनेवाली है। पाठ्य-क्रम में इसी कारण पदार्थ-विज्ञान विषय का अध्यापन शुद्ध दर्शन ग्रन्थों के द्वारा न करा कर आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थों से सिद्धान्तों का संकलन करके ही होना चाहिये। इस बात की आवश्यकता इसलिए विशेष रूप से है कि आयुर्वेद का पदार्थ-विज्ञान; क्रियाशारीर, स्वस्थवृत्त, निदान आदि विषयों का भी द्वारभूत है। प्रारम्भिक कक्षा में यदि पदार्थ-विज्ञान के नाम से इन विषयों के मौलिक सिद्धान्तों का अध्ययन-अध्यापन हो जायगा तो आगे इन विषयों का समझना सुकर हो जायगा। 'आयुर्वेदीय-पदार्थ-विज्ञान' का संकलन इसी दृष्टि से किया गया है।

आगे के अध्यायों का समझना सुगम हो जाय इस दृष्टि से इस अध्याय में हम संक्षेप में उन वस्तुओं का उल्लेख करेंगे जिनके सम्बन्ध में उभय तन्त्रों में मत-भिन्नता है। सभी भिन्नताओं का एक स्थान पर समावेश करने से वाचकों के लक्ष्य में यह बात भी सरलता से आ सकेंगी कि वस्तुतः आयुर्वेद का अपना दर्शन है, और उसका अध्ययन स्वयं आयुर्वेदीय संहिताओं से ही होना चाहिये।

मत-भिन्नता का कारण

प्रथम दृष्टि में भिन्न-सदृश प्रतीत होनेवाले इन मतों का देखकर कोई यह कल्पना न कर ले कि दोनों तन्त्रों में कोई तात्त्विक मतभेद है। ऊपर से दिखाई देनेवाले इस मतभेद या विरोधाभास का एक कारण

१—Term-टर्म ; अथवा Technical TerM—टेक्नीकल टर्म। संज्ञा के लिए हिन्दी में भ्रान्तिवश परिभाषा शब्द प्रचलित हो गया है। परन्तु परिभाषा का अर्थ है—ऐसा नियम या व्यवस्था जो नियम का अभाव होने पर प्रस्तुत की जाती है। 'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा'—यह व्याकरण का प्रसिद्ध वाक्य है। परिभाषा के स्थान पर संज्ञा शब्द का ही प्रयोग इष्ट है।

तो यह है कि दोनों तन्त्रों के 'पदार्थ' ही भिन्न हैं। यहाँ पदार्थ शब्द का प्रयोग मैं विशेष पारिभाषित अर्थ में कर रहा हूं। जैसा कि द्वितीय अध्याय के आरम्भ में पदार्थ का लक्षण देते हुए कहा है—किसी ग्रन्थ का जो प्रतिपाद्य विषय हो, उसे उस ग्रन्थ का 'पदार्थ' कहते हैं। यों नामतः आयुर्वेद और दर्शनों के प्रतिपाद्य पदार्थ एक हैं तथापि उनके विषय में जिन वस्तुओं का प्रतिपादन (वर्णन) किया गया है, वे दोनों तन्त्रों में भिन्न हैं। यह भिन्नता स्वाभाविक भी है। उदाहरणतया, काल के सम्बन्ध में दर्शनों में सामान्यतया इतना ही कहा जायगा कि भूत, भविष्य और वर्तमान इन शब्दों का व्यवहार जिस पदार्थ के लिए किया जाता है उसे 'काल' कहते हैं। परन्तु, आयुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय, प्राणिमात्र का (जिसमें उद्भिदों का भी समावेश है) स्वास्थ्य और उसपर हिताहित क्रिया करनेवाले पदार्थके होनेके कारण, स्वभावतः आयुर्वेद में इस बात का प्रतिपादन किया जाता है कि काल के किस भेद (ऋतु, मास, वय आदि) में मानवों, मानवेतर प्राणियों तथा उद्भिदों पर सूर्य आदि की क्या-क्या क्रिया होती है तथा उनके अनुसार पुरुषों का आहार-विहार क्या और कैसा होना चाहिये।

इस उदाहरण को तथा आगे के अध्यायों में कहे अन्य उदाहरणों को दृष्टि में रखते हुए स्पष्ट समझा जा सकता है कि आयुर्वेद और दर्शनों के बीच जो मत-भिन्नता है वह अन्धगजन्याय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिस प्रकार षड्दर्शनों के समन्वय के लिये यह दृष्टान्त देते हुए कहा जाता है कि जैसे छःअन्धों द्वारा स्पर्श करके जाने गये हाथी के विभिन्न अवयवों के वर्णन को मिलाकर देखा जाय तो वे एक सम्पूर्ण द्रव्य की जानकारी कराते हैं—एवं तत्त्वतः छहों में कोई विरोध नहीं होता' इसी प्रकार सृष्टि के सम्बन्ध में छः प्रतिपादनीय वस्तुएँ लेकर उन छः का पृथक् वर्णन छः दर्शनों के प्रवक्ताओं ने किया है। सब मिलकर वस्तुतः एक पूर्ण प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करते हैं। आयुर्वेद और दर्शनों के मध्य दृष्टिगोचर होनेवाले विरोधाभास का भी समाधान इसी न्याय से करना चाहिये।

दोनों तन्त्रों में विद्यमान विसंवाद का एक अन्य भी कारण है। आयुर्वेद के आचार्यों की दृष्टि सदा स्थूल रही है। उन्हें सामान्यतः स्थूल जगत से काम होने से उसी को उन्होंने अपने सामने रखा है। उनके लिये प्रयुक्त 'पृथुदर्शी'[1] शब्द इस बात का स्पष्ट द्योतक है। इसी प्रकरण में आगे तो और स्पष्ट कहा है कि—चिकित्साशास्त्र में भूतों की अपेक्षया सूक्ष्म पदार्थों का न कुछ उपयोग है, न उनका आयुर्वेद में विचार किया गया है[2]।

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान के अध्ययन में इन दो बातों को सदा दृष्टिगत रखना चाहिये। इतने प्रारम्भिक वक्तव्य के पश्चात अब हम उदाहरणत्वेन संक्षेप में उन पदार्थों का निर्देश करेंगे जिनके विषय में आयुर्वेद को विशेष वक्तव्य है।

कारण द्रव्यों की भिन्नता

आयुर्वेद तथा दर्शनशास्त्रों के सिद्धान्तों की तुलना करते हुए प्रथम ध्यान खेंचनेवाला भेद मूल द्रव्य संबन्धी है। यह सुविदित है, कि सांख्यों ने सृष्टि के कारण दो माने हैं—प्रकृति और पुरुष। उधर, वैशेषिक ने मूल सात पदार्थ माने हैं और इन्हीं से समूची सृष्टि का आरम्भ माना है। आयुर्वेद में उभय मतों का समावेश किया गया, पर कुछ भेद के साथ। यथा—

१—देखिये—सु. शा. १।११

२—देखिये—सु. शा. १।१३

चरक और सुश्रुत दोनों ने सांख्य मतानुसार सृष्टि के आदि तत्त्व माने हैं। इनमें सुश्रुत ने तो प्रचलित सांख्य संप्रदाय का अनुसरण करके पुरुष-संयुक्त प्रकृति को सृष्टि का आदि करण कह कर, क्रमशः सृष्ट्युत्पत्ति बताते हुए महाभूत पर्यन्त २५ तत्त्व माने हैं; परन्तु चरक ने अव्यक्त से सृष्टि का आरम्भ बताकर कुल चौबीस तत्त्व बताये हैं। स्वयं संहिताकार ने 'अव्यक्त' का अर्थ आत्मा बताया है, परन्तु चक्रपाणि ने क्लिष्ट कल्पना करके अव्यक्त शब्द से आत्मा और प्रकृति दोनों का ग्रहण किया है; साथ ही 'चतुर्विंशति' शब्द से पच्चीस संख्या की पूर्ति का प्रयास भी किया है। परन्तु, भारतीय दर्शन का इतिहास देखने से विदित होता है कि वर्तमान पञ्चविंशति-तत्त्ववादी सांख्य संप्रदाय के पूर्व एक अन्य सांख्य संप्रदाय प्रचलित था जो आत्मा से ही बुद्धि इत्यादि क्रमसे सृष्ट्युत्पत्ति मानता था। प्रकृति को वह न मानता था। इस प्रकार उसके मत में कुल तत्त्व चौबीस ही होते थे। विद्वानों का मन्तव्य है कि, इस प्रथम सांख्य संप्रदाय का प्रवक्ता स्वयं चरक संहिता का आदि उपदेष्टा था[1]। अपने काल में द्वितीय सांख्य संप्रदाय प्रचलित हो जाने से चक्रपाणि को प्रथम संप्रदाय का ज्ञान न था। अतः उन्होंने उल्लिखित क्लिष्ट कल्पना की।

द्रव्यों की पाञ्चभौतिकता

सुश्रुत ने भी यद्यपि सृष्टि का आरम्भ पुरुष संयुक्त प्रकृति से बताया है तथापि इस प्रकरण के एकदम पीछे उसने स्पष्ट कहा है कि, चिकित्साशास्त्र में इतना सूक्ष्म विचार न उपयोगी है न आवश्यक। उसमें तो स्थावर-जङ्गम द्रव्यों को पाञ्चभौतिक (पञ्चभूतोत्पन्न) मानकर ही व्यवहार कियाजाता है। आशय यह है कि शरीर के यावत् अवयव पाँच महाभूतों से ही बने हैं। ये पञ्चमहाभूत शरीर में सम (यथोचित) प्रमाण में रहें तो अवयव (दोष, धातु आदि) भी सम—अर्थात् स्वास्थ्य के लिए तथा जीवनोपयोगी निसर्गसिद्ध क्रियाएँ करने के लिए उनका शरीर में जो प्रमाण होना चाहिए उस—प्रमाण में रहते हैं। अपने-अपने अग्नियों के द्वारा क्षय आदि कारणों से दोषों तथा अन्य अवयवों के प्रमाण में निरन्तर न्यूनाधिकता होती रहती है। यथोचित आहारादि द्वारा उन्हें सम-अवस्था में बनाये रहें तो शरीर का स्वास्थ्य स्थिर रहता है—दोष आदि सम प्रमाण में रह कर अपनी प्राकृतिक क्रियाएँ सम रूप से कर सकते हैं। यह आहार भी पाञ्चभौतिक होना चाहिए—उसमें पाँचों भूतों का प्रमाण सम अर्थात् यथायोग्य होना चाहिए। आयर्वेद का यह प्रधान सूत्र अथवा प्रतिष्ठा (नींव) है।

चरक ने भी सांख्य मत का निरूपण करके सुश्रुत के समान द्रव्यों (आहार और औषध) को पाञ्चभौतिक ही माना है। यहां तक कि, मन और सूक्ष्म इन्द्रियों को भी प्रचलित तथा स्वयं निरूपित साँख्य मतानुसार आहंकारिक (अहंकारजात) न मानकर पञ्चभूतात्मक ही माना है।

स्थूलदर्शी संहिताकार

विवाद से बचने के लिये सुश्रुत ने स्पष्ट कह दिया है—चिकित्सक तो स्थूलदर्शी है—उसे स्थूल जगत् से ही काम है। अतः कारण द्रव्यों के पचड़े में न पड़कर जब जिस मूल कारण को मानने से काम चल जाय तब उस वस्तु को चिकित्सकजन मूल कारण मान लेते हैं। इस प्रकार स्वभाव, ईश्वर, काल,

(शेषांश ८१६ वें पृष्ठ पर)

१—चरक-संहिता का प्रवक्ता (प्रथमोपदेष्टा) सांख्य संप्रदाय का भी प्रवर्तक है, यह. एक और प्रमाण इस बात का साधक है, कि आयुर्वेद का दर्शन समझने के लिए इतर दर्शनों का पुच्छावलम्बन इष्ट नहीं है; प्रत्युत अनुचित ही है।

आयुर्वेद का विलीनीकरण

कविराज अनाथ नाथ राय

(गतांक से आगे)



इसी दिन इस तथ्य को कार्यान्वित करने के लिए मेजर एम० एच० शाह की अध्यक्षता में एक उप कमिटी नियुक्त कर दी गई। और इस कार्य के लिए २० हजार रुपया निर्धारित हुआ तथा छः मास की अवधि स्वीकृत हुई।

लेकिन यहां भी स्वदेशी चिकित्सा पद्धतियों के दुर्भाग्य ने पीछा नहीं छोड़ा और भारतीय नागरिक ऐलोपैथिक डाक्टर होकर साम्राज्यशाही नीति का पिष्ट-पेषण करते रहे। उक्त कमिटी ने अपना वास्तविक काम जून के द्वितीय सप्ताह में शुरू किया। किन्तु यह श्रीगणेश ही अधूरा रहा। ले० कर्नल शाह ने अपने दायित्व को परिपूर्ण करते हुए कहा कि देश की शीघ्रातिशीघ्र बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों ने मेरा काम अनिश्चित कर दिया है... मुझे आयुर्वेद के सम्बन्ध में अधिक सूचनाएँ प्राप्त नहीं है...मेरी राय में आयुर्वेद...अभी तक उचित रूप से व्यवस्थित नहीं हुआ है। इसलिये, त्रिदोषों पर इसका अत्यधिक अवलंबन होने के कारण इसने भौतिक बातों को इतना गौण रखा है कि इसके सप्तधातुओं का Pathological ज्ञान नितांत अधूरा है। इसके पञ्चमहाभूत यद्यपि सूक्ष्म संज्ञा जनित गुणों को प्रकट करते हैं परन्तु ये साधारण गुणों की अपेक्षा संज्ञा के क्लिष्ट समूहों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस लिए हम कह सकते हैं कि हकीमों और वैद्यों का ज्ञान और उनके तौर तरीके (तीन चिकित्सा-प्रणालियों को) एक सूत्र बद्ध करने की दिशा में अधिक सहायक नहीं होंगे।

आयुर्वेद के बारे में लेफ्टिनेंट कर्नल महोदय की राय ही जब एकदम शून्य और अर्थहीन और obiter dicta है तब सूत्र बद्ध करने के लिये आप सिफारिशें क्या करते। इस प्रकार आपने आयुर्वेद और यूनानी के समन्वय होने का कार्य भविष्य के जिम्मे छोड़ दिया ताकि वे निजी विकास का कोई मार्ग स्वयं ही प्रशस्त करे।

लेकिन जो सम्मेलन प्रांतीय स्वास्थ्य मन्त्रियों का हुआ था उसमें सूत्र बद्ध होने और समन्वय करने की बात नहीं थी। जन-स्वास्थ्य शासन-क्षेत्र में प्रांतीय विषय है और अपने इस विषय को प्रान्तों ने सहर्ष केन्द्र को सम्मेलन में दे दिया था, परन्तु चोपड़ा कमिटी की रिपोर्ट इस दृष्टि से जन-स्वास्थ्य के आधार पर नहीं बनी। दूसरे चोपड़ा कमिटी ने अपना कार्य ठीक एक वर्ष बाद ४ मार्च (१९४८) से शुरू किया।

चोपड़ा कमिटी की प्रश्नावली

२६ अप्रैल (१९४७) को एक प्रश्नावली सक्रिय डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों के नाम प्रचारित की गई इसमें ११ वां प्रश्न इस प्रकार है—

प्रश्न—क्या आप आयुर्वेद, यूनानी और डाक्टरी चिकित्सा पद्धतियों को एक कार्य-प्रणाली में सूत्र-बद्ध करने के पक्षपाती हैं? यदि हां तो इस सम्बन्ध में आपका क्या प्रस्ताव है?

इस प्रकार समन्वय करने का जो प्रश्न जनाब गजनफर अली ने चोपड़ा कमिटी के संमुख

बना दिया था, वह इस प्रश्नावली में जनमत का एक विषय मात्र रह गया और इस प्रश्न ने स्वदेशी चिकित्सा प्रणालियों को सर्वथा समाप्त करने की ब्रिटिश नीति के मार्ग को स्थूल दृष्टि से सरल बना दिया। क्योंकि प्रायः सभी प्रान्तों के डाक्टरों और मेडीकल ऐसोसियेशनों ने एक स्वर में आयुर्वेद का उपहास उड़ाया और कहा कि एक निश्चित तिथि के बाद ऐलोपैथी में आयुर्वेद को समाविष्ट करने के उपरान्त इसकी शिक्षा-दीक्षा तक रोक दी जाये। दूसरे शब्दों में आयुर्वेद की स्वतन्त्र आस्था ऐलोपैथी के साम्राज्य में पूर्णरूप से विलीन कर दी जाये।

लेफ्टीनेण्ट जनरल के साथ डाक्टर जीवराज मेहता ने अपना बयान देते हुये कहा कि अधिकतर संख्या में वैद्य और हकीम केवल मात्र ठोक-पीट कर हकीम बने हुये हैं। इसलिये इनसे क्या आशाएँ की जा सकती हैं।

चोपड़ा कमिटी ने देश का जनमत जानने के लिये अपनी यात्रा ४ मार्च १९४८ को प्रारम्भ की। यह यात्रा १९ शहरों का दौरा कर २९ अप्रैल को समाप्त हुई जिसमें इसने ७९ पाश्चात्य डाक्टरों, ४४ हकीमों, २२ अचिकित्सकों और १६८ वैद्यों से परामर्श किया।

और इस यात्रा में (अब भारत सरकार के हैल्थ सर्विसेज के डायरेक्टर जनरल) डाक्टर के० सी० राजा ने डाक्टरों के मतों को एक सर्वथा नई दिशा में मोड़ दिया तथा डाक्टरों की आयुर्वेद यूनानी पर साम्राज्य लिप्सा को प्रचुर बनाने के लिये एक अकाट्य तर्क पेश किया "भारत विश्व World Health Organisation Charter का सदस्य है, इस लिये उसे पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली को लोकप्रिय बनाकर इस संस्था के प्रति अपने दायित्वों को पूरा करना चाहिये।"

चोपड़ा कमिटी ने भोर कमिटी की इसलिये कटु-आलोचना की है क्योंकि इस ने आयुर्वेद की अपनी रिपोर्ट में सर्वथा उपेक्षा की थी। पर बात असल में यह गलत है। भोर कमिटी ने २९वें अध्याय में स्वदेशी चिकित्सा प्रणालियों के सम्बन्ध में लिखा है "हम महसूस करते हैं कि आयुर्वेद और यूनानी में सदियों से जो ज्ञान अर्जित किया है वह औषधियों के सम्बन्ध में अगाध है। इन दोनों प्रणालियों का निरक्षर जनता पर अपार प्रभाव है और पर्याप्त शिक्षित व्यक्ति भी इसमें विश्वास रखते हैं। यदि सरकार चाहे तो इन प्रणालियों के विशेषज्ञों से इनकी उचित व्यवस्था के लिये सुझाव संगृहीत कर सकती है।"

यही नहीं, पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली के अन्य अनेक विशेषज्ञों ने आयुर्वेद और यूनानी को पूर्ण विज्ञान माना है। डाक्टर विधानचन्द्र राय (वर्तमान पश्चिमी बंगाल के बड़े मंत्री) ने लाहौर में अखिल भारतीय मैडीकल कांफ्रेंस के अध्यक्ष पद से कहा था कि औषधि को जो वैज्ञानिक दृष्टि से देखते हैं वे उसे संकीर्ण रूप से देखते हैं। शताब्दियों पहले आयुर्वेद के प्रणेताओं को स्नायु प्रणाली का सही-सही ज्ञान था...।

अर्ध-गोरे पत्र स्टेट्समैन ने १९४९ में २९ फरवरी को अपने संपादकीय लेखमें लिखा "यह कहा जा रहा है कि आयुर्वेद और ऐलोपैथी सूत्र-बद्ध नहीं हो सकती हैं परंतु इसके विपरीत ऐसे—व्यावहारिक उदाहरण हैं जिनसे यह पूर्ण संभव जान पड़ता है।"

यहां रुक कर हम संपूर्ण स्थिति को ठीक समझ लें। १८३५ से लेकर चोपड़ा कमिटी तक आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा प्रणालियों को ऐलोपैथी के समक्ष सर्वथा गौण बनाने का प्रयास सतत् रूप से चलता रहा है। प्रांतीय स्वाधीनता और बाद में

स्वतंत्रता आदि के बाद जो जन भावना आयुर्वेद को लोकप्रिय करने के पक्ष में हो गई थी, चोपड़ा कमिटी ने उसे समन्वय या सूत्र बद्ध करने के प्रश्न में उलझा कर विवादास्पद प्रश्न इस सीमा तक बना दिया कि आयुर्वेद कभी भी विश्वविद्यालय में शिक्षित होने के तल तक ऊपर न उठ सके।

सत्य तो यह है कि आयुर्वेद का आधार दर्शन है। ऐलोपैथी विज्ञान पर आधारित है और व्यवस्थित तथा उचित निरीक्षण, अनुसंधान व जांच के बल पर अपना कार्य करती है। आयुर्वेद अनुभूति और संचित अनुभव और भूतपूर्व अर्जित ज्ञान के आधार पर कार्य करता है। ऐसी स्थिति में दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में पूर्ण और सिद्ध प्रणालियां हैं। इन्हें एक दूसरे में बलात् सम्बद्ध करना एक दूसरे को निष्क्रिय और प्राणहीन बना देना होगा। मैंडल कानून के अन्तर्गत दो नये जीवों की सन्तति अपने माता पिताओं के संयुक्त रूप-गुणों को ग्रहण करती है। इसका सीधा अर्थ दुर्बल प्राणी का पूर्ण विनाश और सबल जीव का द्विगुणित विकास होगा। निश्चित् रूप से आज सबल प्राणी अन्तर्राष्ट्रीय लाभों को प्राप्त किये हुये ऐलोपैथी ही है।

यह प्रसन्नता की बात है कि आज १७ फरवरी १९५० (इन पंक्तियों की समाप्ति के क्षणों में) भारतीय पार्लमेंट में स्वास्थ्य-मंत्राणी ने एक प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट कहा है कि चोपड़ा कमिटी की सिफारिशों को कार्यान्वित न करने का कारण यह है कि वे सब अव्यवहारिक थीं। उसका सबसे महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि प्राचीन और ऐलोपैथी चिकित्सा-प्रणालियों को सूत्र-बद्ध कर दिया जाये और दोनों के सिद्धान्तों का मिश्रण कर एक नवीन प्रणाली के रूप में मैडीकल कालेजों में शिक्षा दी जाये। परन्तु दोनों प्रणालियों में पर्याप्त अन्तर है इसलिये ऐसा किया जाना असंगत होगा।

क्या हम आशा करें कि इस नव-वर्ष में केन्द्रीय सरकार १८३५ से १९४९ तक के आयुर्वेद दमन का आन्दोलन सर्वथा समाप्त कर एक नवीन इतिहास आरम्भ करेगी?

शेषांश आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान ८१३ वें पृष्ठ का

यदृच्छा (आकस्मिकता), नियति (पुरुषों के धर्माधर्म) तथा मूल प्रकृति सभी को आयुर्वेद में मूल कारण माना है—कहीं किसी को और कहीं किसी को।

पदार्थों में अभाव की न गणना का कारण

इस प्रकार पञ्चभूतों को सृष्टि का आदि कारण मानते हुए संहिताकार वैशेषिकों के पदार्थों के निकट आ पहुंचते हैं। परन्तु यहां भी थोड़ा विरोध है। वैशेषिकों ने पदार्थ सात माने हैं, ज़ब कि आयुर्वेद में अभाव को पृथक् पदार्थ न मानते हुए कुल छः पदार्थ माने हैं। स्थूल भावात्मक पदार्थों से ही चिकित्सक को सम्बन्ध होने के कारण अभाव उसके लिए प्रतिपाद्य ही नहीं। उधर कई पदार्थ अपने अभाव से ही दर्शन-ग्रन्थों में समझे जा सकते हैं, पर आयुर्वेद में उनका इतना ही परिचय अत्यन्त अपूर्ण ही रहेगा। यथा, गुरु का ही अभाव लघु तथा स्नेह का ही अभाव रूक्ष है, इतना कहने से दार्शनिक को संतोष हो सकता है, पर इन गुणों का नित्य व्यवहार करने वाले चिकित्सक का समाधान इतने से कैसे हो? अतः अभावगम्य पदार्थों का भी पृथक्-नाम-रूप से ग्रहण और उपदेश संहिताकारों ने आवश्यक होने से ही किया है।

क्रमशः

हमारा राष्ट्रीय स्वास्थ्य

वैद्य रवीन्द्र शास्त्री

छत्तीस करोड़ की विशाल जन-संख्यावाला यह हमारा हिन्दुस्तान सम्पूर्ण रूपसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होते हुए भी-आज अनेक समस्याओं के चक्कर में पड़ा हुआ है। कुछ समस्याएँ तो ऐसी हैं, जो आजादी के बाद प्रत्येक देश के सामने आती हैं,—और कुछ ऐसी हैं जो अङ्गरेजों ने चलते-चलाते हिन्दुस्तान को दी है। देश के विभाजन के फलस्वरूप जो समस्याए उत्पन्न हुई—उनका सम्पूर्ण रूप से समाधान अभी तक नहीं हो पाया है और यही वजह है कि देश के अपने नेता और अपनी सरकार, राष्ट्रीय स्वास्थ्य जैसी महत्त्वपूर्ण समस्या पर भी अभी तक अपना ध्यान नहीं दे पायी है। यह सच है कि विदेशी सरकार ने हमारे देश के स्वास्थ्य को नष्ट करने में अपनी पूरी शक्ति से काम किया था, किन्तु यह भी सच ही है कि हमारी अपनी सरकार के लिये देश के बिगड़ते हुए स्वास्थ्य की रक्षा करना सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है।

यह अप्रिय सत्य भी हमें मान लेना चाहिये कि आजादी के बाद स्वास्थ्य को नष्ट करनेवाले तत्त्वों की ज्यादा वृद्धि हुई है। खाद्य पदार्थों की मिलावट युद्धकाल से भी ज्यादा बढ़ गई है--अन्न, तेल जैसी साधारण चीजों की महंगाई और अशुद्धि सुरसा के मुंह की तरह बढ़ती जा रही है--कण्ट्रोल और राशनिंग का दैत्य देशवासियों के जीवनतत्त्व को और भी अधिक तेजी से खाये जा रहा है।

देश का स्वास्थ्य किस तेजी के साथ गिरता जा रहा है, राष्ट्र के जीवन का ह्रास किस तेजी से हो रहा है, इसका अनुमान आजके हमारे नौजवानों के शरीर को देख कर सहज ही किया जा सकता है। भरी जवानी में भी आजका हिन्दुस्तानी नौजवान कब्जी और प्रमेह की शिकायत रखता है—यौवन के वसन्त में भी उसके दिमाग में नई उमङ्गों और नई प्रतिभा के स्थान में बच्चे की दवा और दूध के पैसों की चिन्ता रहती है। मुंह का फीकापन, आँखें खड्डों में घुसी हुई, कमर झुकी हुई और मन मुरझाया हुआ—यही चित्र हिन्दुस्तान के नौजवानों का है। जिस जवानी के तूफानी दिनों में लोहे के चने भी हजम होने चाहिये--और जिस यौवन के प्रभातकाल में दिमाग एवं दिल में कुछ कर दिखाने की लहरें होनी चाहिये; उसी जवानी में हमारा हिन्दुस्तानी नौजवान हाजमे की गोलियों की फिक्र में रहता और टूटे हुये दिल को लेकर किसी तरह जिन्दगी के दिनों को काटने की चिन्ता में व्यस्त रहता है। देश के इन जवानों की दयनीय दशा को देखकर ख्याल आता है कि इस देश में जवानी आती है या नहीं।

नौजवानों के साथ ही यदि भावी नवयुवकों—बच्चों की दशा देखी जाय तो कलेजा मुंह को आने लगता है। हड्डियों के इन ढांचों में रहनेवाला प्राण जरूरी खुराक के अभाव में—जवानी की सीढ़ियों

तक पहुंचते २ रहेगा भी या नहीं,—इसी में पूरा संदेह है।

देश के स्वास्थ्य और जीवन की कल्पना केवल इस बात से हो की जा सकती है,—कि हिन्दुस्तान की औसत जनता मृत्यु से इतनी परिचित एवं अभ्यस्त हो गई है कि मानव-जीवन की हानि से होने वाले नुकसान की अनुभूति उसे होती ही नहीं, मलेरिया-हैजा-प्लेग जैसे रोगों को वह ईश्वरीय कोप समझ के अपना समाधान कर लेती है, और प्रति वर्ष लाखों जिन्दगियां इन रोगों की भेंट चढ़ा देती है, थोड़ी सी सावधानी और जागरुकता से रोके जा सकने वाले बहुत से रोग ऐसे हैं:—जिनके कारण हर-साल लाखों आदमी मरते हैं। मलेरिया और हैजा ये दो रोग ऐसे हैं —जो सरकार की सतर्कता से दूर किये जा सकते हैं, तथा इन्हीं दो रोगों का ज्यादा जोर इस देश में रहता है।

हिन्दुस्तान के मौजूदा स्वास्थ्य— को देखकर प्रत्येक समझदार देशवासी के दिल में दर्द हुये बिना नहीं रह सकता। आज हमारी औसत आयु सिर्फ २७ वर्ष है,—जब कि अंगरेजों की हम से दुगुनी से भी अधिक ५६ और अमेरिकनों की ५८ है। एक अंगरेज ५६ वर्ष की आयु तक अपनी जिन्दगी बिताता है;—जिसमें वह अपने जीवन के साथ ही देश के जीवन को भी उन्नत बनाता है। एक हिन्दुस्तानी जवानी के आने पर समाज और देश की सेवा के स्थान में यमराज की सेवा के लिये चला जाता है।

सन् १९४३ में देशके स्वास्थ्य की जांच-पड़ताल करने के लिये तत्कालीन अंग्रेजी सरकार ने २ दर्जन स्वास्थ्य विशेषज्ञों की एक कमेटी बनाई थी, उसके अध्यक्ष थे सर जोसेफ भोर—अतः इस कमेटी को भोर कमेटी का नाम दिया गया था। भोर कमेटी ने २॥ साल की जांच-पड़ताल के बाद १२ सौ पृष्ठों—और चार जिल्दों में अपनी रिपोर्ट सरकार को दी थी। उस रिपोर्ट में यह बताया गया था कि हिन्दुस्तान में मृत्य की औसत २२·४ प्रतिहजार है,—जब कि अमेरिका में ११·२ और ब्रिटेन में १२·४ है। इसका मतलब यह हुआ कि अमेरिका और ब्रिटेन से हिन्द की मृत्यु संख्या दुगुनी है।

भोर कमेटी के कथनानुसार हिन्द में बच्चों की मृत्यु १६२ प्रति सहस्र है, ब्रिटेन में ५८ और अमेरिका में ५४ यानी ब्रिटेन और अमेरिका से तिगुनी के लगभग। औसत आयु का अन्दाजा २७ वर्ष है। खाली प्रसूत रोगों में मरनेवाली स्त्रियों की संख्या २ लाख से ऊपर जाती है। हर साल १० करोड़ आदमियों को मलेरिया होता है—अर्थात् देश की आबादी का तिहाई हिस्सा मलेरिया से पीड़ित होता है। इसमें से २० लाख तो मर जाते हैं, और बाकी के तिल्ली-जिगर-आदि की खराबियों को लेके अपनी जिन्दगी की माला के दाने गिनते हैं। हर साल २५ लाख आदमियों को तपेदिक होता है-जिनमें ५ लाख मर जाते हैं।

दो लाख से अधिक हैजे से मरते हैं, ३ लाख के करीब पेचिस और ५ लाख से अधिक दमे के कारण मरते हैं। आकस्मिक दुर्घटनाओं से मरनेवालों की संख्या १५ लाख तक पहुंचती है, प्लेग और चेचक के कारण सदाही २ लाख के करीब आदमी मरते हैं। आधे करोड़ के लगभग ज्वर देवता की बलि चढ़ते हैं और ५० लाख के करीब अनेक प्रकार की बिमारियों से मरते हैं। इनके अलावा जब कभी महामारी के रूप में हैजा-प्लेग आदि कोई रोग फैलता है तो मरनेवालों की संख्या लाखों से कम तो होती ही नहीं,-और इस अभागे देश में महामारियों का तांडव तो सदा होता ही रहता है। इस तरह प्रतिवर्ष-

दो करोड़ के लगभग मनुष्य विविध बिमारियों से मरते रहते हैं।

यह दो करोड़ की आनुमानिक संख्या तो ऐसी है, जो अङ्गरेजों के शासन काल में आंकी जाती थी--जबकि यथार्थता को छिपाने में ही उन का भला था। साथ ही एक बात यह भी है कि जिन स्थानों में सरकारी हास्पिटल वगैरह कतई नहीं है—और जहां की जनता सदाही विना दवा के मरती रहती है—उनकी मृत्यु संख्या इस दो करोड़ से अलग समझनी चाहिये।

मेजर जनरल सर जान मेगाने हिन्दुस्तान के स्थिति का पूरा अध्ययन करने के बाद बतलाया था कि "हिन्द के ३९ प्रतिशत आदमियों को तो अलबत्ता पोषक पदार्थ मिलते हैं,-वर्ना ४१ प्रतिशत सिर्फ साधारण भोजन पर ही अपना निर्वाह करता है।२० प्रतिशत को बहुत ही साधारण—सिर्फ पेट का खड्ढा भरने लायक मात्र खाद्य मिलती है- और ३३ करोड़ आदमियों में ८ करोड़ व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें पेट भर कर भोजन ही नहीं मिलता, ये सदा ही भूखे रहते हैं।"

देश की आवादी बढ़ने के कारण ही लोगों को भूखा रहना पड़ता हो,—और जन-संख्या के बढ़ने के कारण ही राष्ट्र का स्वास्थ्य गिर रहा हो,—सो बात भी नहीं मानी जा सकती,—जब कि दुनिया के दूसरे देशों में इससे उल्टा हो रहा हैं। सन् १९३१ में संसार के अलग २ देशों की बढ़ती हुई आवादी का अनुमान इस तरह लगाया गया था। अमेरिका की १८६ प्रतिशत, जापान की ७४ प्रतिशत, ब्रिटेन की ५४, इटली की ४६, जर्मनी की ४२ और हिन्दुस्तान की सिर्फ ३९ प्रतिशत आवादी बढ़ी थी। जब कि अमेरिका में हिन्दुस्तान से पचगुनी के लगभग आवादी बढ़ी तो अमेरिका का राष्ट्रीय स्वास्थ्य नष्ट हो जाने के बजाय उन्नत क्यों हुआ? हिन्दुस्तानी की औसत आयु तो क्यों २७ वर्ष ही रह गई और अमेरिका की क्यों ५८ तक जा पहुंची?

भोर साहब ने देश के स्वास्थ्य की अवनति का कारण बढ़ी हुई गरीबी बतलाया था। स्वयं अंग्रेज होने के कारण यह तो वे बता नहीं सकते थे कि इसका मूल कारण देश की गुलामी है, जिसके कारण देश की आर्थिक दशा इतनी खराब हो गई है कि रहने-सहने के मकानों और खाने-पीने की अशुद्धि और अभाव के कारण यह दशा हो रही है।

स्वास्थ्य के ऊपर खर्च किये जानेवाले सरकार के १ पैसा प्रति मास, प्रति मनुष्य को कम बताते हुये उन्होंने यह कहने का साहस भी किया था कि इस खर्च को १० गुना अवश्य बढ़ा दे।

इस दुरवस्था का मूल कारण

देश के दयनीय स्वास्थ्य की दुर्दशा के मूल कारण को खोज निकालना कोई कठिन बात नहीं है। यूरोप के छोटे २ देश भी जब अपने राष्ट्रीय स्वास्थ्य को दिन-व-दिन उन्नतिशील बनाते जा रहे हैं तो एशिया का यह प्राचीन और विशाल देश क्यों भुखमरी और बिमारियों का अड्डा बन रहा है? इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर है पौष्टिक खुराक और स्वास्थ्य शिक्षा की कमी। इन दोनों के कारणों में हमारी दार्शनिकता, राजनीतिक गुलामी और गुलामी के फलस्वरूप होनेवाली परवशता—तकदीर, उदासीनता आदि कई चीजें शामिल हो सकती हैं।

पौष्टिक पदार्थों की कमी के माने है—शरीर के जीवित और स्वस्थ रहने लायक पोषण तत्त्वों की उचित मात्रा के अभाव में जीवनी शक्ति का निरन्तर ह्रास। शरीर के स्वास्थ्य की सम्पूर्णता के लिये उचित मात्रा में पौष्टिक भोजन न मिलने से शरीर की स्वाभाविक रोग क्षम-शक्ति नष्ट होती

रहती है और यही कारण है कि उचित भोजन के अभाव में हमारा शरीर रोगों के लिये उपजाऊ भूमि हो रहा है। थोड़े दिन का बुखार ही क्षय के रूप में बदल जाता है। इसका मोटा कारण यही है कि शरीर की प्राकृतिक रोग संहारक शक्ति पहिले ही इतनी निर्बल रहती है कि क्षय के कीटाणुओं का प्रतिशोध करने की प्रारम्भिक प्रतिक्रिया बहुत मन्द गति से होती है।

पौष्टिक खुराक की कमी के कारणों में दूध की कमी एक ऐसा कारण है जो बहुत तेजी के साथ देश के स्वास्थ्य को नष्ट कर रहा है।

हिन्दुस्तानीयों के भोजन में पौष्टिक पदार्थ दूध और घी ही है—जिसमें भी दूध का महत्त्व सबसे उत्तम है। शाकाहारियों के भोजन में दूध की कमी होने का मतलब है—उनके शरीर के पोषण की कमी—तथा स्वास्थ्य का ह्रास।

छोटे बच्चों के लिये तो दूध एक ऐसा अनिवार्य भोजन है—जिसके बिना उनके शरीर का विकास ही नहीं हो पाता। जिन बच्चों को पर्याप्त दूध मिलता है; उनका शरीर ठीक रूप से पुष्ट और विकसित होता है—और जिन बच्चों को उचित मात्रा में दूध नहीं मिलता वे शरीर और मन से मुरझाये हुये रहते हैं. बाल सुलभ चंचलता और उछल कूद उनमें नहीं—होती—वे तो वीतराग वैरागी की तरह संसार से उदासीन होके जल्दी ही अपनो जीवनलीला समाप्त कर देते हैं।

आहार शास्त्र के अनुसार बच्चों को १ सेर और वयस्कों को आध सेर दूध तो शरीर के स्वास्थ्य के लिये मिलना ही चाहिये। इस मात्रा में कमी होने का मतलब है शरीर के विकास और कार्यशक्ति की कमी, किन्तु दुर्भाग्य से हिन्दुस्तान के बच्चों और वयस्कों को उचित मात्रा में तो क्या - इससे आधी मात्रा में भी दूध नहीं मिलता। कच्ची उम्र में हा दूध के अभाव से मरनेवालों की संख्या लाखों है,—दूध के अभाव में रोटी का टुकड़ा निगल २ के अपने जीवन को बर्बाद करनेवाले अस्थिकंकाल मात्र बच्चे ही चारों तरफ नजर आते हैं।

हिन्दुस्तान में कुल ८० करोड़ मन दूध हर साल होता है—जिसका—मतलब हुआ कि हरएक हिन्दुस्तानी को ३ छ० दूध भी रोजाना नहीं मिलता, जब कि हरएक अमेरिकन इससे ६ गुना १८ छ० दूध रोज पीता है। दूध की यह घातक कमी तो है ही, इसके साथ ही दूध में पानी की मिलावट ने आफत ही बरसायी है। शुद्ध दूध का मिलना आज कितना कठिन हो गया है—यह शहरवाले ही नहीं देहातवाले भी अच्छी तरह जान गये हैं। १ सेर दूध में ५-६ छटांक पानी की मिलावट होना तो साधारण बात है और पानी भी शुद्ध नहीं, चाहे जैसा गंदा होता है।

इस तरह हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय स्वास्थ्य के निरंतर क्षीण होने में दूध की यह कमी खास कारण बन रही है। छोटा सा अमेरिका हिन्दुस्तान से ज्यादः दूध पैदा करता है—और दूध की नदियां वहानेवाला हिन्द आज अपने बच्चों को भी पर्याप्त नहीं दे पाता—यह भाग्य की कितनी भयानक विडंवना है?

दूध की कमी के साथ ही अन्य पोषक पदार्थों की ही नहीं, - पेट भरने लायक उचित अन्न आदिकी कमी भी मौजूद है,—जो देश के ८ करोड़ आदमियों को सदा ही आधे पेट भूखा रखता है। इस कमी के अलावा खाने पीने के पदार्थों-में होनेवाली मिलावट रही कसर को पूरी कर रही है।

स्वास्थ्य शिक्षा की कमी—अपने और अपने आस पास के लोगों की तन्दुरुस्ती की हिफाजत का ज्ञान न होना भी अपने आपमें एक बहुत बड़ा और

महत्त्व पूर्ण कारण है-जो देश के स्वास्थ्य को बर्बाद कर रहा है। खड़े गंदे जल को पीने में हमें-कोई आपत्ति नहीं होती-पशुओं के मल मूत्र से भ्रष्ट हुआ जल भी हमारे पेट में पहुंचता है—हलवाइयों की मक्खीयों द्वारा गंदी की हुई 'मिठाई, सड़े और बासीफल तथा चाय काफी जैसी चीजें हम खाते रहते हैं। क्षय के रोगी का बलगम चारों तरफ अपने कीटाणु फैलाने में कोई रुकावट नहीं पाता, हैजे के रोगी के गंदे वस्त्र जलाशयोंमें धोने में हमें कोई डर नहीं, हवा-पानी और भोजन के-शुद्धाशुद्ध का ज्ञान हमें नहीं। कमरे को बंद करके अंगीठी जलाके सोनेवाले वज्रमूर्ख भी हमारे अन्दर मौजूद हैं।

छूत के रोगों से बचने की हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती—प्लेग और हैजा के आक्रमण को ईश्वरीय कोप समझके शांत बैठे रहने वाले हम लोग उसके प्रतिषेधक उपायों का अवलंबन नहीं करते।

हमारी यह अशिक्षा प्रतिक्षण हमें स्वास्थ्य और जीवन से अलग हटाती जा रही है-और हमारी औसत अ यु दिनों दिन कम होती जा रही है।

सौ वष की पूर्ण आयु प्राप्त करने वाले आज कितने है—? भरी जवानी में ही नकली आंख वालों की यह बाढ़ हमारी दुर्दशाका जीता जागता चित्र है।

खाने पीने के पदार्थों में हानिकर चीजों की मिलावट किस तेजी से बढ़रही है—इसके आंकड़े भी आसानी से मिल सकते हैं। दैनिक 'नवजीवन' में उत्तरप्रदेशमें की जाने वाली मिलावट के बारेमें एक सरकारी अधिकारी की खोजके आधार पर प्रकाशित हुआ था—

"खाद्यपदार्थों के १४ हजार नमूनों की जांच से यह सिद्ध हुआहै कि ३६ प्रतिशत में मिलावट मिली। दूधमें ७५ प्रतिशत, सरसोंके तेल में ६० प्रतिशत आटे में ३३ प्रतिशत तथा औषधियों में ४० प्रतिशत मिलावट होती है।"

अकेले उत्तर प्रदेश में ही जब यह दशा है तो भारत के और प्रान्तों में इतनी या इससे अधिक मिलावट तो समझनी ही चाहिये। आटे जैसी चीजमें ३३ प्रतिशत मिलावट और दूध में ७५ प्रतिशत मिलावट के मतलब है—कि १ पाव दूध में सिर्फ १ छटांक ही दूध होताहै,—और १ सेर आटे में सिर्फ १०॥ छ० ही आटा होता है—बाकी सब हानिकर चीजें हैं। इस महंगाई के जमाने में घी खाना तो अमीरों का ही काम रह गया है: सरसों के तेल से ही साधारण लोगों का काम चलता था सो उसमें भी ६० प्रतिशत मिलावट होने लगी है—और मिलावट भी 'जलोदर' तथा "वेरी वेरी" जैसे रोगों को पैदा करने वाले भटकटैया के बीजोंके निकृष्ट तेल की। बिमारी को दूर करनेवाली दवाओं में ५० प्रतिशत मिलावट के मानी स्पष्ट है कि ऐसी चीज में दवापन के बजाय हानिकर तत्त्व ही ज्यादा होते हैं।

देश के स्वास्थ्य की ऐसी दयनीय दुर्दशा को देखकर प्रत्येक देशवासी का दिल कांप जाता है। हमारे राष्ट्रीय स्वास्थ्य की यदि यही दशा रही तो हमारा भविष्य विकराल अन्धकारमय होगा इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। घी-दूध जैसी पौष्टिक चीजें तो दूर रही, पेट भरनेलायक शुद्ध अन्न और तेल ही जब नहीं मिल रहा है – तो देशकी बुरी-से-बुरी दुर्दशा की कल्पना हमें कर लेनी चाहिये।

बी० सी० जी० के टीकों से क्षय का प्रतिरोध करने का विचार रखनेवाली हमारी सरकार को ठण्डे दिल के साथ देश को स्वास्थ्य विषयक समस्या पर विचार करना चाहिये। राष्ट्र की निरोग दशा में ही राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ सुलझा करता हैं यह बात भी हमारी सरकार के सामने रहनी चाहिये। खाली फौजों को बढ़ाने और सिद्धान्तों के पालन करते रहने ही से देश की आजादी सुरक्षित नहीं रह सकती- जबतक कि देश की जिन्दगी और तन्दुरुस्ती ठीक न रहे।

आयुर्वेद में संशोधन और सम्बर्धन पर

कुछ फुटकर विचार

वैद्य वनीराम इर कुण्ठेबार

प्रत्यक्षतो हियत्दृष्टं शास्त्र दृष्टं च यद् भवेत्। समासतस्तदुभयं भूयोज्ञान विवर्धनम् ॥

भारतीयों के अपूव ज्ञान-संपादन तथा विलक्षण ज्ञान का सारा रहस्य सुश्रुत ने इस श्लोक द्वारा संसार के समक्ष उपस्थित किया है। प्रत्यक्ष दर्शन एवं शास्त्र-दर्शन रूप दो तटों के बीच ज्ञान गंगा का प्रवाह बहता रहता है। भारतीयों ने अनेक क्षेत्रों में जो शास्त्रीय विद्वत्ता का गौरव अर्जित किया था वह इन दो मार्गों की ही सहायता से। अच्छा से अच्छा ज्ञान उसमें से उत्पन्न होता है। यह बात आयुर्वेद पर ही लागू हो, ऐसी बात नहीं; बल्कि यच्च-यावत् शास्त्रों पर भी लागू होती है।

आजकल आयुर्वेद संशोधन और संवर्धन के विषय में सरकार एवं जनता में काफी हलचल चालू है। सरकार द्वारा नियुक्त चोपड़ा कमेटी ने इस ओर काफी मदद की है। अधूरे तौर पर ही क्यों न सही; पर इस विषय में आगे कदम उठाने में उन्हें ही सफलता मिली है। परन्तु इन सफलताओं में से एकाध भाव (spirit) से सहमत न होते हुए, या सहन न करने के कारण बहुत से लोग उल्टी दिशा पकड़ चले हैं। अतएव चोपड़ा समिति और उसके विरोधी लोगों में प्रचलित धारणाओं पर कुछ विचार इस लेख द्वारा करने का अल्प एवं नम्र प्रयत्न किया जा रहा है।

"आयुर्वेद संशोधन व संवर्धन" शब्द वैद्यक-क्षेत्र में इस समय चित्ताकर्षक है और इस विषय में कुछ न कुछ बोलना आज का फैशन-सा हो गया है। न बोलना तो पराजय होने के समान है—ऐसी धारणा लोगों की हो गई है। और इस धारणा में फँस जाने के कारण "येन केन प्रकारेण" आगे आकर देखने वाले लोगों की जो दशा हो गयी है, वह विचार करने वालों के मन में कौतुक की एक छटा उत्पन्न कर रही है।

आयुर्वेद की उन्नति होनी चाहिए, उसमें संशोधन, होना ही चाहिए, उसमें जो बहुमूल्य रत्न हैं, उन्हें साफ करके आज के बाजार में उपस्थित करनी चाहिए—यह सभी पक्षों को मान्य है। आयुर्वेद में कुछ मूल्यवान ज्ञान-भंडार है, यह सर्व सम्मत होते हुए भी उसका तथा आधुनिक ज्ञान भंडार का संबंध कैसे होना चाहिए; इस विषय में मतभेद है और साधारणतः कहा जा सकता है कि इस विषय में तीन मत हैं।

(१) एक पक्ष का कहना ऐसा है कि आयुर्वेद परिपूर्ण है और उसे आधुनिक शास्त्र का किसी प्रकार का संघर्ष उचित नहीं। जो भी करना हो; वह आयुर्वेद-पद्धति द्वारा ही होना चाहिए। ऐसा करने से ही उसकी सच्ची-शुद्धता कायम रह सकती है।

चोपड़ा समिति सरीखे लोगों का मत यों है कि कालप्रवाह में आयुर्वेदमें अनेक उलझनें उत्पन्न हो गयी हैं और वे बढ़ भी गयी हैं अतएव आधुनिक शास्त्र के सहयोग से उसे पुनर्जीवन प्रदान करना चाहिए। ऐसा होने से इन दोनों शास्त्रों में से एक समन्वित शास्त्र का जन्म होगा और राष्ट्रीय जीवन की दृष्टि से वह उपकारक होगा, ऐसी उनकी दृढ़ धारणा भी है।

तीसरा पक्ष यों है कि आधुनिक चिकित्सा-पद्धति में ही आयुर्वेद का ग्रास (पारद में स्वर्ण ग्रास करने के समान) कर डाला जाय। उनके मत में आयुर्वेद जैसी कोई स्वतंत्र चीज रखने का ख्याल पागलपन है। आयुर्वेद में कोई तथ्य ही नहीं है, कुछ लोग इस मत के मिलेंगे जो वर्तमान फैसन के विरुद्ध उनका मत होने के कारण वे अँधेरे में ही रहना ठीक समझते है। इन विभिन्न विचार प्रवाहो मेंआजकल दूसरा तीसरा प्रवाह जोरोंपर है; और उन्हीं की बाबत इस लेख में परामर्श देना है।

चोपड़ा कमेटी ने संशोधन तथा पठन-पाठ्य क्रम का बहुत विचार पूर्वक बतलाने का प्रयत्न किया है। और ऐसा करते हुए आयुर्वेद एवं आधुनिक विषयों की जोटी बांधने का भी प्रयत्न किया है। उसमें उन्होंने कुछ मूलभूत शास्त्र (basic sciences) ठहराये हैं। उनके विरोध करने वालों को भी ऐसी कुछ मूल भूत शास्त्रों को ठहराने की आवश्यकता जान पड़ती है। पर उन्हें वह मूल भूतता आधुनिक शास्त्र में हो मिलती है। प्रचीन भारतीय शास्त्र उस दृष्टि से वेकार है, ऐसी उनकी धारणा है। और सब झगड़े की जड़ ये परस्पर विरुद्ध धारणायें ही हैं। पदार्थ विज्ञान, रसायन विज्ञान, तथा जीव विज्ञान, ये शास्त्र आधुनिक हैं, तो भी बहुमूल्य हैं इस विषय में बाद-विवाद किसीं का नहीं; पर इन शास्त्रों की मूल भूतता व महत्ता इतनी है क्या कि उसके कारण अन्य शास्त्र उन के सामने तुच्छ हो जायँ, यह वाद का प्रश्न है और इस प्रश्न की दृष्टि से ही हमें थोड़ा विचार करना है।

तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करें, तो स्पष्ट है किआधुनिक चिकित्साशास्त्रकी तरहही भारतीय वैद्यकशास्त्रके भी कुछ मूलभूत अन्य भारतीय शास्त्र हैं। और वह भी विरोध पक्ष के लोगों की धारणानुसार आसानी से पृथक् रखने योग नहीं। चोपड़ा समिति को इस विषय में काफी अच्छी जानकारी है; ऐसा जान पड़ता है। उन्होंने किसी विषय में झगड़ा किया भी हो तो भी उनके लक्ष्य में मूल वस्तु आ ही गयी है, और इसी करण आधुनिक पदार्थ-विज्ञान, रसायन विज्ञान तथा जीव विज्ञान के साथ-साथ उन्होंने भारतीय दर्शन शास्त्र भी पाठ्य क्रम में बराबरी में रखे हैं। वैद्यक शास्त्र एवं अन्य शास्त्रों में बहुत लोगों की धारणाओं की तरह विविक्तता (Isolation) न होकर 'परस्परं भाव यन्तः' का सम्बन्ध जैसा है, यह मैंने अपनी वैद्यक समन्वय के विषय में लिखी हुई पुस्तक में थोड़ा-सा दिग्दर्शित किया है। सुश्रुतादि शास्त्रकारों ने भी परिपूर्ण ज्ञानी होते हुए भी "अन्य शास्त्रोपपन्नानां च अर्थानामिहोपनीतानां अर्थवशात् तेषां तद्विधेभ्य एव व्याख्यानं अनुश्रोतव्यं, कस्मात्? न ह्येकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणां अवरोधः कर्तुम्" (सू० स्था० अ० ४, ६) ऐसी सावधानी वर्तने को कहा है। एक ही शास्त्र का अध्यन करके शास्त्र निश्चय नहीं करना चाहिए। बहुश्रुत हो कर ही शास्त्र का निर्णय करना चाहिए। ऐसा भी उन्होंने परामर्श दिया है। आयुर्वेद में अन्य शास्त्रों की भी पत्ते, ठहनियां फैली होनेके कारण, उससे शास्त्रोका ज्ञान कर लें; इस सूचना का अर्थ ही यह है कि आयुर्वेद को विविध ज्ञानी होना चाहिए। अर्थात् उसके ज्ञान में पर्याप्त मूलभूतता होनी चाहिए। अतएव उसे दार्शनिक आदि शास्त्रों का न्यूनाधिक परिमाण में कार्य क्षमता होनी चाहिए। उसीके साथ संसार में उन विषयों पर जो-जो ज्ञान उपलब्ध हों, उन सब को पचा कर परिपुष्ट होना चाहिए। भारतीयों के दृष्टिकोणानुसार पदार्थ विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान ये शास्त्र उन्हीं में से हैं। आधुनिक

शास्त्र के अनुयायी भी आजकल उसके गम्भीर विचार में पड़े हैं। भारतीय दृष्टि में प्रत्यक्ष दृष्टता और शास्त्र दृष्टता इन दोनों की सहायता से ही ज्ञान बढ़ने का संभव है, अतएव केवल प्रत्यक्ष दृष्टता से ज्ञान उत्पन्न होने पर भी आधुनिक शास्त्र उन्हें उपकारक लगते हैं। शास्त्रकी दृष्टि से यदि देखा जाय, तो उसकी उपकारकता अधिक मूलगामी होगी ; यह भारतीयों का डिंडिमनाद है। इस डिंडिम नाद की यथार्थता ध्यान में आने के लिये पहले प्रत्यक्ष दृष्टता और शास्त्र दृष्टता शब्दों का अर्थ और व्याप्ति देखनी चाहिए। और आधुनिक शास्त्रों में भक्तिपूर्वक भाग लेने वालों की भूमिका का परीक्षण करना चाहिए।

चोपड़ा समिति पर टीका करने वाले कुछ विद्वानों का मत यों है कि वैद्यक शास्त्र का मूल पदार्थ विज्ञान, रसायन विज्ञान और जीव विज्ञान में होने के कारण और इन शास्त्रों की प्रकृति निरीक्षण एवं प्रयोग द्वारा ही बनाई हुई होने के कारण तत्त्वज्ञान सरीखे बुद्धि प्रधान शास्त्र की गड़बड़ी उसके क्षेत्र में ठीक नहीं। इस प्रतिपादन का अर्थ यह है कि इन तीन शास्त्रों पर निर्मित वैद्यशास्त्र तत्त्व ज्ञान से दूर ही होना चाहिये। आयुर्वेद द्वारा यह सावधानी बर्त्ती न जाने के कारण उनका इस पर रोष है। उसकी भूमिका सच्ची है और शास्त्र शुद्ध है ; ऐसा भी अभिनिवेश दिखलाई पड़ता है। आजकल कायापलट होती हुई उपरि-निर्दिष्ट शास्त्रत्रयी की बाढ़ को ध्यान पूर्वक देखने से क्या निष्कर्ष निकलेगा, यह देखना उद्बोधक होगा। आधुनिक वैद्यक की पुस्तकें लिखने वालों को आज तक जो नहीं समझ पड़ा है ; वह इन शास्त्र-त्रयी में पहले ही आभासित हो गया है। रसायन विज्ञान की लय अब पदार्थ-विज्ञान में मिश्रित हो जाने के कारण उसका शास्त्रतः स्वतंत्र अस्तित्व अब नहीं रहा। जीव विज्ञान और पदार्थ विज्ञान ये शास्त्र अब तक अधिकांश परस्पर सम्बन्धित थे। अब उनमें अन्तर आने लगा है। परन्तु इसकी अपेक्षा महत्वपूर्ण बात—जो आधुनिक वैद्यक के ग्रन्थकर्ताओं के ध्यान में नहीं आती अथवा उपेक्षित है ; वह यह है कि पदार्थ विज्ञान एवं जीव विज्ञान, इन दोनों शास्त्रों में पहले कुछ तत्त्व ज्ञानमय अवशेष थे, और अब न रहने के कारण उन्हीं का परीक्षण करना चाहिए। ऐसा पाश्चात्योंको भी आवश्यक सा प्रतीत होने लगा है। A. N. Whitehead ने इस शास्त्र ज्ञान के विषय में कहा कि, If Science is not to degenerate into a madley of ad Hoc hypotheses, it must become philosophical and must enter upon a through criticism of its own foundations." (Science and the Modern World, p. 24) मैक्स प्लैंक नामक जगन्मान्य शास्त्रज्ञ ने भी पदार्थ विज्ञान के विषय में इस दृष्टि से विचार करके यह निष्कर्ष निकाला है (Where is Science Going) पदार्थ विज्ञान के विषय में जो परिवर्त्तन आधुनिक शास्त्रों में घटित हैं वही जीव विज्ञान के विषय में भी हैं।

सामान्यतः ऐसा मालूम होता है कि प्रयोग शील के नाम से समझे जाने वाले शास्त्र तत्त्वज्ञान के ग्रह से मुक्त होते हैं। ऐसी ही बड़े—बड़े लोगों की भी धारणा है। पदार्थ विज्ञान और जीव-विज्ञान और तन्निष्ठ वैद्यक विज्ञान इन में जो मूलभूत तत्त्व हैं, वे प्रत्येक बार ध्यान में आते हैं, ऐसी बात नही, परन्तु वे सदा अनुस्मृत होते हैं और प्रयोग तथा निरीक्षण करते समय शास्त्रज्ञ उसके यशों में से ही सारा व्यवहार करते रहते हैं, यह बात आजकल उत्तरोत्तर शास्त्रज्ञोंको मालूम होने लगी है। ऐसा

कोई भी विचारवान मनुष्य नहीं मिलेगा, जिसके दिमाग में किसी प्रकार का तात्विक ग्रह न हो। अल्डस हक्स्ले ने अपनी Ends & Means नामक पुस्तक में इसकी छानबीन की है। अपने Discovery of India में पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी इसे स्वीकार किया है; पाश्चात्यों के पदार्थ विज्ञानादि शास्त्र जिन मूल्य तात्विक ग्रहोंपर उत्पन्न हुए, वही उनके वैद्यक विज्ञानके विषये में भी होने के कारण वैद्यक की मूल तात्विक आधार ही पहले शोधनी चाहिए। इसका ज्ञान होने पर ही ऐटॉनी फिडलर नामक शास्त्रज्ञ ने अपनी 'Whither Medicine: From Dogma to Science' नामक पुस्तक लिखी है। वैद्यक विज्ञान का तात्विक विचार करने के लिए और विशेषत: भिन्न—भिन्न वैद्यक पद्धतियों के समन्वय की तैयारी करने की आकांक्षा करने वालों को इस पुस्तक का अवश्य अध्ययन करना चाहिए। आधुनिक वैद्यक प्रायोगिक पद्धति (Experimental Method) से बढ़ रहा है। उसे तात्विक ग्रहों की बाधा नहीं चाहिए यह धारणा है। वैद्यक को वास्तव में यदि शास्त्र बनाना हो, तो इसकी उन्नति किस प्रकार की जाय; इसकी चर्चा व युक्तियुक्त परामर्श इस अमूल्य पुस्तक में देखने को मिलेगा। पदार्थ विज्ञान आदि शास्त्रों से उद्धृत भौतिक मूलतत्व (Materialistic tleory) इस शास्त्रज्ञ ने अच्छी कसौटी पर रखा है। चोपड़ा समिति Basic sciences की कल्पना को अशास्त्रीय तथा हास्यास्पद ठहरा कर आधुनिक शास्त्रत्रयी पर निस्सीम शुद्ध और विश्वास रखने वालों ने दो मूलभूत बातें भुलादी हैं, परन्तु इससे काम न चलेगा। एक तो यह कि प्रायोगिक मालूम होने वाले शास्त्र भी किसी न किसी तात्विक पाये पर ही अवलम्बित होते हैं और अब तक का उसका यह आधार अब कमजोर हो जाने के कारण मुड़ सा गया है और नया पाया लगाने की आवश्यकता शास्त्रज्ञों के सामने उपस्थित है। आधुनिक वैद्यक के भी कुछ तात्त्विक आधार थे परन्तु वे अपूर्ण लगते थे इसी लिये फिडलर के वर्णनानुसार यह परिस्थिति आधुनिक वैद्यक में दिखलाई पड़ रहा है। उसने लिखा है—

"When one looks at the existing magnificient hospitals, numerous medical institutions, laboratories and University departments, and when one thinks of the multitude of medical and biological investigators working therein without a clearcut aim or method or standard to guide their research, but only blinded by their modern equipment, which, by itself, can provide no fruitful results, one can not help feeling the tragedy of so much wasted effort." (Whither medicine: from Dogma to Science., P. 87)

वैद्यक के मूलभूत समझे गये शास्त्रों—पदार्थ-विज्ञान, जीव विज्ञान आदि-ने वैद्यक को किस खड्डे में डाल दिया है; इस की कल्पना कैरेल ने अपने सुन्दर एवं मूलग्राही पुस्तक (Man the Unknown) में किया है। ऐटॉनी नेली उसी प्रकार छान बीन कर के अपनी पद्धति का समर्थन किया है।

(It may, however, be interesting to analyse why the materialistic biological sciences led medicine into the present deadlock, and by so doing throw some light on why such insistence is laid here on adhering strictly to the empirical principles indicated in this volume.)

जीव विज्ञान आदि शास्त्रों की प्रायोगिक पद्धति के नाम से पुकारी जाने वाली वस्तु तत्वज्ञां के विचारों पर किस प्रकार अधिष्ठित हो गयी है और आज के सारे निष्कर्ष पर ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो वह वस्तुतः प्रायोगिक कैसे नहीं, किसी तात्विक ग्रह में से ही कैसे उत्पन्न हो गयी है, इसकी सांगोपांग चर्चा उन्होंने इस सुन्दर पुस्तक में की है। अबतक को वैद्यक के उन्होंने 'Causal medicine' सार्थकनाम दिय हैं। उसके आधार भूत शास्त्रों की छानबीन कर के 'Limitless trust that medicine has put in biology' ऐसा अभिप्राय दिया है। पाठ्यक्रम में जीवज्ञिान को मान देने वाले फिडलर ने जो रिमार्क किया है; वह भी ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा है—

'But perhaps we are mistaking what are meant to be only vague and non-committal statements for definite assurances. If there is so, and biology does not in fact make such claims as we attribute to it, why then are we taught biological sciences throughout the greater part of our medical studies, and why are we told by biologists that they supply us with the foundations upon which medicine must be based ? Since we must take it that biology does make such assurances to medicine, their origine might, profitably be discussed. (P. 93)

जीव विज्ञान व उसमें से निकले हुए शरीर-शास्त्र शरीर व्यापार शास्त्र और जंतु शास्त्र इन शास्त्रों में से कुछ तात्विक ग्रह उन्होंने प्रकाशित करके ऐसे दर्शाया है कि वैद्यकीय विज्ञान की दृष्टि से इन शास्त्रों का किसी मर्यादा में कोई मूल्य नहीं और इसीलिये इसका मिश्रण वैद्यक विज्ञान में अधिकतर न होने दिया जाय। चोपड़ा समिति के विशेषज्ञों के ध्यान में रखने योग्य एक बात यह भी है। ये सब शास्त्र प्रायोगिक हैं। यह ग्रह भी कितना गलत और भ्रामक है, इसका विचार Structure funtion, और बैक्टीरिया इनके बावत एक-एक महत्त्वपर ध्यान देकर किया गया है, वह भी काफी मजेदार है। एकाध ग्रन्थ वैद्यक विज्ञान की दृष्टि से भी क्रान्तिकारक है। आधुनिक शास्त्र प्रायोगिक हैं; इस भावात्मक समझ को आजकल पदार्थ विज्ञान व जीव-विज्ञान इन दोनों शास्त्रों की बाढ़ से जोरदार धक्का लगा है। प्रत्यक्ष नाम से पहचाने जाने वाले पदार्थ विज्ञान में मानवी-मन (Subjective element) का कितना अंश है, इसका उल्लेख आडिंजर एडिंगटन आदि ने किया है। उसमें भी तत्वज्ञान को ही आश्रय देने की आवश्यकता कैसे मालूम होने लगी है ये उन्होंने दिखाया है और जीवविज्ञान में यह उसी प्रकार कैसे घटित हो रहा है, यह फिडलर, कैरेल प्रभृति दिखा रहे हैं। प्रत्यक्ष प्रयोग की अपेक्षा किसी तात्त्विक धारणा का प्रभाव इन दोनों शास्त्रों पर मालूम पड़ता है और इसी कारण प्रयोग में कुछ विशिष्ट बातें सुनकर उन्हीं पर विचार किया जाता है। सब बातों का अनुचित विवाद पदार्थ विज्ञान की तरह ही जीव-विज्ञान के विषय में भी फिडलर ने किया है। और वे सार्थक भी हैं। उसका कहना है कि—

"Orthodox medicine it self rejects the experimental evidence. It rejects this evidence, because it selects only such proofs as support its assertion and ignores those that

contradict them." (P. 27) प्राणी पर प्रयोग के उदाहरणों से उन्हों ने सिद्ध कर दिया है। इसीलिये 'Annual experimental methot' को त्याज्य ठहरा कर उन्होंने Experimcntal ctine cal method' स्थापित करने का प्रयत्न किया है। और नवीन उद्भावित होने वाले वैद्यक को "medicne of Probalilrty" नामकरण किया है।

अब तक का वैद्यक शास्त्रीय न होने के कारण उन्हों ने उसे 'Dogna' कहा है। उसकी यह दशा बदल कर उसे शास्त्रीयत्व का पुट देनेके लिये आधुनिक शास्त्रों के मूलग्रहों की मीमांसा करना आवश्यक हो जाता है। ऐसे मूलग्रहों में ही किसी भी शास्त्र के रहस्य होते हैं। ये मूलग्रह अधिक से अधिक ठीक तथा यथार्थ जिसे बनाना आयेगा; वही सच्चा शास्त्रज्ञ है; ऐसी आजकी परिपरिस्थिति है। अर्थात् आज प्रायोगिक शास्त्र और तत्वज्ञान इनकी पहले की अपेक्षा मैत्री अधिक बढ़ गयी है। ये दोनों ज्ञान शाखायें जिसके ध्यान में भलीपूर्वक आ जाएगी; वही शास्त्रसमन्वय करने में प्रवीण हो सकेगा। बहुत से पाश्चात्य प्रयोग वेत्ताओं में भी विभिन्न शास्त्रों में संघर्ष-निर्माण हो गया है। विलियम मैकडुगल : ने अपनी किताब "The riddle of life." (जीव-विज्ञान का एक उत्तम ग्रन्थ) में जो प्रस्तावना लिखी है; उसमें ऐसी तकरार की है कि बड़े-बड़े शास्त्रज्ञों की जगह पर 'philosoplical Paredness' अर्थात् तात्विक विवेचना की सिद्धता नहीं होती। और जरा शोधपूर्वक देखा जाय, तो यह उनका विचार सही भी है; ऐसा मानना पड़ेगा। इस दृष्टि से सुश्रुत की उक्ति पर विचार किया जाय, तो प्रत्यक्ष दृष्टता तथा शास्त्र दृष्टता—इस ज्ञान संवर्धन एवं ज्ञान संजनन करने वाले "जगतः पितरौ" के भारतीयों को हुए साक्षात्कार की उत्तरोत्तर प्रशंसा ही करनी पड़ती है।

(क्रमशः)

नोट—उपरोक्त लेख के विद्वान लेखक श्री कुण्ठेवार जी आयुर्वेद और अंग्रेजी के पूर्ण पण्डित होते हुए सुलेखक भी हैं, परन्तु आप हिन्दी में कम लिखा करते हैं. प्रस्तुत लेख मराठी भाषा में लिखकर आपने भेजा था, लेख अत्युपयोगी होने कारण इसका हिन्दी अनुवाद करवाया, परन्तु अनुवादक ने अक्षरानुवाद ही किया, भाषा का सुधार नहीं, अतः प्रूफ में यथासाध्य भाषा सुधार करने पर भी जहां-तहां भाषा शैथिल्य दोष रही गया, पाठक वहां सम्हाल कर पढ़ें।

—स० सम्पादक

चरक की मूलिनी फलिनी-ओषधियां

आ० म० म० श्री भागीरथ स्वामी रसायनाचार्य

"सचित्र आयुर्वेद" (सितम्बर, अक्तूबर, नम्बर, और दिसम्बर अंक) में चरक की मूलिनी फलिनी ओषधियों पर माननीय बापालाल जी ने बहुत ही सुन्दर और आलोचनात्मक दृष्टिकोण से लेख लिखा है। मैं उसे पढ़ा, पढ़ कर मेरी भी इच्छा हुई कि कुछ मैं भी मूलिनी फलिनियों पर लिखूँ, इसी विचार से प्रस्तुत लेख मैं लिख रहा हूं।

चरक की मूलिनी ओषधियां—

हस्ति दन्ती हैमवती श्यामात्रिवृदधोगुडा
सप्तला श्वेत नामा च प्रत्यक् श्रेणी गवाक्ष्यपि
ज्योतिष्मती च विम्बी च शणपुष्पी विषाणिका
अजगन्धा द्रवन्ती च क्षीरिणी चात्र षोड़सी

च० सू० अ० १ ७७-७८

चरक में मूलिनी ओषधियों में सर्व प्रथम "हस्तिदन्ती" का पाठ है, ये दवाइयां मूलिनी हैं अर्थात् इनके मूल कार्य में आते हैं। हस्तिदन्ती शब्द चरक में मूलिनियों की गणना के अतिरिक्त कहीं पर भी नहीं आया है। सुश्रुत के अतिसार प्रकरणमें 'हस्तिदन्त्यथपिपल्यः, यह वाक्य आया है। हस्तिदन्ती (नागदन्ती) वाग्भट्ट में कहीं नहीं मिलता। बहुत से विद्वानों ने नागदन्ती को हस्तिदन्ती का वाचक मान कर जहां तहां हस्तिदन्ती शब्द को निकाल डाला। निर्णय करने पर ऐसा ज्ञात होता है। अपस्मार चिकित्सा में अपस्मार नाशक तैल के योगों के वर्णन में नागदन्ती शब्द आया है। यहां चक्रपाणि ने नागदन्ती का काष्ठ पाटला अर्थ किया है। यह बिलकुल शास्त्र विरुद्ध है। चरककी विष-चिकित्सा में—"नागदन्ती त्रिवृद्दन्ती द्रवन्ती स्नुक् पयः फलैः।" इस श्लोक में नागदन्ती, दन्ती, द्रवन्ती ये तीनों शब्द आये हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये औषधियां भिन्न-भिन्न हैं और यह सत्य भी है। चरक वि० स्था० अ-८ में नागदन्ती के मूल का शिरोविरेचन की-सूचीमें गणना की है। सुश्रुत के कल्पस्थान के दुन्दुभी स्वनीय अध्याय में टीकाकार डल्हन ने इसे इन्द्रवारुणी भेद लिखा है—यह बहुत ही सुन्दर और ठीक है। इनका दृष्टिकोण (लक्ष्य) श्वेत पुष्प वाली इन्द्रवारुणी से है। अर्थात् इन्द्रवारुणी की जड़ का ही संकेत है। और जैज्जटाचार्य मतेतु 'दन्ती' लिखा है। यह अशुद्ध है। शकुनी प्रतिषेध में डल्हन ने जो नागदन्ती को दन्ति लिखा है। यह बिलकुल अशुद्ध है। ज्ञात नहीं होता कि कहीं एक ही वस्तु को इन्द्रवारुणी और कहीं दन्तिनी कैसे लिखा है। इसी प्रकार पित्तात्मिका नाड़ी में- शस्त्र निपात के बाद व्रण पूरण के लिये "तिल नागदन्ती यष्ट्याह्व कल्कैः परिपूरयेत्तम्।" ऐसा लिखा है। टीका में स्पष्टीकरण नहीं किया है। किन्तु मेरे धारणानुसार यहां पर श्वेतपुष्पा-इन्द्रवारुणी का ही संकेत है। और भगन्दर चिकित्सा में जो उत्सादन के लिये "नागदन्ती दन्तिनी" यह जो डल्हन ने लिखा है यह भी पूर्ववत् प्रमाद ही है। अर्कादिगण में नागदन्ती, दन्तिनी, यह भी डल्हन की गल्ती है। चक्रपाणिदत्त कृत भानुमती व्याख्या में निम्न योग लिखा है।

"नागदन्ती दन्त्येव बहुल मूला" परन्तु यह ठीक नहीं। अष्टाङ्गहृदय में जो अर्कादिगण में अरुण दत्त और हेमाद्रि ने "नागदन्ती पर्व पुष्पिका" लिखा है यह और वैद्यक शब्द सिन्धु में इसे हस्तिशुण्डी तथा किसी-किसी के मत से यह राम तुलसी है, ये सब प्रमाण रहित हैं। राजनिघण्टु के पर्पटादि वर्ग में नागदन्ती है। उसका वर्णन इस तरह है।

> नागदन्ती श्वेतघण्टा मधुपुष्पा विशोधिनी
> नागस्फोता विशालाक्षी नागच्छत्रा विचक्षणा ॥
> सर्पपुष्पी शुक्लपुष्पी स्वादुका शीतदन्तिका
> सितपुष्पी सर्पदन्ती नागिनी वाणभूमिता ॥

इससे ज्ञात होता है की हस्तिदन्ती से नागदन्ती भिन्न है। यह द्रव्य रेचक नहीं है किन्तु रूक्ष और वात कफघ्न तथा मेध्य है, यथा—

> नागदन्ती कटुस्तिक्ता रूक्षा वातकफापहा।
> मेधकृत् विष दोषघ्नी पाचनी शुभदायिनी ॥
> गुल्म शूलोदर व्याधि कण्डूदोष निकृन्तनी।

ये गुण धर्म हैं। इसलिये ये हस्तिदन्ती नहीं। मदनपाल निघण्टु में—

> दन्ती घुणप्रिया नागदन्ती शीघ्रानुकूलकः।
> उपचित्रानुकुम्भी स्याद्विशल्योदुम्बरच्छदा ॥
> आखुपर्णी वृषैरण्डा द्रवन्ती सर्वरीमता।
> मूसीकाह्वा सुतश्रेणी प्रत्यक्-श्रेणी च फञ्जिका।
> दन्तीद्वयम् सरं पायोः रसयोःकटु दीपनम् ॥

उक्त श्लोकमेंमदन पाल निघण्टु कार ने एक साथ अनेक दन्तीयों का वर्णन कर दिया है। इसी प्रकार कैयदेव निघण्टुकार ने भी एक साथ अनेक दन्तीयों का वर्णन किया है। इतने बड़े कोषकार होकर भी ये इस प्रकार की त्रुटियाँ की हैं। अगर इनपर उचित प्रकार से ध्यान दिया जाय तो इनकी मनमानी का ज्ञान विद्वानों को हो जायेगा। सिद्धान्त ग्रन्थोंके इन वर्णनों में—हस्तीदन्तीके पर्य्याय नहीं के बराबर है। क्योंकि हस्तिदन्ती शब्द दन्ती के पर्य्यायों में है ही नहीं। इसलिये दन्ती को नागदन्ती या हस्तिदन्ती मानना एकदम गलत है। विरेचन द्रव्यों की सूची में दन्ती और द्रवन्ती दोनों शब्द आये हैं। दन्ती—हस्तिदन्ती से भिन्न वस्तु है। चक्रपाणि हस्तिदन्ती को वृहत्फला,गोडुम्बा लिखा है। यह किसी अंश में ठीक मालूम होता है। वैद्यक शब्द सिन्धुकार ने एक जगह हस्तिदन्ती को शाकलता (याने खरबूजा) माना है, क्या बतावें इस अनभिज्ञता का क्या ठिकाना है, इन्द्रवारुणी के फलों का शाक कभी नहीं सुना न होता है।

धन्वन्तरि राजनिघण्टु में, ऐन्द्री, विशाला के पर्य्यायों में—गोडुम्वा शब्द नहीं आया ; इसका करण यह है कि गोडुम्वा शब्द बङ्गालियों का है। इसीलिये संस्कृत पर्य्यायों में नहीं दिया है। वोटानी विशेषज्ञ माननीय वापालाल जी शास्त्री ने अपने हस्तिदन्ती के वर्णन में लिखा है कि "यदि हस्तिदन्ती शब्द उपयोगी होता तो नरहरी को दृष्टिगोचर अवश्य होता...क्योंकि नरहरीने बहुत से जड़ी-बूटियों का अनुसन्धान किया है।"

नरहरी की दृष्टि में हस्तिदन्ती शब्द नहीं आया यह वापालाल जी का कथन गलत है। नरहरीने तो अपने राजनिघण्टु में 'वृहत्फला, श्वेतपुष्पा इन्द्रवारुणी' के नामों में हस्तिदन्ती का वर्णन किया है। असल में वापालाल जी यह बात भूल ही गये। होंगे।

हस्तिदन्ती—गोडुम्वा साधारण इन्द्रायण का वाचक नहीं है। किन्तु इसी इन्द्रायण का भेद बड़े फल वाली—सफेद फूल वाली—बड़ी इन्द्रायण के मूल का वाचक है। गोडुम्वा शब्द बङ्गाली भाषा का है। यह संस्कृत भाषा का नहीं है यह याद

रखना चाहिये। गवाक्षी शब्द भी इन्द्रवारुणी का वाचक है किन्तु बड़ी इन्द्र वारुणी का वाचक नहीं है अर्थात् साधारण छोटी इन्द्रवारुणी का वाचक है।

चक्रपाणि ने प्रत्यक् श्रेणी को जो दन्ती लिखा है—वह एकदम अशुद्ध है। इसका प्रमाण यह है कि दन्ती के पर्य्याय वाचक शब्दों में प्रत्यक् श्रेणी शब्द आया ही नहीं। द्रवन्ती के पर्य्यायों में प्रत्यक् श्रेणी पाठ आया है जो ठीक ही है। 'द्रवन्ती' शत मूलों वाली मूसाकर्णी है। और इसकी जड़ विरेचन करनेवाली होती है। यह विन्ध्याचल के पहाड़ों में होती है। जिन्हें सन्देह हो वह जाकर जंगलियों (वहां के रहनेवालों) से पूछ लें। ये जंगली लोग इसे विरेचन के कार्य में लाते हैं।

किन्तु यहां फिर सन्देह होता है कि यदि प्रत्यक श्रेणी द्रवन्ती है तो फिर चरककार ने द्रवन्ती शब्द को दुबारा क्यों दिया। यहां इतना और बता देना आवश्यकीय है कि चक्रपाणि ने द्रवन्ती को "दन्त्येव चीरित पत्रा" लिखा है। जो एकदम अशुद्ध है। इसका समाधान यह है, कि द्रवन्ती के दो भेद अर्थात् दो प्रकार की एक तो प्रत्यक् श्रेणी का बोधक द्रवन्ती, जिसके नीचे जड़ में आर्द्रता बनी रहती है अर्थात् तर रहता है, यह आखुपर्णी है दूसरी, वह जो चरक के द्रवन्ती का बोधक है। वह न्यग्रोध पत्र वाली याने वट के पत्र के समान पत्र वाली मूसाकर्णी है। पहली द्रवन्ती के पत्ते मूसा (चूहा) के कान के तुल्य होते हैं।

चरक की मूलिनी १६ औषधियों में इन चारोंका अपनी बुद्धि के अनुसार कह देना चाहता हूं। (१) हस्तिदन्ती, (२) प्रत्यक् श्रेणी, (३) गवाक्षी और (४) द्रवन्ती।

(१) हस्तिदन्ती जिसको चक्रपाणि जी ने गोडुम्बा लिखा है। वह मेरे मत से बड़े फल वाली श्वेत पुष्पवाली-इन्द्रायण की जड़ का वाचक है।

जिसको अनेक ग्रन्थकारों ने नागदन्ती मानकर प्रयोग किया है। किन्तु असल में नागदन्ती विरेचन करने वाली है ही नहीं।

(२) प्रत्यक् श्रेणी जिसको चक्रपाणि ने दन्ती कहा है वह मेरे मत से आखुपर्णी है। अर्थात् मूसे की कान की तरह पत्रवाला—मूसाकर्णी है। इसकी जड़ विरेचन करनेवाली होती है। यह मेरी पहिली द्रवन्ती है।

(३) चरकमें द्रवन्ती शब्दसे उच्चारित द्रवन्ती जिसको चक्रपाणि ने 'दन्त्येव चिरितपत्रा:' लिखा है। वह मेरे मत से वट पत्रकी तरह पत्रवाली मूसाकर्णी का भेद है इसके पत्रों में चित्रविचित्रता होती है। इसमें भी सैकड़ों विरेचन धर्मवाली जड़ (मूल) होते हैं किन्तु इसके मूल तर नहीं रहते। पत्र न्यग्रोधाकार होते हैं।

(४) गवाक्षी यह मेरे मत से छोटे फलवाली इन्द्रवारुणी है। इस लेख द्वारा मैं किसी के मत का खण्डन मण्डन नहीं करता किन्तु मेरे विचार में जो वस्तुयें हैं उसे प्रकाशित कर दिया है। मेरे विचार से अगर वैद्य लोग माननीय बापालालजी की तरह-आलोचनात्मक लेख लिखेंगे तो जड़ी-बूटीयों का सन्देह कुछ अंशतक अवश्य दूर होगा। साथ-साथ दन्ती के विषयमें मेरा प्रश्न वैद्यों से यह है कि जमाल गोटाको दन्ती क्यों कहते हैं। इसमें दन्तीत्व क्या है, इसका स्पष्ट उत्तर दें।

हैम वती

मूलिनियों के पाठमें हैमवती भी है, जिसे अमर कोष और वैद्यक निघण्टुकारने-हरड़, स्वर्णक्षीरी, रेणुका बीज, हल्दी, अलसी, श्वेतवचा इत्यादि का बोधक माना है। धन्वन्तरि-राजनिघण्टुमें हैमवती को

द्राक्षा माना है। हैमवती-हरड़ नहीं हो सकती है, क्योकि हरड़ फल है, स्वर्णक्षीरी विरेचक है वामक नहीं है। हल्दी में भी विरेचन शक्ति नहीं है। उपरोक्त बहुतसे नाम व्यर्थ दिये हैं; विचार करने पर काश्मर्य्य-कुटुम्बिनी द्राक्षा इत्यादिफल हैं इनके मूलका प्रयोग नहीं होता अतः इनका प्रसंग असगंत है। अतः हैमवती को मैं वमन करने वाली वचा मानता हूं। क्योंकी वचामें वमन लानेका खास गुण है।

श्यामा

इसको चक्रपाणि ने "श्याममूला त्रिवृत"-लिखा है। धन्वन्तरि राजनिघण्टु में इसके जो पार्य्याय दिये-गये हैं वे सब ठीक हैं। इसके पर्य्यायों में केवल एक शब्द में विद्वानों को शंका उत्पन्न होती है वह शब्द "मसूर बिदला च सा" है। अर्थात विदला मसूर इसे क्यों कहा गया है। इसका उत्तर—यह है कि इसकी बेल के जो पत्ते होते हैं वे मसूर की तरह के होते हैं। धन्वन्तरि सहितराज निघण्टु के वर्णानुक्रमणिका में जो इसके बहुत अर्थ किये गये हैं; वे सब यहाँ अप्रासंगिक है क्योंकि उनकी जड़विरेचनके कार्य में नहीं आती। श्यामा त्रिवृत में अब कोई सन्देह नहीं रह गया है; इसलिये इसके खण्डन-मण्डनके झगड़े में पड़ना व्यर्थ होगा।

सुश्रुत टीकाकार डल्हन ने जो त्रिवृत को ही रक्त-मूला निशोथ कहा है और जिनके मत में श्यामा-(काली) श्वेत-त्रिवृत्त (निशोथ) है वह शुद्ध है। इसके विषयमें मेरा मत वापालाल जी के मतका समर्थक है। अर्थात् मैं इसे श्याममूलात्रिवृत्त मानता हूं। पर इसमें यह सन्देह है कि अगर हम-श्यामा का विशेषण त्रिवृत्त को मानें तो मूलिनियां केवल पन्द्रह ही रहती हैं, इसलिए त्रिवृत्त को अलग शब्द मानकर श्वेत निशोथ अर्थ करना ठीक होगा, अन्य मतसे भी यह सफेद निशोथ ही है, कई विद्वान इसे "इण्डियन जेलप" मानते है। "जेलप" को हिन्दी भाषा में "जुलाफा" कहते हैं। इसके कन्द कार्यमें लाते हैं। निशोथकी जड़ कार्यमें आत्ती है इसमें कन्द नहीं होता निशोथ और जेलप भिन्न-भिन्न औषधि है। निशोथ (इपोमियाटर्पिथम है) जो जेलेप से भिन्न वस्तु है।

अधोगुड़ा

अधोगुड़ाका अर्थ माननीय विद्वान्-वापालालजी ने वृद्धदारुक किया है, यह शास्त्र सम्मत नहीं माना जा सकता। चरक के अतिरिक्त कहीं भी अधोगुड़ा शब्द नहीं आया है। काश्यप संहिता में राजयक्ष्मा चिकित्साके-महाभयारिष्टके पाठमें "दशमूल सुधादन्ती करञ्जाधोगुड़ासनाः, यहपाठ आया है। इसमें माननीय विद्वान्वापालालजी शास्त्री सुधा और अधोगुड़ा शब्द को एकसाथ देखकर और उनके एकार्थ वाचकता को ध्यानमे रखकर अर्थात् स्नुहीमूल समझकर-सुधा को सेहुण्ड मानकर अधोगुड़ा को वृद्धदारुक मानते हैं। यह संगत नहीं हैं। यहां सुधा शब्द शालिपर्णीका वाचक है। और अधोगुड़ा सेहुण्ड के मूलका वाचक है। क्योंकी धन्वन्तरि राजनिघण्टु में "अमृते शाल-पर्य्याश्च सुधा च परिकीर्त्तिता" अमरकोष टीकाकार भानुजीदीक्षितने-इसको नागवला, थूहर और मूर्वा अर्थ किया है। इसको देखकर और विचार करने पर मैं इसी निर्णय पर पहुंचा हूं की-काश्यप-सहिता के राजयक्ष्माधिकारोक्त महाभयारिष्ट के पाठमें जो सुधा शब्द आया है वह निश्चय शालिपर्णीका बोधक है यह मेरा मत है। और अधोगुड़ा थूहर ही है। वृद्धदारुक कभी नहीं है। क्रमशः

पारिभद्र और पारिजात

श्री भानु देसाई डायरेक्टर उद्यान विभाग-बम्बई

इस अङ्क से हम बम्बई प्रान्त के उपवन-विभाग के डायरेक्टर श्री भानु देसाई की उद्यान-वृक्ष-लेखमाला प्रकाशित कर रहे हैं उद्यान-कला का आरोग्य के साथ क्या संबन्ध है यह बात वैद्य रणजितराय-लिखित गत नवम्बर के 'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित 'कृष्णगिरि-उपवन' लेख से हमारे विज्ञ वाचक जान गये होंगे। फिर श्री भानु देसाई ने इस लेखमाला में प्रत्येक वृक्ष को रोग-परक उपयोगिता भी बतायी है। हमें हर्ष है कि 'सचित्र आयुर्वेद' को श्री देसाई जैसे उद्यान-कला-विशारद का सहयोग प्राप्त हो रहा है— —स० सम्पादक

पारिभद्र

'हस्तप्राप्यस्तबक नमितो बालमन्दार वृक्षः' इन शब्दों में आंगन में लगे पुष्पभारावनत, तरुण मन्दार तरु द्वारा यक्षके मुख से उसके घरका परिचय कराकर कविकुल गुरु कालिदास ने पारिभद्र या पांगरा को जानो सौन्दर्यविषयक कल्पान्तस्थायी प्रमाणपत्र दे दिया है। वस्तुतः जिन्होंने बाड़पर या रस्तों के किनारे लगे छोटे-छोटे प्रफुल्ल पारिजात तरुओंको एकवार भी देखा है वे उनके नयन-मनोहारी सौन्दर्यको आजीवन भूल नहीं सकते।

पारिभद्रको संस्कृत में मन्दार (या पलित मन्दार) तथा हिन्दीमें पांगरा (फरहद) कहते हैं। हमारे गुजरात-काठियाबाड़ के वनोंमें ये विशेष देखने में नहीं आते-इनकी ऊँचाईभी थोड़ी ही रहती है; पर अन्य स्थलों में कहीं-कहीं पारिभद्र पचास-पचास फुट जितना ऊँचा होता है। यह जैसे-जैसे पुराना होता जाता है वैसे-वैसे इसका काण्ड (तना) तथा शाखाएँ दुर्बल होती जाती हैं। बड़, पीपल, आम आदि वृक्षोंके समान इसमें वयोवृद्धिके साथ बलवृद्धि नहीं होती। तथापि इसकी रक्तवर्ण फूलोंसे भरी लम्बी शाखाओं की शोभामें कोई कमी नहीं आती।

पारिभद्र या पांगरा का तना सफेद-मटमैला या पीलापन-लिये अथवा धूसरवर्ण होता है। वयके साथ-साथ इसकी बाह्य त्वचामें भिन्नता आतीजाती है। कई स्थानों में तने और शाखाओंपर भी दूर-दूर कांटे होते हैं। ये कांटे झड़ जाते हैं। पारिभद्रके पत्तों में तीन-तीन पत्तियाँ होती हैं। इनमें दो बिल्वकी पत्तियोंके समान आमने-सामने तथा तीसरी मध्यमें लगी होती है। शीतकालमें लगभग मार्च मास तक पारिभद्रपर पत्ते नहीं होते। इसी काल इस पर कलियोंके गुच्छोंकी छड़ियाँ फूट निकलती हैं। साथ ही नये पल्लव भी अंकुरित होने लगते हैं।

फूलों की शोभा मनोहर होते हुए भी उनमें सुगन्ध नहीं होती। फूलों की आकृति ढाकके फूलोंसे मिलती है। उनमें मधुर रस (मकरन्द) होनेके कारण छोटे—छोटे पक्षी उनपर बैठकर अपनी लम्बी-पतली चोंचसे उनके बाह्य कोषको छिद्र करके रसका पान करते हैं। कई पक्षी तो उड़ते-उड़ते ही चोंच मार कर रसका आस्वाद ले छोड़ते हैं। पारिभद्रके फूल रुधिर के समान रक्तवर्ण या केसरी रंगकी छाया लिये हुए लाल-केसरी होते हैं। कलियाँ एक ही डंडीपर माला के रूपमें फूटती हैं और जैसे-जैसे नीचे की कलियाँ खिलकर मुर्झाती जाती हैं वैसे-वैसे ऊपरकी कलियाँ फूलती हैं। फूल मुर्झानेके बाद उनमें लम्बी-काली फलियां लगती हैं। इनकी लम्बाई छः से आठ इञ्च होती है। ये यदि पर्याप्त समय वृक्षपर लगी-

लगी ही सूखती रहें तो अन्तको फटकर नीचे आ गिरती हैं और उनके बीज बिखर जाते हैं। पारिभद्र के बिजोंका संग्रह करना हो तो फलियाँ ज्यों ही परिपक्व हुई दिखाई पड़े, उन्हें तोड़ लेना चाहिए। सूखनेके बाद में फलियाँ काली हो जाती हैं और उनसे बड़े सेम-जैसे कत्थई (नसवारी) रंगके बीज निकलते हैं। बीज संख्यामें एक-से आठ होते हैं। प्रायः बच्चे खेल-खेलमें इन बीजों को पत्थर पर घिस कर गरम-गरम अनजानते अपने साथियों की त्वचापर छुआकर उन्हें चौंकाते हैं।

पारिभद्र यों बीज बोकर भी उगाया जा सकता है, परन्तु पांच-छः फुट लम्बी डाली जमीन में गाड़ देने से तत्काल उसमें मूल निकल आते हैं। दो-तीन वर्ष में तो सुन्दर वृक्ष तैयार हो जाता है। यह असानी से उगने वाला होने से खेतों में वाड़ बनाने के लिए, अंगूरों और पान की बेलों को चढ़ाने के लिये हरे मूलयुक्त खंभे बनाने के उद्देश्य से तथा हवा के झपट्टों को रोकने के लिए पेड़ों की घनी छटा बनाने में पारिभद्र का उपयोग किया जाता है। दक्षिण में नासिक-पूना की ओर अंगूर और पान के बगीचे इसके बिना शून्य ही भासित होते हैं। इन वाटिकाओंमें पारिभद्रों की प्रतिवर्ष कांट-छांट की जाती है, जिससे ये बहुत बड़े नहीं हो पाते।

कई स्थानों में पारिभद्र के कोमल पत्ते कढ़ीमें डाले जाते हैं। फूलों से लाल रंग निकाला जाता है। छाल चमड़ा कमाने तथा रंगने के काम आती है। कोई-कोई छाल के रेशोंसे रस्सी भी बनाते हैं।

पारिभद्र का तना बहुत नरम और भार में हलका होने पर भी दृढ़ होता है। अतः जहां हलके परन्तु दृढ़ काष्ठकी आवश्यकता होती है वहां इसका व्यवहार होता है। इस दृष्टिसे इसका विशेष उपयोग चलनी की किनारी, हलके डब्बे तथा अन्य हस्त शिल्पोंमें होता है।

पारिभद्रकी छालका आंखों पर लेप करने से आंखोंको ठंढक लगती है। ज्वरमें छाल का रस दिया जाता है। सुनते हैं छाल के रस से निद्रा अच्छी आती है। संधियों के शूल, व्रण, अर्धावभेदक (आधा सीसी) तथा अल्पार्तव में पत्रों के रस का उपयोग होता है। उदर-कृमि मारने के लिए पारिभद्र के बीज अति उत्तम हैं।

पारिभद्र का उद्भिद्—विद्या के अनुसार नाम "एरीथ्रीना इण्डिका" है। इससे एरीथ्रीन नामक द्रव्य निकलता है, जो स्ट्रिकनीन (कुचले का सत्व) के अगद (वारण) के काम आता है। इसीसे पारिभद्र या पांगरा का एरीथ्रीना नाम दिया गया है। कइयों का कहना है कि ग्रीक भाषा में एरीथ्रोसका अर्थ लाल रंग होता है, जिससे इसे यह नाम दिया गया है।

पारिभद्र के अन्य दो-तीन भेद हैं। एक के श्वेत फूल होते हैं। दूसरे में पत्ते पीले तथा उनपर श्वेत सिरायें (नसें) होती हैं। इससे वृक्ष की शोभा द्विगुण हो जाती है।

कई स्थानों पर इसका अन्य भी भेद पाया जाता है। इस भेद तथा सामान्य पारिभद्र में मुख्य भिन्नता पत्तों के आकार-सम्बन्धी होती है। अतः उसे उद्भिद्-विद्या में "एरीथ्रीनाओवरीफोलीआ" कहते हैं। इसके पत्ते बड़े और अण्डाकृति होते हैं। फूल भी कम लाल तथा दूर-दूर निकलते हैं।

यों पारिभद्र भारत का ही वृक्ष है। परन्तु इसके उल्लिखित भेद लङ्का, आसाम, ब्रह्मदेश तथा बङ्गाल के दक्षिण प्रदेश में पाये जाते हैं। पारिभद्र भारत में सभी प्रकार की मट्टी और जलवायु में हो सकता है।

पारिजात या हरसिंगार

इन्द्रलोक के अलंकार-भूत जिन पांच देवतरुओं

का उल्लेख संस्कृत वाङ्मय में है उनमें पारिजात भी एक है। परन्तु इस बात में अब भी बहुत मतभेद बना हुआ है कि भारत के अनेक वनों में प्राचीन काल से स्वयं उग निकलनेवाला तथा अपने सौरभ से वातावरण को भर देनेवाला, पारिजात या हर सिंगार नाम से प्रसिद्ध वृक्ष उक्त देवतरु ही है या उससे भिन्न परन्तु समनाम कोई वृक्ष। तथापि इतना तो सत्य है कि यह वास्तविक देवतरु हो या न हो, भूलोक का एक सुन्दर और सुरभित फूलों वाला, उपयोगी एवं सुगमता से उगाया जा सकने योग्य वृक्ष होने से पारिजात को सभी उपवनों और वाटिकाओं में उसका उचित स्थान मिलना ही चाहिए।

पारिजात की ऊँचाई बहुत नहीं होती। इसका तना भी अन्य वृक्षों के समान चिकना नहीं होता। कारण, इसके तनेसे चारों ओर अनेक शाखाएँ फूट कर सीधे सोटे के समान ऊपर की दिशा में बढ़ जाती हैं, जिससे इसमें अन्यवृक्षों के सदृश स्पष्ट तना दिखाई नहीं देता। इसके तने अथवा मोटी शाखाओं की त्वचा खुरदरी, धूसर और हलके कत्थई रंग की होती है। डालें एक दम गोल न होकर चार धारों वाली होती हैं। पारिजात का तना, डाल, पत्ते आदि सभी अङ्ग खुरदरे होते हैं तथा उनके ऊपर श्वेत, छोटे सीधे दृढ़ रोम होते हैं।

पारिजात के पत्तों का वृन्त (पत्रदण्ड) बहुत छोटे होने से पत्ते, ऐसे मालूम होते है, जैसे डाल से लगे हों। पत्तों की किनारी पर कभी-कभी दाँते भी होते हैं। पत्ते इतने खुरदरे होते हैं कि कहीं-कहीं रेगमाल के बदले लकड़ी आदि पर पॉलिस करने के पूर्व इन्हीं का उपयोग किया जाता है।

अन्य दृष्टियों से अति सामान्य होनेपर भी पारिजात को उसके सुकुमार, मीठी महकवाले तथा नयनाभिराम फूलों के कारण हम अच्छी तरह अपना सकते हैं। केवल वृक्ष के आकार-प्रकार को ध्यान में रखें तो इसमें कोई आकर्षण न होने से यह एक कोने में ही स्थान पाने योग्य जँचता है।

पारिजात के श्वेत, प्रवाल-तुल्य केसरिया डंडी-वाले फूलों के गुच्छ के गुच्छ छोटी डालों के किनारों पर लगते हैं। फूल रात को खिलकर सबेरा होते-होते झड़ जाते हैं। नीचे जमीनपर बिखरे हुए फूल ऐसे मालूम होते हैं जैसे श्वेत चादर बिछा दी गयी हो। फूल सितंबर में आने लगते हैं तथा दिसम्बर तक चालू रहते हैं। कई लोग पारिजात के फूलों की केसरिया डंडी पृथक् करके सुखाकर केसर में मिला लोगों को ठगते हैं। नकली केसर के तौरपर भी इन्हें बेचा जाता है। कई स्थानोंपर इन डंडियों को सुखा, इनसे रंग निकाल कर रेशमी कपड़ों को रंगते हैं। बर्मा में भिक्षुओं के वस्त्र रंगने में इस रंग का उपयोग होता है। पारिजात के फूलों की डंडी के रंग का व्यवहार व्यापक होते हुए भी इसे पक्का बनाने की कोई पद्धति अब तक हाथ नहीं आयी है। इसी कारण कपड़ों को बार-बार रंगना पड़ता है। फूलों की श्वेत पंखड़ियों से भी जामुनी रंग निकाला जा सकता है।

पारिजात के बीज चपटे, खुरदरे और भार में हलके होते हैं। शीतकाल के अन्त में ये पकते हैं और प्रायः पेड़पर ही लगे रहते हैं। फलों अथवा बीजों के सुगमता से दो दल किये जा सकते हैं।

इन्धन के सिवाय पारिजात के तनेका कोई उपयोग नहीं। लकड़ी कठिन होने से फर्नीचर के लिए अनुपयुक्त होती है। औषध के रूप में इसके लगभग सभी अङ्गों का उपयोग होता है। ताजे पत्तों का रस अथवा छायाशुष्क पत्तों का चूर्ण विषम ज्वर (मलेरिया) तथा अन्य ज्वरों में बहुत उपयोगी है।

(शेषांश ८४० पृष्ठ पर)

वर्द्धमान पिप्पली

वैद्य बापालाल भाई आयुर्वेदाचार्य

अनुवादक—श्री भद्राबहिन शाह

भोजन के बाद वामकुक्षि करते समय कोई भी किताब हाथ में लेकर सोने की मुझे आदत है। एक समय "नावनीतकम्" लिया और जो पन्ना खोला उसमें वर्द्धमान पिप्पली के गुणकर्म नज़र आए। मेहरचन्द लक्ष्मणदास ने १९२५ में यह पुस्तक प्रकाशित की है। उसकी ४३ वें पृष्ठ पर छठे अध्यायमें यह योग है। इस योग के २२॥ श्लोक हैं। मुझे लगा कि यह योग वैद्यों के सामने उपस्थित करने योग्य है। कुछ श्लोक यहां देता हूँ।

पिप्पली वर्धमानस्य गुणाः कर्म च केवलम् ॥ १ ॥
प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वेण प्रजानां हित काम्यया ॥ २ ॥
न त्वेतदमृतं पीत्वा पश्चातन्यानि मानवाः ।
दर्शयत्येव सिद्धं हि याजावामलकं यथा ॥ ३ ॥
तस्माल्लक्ष्मीं च पुष्टिं च प्रजां मेधां च कांक्षता ।
रसायनामिदं सौम्यं कार्यमायुविवर्द्धनम् ॥ ४ ॥
अभ्यर्च्य देवतान्विप्रांस्त्वकां खादेत पिप्पलीम् ॥ ७ ॥
ततश्चानु पिबेत्क्षीरं गव्यं छागमथापिवा ।
एवमेतन्नरः खादेद्वर्द्धमानं सदाहनि ।
शतं पूर्णं भवेद्यावद्दश वर्षास्तथव च ॥ ६ ॥
पिप्पली वर्द्धमानस्य कल्पोऽश्विभ्यां प्रकल्पितः ।
अनसूयिना प्रयोक्तव्यो यथा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २२ ॥

इसमें हमेशा एक-एक पिप्पली बढ़ाना और बाद में एक-एक घटाना कहा है। कुल दस हज़ार पिप्पली खानी चाहिए। यह अश्विनी कुमारों का कल्प है। इस ग्रन्थ में अश्विदेवों के बहुत से कल्प दर्शाये गए हैं। अर्थात् यह अश्विनी कुमारों का दस सहस्र पिप्पली वधमान प्रयोग है।

इसी अध्याय में आगे और दो पिप्पली प्रयोग दिए हैं।

पंचाष्टौ सप्तदशवापि पिप्पल्यो मधु सर्पिषा ।
रसायनगुणान्वेषी मासमेकं प्रयोजयेत् ॥ ३० ॥
तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाग्रे भोजनस्य च
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः ॥ ३१ ॥
प्रयोज्या घृतसंमिश्रा रसायन गुणैषिणा ॥

दूसरा योग नीचे लिखे अनुसार है।

क्रमवृद्ध्या दशाहानि दशपिप्पलिकं दिनम् ।
वर्धयेत्पयसा सार्धन्तथैवानुपिबेन्नरः ॥ ३४ ॥
पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनः ॥ इत्यादि

एक ही अध्याय में ये तीन पिप्पली योग नज़र आते हैं। दस हज़ार पिप्पली का प्रयोग अन्य किसी ग्रंथ में मैंने नहीं देखा। नावनीतक में ही यह सबसे पहला दस सहस्र योग मालूम होता है। दूसरे योग में ५, ८, ७, १० पिप्पली रोज मधु और घी के साथ रासायनिक गुणों की इच्छावालों को लेने का विधान है। इसमें संख्या बढ़ाने का निर्देश नहीं है। किंशुक-क्षार भावित पिप्पली प्रयोग चरक में भी 'पिप्पली रसायनम्' नाम से दिया है। अर्थात दूसरा और तीसरा पिप्पली योग-दोनों चरक से ही अक्षरशः लिए गए हैं। वास्तव में तीसरे योग का नाम पिप्पली सहस्र योग रखना चाहिए, लेकिन संशोधक ने इसका नाम "पिप्पली वर्द्धमानं रसायनम्" रखा है।

दस हजार पिप्पलियों का प्रयोग अव्यवहार्य होने से पिप्पली सहस्र का प्रयोग व्यवहार में जारी रहा और वही पिप्पली वर्द्धमान के नामसे प्रसिद्ध है।

पिप्पली सहस्र योग २० दिन का है। हमेशा दस-दस पिप्पली बढ़ाकर और सौ तक जाने के बाद फिर दस-दस पिप्पली घटाने से ठीक २० दिन में हजार पिप्पली पेट में जाती है। दस पिप्पली वाला

प्रयोग श्रेष्ठ है। हमेशा ६ पिप्पली बढ़ाने का प्रयोग मध्यम और तीन पिप्पली बढ़ाने का प्रयोग कनिष्ठ माना गया है। तीन,छः और दस पिप्पली से शुरू करके प्रति दिन तीन-तीन, छः-छः और दस-दस पिप्पली बढ़ाने का विधान है। अधिक स्पष्टता इसी योग में चरक में (नावनीतक में भी) की गई है।

बलवान् मनुष्यों को पिप्पली खूब वारीक पीसकर दूध के साथ लेने चाहिये[1] । मध्यम बलवालों को उबाल कर और अल्प बलवालों को शीतकषाय करके लेनी चाहिये। चरक में "चूर्णी कृताः" पाठ है लेकिन चक्रपाणि में 'अत्रशीति कृताया पाठः" द्वारा पाठान्तरका उल्लेखकिया है। यहां दूधका प्रमाण नहीं दिया है। कविराज गङ्गाधर ने "जलकल्पतरु" में इसका निर्देश किया है। पिप्पली से १६ गुने जल में[2] पिप्पली को उबाल कर चतुर्थांश या अष्टमांश जल शेष रख कर, इस शेष जल में दूध मिला कर पीने का उन्होंने निर्देश किया है।

"श्रृता मध्य बलैः" पर यह स्पष्टी करण है और पयोवृद्धि कितने प्रमाण में करनी चाहिए, इसके विषय में भी मूल में कोई उल्लेख नहीं है। जलपकल्पतरु में इसका भी स्पष्टीकरण किया गया है। हारीत और भोज का मत उन्होंने उद्धृत किया है जिसमें "प्रकुञ्च[3] वृद्धेन" प्रतिदिन एक-एक प्रकुञ्च बढ़ाने का विधान है। लेकिन ये विद्वान् "प्रकुञ्च बृद्धि" मत को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि हारीत और भोज के पाठ में—"त्रिपञ्च सप्तदश वा प्रकुञ्च पयसा पिबेत्" तीन, पांच, सात और दश पिप्पली का उल्लेख है। कविराज जी कहते हैं कि "पिपल्यनु रूपेण क्रम बृद्ध पयसा सार्द्धं बोद्धव्यम् इति कश्चित्। प्रत्यहं पलमानेन दुग्ध वृद्धया पयो बाहुल्ये तथा कार्यमिति व्यवस्था।" अर्थात् कइयों का मत है कि ज्यों-ज्यों पिप्पली बढ़ती जाय त्यों-त्यों दूध का प्रमाण भी बढ़ाना चाहिये, परन्तु सदा एक-एक पल दूध बढ़ाना इष्ट है ऐसा कविराज जी का मत है। तीन, छह और दस इन तीन योगों के लिए पल बृद्धि प्रमाण हैं, यह अर्थ यहां फलित होता है, क्योंकि और कोई स्पष्टीकरण नहीं हैं। चाहे दस पिप्पली हो तो भी पल बृद्धि और तीन पिप्पली हो तो भी पल बृद्धि तथा छ हों तो भी पलबृद्धि समझनी चाहिये। कविराजी ने कोई नर्णय नहीं किया अर्थात् पिप्पली के अनुरूप ही दूध का प्रमाण बढ़ाना चाहिए यही स्वीकार करना पड़ेगा। पिष्ट पिप्पली के लिये यही ठीक है। श्रृत के लिये तो ऊपर स्पष्टीकरण आ गया है। गंगाधर जी केवल जल और पिप्पली का क्वाथ करने का विधान करते हैं और क्वाथ में दूध मिलाकर पीने को कहते हैं। गुजरात और अन्य प्रान्तों में दूध तथा पानी दोनों में पिप्पली डालकर सिर्फ दूध रहे वहां तक उबाल कर दूध को कपड़े से छान कर पीने का प्रचार है।

कई लोग बिना छाने ही पी लेते हैं[4] । क्वाथ में पिप्पली पीसकर या पूरी ही डालनी चाहिए इसका कोई निर्देश नहीं है। परन्तु क्वाथ करना हो तो पीस कर ही डालनी चाहिए ऐसा मेरा मत है। यहां चूर्ण बलवान के लिए—अर्थात चूर्ण, क्वाथ और शीतकषाय से श्रेष्ठ माना गया है। चूर्ण निर्बल और

१—सुश्रुत में महावात व्याधि चिकित्सा में "क्षीर पिष्टा वारि पिष्टा वा।" यह पाठ है—

२—शार्ङ्गधर की गूढ़ार्थ दीपिका में चतुर्गुण जल लेने का निर्देश है।

३—प्रकुञ्च=१ पल

४—काश्यप संहिता में २० पिप्पलियां आर्धाढ़क जल में उबालकर चतुर्भागावशेष रखकर, बाद में इतना ही बकरी का दूध मिलाकर और उबालकर क्षय के रोगियों को देने का विधान है।

बलवान् दोनों के लिए है। गंगाधर जी कहते हैं कि चूर्ण से शीत कषाय अल्पवीर्य होने के कारण निर्बल के लिए शीत कषाय ही ठीक है। अर्थात् बलवान् को पिप्पली बारीक पिसकर पिष्टाः[१]) लेनी चाहिए। मध्यम बलवालों को पिप्पली पीसकर और क्वाथ बनाकर उसी क्वाथ में दूध मिलाकर पीना चाहिए और निर्बलों को शीत कषाय लेना चाहिए।

"द्रव्यात् आपोथितात् तोये प्रतप्ते निशि संस्थितात्।
कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः॥"

रात को उबलते पानी में पिप्पली का चूर्ण मिला कर बर्त्तन को ढँक कर सारी रात उसे रख प्रातः उसी ठंडे जल में दूध मिलाकर पीना चाहिए। शीत कषाय का यह अर्थ होता है।

दस-दस पिप्पली प्रतिदिन बढ़ाने का प्रयोग २० दिन में (१००० पिप्पली का) समाप्त होता है। छह-छह बढ़ाने से १३ दिन में ७८ पिप्पली होती है। १४ वें दिन से छह-छह पिप्पली घटानी चाहिए अर्थात् १४ वें दिन ७२, १५ वें दिन ६६, १६ वें दिन ६०, इस तरह २५ वें दिन ६ पिप्पलियों पर आ सकते हैं। इस तरह २५ दिन के चढ़ने उतरने के क्रम में पिप्पलियों का प्रमाण १०२४ होता है।

तीन-तीन पिप्पली बढ़ाने से १८ दिन में ५४ पीप्पली होती है। १९ वें दिन भी ५४ पिप्पली चालू रखें। २० वें दिन से तीन-तीन घटाते रहें। ३६ वें दिन तीन पिप्पली पर आजायेंगे अर्थात् इस प्रयोग में कुल १०२६ पिप्पली होती हैं। थोड़ी बहुत अधिक हों तो चिन्ता नहीं।

१—"पिवेत् पिष्ट्वा—यह शार्ङ्गधर का पाठ है। दीपिका कार ने "क्षीरपिष्टाः इति अत्रमन्यन्ते केचित्" ,पीसकर दूध में घुटी हुई ऐसा अर्थ किया है।

मध्यम बलवालों को ३, ५, ६, ७, १०; पिप्पली का रसायन (हारीत और भोज ने इसका अनुमोदन किया है) भी ठीक है। पलाश-क्षारोदक को सात भावनएं पिप्पली को देनी चाहिए। 'संवत्सारातीत घृत में पिप्पलियों को जरा भून कर बाद में कूट कर और बारीक पीसकर एक वर्ष के पुराने घी और मधु के साथ चाटने का विधान है— (देखिए जल्पकल्पतरु।

पिप्पली किंशुक क्षार भावित प्रयोग में पूर्वाह्न (प्रातः काल) तीन पिप्पली, भोजन करने के पहले तीन, भोजन करने के बाद तीन पिप्पली—इसप्रकार नौ पिप्पली सदा एक वर्ष तक रसायन विधि से खाने से कास, क्षय, श्वास, शोथ, हिक्का, गले की व्याधियां, अर्श, ग्रहणीदोष, पाण्डु, विषम ज्वर, वैस्वर्य, पीनस, शोष और गुल्म आदि रोग मिटते हैं ऐसा चरक ने बताया है[२]।

वर्द्धमान पिप्पली के प्रयोग के प्रसंग में चरक विमान स्थान अध्याय १ में नीचे का सूत्र दिया है, उसका भी विचार करना आवश्यक है।

"अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि नात्युपयुञ्जीत अधिकम् अन्येभ्यो द्रव्येभ्यः अपेक्षया—पिप्पली, क्षारः लवणमिति"

२—यह तीन-तीन-तीन अर्थात् सारे दिन में नौ पिप्पली का प्रयोग एक ही मनुष्य के लिए नहीं लेकिन भिन्न भिन्न प्रकृति वाले मनुष्यों के लिए भिन्न-भिन्न दोषों को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लिए है, यह ध्यान देने योग्य है। कफ प्रकृति वालों को और उत्कृष्ट दोषादि व्याधि में प्रातः मध्यम दोष वालों को भोजन से पहले और अल्प दोष वालों को भोजन के बाद लेना चाहिए, यह यहां अभिप्रेत है। पराड्कर शास्त्री के अष्टांग हृदय में रसायन विधी अध्याय (उ० स्था० अ० ३९ श्लोक ९६ से १००) की टिप्पणी में इति जर्जरः जर्जर का उपरोक्त अभिप्राय बताया है जो यथार्थ है।

अन्य द्रव्यों की अपेक्षया पिप्पली, क्षार और लवण, इन तीन द्रव्यों का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिए। यहाँ "अधिक" सम्बन्धी कोई खुलासा नहीं किया है। नावनीतक का दस हजार पिप्पली का प्रयोग अधिक है या नहीं? अधिक लगा होगा इसीलिए उसका प्रचार बन्द हुआ और सहस्र पिप्पली योग ही जारी रहा। पिप्पली के गुण नावनीतक में नीचे लिखे अनुसार है—

"पिप्पल्यो हि शिवाः काये कटुका मधुरान्वयाः।
स्निग्धाश्च शीतवीर्यापि व्यवायिन्यो गुणान्विताः॥
कटुकत्वात् कफे पथ्याः स्नेहाच्च यपने हिताः।
शैत्यात् पित्त प्रशमना युज्यते सर्वकर्मसु॥

पिप्पली रस में कटु और विपाक में मधुर है, (चरक में 'मधुर विपाका' ये स्पष्ट शब्द है), स्निग्ध, शीतवीर्य और व्ययायी है। कटुरस प्रधान होने के कारण पिप्पली कफ में प्रधान है। स्निग्ध अर्थात् स्नेहवाली होने से वात में हितकर है और शीतवीय होने से पित्त प्रशमन है अर्थात् पिप्पली त्रिदोषघ्न होने से सर्व कर्मों में योजनीय है।

चरक में पिप्पली के गुण दिए हैं। (वि० स्था० अ० १ श्लो० १६) चरक और नावनीतक के गुणों में अन्तर प्रतीत होता है। चरक में पिप्पलीको "नात्यर्थं स्निग्धोष्णाः" कहा है अर्थात् वह अत्यन्त स्निग्ध भी नहीं है और अत्यन्त उष्ण भी नहीं है, किन्तु साधारण उष्ण है और अल्प स्नेहवाली है। अल्प स्नेहवाली और अल्प उष्ण होने से पिप्पली वात प्रशमन कार्य नहीं करती है। किंचित् उष्ण होने के कारण पिप्पली पित्त का उत्क्लेश करती है। गुरु और क्लेदि होने के कारण श्लेष्मा का उत्क्लेश करती है। स्नेह की अल्पता होने के कारण वह वातघ्न भी नहीं है। इसीलिए पिप्पली का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिए। (चरक)

चरक के ये गुण नावनीतक से बिलकुल भिन्न हैं। नावनीतक पिप्पली को शीतवीर्य[1], स्निग्ध, पित्तघ्न और वातघ्न मानता है। विमान स्थान में पिप्पली के अत्युपयोग के लिए युक्तियाँ दी है उनमें ये गुण कहे हैं। परन्तु चरक सूत्र स्थान अ० २७ श्लो० २८३ में कहा है—'सा शुष्का कफवातघ्नी कटूष्णा, वृष्य संमता।" अर्थात् सूखी पिप्पली कफ और वात का नाश करती है, रस में कटु और उष्ण है तथा फिर भी वृष्य है। चरक पिप्पली का कफवातघ्न गुण तो स्वीकार करते हैं परन्तु पित्तघ्न गुण को स्वीकार नहीं करते ऐसा लगता है। पर सुश्रुत में उसे स्पष्ट 'पित्त प्रसादनी' माना है—(सु० सू० ४६ श्लो० २३३)—"ताः सद्यः शुभाशुभ कारिण्यो भवन्ति, आपानभद्राः, प्रयोग समसाद्गुण्यात्"(चरक विमान) थोड़े उपयोग से वह शुभकारी है और अधिक उपयोग से अशुभकारी– यह चरक का मन्तव्य है। प्रयोग समसाद्गुण्यका अर्थ है"समस्य प्रयोगस्य सद्-गुणत्वात्, समेऽल्पकाले अल्पमात्रे च पिप्पल्यादि प्रयोगे सद्गुणा भवन्तीत्यर्थः।।" (चक्रपाणिदत्त) अर्थात् अल्प समय के लिए, अल्प मात्रा में यदि पिप्पली का प्रयोग किया जाय तो अच्छी तरह से सफल हो सकता है। अधिक परिमाण में लेना हानिकारक है, यह निष्कर्ष निकलता है। गंगाधर कविराज ने इस सूत्र पर जरा भी प्रकाश नहीं डाला है। चक्रपाणि ने अपनी टीका में उपसंहार करते हुए कहा है कि अन्न संस्कार में पिप्पली का अधिक उपयोग वर्जनीय है ; परन्तु गुल्म, ज्वर,

१—कविराज नरेन्द्रनाथ मित्र संपादित 'चिकित्सा कालिका" की श्री जयदेव विद्यालंकार ने परिमलाख्या हिन्दी परिभाषा लिखी है। इसमें ये विद्वान लिखते हैं कि "पिप्पली के अत्यन्त उष्णवीर्य होने के कारण आजकल इस मात्रा में प्रयुक्त करना हानिकारक है"—पृष्ठ ९९।

कुष्ठ आदि में पिप्पली के उपयोग का जो आदेश है वह जरा भी हानि कारक नहीं है। सतत और अधिक मात्रा में उपयोग करना ही हानिकारक है, चरक के उक्त ग्रन्थ का आशय यही है। वर्धमान पिप्पली योग, सहस्र पिप्पली योग आदि योग बिल्कुल निर्दोष हैं—रसायन प्रयोग हैं; यह रसायन अध्याय में बताया गया है।

"नावनीतक" में "क्षीरानुपानास्ताः कार्याः तथा क्षीरोप सेवनाः" दूध का अनुपान या केवल दूध पर रहकर प्रयोग करने का निर्देश है। चरक में—"जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीर सर्पिषा" अर्थात् पिप्पली पचने के बाद दूध और घी के साथ साठी चावल खाने का स्पष्ट विधान है।

"योग रत्नाकर" में 'अनुपिवति [1] पयो यस्तस्य न श्वासकासज्वरजठरगुदार्शोवातरक्तक्षयाः स्युः ॥" वर्धमान पिप्पली प्रयोग के समय केवल दूध पर रहने से श्वास, कास, ज्वर, उदर, अर्श बात रक्त और क्षय नहीं होते। इस प्रकार चरक और अन्य ग्रन्थ कारों के बीच मतभेद मालूम होता है।

"काश्यप संहिता" में स्पष्ट रूप से "भोजनोदक वर्जित" ऐसा उल्लेख है—अर्थात् अन्न और पानी दोनों बन्द करके पिप्पली का प्रयोग करना चाहिए।

"काश्यप संहिता" के "राजयक्ष्मा चिकित्सा अध्याय" में भी वर्धमान पिप्पली का प्रयोग हैं, उसका पाठ सबसे भिन्न है—

"पिप्पल्योः विंशतिः श्रेष्ठा उदकाघटिके शृताः।
चतुर्भागावशेषंतं छागक्षीरेण तावता ॥
शृतं नित्यं पिबेच्छोषी तेनैव च अश्नीत नित्यया" ॥

इत्यादि। यदि कफ अधिक हो तो मधु डाल कर, वायु अधिक हो तो घी के साथ और पित्त अधिक हो तो मिसरी डालकर पीने का विधान है। साथ ही कहा है कि "पिप्पली वर्धमानं तु वातश्लेष्मोत्तरे हि म्।" वात कफ प्रकृति वालों के लिए पिप्पली वर्धमान हितकर है। यदि १८० पिप्पली हो तो एक आढक जल में उबालना, पानी चौथाई शेष रखना, बचे हुए जल में उतना ही दूध मिलाकर फिर से उबालना, पानी को पूरी तरह जला देना या नहीं; इसका उल्लेख यहां नहीं किया गया है। इस प्रकार काश्यप संहिता का वर्धमान पिप्पली योग अन्यों की अपेक्षया विशद प्रकाश डालता है।

अंत में 'भैषज्य रत्नावली' के संकलयिता कविराज विनोद लाल सेन के अभिप्राय को देखकर हम लेख की समाप्ति करगे। भैषज्य रत्नावली में वर्धमान पिप्पली का पाठ चरक जैसा ही है। केवल बीच में एक पंक्ति—"पञ्चपिप्पलिकश्चापि दृश्यते वर्द्धमानकः" है। परिभाषा में नीचे का उल्लेख ध्यान देने योग्य है—"किन्त्वधुना नृणां हीन वलत्वादधिक पिप्पली सेवनमयोग्यमेकातोऽधुना एकस्मादारभ्य दश पर्यन्तं वर्द्धनीयं ह्रसनीयञ्च।"

अर्थात् इस युग के मनुष्य इतने निर्बल हो गये हैं कि यह १०, ६ और ३ पिप्पली का प्रयोग अयोग्य मालूम होता है। इसलिये इस युग में तो एक पिप्पली से ही आरम्भ करके नित्य एक-एक पिप्पिली बढ़ाकर अन्त में दस तक ही बढ़ाना और दस से फिर घटाना श्रेयष्कर है।

तीसटकी चिकित्सा कलिका के हिन्दी व्याख्याकार श्री जयदेव विद्यालंकार कहते हैं कि "पिप्पली अत्यन्त उष्णवीर्य होने के कारण, आजकल इस मात्रा में (१०-६-३ प्रमाण में) प्रयुक्त करना हानिकर है, इसलिए पिप्पली की जगह उपर्युक्त संख्या में पिप्पली बीज लेने चाहिए। इन बीजों (दानों) का उक्त प्रयोग विधि के अनुसार उपयोग करना चाहिए।

१—"इति पिबति पुमान्" ऐसा चिकित्सा कलिका में कहा है

कई वैद्य आज भी वर्द्धमान पिप्पली का प्रयोग बहुत से रोगियों को करवाते हैं। मैं स्वयं तीन-तीन पिप्पलीवाला प्रयोग करवाता हूं और इससे कोई प्रतिक्रिया किसी को होती देखी नहीं। जो वैद्य वर्धमान पिप्पली का प्रयोग करवाते हैं उन्हें अपने अनुभवों को प्रकाश में लाना चाहिये। जयदेव विद्यालंकार का पिप्पली प्रयोग हास्यास्पद मालूम होता है।

वैसे पिप्पली के बीजों का प्रयोग एक स्थान पर मेरे देखने में आया है। अष्टाङ्ग हृदय चि० ३।१६ में पाठ है।

"मस्तुना ससिता शुण्ठीं दध्ना वा कण रेणुकाम्।"

विद्वान लोग अपना मत प्रकाशित करेंगे ऐसी आशा रखता हूं।

अरुण दत्त ने यहां 'पिप्पली रेणुकाम्' ऐसा पदच्छेद करके दो द्रव्यों का ग्रहण किया है। परन्तु संग्रह के टीकाकार इन्दु ने "कण रेणुकाः पिप्पली बीजानि" यह अर्थ किया है। हेमाद्रि ने स्पष्ट ही 'कणां च रेणुकांच कण रेणुकाम्' अर्थ दिया है। जो भी हो, पिप्पली के बीजों का भी प्रयोग शास्त्र में आया है सही। इस दृष्टि से विद्यालंकार जी के अर्थ पर विचार किया जा सकता है।

लेकिन सबसे विवादास्पद प्रश्न तो पिप्पलीवीर्य का है। सामान्यतः लोगों में पिप्पली उष्ण मानी जाती है। राजनिघंटुकार ने पिप्पली को 'स्निग्धोष्णा" माना है एवं धन्वन्तरि निघंटुकार ने 'हिम स्निग्धा' माना है। परन्तु आर्द्र पिप्पली को 'पित्त प्रशमनी' और शुष्क को 'पित्त प्रकोपिणी' माना है। मदनपाल निघंटु में 'अत्युष्णा पित्तला और रेचनीय' माना है। कैयदेव ने पित्तला माना है। लेकिन आगे "शैत्य-प्रसाद माधुर्यात् पित्तं हन्ति च पिप्पली।" ऐसा कहा है और पिप्पली को त्रिदोषघ्न माना है। चक्रदत्त में रक्तपित्त और अम्लपित्त में पिप्पली का प्रयोग ध्यान खींचता है[१]

केशव रचित 'सिद्ध मंत्र' में बोपदेव ने भी खास कुछ लिखा नहीं है।

लेकिन इन भिन्न मतों को देखने से पिप्पली को 'पित्तोदासीन यानी न तो पित्त करनेवाली और नहीं पित्त को शमन करनेवाली है माननी चाहिये। विद्वान लोग अपना-अपना अभिमत 'सचित्र आयुर्वेद" द्वारा प्रकट करेंगे। ऐसी आशा है।

१—आटरूषक रसेन सप्तधा; भावितास्च पुनरेव शोधिता॥ प्पली मधु समन्विताऽभया रक्तापित्तमपि दुर्जरं जयेत्॥

शेषांश

पारिभद्र और पारिजात

८३४ वें पृष्ठ का

—"मधुना सर्वज्वरनुत् शेफालिदलजो रसः।" इसका रस तिक्त होता है। पत्तों का क्वाथ मन्दाग्नि में भी उपयोगी है। बच्चा के अतिसार में पत्तों के रस का प्रयोग किया जाता है। गृध्रसी (शायेटिका) में भी वैद्य इसका व्यवहार करते हैं।

पारिजात के फूल बालों (केशों) के लिए टॉनिक बनाने के काम आते हैं। बीजों का उपयोग त्वचा के विशेषतःसिर के रोगों में होता है। बाल गिरते हों तो इसके उपयोग से अटकते हैं। छाल का चूर्ण कफ तथा श्वास रोग में दिया जाता है। छाल का तेल नेत्र-रोगों में उपयोगी समझा जाता है।

भारत की सर्व प्रकार की जलवायु तथा भूमि पारिजात (शेफालिका) के लिए अनुकूल है। कहीं-कहीं तो यह वनों में स्वयं उग निकलता है। वृक्ष छोटा और दृढ़ होते हुए भी बहुत वर्ष टिकता नहीं। कई स्थानोंपर तो इसे उत्तम इन्धन के रूप में उपयोगी होने के कारण ही बड़ी संख्या में बोया जाता है।

बीज को गमले या जमीन में बो कर और पानी देकर नये पौधे तय्यार किये जाते हैं। अथवा चौमासे के प्रारम्भ में बीज स्थायी जगह पर बो दिये जाते हैं। फूलों के सौन्दर्य और सुगन्ध के कारण हमारे देश में इसका खूब विस्तार होना अभीष्ट है।

शिशुओं के पोषण में धूप का उपयोग

लेफ्टिनेन्ट कर्नल डा० एस० एस० सिंह

धूप की आवश्यकता

शुरू में कुछ महीनों तक तो शिशु साधारण तया माता के दूध पर ही रहता है। कुछ घरों में इस के साथ-साथ फलों का रस और काडलिवर आॅयल भी बच्चों को देते रहते हैं; जिनसे उस की जीवनीय सत्व 'ए' और 'बी' की आवश्यकता पूर्ण होती रहती है। परन्तु अधिकांश भारतीय घरों में माताके दूधके अतिरिक्त ऐसी कोई भी चीज नहीं दी जा सकती। ऐसी अवस्था में शिशु को अपने पोषण के लिये केवल अपनी माता के दूध पर ही निर्भर रहना पड़ता है। दुर्भाग्य की बात यह है कि अधिकांश भारतीय माताओं का भी गर्भिणी-अवस्था में या उससे पहले भी समुचित पोषण नहीं हो पाता। ऐसी असन्तुष्ट माताओं के गर्भ से उत्पन्न शिशु का जीवन विशेष कठिनाई के साथ प्रारंभ होता है और जन्म के बाद भी उन को अच्छा पोषण मिलता नहीं। जैसे-जैसे बच्चा बढ़ता है, उसके भोजन में परिवर्तन होता रहता है, परन्तु कोई सुधार नहीं होता।

किसी फ्रान्सीसी कवि ने कहा है "सभी प्रकार के फूलों को अपेक्षा मानवीय फूलों को धूप की आवश्यकता सब से अधिक है।" इस के साथ हम यह भी कह सकते हैं कि खिले हुए फूल की अपेक्षा कली को धूप की अधिक आवश्यकता है। और वास्तव में अपने समुचित वर्धन और विकास के लिये बच्चे को धूप की उतनी ही आवश्यकता होती है, जितनी कि पौधे को या पशु के बच्चे को। सुप्रसिद्ध जीव-शास्त्रज्ञ सर लिओनार्ड हिल ने सिद्ध किया है कि जिन पशुओं और मानवों को समुचित पोषण न मिलता हो, वे यदि नियमित रूप से खुली धूप में रहें, तो अपर्याप्त भोजन के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों का उन के शरीर से निवारण हो जाता है। वियना में डा० चिक ने एक मनो-रंजक तथ्य ज्ञात किया है, जिससे शिशुओं के पोषण में धूप का महत्त्व सिद्ध होता है। उन्होंने अनुभव किया है कि व्यवस्थित रूप से यदि खुली धूप में रिकेट (बालरोग) के रोगी (शिशु) रखे जायें, तो उनका रिकेट रोग ठीक हो जाता है। सरलियोनार्ड हिलका कहना है कि धूप की यह प्रक्रिया उतनी ही जल्दी अपना प्रमाण दिखाती है, जितनी जल्दी कि अन्य कोई भी दवा, जैसे कि काड लिवर आयल कृत्रिम अल्ट्रा वायलेट किरणें।

शिशु के समुचित विकास में सहायता देने के लिये और उस अपर्याप्त पोषण के रोगों से बचाने के लिये उसके जीवन के प्रथम सप्ताह से ही धूपसेवन कराना प्रारंभ कर देना चाहिए, किन्तु अत्यल्प मात्रा में। सर ट्रूबी किंग का कहना है कि "शुद्ध हवा और धूप का शिशु और उसकी माता के स्वास्थ्य पर उतना ही प्रभाव पड़ता है, जितना कि समुचित भोजन का।"

धूप स्नान की मात्रा

शिशु को धूपसेवन कराना प्रारंभ करने के लिये किसी विशेष साधन—सामग्री की आवश्यकता

नहीं। पहले दिन शिशु को धूप में इस प्रकार लिटा दें कि धूप उसके पैरों पर (घुटनों से नीचे) ही पड़े। और अगले दिन धूप सारी टांगों पर पड़े, इस प्रकार धीरे-धीरे बढ़ाते रहें, जब तक कि शिर के नीचे का सारा शरीर धूपमें आने लगे। पहले दिन धूपस्नान का समय दो मिनट से अधिक न होना चाहिए। एक या दो मिनट प्रतिदिन समय बढ़ाते जाना चाहिए। शिशु को कुछ समय पेट के बल और कुछ समय पीठ के बल लिटाना चाहिए। शिर हमेशा छाया में रहना चाहिए या उसे कपड़े से ढक देना चाहिए। एक वर्ष की वय तक धूपस्नान भारत में गर्मी के दिनों में दस मिनट और जाड़े के दिनों में पन्द्रह मिनट से अधिक न करना चाहिए। दूसरे वर्ष में प्रति दिन धूपस्नान गर्मी में दस मिनट और जाड़में पन्द्रह मिनट करा सकते हैं। अगले वर्षों में शिशु की सहनशक्ति के अनुसार धूपस्नान का समय बढ़ाया जा सकता है। सभी शिशुओं के लिये एक ही मात्रा नहीं बतायी जा सकती। ध्यान रखना चाहिए कि अधिक धूप सेवन का दुष्प्रभाव न होने पाये।

हल्का धूप स्नान

धूपसेवन सहनशक्ति से अधिक होने पर थकावट, बुखार-सा होना, सिर-दर्द, नींद में गड़बड़ी भूख न लगना आदि लक्षण प्रकट होते हैं। ऐसे लक्षण होने पर धूपस्नान की मात्रा कम कर देनी चाहिए या एक-दो दिन के लिये धूपस्नान बिल्कुल ही रोक देना चाहिए। यदि शुरू में सावधानी रखी जाय, तो ये अतिसेवन के लक्षण प्रकट ही न होंगे। आदत पड़ने पर तो इसमें नुकसान की कोई संभावना ही नहीं रहेगी, यदि-मात्रा और विधि में सावधानी बर्ती जायेगी। स्नायविक दौर्बल्य वाले या चिड़-चिड़े बच्चों को धूपसेवन कम कराना चाहिए। जलवायु में थोड़ा सा भी परिवर्त्तन होने पर जिन बच्चों को सर्दी, खांसी, जुकाम आदि हो जाता हो, उन्हें भी अचानक धूप-सेवन नहीं करना चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि हल्का धूपस्नान ही लाभदायक होता है और यदि अधिक धूपस्नान कराना हो, तो नंगे बदन धूप-स्नान करना चाहिए।

कमजोर बच्चे और धूपस्नान

दुबले-पतले, कमजोर बच्चे, जिन्हें अक्सर सर्दी, खाँसी, जुकाम, नाक बहना आदि की शिकायत रहती हो, उन्हें इन रोगों से छुटकारा दिलाने के लिये नियमित रूप से धूपसेवन कराना चाहिए। स्विट्जर लेण्ड और भारत में अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि खुली धूप में रहने से स्वास्थ्य में अद्भुत परिवर्तन होता हैं। थोड़े ही समय में बच्चों का दुबलापन और पीलापन गायब हो जाता है। और वे ताजगी एवं स्फूर्ति से भरे हुए दीखने लगते हैं। उनकी भूख बढ़ जाती है और वे भोजन में रुचि दिखाने लगते हैं। उनकी नींद गहरी होने लगती है, शरीर का वजन बढ़ जाता है और वे थोड़े-बहुत श्रम से थक नहीं जाते। शारीरिक सुधार के साथ मानसिक शक्ति को भी उत्तेजना मिलती है। प्रसन्ता दिखायी देने लगते हैं।

जननेन्द्रिय के अन्तः अवयव

[गताङ्क (दिसम्बर) से आगे]

वैद्य अत्रिदेव गुप्त, आयुर्वेदालंकार

पुरुष से स्त्री में जो मुख्य भेद है, उनमें एक विशेष भेद यह है कि स्त्रियों में उत्पादक अङ्ग पेट के अन्दर रहते हैं। पुरुष के भी वृषण गर्भावस्था में पेट के अन्दर ही रहते हैं। ये अण्ड आठवें या नवें महीने में पेट में से एक नाली के रास्ते अण्डकोष की थैली में उतर आते हैं। कई बार यह स्थिति उत्पत्ति के पीछे भी दीखती है। कई बार अण्ड रास्ते में रुके मिलते हैं। ऐसी अवस्था में कई बार तो इन बच्चों में पुरुषत्व पैदा करने के लिये औषधोपचार करने की जरूरत पड़ती है*।

स्त्रियों मे तो उनके अण्ड (डिम्ब) पेट में ही सदा रहते हैं। इसका संक्षिप्त कारण लेख के प्रथम भाग में बता दिया है। स्त्रियों को उत्पत्ति कार्य करना होता है। उत्पत्ति अंकुरित करने के लिये गर्मी की जरूरत रहती है। मुर्गी अपने अण्डे को सेने के लिये उसपर बैठकर उसे गर्मी देती है। इस गरमी के कारण अण्डे में से बच्चा (चुजा) बाहर आता है यदि अण्डेका गर्मी न मिलेतो बच्चा बाहर नहीं आता। स्तनपायीप्राणियों में बच्चे को बनाने के लिये आवश्यक गरमी उसकी माता के पेट से मिल जाती है। इस गरमी के कारण ही स्त्रियों को आग्नेय-अग्नि तत्त्व की प्रधानता वाली कहा है। पुरुष को अंकुरित करने में कोई काम नहीं करना होता; इस लिये उसके अण्ड शरीर से बाहर रहते हैं; उनको ठण्डा रखने में कोई हानि नहीं, आपितु लाभ ही है। इस दृष्टि से स्त्रियों के उत्पादक-अवयव शरीर के अन्दर प्रकृति ने बनाये हैं।

इन अवयवों का परस्पर एक दूसरे के साथ सम्बन्ध इस प्रकार से जुड़ा है, कि यदि इनको एक अवयव कह दें तो भी कोई विशेष हानि नहीं। परन्तु कार्य भेद से इनको अलग-अलग भागों में विभक्त किया हुआ है। यथा—योनिपथ, गर्भाशय, डिम्ब प्रणाली, डिम्ब कोष, और पुष्प प्रणाली (फिलोपियन ट्युब)—इसके सिवाय कई आवश्यक मांस पेशियां हैं। इनमें—

योनिपथ—का प्रारम्भ योनिद्वार से लेकर गर्भाशय के बाह्य मुख तक है। इस सम्पूर्ण भाग की लम्बाई साधारणतः छै से सात इञ्च रहती है। कुछ लेखकों का विचार है कि कामसूत्र में जो मृगी बड़वा आदि तीन भेद स्त्रियों के माने हैं; वह इस मार्ग की लम्बाई के अधार पर हैं। अर्थात् जिस स्त्री का योनि पथ छोटा रहता है, उसे मृगी नाम दिया है। यह कहां तक ठीक है, इसकी जांच विद्वानों के लिये छोड़ता हुआ प्रकृति में आता हूं कि योनिपथ एक मार्ग है, जिसके द्वारा पुरुषेन्द्रिय से आया हुआ वीर्य—गर्भाशय द्वार या गर्भाशय में पहुंचता है। योनिद्वार से गर्भाशय को इतनी दूर रखने का एक बहुत कीमती कारण है—वह यह कि योनि का कोई संक्रमण जल्दी से गर्भाशय में न पहुंच सके—वह सदा निरापद और सुरक्षित रहे। साथ ही कई बार

* आजकल एन्टी प्युटरीन. एस. के इंजेक्शन तथा दूसरे हार्मोन इस कार्य में बरते जाते हैं।

ऐसा भी होता है कि उचित रूप में प्रहर्ष न होने से किये सम्भोग में वीर्य, वीर्य कीटाणु इसी पथ में रह जाते हैं। इसी से आचार्य ने इस सम्बन्धी सद्वृत्त में आदेश दिया है कि बिना उचित प्रहर्ष उत्पन्न हुए सम्भोग न करे। परन्तु कई बार ऐसा भी देखा गया है कि यदि ऋतु काल ठीक है, और वीर्य कीट बलवान है, तो वह इस मार्ग की लम्बाई को अपनी गति से स्वयं पूरी करके गर्भाशय में जाकर स्त्री बीज से मिल जाता है। साधारणत: बोल चाल के शब्दों में योनिपथ-एक—गैलरी या मार्ग है—जो गर्भाशय तक शुक्र कीट को पहुँचाता है।

बस इसी सिद्धान्त के आधार पर ट्युवरल बच्चे पैदा किये जाने लगे। यदि हम शुक्र को एक पिचकारी में भरकर ठीक समय पर गर्भाशय में पहुँचा देते हैं, तो पुरुषेन्द्रिय का सम्पूर्ण कार्य शुक्रक्षरण रूपी पूरा हो जाता है। पुरुषेन्द्रिय का मुख्य कार्य तो शुक्रक्षरण है; इस कार्य में जो सुख अनुभूति है, वह गौण है। इसलिये यदि सुख के प्रश्न को एक तरफ रखकर मुख्य कार्य शुक्रक्षरण को ले लें. तो वह कार्य पिचकारी की सहायता से हो सकता है। जिस प्रकार एक पुरुष का रक्त दूसरे पुरुष में दिया जा सकता है; उसी प्रकार शुक्र भी पहुंचाया जा सकता है। जिस प्रकार रक्त को देर तक हम सुरक्षित बनाये रख सकते हैं, उसी प्रकार वीर्य को भी सुरक्षित रख सकते हैं। वीर्य को अमेरीका से सुरक्षित रूप में यहां मँगाया भी जा सकता है। जिस प्रकार रुपये से रक्त प्राप्ति सम्भव है, उसी प्रकार शुक्र प्राप्ति असम्भव नहीं। इसलिये टयुवरल संतान उत्पन्न हो सकती है, और होने लगी है। केवल पिचकारी के द्वारा योनिपथ से शुक्र गर्भाशय द्वार तक पहुंचाना मात्र है।

योनिपथ एक मार्ग है। जिस प्रकार घर के मार्ग—आने-जाने के रास्ते में कचरा-मैल पड़ती है उसको झाड़ना-बुहारना पड़ता है, उसी प्रकार इस मार्ग को भी साफ रखने की जरूरत है। इस काय के लिये परमात्मा ने ऐसा बहुत-सी ग्रन्थियाँ बना रक्खी हैं, जो कि एक चिकना, लिस-लिसा स्राव पैदा करती हैं। इस स्राव के कारण यह रास्ता सदा चिकना रहता है, साथ हो सम्भोग क्रिया से इस की दिवारों पर किसी प्रकार की हानि नहीं होती। इसी चिकने स्राव को कोई आश्चर्य स्त्रीयों का शुक्र कहते हैं, और साथ में कहते हैं कि गर्भस्थिति में कोई भाग नहीं लेता, इसलिये इसका विचार नहीं किया जाता। यह स्राव एक खास क्रिया वाला होता है—अर्थात् बहुत ही हल्का क्षारीय है। यदि कीन्हीं कारणों से इसका यह क्षारीय बढ़ जाये या घट जाये या अम्ल हो जाये, तो यह योनि पथ के लिए तथा शुक्र कीट के लिये हानिकारक रहता है। शुक्र कीट अपने जीवन के लिये बहुत ही हलका क्षारीय माध्यम चाहते हैं। जिस प्रकार कि मूत्र की प्रतिक्रिया एक खास अंश तक क्षारीय रहती है। उससे बढ़ने पर हानिकारक है, या उससे घटने पर रोगोत्पत्ति का कारण होती है, उसी प्रकार यह स्राव है। इस स्राव की अतिशय अधिकता प्रदर—(प्रकर्षेण दीर्यते) रोग का कारण है। श्वेत प्रदर का मुख्य कारण योनिपथ में मुख्यतः रहता है और रक्त प्रदर का सम्बन्ध मुख्यतः गर्भाशय से है। अतः प्रदर के लिये योनिपथ की चिकित्सा स्थानिक रूप में आवश्यक है।

स्राव ठीक परिमाण में होता रहे तो मार्ग स्वयं शुद्ध और साफ रहता है। परमात्मा ने सब अवयवों की रचना के अनुसार उनके साफ-सुथरे रहने रहने का प्रबन्ध भी किया है। यह प्रबन्ध तब तक ठीक रहता है, जब तक कि मनुष्य इसे इसके स्वाभाविक रूपमें रहने देता है, परन्तु जब मनुष्य अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करके क्षणिक सुख के लिये

इसे बिगाड़ देता है, तो सब प्रबन्ध बिगड़ जाता है। उदाहरण के लिये जो लड़कियां साइक्लिंग (साइकल चलाना) अधिक करती हैं, उनमें इस योनिपथ पर दबाव पड़ने से इसकी ग्रन्थियों से स्राव अधिक मात्रा में पैदा होने लगता है। अधिक उत्पन्न होने से इसकी क्षारता बदल जाती है, जिससे कीटाणुओं की उत्पत्ति में मदद मिलती है। बस यहां से सूजन, वेदना आदि शिकायतें प्रारम्भ होती हैं; और होती है शिकायत पानी जाने की। यह शिकायत आरम्भ में ऐसी ही होती है; जैसे कि पुरुषों में मलत्याग के समय या अन्य इसी प्रकार के प्रवाहण में मूत्र मार्ग से चिकना, लिसलिसा स्राव आने की होती है। स्त्रियों में यह शिकायत प्रथम प्रातः सोकर उठने के समय प्रतीत होती है। फिर आगे बढ़कर दिन पर पानी जाने की शिकायत में बदल जाती है। इस शिकायत का मुख्य कारण योनिपथ की ग्रन्थियों की अति उत्तेजना या विक्षोभ ही होता है।

गर्भाशय

योनिपथ से मिली गर्भशय्या या गर्भाशय है। इसमें गर्भ रहता है; इसका आकार एक अच्छी नाख के समान है। जिसमें शिर का भाग चौड़ा, बीच का भाग उससे पतला और नीचे का अर्थात ग्रीवा का भाग तंग हो गया है। यह चौड़ाई क्रमशः घटती गई है। ग्रीवा में इसके दो मुख बनते हैं, एक अन्त-र्मुख और दूसरा बाह्य मुख है। इन दोनों मुखों का अन्तर दो या तीन इन्च से अधिक नहीं होता। दो मुख रखने का भी कारण है—यह कारण मुख्यतः वही है कि अन्तः गर्भशय्या सब प्रकार के संक्रमण से सुरक्षित रहे। गर्भाशय के बाह्य मुख का सम्बन्ध योनिपथ से रहता है। साधारणतः गर्भाशय का अन्तः मुख बन्द रहता है। केवल ऋतुकाल के दिनों में खुलता है; और फिर धीरे-धीरे बन्द होता जाताहै।

इस बात को आयुर्वेद में कमल के साथ मिलाकर समझाया गया है। अर्थात् जिस प्रकार कमल सूर्य के उदय होने पर दिन में खुलता-विकसित होता है, और सायंकाल में सूर्य के छिपने पर धीरे-धीरे संकुचित हो जाता है, इसी प्रकार गर्भाशय का मुख ऋतु काल के आने पर खुलता है, और ऋतुकाल बन्द होने पर बन्द हो जाता है। इसी नियम को ध्यान में रखकर संतति नियमन के सूत्रों में एक उपाय यह भी नियत किया गया है कि ऋतुकाल के पन्द्रह दिन पीछे या ग्यारह दिन पीछे सम्भोग करने पर गर्भ धारण रहने की सम्भावना कम रहती है। ऋतुकाल के जितने दिन बाद शीघ्र सम्भोग किया जायेगा, उतना ही गर्भ रहने की अधिक सम्भावना है।

इसी ढंग का एक नियम संतानोत्पत्ति के लिये आयुर्वेद के आचार्यों ने भी बताया है, उनका कहना है कि ऋतुकाल के पीछे जितने दिन में सम्भोग किया जाये (पन्द्रह दिन के अन्दर-अन्दर) उतनी ही सन्तान पुष्ट एवं उत्तम गुणों वाली होती है। कुछ भी हो यह नियम केवल इसी आधार पर है कि गर्भाशय का अन्तः मुख ऋतुकाल बीतने पर बन्द हो जाता है, और ऋतुकाल आने पर खुल जाता है। बाह्य मुख प्रायः खुला रहता है किन्तु गर्भ धारण होने पर यह भी बन्द हो जाता है। परन्तु गर्भ धारण होने पर भी कुछ अवस्थाओं में ये दोनों मुख खुले रह जाते हैं, जैसे कि – अपरा का गर्भाशय की ग्रीवा में संलग्न होना, या गर्भ का नितम्ब के रूप में नीचे आना। अर्थात् जिस अवस्था में गर्भाशय ग्रीवा पर बोझ या भार पड़ता है, उससे यह अन्तः मुख खुल जाता है। अन्तः मुख खुलने से बाह्य

मुख स्वयं खुल जाता है। बाह्य मुख के खुलने से अन्तः मुख साधारणतः स्वयं नहीं खुलता। इस मुख को खोलने के लिये विशेष साधन या उपाय अपेक्षित रहते हैं। जबतक अन्तः मुख न खुले गर्भ का निष्कासन या गर्भाशय में प्रवेश नहीं किया जाता है। यह परम कृपालु परमात्मा की महिमा है कि उसने गर्भाशय में गर्भ को इतनी सावधानी से सुरक्षित रखा है; जहां कि अन्य वस्तु के प्रवेश की बात तो दूर रही, वाह्य वायु भी नहीं जा सकती। परन्तु कई बार यहां एक और भी स्थिति पैदा हो जाती है; जिस प्रकार गुदाकी कपाटियों (अवलियों) के ढीला पड़जानेसे गुदा बाहर आ जाती है, इसी प्रकार गर्भाशय की ग्रीवा की मांस पेशीयों के कमजोर होने से गर्भाशय का मुख पूरी तरह बन्द नहींहोता। इससे एक प्रकार की शिकायत कभी-कभी मिलती है; यह शिकायत आमतौर से बूढ़ी औरतों में जो कि पचास को पार कर चुकती है, उनमें मिलती हैं। इसमें उनकी शिकायत यह रहती है, कि बैठते हुए उनकी योनि से अपान वायु बाहर आती है। जिस प्रकार गुदा से वायु बाहर आती हैं, उसी प्रकार योनिमुख से भी वायु बाहर आती है। यह वायु बैठते हुए गर्भाशय पर पड़े दवाव के कारण उत्पन्न संकोच के कारण आती है। आयुर्वेद—गर्भाशय, गुदा आदि में अपान वायु मानता है। चूंकि मल, मूत्र और गर्भ को बाहर करने का काम अपान वायु का है। इसका अभिप्राय यह है कि इनमें पेशियों की संकुचन शक्ति ढीली पड़ जाती है, जिस प्रकार कि अतिसार में गुदा की मांस पेशियां ढीली पड़ जाती हैं।

गर्भाशय की बनावट में इसकी ग्रीवा या मुख ये ही मुख्य द्वार हैं। परमात्मा ने ही इनको तंग एवं बहुत सुरक्षित बनाया है; जिस प्रकार कि एक किले की या घर की सारी जुम्मेदारी उसके दरवाजे पर निर्भर करती है। इसके लिये एक बाह्य और दूसरा अन्तः द्वार बनाया जाता है। यही बात गर्भाशय के साथ है। एक द्वार के बिगड़ने से, गर्भाशय की सुरक्षा आधी रह जाती है। और दोनों के बिगड़ने से उसकी सम्पूर्ण रक्षा ही समाप्त हो जाती है। ऋतुकाल में दोनो द्वार प्रकृति स्वयं खोलती है; इसलिए उस समय इसकी सुरक्षा बनी रहे, इसलिये खास पालने के नियम ऋतुकाल के लिए शास्त्र में बताए हैं; जिनका विचार ऋतुकाल में करेंगे। यहां पर तो रचना सम्बन्धी विचार है। इसलिए इन द्वारों का महत्त्व समझना जरूरी है।

गर्भाशय-ग्रीवा या उसके मुख-भाग के आगे का भाग साधारण है; वह इसकी रचना सौष्ठव के आधार पर है, कि गर्भ की किस प्रकार से वृद्धि हो, बढ़ने पर उसको सुख और आराम मिले—वह नौ मास तक या पूरे समय तक सुख पूर्वक रह सके, और समय पूरा होने पर सुगमता से बाहर हो जाए। इन सब बातों को ध्यान में रखकर इस गर्भशय्या का आकार—उसकी रचना परमात्मा ने की है। इन सब बातों को छोड़ कर महत्त्व की जो वस्तु है, वह गर्भाशय की स्थिति है। गर्भाशय में गर्भ के बढ़ने से भी गर्भाशय अपनी स्थिति को बनाये रक्खे, वह एक या दूसरी तरफ न झुक जाये इसके लिये परमात्मा ने विशेष प्रबन्ध किया है। आपने देखा है कि कई बार बृक्ष या टहनी फलों के बोझ से एक तरफ झुक जाती है, और कभी-कभी तो टूट भी पड़ती है। इसी प्रकार यह गर्भाशय भी कई बार बोझ के कारण दायें या बायें झुक जाता है या आगे अथवा पीछे दोहरा हो जाता है। ऐसी स्थिति में मूत्राशय या गुदा पर मुड़कर उसको दबाता है।

गर्भाशय अपनी स्थिति बनायेरखे, इसके लिये परमात्मा ने गर्भाशय को अच्छे मजबूत

शक्तिवाले आठ मांस-रज्जुओं (पेशियां) से बांधा है। इनमें से एक तो चौड़ी मांस पेशी है; जो सबसे अधिक बोझ उठाती है। जिस प्रकार की एक वितान या तम्बू रस्सियों से कस कर बंधा होने पर वायु के सब झोंको को सह लेता है; किसी भी ओर को नहीं झुकता; इसी प्रकार यह गर्भाशय इन मांस पेशियों से बंधा होने के कारण-आठ-दस-पन्द्रह प्रसव धारण करने पर भी ढीला या कमजोर नहीं होता, और कभी कभी दो-तीन बच्चे का बोझ भी ठीक उठा लेता है। यह शक्ति या ताकत उसी गर्भाशय में रहती है, कि जिसको प्रसव के बाद उत्तम खुराक मिल जाय।

इसके विपरीत कई गर्भाशय ऐसे नाजुक भी देखने में आये हैं कि दो या तीन मास का गर्भ हुआ कि उनमें बेचैनी या भार अनुभव होने लगा, और स्राव उत्पन्न करके रक्त का बहना आरम्भ हो जाता है, जिससे गर्भ का निकलना जरूरी हो जाता है। इसके साथ ही मेरे देखने में दो-तीन औरतों के सम्बन्ध में यह भी अनुभव हुआ है, कि कन्या के गर्भ में गर्भाशय में कोई भी बेचैनी या गर्भ स्राव नहीं हुआ। परन्तु पुरुष गर्भ के सम्बन्ध में दो-तीन मास के गर्भ में ही बेचैनी रहकर गर्भस्राव हुआ या कराना पड़ा है। साथ ही इसी प्रकार की स्त्रियों में, परन्तु इनसे जो कुछ अधिक शक्तिवाली थीं उनमें गर्भ में कन्या होने से वमन, जी मिचलाना, मुख में छाले, गर्भ स्थिति के बेचैनी करने के लक्षण—कुछ खाया न जाना, वमन की अधिकता अधिक मिले, परन्तु पुरुष गर्भ की अवस्थाओं में कोई भी परेशानी नहीं हुई। इसी अपने अनुभव पर ये औरतें कह देती थीं कि इस बार मेरी सन्तान कन्या या बालक होगी। इस बात का कोई भी निश्चित कारण नहीं मान सकते, केवल वैयक्तिक सैन्सिटिवनेस ही मैं समझता हूं। जिस प्रकार कि किसी मनुष्य को किसी खास रस से उद्वेग या कँपकपी होती है, इसी प्रकार इन औरतों में भी होती है—यह मेरी मान्यता है। कुछ भी हो यह स्थिति कमजोर प्रकृति, या कमजोर गठन, वाली स्त्रियों में मिलती है।

इसके विपरीत मोटी और चर्बीवाली औरतों में दूसरी शिकायत मैंने देखी है, उसे भी देख लीजिये। इन औरतों में मासिक-ऋतु काल की स्थिति क्या रहती है, यह तो ऋतु काल में देखेंगे, परन्तु गर्भाशय चर्बी के कारण अधिक भरा होने से इसका बोझ अधिक हो जाता है। इस बोझ को मांस पेशीयों यो उठानी अधिक सम्भव नहीं होता, साधारणतः उनकी शक्ति से बाहर रहता है। ऐसी अवस्था में वे इसको ढीला स्वतंत्र छोड़ देती है। इससे भार के कारण वह झुक पड़ता है। प्रायः करके इनमें गर्भाशय आगे या पीछे की ओर झुकता है। इसमें मजे की बात यह रहती है कि गर्भाशय के स्रोतों के मुख बन्द रहने से ऋतुकाल ठीक तरह नहीं आता, या विल्कुल बन्द रहता है। अब इस झुकाव का भार और ऋतुकाल का न आना-इनमें भ्रम कर देता है, कि ये गर्भवती हैं, अर्थात् इनमें गर्भ है।

अब यदि किसी कारणसे जैसे कि ऋतुके दबावसे या अन्य खान पानके कारण ऋतु जोर आ जाती है,तो वो कम होनेसे गर्भाशय घट जाता है,उसका स्थान भी प्रायः ठीक हो जाता है, तब वे समझने लगती हैं कि गर्भ नष्ट हो गया—भूत ले गये हैं। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं होती, इस प्रकार स्त्रियों के लिये मैंने जो उत्तम चिकित्सा या उपाय देखा है, वह उत्तम कोटि के पुरातन मद्य हैं। आसव या अरिष्टों की अपेक्षा मैंने विलायती मद्य-शीघ्र एवं उत्तम गुणकारी पाये हैं। मेरी मान्यता है कि यदि पुराने तीक्ष्ण मद्य

चाहे वह आसव या अरिष्टहीक्यों न हों, जो कि कटु एवं तिक्त, कषाय रस हों (विशेषतः कटु) वे अति उत्तम रहे हैं। इस प्रकार मोटी एवं चर्बी वाली स्त्रियों में गर्भाशय का भार मांस पेशीयां पूरी तरह न उठा सकने के कारण धीरे-धीरे ढीली पड़ जाती हैं, जिससे गर्भाशय स्वतंत्र हो जाता है।

इसके विपरीत प्रथम अवस्था में गर्भाशय स्वयं इतना नाजुक रहता है, कि वह भार को नहीं सहता ; पेशीयां उसकी स्थिति बनाये रखती हैं। मोटी स्थितियों में गर्भ धृति देर में या कम होती है ; इसके विपरीत पतली, पित्त प्रकृति स्त्रियों में इनकी अपेक्षा जल्दी होती है। यही मांसपेशीयां प्रसवकाल में गर्भ को बाहर आने में गर्भाशय को न झुकने देने में, अपनी स्थिति बनाये रखने में अतिशय मदद करती हैं। चूंकि प्रसव काल में गर्भाशय को अतिशय श्रम उठाना पड़ता है। उस समय ये पेशीयां ही इसे रस्सीयों की भांति बांधे रहती हैं, जिससे यह स्थान से नहीं खिसकता।

गर्भाशय के शिरो भाग में दोनों ओर डिम्ब प्रणाली का सम्बन्ध रहता है। साधारणतः वैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि एक मास में एक ओर के पार्श्व से डिम्ब (स्त्रीबीज) आता है, और दूसरी ओर से या दूसरे पार्श्व में से दूसरे महीने आता है। इस विषय में उनका यह विचार कहांतक ठीक है, यह कह नहीं सकते। परन्तु जब डिम्बशोथ या डिम्ब विद्रधि के कारण एक डिम्ब ग्रन्थि नष्ट हो चुकी होती है, तब भी प्रतिमास डिम्ब आता देखा गया है। कुछ भी हो, डिम्ब गर्भाशय में आकर उसके ऊपर के भाग में चिपक जाता है। और वहां चिपका हुआ शुक्र कीट (पुरुष बीज) की प्रतीक्षा करता रहता है। यदि वह उसको मिल गया और प्राक्तन कर्म के कारण आत्मा का संचार उनमें मिलते समय हो गया, तब तो गर्भ बन जाता है, और यदि पुरुष बीज नहीं मिलता, या आत्मा का संचार नहीं हुआ तो वहीं सूख जाता है, जो कि नूतन मासिक धर्म के साथ मिलकर बाहर हो जाता है। इसी से आयुर्वेद में सुनहरी वाक्यों से ऋषि ने लिखा है कि "गते पुराणे रजसि"। इन शब्दों को आप क्या अर्थ करते हैं, मुझे पता नहीं, परन्तु यह स्पष्ट है कि पुरातन स्त्री बीज के निकल जाने पर अब जब नया स्त्री बीज आता है, उस समय किया सम्भोग अधिक लाभप्रद होता है।

इस गर्भाशय को क्षेत्र (खेत) भी कहा है। जिस प्रकार फसल या अन्न बोने से पहले खेत का संस्कार-जोतना, पानी देना, घास निकालना आदि कार्य करने होते हैं, उसी प्रकार इस गर्भाशय के क्षेत्रीकरण (खेती करने योग्य-गर्भ रूपी बीज बोने योग्य) करने की भी जरूरत है, उसकी भी विधि आयुर्वेद शास्त्र में है। ऊसर भूमिको जिस प्रकार खेती के योग्य बनाते हैं, उसी प्रकार बांझ स्त्रियों को भी गर्भ धृति के योग्य बनाया जाता है। जिस प्रकार कोई भूमि ऐसी उत्तम उर्वरा होती है कि आपको उसकी मिट्टी सुधारने की, या खाद देने की कोई जरूरत ही नहीं पड़ती ; आप केवल बीज डाल दीजिये, बस वह उग जाता है, उसी प्रकार कई औरतें ऐसी होती हैं कि वे तुरन्त गर्भवती हो जाती हैं, यहां तक कि छठे या सातवें मास प्रसव के तुरन्त पीछे पुनः गर्भ धारण कर लेती हैं। इस प्रकार प्रति साल इनको बच्चा पैदा होता है। और कई ऐसी रेतीली भूमि की तरह होती हैं कि कितने ही बीज डालें उनमें गर्भ धृति नहीं होती। और दूसरी औरतों में मेहनत से होती है ; जिस प्रकार कि किसी भूमिमें खाद, पानी देकर अनाज पैदा किया जाता है। इसका नाम क्षेत्रीकरण है। यह क्षेत्रीकरण स्त्रियों में गर्भाशय के शोधन रूप में किया जाता है। वास्तव में क्षेत्र तो गर्भाशय ही है। इसी गर्भाशय को हम उचित उपायों से गर्भ रूपी बीज के जन्मने के योग्य बनाते हैं। इसी लिये आयुर्वेद में गर्भाशय को क्षेत्र कहा है।

(क्रमशः)

पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज-बम्बई

कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री, बी० ए०

देवी 'मुम्बादेवी' के इस विशाल नगरी 'मुम्बापुरी' (बम्बई का विशुद्ध नाम मुम्बादेवी के नाम पर मुम्बापुरी है। नगर के केन्द्र में इस देवी का सुविशाल मन्दिर विराजमान है) में इस देवीके मंदिर से उत्तर दिशा में नगर के पश्चिम पार्श्व अरब महासागर के किनारे वरली नामक उपनगर के नाके पर उक्त संस्था अवस्थित है। यहां के सुविशाल और भव्य भवन एवं विस्तृत प्राङ्गण उपनगरों को मुख्य नगर से जोड़ने वाली समुद्रोपान्तवर्ती राज मार्ग पर दृष्टि गोचर होते हैं जो दानकर्त्ता श्री० आनन्दीलाल जी पोद्दार की पवित्र भावना का मूर्तिमान रूप है। कालेज कम्पाउन्ड के चारो तरफ सीमेन्ट की पक्की सड़क है। नगर के किनारे धूल, विषैले वायु से मुक्त समुद्र की शीतल और स्वच्छ समीर सेवित यह कालेज तथा आतुरालय आयुर्वेद के विचार से अति उत्तम स्थान पर स्थित है। बम्बई के अति उत्तम स्वास्थ्य केन्द्रों में से है।

इस कालेज का उद्घाटन १७ जौलाई १९४१ को बम्बई प्रान्तीय गवर्नर के परामर्श दाता श्री०—H. F. Knight C. I. F., I. C. S., J. P., के शुभ हस्त से हुआ था और आतुरालय का उद्घाटन १४ जनवरी सन् १९४२ को।

ये दोनों संस्थायें श्री० रा. आ. पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज और श्री० महादेवी आ० पोद्दार हास्पिटल इस प्रांत में ही नहीं भारत भर में अपने ढंग की अनूठी है। जहां शिक्षा का स्तर (Standard) प्रत्यक्ष ज्ञान की सुविधा (Practical Training) और उत्तमता की समता अन्यत्र शायद ही मिल सके। यहां के अनेक स्नातक यूरोप और अमेरिका मेडिकल कालेजों में प्रविष्ट होकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। पाठकों की जानकारी के लिये संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

प्रबन्ध

ये दोनों संस्थायें पूर्ण रूपेण सरकारी हैं। जिनका प्रबन्ध प्रान्तीय सरकार के मेडिकल विभाग के अधीन है। प्रान्त की अन्य मेडिकल शिक्षण संस्थाओं के समान यह भी 'सर्जन जनरल' बम्बई गवर्नमेंट के अधीन है। यू० पी० में इसी अधिकारी को 'इन्सपेक्टर जनरल सिविल हास्पिटल' भी कहा जाता है। उक्त संस्थाओं की व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालन करने के लिये निम्न-लिखित महानुभावों की एक समिति बनी हुई है।

परामर्श दातृ समिति

१—माननीय श्रीयुत बालासाहेब खेर प्रधानामात्य बम्बई गवर्नमेन्ट।

२—माननीय श्री एम० डी० डी० गिल्डर स्वास्थ्य सचिव।

३—श्री सेठ रामदेव जी पोद्दार।

४—श्री सेठ रामनाथ जी पोद्दार जे० पी०

५—डा० सेटना साहेब, प्रिन्सिपल ग्रान्ट मेडिकल कालेज।

६—डा० आशानन्द जी पञ्चरत्न, M. B. B. S. आयुर्वेदाचार्य। स्वपदेन उक्त परामर्शदातृ-समिति के मन्त्री हैं। यह समिति १९३९

से ही (कालेज तथा आतुरालय की आधारशिला स्थापन काल से ही) यह कुछ साधारण उलट-फेर के साथ कालेज के प्रबन्ध सञ्चालन में सुचारु-रूप से सहायता देती रही है।

इस समिति का संगठन

१—सरकारी सदस्य—माननीय श्रीबालासाहेब खेर, प्रधानामात्य, बम्बई प्रान्त तथा माननीय श्री डा० एम० डी० डी० गिल्डर, स्वास्थ्य सचिव प्रारम्भ से ही इसके सदस्य हैं। तीसरे सरकारी सदस्य प्रथम सर्जन-जनरल हुआ करते थे, किन्तु १९४२ से उनके स्थान पर प्रिन्सिपल ग्रान्ट मेडिकल कालेज, बम्बई इसके सदस्य होते हैं।

दानकर्ता के प्रतिनिधि

१—श्री सेठ रामदेवजी तथा सेठ रामनाथजी पोद्दार (दानकर्ता श्री सेठ आनन्दीलालजीके पुत्र द्वय) इसके सदस्य चले आ रहे हैं।

प्रिन्सिपल, श्री० रा० आ० पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज तथा सुपरिंटेडेन्ट, श्री म० आ० पोद्दार हास्पिटल स्वपद से ही इसके मन्त्री हैं।

दानवीर पिता के सुयोग्य पुत्रों ने सरकारी योजना में फार्मेसी का स्थान न होने पर भी, श्री० प्रिन्सीपल डा० आशानन्द जी की प्रेरणासे २०,०००) की लागत का फार्मेसी भवन निर्माण कर दिया है।

प्रवेश

प्रवेश्य-छात्रों की संख्या नियत है। आतुरालय में नियत आतुर शय्याओं के अनुपात से ही प्रवेश संख्या नियत की जाती है ताकि रोग विज्ञान और चिकित्सा में छात्रों को प्रत्यक्ष ज्ञान सुविधापूर्व हो सके।

प्रारंभ में प्रवेश्य छात्रों की संख्या २४ थी। किन्तु विगत वर्षों से आतुरालय के भी बढ़ा दिये जाने के कारण यह संख्या अब ४५ कर दी गई है। इस पर भी अनेक प्रवेशार्थियों को निराश होना पड़ता है। यद्यपि कालेज में छात्रावास (hostel) का अभाव है तथापि यह कालेज सुप्रबन्ध और शिक्षा के उच्चस्तर के कारण B. A., B. S. C., I. S. C., शास्त्री, साहित्य-व्याकरण-आचार्य आदि उच्चशिक्षित प्रवेशार्थियों के आकर्षण का बिन्दु बन गया है। अभी हाल में बंबई सरकार ने प्रान्त के शिक्षार्थियों की सुविधा के विचार से 'बान्दरा' नामक उपनगर में छात्रावास बनाया है। उसमें इस कालेज के भी २० छात्रों के निवास का प्रबन्ध किया गया है। इस समय १५२ छात्र अध्ययन कर रहे हैं।

प्रवेशपत्र (छपा हुआ फार्म जो कालेज आफिस से मांगने पर भेजा जाता है) १० जून तक भेज देना चाहिये। प्रवेश योग्यता के अनुसार दिया जाता है। स्वीकृति या निषेध की सूचना प्रार्थी को भेज दी जाती है।

प्रवेश योग्यता

१—मेट्रिक या एन्ट्रेन्स परीक्षा संस्कृत के साथ बम्बई युनिवर्सिटी या तत्सम अन्य युनिवर्सिटी की २—एन्ट्रेन्स (प्रथम या द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण) श्रीमती नाथाबाई कुरसी बारी युनिवर्सिटी बम्बई ३—प्रवेश-परीक्षा-महाराष्ट्र तिलक विद्यापीठ पूना ४—"विनीता" गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद ५—स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट—बोर्ड आफ स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट बम्बई, यदि संस्कृत, फिजिक्स और केमिस्ट्री के साथ पास हों। ६—एम० बी० बी० एस० परीक्षोत्तीर्ण डाक्टर को केवल दो वर्ष में ही परीक्षा देने की आज्ञा मिल सकती है।

कालेज के अध्यापक वर्ग

कविराज डॉ० आशानन्द जी पंचरत्न M. B. B. S., B. M. S., आयुर्वेदाचार्य प्रिन्सिपल हैं।

कविराज महेन्द्र कुमार शास्त्री, वैद्यवाचस्पति आयुर्वेदाचार्य. B. A. रसशास्त्र और-निघण्टु के अध्यापक हैं।

प्रोफेसर अनन्त नारायण नाम जोशी M.S.C. (Botany) M. S. C (Chem) विज्ञान विषयों के प्राध्यापक हैं।

श्री वैद्य रामशिरोमणि द्विवेदी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, निदान और चिकित्सा के प्राध्यापक हैं।

वैद्य शान्तीलाल ज० मेहता एम० बि० बि० एस शारीर शास्त्र के अध्यापक हैं।

वैद्य राममूर्ति मिश्रा व्याकरणाचार्य, ए० एम० एम० एस० (बि० एच० यू०) निदान शारीर क्रिया के अध्यापक हैं।

डॉ० डी० एम० भाटवडेकर एम० बि० बि० एस०, बी० एम० एस०-व्यवहार आयुर्वेद के अध्यापक हैं।

वैद्य नीलकण्ठ देवराय देशपांडे ए० एम० एम० एस० (बी० एच० यू०) आयुर्वेद विशारद पदार्थविज्ञान और अष्टाङ्ग हृदय के अध्यापक हैं।

डॉ० जॉब मोर्डेकाइ एम० डी० (बम्बई) पाश्चात्य निदान चिकित्सा के अध्यापक हैं।

डा० उ० च० मेहता एम० एस० (बम्बई) पाश्चात्य शल्य शास्त्र के अध्यापक हैं।

डॉ० म० स० तलवलकर एम० डी (बम्बई) स्त्रीरोग और प्रसव विज्ञान के अध्यापक हैं।

डॉ० व० ब० देसाई, एम० बि० बि० एस० पश्चात्य शारीर क्रिया शास्त्र के अध्यापक हैं।

डॉ द० फ० सोनावाला, एम० बि० बि० एस० एच० एच० वाई०, हाइजीन के अध्यापक हैं।

वैद्य सदाशिव परशुराम खरे आयुर्वेदतीर्थ अगद और स्वास्थ्य के अध्यापक तथा फार्मसी के वैद्य हैं।

वैद्य अमृतलाल म० त्रिवेदी आयुर्वेद विशारद डी० ए० एस० एफ० (बम्बई) शल्य शालक्य के अध्यापक हैं।

वैद्य लाभशंकर ब० उपाध्याय डी० ए० एस० एफ० आयुर्वेद विशारद, स्त्री—बाल और प्रसूति विज्ञान के अध्यापक हैं।

वैद्य रामकृष्ण पु० भट्ट डी० ए० एस० एफ० आयुर्वेद विशारद, शरीर रचना के अध्यापक तथा शवच्छेदन-सहायक हैं।

आतुरालय

पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज के साथ श्रीमती महादेवी आनन्दीलाल आतुरालय भी है, इसमें ८० रोगियों के रहने का प्रबन्ध है चिकित्सा तथा भोजनादि का समस्त व्यय सरकार वहन करती है। इसके निम्न लिखित विभाग हैं।

१ औषधालय—जहाँ बाहर के रोगियों को मुफ्त दवाई दी जाती है।

(अ) कायचिकित्सा विभाग

(आ) शल्य विभाग

(इ) स्त्री-रोग विभाग

आतुरालय में भी चिकित्सा-सम्बन्धी विभाग इसी प्रकार हैं। प्रसूति विभाग अधिक है।

भारतीय संसद में प्रश्नोत्तर

दिल्ली १५ मार्च। डा० वी० सुब्रह्मण्यम् (मद्रास) ने जिन्होंने देश के विशाल जनसमुदाय के लिये चिकित्सा-सुविधा की अपर्याप्त अवस्था की शिकायत की थी, आज कहा कि यह परिस्थिति और भी खराब हो जायगी, केन्द्रीय सरकार के द्वारा दिये गये उस आदेश के द्वारा, जिसमें उन्होंने कहा है कि मुख्य रूप से आधुनिक औषधों का उपयोग किया जायेगा। श्री सुब्रह्मण्यम् ने कहा कि जबतक इस आदेश में संशोधन नहीं किया जाता, राज्यों को सैकड़ों आयुर्वेदिक और अन्य चिकित्सा-संस्थायें बंद कर देनी पड़ेंगी। उन्होंने अनुरोध किया कि केन्द्रीय सरकार आयुर्वेदीय चिकित्सकों को रजिस्टर करने के विषय में कानून बनाये, एक संशोधन-कोष स्थापित करे ताकि देशी चिकित्सा-पद्धतियों का विकास हो सके। चिकित्सा-विषयक शिक्षा का एक रूप मापदण्ड निश्चित करे और वर्तमान चिकित्सा-विषयक शिक्षा-संस्थाओं का स्तर ऊंचा करें।

पश्चिमी बङ्गाल के श्री मिहिर लाल चट्टोपाध्याय ने स्वास्थ्य-मंत्रालय की इस असफलता की बहुत आलोचना की कि वह खाने-पीने की चीजों में मिलावट रोकने में असफल रहा। उन्होंने खास तौर से सरसों के तेल में मिलावट की ओर संकेत किया और कहा कि खाने-पीने की एक भी चीज अपनी शुद्ध अवस्था में नहीं मिल रही है। आपने कहा कि इस बुराई को रोकने में स्वास्थ्यमन्त्रिणी की असफलता उनके कर्त्तव्यपालन में त्रुटि का परिचय देती है।

औषधों में मिलावट :--

श्रीमती अम्मुस्वामिनाथन और श्रीमती जयश्री राय जी ने मन्त्रालय की सफलताओं पर उसको बधाई दी। श्रीमती स्वामिनाथन ने औषधों में मिलावट के प्रश्न को हाथ में लेने के लिये स्वास्थ्य-मन्त्रणालय से अनुरोध किया और श्रीमती राय ने सुझाव दिया कि देहातों में मातृत्व की सुविधाओं का विस्तार किया जाय और स्कूल जानेवाले बच्चों को राज्य की ओर से दूध दिया जाय।

स्वास्थ्यमन्त्रिणी श्रीमती अमृत कौर ने बहस का उत्तर देते हुए कहा कि उन्होंने राज्य को पहले भी कहा है कि मिलावट के मामले में कड़े-से-कड़े कानून बनाने की आवश्यकता है। आपने कहा कि इस विषय के सभी वर्तमान कानूनों में आप संशोधन का विचार रखती हैं।

स्वास्थ्यमंत्रिणी ने कहा कि केवल कानून बना देने से ही यह बुराई नहीं मिट जायेगी; इसके लिये जनता का भी पूरा सहयोग आवश्यक है। आपने इस बात पर जोर दिया कि खाद्यान्न, दूध और खाने योग्य तैलों का उत्पादन बढ़ना चाहिये, ताकि इस तरह की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों की ओर लोगों का लोभ न हो और उन्हें इसके लिये अवसर भी न मिले।

देशी चिकित्सा-पद्धति को प्रोत्साहन देने के प्रश्न पर बोलते हुए श्रीमती अमृत कौर ने कहा कि कोई भी चिकित्सा-पद्धति जो वैज्ञानिक परीक्षण की कसौटी पर खरी न उतरे, उस पर राज्य की ओर से प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए, ताकि हमारे देश में वर्तमान

समय में जो नीम हकीमी फैल रही है, वह रुके। साथ ही साथ आपने कहा कि राज्य आयुर्वेदीय और यूनानी चिकित्सा-पद्धतियों को प्रगतिवान बनाने के लिये उत्सुक है और इसके लिये एक संशोधन मन्दिर स्थापित करने के लिए दो लाख रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया है। इन चिकित्सापद्धतियों के भावी चिकित्सकों के लिए पाठ्यक्रम बनाने के विषय में और संशोधन-मंदिर कहां और कैसे स्थापित किया जाय, इस विषय में रिपोर्ट देने के लिये एक कमेटी नियुक्त करने का प्रस्ताव किया गया था। आपने कहा कि सरकार देशी औषधें प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न करेगी। आपने इन चिकित्सापद्धतियों के चिकित्सकों से अनुरोध किया कि वे स्वास्थ्य मंत्रणालय के अंतर्गत विशेष शिक्षण प्राप्त करें, ताकि ये चिकित्सापद्धतियां देहातों में और भी अधिक स्वस्थ्य आधार पर स्थापित हो सकें।

पश्चिमी बंगाल में

कलकत्ता १८ मार्च—

आज पश्चिमी बंगाल की एसेंबली में प्रधान मंत्री डा० बी० सी० राय ने जनता से अपील की कि वे सरकार को सहयोग दें, ताकि चिकित्सा-सहायता और अन्य जनस्वास्थ्य-विषयक उनके प्रयत्न सफल हो सकें।

डा० राय अपने मंत्रालय की ओर हाउस के सामने 'चिकित्सा' शीर्षक के अंतर्गत तीन करोड़ १ लाख ६७ हजार रुपयों की और 'जनस्वास्थ्य' शीर्षक अंतर्गत ७७ लाख ८५ हजार रुपये की मांग रख रहे थे।

प्रधान मंत्री महोदय ने कहा कि राज्य की सरकार भोर कमेटी के सुझावों को कार्यान्वित करने का प्रयत्न कर रही है और इस दिशा में कुछ प्रगति हो चुकी है। आपने कहा कि सरकार के सामने सब से बड़ी कठिनाई आर्थिक और सुशिक्षित अधिकारियों की है।

स्थिति को स्पष्ट करते हुए प्रधान मंत्री ने कहा कि जब भोर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की थी, प्रति व्यक्ति के लिये चिकित्सा का खर्च वार्षिक सात आने निश्चित हुआ था जब कि इङ्गलैण्ड और अमेरिका में यह खर्च क्रमशः ३८ रुपये और पचपन रुपये था। डा० राय ने उन देशों की परिस्थिति से भारत की परिस्थिति की तुलना केवल एक बात में करना पसन्द किया। आपने कहा कि भारत में जनता की ओर से जनस्वास्थ्य के विषयों में सरकार को उतना सहयोग नहीं मिलता, जितना कि वह चाहती है और उसके लिये आवश्यक है। यह भी एक कारण है कि जनस्वास्थ्य की समस्या हमारे देश में संतोषजनक रूप से नहीं सुलझती।

सुशिक्षित आदमियों की आवश्यकता

सुशिक्षित कार्यकर्ताओं के विषय में बोलते हुए प्रधान मंत्री ने कहा कि जब तक हमारे पास सुशिक्षित कार्यकर्ता न हों, तब तक जनस्वास्थ्य-केन्द्र और चिकित्सालय खोलते चले जाने से कोई लाभ नहीं है।

आपने बताया कि पश्चिमी बंगाल की सरकार यहां की ढाई करोड़ जनता के लिये केवल चिकित्सा-सहायता के लिये ३ करोड़ से कुछ अधिक खर्च करने का विचार कर रही है। इसका अर्थ होगा, प्रति व्यक्ति सवा रुपया वार्षिक। इसके अलावा जनस्वास्थ्य के लिये सरकार ७५ लाख रुपये खर्च कर रही है। इस प्रकार सामन्य दृष्टि से जनस्वास्थ्य और चिकित्सा पर खर्च १९४५ की अपेक्षा तीन गुना बढ़ गया है। इसके अलावा सरकार के अन्य विभाग जैसे कि रेलवे, उद्योग-विभाग आदि भी इस सम्बन्ध में काफी खर्च कर रहे हैं।

डा० रायने कहा कि फिर भी हम सन्तुष्ट नहीं हैं। हम अनुभव करते हैं कि हम ने समस्या को पूरी तरह नहीं पकड़ा है। जब तक हम मृत्युसंख्या का अनुपात कम नहीं कर लेते, तब तक हमने कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त की। पश्चिमी बंगाल में प्रतिवर्ष ५०% मृत्यु ऐसे रोगों से होती है, जिनको कि पूर्वप्रतिबन्ध से रोका जा सकता है। जबतक हम इन प्रतिबन्ध-योग्य समझी जाने वाली बीमारियों से होने वाली मृत्युसंख्या को कम नहीं कर लेते, तबतक हम संतुष्ट नहीं हो सकते। इस प्रान्त में लोग सबसे अधिक जिन रोगों के शिकार होते हैं, वे हैं—मलेरिया, अतिसार, आंत्र विकार इत्यादि। और एक से लेकर पांच वर्ष तक के बच्चों का मृत्युमान चिन्ताजनक है।

भोर कमेटी की योजना :—

डा० राय ने तब भोर कमेटी की योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की और बताया कि सरकार इस योजना के अनुसार चलने का प्रयत्न कर रही है। कलकत्ता में सात बड़े अस्पताल हैं। सरकार ने व्यक्तिगत प्रयत्नों से चलने वाले बत्तीस चिकित्सालय अपने निरीक्षण में ले लिये हैं। इसके अलावा सरकार एक सौ तैंतालीस A. G. अस्पताल और ७० F. R. E. अस्पताल चला रही है। सरकार ने इन अस्पतालों को नवीन रूप देना प्रारम्भ कर दिया है और आशा की जाती है कि अगले दो वर्षों में राज्य के पास तीन हजार शय्याओं से युक्त ग्राम्य अस्पताल हो जायँगे।

यक्ष्मा-चिकित्सालयः—

प्रधान मंत्री ने कहा कि सरकार संक्रामक रोगों और यक्ष्मा के चिकित्सालय स्थापित करने और उनका विस्तार करने की ओर विशेष ध्यान दे रही है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही दीघा (मिदनापुर) में दो सौ शय्याओं वाला एक यक्ष्मा-चिकित्सालय खुल जायेगा। इस वर्ष कंचनपाड़ा के यक्ष्मा-चिकित्सालय में उसकी वर्तमान चार सौ बीस शय्याओं में अस्सी की और कुरसेओं के यक्ष्मा-चिकित्सालय की पचास शय्याओं में पचीस की वृद्धि की जायगी। डा० राय ने कहा कि पश्चिमी बंगाल में केवल यक्ष्मा के ही रोगी बीस से तीस लाख तक की संख्यामें होंगे, जब कि उपलब्ध कुल शय्याओं की संख्या १५०० से अधिक नहीं है। यह एक कठिन समस्या है।

उपचारिकाओं की आवश्यकता पर बोलते हुए प्रधान मन्त्री ने कहा कि वर्दवान में तथा अन्य स्थानों पर उपचारिकाओं के शिक्षण-केन्द्र खोले गये हैं। वर्तमान आवश्यकताओं को देखते हुये उपचारिकाओं की संख्या बहुत ही कम है। डा० राय ने शिकायत की कि शिक्षार्थियों का उपयोग संस्थाओं की आवश्यकताओं के लिये इस प्रकार किया जा रहा है कि उनके समुचित शिक्षण में बाधा पड़ती है।

डा० राय ने यह भी जिक्र किया कि वे पश्चिमी बंगाल के अधिकारियों के परीक्षण के लिये मनोविज्ञान के विशेषज्ञों को नियुक्त करने का भी विचार कर रहे हैं।

श्रीयुत शिवनाथ बनर्जी—एसेम्बली के सदस्यों के लिए भी ? (हँसी)

डा० राय—सब के लिये नहीं, केवल उनके लिए जिनकी कि कुछ विशेष विचारधारायें हैं।

जनस्वास्थ्य—

प्रधान मन्त्री ने कहा कि जनस्वास्थ्य के लिये सरकार अपना ध्यान क्षयरोगों के पूर्व प्रतिबन्ध पर एकाग्र कर रही है—मलेरिया, हैजा, चेचक, यक्ष्मा,

प्लेग और कुष्ठ इन रोगों के प्रतिबन्धक उपाय करने में चार सौ चिकित्सा-विशारद और दो सौ घूमते-फिरते दल काम कर रहे हैं। ३६ मातृत्व और शिशु-स्वास्थ्य-केन्द्र भी देहातों में खोले गये हैं और दस अभी बन रहे हैं।

राजस्थान सरकार की योजना

जयपुर १३ मार्च। राजस्थान सरकार ने राज्य में चलने वाली विभिन्न आयुर्वेदीय संस्थाओं के पुनर्गठन और संगठन के लिये एक योजना स्वीकार की है। आयुर्वेदीय विभाग के अन्तर्गत निम्न-लिखित उप-विभाग होंगे। शिक्षण-विषयक, जो कि आयुर्वेदीय महाविद्यालयों और अन्य सरकारी और गैर सरकारी शिक्षा-संस्थाओं से सम्बन्धित होगा; राजस्थान में चलने वाले औषधालयों का निरीक्षण; रसायनशालाओं किंवा फार्मेसियों का निरीक्षण; और आयुर्वेदीय तथा यूनानी पद्धतियों के चिकित्सकों का रजिस्ट्रेशन।

डाइरेक्टर और प्रिन्सिपल के पद एक दूसरे से अलग होंगे। प्रिन्सिपल जयपुर और उदयपुर के दोनों आयुर्वेदीय महाविद्यालयों का प्रबन्ध होगा और डाइरेक्टर औषधालयों के संचालन के लिये उत्तरदायी होंगे।

आयुर्वेदीय और यूनानी पद्धतियों के चिकित्सकों के रजिस्ट्रेशन के लिए एक बोर्ड संगठित किया जायेगा।

जयपुर, जोधपुर और उदयपुर में तीन रसायन-शालाएँ रहेंगी, जिनका नियंत्रण एक प्रबन्धक के हाथ में रहेगा, जिसका कार्यालय जयपुर में रहेगा। रसायनशालाएँ बार्ड के द्वारा आर्थिक दृष्टिकोण से संचालित की जायेंगी।

उत्तर प्रदेश विधान-सभा में

पं हरगोविन्द पन्त जी के प्रश्न तथा उनपर राज्य द्वारा दिये गये उत्तर

प्र०—संयुक्तप्रान्त में कुल कितने आयुर्वेदिक तथा यूनानी राजकीय चिकित्सालय हैं?

उ०—प्रान्त में कुल ३७२ आयुर्वेदिक और यूनानी राजकीय चिकित्सालय हैं।

प्र०—इन चिकित्सालयों को कार्य करते हुए अधिक से अधिक कितने वर्ष हो चुके हैं?

उ०—इनमें से सबसे पुराने चिकित्सालय गत १० वर्षों से कार्य कर रहे हैं।

प्र०—क्या इन चिकित्सालयों के लिए कोई नियम-पुस्तक (manual) है?

उ०—जी नहीं।

प्र०—यदि नहीं तो (क) इतने वर्षों बाद भी कोई नियम-पुस्तक क्यों नहीं बनायी गयी? (ख) बिना ऐसी किसी नियम-पुस्तक के इन चिकित्सालयों के कर्मचारियों को उनके कर्तव्य का ज्ञान कैसे होता है? (ग) ऐसी अवस्था में किसी कर्मचारी द्वारा कर्तव्य में त्रुटि रह जाने पर उसके दोष का निर्णय किस आधार पर किया जाता है?

उ०—(क) यह योजना जिसके अन्तर्गत चिकित्सालय पहिले स्थापित किये गये थे, एक अस्थायी योजना थी और इसलिए कोई नियम-पुस्तक (मैनुअल) नहीं बनाई गई थी।

(ख) इस सम्बन्ध में साधारण आदेश समय-समय पर जारी किये जाते रहे हैं।

(ग) कर्मचारियों द्वारा काम में त्रुटि रह जाने पर उनके दोष का निर्णय वर्तमान मेडिकल मैनुअल एलोपैथिक के नियमों के तथा उन नियमों के अनुसार जो सभी सरकारी कर्मचारियों पर साधारण रूप से लागू किया जाता है।

प्र०—क्या सरकार कृपया बतलायेगी कि अब तक ऐसे कितने कर्मचारी दोषी ठहराये जाकर दण्डित हुए हैं।

उ०—दोषी ठहराये हुए कर्मचारियों की संख्या ठीक बतलाना कठिन है। दोषों की गम्भीरता के अनुसार समय-समय पर अनेक कर्मचारियों को भिन्न-भिन्न दण्ड दिये गये हैं।

प्र०—(क) क्या इन चिकित्सालयों के वैद्यों तथा हकीमों को प्राइवेट प्रैक्टिस करने की आज्ञा है ?

(ख) यदि हां, तो ऐसी आज्ञा कब दी गई थी !

(ग) क्या इस विषय पर कोई स्पष्ट नियम बने हैं ? यदि हां, तो क्या ?

उ०—(क) जी हां।

(ख) १९४१ ई० में

(ग) जी नहीं।

प्र०—इन चिकित्सालयों के वैद्यों तथा हकीमों को अपने चिकित्सालयों से कितने मील दूर तक के गांवों में रोगियों को उनके घर पर देखने जाने की आज्ञा है ?

उ०—कोई निश्चित दूरी निर्धारित नहीं है।

प्र०—(क) इस प्रकार रोगियों को उनके घर पर देखने जाने की क्या कोई फीस निश्चित है ? यदि हां, तो कितनी दूरी के लिये क्या क्या दरें हैं ?

(ख) उक्त दर कब निश्चित हुई थी ?

(ग) क्या रात्रि में जाने की दर में कोई भेद भी है ?

(घ) क्या महंगाई के कारण उक्त दरों में कोई वृद्धि हुई है या होने जा रही है ?

उ०—(क) एक रुपया प्रति रोगी प्रतिवार की फीस निर्धारित की गई है। दूरी के आधार पर कोई दरें निश्चित नहीं की गई हैं।

(ख) १९४२ ई० में।

(ग) जी नहीं।

(घ) कोई वृद्धि नहीं हुई है। यह विषय सरकार के विचाराधीन है।

प्र०—क्या इन चिकित्सालयों को साधारण शल्यकर्म (simple operation) के शस्त्र (ihstruments) दिये जाते हैं ?

उ०—जी नहीं। इन चिकित्सालयों के केवल प्राथमिक उपचार तथा व्रण बन्धन (फस्ट एड एवं सरजीकल ड्रेसिंग) के उपयुक्त कुछ शस्त्र सन् १९४८ ई० से दिए जाने लगे हैं।

प्र०—(क) यदि नहीं, तो क्या प्राइवेट प्रैक्टिस की आज्ञा होने के बाद से इन चिकित्सालयों से सम्बन्धित शल्य-चिकित्सा (Surgery) शिक्षा प्राप्त वैद्य या हकीम निजी शस्त्रों से शल्य कर्म कर सकते हैं ?

(ख) यदि नहीं, तो क्या उसकी जानकारी के लिये ऐसी कोई निषेधात्मक आज्ञा जारी की गई है ? यदि हां, तो कब और क्या ?

(ग ऐसी आज्ञा जारी करने में सरकार का क्या उद्देश्य है ?

(घ) क्या ऐसी आज्ञा जारी करने से पूर्व सरकार ने इन्डियन मेडिसिन एक्ट (Act X of 1939) की धारा ४० पर विचार किया था ?

(ङ) क्या ऐसी आज्ञा जारी करने से पूर्व सरकार ने दूरस्थ ग्रामों की जनता की सुविधा का भी विचार किया था ?

उ०—(क) यदि उन्हें उचित ज्ञान व साधन प्राप्त हों तो शल्यकर्म कर सकते हैं। (यू० पी० इंडियन मेडीसिन ऐक्ट सन् १९३९ के अनुसार)

(ख) प्राइवेट प्रैक्टिस में निजी शस्त्रों से शल्यकर्म करने या न करने के सम्बन्ध में कोई सरकारी आज्ञा जारी नहीं की गई थी।

(ग)
(घ) } प्रश्न ही नहीं उठता।
(ङ)

प्र०—उपरोक्त चिकित्साओं में कितने वैद्य तथा हकीम शल्य चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त हैं ?

उ०—लगभग ६० प्रतिशत वैद्य तथा हकीम शल्य चिकित्सा प्राप्त हैं।

प्र०—क्या इन चिकित्सालयों के वैद्यों अथवा हकीमों से इञ्जेक्शन लगाने का कार्य भी लिया जाता है ?

उ०—जी नहीं। संक्रामक रोग (एपीडेमिक्स) फैल जाने पर स्वास्थ्य विभाग की अध्यक्षता में टीका (इनोक्यू-लेशन) लगाने का कार्य लिया जाता है।

प्र०—यदि हां, तो क्या इन्हें प्राइवेट प्रेक्टिस में भी इन्जेक्शन लगानेकी आज्ञा है ? यदि हां, तो क्यों ?

उ०—प्राइवेट प्रेक्टिस में इन्जेक्शन लगाने की मनाही नहीं है।

प्र०—क्या प्राइवेट प्रेक्टिस के सम्बन्ध में शल्य कर्म (operations) करने या इन्जेक्शन देने के कारण कोई दण्ड दिया जाता है ? यदि हां, तो—

(क) अब तक किस-किस चिकित्सक को क्या क्या दण्ड दिये गये हैं ?

(ख) यह दण्ड किन-किन शल्य कर्मों (operations) के करने के कारण दिये गये हैं ?

(ग) क्या सरकार ऐसे दण्डों के विषय में पुनः विचार करने की बात सोच रही है ?

उ०—जी हां। उचित साधन तथा ज्ञान के अभाव में किये गये शल्य या इन्जेक्शन लगाने के लिये दंड दिया जाता है।

(क) अब तक केवल एक वैद्य।

(ख) देवी दत्त छिमवाल को उचित साधनों के अभाव में :

(१) उदरपाटन कर्म (इम्फ्रूटेशन्स) (२) प्रसव क्रिया (ओब्सटेट्रीकल ओपरेशन) आदि के आपरेशन करते रहने के कारण उसका वेतन १ वर्ष के लिए १०) रु० प्रतिमास के हिसाब से घटाया गया था।

(ग) जी नहीं। इन बातों को रोकने के लिए नियम बनाने का प्रश्न विचाराधीन है।

प्र०—उचित साधन न होने बाबत किसने जांच की थी ?

उ०—ज्ञात नहीं।

प्र०—उक्त वैद्य के उक्त शल्य कर्म सफल रहे अथवा नहीं ?

उ०—कह नहीं सकता।

प्र०—उक्त वैद्य के क्षेत्र से कोई ऐलोपैथिक अस्प-ताल कितनी दूरी पर है ?

उ०—ज्ञात नहीं।

समाचार

बम्बई की पेटेंट आयुर्वेदिक औषध बनाने वाली 'एलार्सिन फार्मास्युटिकल' के आश्रय में हाल ही में निष्णात ऐलोपैथों, वैद्यों तथा भैषज्य निर्माण विशा-रदों (फार्मेकॉलॉजिस्टों) का एक बोर्ड आयुर्वेद-सम्बन्धी अन्वेषण के लिए बनाया गया है। इसमें निम्न सदस्य हैं—

१—वैद्य बापालाल भाई, प्रिंसिपल आयुर्वेद महा विद्यालय सूरत,

२—डॉ० एच० एस० खंडेरिया, M. D., M. R. C. P. (London), ऑनरेरी कन्सल्टेंट सिविल हॉस्पिटल अहमदाबाद, ऑनरेरी प्रोफेसर आफ मेडिसिन मेडीकल कॉलेज अहमदाबाद।

३—डा० आर० के० देसाई M. D., आनरेरी कन्सल्टेंट सिविल हास्पिटल सूरत ; आनरेरी प्रोफेसर आफ मेडिसिन आयुर्वेदिक कालेज, सूरत

४—डा० ए० डी० जोसेफ M. B. B. S. F. C. P. S., प्रोफेसर आफ फार्मेकालोजी मेडिकल कालेज अहमदाबाद।

५—प्रो० आर० एच० भट Ph. C. (लंडन), B. Phorm (लंडन), टेकनीकल मैनेजर ओरीएण्टल फार्मास्युटिकल इंडस्ट्रीज लिमिटेड (ओपिल), लेक्चरर इन डिपार्टमेण्ट ऑफ केमिकल टेकनोलोजी, बॉम्बे।

६—डा० जे० धैर्यम M. D. (Psych मानस रोग विज्ञान), F. I. P. S., रिटायर्ड सुपरिंटेंडेंट किलपॉक मेण्टल हॉस्पिटल, मद्रास।

७—डॉ० राजू M. S. C. (Madras), Ph. D. टेक्नीकल मैनेजर, एलबर्ट डेविड एण्ड को, बम्बई,

८—वैद्य रणजितराय, उपाचार्य आयुर्वेद महा विद्यालय, सूरत

९—श्री उपेन्द्र अलमौला, अधिपति एलार्सिन फार्मास्युटिकल, बम्बई।

बोर्डकी पहली मीटिंग २६-३-५० को आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत में हुई। सर्वप्रथम मधुमेह संबन्धी अन्वेषण-कार्य करने का निर्णय हुआ इस रोग पर जिन भाइयों को किसी स्वतन्त्र औषध या कल्प का अनुभव हो तो वे नीचे लिखे पतेपर अपना अनुभव लिखने की कृपा करें—

श्री उपेन्द्र एच० अलमोला
प्रो० एलार्सिन फार्मास्युटीकल्स,
१०१, एस्प्लेनेड मेन्शन्स
महात्मा गांधी रोड
फोर्ट,
बम्बई १

गरीबों को भूल मत जाओ

श्री चन्द्रभानु गुप्त का चिकित्सकों को सन्देश

गत १५ मार्च को लखनऊ में भारतीय चिकित्सक संघ का पांचवा अधिवेशन बम्बई के ग्राण्ट मेडिकल कालेज के प्रोफेसर डा० वी० बी० योध के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ।

अपने उद्घाटन भाषण में उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्य मंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त ने संतति निरोध और जनसंख्या की नियन्त्रित अतिवृद्धि के लिये जोरदार अपील की। श्री गुप्ता जी ने कहा कि देश में जनसंख्या बहुत तीव्र गति से बढ़ रही है परन्तु जनता यह नहीं अनुभव कर रही है कि वर्तमान परिस्थितियों में जनसंख्या की अनियन्त्रित अभिवृद्धि देश के लिये सब से बड़ा खतरा है।

आप ने सुझाव दिया कि संतति नियत्रण कुटुम्ब के आर्थिक साधनों के अनुसार ही होना चाहिए।

प्राचीन देशी चिकित्सा पद्धति

देश की प्राचीन चिकित्सा पद्धति का उपयोग करने के पक्ष में बोलते हुए माननीय स्वास्थ्य मंत्री ने कहा कि किसी भी पद्धति का विरोध केवल इसलिये न किया जाना चाहिए कि वह प्राचीन है। प्राचीन और नवीन पद्धतियों का समन्वय चिकित्सा शास्त्र के लिये बहुत उपयोगी होगा।

व्यय-साध्य चिकित्सा

श्री गुप्त जो ने कहा कि चिकित्सा विषयक सलाह अधिक सस्ती होनी चाहिए। साथ ही आप

ने कहा "६५ प्रतिशत से अधिक जनता ऊँची फीसं नहीं चुका सकती और गरीब भी उतने ही बल्कि और भी अधिक बीमार पड़ते हैं, जितने कि धनी। उन्हें भी आपकी सहायता की उतनी ही जरूरत है, जितनी की रुपये वालों को।"

माननीय स्वास्थ्य मंत्री ने चिकित्सा-महाविद्यालियों के उन अध्यापकों की आलोचना की जो पर्याप्त समय संस्था को नहीं देते। "उन में से बहुत से सवेरे नौ और दस के बीच चिकित्सालय में आते हैं। और दोपहर को साढ़े बारह और एक के बीच चले जाते हैं। इस अवधि में भी कभी-कभी वे अपने प्राइवेट रोगियों को देखते हैं इसमें शक नहीं कि इससे उन का बैंक-बैलेन्स बढ़ता है; परन्तु इसका शिक्षण और संशोधन के स्तर पर बहुत खराब असर पड़ता है।"

माननीय मंत्री ने कहा कि उत्तर प्रदेश की सरकार ने एक योजना बनायी है जिसके द्वारा चिकित्सालओं में कम से कम कुछ ऐसे निर्धनों को सहायता दी जायेगी जो ऊँची फीसं नहीं चुका सकते। इस योजनानुसार जो रोगी दस या बीस रुपये दे सकेंगे; वे भी विशेषज्ञों की सलाह प्राप्त कर सकेंगे। इस योजना की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि इन चिकित्सालयों में आनेवाले रोगी प्राइवेट रोगियों के रूप में न देखे जायँ।

संशोधन का अभाव

श्री गुप्ता ने कहा कि चिकित्सकों को अपनी फीस का मापदण्ड रोगियों की आर्थिक स्थिति के अनुसार ही रखना चाहिए। जिन व्यक्तियों की आमदनी १००) से कम हों, उनकी परीक्षा निःशुल्क होनी चाहिए। और जिनकी आमदनी १००) और २००) के बीच में है, उन से परामर्श की फीस २) से ज्यादा नहीं लेनी चाहिए।

उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि मेडिकल कालेजों में व्यवस्थित चिकित्सा विषयक संशोधन का पूर्ण अभाव है। उसका प्रधान कारण यही है कि अधिकांश अध्यापकों में संशोधन की प्रवृत्ति नहीं है।

आप ने कहा कि यह दुर्भाग्य का विषय है कि एम० डी० और एम० एस० को उपाधियां ऐसे परिक्षार्थियों को दे दी जाती हैं जिनमें कि पर्याप्त ज्ञान और अनुभव नहीं होता।

परीक्षार्थियों को कम से कम चार या पांच वर्ष योग्य अध्यापकों के साथ विशेष अस्पतालों में रहना चाहिये और तब उन्हें इस प्रकार की ऊँची पदवियों में प्रविष्ट करना चाहिए। एम० एस० और एम० डी० की सस्ती डिग्रियों का कुछ मूल्य तो है ही नहीं, उनसे देश को भी बहुत हानि पहुंचती है।

अपने भाषण का उपसंहार करते हुए श्री गुप्ता ने देहातों में रहने वाली लाखों जनता को चिकित्सा-सहायता पहुंचाने की आवश्यकता पर जोर दिया और चिकित्सकों से अपील की कि वे नवीन स्नातकों को देहाती क्षेत्रों में कार्य करने के लिये प्रेरित करें।

चिकित्सा विषयक अध्ययन-अध्यापन की आवश्यकता

सम्मेलन के सभापति डा० बी० बी० योध ने बताया कि देश में चिकित्सा कार्यकी वर्तमान अवस्था बहुत ही अव्यवस्थित दशामें है। आपने कहा कि यद्यपि आयुर्वेद के अध्ययन की महती आवश्यकता है, और इससे भी अधिक आवश्यकता उसके आधार पर भूत सिद्धान्तों में अन्वेषण की और आयुर्वेदीय निदान और चिकित्सा पद्धति के सूक्ष्म अध्ययन की है, परन्तु फिर भी देश में कई प्रकार की पद्धतियों के

चिकित्सकों का खर्च चलाने की क्षमता नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि रोगी की चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियाँ नहीं हो सकतीं। एक ही या एक से लक्षणों में विभिन्न प्रकार से चिकित्सा की जा सकती है ; परन्तु यदि उन आधारभूत सिद्धान्तों में सहमत नहीं है जिनपर कि रोग निदान आधारित है और यदि ये सिद्धान्त शास्त्रीय दृष्टिकोण से नहीं समझे जा सकते, तो देश में चिकित्सा कार्य के अभ्यास की बिल्कुल अव्यस्थित दशा रहेगी।

डा० योध ने सुझाव दिया कि चिकित्सा शास्त्र के अध्यापन की पद्धति में मौलिक परिवर्तन करना चाहिए। आपने कहा कि वर्तमान पद्धति छात्र को केवल परीक्षा देने के योग्य बनाती है। आपने कहा कि शिक्षा का स्तर ऊँचा करने के लिये अध्यापकों को संख्या बढ़ानी होगी। आपने सुझाव दिया कि शिक्षण का माध्यम छात्रों की मातृभाषा होनी चाहिए।

आपने इस विषय में खेद प्रकट किया कि महाविद्यालयों में बहुत से चिकित्सालयों में रोगियों की चिकित्सा के रेकार्ड ठीक तरह से नहीं रखे जाते हैं, जिनको कि रखना चिकित्साशास्त्र में अन्वेषण के लिये बहुत ही आवश्यक है।

अवैतनिक स्टाफ

मेडिकल कालेजों में अध्यापकों की नियुक्ति करने की विभिन्न पद्धतियों की चर्चा करते हुए डा० योध ने अपना यह अभिमत प्रकट किया कि अवैतनिक अध्यापकों की पद्धति ही एक मात्र ऐसी पद्धति है जो कि उस आदर्श को प्राप्त कर सकती है, जिसमें कि पर्याप्त पुष्कल आर्थिक लाभ के साथ अधिक ज्ञान प्राप्त, मौलिक अन्वेषण और शास्त्रीय ज्ञान की अभिवृद्धि का समन्वय होता है।

डा० योध ने कहा कि यदि अवैतनिक अध्यापन पद्धति कुछ जगहों पर असफल सिद्ध हुई है तो वह स्वयं इस पद्धति के किसी दोष के कारण नहीं। आपने जोर दिया कि संस्थाओं के समुचित संचालन के लिये चरित्र का ऊँचा स्तर रखना आवश्यक है। अवैतनिक अध्यापकों को संस्था की, गरीबों की, और चिकित्सा शास्त्र की सेवा करनी होती है।

अन्त में डा० योध ने केवल बाहरी लक्षणों को देखकर चिकित्सा करने की पद्धति की आलोचना की, जिसमें कि रोगके मूल कारणकी उपेक्षा हो जाती है; इसके परिणाम-स्वरूप नुस्खों की परम्परा बढ़ती चली जाती है।

आयुर्वेद सारसंग्रह

हिन्दी में ऐसी आर्वेदीय पुस्तकों की बहुत कमी थी, जिनमें एकत्र रोग-विचार के साथ चिकित्सा, औषध-निर्माण, अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का विवरण समझा कर सरल भाषा में दिया हो। इससे सर्वसाधारण पाठकों के सामने बहुत दिक्कतें आती थीं। प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेद-साहित्य की इसी कमी को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा बनाई जानेवाली सभी दवाओं की निर्माणविधि तथा उनके गुणधर्म और प्रयोगविधि के साथ सभी वैद्योपयोगी बातों का वर्णन सरल हिन्दी भाषा में किया गया है। मूल्य—६)

पदार्थविज्ञान

ले० वैद्य रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य्य,

प्रिन्सिपल, अ० शि० आयुर्वेदीय कालेज बेगूसराय

इस ग्रन्थ में प्रमाणों का तुलनात्मक विवेचन, स्वास्थ्य-संरक्षण तथा रोगप्रतिकारार्थ-उपयोग में आने वाले पदार्थों का विवेचन करते हुए आयुर्वेद के मूलभूत त्रिदोष-सिद्धान्त की जननी-प्रकृति और उससे उद्भूत तत्त्वों की छान-बीन की गयी है। साथ ही यह भी दर्शाया गया है कि पूर्वजन्म कृत पापों का परिणाम भोगने के लिए किस प्रकार सगुण-आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों में प्रवेश कर अपने कर्मों का फल भोगता है। मूल्य—३।।)

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान

ले० वैद्य रणजित राय

वाइसप्रिन्सिपल आयुर्वेदिक म० वि० सूरत

आधुनिक मूलतत्त्वों के साथ आयुर्वेदोक्त तत्त्वों का समन्वय करने के लिए किस दृष्टि से प्रयास होना चाहिए। इस विषय में यथास्थान विद्वान लेखक ने अपना मत प्रकाशित किया है। आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान अन्य सभी आयुर्वेदीय विषयों का आधारभूत है। अतः उसका अध्यापन किस शैली से होना चाहिए, इस बात का विवेचन करते हुए विषय को नया ही रूप देने का सफल प्रयास किया गया है। मूल्य—५)

यूनानी सिद्धयोगसंग्रह

यूनानी चिकित्सा पद्धति का महत्त्व सभी जानते हैं, इसके नुस्खे आयुर्वेदीय नुस्खों की भांति ही लाभदायक और तुरत फायदा करनेवाले तथा सस्ते होते हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सक भी यूनानी दवा से लाभ उठावें, इसलिए एक अनुभवी चिकित्सक से यह ग्रन्थ सरल हिन्दी भाषा में लिखवाया गया है। चिकित्सकों तथा सर्वसाधारण दोनों के लिए बहुत उपयोगी पुस्तक है। मूल्य २।।)

(कभर के दूसरे पृष्ठका शेष)

कूपीपक्व रसायन भी कम कीमत में देते हैं। भारतवर्ष भर में किसी भी कारखाने का ऐसा प्रबन्ध नहीं है कि भस्म और कूपीपक्व रसायन बनाने के लिए उन की ऐसी स्वतन्त्र रसायन शाला हो।

चिकित्सकों के लिए विशेषता

आयुर्वेदीय चिकित्सोपयोगी कल्पों में भस्मों की बहुत आवश्यकता होती है। लेकिन इनका निर्माण बहुत झंझट पूर्ण है। साधारण वैद्य के तो शक्ति से बाहर है। इस झंझट से वैद्यों को बचा कर और स्वयं बनाने में जितना खर्च होता है, प्रायः उसी खर्च में भस्मों को दे देने का उद्योग हम ने प्रारम्भ किया है। अब से ७ वष पूर्व सन १६४३ में भी ऐसा उद्योग किया था, परन्तु युद्ध-जन्य कठिनाइयों के कारण वह सफल नहीं हुआ। मूल द्रव्य मिले नहीं, अतः जितनी माँग हुई, वह पूरी न हो सकी। फलस्वरूप भस्मोंको बड़ी-बड़ी पैकिंग बन्द कर दी गयीं। इस वर्षसे उस कार्य का फिर से श्रीगणेश किया है। इसके पूर्ण नियम और मूल्य अलग से पत्र लिख कर मंगा सकते हैं। जो वैद्य बन्धु, 'सचित्र आयुर्वेद" के ग्राहक हैं, वे तो एक कार्ड लिख कर नमूना भी मुफ्त मँगा लें। बाकी जो वैद्य हमारे ग्राहक नहीं हैं, उनको रजिष्टर्ड पार्सल खर्च और पैकिंग खर्च के लिए ।।≡) ग्यारह आनेके टिकट भेजने होंगे और यह भी सिद्ध करना होगा कि वे आयुर्वेदीय चिकित्सक हैं जिसके लिए प्रमाण देने होंगे।

व्यवस्थापक—श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड, कलकत्ता

आयुर्वेद और सरकार अंक

सर्वोत्तम आयुर्वेदीय पत्र

आज के आयुर्वेद जगत् में जो पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं, उन में 'सचित्र आयुर्वेद' सर्वोत्तम पत्र है। .... इसकी सजधज दर्शनीय एवं लेख पठनीय तथा मननीय हैं।...... .... 'आयुर्वेद और सरकार अङ्क' में अनेक विषय वैद्यसमाज के लिए बहुत ही अनुकरणीय हैं।

१४-३-५०

—कविराज प्रतापसिंह

डायरेक्टर-आयुर्वेद विभाग मद्रास-सरकार

ठोस सेवा

"सचित्र आयुर्वेद" आयुर्वेद-जगत् की ठोस सेवा कर रहा है, इसके द्वारा इस पत्र ने अल्पकाल में ही अपने को सर्वप्रिय बना लिया है। 'आयुर्वेद और सरकार अंक' निकाल कर इसने इसका उत्तम दिग्दर्शन किया है कि आयुर्वेद के क्षेत्र में प्रगति किस प्रकार हो सकती है। इस के सम्पादक एवं अध्यक्ष धन्यवाद के पात्र हैं।"

—विश्वनाथ द्विवेदी

प्रिन्सिपल—ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत (उत्तर प्रदेश)

Regd. N. C 3147

सर्व प्रकार के बुखार में
मलेरिया, शीतज्वर, जूड़ी,
विषमज्वर, कम्पज्वर, फसली
इकतरा, पारीका बुखार

तिजारो, चौथिया
बरवट, ताप
तिल्ली इत्यादि



बैद्यनाथ
प्राणदा

मलेरिया व सर्व प्रकार के ज्वर के लिये
एकमात्र परीक्षित औषधि।



श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता : पटना : झांसी : नागपुर

Printer & Publisher—Pandit Ram Narayan Sharma Vaidya, 1, Gupta Lane, Cal. Printed at the Janabani Press &

मई, १९५०



सचित्र आयुर्वेद

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

क ल क त्ता

सचित्र आयुर्वेद के ग्राहकों का लाभ

हमें यह सूचित करते हुए बहुत ही प्रसन्नता होती है कि श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की तरफ से आयुर्वेदीय चिकित्सा करने वाले वैद्यों को निम्नोक्त पांच दवाओं के नमूने मुफ्त भेजने की व्यवस्था की गयी है—

१	मण्डूर भस्म	१/२ तोला
२	लोहभस्म साधारण	३ माशा
३	अभ्रकभस्म	१॥ माशा
४	बंगभस्म	१॥ माशा
५	मकरध्वज	३ मात्रा

इन दवाइयों के नमूने मुफ्त देने की व्यवस्था इसलिए की गयी है, ताकि वैद्यों के मन में बैठी हुई यह धारणा हटे कि विक्रयार्थ बनने वाली औषध घर जैसी नहीं बनती। इस धारणा के विपरीत श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ने यह सिद्ध कर दिया है कि बिक्री के लिए बनने वाली औषध उससे श्रेष्ठ होती है जो वैद्य लोग स्वयं निर्माण करते हैं; क्योंकि हमारा कार्य ही औषध निर्माण करना और दिन-दिन कार्य-क्षेत्र की उन्नति और वृद्धि करना है। निस्सन्देह व्यापार के तत्व न जानने वाले कुछ मूर्ख लोग नकली दवा बना कर बेचते हैं, परन्तु वे कभी भी श्रीसम्पन्न नहीं होते, सदा ही दुःखी और दरिद्र बने देखे जाते हैं। वे तो हेय हैं। अनुकरणीय निर्माता वे हैं, जिन की दवा की छाप व्यवहार करने वाले के हृदय पर अंकित हो जाय। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का यह नम्र दावा है कि जो कोई भी एक बार हमारी दवा व्यवहार में लाता है, वह सदा हमारी ही दवा व्यवहार करने को बाध्य हो जाता है।

बहुत से लोग कहा करते हैं कि श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की बैद्यनाथ प्राणदा ही प्रसिद्ध है। सो ठीक है। फिर भी, बैद्यनाथ प्राणदा के अतिरिक्त भस्म और कूपीपक्व रसायन के निर्माण में भी हम लोग भारतवर्ष भर में श्रेष्ठ समझे जाते हैं। इसका एक विशेष कारण है। वह विशेष कारण यह है कि भस्म और कूपीपक्व रसायन बनाने के लिए श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का स्वतन्त्र और निराला प्रबन्ध है, जहां भस्म और कूपीपक्व रसायन ही तैयार होते हैं। इस रसायन शाला के सब से पास का रेलवे स्टेशन २४ मील पर है। वहां भी पत्थर का कोयला नहीं मिलता। फिर सुदूर देहात में तो उससे भस्म और कूपीपक्व रसायन बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर विशुद्ध आयुर्वेद पद्धति से भस्म और कूपीपक्व रसायन बनाने के लिए वन्योपल, गोबरी, गोमूत्र, घृतकुमारी, अर्कक्षीर, मण्डूर आदि की पूर्ण सुविधा हमारी जैसी शायद ही किसी को प्राप्त हो। इस विशेष प्रबन्ध के बल पर ही हम लोग बढ़िया से बढ़िया भस्म और

(शेष कभर के तीसरे पृष्ठ पर)

सचित्र आयुर्वेद

निर्देशक

संदिग्धवनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद-महामहोपाध्याय, रसायनशास्त्री

श्री पं० भागीरथ स्वामी, *आयुर्वेदाचार्य, भिषक्-चूडामणि*

प्रधान सम्पादक

पं० रामनारायण शर्मा, *वैद्यशास्त्री*

सहायक सम्पादक

पं० सभाकान्त झा, *आयुर्वेदशास्त्री*

वार्षिक मूल्य ४) साधारण एक प्रति ।≈)

यकृत्-अङ्क १) आयुर्वेद और सरकारअङ्क २)

प्राप्ति-स्थान

भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

की

४ निर्माण-शालाएँ

४६ बिक्री-केन्द्र

और १४००० एजेन्सियाँ

सचित्र-आयुर्वेद
के
पुराने और नये ग्राहकों से निवेदन

१—"सचित्र आयुर्वेद" का यह दूसरे वर्ष का ग्यारहवां अंक आपके हाथ में है। अगले जून में (बारहवें अंक में) इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जायगा। तीसरे वर्षका पहला अंक (जुलाई में) 'नववर्षाङ्क' होगा।

२—जो बन्धु शीघ्र ही ४) मनिआर्डर से भेजकर तीसरे वर्ष के लिए ग्राहक बन जाएंगे, उनकी सेवा में तीसरे वर्ष के सभी साधारण और विशेष अंक नियमित रूप से भेजे जाएंगे।

३—जिन पुराने ग्राहक महानुभावों ने और अगले वर्ष से बननेवाले नये ग्राहकों ने अभी तक वार्षिक मूल्य ४) (चार रुपये) मनीआर्डर द्वारा नहीं भेजे हैं, उन्हें अब कृपया बहुत शीघ्र भेज देने चाहिए। मनी-आर्डर भेजने की अपेक्षा वी० पी० से अङ्क मँगवाने में खर्च कुछ अधिक लगता है। दूसरे, मनी-आर्डर भेजने वालों को "नववर्षाङ्क" पोष्ट से बहुत जल्दी सुरक्षित मिल जायगा। वी० पी० मँगाने वालों को महीने-डेढ़ महीने राह देखनी पड़ सकती है। नव-वर्षाङ्क की सब प्रतियां यदि इस बार भी जल्दी ही बिक गयीं, तो पिछले दो वर्षों की तरह देर से वी० पी० मँगानेवाले अनेक महानुभावों को हमें विवश होकर द्वितीय अङ्क से ही ग्राहक बनाना पड़ेगा।

४—'सचित्र आयुर्वेद" तीसरे वर्ष से एक नवीन ही रूप में आपके सामने आयेगा। इसके सभी साधा-रण और विशेष अङ्क बहुत ही उपयोगी, रोचक और संग्रहणीय होंगे। इसलिए ऐसा अनुमान है कि "नववर्षाङ्क" बहुत जल्दी बिक जायगा। अतएव ग्राहक बननेवाले बन्धुओं को वार्षिक चन्दा बहुत शीघ्र भेज देना चाहिये। इस प्रति के साथ लगे हुए आवेदन-पत्र स्वयं भर कर और दूसरों से भरवा कर भिजवाए।

५—जिन प्रेमी महानुभावों ने आयुर्वेद, वैद्यसमाज और जनता की सेवा की भावना से प्रेरित होकर अब तक "सचित्र आयुर्वेद" के ग्राहक बनाये हैं, उनके हम हृदय से कृतज्ञ हैं। साथ ही, प्रति पाँच ग्राहक बनाने पर एक वर्ष तक "सचित्र आयुर्वेद" उन्हें उपहार के रूप में भी हम देते हैं। आशा है कि इस बार भी आयुर्वेद-प्रेमी महानुभाव अधिक से अधिक 'सचित्र-आयुर्वेद" के ग्राहक बनाकर उनका वार्षिक चन्दा भिजवाएँगे और आयुर्वेद को पुनरुज्जीवित करने में सहायक बनेंगे।

६—पुराने ग्राहक महानुभावों से निवेदन है कि वे मनीआर्डर कूपन में अपना पिछला ग्राहक नम्बर लिखने की कृपा अवश्य करें। नये ग्राहक हों, तो "नवीन ग्राहक" लिख दें। नम्बर न लिखने से "नववर्षांक" पहुँचने में विलम्ब हो सकता है। मनीआर्डर-कूपन में अपना नाम व पूरा पता भी साफ-साफ लिखने की कृपा करें।

७—"सचित्र आयुर्वेद" का नया वर्ष अंग्रेजी जुलाई महीने से शुरू होता है।

मैनेजर—"सचित्र आयुर्वेद"
कलकत्ता

विषय-सूची



निर्देशक :—"सचित्र आयुर्वेद"
सन्दिग्ध बनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद महामहोपाध्याय, रसायन शास्त्री
श्री पं० भागीरथ स्वामी आयुर्वेदाचार्य

* श्री धन्वन्तरये नमः *

सचित्र आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष २	कलकत्ता, मई, १९५०	अङ्क ११

पताका-वन्दन

त्रिगुण साम्य का प्रतीक प्यारा ।
झण्डा ऊँचा रहे हमारा ॥

आत्मिक ज्योति जगाने वाला, मनः शक्ति बरसाने वाला ।
स्वास्थ्यसुधा सरसाने वाला, रोगी जन का तन मन सारा ॥

रोग हरण के भीषण रण में, लख कर जोश बढ़े क्षण क्षण में ।
काँपे काल देख कर मन में, मिट जाए भय संकट सारा ॥

इस झण्डे के नीचे निर्भय, प्राप्त करेंगे अमृत निश्चय ।
बोलो प्रभु धन्वन्तरि की जय, पूर्ण स्वास्थ्य है ध्येय हमारा ॥

आओ प्यारे वैद्यों आओ, वैद्य धर्म पर बलि बलि जाओ ।
एक साथ सब मिलकर गाओ, प्यारा आयुर्वेद हमारा ॥

इस की शान न जाने पाए, चाहे जान भले ही जाए ।
सकल विश्व स्वस्थ हो जाए, तब होवे प्रण पूर्ण हमारा ॥

निरामदेहस्य हि भेषजानि

वररुचि कृत सौ काथों का एक संग्रह 'योगशतक' है, जिसका एक-एक काथ रोग को निर्मूल करने में अचूक काम करता है। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० अथवा अन्य उत्साही प्रकाशक इसे अनूदित और प्रकाशित कर वैद्योंमें इसका प्रचार करें; ऐसा यह छोटा-सा परन्तु परमोपयोगी ग्रन्थ है। इसी का एक स्मरणीय चिकित्सा-सूत्र है—

निरामदेहस्य हि भेषजानि।
भवन्ति युक्तान्यमृतोपमानि॥

लङ्घनादि पाचनों द्वारा शरीर निराम और शुद्ध हो जाने पर औषधों का प्रयोग किया जाय तभी औषध अमृत तुल्य गुणकारी होते हैं।

शरीर अपने स्वाभाविक अग्नि कम द्वारा पचा कर अर्थात् रासायनिक क्रिया द्वारा रूपान्तरित कर जिन द्रव्यों को विभिन्न मल-द्वारों से अविरल बाहर निकालता रहता है, वे द्रव्य अपनी अधिकता के कारण किंवा अग्नियों की मन्दता के कारण पूर्ण पक्व होकर शरीर से बाहर न निकलें, परिणामतया एकाङ्ग अथवा सर्वाङ्ग को रोगों के सफल आक्रमण का क्षेत्र बनावें तो इन द्रव्यों को आयुर्वेद में 'आम' कहा जाता है। ये द्रव्य भुक्त अन्नपान के जठर में या धातुओं में हुए अपूर्ण पाक के कारण उत्पन्न हों, जीवाणु रूप हों, जीवाणुओं द्वारा उत्पादित विष हों या बाहर से प्रविष्ट हुए विष हों—सबको संक्षेप में 'आम' कहते हैं।

मृत प्राणी या उद्भिदों का यह स्वभाव है कि वह अपने आपको पचाकर द्रव-रूप हो जाता है। जीवाणु भी इस कार्य में सहायक होते हैं, जैसे पूयोत्पत्ति में। आधुनिक क्रियाशारीरविदों का अनुमान है कि, जीवित शरीर में भी ऐसी हो आत्मपाचक[1] क्रिया होती है। शरीर के कोषों में एक प्रकार के पित्त (एन्जाइम)[2] होते हैं, जो ज्वर, अनशन आदि के समय, जब कि बाहर से अन्नपान प्राप्त नहीं होता है, परन्तु जीवनोपयोगी आवश्यक धातुपाक के लिए कोषों को पूर्ववत् 'अन्न' की अनिवार्य आवश्यकता बनी रहती है, उस समय, कोषों के अन्तर्गत द्रव्यों को ही तोड़-फोड़ कर सारे शरीर को उनका उपयोग करने के लिए वितीर्ण कर देते हैं। कदाचित् सामान्य जीवन में भी ये एन्ज़ाइम महत्व का कार्य करते हों।

इस विषय में आयुर्वेद का मन्तव्य है कि लङ्घनकाल में प्रथम इन आम द्रव्यों का ही पाक होता है जिससे धातु तथा स्रोत विशुद्ध होकर शरीर यों भी (औषधों के बिना ही) रोग-शून्य हो जाता है; किंवा औषध की सहायता अपेक्षित हो तो उसे ग्रहण कर उसका पूर्ण लाभ उठाने की योग्यता भी शरीर में ऐसी स्थिति में ही आती है। इस विषय के गद्य-पद्य वैद्यों के लिए नवीन न होने से उन्हें उद्धृत करना अनावश्यक है।

—वैद्य रणजित राय

१—Autolysis ऑटोलाइसिस।

२—Enzyme अग्नियों तथा एन्जाइमों का स्वरूप जानने के लिए देखिये—'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर'।

सम्पादकीय

भारतीय जन-स्वास्थ्य और आयुर्वेद

गत १५ अप्रैल को कलकत्ते के श्यामादास वैद्य-शास्त्रपीठ में आयुर्वेद हितैषियों का जो सम्मेलन हुआ था, उसमें श्रीमती राधारानी देवी ने अपना वह मधुर अनुभव सुनाया था कि किस प्रकार सुप्रसिद्ध एलोपैथ और होमियो पैथ डाक्टरों ने उन के यक्ष्मा रोग को असाध्य कह कर छोड़ दिया था, और बाद में उस रोग से कविराज शिरोमणि श्यामादास वाचस्पति ने आयुर्वेद के द्वारा उन्हें मुक्त किया था।

* * * *

आश्चर्य है कि इस प्रकार के बहुसंख्यक उदाहरणों के होते हुए भी हमारे राष्ट्रीय स्वास्थ्यके कर्णधार आयुर्वेद की महत्ता मुक्तकण्ठ से स्वीकार नहीं करते। उसकी परीक्षा तक करने को उद्यत नहीं होते! माननीय श्री भूपति मजूमदार ने तो उक्त सम्मेलन में आयुर्वेद को एक "सुपरीक्षित शास्त्र" के रूप में ही घोषित किया।

* * * *

आयुर्वेद की उपलब्ध उत्तम चिकित्साविधि का उपयोग न कर के हमारे नेता नित्य नवीन आविष्कारों की दौड़ के मोह में पड़े हुए हैं। अभी लखनऊ में गत १५ अप्रैल को उत्तर प्रदेश कुष्ठ कार्य कर्ता सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए माननीय श्री चन्द्रभानु गुप्त ने कहा है कि 'यह भी आवश्यक है कि चिकित्सा कार्य के साथ-साथ चिकित्साविधियों में सुधार करने के लिये अन्वेषण भी होता रहना चाहिये।"

* * * *

उपलब्ध आयुर्वेदीय चिकित्सा विधियों का पूर्ण उपयोग किये बिना निरन्तर नवीन अन्वेषणों में अपनी शक्ति लगाना राष्ट्र के लिये कहां तक उपयुक्त है, यह जरा शान्त मन से हमारे नेता विचार करें। देश के २५ लाख यक्ष्मा-पीड़ितों के लिए और इसी प्रकार कुष्ठ-प्रभृति रोगों से पीड़ितों के लिये चिकित्सालय, आरोग्य भवन और रुग्णशय्याओं का प्रवन्ध करने का मोह भी, पाश्चात्य देशों की नकल पर, हमारे नेताओं में समाया हुआ है। परन्तु पाश्चात्य विशेषज्ञों का ही कहना है कि केवल यक्ष्मा के लिये ही आवश्यक रुग्णालयों का प्रबन्ध अगले दस वर्षों में भी भारत में सम्भव नहीं। इसलिये उन्होंने प्रतिबन्धक उपायों का, जिसमें बी० सी० जी० प्रभृति टीकों का समावेश है, अवलम्बन लेने—का परामर्श दिया है।

* * * *

विश्व स्वास्थ्य संघ प्रभृति संस्थाओं के सहयोग से हमारे नेतागण जिस उदारता के साथ एलोपैथिक चिकित्सा-पद्धति पर राष्ट्र का करोड़ों रुपया पानी की तरह बहा रहे हैं, उसकी हम प्रशंसा नहीं कर सकते। इतना रुपया यदि आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त का प्रचार करने में ही व्यय किया जाता, तो इस से शतगुना लाभ भारतीय जनता को पहुंच सकता था। चमत्कार—प्रेम के वशीभूत हो कर किसी चमत्कार की आशा एकदम ही देश की अपार धन-जन शक्ति को लगा देना, हमें उनका मार्ग प्रतीत हाता है। देश में इस समय जन-स्वास्थ्य की जो दुरवस्था है और धन शक्ति का जो अभाव है, उसे देखते हुए बहुत सम्हल-सम्हल कर खर्च करने के लिए

हमारे स्वास्थ्य-अधिकारियों को आगे बढ़ना चाहिए ।

* * *

स्वास्थ्य पर जितना भी खर्च किया जाय थोड़ा है, परन्तु व्यय भी मितव्ययिता के साथ, उचित कार्यों में ही होना चाहिए। स्वस्थ जनता राष्ट्र की सब से बड़ी सम्पत्ति है, वही राष्ट्र को सम्पन्न बनाती है। परन्तु धन का व्यय अच्छे से अच्छे और अधिक से अधिक आवश्यक क्षेत्रों में ही करना उचित है। आयुर्वेद ही वह क्षेत्र है, जिस में व्यय कर के हमारे राष्ट्रीय कर्णधार राष्ट्रीय स्वास्थ्य को अधिक से अधिक लाभ पहुंचा सकते हैं।

अभी गत ७ अप्रैल को देश भर में विश्व-स्वास्थ्य दिवस मनाया गया है। जनता में स्वास्थ्य-चेतना जागृत करना आवश्यक और श्रेयस्कर है। परन्तु यह कार्य सर्वोत्तम रीति से भारत के लाखों ग्रामों में बिखरे हुए वैद्य ही कर सकते हैं। आवश्यकता है उन्हें आश्रय और प्रोत्साहन देने की। वे गांवों में रहते हैं, अतः गाँव के निवासियों के सामने प्रत्यक्ष अपने जीवन का आदर्श रख कर, उपदेश दे कर एवं चिकित्सा कर के उन्हें स्वस्थ जीवन का मार्ग दिखा सकते हैं।

* * *

कुष्ठ और यक्ष्मा जैसे संक्रामक रोगों से पीड़ितों की हमारे देश में जो विशाल संख्या है, उसे देखते हुए उन्हें अविलम्ब सहायता पहुंचाने की आवश्यकता तो है ही, देश भर के विशाल जन समूह को इन रोगों से बचने एवं मुक्त होने के सामान्य नियमों का शिक्षण देने की भी महती आवश्यकता है। शिक्षित लोकसमूह रोगों के संक्रमण से स्वयं बचेगा। रोगी जनों को यदि बोध करा दिया जाय कि वे स्वयं अपने परिवार वालों के हित के लिए ही उन से बच कर रहें, तो जनता की सहानुभूति पाने पर वे स्वयं ही लोकसमूह से बच कर रहने के राजी हो जाएँगे। यह कार्य हमारे देश का वैद्य समाज कर सकता है।

* * *

इस अंक में अन्यत्र हम विश्वस्वास्थ्यसंघ के कार्यों का विवरण प्रकाशित कर रहे हैं, ताकि वैद्य बन्धु देखें कि उन्हें किस प्रकार संगठित हो कर देश के जन स्वास्थ्य के लिए कार्य करना चाहिए। वैद्य समाज स्वयं संगठित हो कर जनता की सेवा के लिए आगे आए, तो सरकार और जनता का सहयोग तो अवश्य ही मिलेगा। आयुर्वेद महा सम्मेलन यदि इस के लिए विशाल पैमाने पर कार्य प्रारम्भ करे, तो अवश्य ही आयुर्वेद, वैद्य समाज और भारतीय जनता का उपकार हो सकता है।

* * *

आयुर्वेद केवल एक चिकित्सा शास्त्र नहीं, वह तो जीवन शास्त्र है, जीवन कला है; अतः प्राचीन काल के समान शान्तिसन्तोषमय पवित्र जीवन का प्रभात उसी के द्वारा हो सकता है। जो फिरंग रोग पहले कभी हमारे इस पवित्र देश में कानों से भी नहीं सुना गया था, आज वह अत्यधिक फैला हुआ है। ६० वर्ष पूर्व ही जिस प्लेग ने हमारे देश में प्रवेश किया था, वह आज प्रति वर्ष हजारों की मृत्यु का कारण बन रहा है। संयम और पवित्रता को अपनाये बिना, केवल चिकित्सा के बल पर, भारतीय जनता इन रोगों से मुक्त हो सकती हैं, इस में सन्देह है। परन्तु इस संयम और पवित्रता के प्रचार की आवश्यकता है। प्राचीन काल में यह प्रचार-उपदेश-कार्य धार्मिक एवं आयुर्वेदीय विद्वान करते थे। आज भी जनता को रोग-शोक से मुक्त करने वाले जीवन-पथ का उपदेश सदाचारी वैद्य एवं विद्वान

ही कर सकते हैं। हमारे राष्ट्र के कर्णधार उन्हें सहयोग दें एवं उन का सहयोग प्राप्त करें।

विश्व-स्वास्थ्य सङ्घ

विश्व स्वास्थ्य संघ का परिचय "सचित्र आयुर्वेद" के एक अंक में पहले हमने प्रकाशित किया था। इस महीने में उस की कुछ विशेष हलचलें भारत के सम्बन्ध में प्रकाश में आयी हैं। उन का उल्लेख करने से पहले संघ की अब तक की प्रगति पर एक दृष्टिपात कर लेना हम उचित समझते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत जो अनेक विशिष्ट संघ कार्य करते हैं उन में विश्व स्वास्थ्य संघ का स्थान महत्वपूर्ण है। १ सितम्बर १९४८ को यह एक स्थायी संस्था के रूप में स्वीकृत हुआ और ७ अप्रैल १९४८ को इस संघ का विधान लागू हुआ, जिसे कि संयुक्त राष्ट्र संघ के २६ सदस्य राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया था, जो कि इसके लिए नियत कोरम था। तब से अब तक ६६ राष्ट्र इस संघ के सदस्य बन चुके हैं।

प्रायः सभी देशों में अपने-अपने स्वास्थ्य विभाग हैं, जो कि वहाँ की स्वास्थ्य समस्याएँ हल करते हैं, तथापि उन के साथ ही यह अन्तर्राष्ट्रीय संस्था भी अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर विभिन्न देशों की स्वास्थ्य-समस्याएँ हल करने के लिये प्रवृत्त हुई है। सम्पूर्ण मनुष्य जाति के प्रतिनिधित्व को इस संस्था ने अपना लक्ष्य बनाया है। सभी राष्ट्रों के लिये इस की सदस्यता के द्वार खुले हैं। विश्वस्वास्थ्य संघ के विधान के अनुसार इस का लक्ष्य है सभी जातियों के द्वारा उच्चतम स्वास्थ्य की प्राप्ति। संघ ने अपनी स्वास्थ्य की परिभाषा भौतिक स्वास्थ्य तक ही सीमित नहीं रखी है, अपितु मानसिक स्वास्थ्य और स्वस्थ सामाजिक सम्बन्धों को भी स्वास्थ्य की परिभाषा के अन्तर्गत सम विष्ट किया है। इस प्रकार के स्वास्थ्य को जाति, धर्म, राजनैतिक मतामत, आर्थिक और सामाजिक स्थिति के भेदभाव के बिना मनुष्य मात्र के मौलिक अधिकार के रूप में संघ ने स्वीकार किया है।

सभी जातियों के द्वारा इस प्रकार की स्वास्थ्य प्राप्ति को संघ ने विश्व की शांति और सुरक्षा का आधार माना है और सभी व्यक्तियों एवं राष्ट्रों के पूर्णतम सहयोग को इस स्वास्थ्य-प्राप्ति का आधार माना है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत यह संस्था और इसी प्रकार की अन्य संस्थाएँ व्यक्तियों और राष्ट्रों के मध्य निरन्तर बढ़ने वाले सहयोग के लिए इस प्रकार जो रचनात्मक कार्य कर रही हैं, वह लोगों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों को रचनात्मक प्रवृत्तियों के निर्माण में अतीव सहायक होगा।

संघ चिकित्साशास्त्र के विभिन्न अंगों के विशिष्ट एवं प्रसिद्ध विशेषज्ञों से लाभ उठाता है और ये विशेषज्ञ विभिन्न स्वास्थ्य विषयों पर पुस्तकें, नियत कालिक (पत्र-पत्रिकाएँ) और पत्रक विश्व के विभिन्न भागों के स्वास्थ्य अधिकारियों के पथ प्रदर्शन के लिए विभिन्न भाषाओं में तैयार करते हैं। जिन देशों की आर्थिक-स्थिति ठीक नहीं होती, उन्हें स्वास्थ्य-समस्याएँ सुलझाने के लिए संघ से आर्थिक सहायता भी मिलती है। विश्व के किसी भी भाग में रोगों का अस्तित्व विश्व के अन्य भागों के लिए त्रासजनक है, इसे सत्य मान कर संघ ने विश्व के प्रत्येक भाग से रोगोन्मूलन कर के अधिकतम आरोग्य की वृद्धि करने को अपना उच्च लक्ष्य बनाया है।

सदस्य राष्ट्रों के स्वास्थ्य-अधिकारियों का पथ प्रदर्शन संघ का विशेष कार्य है। चिकित्सा और जनस्वास्थ्य के विषयों में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए विदेश में पढ़ने के लिए संघ छात्रवृत्तियां भी

देता है। अब तक ६०० छात्रवृत्तियाँ संघ ने दी हैं। विभिन्न रोगों का नियन्त्रण कैसे किया जाय, इसका प्रदर्शन भी संघ की ओर से विभिन्न देशों में होता है।

भारत में वि० स्वा० सं० का कार्य

दक्षिण-पूर्वी एशिया में कार्य करने के लिये विश्व स्वास्थ्य संघ का प्रादेशिक कार्यालय दिल्ली में स्थापित हुआ है। ६ अप्रैल को इस प्रादेशिक कार्यालय के पाँच विशेषज्ञों ने एक प्रेस-सम्मेलनमें भारत विषयक अपनी १९५० की योजना बतायी। संघको भारत से जितना रुपया मिल रहा है, उसका प्रायः दुगुना वह १९५० में भारत में खर्च करेगा। (१९४९ में भारत ने संघ में १,५६,९९२ डालर दिये थे।)

प्रादेशिक कार्यालय के डिपटी डायरेक्टर डा, चेलप्पा ने बताया कि राष्ट्र के स्वास्थ्य की उन्नति के लिये वे दोहरा कायक्रम चालू कर रहे हैं, एक तो मलेरिया, प्लेग, जननेन्द्रिय रोग, यक्ष्मा और अन्य रोगों का नियन्त्रण, और दूसरे, मातृत्व और शिशु-स्वास्थ्य में तथा जीवनस्तर में उन्नति कर के—पोषण वस्त्र, मकान एवं शिक्षा—में उन्नति कर के आरोग्य-वर्द्धन करना।

भारत की केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के सहयोग से यह प्रादेशिक कार्यालय जो कार्य कर रहा है, उसका संक्षिप्त विवरण निम्नोक्त है।

मलेरिया

डाक्टर तूली ने कहा कि मलेरिया से सब से अधिक मृत्यु होती है। विश्व में तीस लाख व्यक्ति प्रति वर्ष इसके शिकार होते हैं। इनमें दस लाख रोगी केवल भारत के ही होते हैं। विश्व-स्वास्थ्य संघ के चार प्रदर्शनकारी दल, गत वर्ष से देश में कार्य कर रहे हैं और भारतीय विशेषज्ञों को शिक्षित बना रहे हैं।

निश्चय किया गया है कि अगले वर्ष भी यह कार्य चालू रखा जायगा। उत्तर प्रदेश के तराई भाग में एक दल कार्य कर रहा है, जिसके लिए सामान ढोने और कार्यकर्ताओं के आने-जाने के लिए वर्षा ऋतु में हाथी काम में लाये जायेंगे।

जननेन्द्रिय विषयक रोग

इन रोगों के प्रादेशिक सलाहकार डा० जंगलवाला ने कहा कि एक प्रदर्शनकारी दल शिमला की पहाड़ियों में कार्य कर रहा है। एक नमूने की प्रयोगशाला और औषधालय खोला गया है। भारत के तथा अफगानिस्तान, थाईलैंड, इन्डोनेशिया और बर्मा के छात्रों के दो दलों को पाश्चात्य ढंग से जननेन्द्रिय-विषयक रोगों का नियन्त्रण करने की शिक्षा दी जा रही हैं और निकटभविष्य में इस रोग की शिक्षा देने के लिए एक स्थायीसंस्था स्थापित की जा सकती है।

मातृत्व और शिशु-स्वास्थ्य

मातृत्व और शिशु-स्वास्थ्य की प्रादेशिक सलाहकार डा, विलियम्स ने बताया कि उनका विभाग एक दीर्घकालीन योजना के अनुसार कार्य कर रहा है, क्योंकि माता और शिशु का स्वास्थ्य उनकी परिस्थितियों पर अवलम्बित है, अर्थात् पोषण, मकान शिक्षा और उन्हें प्राप्य चिकित्सा-सुविधा के स्तर पर।

विश्व स्वास्थ्य संघ का एक दल अन्वेषण कार्य कर रहा है। शीघ्र ही एक शिक्षण-शिविर खोलने का विचार किया जा रहा है। छात्रों के स्वास्थ्य पर विचार करने के लिये एक प्रादेशिक सम्मेलन बुलाने का भी विचार किया जा रहा है।

यक्ष्मा

यक्ष्मा-विषयक प्रादेशिक सलाहकार डा, मैकवीने कहा कि भारत के २५ लाख यक्ष्मा-पीड़ितों को चिकित्सालयों और रुग्णशय्याओं की आवश्य-

कता है, परन्तु वर्तमान समय में केवल ७००० रुग्ण शय्याएँ प्राप्य हैं। भारत के सीमित साधनों को देखते हुए इतनी रुग्णशय्याएँ उपलब्ध करना असंभव है। अतएव प्रतिबन्धक उपाय के रूप में बी. सी. जी. के टीके लगाने का परामर्श दिया गया है। गत वर्ष स्कंडीनेवियन रेडक्रास द्वारा नियुक्त छः दल इस दिशा में कार्य कर रहे थे, स्वयं टीके लगाने के अतिरिक्त उन्होंने साठ भारतीय दलों को शिक्षित भी किया। इस वर्ष उनमें से तीन दल वापस लौट रहे हैं। शेष तीन अपना कार्य करते रहेंगे। बाद में इनको उन तीन प्रदर्शनकारी और सलाहकार केन्द्रों का सहयोग मिल जायगा, जिन्हें दिल्ली, त्रिवेन्द्रम और पटना में स्थापित करने का विचार किया जा रहा है। इन केन्द्रों में आधुनिकतम प्रयोग-शाला, एक्सरे, चल-औषधालय आदि रहेंगे। आशा की जाती है कि इन केन्द्रों से स्वास्थ्य-विषयक कार्य का विस्तार देश-देशान्तर के विभिन्न भागों में किया जा सकेगा। बर्मा, थाईलैंड तथा अन्य देशों में भी इसी प्रकार के केन्द्र खोलने का विचार किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त, यक्ष्मा-नियंत्रण में विशेषज्ञ बनने के इच्छुक चिकित्सकों को छात्रवृत्तियाँ भी दी जा रही हैं।

प्लेग और हैज़ा

प्रादेशिक सलाहकार डा. पौलिजर ने कहा कि इस वर्ष पतझड़ के समय में एक प्लेग-उन्मूलन दल बम्बई में कार्य करेगा और हैजे का उन्मूलन करने के उद्देश्य से एक अन्य-दल मद्रास प्रान्तमें कार्य करेगा। १९४९ में भारत में हैजे से १,६२,८५५ और प्लेग से २१,१७८ व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी।

विश्व स्वास्थ्य दिवस

विश्व स्वास्थ्य-संघ के सभी सदस्य राष्ट्रों ने गत ७ अप्रैल को "विश्व स्वास्थ्य दिवस" के रूप में मनाया। पहले यह दिवस जून में मनाने की योजना थी, परन्तु वह समय विद्यालयों के छात्रों के लिए अनुपयुक्त था, क्योंकि उनके विद्यालय उस समय बन्द थे, अतएव बाद में ७ अप्रैल का दिन इसके लिए निश्चित किया गया था। इसी दिन १९४८ में २६ राष्ट्रों के द्वारा स्वीकृत होने पर विश्व स्वास्थ्य-संघ का विधान लागू हुआ था।

आयुर्वेद में पथ्यसेवन, ऋतुचर्य्या, दिनचर्य्या, स्वस्थवृत्त (हाइजीन) आदि का जो महत्त्व दर्शाया गया है, उसे देखते हुए यद्यपि यह हमारे लिए कोई नवीन बात नहीं है कि जनता में स्वास्थ्य-चेतना जागृत करने के लिए विश्व के स्वास्थ्य नेताओं ने यह दिवस मनाने की योजना बनायी; परन्तु सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए जो यह एक अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग किया गया, इसकी विशालता ही इस आयोजन को महत्त्व प्रदान करती है। पाश्चात्य चिकित्सा भी रोग-उन्मूलन को ही चिकित्सा का एकमात्र लक्ष्य न मानकर आरोग्यवर्धन को भी चिकित्साशास्त्र का लक्ष्य मानने लगी है, यह प्रसन्नता की बात है।

सभी जानते हैं कि जनता जब तक स्वयं अपने स्वास्थ्य के लिए सचेष्ट न होगी, तब तक चिकित्सकों और चिकित्सालयों की संख्या बढ़ाते चले जाने से कोई भी लाभ न होगा। अतः जनता को ही अपने स्वास्थ्य-वर्धन के प्रति जागृत करने के लिए विश्व-स्वास्थ्य संघ ने इस विश्वस्वास्थ्यदिवस का आयोजन किया। स्वयं अपने और अपनी सन्तति के स्वास्थ्य की सुरक्षा का जो हमारा मौलिक अधिकार है, उसकी रक्षा के लिए हमें किस व्यक्तिगत एवं समाजिक स्वस्थवृत्त का पालन करना चाहिए, उसकी स्मृति जागृत करने के लिए इस दिवस का अच्छा

उपयोग हुआ। इस दिशा में आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त का प्रचार प्रसार करना जनता के लिए अतीव हितकर होगा, जिसके लिए वैद्य-बन्धुओं और राष्ट्र के कर्णधारों को सचेष्ट होना चाहिए। इसके लिए भाषण, पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ, फिल्म, रेडियो आदि सभी साधनों का उपयोग करना चाहिए एवं ग्रामवासी वैद्यों को स्वयं अपना आदर्श ग्रामीणों के सम्मुख रखना चाहिए।

यक्ष्मा विरोधी अभियान

२० अप्रैल को दिल्ली में राज्य भवन में भारतीय यक्ष्मा-परिषद् की वार्षिक जनरल मीटिंग हुई, जिसमें परिषद् की अध्यक्षा स्वास्थ्य मंत्रिणी राजकुमारी अमृतकौर ने भारत में यक्ष्मा-विरोधी अभियान को सफल बनाने के लिये चिकित्सालयों, रुग्ण-शय्याओं, चिकित्सकों (डाक्टरों) और उपचारकों की संख्या में "महती बृद्धि" की आवश्यकता पर जोर दिया।

आप ने कहा कि 'अभीष्ट स्तर तक पहुंचने में अनेक वर्षों का समय और करोड़ों रुपयों का खर्च लग जायगा।"

आपने बताया कि भारत की केन्द्रीय और प्रांतीय यक्ष्मा-परिषदें इस से चिन्तित हैं कि देश में यक्ष्मा के निदान और चिकित्सा की सुविधाएँ पर्याप्त नहीं हैं।

यहाँ पर राजकुमारी जी शायद भूल गयीं कि भारत में चन्द डाक्टरों के अलावा लाखों वैद्य भी बसते हैं और भारतीय जनता को रोगमुक्त करते हैं, जिन की सेवाओं का उपयोग संगठित रूप में कर के हमारी राष्ट्रीय सरकार अल्प समय और अल्प व्यय में भारतीय जनता को रोगमुक्त कर सकती है। अस्तु !

आगे राजकुमारी ने ठीक ही कहा कि यक्ष्मा के रोगी के सामने आने वाली अनेक समस्याओं में प्रमुख समस्या यह आती है कि आरोग्य भवन से बाहर निकलने पर उसे उस की शारीरिक योग्यता के अनुकुल धन्धा मिले।

"इस प्रसंग में व्यवसाइयों का ध्यान उस सहानुभूति की आवश्यकता की ओर आकर्षित करूँगी, जोकि उन्हें यक्ष्मा रोगियों को चिकित्सा के लिए छुट्टी देते समय और चिकित्सा के बाद उन्हें पुनः काम में नियुक्त करते समय उन के प्रति रखनी चाहिए।" जो पहले यक्ष्मा के रोगी रह चुके हैं, उन्हें पुन: कार्य में नियुक्त करने के विरुद्ध व्यवसाइयों की एवं स्वयं सरकार की भी विद्वेषपूर्ण नीति है। इस सामाजिक कलंक के विरुद्ध समुचित प्रचार वांछनीय है।

आगे राजकुमारी जी ने एक बहुत ही सराहनीय बात कही कि यक्ष्मा एक ऐसी समस्या है, जिसके विरुद्ध केवल चिकित्सकों को ही नहीं, अपितु सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को भी लड़ना है। भारत-सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को सुझाव दिया है कि वे सरकारी खर्च से यक्ष्माविरोधी अभियान के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ता तैयार करें।

क्या हम आशा करें कि भारतीय वैद्यों को ही इस समाज-सेवा के लिए प्रमुख सुविधाएँ एवं शिक्षण दिया जायगा ? वे शायद यह कार्य अन्य किसी की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति से कर सकते हैं!

राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति

वैद्य दुर्गादत्त शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, भू० पू० सभापति-
नि० भा० आयुर्वेद-विद्यापीठ

हमारी राष्ट्रीय सरकार को अभिमान होना चाहिये कि उसके राष्ट्र में उसका अपना एक महत्त्वपूर्ण चिकित्सा शास्त्र वर्तमान है। जो राष्ट्रके उत्कृष्ट ज्ञान का प्रतीक है। काल प्रभाव से इसके अङ्गों में जो विकलता आ गई है उसे ज्ञानशील आयुर्वेद विशारदों के सहयोग से दूर करने का प्रयास सरकार को स्वयं करना चाहिये। कोई भी चिकित्सा-पद्धति राज्याश्रय के बिना पनप नहीं सकती। यदि आयुर्वेद को राज्याश्रय प्राप्त होता, सरकार द्वारा उस की अवश्यकताओं की पूर्ति की जाती, उसे आर्थिक साहाय्य उपलब्ध होता तो आज अवश्य ही वह भी नवीन अन्वेषणों और साधनों से सम्पन्न होता।

आयुर्वेद की उपयोगिता के सम्बन्ध में संदेह का तो कोई स्थल ही नहीं है। इस सत्य को कोई नहीं छिपा सकता कि सरकारी स्वास्थ्य शासन-विभाग जिस चिकित्सा-प्रणाली को अपनाये हुए है और जिस पर प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये व्यय करता है, वह सर्वजन सम्पर्क से बहुत दूर है। इसका कारण यह है, उस चिकित्सा-पद्धति का क्षेत्र मुख्यतः चार प्रतिशत नगर निवासियों में ही सीमित है। उसके द्वारा ग्राम्य-जनता का एक प्रतिशत भाग भी पूरी सहायता नहीं प्राप्त कर पाता। करोड़ों ग्रामवासी उस चिकित्सासे वञ्चित ही रहते हैं। उनकी स्वास्थ्य रक्षा आयुर्वेद ही करता है। वे आयुर्वेद में श्रद्धा रखते हैं और आयुर्वेदीय औषधियों के साधारण ज्ञान के आधार पर ही अपनी रक्षा किया करते हैं। भारत में ऐसा कोई नगर-ग्राम वा घर नहीं है जो आयुर्वेद से अपरिचित हो। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा भी नहीं है जिस में आयुर्वेद के ग्रन्थ न मिलते हों। इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद की उपयोगिता से प्रत्येक भारतीय परिचित है, उसके प्रति भारतीय जनता के हृदय में पूर्ण आदर है और वह देश की प्रकृति के अनुकूल एवं हमारे देश का लोकप्रिय चिकित्सा-शास्त्र है। ऐसी स्थिति में हमारी राष्ट्रीय सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह आयुर्वेद को राज्याश्रय प्रदान करे और उसे सर्व साधनसम्पन्न बनावे।

स्वतन्त्र भारत में आयुर्वेदके सिवा कोई चिकित्सा पद्धति राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति कहलाने का अधिकार नहीं रखती। आयुर्वेद का तो यह सनातन और स्वतः सिद्ध अधिकार है कि वह भारतवर्ष की राष्ट्रीय - चिकित्सा-पद्धति कहलावे। विदेशी शासनकाल में जब भारत परतन्त्र था आयुर्वेद को विकसित होने का अवसर नहीं मिल सका। पर वह एक संकुचित परिधिमें ही अपना अस्तित्व रख कर भारतीय मानव समाजकी अधिकतम संख्याको प्राणदान करता रहा। अब इसे राष्ट्रीय सरकार के रहते हुए कोई भी शक्ति विकासक्षेत्रमें आने से नहीं रोक सकती और न अपने जन्मसिद्ध अधिकार से वञ्चित ही रख सकती है। यद्यपि आज भी हमारे राजनीतिज्ञ नेताओं में कुछ ऐसे विचार के महानुभाव हैं जो आयुर्वेद की संरक्षण क्षमता में सन्देह रखते हैं अतएव वे सरकार के स्वास्थ्य शासन-विभाग द्वारा शताब्दियों से परिपोषित एवं परिवर्धित आधुनिक चिकित्सा शास्त्रमें ही अपनी भक्ति का संकेत-प्रकाश करते हैं। अनेक प्रकार के

आविष्कारों और साधनों के चमत्कार से प्रभावित होकर कभी-कभी वैद्य समाज से यह प्रश्न भी कर बैठते हैं कि "यदि सरकार वर्तमान पाश्चात्य वैद्यक चिकित्सापद्धति के आधार पर चलने वाले अस्पताल व औषधालयों को बन्द कर केवल आयुर्वेदीय चिकित्सापद्धति पर निर्भर रहने को तैयार हो तो क्या आयुर्वेद अथवा उसका अनुयायी चिकित्सक समुदाय जनता के रोगपरिहार तथा स्वास्थ्य-संरक्षण का पूर्ण उत्तरदायित्व स्वयं सम्भालने को तैयार है?" हम देशसेवाव्रतपरायण महापुरुषों के इस प्रश्न में किसी दुराशय की कल्पना नहीं करते, किन्तु सरलता और साधुतायुक्त एक अत्यधिक विश्वास ही देखते हैं। जिसके कारण सत्याग्रहव्रत के प्रवर्तक महात्मा गान्धी के अनुयायी होनेपर भी हमारे श्रद्धेय नेता वास्तविक सत्य को भूल जाते हैं। हम आयुर्वेद के उपासक होते हुए भी किसी चिकित्सापद्धति को उपेक्षाबुद्धि से नहीं देखते। हमारी भक्ति आयुर्वेद में है, पर हम सभी चिकित्सा-शास्त्रों को समान आदर की दृष्टि से देखते हैं। क्योंकि संसार के सभी चिकित्सा-शास्त्रों का मानवमात्र को रोगमुक्त कर स्वास्थ्यलाभ पहुंचाना—यही एकमात्र सुन्दर लक्ष्य है। हमारे महर्षियों का उपदेश है कि तत्त्वज्ञान किसी भी शास्त्र में और कहीं से भी प्राप्त हो, उसे स्वीकार करना चाहिये। इसी आशय को लेकर चरक का यह उपदेश है—नचैव ह्यस्त्यायुर्वेदस्य पारं, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत्, एवं भूयश्च वृत्तसौष्ठवमनसूयता परेभ्योऽप्यागमयितव्यम्, कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्। अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमताऽमित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं, पौष्टिकं लौक्यमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यं चेति।

च० वि० अ० ८ पा० १४

हम इसी उपदेश को मानने वाले हैं अतएव सभी चिकित्सा शास्त्रों में समानश्रद्धा रखते हैं। हमारी भक्ति आधुनिक पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र में भी कम नहीं है। हम जानते हैं कि वह विदेशी सरकार की कृपा से सर्वाधिकारयुक्त और सर्वसाधन सम्पन्न बनाई हुई उन्नतिशील चिकित्सापद्धति है। उसकी उपयोगिता आज संसार की सभी चिकित्सापद्धतियों में बढ़ी-चढ़ी है पर इस श्रद्धा और भक्ति के आवेश में हम सत्य को नहीं भूल सकते। अतएव अपने उन माननीय नेताओं से निवेदन करते हैं कि आप उस चिकित्साशास्त्र के आधार पर चलने वाले स्वास्थ्य-शासन-विभाग से पूछिये कि वह उसके द्वारा भारतीय-जनता के कितने अंश की स्वास्थ्यरक्षा करता है? और वह चिकित्सापद्धति हमारे देश की आवश्यकता पूर्ति में कितनी बड़ी क्षमता रखती है? इस सम्बन्ध में आधुनिक पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र के उच्चश्रेणी के मर्मज्ञ एवं जामनगर स्टेट के चीफ मेडिकल आफिसर डा० प्राणजीवन मेहता के ये शब्द मनन करने योग्य हैं —

"आधुनिक पाश्चात्य वैद्यकशिक्षा जिसके आधार पर स्वास्थ्य-शासन-विभाग चलाया जा रहा है, राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचारणीय है। सरकारी वैद्यक शिक्षा-विभाग की शासन-प्रणाली में सबसे बड़ी कमी यह है कि वह ६० प्रतिशत भारतीय जनता की पहुंच के बाहर है। पाश्चात्य देशों में भी जहाँ इस आधुनिक चिकित्सा के सब से बड़े कालेज, डाक्टर और नर्सें हैं यह प्रणाली सर्वसाधारण की आवश्यकतापूर्ति करने में असमर्थ है। अब हमें इस परिस्थितिमें एक ऐसी चिकित्सापद्धति की आवश्यकता है जो हमारे देश की प्रकृति के अनुकूल हो। परन्तु इस नवीन परिस्थिति में नूतन चिकित्सापद्धति के निर्माण के लिये भारतीय चिकित्सापद्धति के पिछले इतिहास की ओर ही दृष्टि ले जानी होगी।

भारत के अध्यात्मज्ञान का लोहा तो संसार ने मान लिया है। औषधि-विज्ञान अध्यात्मज्ञान का छोटा भाई है। ईसा से ६०० वर्ष पूर्व से लेकर ६०० वर्ष बाद तक भारतवर्ष का स्वर्णयुग था। इस स्वर्ण युग को आयुर्वेदयुग भी कह सकते हैं।—

यह मैं अच्छी तरह जानता हूं कि हम वैज्ञानिक युग में संचरण कर रहे हैं। इस लिये हम ऐसी वस्तु पर विचार करने में अपना समय व्यतीत करना उचित न समझेंगे जो अवैज्ञानिक है। यदि विज्ञान का अर्थ व्यवस्थित अनुभवसिद्ध सत्य है तो आयुर्वेद भी वैज्ञानिक कहलाने का अधिकारी है और इसीलिये मैंने आप लोगों का ध्यान इस सत्य की ओर आकर्षित करने का साहस किया है।"

हमारा विश्वास है कि यदि हमारे अधिकार-सम्पन्न नेता आधुनिक पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र के प्रौढ़तम विद्वान् एवं अनुभवशील चिकित्सक डा० मेहता के इन शब्दोंमें वस्तुस्थिति को देखेंगे और अपने ज्ञान पथ में इस विचार को लाने का प्रयास करेंगे कि उन की संमानित चिकित्सापद्धति हमारे देश के रोगपरिहार तथा स्वास्थ्य-संरक्षण का उत्तरदायित्व सम्हालने में कितने अंश में सफल है ? तो वे अधिकारविहीन आयुर्वेद और साधनसहायताहीन आयुर्वेदीय चिकित्सक-समुदाय के प्रति किये हुये अपने प्रश्न का उत्तर स्वतः प्राप्त कर सकेंगे।

हम अपने आदरणीय नेताओं से निवेदन करते हैं कि वे साम्राज्यवादी अंग्रेजों की दोषमयी प्रवृत्ति का परित्याग कर उदारभाव से विश्वास के पथ पर आने का अनुग्रह करें और आयुर्वेद को राज्याश्रय देकर सहायता एवं साधन-प्राप्ति के विकासमय क्षेत्रमें आने का अवसर दें। इसके बाद थोड़े ही वर्षों में देखें कि आयुर्वेद की स्वास्थ्यसंरक्षणक्षमता कितनी है ? और वह देश के जलवायु के अनुकूल देशवासियों की आवश्यकतापूर्ति में कितना अधिक उपादेय है ?

यदि पूर्णता की दृष्टि से विचार करें तो आयुर्वेद ही एक ऐसा सनातन चिकित्सा विज्ञान है जिसमें सम्पूर्ण जीवन विज्ञान का तत्त्व निहित है। मानव की पूर्णता जिस शारीरिक और मानसिक उन्नति में है, उसे आयुवद ही बताता है। जो लोग आयुर्वेद के सत्यस्वरूप को नहीं जानते और आयुर्वेदीय ज्ञान के स्पर्श से सर्वदा सर्वथा दूर रहते आये हैं वे आयुर्वेद की चिकित्सा को अवैज्ञानिक कहने का दुस्साहस कर सकते हैं। पर जिन लोगों ने यथाविधि आयुर्वेद का अध्ययन और मनन किये हैं वे तो अच्छी तरह समझते हैं कि आयुर्वेद के आचार्यों ने महर्षियों के गम्भीर चिन्तनों के फलस्वरूप उत्पन्न दार्शनिक मन्तव्यों को चिकित्सा के व्यावहारिक क्षेत्रमें नियोजित करके अपने वैज्ञानिक दृष्टि का बहुत बड़ा उपयोग किया है। संसार में जितने चिकित्साशास्त्र हैं उनमें दीर्घ जीवन प्राप्ति के अद्भुत उपाय रसायनादि और आयुर्विज्ञान के विशिष्ट उपाय, अरिष्ट लक्षणादि का कहीं भी उपदेश नहीं हैं। आयुर्वेद में रोगनिवारण और दीर्घजीवन लाभ करने के उपाय प्रचुर संख्या में प्रतिपादित है जो आयुर्वेद की विशेषता और गौरव के सूचक है। आयुर्वेद ही एक ऐसा परिपूर्ण चिकित्सा विज्ञान हैं जिसने रोग के व्यक्त होने के पूर्व उसके सूक्ष्म लक्षणों का होना सिद्ध किया है। पूर्वरूप को समझने पर रोग के प्रकट होने के पूर्व ही उसके प्रतिषेध की चिकित्सा-व्यवस्था आयुर्वेद में की गई है।

"पूर्वरूपं विकाराणां दृष्ट्वा प्रादुर्भविष्यताम्।
या क्रिया क्रियते सा च वेदनां हन्त्यनागताम्॥"
च० शा० अ० १

रोग का पूर्वरूप न समझने से ही रोग अपने रूप में आता है और शारीरिक सुख में बाधा उप-

स्थित करता है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में स्वस्थवृत्त को स्वाभाविक जीवनचर्या से संयुक्त किया गया है; जो सुखावह आहार-विहार और नैतिकजीवन के नियमों से अनुप्राणित है। इस लिये यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेद में शारीरिक, नैतिक, व्याधि-परिहार आदि जीवन के सभी मार्गों का उल्लेख है और उसका क्षेत्र अन्य सभी चिकित्सा शास्त्रों से विस्तृत और व्यापक है। विज्ञान के नाम पर डिण्डिमोद्घोष करने वाले किसी भी चिकित्साशास्त्र को अबतक यह नहीं मालूम हो सका है कि शरीरगत चेतना का विकास कहां से हुआ है? आत्मतन्त्र की स्वतन्त्र सत्ता के ज्ञान से आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्सा-शास्त्र अभी तक सर्वथा अनभिस्पृष्ट है। पर आयुर्वेद के प्रवर्तक महर्षियों ने अपने युगों के अनुभव और गंभीर विचारों से पाञ्चभौतिक देहके साथ चेतनाधातु (आत्मा) का सम्बन्धनिर्देश आयुर्वेद में स्पष्ट व्यक्त किया है। चरक का कथन है—

"सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम्॥"

च० सूत्र० अ० १

आधुनिक पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र वैज्ञानिक चिकित्सा शास्त्र कहलाता है। इसका वर्तमान विकास विगत अर्धशताब्दी में हुआ है। इसकी क्षमता पर जिन महानुभावों को पूर्ण विश्वास और भरोसा है तथा इसके वैज्ञानिक अन्वेषणों पर जिनको अत्यधिक सन्तोष और श्रद्धा है, क्या वे बता सकते हैं कि रोग-निवारण (curc) और रोग प्रतिवन्ध (prevention) में निरन्तर प्रयास करने पर भी इसे सम्पूर्ण सिद्धि मिली है? आयुर्वेद प्राचीन काल में अपने अङ्गों से परिपूर्ण था-समुन्नत था और रोग निवारण तथा रोगप्रतिरोध में समर्थ था, यह इतिहास ही बताता है। पर इस पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र के पूर्वकाल पर दृष्टिपात कीजिये, उस समय क्या विचित्र दशा थी। यूरोप में लगभग १७ वीं शताब्दी तक परम्परागत मन्तव्यों का अनुसरण और लब्धप्रतिष्ठ वैद्यों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति का प्रचार था। १८ वीं शताब्दी से एलोपैथी के नाम से प्रसिद्ध चिकित्सापद्धति का प्रचार बढ़ा। इस पद्धति का मुख्य ध्येय रोग के लक्षणों को जैसे भी हो सके दवा देना मात्र था। ज्वर हो तो स्वेदल (Diapheretic) और अतिसार हो तो ग्राही (Astringent) औषध दे देना चाहिए, यही एक चिकित्सा की संपूर्णता समझी जाती थी। प्रवाहिका (Dysentery) तथा विषमज्वर (Malaria) की चिकित्सा में केलोमल (Calomel) २० ग्रेन तक की बड़ी मात्रा में दिया जाता था। परिणाम यह होता था कि रोगी सर्वथा अशक्त और निःसंज्ञ होकर पञ्चत्व को प्राप्त हो जाता था। यह जानकर आप आश्चर्य करेंगे कि इस्ट इण्डिया कंपनी के राज्य काल में १८४७ ईसवी तक कलकत्ता के अस्पतालों में विषम-ज्वर (मलेरिया) चिकित्सा में 'केलोमल' का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। अन्ततः 'क्विनाइन' का आविष्कार हुआ और अनेकों का विरोध होने पर भी उसका उपयोग दिन प्रतिदिन बढ़ता गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में होमियोपैथी का उस लक्षणप्रत्यनीकचिकित्सापद्धति (Symptomatic treatment) के विरुद्ध उत्थान हुआ। उसने रोग के लक्षणों को न दबा कर शरीर की स्वाभाविक संरक्षण शक्ति को रोग का सामना करने का अवसर दिया। होमियोपैथी का स्वल्पतम मात्रा में औषध प्रयोग उस समय लोगों की दृष्टि में हास्यास्पद प्रतीत होता था, पर उससे जब रोगी अच्छे होने लगे तब उसकी उपयोगिता समझ में आ गई और एलोपैथी के दोष प्रकाश में आने लगे।

होमियोपैथी के युग में ही जीवनरसायनशास्त्र (Biochemistry) का भी आरम्भ हुआ था। शरीर में जिन द्रव्यों की कमी के कारण रोग उत्पन्न होते हैं उनकी पूर्ति कर देने से रोग निर्मूल हो जाते हैं, यह उस शास्त्र का सिद्धान्त है। सहस्रों व्याधियों का स्वल्पतम औषधियों की सहायता से प्रतीकार करना यह उस शास्त्र का लक्ष्य है। अतएव उसका औषध संग्रह बहुत ही अल्प है। यह पद्धति होमियोपैथी के निकट ही कही जा सकती है।

इसके बाद निसर्गोपचारपद्धति (Naturopathy) का जन्म हुआ। प्रकृति के नियमों का पालन करने से अर्थात् प्राकृतवस्तुओं का सादा आहार अथवा उसमें उपयोगार्ह परिवर्तन, लंघन, संवाहन, बस्तिप्रयोग, सूर्यस्नान आदि प्राकृत उपायों से रोगमुक्ति होती है, यह इस शात्र का सिद्धान्त है। ये सब पद्धितियां केवल शरीरोपचार को ही मुख्य मानती है। इन सब के विपरीत एक मानसोपचार पद्धति (Psychtherapy) भी है जो मानस रोगों से पीड़ित रोगयों के लिये उत्तम सिद्ध हुई है। आजकल इसी के समानरूप की एक प्रार्थनोपचारपद्धति (Christian seience faith healing) भी प्रचलित है जिसका ध्येय व्याधिपरिमोक्षण के लिये मानसबल को बढ़ाना, आस्थासहित ईश्वरप्रार्थना करना, ईश्वर पर श्रद्धा और विश्वास करना आदि है।

रोगनिवारण तथा रोगप्रतिषेध में सम्पूर्णसिद्धि प्राप्त करने का अभिमान कौन पद्धति कर सकती है? यह तो निष्पक्षबुद्धि से सत्य की समीक्षा करने वाले निरपेक्ष परीक्षक ही बता सक्ते हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में इस प्रकार विभिन्न मत होने से एक का दूसरे में दोष दर्शन और अपने-अपने पक्ष को लेकर परस्पर विवाद ही होता रहता है। पर ऐसे पक्षसंश्रय और विवाद से सत्यसिद्धान्त की उपलब्धि नहीं होती। सत्य तो एक ही है। कल्पना, विचार और प्रकार में भेद हो सकता है, सत्य में कोई अन्तर नहीं होता। वही विज्ञान है। सत्य सिद्धान्त तक पहुंचनेके लिये दुराग्रह और पक्षपात का परित्यागकर विवेकबुद्धि का संश्रय करना होता है। तभी अध्यात्म (वास्तविक तत्त्व) की प्राप्ति होती है। चरकसंहिता के यज्जः पुरुषीय अध्याय में भगवान् पुनर्वसु का यही उपदेश है—

"तथर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसुः।
मैवं वोचत तत्त्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात्।
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव।
पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद् गतौ॥
मुक्त्वैवं वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम्।
नाविधूते तमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते॥"

च० सू० अ० २५

आजकल की वैज्ञानिक पाश्चात्यवैद्यकशिक्षापद्धति एलोपैथी का ही परिष्कृत संस्करण कही जाती है। क्योंकि अब इसमें उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक सिद्धान्तों को छोड़कर नवीन मन्तव्य स्वीकार किये गये हैं। औषधियों के गुणधर्मों का गतानुगतिक विधि से नहीं किन्तु दीर्घकालके अवलोकन तथा अनेक बार के प्रयोगों के बाद निर्णय होता है। कौन औषधि किस रोग की चिकित्सा में क्यों देनी चाहिये? और वह किस प्रकार काम करती है? अब इसका प्रायः सप्रमाण विचार Logical thought) किया जाता है। स्वस्थ तथा अस्वस्थ प्राणियों और मनुष्यो पर प्रयोगपरीक्षा करने के बाद ही औषध को चिकित्सा में प्रयोगार्ह मानना चाहिये, यह नियम अब इसमें दृढ़ता से पालन करना शुरु किया गया है। पर प्राणियों पर किये हुए प्रयोग सर्वदा समुचित पथ के प्रदर्शक नहीं सिद्ध होते। क्योंकि प्रत्येक प्राणी में व्याधिविशेष का

प्रतीकार करने की शक्ति एक ही रूप में नहीं होती और न किसी एक ही औषधि में विभिन्नप्रकृति के प्राणियों पर समानरूप में क्रिया करने की शक्ति देखी जाती है। ऐसी स्थिति में नानाजाति के प्राणियों पर किये हुए प्रयोग मनुष्यों पर वस्तुतः यथार्थ सिद्ध नहीं होते। परिणाम यह होता है, पाश्चात्यशिक्षा के चिकित्सकगण जिन औषधियों को एक दिन प्रयोगार्ह समझ कर प्रचलित करते हैं उन्हीं को अव्यवहार्य कह कर कुछ दिन बाद छोड़ते हुए देखे जाते हैं। यद्यपि इससे उनकी औषधगुण परीक्षा की उत्कटाभिलाषा का परिचय मिलता है तथापि चिकित्साक्षेत्र में उनकी और विशेषतः उन आर्तजनों की जो उन पर विश्वास रख कर प्रति दिन वैसी औषधियां खाते रहते हैं—दयनीदशा विचारणीय है। ऐसे प्रयोग और परिहार आज इस वैज्ञानिक युग में भी जब देखे जाते हैं तब प्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यकार बाल्टर साहब की यह उपहासोक्ति—"औषध जिनके संबन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते रोगी के शरीर में डालना जिसके विषयमें हमारा अज्ञान इससे भी अधिक है" इसका नाम है चिकित्सा या परिचर्या"—विस्मय के साथ स्मरण हो आती है।

आयुर्वेद में औषधियों के प्रयोग की कार्यकारण-मीमांसा, द्रव्य के पाञ्चभौतिक संघटन, और रस, गुण, वीर्य विपाक, प्रभाव के अनुसार तपोधन महर्षियों द्वारा मानवशरीर पर चिरकाल तक किये गये प्रयोगपरीक्षणों के आधार पर ही की हुई है। अतएव आयुर्वेदीय द्रव्यगुणविज्ञान रोगनिवारण में वस्तुतः अद्भूत चमत्कारनिर्देशक एवं महत्त्वपूर्ण है। कुत्ता, बिल्ली, मेढक, खरगोस आदि पर किये हुए प्रयोगों के आधार पर आधुनिक फर्माकोलोजी हजारों तर्कवितर्कों से भी आयुर्वेदोक्त अम्बष्ठादिगण के द्रव्यों को यदि विरेचन सिद्ध करे तो उसकी वैज्ञानिकता पर मेडिकल कालेज से निकले हुए नये डाक्टर एक बार विश्वास कर सकते हैं, पर चिकित्साव्यवहार में आने पर रोगी को आराम करते समय उन्हें यह मानना ही पड़ेगा कि वह औषधगण विरेचन नहीं, स्वभावतः ग्राही है।

आयुर्वेद तो मनुष्यों पर किये जानेवाले प्रयोग परीक्षणों को भी सुगम नहीं बताता। उसका कथन है, एकही औषधि का सब मनुष्यों पर समानोपयोग करने पर सर्वदा एकही प्रकार का निर्धारित परिणाम नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के शरीरप्रकृति, बल, वय, जठराग्नि, रोगवस्था आदि अनेक प्रकार की विभिन्न स्थिति के होते हैं और विभिन्न देशकालोत्पन्न प्रत्येक औषधि की रोगनिवारणी शक्ति भी रस,वीर्य, विपाक, प्रभाव, आदि के भेद के कारण एक सी नहीं होती। ऐसी स्थिति में मनुष्य की देहप्रकृति आदि का और स्थलकालोत्पत्ति के अनुसार औषधियों के रसादि की स्थिति का यथावत् प्रयोगपरीक्षण करने के बाद ही चिकित्साकाल में औषधियों का विचारपूर्वक यथा योग्य प्रयोग करना चाहिये।

जब मनुष्यों पर किये जाने वाले प्रयोगपरीक्षणों की ही यह स्थिति है तब प्राणियों पर किये हुये प्रयोगों को निर्भ्रान्त समझने का कौन मार्ग है? इस प्रसंग में प्राच्य और पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र के प्रौढ़विद्वान् स्वर्गीय महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन सरस्वती एम, ए, एल, एम, एस, ने बंबईमें विद्यापीठाध्यक्षपद से अपने अभिभाषण में जो कुछ कहा था—उसे हम यहाँ फिर दुहरा देना चाहते हैं-'जो लोग क्लोरोफार्म से संज्ञाशून्य खरगोश, मेंढ़क, बिल्ली, आदिमें औषधिसार प्रयुक्त कर हृदयादि यन्त्रों पर औषधि का प्रभाव जानना चाहते हैं उनसे हम कहेंगे कि शशक आदि में प्रयुक्त औषधि की क्रिया मनुष्योंको दी हुई औषधि

की क्रिया के समान नहीं होगी और प्रकृतिस्थ प्राणी की शारीरिक क्रियाएं तथा संज्ञा शून्यप्राणीकी शारीरिक क्रियाएं कभी एक नहीं हो सकती। हृदयमात्रमें प्रवेशित औषधि का प्रभाव समस्त शरीरवर्ति औषधि प्रभाव से भिन्न होगा और न औषधिसार के ही गुण समग्र औषधि के गुण के समान होंगे। इस लिये स्वस्थ या रोगी मनुष्य में औषधिका जो प्रभाव दीख पड़े उसे ही ठीक समझना चाहिये। आधुनिक फार्माकोलोजी (Pharmacology) में वर्णित अप्रामाणिक उपदेश तथा नवीन आविष्कार सर्वथा अग्राह्य हैं।"

वैज्ञानिकों का कथन है—यह शरीर असंख्य सूक्ष्मकोषों (Calls) का बना हुआ है। नाना प्रकार के कोष शरीर में नाना व्यापार करते हैं। औषधियों की क्रिया इन शारीरिक कोषों पर ही होती है और तीन प्रकार की होती है। औषधद्रव्य शारीरिक कोषों को या तो उत्तेजित (Stimulation) करते हैं, या क्षुब्ध (Irritation) करते हैं, अथवा अवसन्न (Depression) करते हैं। आशय यह कि औषधियों की कोषों पर उत्तेजन, क्षोभण, और अवसादन इन तीन रूपों में ही क्रियाएं होती हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि औषधियों के प्रभाव से ये कोष अपनी स्वाभाविक व्यापारप्रवृत्ति को न्यूनाधिक कर सकते हैं पर कार्यान्तरनिष्पादिनी नहीं बना सकते। जैसे फुफ्फुस के कोष रक्त को न्यून वा अधिक स्वच्छ कर सकते हैं अथवा रक्तशुद्धि नहीं भी कर सकते हैं, पर वे रक्त के कणों को उत्पन्न करने का नया काम नहीं कर सकते। इसी प्रकार आमाशय के कोष न्यूनाधिक पाचन अथवा उत्क्लेश (Nausca) उत्पन्न कर सकते हैं पर रक्त को शुद्ध करने का नवीन कार्य नहीं कर सकते। वास्तविक चिकित्सा का आदर्श इन कोषों को प्राकृतिक अवस्था में लाकर इनसे प्राकृतिक कार्य कराना है, अर्थात् क्षुब्ध हुए कोषों के व्यापार का संशमन, उत्तेजित कोषों का अवसादन और अवसन्न कोषों का उत्तेजन, यही आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्साका ध्येय है। हमारे महर्षियोंने आयुर्वेदमें विषम धातुओं (दोषों) को साम्यावस्थामें लाना ही चिकित्साका मुख्य ध्येय बताया है और यहां उन्होंने शरीर के प्राकृतिक और वैकृतिक कार्यों का निरूपण त्रिदोषसिद्धान्त के आधार पर किया है तथा उसी आधार पर रोगविज्ञान और चिकित्सा को भी प्रतिष्ठापित किया है। अस्तु, वैज्ञानिक चिकित्साशास्त्र के निर्णयानुसार शारीरिक कोषों (Cells) पर होनेवाली औषधद्रव्यों की उत्तेजन (Stimulation) क्षोभण (Irritation) और अवसादन (DePression) ये तीनों ही क्रियायें आयुर्वेद के—

"शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा।"

अष्टा० सूत्र० अ० १

"किंचिद्दोषप्रशमनं किंचिद् धातुप्रदूषणम्।
स्वस्थवृत्तौ मतं किंचित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते"

चर० सूत्र० अ० १

इस प्रकार निर्दिष्ट शमन, कोपन, और स्वस्थहित इन तीन शब्दों में समाविष्ट होती है। वैज्ञानिक कहते हैं कि कुछ औषधियां अपने भौतिक गुणों के कारण और कुछ भौतिक तथा रसायनिक गुणों के कारण शारीरिक कोषों पर प्रभाव किया करती हैं। इन द्रव्यों की क्रिया कोषों के जीवनरस (protoplasm) के रासायनिक संघटन पर होती है और वे उसके साथ रासायनिक विधि से मिल जाते हैं। पर कई एक द्रव्य शरीर पर किस प्रकार किया करते हैं यह समझ में नहीं आता है। इस संबन्ध में वे कहते हैं कि हमारा यह अज्ञान ऐसा आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता, जब हम यह

विचार करते हैं कि एक साधारण से साधारण कोष की रचना तथा अनेक द्रव्यों का रासायनिक संघटन कैसा जटिल है? अन्त में वे स्पष्ट कहते हैं, केवल रासायनिक विधि से औषधियों के गुणों का पूरा समाधान नहीं हो सकता। क्योंकि संपूर्ण द्रव्यों की क्रियाओं का समाधान करने में सहायक हो सके ऐसा कोई भी सिद्धान्त अब तक निश्चित नहीं हो सका।

ऐसी स्थिति में आधुनिक चिकित्सापद्धति के द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली औषधियाँ विज्ञानसंमत हैं; यह प्रचार कहां तक संगत है? यह विज्ञजन ही बता सकते हैं। हमारे वैज्ञानिक चिकित्सकबन्धु करीब एक शताब्दी से विषमज्वर, (malaria) पर क्वीनाइन का प्रयोग नित्य ही करते आये हैं, पर मलेरियल पैरासाइट पर इसकी क्या क्रिया होती है? यह आज तक पता नहीं चला। यह औषधि इसलिये प्रयुक्त होती है कि इसका मलेरिया पर अचिन्त्य प्रभाव देखा जाता है। काला आजार तथा निद्रा-रोग आदि पर अञ्जन और उसके योगों (Antimany and its preparations) का प्रयोग भी आश्चर्यजनक प्रभावोत्पादक है। पर इन पर उसकी क्या क्रिया होती है, यह अभीतक विचारणीय है।

आयुर्वेद में क्षेत्र की देख भाल को ही महत्त्व दिया गया है, शरीर की रोगप्रतिरोधक्षमता (Immunity)' बनाये रखनेका विशेष ध्यान रखा गया है। इसी कारण से रोगोत्पत्ति में जीवाणुओं को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया।

कुछ दिन पूर्व की घटना है, एक रिसर्च करनेवाले साहसी पुरुष ने हजा (कालरा) के जीवाणुओं से परिपूर्ण एक पूरा गिलास पीलिया, पर उसे कुछ नहीं हुआ। यह दृष्टान्त क्षेत्र की सुदृढ़ता के सिद्धान्त को ही परिपुष्ट करता है।

जन्तुशास्त्र (Bactriology) की गवेषणाओं में उत्साहाविष्ट लोगों ने रोगोत्पत्ति में जन्तुओं को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया है। पर अब वैज्ञानिक समुदाय यह स्वीकार करने लगा है कि शरीर की स्वभाविकरोग प्रतिषेधशक्ति (Immunity) को स्थायी रखने का प्रयास किया जाय तो जीवाणुओं से डरने की आवश्यकता नहीं है।

आयुर्वेद में जीवाणुकारणवाद को गौण माननेका अर्थ यह नहीं है कि उस समय जीवाणुतत्व का ज्ञान ही न था। कुष्ठ आदि रोगों की उत्पत्ति में जीवाणुओं की कारणता तथा, शोष (यक्ष्मा), ज्वर (प्लेग, निमोनिया, मलेरिया, आदि) नेत्राभिष्यन्द एवं औपसर्गिक रोगों का एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य पर संक्रमण करने का निर्देश यह स्पष्ट करता है कि हमारे महर्षि लोग जीवाणुतत्वको अच्छी तरह जानते थे।

आयुर्वेद में रसतन्त्रभी एक महत्त्व का अंग है जो द्रव्यगुण और चिकित्सा विज्ञान में विशेष महत्त्व रखता है। यह तन्त्र पारद, गन्धक, स्वर्ण, रौप्य, लौह, अभ्र आदि पार्थिव द्रव्यसमूह को शोधन, जारण, मारण आदि द्वारा चिकित्सोपयोगी बनाता है। कुछ लोगों का ख्याल है, कि बर्तमान "कमेस्ट्री वा धातु विद्या' का यही आदिमूल है। इस तन्त्रमें निर्दिष्ट योगों के आधार पर ही आज कल आयुर्वेदीय चिकित्सा का अधिक उपयोग होता है। रसतन्त्र के प्रवर्तक रसायनाचार्योंने यह सिद्धान्त निश्चित किया कि औषधद्रव्य जिस रूप में शरीर में प्रविष्ट होकर अपने गुण प्रकट कर सकें और किसी भी प्रकार की विषमयी क्रिया न करने पावें उसी रूप में उनका प्रयोग होना चाहिये। अतएव उन्होंने धातुओंके भस्म कूपी-पक्वरस आदि के निर्माण में निरिन्द्रिय द्रव्यों (खनिज धातुओं) को वनस्पतियोंके रसों की भावना

देकर विविधप्रकार के पाक और संस्कार से सेन्द्रिय-स्वरूप में (Organicform) लाने का प्रयास किया है

स्वर्ण,लोह आदि धातुओं के भस्मों को वारितर निरुत्थ एवं निश्चन्द्र बनाने में उनका लक्ष्य यही था कि वे शरीर के ग्राह्य एवं लाभप्रद औषध बन जाएँ। इन भस्म और पारद के कूपीपक्व योगों का प्रतिदिन प्रयोग कर देखा जाता है कि ये शारीरिक कोषों के लिये सर्वथा ग्राह्य होते हैं। आयुर्वेदीय रस शास्त्र द्रव्यों के प्रयोग में वनस्पतियों का कोई प्राधान्य नहीं रखता। उसकी संपूर्ण चिकित्सा रस और धातुओं द्वारा ही होती है। आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्सा शास्त्र भी रसायन (केमिस्ट्री) शास्त्र के आधार पर बनाये हुए योगों का उपयोग करता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दोनों में द्रव्यप्रयोग के सिद्धान्तसे बहुत कुछ विचार समन्वय है। पर औषध द्रव्य शरीर में फैल कर अपने गुणों को शीघ्र व्यक्त करें इस विचार में दोनों पद्धतियों ने कुछ भिन्न मार्ग का अवलम्बन किया है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति ने सूचिवेध (Injection) के द्वारा औषधो पयोग करने में अपनी विशिष्टता दिखाई है और यह बताया है कि सूचीद्वारा रक्तप्रवाह में संमिश्रित की हुई औषधि एक दो मिनट में ही समस्त शरीर में फैल जाती है और अपना व्यापक प्रभाव दिखाने लगती है। पाश्चात्यद्रव्यगुण-विशेषज्ञों ने द्रव्यों के द्रवरूप (Solubility) प्रयोगपर इतना दृढ़ मत कर लिया है कि वे इस से भिन्न दशा में द्रव्य की क्रियाओं को संभव ही नहीं समझते। परिणाम यह होता है कि स्वर्ण और पारद जैसे अप्रतिभ द्रव्य उनके यथेष्ट उपयोग में नहीं आते। यह निश्चित है कि सुवर्ण और पारद जैसे शक्तिशाली द्रव्य शरीर में द्रवरूप में प्रविष्ट किये जाते हैं तो यकृत् और मूत्रपिण्ड आदि अवयवों में तीव्र क्षोभ उत्पन्न करते हैं। इधर वैज्ञानिकों की समझमें यह भी आया है कि ये द्रव्य सूक्ष्ममात्रा में उपयोग करने पर लाभदायी सिद्ध होते हैं। इसी विचार से उन्होंने स्वर्ण-आदि धातुओं को अत्यन्त सूक्ष्मरूप में एक द्रवमिश्रण (Colloids) में मिला कर सूचीवेध द्वारा शरीर में प्रविष्ट करने का मार्ग स्वीकार किया है। परन्तु इन योगों में भी द्रव्यों का निर्विषीकरण समुचित नहीं होता इसी से ये योग अभीष्ट फल नहीं देते।

वास्तव में देखा जाय तो स्वर्णादि धातुओं का द्रवरूप में अशुद्ध प्रयोग उनकी उस पूर्व-धारणा (Prejudice) का ही द्योतक है जो वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा निराधार है।

प्राचीन रसायनाचार्यों ने रस और धातुओं का उपयोग उनमें रासायनिक परिवर्तन के अद्रव (Inssoluple) रूप में ही किया है। स्वर्ण और गन्धक के साथ पारद की कज्जली बनाकर ७२ घंटे तक उसका अग्नि-संस्कार होने से मकरध्वज में जो गुणाधान होता है उसे आधुनिक रसायन-शास्त्र (Chemistry) अभी तक नहीं समझ सका। निरुत्थ भस्म होने पर उस भस्म से उस धातु को फिर अपने प्राकृतिक रूप में खड़ा करना असम्भव है। ऐसे भस्मों के असंख्य योग प्रतिदिन ही लाभ करते हुए देखे जाते हैं। पर वैज्ञानिकमन्य चिकित्सक समुदाय इनका उपयोग इसलिये नहीं करना चाहता कि वह द्रुतिरूप (Solubility) में नहीं है और उसकी यह दृढ़ धारणा है कि स्वर्ण, पारद, लोह आदि की द्रवरूप से भिन्न किसी भी दशा में शारीरिक कोषों (Cells) पर क्रिया संभव नहीं है। उनके इस मत की पुष्टि में कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। ऐसी दशा में यदि हम यह कहें कि प्राचीन वैद्यों के मत और

(शेषांश ८९० पृष्ठ पर)

आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान

(गताङ्क से आगे)

वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालंकार

सत्व-रज-तम-मन के गुण

प्रकृति और पुरुष का अस्तित्व होते हुए भी व्यवहारमें उसका अङ्गीकार न करनेके कारण, प्रकृति के मूल भूत सत्व-रज-तमका भी अनङ्गीकार स्वयं हो जाता है। परन्तु भारतीयों के अन्तस्तलमें प्रविष्ट और ओत-प्रोत इन गुणों का सर्वथा अस्वीकार कैसे संभव हो सकता है? और सचमुच स्थावरजङ्गमों के आदि कारण के रूप में इन गुणों को स्वीकार न करते हुए भी मन-जैसी सूक्ष्म वस्तु के भेदक लक्षणों के रूप में इन्हें स्वीकार किया गया है। तीनों गुणों की न्यूनाधिकता के आधार पर मनों के तथा उनके आधार पर उनके स्वामी पुरुषों के सात्विक, राजस और तामस भेद संहिताकारों ने माने हैं। आगे इन के भी असंख्य प्रकार कह कर, दृष्टान्त रूप से थोड़े-थोड़े भेदों के लक्षण आचार्यों ने दिये हैं।

स्थावर-जङ्गमों को पञ्चभूतात्मक माननेसे सांख्य मतानुसार पञ्चभूतों की उत्पत्ति के पूर्व प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि और अहंकार भी अनङ्गीकृत-से हो जाते हैं। परन्तु, उन्हें भी छोड़ना कैसे शक्य है? मन अथवा आत्मा के गुणों के रूप में उन्हें संहिताकारों ने स्वीकार किया है।

आयुर्वेदाभिमत आत्मा

आयुर्वेदीय संहिताकारों की स्थूलदर्शिता का प्रबल प्रमाण तो उनकी 'पुरुष' या 'आत्मा' सम्बन्धी परिभाषा है। आत्मा के प्रकरण में चरक और सुश्रुत दोनों ने प्रसिद्ध जीवात्मा का अङ्गीकार करके तथा उसका दर्शन-संमत अर्थ देकर भी, आगे स्वशास्त्र-संमत अन्य ही अर्थ दिया है। चेतन शरीर किंवा शरीर, इन्द्रिय, जीवात्मा तथा मन इनके संयोग को आयुर्वेद में आत्मा या पुरुष माना है। संहिताकारों का मत कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि, निर्विकार—जो न रोग का और न आरोग्य का अधिष्ठान (आश्रय)—हो उस आत्मा से हमें क्या प्रयोजन? उसके प्रतिपादन की हमें आवश्यकता ही क्या? इसी कारण रोगके अधिष्ठान-भूत इन्द्रिय-सहित मन तथा शरीर के संयोग को ही उन्होंने आत्मा माना। 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' तैत्तिरीयोपनिषद् के इस वचन से उपनिषदों को अभिमत पुरुष भी यही प्रतीत होता है। च० शा० १।१६ की टीका में चक्रपाणि ने वैशेषिक दर्शनाभिमत पुरुष भी यही बताया है[1]। इस स्थिति में तो, आत्मा के संबन्ध में हममें जो विचार रूढ़मूल हो गये हैं उनमें आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

मन का आयुर्वेदसम्मत स्वरूप

आत्मा अर्थात् पुरुष को अन्य शास्त्रों ने जो पद दिया है, वह आयुर्वेदीय संहिताकारों को इष्ट न होने से उसके (आत्मा के) जो कर्म दार्शनिकों ने माने हैं वे कर्म स्वभावतः आयुर्वेद में मन के माने गये हैं। उदाहरणतया, सामान्यतः शरीरमें आत्मा के प्रवेश को जन्मधारण कहा जाता है तथा शरीर से उसके निकल जाने को मृत्यु। परन्तु, सर्वगत

१—अयंच वैशेषिक दर्शन परिगृहीतश्चिकित्साधिकृतः पुरुषः।

(आकाशवत् सर्वग व्यापक) आत्मा का प्रवेश और निर्गमन कैसा ? अतएव सूक्ष्म इन्द्रियों सहित मन के गर्भ में (संयुक्त हुए शुक्र-शोणित में) प्रवेश को ही जन्म और उसके शरीर से निकल जाने को ही मृत्यु आयुर्वेद माना है।

इसी प्रकार निर्विकार होने से आत्मा को ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता नहीं कहा जा सकता। न उसे रोग या आरोग्य का लेप होना संभव है। अतः, आयुर्वेद में ज्ञान, कर्म, फलोपभोग, रोग, आरोग्य—सबका आश्रय इन्द्रियसहित मन से संयुक्त शरीर को ही माना है। तथापि, यह भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि, मन अचेतन है अतः उसे कर्त्ता होते हुए भी कर्त्ता कहने का प्रचार नहीं है। चेतन होने से आत्मा को ही कर्त्ता मानने-कहने की पारिपाटी है।

परन्तु इससे भी बढ़ कर मन के आयुर्वेद में विशेष रूप से प्रतिपादित कर्म तो वे हैं जिनका निरूपण शरीर की जीवनोपयोगी क्रियाओं के प्रसंग में तथा रोगों का विवरण करते हुए किया गया है। शरीर और मन का परस्पर प्रगाढ़ संबन्ध बताते हुए प्रथम तो यह सिद्धान्त जताया गया है, कि दोनों के स्वास्थ्य अस्वास्थ्य का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। आधुनिक चिकित्साशास्त्र का इस बात को प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ है। अपरं च, शरीर के आरोग्य और रोग के निदान भूत वात-पित्त और कफ का उभय अवस्थाओं में मन पर कैसा प्रभाव होता है, यह आयुर्वेद का विशेष प्रतिपाद्य विषय है। संहिताओं से संकलन करके इस ग्रन्थ में इस विषय की चर्चा कुछ विस्तार से की गयी है। आशा है, विज्ञ वाचक इस दिशा में अधिक विचार करेंगे।

महाभूत विषयक आयुर्वेदीय मन्तव्य

महाभूतों को आयुर्वेद में जो महत्त्व दिया गया है उसका कुछ संकेत ऊपर किया गया है। पञ्च महाभूतों को विशिष्ट स्थान देने का कारण यह है कि, तत्-तत् भूत के आधिकक्य के कारण द्रव्यों में अमुक-अमुक विशेष गुण-कर्म होते हैं—अर्थात् उस भूत की उपस्थिति के कारण द्रव्य की शरीर पर अमुक-अमुक विशेष क्रिया होती है। दर्शन ग्रन्थ का अल्पमात्र भी अध्ययन जिन्होंने किया है, वे कह सकेंगे कि, उनमें पाञ्चभौतिक द्रव्यों के इन गुण-धर्मों की गन्ध भी नहीं। परन्तु आयुर्वेद का तो ये एक तरह से आधार हैं। इनका अनुशीलन आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान की सहायता से ही हो सकता है—दर्शनग्रन्थों से नहीं।

भूतों के गुण-कर्मों के प्रसंग में यह भी आयुर्वेद में विशेष रूप से कहा गया है कि, स्थावर-जङ्गमों की उत्पत्ति में पाचों महाभूतों का भाग होते हुए भी अग्नि और जल इन दो भूतों का स्थान मुख्य है। जैसा कि सब जानते हैं, हमारे शरीर तथा बाह्य द्रव्यों में पृथिवी तत्त्व का प्रमाण विशेष होने से इन्हें पार्थिव कहना ही अधिक उपयुक्त है। तथापि द्रव्य को अग्नीषोमात्मक कहने का कारण यही है कि, जिन द्रव्यों का हम बाह्य या आभ्यन्तर सेवन करते हैं, उनमें इन भूतों का ही कर्म विशेषतया लक्षित होता है। इसी प्रकार शारीर दोषों में भी इन दो भूतों का कार्य विशेष है।

गुणों का स्वरूप तथा महत्त्व

महाभूतों के सम्बन्ध में आयुर्वेदीय मत का निर्देश हमें सीधे आयुर्वेद के गुण विषयक मन्तव्यों का स्मरण कराता है। स्थूलदर्शी आचार्यों ने व्यवहार की सुगमता के लिये प्रथम तो द्रव्य मात्र को पाञ्चभौतिक मान कर यह सिद्धान्त स्थापित किया कि, आहारौषध के रूप में बाह्य पाञ्चभौतिक द्रव्य शरीर में सम (यथोचित) प्रमाण में जाते रहें तो दोष

आदि का प्रमाण सम रहता है तथा उनकी समता के कारण उनकी क्रिया का भी साम्य बना रहता है। इस सिद्धान्त को और भी सुगम बनाने के लिए पूर्वाचार्यों ने यह रीति रक्खी है कि, निघण्टु के अधिकार में द्रव्यों का वर्णन करते हुए तथा क्रिया-शारीर या रोगाधिकार में दोषों की तीनों अवस्थाओं का निरूपण करते हुए उनके पाञ्चभौतिक स्वरूप का निर्देश नहीं किया है—अर्थात् किस द्रव्य में कौन महाभूत अधिक है, इस बात का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु, इन महाभूतों की विद्यमानता के कारण उनमें जो शरीर पर क्रिया करनेवाले गुण होते हैं, उनका ही उल्लेख किया है। दोषों की पाञ्चभौतिक रचना यद्यपि बताई गई है तथापि उसका विशेष उपयोग नहीं हुआ है। इस प्रकार आभ्यन्तर-बाह्य द्रव्यों की भौतिक रचना के स्थान पर गुणो के निर्देश की पद्धति स्वीकार करके यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि—आहारौषध द्रव्यों में वही गुण हों जो शरीर के दोषादि अवयवों में हैं, तभी दोषादि के प्रमाण तथा उनकी क्रिया का साम्य बना रहता है। इसके विपरीत शरीर में किन्हीं गुणों की क्षीणता होने पर आहरौषध के रूप में उन गुणों की अधिकता वाले द्रव्यों का तथा किन्हीं गुणों की शरीर में अधिकता लक्षित होनेपर उन गुणों की न्यूनता वाले आहारौषध द्रव्यों का यथायोग्यप्रमाण में सेवन करने से न्यून या अधिक हुए गुण पुनः समावस्था में आ जाते हैं—तथा उनकी विषमता से हुई विक्रिया (रोग) भी शान्त होती है।

गुणों के विषय में अन्य उल्लेख योग्य बात यह है कि वैशेषिकदर्शनाभिमत गुणों के समान आयुर्वेद के गुण स्पर्शेन्द्रियादि से ज्ञात होने वाले गुण नहीं हैं—अर्थात् जिन्हें आधुनिक विज्ञान में 'फिजिकल प्रापर्टीज'[1] (भौतिक गुण) कहा जाता है, उस प्रकार के ये गुण नहीं हैं। किन्तु, बाह्य या आभ्यन्तर सेवन करने पर शरीर पर द्रव्यों की जो क्रिया होती है, उसीके द्योतन (सूचना) करने वाले ये गुण हैं। उदाहरणतया, राजिका (राई) शुण्ठी आदि द्रव्यों को हम उष्ण इसलिये नहीं कहते कि उनका स्पर्श उष्ण है। उन्हें उष्ण कहने का कारण यह है कि शरीर के सम्पर्क में आने पर उनकी केशिका-विस्फारण, रक्तिमा-जनन, दाह, ताप-वर्धन आदि क्रियाएँ होती हैं। तप्त लोह-गोलक आदि उष्ण-स्पर्श वस्तुओं को भी इसी कारण उष्ण कहा जाता है कि वे भी राजिका इत्यादिके सदृश ही क्रिया करती हैं। गुणों का यह महत्त्व होने के कारण ही इस ग्रन्थ में हमने उन्हें विशेष स्थान दिया है, तथा यथामति आधुनिक मतानुसार उनकी व्याख्या भी की है। इस दिशा में भी विशेष विचार करने का वाचकों से नम्र अनुरोध है।

गुणों का यह स्वरूप-भेद होने के कारण ही प्रथम दृष्टिपात में ही हम देख सकते हैं कि आयुर्वेदोक्त गुण संख्या, नाम, रूप (लक्षण) सभी दृष्टियों से वैशेषिक दर्शन संमत गुणों से भिन्न हैं।

इन सब गुणों में भी रस के विषय में तो आयुर्वेद में जो विस्तार से विवेचन किया है—उसके भेदों के जो गुण-कर्म, दोषों पर प्रभाव तथा अतियोग की जो हानियाँ कही हैं वह आयुर्वेद का अपना ही विषय है।

कर्म का आयुर्वेद में विशेष अर्थ

गुणों के समान ही आयुर्वेद में कर्म का भी कुछ विशेष अर्थ है। जैसा कि सुविदित है, उत्क्षेपण-अपक्षेपण आदि पांच को दर्शन में कर्म कहते हैं

[1]—Physical Properties.

आयुर्वेद में इन पांच का तो कर्म नाम है ही साथ ही शरीर में दोषादि तथा शरीर के सम्पर्क में आने पर आहारौषध द्रव्य जो कुछ (क्रिया) करते हैं, उस लङ्घन-बृंहण-विरेचनादि को भी कर्म कहा जाता है। इनका विशेष अध्ययन आयुर्वेद से ही हो सकता है। दर्शन-ग्रन्थों में इनका संकेत भी नहीं है।

काल

दर्शन-ग्रन्थों में काल का इतना ही परिचय कराया गया है कि भूत-भविष्य-वर्तमान शब्दों का व्यवहार जिस द्रव्य के लिए किया जाता है उसे काल कहते हैं। परन्तु, आयुर्वेद में इसके दो भेद किये हैं—नित्य काल तथा रोग और रोगी की अवस्था रूप काल। वर्ष के दो विभाग—उत्तरायण और दक्षिणायन, प्राणियों और उद्भिज्जों पर इन अयनों का प्रभाव, विभिन्न ऋतुएँ, ऋतुभेद से बाह्य सृष्टि में होनेवाले परिवर्तन, उनका शरीर पर विशेषकर दोषों पर प्रभाव, दिवस और रात्रि के भिन्न-भिन्न काल, भोजन-काल—ये सब काल के प्रथम भेद के अन्तर्गत हैं। रोगी के भिन्न-भिन्न वय (बाल्य आदि), रोगी की सामनिराम आदि अवस्थाएँ, औषध-सेवन के प्राग्भक्त आदि काल—ये सब काल के द्वितीय भेद के विषय हैं। आयुर्वेद में इन कालों का कितना महत्त्व है यह जान कर काल-विषयक सिद्धान्तों का अनुशीलन भी आयुर्वेद के आधार पर होना ही सर्वथा अभीष्ट है, यह सभी स्वीकार करेंगे।

दिशा

दिशा के सम्बन्ध से सूर्य और उसके कारण चन्द्र की शक्ति में भेद होता है, यह सूर्य के दो अयनों का वर्णन करते हुए आयुर्वेद में कहा है। वायु भी भिन्न भिन्न दिशा से आते हुए भिन्न-भिन्न गुणोंवाले होते हैं।

सामान्य—विशेष

दर्शन के शब्दों का अनुसरण करते हुए आयुर्वेद में भी कहा है कि, जिस एक धर्म की अवस्थिति से अनेक व्यक्तियों (अनेक पदार्थ) के विषय में यह प्रतीति हो कि वे सब अनेक तथा पृथक् होते हुए भी समान हैं, उस धर्म को सामान्य कहते हैं। तथापि पृथक् द्रव्यों में समानता का जो रूप बताया है वह आयुर्वेद की अपनी विशेषता है। जिन द्रव्यों,-गुणों या कर्मों के सेवन से शरीर के जिस दोष, धातु आदि की वृद्धि हो वह द्रव्य, गुण या कर्म उस दोष, धातु आदि अवयव के समान कहे जाते हैं; तथा समान द्रव्य, गुण, कर्म और दोष आदि के बीच जो सादृश्य (एकत्व) है उसे 'सामान्य' कहा जाता है।

जो बात सामान्य के विषय में है वही विशेष के विषय में भी है। दर्शनग्रन्थों की अनुकृति करते हुए आचार्यों ने कहा है कि अनेक भिन्न व्यक्तियों में भिन्नता का कारणरूप जो धर्म है उसे 'विशेष' कहते हैं। परन्तु इस भिन्नता का स्वरूप आयुर्वेद में यह बताया है कि, कोई द्रव्य, गुण या कर्म शरीर के किसी दोषआदि का क्षय करता हो तो उसका कारण-भूत जो विपरीत धर्म उस द्रव्य, गुण या कर्म में होता है, उसे 'विशेष' कहते हैं।

दूध और घी शुक्र के वर्धक होने से दूध-घी तथा शुक्र में सामान्य धर्म होता है; जब कि शुण्ठी कफ की शामक होने से दोनों विशेष धर्म होता है।

प्रमाण

जिन प्रमाणों से द्रव्य, गुण आदि की परीक्षा होती है वे ही रोग-परीक्षा में भी प्रयुक्त होते हैं। अतः प्रमाणों का सामान्य लक्षण बताते हुए ऐसे ही उदाहरण संहिताओं में विशेष रूप से दिये गये हैं, जो आयुर्वेद से ही सम्बन्ध रखते हैं। जैसे, अनुमान

का उदाहरण गर्भ को देख कर मैथुन का अनुमान बताया गया है। रोग परीक्षा में तो अनुमान प्रमाण के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। इन उदाहरणों को देख कर कोई भी यह कल्पना करेगा कि इन प्रमाणों का आयुर्वेद से कुछ सम्बन्ध है। अन्यथा, अनुमान प्रकरण का दार्शनिकचक्र बेचारे विद्यार्थी की बुद्धि को निरर्थक चक्कर में डालदेता है। विशेष कर प्रारम्भिक वर्ष में ही इस विषय का अध्यापन तो विद्यार्थी के मानस में आयुर्वेद के प्रति अरुचि ही उत्पन्न करता है। विज्ञ वाचक विचार करें।

आप्त का अर्थ चक्रपाणि ने अपने रोग का ठीक-ठीक वर्णन करने वाला रोगी तथा उसके स्वजन भी किया है, जो आयुर्वेद के सर्वथा अनुरूप है।

चरक ने कई स्थानों पर युक्ति अर्थात् तर्कपूर्वक उपचार-योजना को भी प्रमाणों में स्थान दिया है, जो आयुर्वेद में इसकी प्रतिष्ठा को देखते हुए उचित ही है।

दर्शन' स्पर्शन और प्रश्न ये तीन आयुर्वेदीय रोग-परीक्षा के अंग कहे गये हैं। प्रत्यक्ष आदि तीन का चार प्रमाणों को मान कर रोगपरीक्षाधिकार में इन तीन का ही स्वीकार कैसे हुआ, यह वस्तु भी विचारणीय है। प्रमाणों के प्रकरण में हमने इस बात का भी विचार किया है।

इस अध्याय में संक्षेप में जो कुछ कहा है उसी का विस्तार आगे के अध्यायों में है। प्रवेशक-रूप में यह अध्याय इसी हेतु लिखा गया है कि अध्यापक-विशेषतया जिनके हाथ में पाठ्यक्रम बनाने का कार्य है वे महानुभाव, आयुर्वेदीय पदर्थविज्ञान के अध्यापन का वास्तविक और आयुर्वेदानुरूप पाठ्य-क्रम निर्णीत करें। इस दिशा में यह ग्रन्थ कुछ भी सहायक सिद्ध हुआ तो लेखक अपना परिश्रम सफल मानेगा।

शेषांश राष्ट्रीय चिकित्सा विज्ञान ८८५ पृष्ठ का

अनुभव का यह एक अकारण और अवैज्ञानिक तिरस्कार है तो इसे कटूक्ति नहीं समझना चाहिये। सुवर्ण आदि धातु और रसरत्नों के योगों के सम्बन्ध में डाक्टरों को संदेह है कि इनकी सूक्ष्मतम मात्रा जब महास्रोत में पहुंचती है तो इनके कुछ परमाणु ही रसमार्ग द्वारा शरीर में प्रविष्ट होते हैं और दूषित प्रदेश पर अपनी क्रिया करते हैं। पर इतने थोड़े परमाणु कैसे क्रिया कर सकते हैं? यह समझ में नहीं आता। इसका समाधान यह है, यदि एड्रिनालिन (Adrenaline) की अति सूक्ष्ममात्रा—१० अरब बूंदों में केवल एक बूंद—प्रभावशाली हो सकती है तो संस्कारित पारद और सुवर्ण के दो चार परमाणु भी अवश्य ही पर्याप्त हो सकते हैं।

कज्जली रस सिंदूर और मकरध्वज का भेद भी हमारे डाक्टर बन्धुओं के समझ में नहीं आता। इसका कारण यह है कि प्राचीन रस शास्त्राचार्यों की रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न करने की विधियों का उन्होंने अनुशीलन नहीं किया है।

कालप्रभाव से प्राचीन रसशास्त्र भी जो एक समय उन्नति के बहुत ही उच्चतम शिखर पर पहुंचा था विकल हो गया, यदि हमारे राष्ट्र सेवकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ तो विश्वास है, यह विज्ञान पुनः अभ्युदय के मार्ग पर आवेगा और राष्ट्र का बहुत बड़ा उपकार कर सकेगा।

उपवास का मानसिक चिकित्सा में महत्व

प्रो० लालजी राम शुक्ल, एम० ए०

मानसिक शक्ति के संचय करने में उपवास का भारी महत्त्व है। मानसिक शक्ति का ह्रास हमारी अशुभ-आदतों के कारण होता है। आदतें मनुष्य के स्वभाव का अंग होती हैं। वास्तव में मनुष्य का चरित्र आदतों का पुञ्ज मात्र होता है। मनुष्य की शुभ-आदतें उसके चरित्र के सद्गुण कहे जाते हैं और उसकी अशुभ-आदतें उसके चरित्र के दुर्गुण कहे जाते हैं। अशुभ-आदतें हम में अपने आप पड़ जाती हैं और शुभ-आदतों को डालने के लिये हमें प्रयत्न करना पड़ता है। बकवाद करना, निन्दा करना, काम का समय टालना, देरतक सोते रहना, किसी काम के कुटेव में पड़ जाना, गन्दे रहना बहुभोगी होना आदि ऐसी आदतें हैं जो मनुष्य में अपने आप पड़ जाती हैं। इनके प्रतिकूल आदतों को डालने के लिये मनुष्य को प्रयत्न करना पड़ता है। अशुभ-आदत ही मनुष्य के जीवन का भार है और शुभ-आदतें उसकी परमान्नद प्राप्ति के साधन हैं। अशुभ-आदतों से मनुष्य की इच्छा शक्ति निर्बल होती है और शुभ-आदतों से इछा शक्ति बलवान होती है।

मानसिक रोगों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण मनुष्य की इच्छा शक्ति की निर्बलता होती है। जो मनुष्य जितना ही सुख के वातावरण में रहता है उसकी इच्छा उतनी ही निर्बल होती है। ऐसे ही व्यक्ति को मानसिक रोग अनायास घेर लेते हैं। कठिन परिश्रम की कमाई का धन खाने वाले बिरले ही व्यक्ति को मानसिक रोग होता है। इच्छा शक्ति की निर्बलता के कारण मनुष्य किसी प्रकार को अभद्र कल्पना को मन से निकाल नहीं सकता। मनुष्य को कल्पना जब प्रबल हो जाती है तो उसके मन से बाहर निकालने के प्रयत्न से वह और भी जटिल हो जाती है। प्रबल कल्पना न केवल मानसिक रोग उत्पन्न करती वरन् शारीरिक रोग भी उत्पन्न करती है। कितने ही मानसिक रोगी कल्पित शारीरिक रोगों से पीड़ित रहते हैं और कितने ही शारीरिक रोगों का कारण मनुष्य की अभद्र कल्पना मात्र होती है। जो मनुष्य अभद्र कल्पना का शिकार है वह न मानसिक और न शारीरिक स्वास्थ्य का उपभोग कर सकता है। उसका जीवन सदा दुःखमय रहता है। जिस मनुष्य की कल्पना उसके विवेकके नियंत्रण में है वही सुखी है और जिस मनुष्य की कल्पना उसके विवेक के नियंत्रण में नहीं है वही दुःखी है।

लेखक को कितने ही ऐसे रोगियों से मिलने का अवसर मिला जो किसी प्रकार के कल्पित शारीरिक रोग से पीड़ित हैं। एक रोगी को पेट में वायु बढ़ जाने का रोग है। यह रोगी बड़ा विद्वान व्यक्ति है और सरकार के शिक्षा विभाग में उच्च पद पर आसीन है। उसने अपने शरीर का निरीक्षण बहुत से योग्य डाक्टरों से कराया और एक्स-रे के द्वारा अंतड़ियों की भी परख करवाई पर बीमारी का कुछ भी पता न चला। इस रोगी को पहले क्षय रोग होने का भ्रम था पर यह झूठ सिद्ध हुआ। इसके पश्चात् उसे वायु बढ़ने का भ्रम हो गया है। ज्यों ही वह दूध पीता अथवा कोई गरिष्ठ वस्तु खाता है उसके पेट में वायु बढ़ जाती है और उसके कारण उनका मस्तिष्क भारी हो जाता है। उनको

लाख बार आश्वासन मिलने पर भी कि उन्हें कोई शारीरिक रोग नहीं है, किसी प्रकार की सांत्वना नहीं मिलती। वह प्रति दिन किसी न किसी डाक्टर से परामर्श लेते ही रहता है।

इसकी आदतों का निरीक्षण करने से पता चला कि वह किसी प्रकार का न तो शारीरिक और न मानसिक परिश्रम करता है। उसे बार-बार भूख लगती है प्रति चार घंटे में उसे कुछ खाना पड़ता है। यदि वह चार घंटे के बाद कुछ न खावे तो उसको असह्य मानसिक बेचैनी हो जाती है। अपने रोग की चर्चा के सिवाय किसी अन्य विषय की वह देर तक चर्चा भी नहीं कर सकता। रोग की कल्पना ने उसके मन में घर कर लिया है। इसका कारण ढूंढ़ने से पता चला कि वह प्रारम्भ से ही सुखमय जीवन व्यतीत करते आया है। बचपन में इसकी सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति होती रही। पढ़ाई पूरी करने पर अच्छी सरकारी नौकरी भी मिल गई। बुद्धि अच्छी होने के कारण वह उत्तरोत्तर उन्नति कर गया। पर आज से चार वर्ष पूर्व उसकी अनबन अपने आफिसर से हो गई। इसके कारण उसे भारी मानसिक परेशानी हो गई। उसने विचारा कि उसे क्षयरोग होनेवाला है। इस विचार ने उसे कई दिनों तक पीड़ित रखा। पीछे जब यह विचार छूट गया तो दूसरे विचार ने उसे पकड़ लिया। रोग की स्त्री को वास्तविक वायु का रोग है। इस रोग की कल्पना ने ही उसी रोग से पति को भी पीड़ित कर दिया।

उक्त प्रकार के मानसिक रोग का मूल कारण रोगी की दुर्बलता ही है। इसका कारण किसी प्रकार का कुचिंतन होता है। दूसरे के प्रति की गई शत्रु भावना अपने आपको ही त्रास देने लगती है। जो विचार दूसरे के विनाश के लिये मन में लाया जाता है वह अपने उचित आश्रय के अभाव में अपने आप पर ही आरोपित हो जाता है। अपने दुश्चिंतन के कारण ही मनुष्य को मानसिक ताड़ना मिलती है। दुश्चिंतन के परिणाम को विनष्ट करने के लिये प्रतिभावना का अभ्यास और आत्मनियन्त्रण का अभ्यास आवश्यक है। पर मानसिक रोगी में इसका प्रायः सामर्थ्य नहीं होता, यह अभ्यास मानसिक रोग के आगमन के रोकने में लाभदायक होता है।

हमें कितने ही लोग सामान्य स्वास्थ्य के दिखाई पड़ते हैं पर उन्हें मानसिक कमजोरी के कारण किसी प्रकार का शारीरिक रोग पकड़े रहता है। लेखक को एक मित्र ऊपर से हट्टे कट्टे दिखाई पड़ते हैं पर भीतर से खोखले हैं। उनके बाल चालीस वर्ष की अवस्था में ही पूरे पक गये हैं। सिर के बहुत से बाल उड़ चुके हैं। वे अपनी स्त्री की हिस्टीरिया की बीमारी से परेशान रहते हैं। लेखक उनके स्वास्थ्य लाभ के लिए सप्ताह में एक उपवास की सलाह देना चाहता था। पर इसी बीच उनके कथन से ज्ञात हुआ कि वे एक घंटे भी सवेरा होने पर खाये बिना नहीं रह सकते। यदि दातौन करने पर तुरन्त कुछ वस्तु न खा लें तो उन्हें आधाशीशी उठ जाती है। सिर की पीड़ा को हटाने के लिये उन्हें शीघ्र ही कुछ खा लेना अत्यन्त आवश्यक होता है।

साधारणतः कोई भी मोटा आदमी उपवास नहीं रह सकता। जिस प्रकार उपवास मोटाई का शत्रु है उसी प्रकार शरीर की मोटाई उपवास की शत्रु है। मोटे मनुष्य का मन भय शंका युक्त और निर्बल होता है। स्थूल शरीर का व्यक्ति प्रायः निर्बल मन का होता है। शरीर की मोटाई घटाना एक प्रशंसनीय पुरुषार्थ है।

किसी प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक रोग का कारण मनुष्य के मन की दुर्बलता ही होती है

यह दुर्बलता कुछ बुरी आदतों के पड़ने से उत्पन्न होती है। उन आदतों का नाश करने में स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना ही लाभप्रद होता है। मन के काबू में आने पर मनुष्य सभी प्रकार से सुखी रहता है। पर अधिकार प्राप्त करने के लिये मनुष्य को पहले वाणी और कर्म पर नियंत्रण करना पड़ता है। जो मनुष्य जितना बकवादी होता है उसका मन उतना ही कम उसके नियन्त्रण में रहता है। अतएव वाणी पर संयम, मन के ऊपर संयम का एक उपाय है।

पर वाणी के संयम के पूर्व जिह्वा पर संयम करना आवश्यक है। जिस मनुष्य का अपनी जिह्वा पर संयम नहीं है उसका शरीर उसके वश में नहीं रहता। अधिक खानेवाला व्यक्ति आलसी होता है। आलसी मनुष्य कामी और बकवादी होता है। काम और बकवाद मानसिक शक्ति का ह्रास करते हैं। इस प्रकार बहुभोगी का मन स्वाभाविक रूप से ही निर्बल हो जाता है। अतएव जो मनुष्य अपने मन को अपने काबू में रखना चाहता है उसे सब से पहले भोजन और जिह्वा के स्वाद पर संयम करना आवश्यक होता है।

मानसिक रोगी में प्राय: उपवास करने की शक्ति नहीं होती। हाँ, कुछ मेलेन्कोलिना के मानसिक रोगी मृत्यु के आवाहन के लिये उपवास करते हैं। पर यह उपवास भी उनका मानसिक असंयम ही है। जिस व्यक्ति में सम्यक उपवास करने की शक्ति होती है वह मानसिक रोग का दास नहीं होता। उसके अनेक शारीरिक रोग भी अनायास नष्ट हो जाते हैं। उपवास से मनुष्य की इच्छा शक्ति दृढ़ होती है। इच्छा शक्ति के बलवती होने पर किसी प्रकार की अभद्र कल्पना मनुष्य के मन में नहीं ठहरती।

हाल ही में लेखक के पास एक नवयुवक आया। यह सम्पन्न घरका व्यक्ति था। इसे अकारण ही भय हृदय की धड़कन, चित्त की एकाग्रता की कमी, सिर का दर्द, रुधिर चाप से मर जाने का भय, अनिद्रा आदि बीमारी थी। इसे अपने बीमारीसे मुक्त होने के लिये सूर्योपासना करने का आदेश दिया गया। पीछे उसे उपवास करने का भी आदेश दिया गया। इसके परिणाम स्वरूप उसका स्वास्थ्य सुधर गया और उसकी शंकायें नष्ट हो गईं।

जिस प्रकार किसी दिन पूरा उपवास रहने से लाभ होता है, रविवार को बिना नमक भोजन करने से वैसा ही लाभ होता है। नमक के बिना भोजन करना अपनी रसना पर अधिकार प्राप्त करने कीपहली सीढ़ी है। कुछ दिन नमक खाना छोड़ देने से जटिल रुधिर विकार एवं अन्य शारीरिक रोग अच्छे हो जाते हैं। खाज, एक्जिमा, श्वेत कुष्ठ भी नमक के त्याग देने से नष्ट हो जाते हैं। नमक के छोड़ देने पर बार-बार मनुष्य भोजन नहीं कर सकता और उसमें वह मानसिक दुर्बलता नहीं रहती जो भोगी व्यक्तियों में होती है। उसके संकल्प सहज में सफल होते हैं। उसका आत्म-निर्देश प्रति-निर्देश में परिणित नहीं होता और उसके संकल्प के अनुसार ही उसकी सहायता करता है।

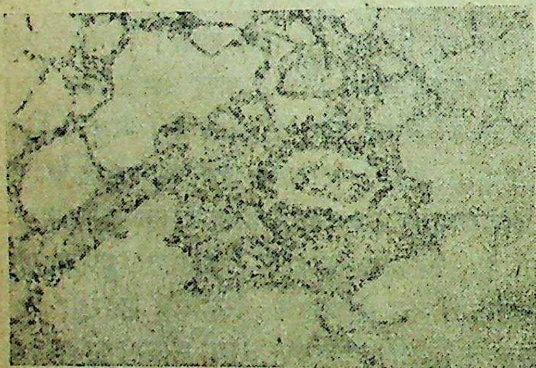
किसी रोग की उत्पत्ति और विनाश मनुष्य के आत्म-निर्देश के ऊपर निर्भर करता है। जिस व्यक्ति की इच्छा शक्ति निबल होती है उसे अपने आत्म-निर्देश पर ही भरोसा नहीं होता। निर्बल इच्छा शक्ति के संकल्प-विकल्प होते हैं और उसके भय वास्तविक घटनाओं में परिणित हो जाते हैं। मनुष्य जिस बात को सोते-जागते सोचते रहता है, उसी के अनुसार उसका स्वास्थ्य बनता है और उसकी मानसिक शक्तियों का विकास होता है। बलवती इच्छा शक्तियुक्त व्यक्ति के मन में अशुभ कल्पनायें ठहरती ही नहीं। अतएव किसी प्रकार का रोग भी उसको नहीं पकड़ता यदि ऐसे व्यक्ति को कोई रोग पकड़ भी ले तो वह उस रोग से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। निबल इच्छा शक्तियुक्त व्यक्ति रोग से डरता है और उसका ही भय उसे खा जाता है। डर को भगाने के लिये इच्छा-शक्ति को दृढ़ बनाना आवश्यक है। और इसे दृढ़ बनाने के लिये अन्य साधनों में से उपवास भी एक साधन है।

कास-ज्वर

(फुप्फुस खण्डिका शोथ)

कविराज अशोक कुमार आयुर्वेदालंकार

श्वास ज्वर की तरह यह भी फुप्फुस का एक तरह का शोथ ही है। अन्तर सिर्फ इतना है कि उसमें फुप्फुस के एक खण्ड में शोथ होता है वो खण्ड सारा का सारा सूजा रहता है परन्तु इसमें जहाँ तहाँ श्वास-कोष्ठक सूज जाते हैं, कुछ एक बीच में अच्छे भी रहते हैं। इस प्रकार एक बिखरा हुआ-सा न्युमोनिया (फुप्फुस-शोथज्वर, श्वास-ज्वर) होता है। इसलिये इसे फुप्फुस खण्डिका शोथ अर्थात् खण्ड निर्मातृ छोटी-छोटी खण्डिकाओं का शोथ कहते हैं—यद्यपि श्वास कोष्ठकों में वही परिवर्तन होते हैं। जो न्युमोनिया में होते हैं।



फुप्फुस खंडिका शोथ

यह प्रायशः शिशुओं, निर्बल बालकों वा बूढ़े व्यक्तियों में बहुत अधिक होता है। शिशुओं को यह रोग सर्दी वा वसन्त में होता है—जिनको अस्थि शोष और शरीर दौर्बल्य होता है, उन्हें यह रोग सुगमता से हो जाता है। बालकों में खसरे के बाद काली खाँसी के बाद या श्लेष्म-ज्वर, प्लेग, आंत्र-ज्वर आदि सांक्रामक व्याधियों के पश्चात उपद्रव के रूप में प्रारम्भ होता है। पहिले बड़ी श्वास नालियों में फिर सूक्ष्म नालियों में शोथ फैल जाता है। वृद्ध पुरुषों में विशेषतः जो निर्बल हो गये हैं—मृत्यु प्रायः इसी कारण से होती है। निर्बलावस्था में छोटी श्वास-नालियों की वातिक शक्ति (जिसे हम प्रतिरोधात्मक—Resisting power) शक्ति कहते हैं। घट जाती है—जिससे जीवाणुओं का संक्रमण अनायास हो जाता है।

इस कास-ज्वर के अनेक रूप हैं जिनमें से निम्न मुख्य है:—

(१) मूलभूत, (२) औपद्रविक या गौण, (३) निगरण जनित, (४) क्षय सम्बन्धी।

मूलभूत कास-ज्वर

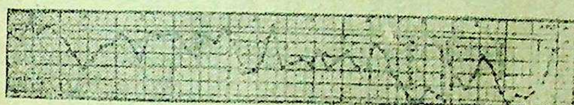
यह विशेषतः दो साल तक के स्तनपायी बच्चों का रोग है। श्वास-ज्वर के प्रवर्तक कारण ही इसके कारण बनते हैं। यह प्रायः कर दोनों ही लिंगों में पाया जाता है और वर्षाऋतु तथा शीतकाल इसके मुख्य समय हैं। बालशोष, अस्थिमार्दव, भोजन-हीनता, और साधारण शारीरिक निर्बलता इस रोग के होने में मूल कारण हैं परन्तु कई बार स्वस्थ एवं हृष्टपुष्ट बच्चों को शीत लग जाने से भी यह रोग हो जाता है। इस रोग की सम्प्राप्ति संभवतः श्वास ज्वर के उत्पादक कीटाणु "न्युमोकोकस" के कारण होती है—इसके साथ-साथ दूसरे संक्रामक श्रेणी के कीटाणु "स्ट्रैप्टोकाकस" वगैरह भी मिले रहते हैं।

सम्प्राप्ति

एक या दोनों फुप्फुसों में शोथ के बड़े-बड़े बिखरे हुए टुकड़े दिखाई देते हैं। कभी-कभी ये छोटे-छोटे भी होते हैं। कभी-कभी ये इतने मिले

जुले एवं सघन होते हैं कि फुफ्फुस खण्ड शोथका भ्रम होता है परन्तु ध्यानपूर्वक परीक्षा करने पर खण्डिका शोथ की प्रतीति होती है। यदि व्याधि बढती जाए तो कुछ-कुछ फुफ्फुसावरण-प्रदाह के चिन्ह भी मिलते हैं। यद्यपि ये श्वास-ज्वर में बहुत कम होते हैं।

सूक्ष्मवीक्षण यंत्र से परीक्षा करने पर श्वास ज्वर का-सा रूप दिखाई देता है। श्वासकोष्ठकों में स्राव भरा होता है जिसमें श्वेतकण वा विक्षिप्त सेल दिखाई देते हैं। इसके साथ कुछ रक्तकण भी रहते हैं। इनके अतिरिक्त श्वासकोष्ठकों में अन्य शोथ के चिह्न दिखाई देते हैं।



पांच वर्ष के फुफ्फुस खंडिकाशोथ वाले बालक का तापमानचार्ट
(इसमें मंद ह्रास अंकित है)

लक्षण:—इस रोग का प्रारम्भ एकदम शीत लग कर वा वमन के साथ होता है—जैसा कि श्वासज्वर में होता है। कई बार आक्षेप भी होता है परन्तु ये लक्षण श्वासज्वर की अपेक्षा धीरे-धीरे होते हैं। इस के बाद शीघ्र ही कास, फुफ्फुस में शूल वा श्वासोच्छ्वास में कष्ट होने के लक्षण शुरू हो जाते हैं। श्वास लेने में नासिका फैलना, श्वास उथला, कष्टकर, और द्रुत होना, मानसिक लक्षण बढ़ते जाते हैं। तापमान १०३ से १०४ तक पहुंच जाता है या इससे भी अधिक बढ़ सकता है—प्राय: तापशृङ्खला श्वास ज्वर के समान ही रहती है।

शारीरिक लक्षण बदलते रहते हैं। जहां पर शोथ विस्तृत प्रदेश में होता है। वहां फुफ्फुसखण्डशोथ के-से लक्षण मिलते हैं-श्रवण करने पर श्वासनाली-घोष (Tubular Breathing) तथा चिपचिप-ध्वनि (Cerpritations) भी सुनाई पड़ते हैं। दूसरे प्रकार में यद्यपि लक्षण फुफ्फुस-खण्डशोथ के ही होते हैं परन्तु वे बिखरे हुए होते हैं। श्वास जल्दी२ चेहरे पर नीलिमा आदि लक्षण भी होते हैं। इस रोग में रोगी के अन्तः श्वास की अपेक्षा बहिःश्वास लम्बा होजाता है—अन्तः श्वास के समय या अन्त में छाती का अगला-सिरा अन्दर को दबता है क्यों कि जो छोटी श्वासनालिकाऐं हैं उनमें शोथ के कारण हवा अन्दर नहीं जाती अतः वायुकोष्ठक फूलते नहीं है। वास्तव में यह रोग वायुकोष्ठकों की शोथ के कारण से नहीं होता परन्तु सूक्ष्म श्वासनालियों की शोथ एक प्रधान विकृति है। इसके साथ २ सीटियों की आवाजें सुनाई पड़ती हैं।

अवधि

इसका कोर्स बहुत छोटा होता है; ३ से ७ दिन में तापमान उतर जाता है। कभी-कभी यह बढ़ भी सकता है। उस अवस्था में या तो क्षयसम्बन्धी या औपद्रविक रूप के बारे में विचार करना पड़ता है।

साध्यासाध्य

यह शिशुओं के लिए घातक व्याधि है-जिसछोटे शिशु को यह हो जाए वह बहुत कम बचता है।

रोगविनिश्चय

इसका मुख्य भेद फुफ्फुसखण्डशोथ से ही करना पड़ता है जिससे यह लाक्षणिक वा वैकृतिक-चिन्हों से समानता रखता है। निम्न तालिका से इस का निश्चय किया जा सकता है।

फुफ्फुस प्रणालिका प्रदाह—(कासज्वर)	फुफ्फुस खण्ड प्रदाह—(श्वासज्वर)
(१) सामान्यतः कास उपस्थित होने के पश्चात क्रमशः रोग का आक्रमण होता है।	अकस्मात् रोग का आक्रमण होता है।
(२) अनिर्दिष्ट गति और अनियमितता, कभी जल्दी शमन, कभी गम्भीर रूप धारण कर दिनों तक स्थिति—"क्वचित् कितनेक सप्ताह तक दुर्बलता आकर मुक्ति होती है।	ज्वर एक निर्दिष्ट क्रम से चलता है। सामान्यतः ५ से ८ दिन तक रहकर स्वयं उतर जाता है।
(३) सर्वप्रथमरोगसूक्ष्मश्वासप्रणालिकाओंसे प्रारम्भ होता है फिर समीपस्थ वायुकोष ग्रस्त होते हैं जिससे वायुकोष संकुचित हो जाता है।	रोग एक फुफ्फुस खण्ड में शुरू होता है। सब रक्त प्रणालिकाऐं प्रसारित वा रक्त-पूर्ण होती हैं। वायुकोष सब रससे भरे हुए—फिर वायुकोषों में से रस के शोषणजन्य परिवर्तन पाए जाते हैं।
(४) इसमें अति कष्ट दायक कास रहती है। कभी कभी इसका प्रबल वेग रहता है। कफ रक्त रहित निकलता रहता है।	कास विशेष कष्टकर नहीं होता—बालक आदि को कभी प्रारम्भ में कफ नहीं निकलता। कफ लोहे के जंग के समान लाल रङ्ग का निकलता है।
(५) ज्वर अनियमित रहता है, क्रमशः बढ़ता-घटता रहता है।	ज्वर नियमित होता है।

गौण या औपद्रविक कासज्वर

यह किसी भी आयु में हो सकता है परन्तु अधिकतर छोटे बच्चों या बूढ़े व्यक्तियों में पाया जाता है। यह भी दोनों लिङ्गों में होता है। यह प्रायः कर दूसरे रोगों के उपद्रव रूप में होता है। मसूरिका, श्लेष्मज्वर (Enfluenza), कुक्कुर खाँसी आदि रोगों में अधिकतर उपद्रव रूप से होता है कभी-कभी आंत्रिक ज्वर, प्लेग या कण्ठरोहणी ज्वर के परिणाम रूप में भी होता है। यह प्रायः खांसी के बाद प्रारम्भ होता है—पहिले श्वासनालियों में शोथ होता है जो नीचे नीचे छोटी छोटी श्वासनालिनियों में फैलता जाता है—फिर वायुकोष्ठक भी अन्दर सूज जाते हैं। यह बच्चों या बूढ़ों के लिए बहुत खतरनाक बीमारी है। प्रायः कमजोर बच्चों तथा बूढ़े पुरुषों में यही व्याधि मृत्यु का कारण बनती है। बालकों में तो अस्थिमादव और अतिसार तथा बूढ़ों में वृक्क-प्रदाह, हृदय पर आघात और धमनी दीवारकी कठोरता के हेतु से इसकी उत्पत्ति होती है। शरीर में कहीं भी विषक्रिया भवन या विषसंचार भी इसके कारण बनते हैं—जैसे मस्तिष्क-विद्रधि, आंत्रपुच्छ विद्रधि तथा कर्णपाक आदि व्याधियों में इस रोग के होने का डर रहता है।

इस रोग में "न्युमोक्कोकस" जाति के कीटाणु तो रहते ही हैं परन्तु विभिन्न व्याधियों के उपद्रव के अनुसार उन २ रोगों के कीटाणु भी रहते हैं।

संप्राप्ति

छोटी श्वासनालियों में प्रधानतया शोथ होता है तथा उनमें से वायुकोष्ठकों में शोथ के प्रसार

होने और उनमें कफस्राव के भर जाने से अनेक वायुकोष्ठक श्वास लेने में असमर्थ हो जाते हैं। कई वायुकोष्ठक स्वस्थ भी रहते हैं। फुफ्फुसावरण में किसी प्रकार का भी भेद (विकार) उत्पन्न नहीं होता जैसा कि श्वास ज्वर में होता है। फुफ्फुस को काटकर अन्दर से देखा जाए तो एक पीन के नोक से लेकर बादाम या अखरोट के बराबर लाल-लाल चकत्ते स्थान स्थान पर दीखते हैं, ये चकत्ते निचले खण्डों में और पीठ की तरफ के भाग में विशेष होते हैं। चकत्ते वाले सूजे हुए फुफ्फुस खण्ड पानी में डूब जाते हैं; अगर सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र से देखा जाए तो सूक्ष्मश्वास वाहिनियों वा शोथयुक्त श्वासकोषों में कुछ द्रव भरा रहता है; जिसमें अधिक संख्या में श्वेतकण और टूटे हुए सेल पाये जाते हैं।

लक्षण

बालकों और वृद्ध-पुरुषों में पहिले खांसी होती है जिसके साथ हलका सा ज्वर रहता है। खांसी में बलगम नहीं होती, कुछ दिनों तक उसी प्रकार यह ज्वर धीरे धीरे जारी रहता है—फिर सहसा ज्वर बढ़ जाता, बालक या वृद्ध लेट जाता है। श्वास जल्दी-जल्दी चलने लगता है और खांसी अधिक उठने लगती है। बालकों के नथुने अधिक फड़कने लगते हैं। श्वास लेते समय निचली पसलियां अन्दर को धँस जाती है जिससे पेट पर गढ़ा-सा पड़ जाता है और निमोनिया के—से लक्षण प्रगट हो जाते हैं। चेहरे पर खासकर होठों पर नीलापन आ जाता है। नाड़ी बहुत तीव्र चलती है। प्रति मिनट १२० तक पहुंच जाती है। श्वास की संख्या ५० से ६० तक प्रति मिनट होती है। श्वास प्रश्वास के शब्द कठोर और स्पष्ट होते हैं। वृद्धपुरुषों में चेहरेपर नीलापन और बेचैनी तथा प्रलाप के लक्षण हो जाते हैं और यदि रोगी निद्रालु तथा तन्द्रालु होता चला जाए तो उसके बचने की कोई उम्मीद नहीं है।

परीक्षा

रोगी की शारीरिक परीक्षा से इस रोग में अन्तः श्वास निर्बल और छोटा तथा बहिःश्वास दीर्घ होता है। सीटियों की-सी आवाजें बहुत सुनाई पड़ती हैं विशेषतः फुफ्फुस के निचले भाग में। यह भी संभव है कि किसी-किसी स्थान पर श्वासघोष बहुत स्पष्ट तथा कहीं कहीं उतना स्पष्ट न हो—जहां-जहां रोग-ग्रस्त स्थान होगा वहां अधिक स्पष्ट होंगे। यदि किसी रोगी को पहिले खांसी रही हो या कोई और ज्वर अथवा रोग कुछ दिनों से हो और उसके बीच में सहसा खांसी बढ़ जाए—श्वासकाठिन्य अधिक हो जाए—ताप मान बढ़ जाए तो इसी रोग का संदेह करना चाहिए। रोगी को भूख बिल्कुल नहीं रहती—निमोनिया के समान ही उसकी जीभ खुश्क रहती है और प्यास बहुत लगती है। मूत्र थोड़ा तथा गाढ़ा होता है।

उपद्रव

निमोनिया के समान इसमें कोई उपद्रव नहीं होते परन्तु स्वयं ही यह रोग घातक है। कई बालकों में यदि यह रोग हलके रूप में महीनों तक बना रहे तो उरःक्षय रोग का सन्देह करना चाहिए और यही समझना चाहिए कि यह शुरू से ही क्षयजन्य कास था। यह श्वासनाली शोथ जन्य कासज्वर श्वास-ज्वर की अपेक्षा लम्बा होता है और २ या ३ सप्ताह तक बना रहता है—यदि इससे अधिक काल तक बना रहे तो क्षयरोग जन्य कास है। श्वासज्वर के समान इसका ज्वर सहसा नहीं उतरता, धीरे-धीरे उतरता है। रोगी बहुत दिनों तक कृश दुर्बल तथा पाण्डुर बना रहता है।

रोग विनिश्चय

जब यह व्याधि रोमान्तिका, आंत्रिक ज्वर आदि के उपद्रव रूप में होती है। तब श्वास संस्थान सम्बन्धी

लक्षणों को देखते हुए इस रोगकी पहिचान करना कुछ कठिन नहीं रहता—परन्तु उरःक्षय में—जब कि वह तीव्र रूप से आरम्भ होता है तो इन दोनों रोगों का भेद करना कठिन हो जाता है। यदि ज्वर तीन सप्ताह से अधिक रहे और रोग के अच्छा होने के लक्षण न दिखाई पड़े तो इसे उरःक्षय ही समझना चाहिए। दुर्भाग्य से बच्चों के कफ (थूक) का मिलना मुश्किल होता है—फिर भी एक फारसेप्स से गाज पर मुंह के अन्दर से थूक लेकर परीक्षा की जा सकती है।

साधारण कास से भी इसका भेद करना चाहिए उसमें ताप विशेष नहीं रहता—उसकी अवधि बहुत थोड़ी होती है। इसके साथ अन्य शारीरिक लक्षण नहीं मिलते—फुफ्फुस के ठोस हो जाने का कोई लक्षण नहीं मिलता।

श्वास ज्वर से भी इसका भेद किया जाता है उस रोग में तापमान लगभग एक-सा रहता है और इस रोग में प्रातः-सायं के तापमान में पर्याप्त भेद रहता है।

पूय युक्त या द्रव युक्त पार्श्वशूल से भी सन्देह हो सकता है—ऐसी अवस्था में सूचिका से फुफ्फुस-द्रव निकाल कर परीक्षा की जा सकती है।

अवधि

साधारण श्वास ज्वर या मूलभूत कास ज्वर की अपेक्षा इस व्याधि का कोर्स कुछ लम्बा होता है ज्वर प्रायशः अनियमित तौरपर २-३ सप्ताह तक चलता रहता है—कुछ महीनों तक भी चालू रह सकता है, यहां तक कि उरःक्षय का संदेह होने लगता है। व्याधि ठीक हो जाने के बाद बीमार बहुत दिन तक कृश, दीन वा पाण्डुर बना रहता है।

साध्यासाध्य

यह रोग यदि तीव्र रूप से तो असाध्य है खसरा तथा श्लेष्म-ज्वर के रोगी प्रायः इसी उपद्रव से मरते हैं और बालकों में खांसी के बाद प्रायः इसी रोग से मृत्यु होती है। बूढ़े आदमी भी अन्त में प्रायः इसी रोग के कारण काल के ग्रास बनते हैं। यदि इस रोग में प्रलाप का लक्षण उत्पन्न हो जाए, नाड़ी की संख्या १५० के लगभग हो, चेहरे और होठों पर नीलिमा आ जाए, श्वास में कठिनता अधिक हो तो यह रोग असाध्य समझना चाहिए। आन्त्र-ज्वर के बीच में यदि यह रोग हो जाए तो रोगी नहीं बचता। वृद्ध-पुरुषों में यदि आती हुई खांसी एकाएक बन्द हो जाए या एक दिन सहसा अच्छी हो जाए तो उसके बचने की आशा नहीं करनी चाहिए। अथवा यदि वृद्ध-पुरुष निद्रालु, तंद्रालु हो जाए या बेहोश-सा होकर बिस्तर के नीचे से भी सरकता जाए तो यह भी मृत्यु होने के चिह्न हैं।

निगरण जन्य कास ज्वर

श्वास मार्ग द्वारा किसी प्रवाही या ठोस पदार्थ या कण के सूंघने या निगरण से कासज्वर का यह रूप प्रारम्भ होता है—इसीलिए इस रोग का नाम निगरण जन्य कास ज्वर है। जब किसी कारण से भोजन के द्रव श्वासनाली में पहुंच जाते हैं तब इस रूप का कास ज्वर होता है।

कारण

यह किसी भी आयु में हो सकता है पर विशेषतः युवावस्था में होता है। मुंहमें मुख-गह्वर, स्वरयन्त्र इनमेंपूयभवन के कारण से अनुभूति का नाश होकर यह प्रारम्भ होता है। मुख, जिह्वा, गलग्रंथि आदि में पूय युक्त उत्पादन या इन अंगों के आपरेशन के बाद होता है। इसका प्रारम्भ किसी सम्मोहक औषधि देते समय वमन हो जाने के बाद भी हो सकता है। भोजननाली में कार्सीनोमा नामक अर्बुद हो जाने पर भी यह होता है। श्वासनलिका में अर्बुद हो

या उसमें छेद करने पर मूर्छा अथवा वृक्क, सन्यास या विविध वात संस्थानों के विकार में या भोजन के कण या पेय का स्वरयंत्र में से श्वास प्रणालियों में चले जाने पर यह होता है।

वस्तुओं के अतिक्रमण से भी यह हो सकता है। फुफ्फुस के किसी विभाग में संक्रमण होने पर उसमें से रस आदि का निरोग श्वास प्रणालिका में प्रवेश हो जाने पर भी यह होता है—जैसे थूक में रक्त आना, फुफ्फुस विद्रधि, पूययुक्त पार्श्वशूल, आदि।

संप्राप्ति

श्वास-मार्ग में प्रवेश करने वाले ये कण संक्रामक कृमियों से युक्त रहते हैं, जिससे कास तथा कासज्वर की-सी संप्राप्ति होती है। इसमें पूयजनक कृमि भी रहते हैं; इसलिए एकाकिनी या बहुमुखी विद्रधि होती है। यदि संक्रमण फुफ्फुसावरण तक पहुंच जाए तो पार्श्वशूल याने फुफ्फुसावरण प्रदाह का खतरा रहता है।

लक्षण

ये गौण या औपद्रविक कासज्वर के-से ही होते हैं। प्रायशः तीव्र ज्वर होता है जो कई बार कम्पकपी, और कफयुक्त कास के साथ रहता है—यह कफ दुर्गन्धित होता है—इसमें भोजन या रक्त के कण भी मिले रह सकते हैं।

शारीरिक लक्षण भी कास या कासज्वर के-से ही होते हैं।

उपद्रव व परिणाम

पूययुक्त पार्श्वशूल या विद्रधि की तरह भी रहते हैं।

अवधि

साधारणतः कोर्स छोटा होता है और व्याधि की उग्रता पर आश्रित रहता है।

साध्यासाध्य

प्रारम्भिक अवस्थाओं या तीव्र कासज्वर को देखते हुए यह एक खतरनाक बीमारी है।

चिकित्सा

इस रोग की चिकित्सा श्वास ज्वर के समान ही है। उसी प्रकार से रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए, रोगी को गर्म कमरे में लिटाना चाहिए कोई गर्म सुगन्धित वाष्प विस्तर के पास होना चाहिए बार-बार पार्श्व बदल देवें। आवश्यकतानुसार बार-बार दूध देवें। हृदय की शिथिलता के लिए शराब दे सकते हैं।

रोगी को हमेशा गर्म रखने का प्रयत्न करें, इससे शक्ति संचित रहती है। फुफ्फुस और हृदय को शीत न लगने दें, गर्म कपड़ा पहनायें व गर्म बोतल से सेक दें।

रोगी को स्वच्छ वायु देना अत्यावश्यक है क्योंकि फुफ्फुस आक्रान्त होने से अधिक परिश्रम नहीं कर सकते। हमारे देश में इस व्याधि के होनेपर बच्चों को बिल्कुल बन्द कमरे में रखा जाता है—यह लाभप्रद नहीं है। बच्चे को स्वच्छ वायु में रखना चाहिए परन्तु वायु के झोंके से बचाना चाहिए— इसलिए सीधी हवा का ख्याल रखें।

इसी प्रकार फेफड़ेको रक्षा करने और दर्द हटाने के लिये छाती पर गरम लेप लगाने चाहिये। एण्टि-फ्लोजिस्टीन का प्लास्टर या, बारहसिंगों को गोमूत्र में घिस कर हींग मिला गरम लेप कर सकते हैं या फुफ्फुसपर नारायण तैल, विषगर्भ तैल, तार्पीन के तैल आदि की मालिश कर सेक दें।

यह ध्यान रखें कि रोगी को नियमित तौर पर मलशुद्धि होती रहे। बद्धकोष्ठ होनेपर रेवन्दचीनी एलुआ तथा साबुन का लेप बना कर उदर पर लेप करें फिर ऊपर नगारबेल का पान रख कपड़ा लपेट दें।

श्वासमार्ग से कफ को हटाने के लिये वामक या कफनिस्सारक औषधियाँ देनी चाहिये। मदनफल का चूर्ण ५ से १५ ग्रेन तक आयु के अनुसार थोड़े गरम पानीमें मिलाकर देने से उल्टी हो जाती है। शृंग्यादिचूर्ण इसके लिये बहुत उपयोगी है—कफकेतु या कफ कुठार रस भी उपयोगी है। चन्द्रामृत रस, और द्राक्षासव भी लाभदायक हैं।

श्वास तथा हृदयके नियामक केन्द्रोंको उत्तेजित करने लिए कर्पूर या कुचला देना लाभदायक है, काई आसव, अर्क या मद्य भी दे सकते हैं।

साधारणतः इस व्याधि में रस-सिन्दूर, अभ्रक और शृंगभस्म बहुत उपयोगी है। जीर्ण रोग होने पर प्रवालपिष्टी और सितोपलादि को शहद के साथ चटावें।

अगर ज्वराधिक्य हो तो हरताल या वच्छनाग प्रधान औषध मृत्युञ्जय रस, आनन्द भैरव रस, त्रिभुवनकीर्ति आदि दी जा सकती है। १०५ डिग्री से ज्वर बढ़ जाने पर गीले वस्त्र से देह को पोछना चाहिये।

गात्र नीलिमा हो या कष्ट अधिक प्रतीत हो तो प्राणवायु (आक्सीजन) श्वसन में देनी चाहिए। यह निर्भय और उत्तम उपचार है।

बच्चे को अक्षेपक उपस्थित होने पर शुद्ध वायु पौष्टिक औषधि और आवश्यक दूध देना चाहिए। शीत लगता हो तो शीत को दूर करने का प्रयत्न करें।

पथ्यापथ्य

भोजन में गरम दूध, गरम पानी या ग्लुकोज मिश्रित जल दे सकते हैं।

कुकरे

(वर्त्मशर्करा, पोथकी)

कविराज पुरुषोत्तमदेव मुलतानी आयुर्वेदालङ्कार



स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्त-सर्षप सन्निभाः।
रुजावत्यश्च पिड़काः पोथक्य इति कीर्तिताः॥
पिड़का या खरा स्थूला सूक्ष्माभिरभिसंवृताः।
वर्त्मस्था शर्करा नाम स रोगो वर्त्मदूषकः॥
मा० नि० नेत्ररोग

यह रोग नेत्रवर्त्म की विशेष प्रकार की क्षीणताजन्य वृद्धि है जो शोथ का परिणाम है। इसमें नेत्र-वर्त्म में छोटे-छोटे दाने हो जाते हैं। इस रोग का वास्तविक कारण अभी तक ठीक पता नहीं चला किन्तु इतना जरूर कहा जा सकता है कि इसका कारण कोई कृमि अवश्य है जो अदृश्य प्रतीत होते हैं। इसका प्रमाण यह है कि यदि इन दानों में से शोथस्राव निकालकर स्वस्थ-नेत्रवर्त्म में लगा दिया जाये तो उसमें भी रोग हो जाता है। इस शोथ-स्राव को यदि गिनिपिग के अण्डकोष में सूचिवेध कर दें तो वहां भी दाने पैदा हो जाते हैं। वैसे इस रोग का अत्यन्त छूतदार होना भी यही सिद्ध करता है। यह रोग छूत से फैलता है अर्थात् एक रोगी से दूसरे में इसी प्रकार शोथस्राव के पहुंचने से होता है। जैसे तौलिए, रूमाल और कभी-कभी तो साबुन बरतने से भी होता है। आंखों पर मक्खियां बैठें तो वे भी इस रोग का वाहक बन जाती हैं।

यह रोग प्रायः उन लोगों को अधिक होता है, जो गन्दे स्थानों में रहते और नेत्रों की सफाई का ध्यान नहीं रखते। जैसे मुगल प्रदेशों में विशेषतः अफगानि-स्तान, अरब, चीन, मिश्र आदि में। परन्तु जहां-जहां सफाई का विशेष ध्यान रखा जाता है; वहां-वहां ये रोग घटता गया है। जैसे—अमेरिका, इङ्गलैण्ड आदि में। बच्चों और स्त्रियों में यह रोग अधिक होता है।

सम्प्राप्ति

इस रोग में नेत्रवर्त्म में श्लैष्मिक तन्तु की वृद्धि हो जाती है। यह तन्तु पहले तो सारे नेत्रवर्त्म में बढ़ता है परन्तु शीघ्र ही किन्हीं-किन्हीं स्थानों में अधिक बढ़ जाता है और वहां दानों का रूप धारण कर लेता है, इसे 'वर्त्मशर्करा' कहते हैं। यह बड़े-बड़े और चौड़े-चौड़े उभार युक्त होते हैं जो स्पर्श करने पर मखमल जैसे मृदु अनुभव होता है। परन्तु जब ये दानों का रूप धारण करते हैं तो इन्हें 'पोथकी' कहते हैं। यह छोटे-छोटे गोल दाने होते हैं। इन दानों के अन्दर संयोजक तन्तु के जाल में लसीका जो एक प्रकार का शोथस्राव है और इन दानों के फट जाने से शोथस्राव स्वतन्त्र हो जाता है। इस शोथश्राव में अनेक अदृश्य कृमि होते हैं और जहां-जहां शोथ-स्राव पहुंचता है वहां-वहां ये दाने पैदा हो जाते हैं। शोथस्राव बहकर नेत्रवर्त्म में खुला फैल जाता है और इससे तीव्र 'नेत्राभिष्यन्द' हो जाता है। दाने अधिक-तर ऊपर की तरफ होते हैं और अग्रश्वेतपटल

के बिल्कुल सामने आ जाते हैं। इनकी रगड़ से अग्र-श्वेतपटल में व्रण हो जाते हैं। इस पटल में रक्त-वाहिनियाँ नहीं होतीं क्योंकि इसका पोषण इस पटल की परिधि की रक्तवाहिनियों के द्वारा लसीका से होता है, जिसका लाभ यह है कि अग्रश्वेतपटल पार-दर्शक बना रहता है। जब व्रण होता है तो परिधि की रक्तवाहिनियां इसकी ओर बढ़कर फैल जाती हैं और इसमें लालिमा पैदा हो जाती है। इस लालिमा को क्षीरोत्पात (Panus पैनस) कहते हैं। अन्त में जब व्रण साध्य होता है और निशान बाकी रह जाता है तो यह रक्तवाहिनी भी लुप्त हो जाती है या फिर रक्तवाहिनी के स्थान पर ही निशान बन जाता है और फिर यह निशान व्रण के निशान में मिल जाता है। परिणाम यह होता है कि अग्रश्वेत-पटल में अपारदर्शकता उत्पन्न हो जाती है। उधर जब दाने घटते हैं तो नेत्रवर्त्म में भी निशान बन जाते हैं। ये निशान नेत्रवर्त्म की लालिमा में श्वेत रेखाओं के जाल की तरह दिखाई देते हैं। अन्त में निशान के सिकुड़ने पर इसके तन्तुओं के पिचकने से नेत्रवर्त्म की क्षीणता हो जाती है, जिससे नेत्रवर्त्म सिकुड़ जाता है और पलक की तरुणास्थि विभक्त हो जाती है और पलक के अन्दर की ओर मुड़ जाती है। अन्दर मुड़ने से बालों के अग्रभाग अन्दर की ओर मुड़ जाते हैं। अब ये बाल नेत्रवर्त्म पर रगड़ खाते हैं और अन्त में अपारदर्शकता हो जाती है। कभी-कभी नेत्रवर्त्म का निशान पतला हो जाता है और नेत्र के अन्दर के दबाव को सहन नहीं कर सकता। तब यह निशान विस्तृत हो जाता है और बाहिर को उभर आता है। अन्त में यह निर्बल स्थान फट जाता है और नेत्रगोले के अन्दर का द्रव निकल जाता है। जिससे दबाव कम होने से नेत्रवर्त्म फिर अपने स्थान पर बैठ जाता है परन्तु कभी-कभी इस फटाव से कृमि नेत्रगोले के अन्दर प्रवेश कर जाते हैं जिससे समस्त नेत्रगोले में शोथ होकर आंख बैठ जाती है।

लक्षण

इस रोग के लक्षण दो प्रकार के हैं। एक जो रोगी स्वयं वर्णन करता है। दूसरा जो चिकित्सक अनुभव करता है।

१—यह रोग बड़ा चिरस्थाई है। इसमें नेत्र में खाज बहुत अधिक होती है। प्रकाश असह्य होता है। नेत्रों से जल बहुत जाता है। यह द्रव कुछ तो अश्रु है और कुछ फटी हुई ग्रन्थियों का शोथस्राव और कुछ सारी नेत्रवर्त्म से उत्पन्न पूय है। इस द्रव के कारण प्रारम्भ में दृष्टि कुछ मन्द हो जाती है। परन्तु अन्त में अग्रश्वेतपटल में व्रण या अपारदर्शकता हो जाने से दृष्टि लुप्त हो जाती है। यह रोग अन्धेपन का मुख्य कारण है। खाज के कारण रोगी नेत्रों को बहुत अधिक खुजाता है जिससे पलक के किनारे भी सूज जाते हैं और उनमें शोथ हो जाती है। ऊपर के पलक में दानों की उपस्थिति से पलक भारी हो जाते हैं जिससे रोगी नेत्र भली प्रकार खोल नहीं सकता।

२—दूसरे प्रकार के लक्षणों की दृष्टि से जो चिकित्सक अनुभव करता है—इस रोग की चार अवस्थायें हैं।

(क) पूर्ववर्ती अवस्था—जिसमें ऊपर के छदान्तरीय नेत्रवर्त्म में विस्तृत शोथ और चिर-स्थायी नेत्राभिष्यन्द के लक्षण हो जाते हैं।

(ख) दूसरी अवस्था—इसमें दाने अधिक होते हैं, ये दाने ऊपर के वर्त्म कोण से प्रारम्भ होकर ऊपर की पलक के नेत्र वर्त्म में भी देखे जाते हैं। ये दाने अनियमित पंक्ति में, छोटे-छोटे और गोल होते हैं स्पर्श करने पर जरा कठोर अनुभव होता है।

(ग) तीसरी अवस्था में दानों में सौत्रिक तन्तु बनना आरम्भ हो जाता है। और इसके सिकुड़ने पर दाने लुप्त होने आरम्भ हो जाते हैं। अन्त में दाने पूर्णतया लुप्त हो जाते और दानों के स्थान पर निशान बन जाते हैं। अगर पलक को उलटाया जाए तो निशान श्वेत-रेखाओं के रूप में दिखाई देते हैं। कभी-कभी तो निशान इतने अधिक होते हैं कि श्वेत रेखाओं का जाल-सा बन जाता है इस अवस्था में तीव्र लक्षण कुछ शान्त हो जाते हैं। आंखों से जल निकलना आरम्भ हो खाज दूर हो जाती है। प्रतीत यह होता है कि रोग शान्त हो रहा है। परन्तु पलक फिर भी नहीं उठती क्योंकि पलक भारी तो नहीं होते किन्तु निशान के कारण टेढ़े हो जाते हैं और ऊपर खिसक नहीं सकते। जब निशान पर्याप्त बन जाते हैं तो श्लेष्मकला भी पिचक जाती और इसकी क्षीणता हो जाती है। इस क्षीणता में लालिमा कम हो जाती है और श्वेत झिल्ली की तरह दिखाई देती है।

(घ) चौथी उग्रावस्था है। अग्र-श्वेतपटल में जो व्रण बने थे उनमें भी निशान और अपारदर्शकता हो जाती है। पलकों के सिकुड़ने पर 'पक्ष्मकोप' (परवाल) हो जाता है।

चिकित्सा :—

दो प्रकार की है। (क) प्रतिरोधक और (ख) वास्तविक।

(क) प्रतिरोधक चिकित्सा:—इस रोग में प्रतिरोधक चिकित्सा बहुत आवश्यक है। जनता में यह प्रचार किया जाये कि यह अत्यन्त छूत का रोग है अतः एक दूसरे का तौलिया या रूमाल आदि नहीं बरतें। एक ही बर्तन में हाथ-मुख धोने की प्रथा हानिप्रद है। इन सब बातों का प्रचार आश्रमों एवं इसी प्रकार की संस्थाओं में होना चाहिए। इसके साथ ही वहां यह भी नियम होना चाहिए कि वहां रहने वालों की आंखों का निरीक्षण हो और जिसमें जरा भी कुकरे हों उसकी शीघ्र ही चिकित्सा की जावे। चिकित्सकों को भी रोगी की आंख देखने के बाद अपने हाथ धोने का विशेष ध्यान रखना चाहिए। यदि उनका अपनी आंख से हाथ लग भी जाए तो कास्टिक ½% या १% डाल दें ताकि रोग होने ही न पावे।

(ख) वास्तविक चिकित्सा—जब रोग हो ही जाए तो उसके दो उपाय हैं। (क) औषध चिकित्सा और (ख) शल्य कर्म। (क) औषध चिकित्सा इसमें दानों को नष्ट करने के लिए औषधियां लगाई जाती हैं जिन्हें 'कॉस्टिक' कहते हैं। इस दृष्टि से तीन औषधियां बहुत प्रसिद्ध हैं।

(१) रजत गन्धित भी लगाते हैं, इसे २% से ४% तक लगा सकते हैं। बच्चों में १% लगाते हैं। साधारणतः २% भी लगाते हैं, बीच-बीच में (सप्ताह में दो-एक दिन) ४% लगा दें, हर हालत में अग्रश्वेत पटल को बचाना बहुत आवश्यक है। पलक उलटा कर कास्टिक स्पर्श करें। बाद में लवण-जलसे धो डालें। तेज कास्टिक लगाने से पलकें सूज जाती हैं; लेकिन २-३ दिन में ठीक भी हो जाती हैं।

(२) ताम्रगन्धित-इसे भी सप्ताह में दो बार लगावें। इसमें तो अग्रश्वेत पटल को बचाना अधिक आवश्यक है। औषधि की अधिकता को टङ्कणद्राव से धोवे। जिन दिनों यह औषधि प्रयोग कर रहे हों उन दिनों शरीर पर कहीं भी टिंक्चर आयोडिन नहीं लगाना चाहिए क्योंकि वह रक्तद्वारा नेत्र में पहुंच कर ताम्रनेलिद् बनकर अग्रश्वेत पटल के लिए अत्यन्त क्षोभक सिद्ध हो सकता है। यह बात रोगी को अच्छी तरह समझा दें।

(३) तीसरी औषधि काला सुरमा है। इसके काले चमकदार स्फटिक होते हैं, जिन्हें स्रोतांजन या

कृष्णाञ्जन कहते हैं। त्रिफला स्वरस, भृङ्गराज स्वरस हरीतकी स्वरस इनमेंसे किसी में भी ३-४ घंटे पाक कर के फिर चूर्ण कर लेते हैं या जम्बीर स्वरस से भावना देकर प्रयोग में लाते हैं। कृष्णाञ्जन ग्राही तथा लेखन है। नेत्र के स्रावों को कम करता, श्लेष्मा को सुखाता है। अनेक प्रकार के सुरमें इससे बनाए जाते हैं। यहां हम 'सचित्र आयुर्वेद' के पाठकों के लिए दो-तीन अनुभत योग देते हैं जो कुकरों तथा दूसरे नेत्र रोगों के लिए हजारों रोगियों पर प्रयोग किए गए हैं और बहुत लाभप्रद सिद्ध हुए हैं।

(क) कर्पूराञ्जन, पुष्पाञ्जन (जस्ते का फूला) ५ भाग, भीमसेनी कपूर १ भाग मिला मर्दन कर प्रयोग करें।

(ख) नयनामृत (शार्ङ्गधर)—सीसक १ भाग को पिघला पारद १ भाग मिला पीसकर गरम जल से धो-सुखाकर कृष्णाञ्जन लोह २ भाग मिला कर सूक्ष्मकर भीमसेनी कर्पूर सम्पूर्ण का दसवां भाग मिलावे।

(ग) नेत्रामृत—कृष्णाञ्जन, पुष्पाञ्जन; शंखभस्म समुद्रफेन, दन्तचूर्ण प्रत्येक एक-एक भाग, मनः शिला ½ भाग, गेरक, सैंधव, नवसार, तुत्थ, स्फटिकी, टङ्कण समान-समान भाग मिला कर ऊर्ध्वपातित कर उसका १ भाग गुलाब जल में मिलाकर, सम्पूर्ण का दसवां भाग भीमसेनी कर्पूर मिला दें।

(घ) पारा १ भाग, चमेली के ताज़े फूल ४ भाग दोनों को खूब पीसकर एक साथ करलें। इसे सलाई से पलकों के भीतर लगावें।

चरक की मूलिनी फलिनी ओषधियाँ

(गतांक से आगे)

आ० महामहोपाध्याय श्री पं० भागीरथ स्वामी रसायनाचार्य

सप्तला

सप्तला चर्मसाह्वाच बहुफेनरसाच सा।
शंखिनी तिक्तलाचैव यवतिक्ताक्षिपीड़कः॥

च० क० अ० ११

सप्तलाके पर्य्यायोंमें चर्मसाह्वा और बहुफेनरसा ये नाम दिये गये हैं। और साथ ही शंखिनी का भी वर्णन कर दिया गया है। उक्त श्लोकके नीचे का अर्ध श्लोकमें शंखिनीके पर्य्यायोंका वर्णन है। सातलाको पीस कर लगानेसे चमड़ी कस जाती है। और इसमें बहुत-सा रस (फेन) भी निकलता है। इसीलिए चरक ने—"सप्तला चर्मसाह्वाच बहुफेनरसाच सा" लिखा है। इस तरह उक्त श्लोकमें दोनों का ही वर्णन कर दिया है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनका स्पष्ट-ज्ञान बिना मौलिक-ज्ञान के उसकी भिन्नताका पता ही नहीं लगता। सातलाकी दूसरी जाति शंखिनी है। जिसे चरकने—तिक्तला, यवतिक्ता, अक्षि पीड़क लिखा है। इसके फल गोल-शंखाकार होनेसे शंखिनी, इसके रसको आंखमें डालनेसे पीड़ा करता है; अतः अक्षिपीड़क और यवके खेतोंमें विशेष होने के कारण यवतिक्ता तथा स्वादमें अधिक तिक्त होने से तिक्तला नाम रखा गया है। सातला और शंखिनी की जड़ विरेचक होती है। इनमें सातला आषाढ़से लेकर अगहन तक और शंखिनी चैतसे वैशाख तक उत्पन्न होती-मिलती है। अमरकोषमें "सप्तला नव मल्लिका" लिखा है।

चक्रपाणिदत्त "अक्षिपीड़क" का अर्थ "श्वेत-पीत शिम्बी" करते हैं, जो अशुद्ध है। सुश्रुतमें सप्तला का उल्लेख कई जगह किया गया है। डल्हन इसका अर्थ स्नुही भेदः—यवतिक्ता लिखा है, जो बहुत ही अशुद्ध है। मेदिनी कोषमें "नवमाला चर्मकस्य गुंजासु पाटलौस्त्रियाम्" लिखा है। वह भी अशुद्ध है। श्री वापालाल जीने "सप्तला" को चिकाखाई माना है। यह शास्त्र सम्मत नहीं है। क्योंकि चिकाखाई भारतमें न होकर बर्मा आदि प्रान्तोंमें होती है। और सप्तला-यवतिक्ता—भारतमें होती है। श्री वापालाल जीने यवतिक्ताको शिवलिंगी माना है, यह भी अशुद्ध है।

सप्तला—सेहुण्ड है ही नहीं। यह बात सप्तला के पर्य्यायोंसे स्पष्ट हो जाता है। चिकाखाई—बहुफेन रसा तो है, परन्तु यह फलिनी वृक्ष है। सप्तला चिकखाई नहीं है। इसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है। कड़े कोष्ठवालों के लिये ये विरेचन के लिये दिये जाते हैं।

चरकके कल्पस्थान ७-१० १ और सिद्धि स्थान ३-१० अध्याय में उदर रोग और वातव्याधिहरयोगों में सातलाका उल्लेख है। वहां पर शंखिनीकी बड़ी जातिवाली "सप्तला" समझना चाहिये। जिसे चर्म कषा और बहुफेन रसा कहा है।

डल्हनने जो यवतिक्ताका परिचय "यवतिक्ता-यवक्षेत्रेषु जायते, तिक्तसप्ताष्टपत्रा—यवतिक्तेति प्रसिद्धा परिचय दिया यह बहुत ठीक है। बङ्गाली कविराज—"यवतिक्ता" को "कालमेघ" मानते हैं। वह शास्त्र विरुद्ध है। श्री विनोदलाल सेन रचित—आयुर्वेद

विज्ञानमें यवतिक्ता के विषय जो उल्लेख है, वह अशुद्ध है।

अक्षिपीड़क शिवलिंगी नहीं है। आयुर्वेदीय निघण्टुओंमें दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन है। शिवलिंगी की बेल होती और अक्षिपीड़क, शंखिनी-यवतिक्ताका पेड़ होता है। इसी प्रकार सातलाका भी पेड़ होता है। शिवलिंगी आँखफुटामणी नहीं है, बल्कि शिवलिंगी का एक भेद भगलिंगी (शिवलिंगके चिह्नरहित) है। हमने अपनी पुस्तक "सन्दिग्ध वनौषधि निर्णय" में जो आँखफुटामणी का चित्र दिया है। वह अक्षिस्फोटाका नहीं है, किन्तु गुजराती वैद्यों की उक्तिका द्योतक चिह्न है। मेरे मतसे सप्तला (सातला) सात पत्रवाली, दुग्धयुक्त चमड़ेको कसनेवाली, बहुफेन युक्त और फलवाली है। और उसकी दूसरी जाति छोटीपत्ती वाली तथा शंखके समानफल वाली शंखिनी है।

श्वेतनामा

इसको चक्रपाणिने श्वेत-अपराजिता लिखा है। यह ठीक है। श्वेतनामा-अश्वक्षुरक का वाचक है।

ज्योतिष्मती

ज्योतिष्मती का भी अर्थ मालकांगनी, किणही अपामार्ग के पर्य्यायों में किया है। अतएव यहाँ पर कटभी शब्द से ज्योतिष्मती का ही ग्रहण करना चाहिये। अपामार्गका नहीं।

श्री वापालालजी ने "ज्योतिष्मत्यां किणह्यांच सपुष्प्यां किणहीमता" मेरे मतसे यह पर्यायार्थवाची है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कटभी किणही का वाचक है। भावमिश्रने ज्योतिष्मतीका अर्थ मालकांगनी लिखा है। यह ठीक है। ज्योतिष्मती को कानाफुटी कहना भी गलत है। कानाफुटीका अर्थ कर्णस्फोटा है इसे लता फिटकिरी भी कहते हैं। ज्योतिष्मती—(मालकांगनी) शिरोविरेचन होने से अनेक रोगनाशक है। ज्योतिष्मतीमें दूध नहीं होता। ज्योतिष्मती—मालकांगनी ही है।

बिम्बी

चक्रपाणि ने बिम्बीको "ओष्ठोपम फला" ठीक ही लिखा है। हिन्दीमें इसे कुन्दरू कहते हैं।

> बिम्बी रक्तफला तुण्डी, तुण्डीकेर फला च सा।
> ओष्ठोपमफला गोड़ा, पीलुपर्णीच तुण्डिका॥

उपरोक्त श्लोक (पर्य्याय) धन्वन्तरि-निघण्टुके हैं। यहाँ बिम्बी के पर्य्यायों में "तुण्डीकेर" और "पीलुपर्णी" दोनों नाम आये हैं। यद्यपि तुण्डीकेर कपासका नाम है। परन्तु यहाँ पर कपास-अर्थ अप्रासंगिक है। श्री वापालालजीने ध० नि० कारका आभ्यन्तरिक भावोंका ठीक-ठीक पता न लगाकर पीलुपर्णी और तुण्डीकेर शब्द को भ्रमोत्पादक बताया है। यह ठीक नहीं है। इससे भ्रम और दूर हो जाता है। यदि श्री वापालालजी इस पर थोड़ा भी ध्यान देते तो यहाँ सन्देह ही उत्पन्न न होता। ध० नि० कारका भाव यह है कि "तुण्डीकेर फला च सा" अर्थात् तुण्ड के सदृश फलवाली, और पीलुपर्णीका मतलब बिम्बी के पत्र भी पीलुपत्रके समान होते हैं, इसीलिये पीलुपर्णी कहा है। इसी आशयका उल्लेख कोषकारने भी किया है। बिम्बी कड़वी-मीठी भेदसे दो तरह की होती है। इन दोनोंकी जड़ें काम में आती हैं।

शणपुष्पी

ध० नि० और रा० निघंटुकार इसके पर्य्याय निम्नलिखित दिये हैं—

> शणपुष्पी बृहत्पुष्पी शणिका शणघण्टिका।
> पीतपुष्पी स्थूलफला लोमशा माल्यपुष्पिका॥

इन पर्य्यायों के देखने से शणपुष्पी में कोई सन्देह ही नहीं होता। इसके फल से बच्चे खेलते हैं।

विषाणिका

चक्रपाणि ने विषाणिका को आवर्तकी ठीक ही लिखा है। डल्हन ने विषाणिका का अर्थ मेषशृंगी और आवर्तकी किया है। यह भी ठीक है। परन्तु मेषशृंगी-काकड़ा सिंगी का एक भेद है। आवर्तकी-मरोड़फली है, ध० नि० कारने इसे पीत पुष्पी ठीक ही माना है। किन्तु रा० नि० कार—का रक्तपुष्पी मानना ठीक नहीं है। बहुत विद्वान मेषशृंगी का अर्थ मेष (भेड़ा) की सींग की तरह पत्ते वाली करते हैं यह ठीक नहीं, मेष की सींग की तरह फल वाली मेषशृंगी है, ऐसा अर्थ करना ठीक है। विषाणिका शब्द उतरण के पर्यायों में नहीं आया है। अतः उतरण विषाणिका नहीं हो सकता। मेरे मतसे विषाणिका—आवर्तकी ही है।

अजगन्धा

अजगन्धा (कारवी) का अर्थ स्व० हरिप्रपन्नजी ने कालीजीरी किया है, जो इस प्रकरण के विरुद्ध है। मेरे मतसे अजगन्धा—का अर्थ यहाँ अजवाय ही है। श्री बापालाल जी जिसे वाकली कहते हैं उसका संस्कृत नाम मुझे मालूम नहीं, अतः इस विषयमें मैं अपना कुछ भी निर्णय नहीं दे सकता।

द्रवन्ती

द्रवन्ती का निर्णय हस्ति दन्ती के साथ ही कर चुका हूं। इस विषयमें इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि मुगली एरण्ड नाम से प्रसिद्ध जिसे तोड़ने पर उसमें से जल निकलता है वह द्रवन्ती ही है।

क्षीरिणी

चक्रपाणिजी के मत में क्षीरिणी दुग्धिका का पर्याय है। डल्हन ने क्षीरिणीका अर्थ अर्कपुष्पिका किया है। जो अशास्त्रीय है। इस विषयमें मेरा निश्चित सिद्धान्त है कि हिमालय में होने वाली पीतदुग्ध वाली, अनन्ता जैसे पत्तेवाली हिमावती को क्षीरिणी मानना उचित है।

चरक की मूलिनी औषधियों का प्रकरण समाप्त हुआ अब फलिनियों पर प्रकाश डालते हैं।

महर्षिचरकने फलिनी अर्थात् जिनके फल का अधिकतर व्यवहार होता है उनकी संख्या १९ मानी है।

(१) शङ्खिनी, (२)अजगन्धा, (३) त्रपुस, (४) मदन, (५) जलज क्लितक, (६) स्थलज क्लीतक, (७) प्रकीर्य, (८) उपकीर्य, (९) प्रत्यक् पुष्पी, (१०) अभया, (११) अन्तः कोटर पुष्पी, (१२) शारदम, (१३) कम्पिल्लक, (१४) आरग्वध, (१५) कुटज, (१६) धमार्गव, (१७) इक्ष्वाकु, (१८) जीमूत, (१९) कृतवेधन।

शङ्खिनी

शङ्खिनी का निर्णय मूलिनियों के प्रकरण में कर चुका हूं, यह यवतिक्ता ही है। व्यवहार में इसके बीज ही ग्राह्य हैं।

विडङ्ग

विडङ्ग-असंदिग्ध वस्तु है। भाषा में इसे वाय-विडङ्ग कहते हैं।

त्रपुस

त्रपुस में भी कोई मतभेद नहीं है, हिन्दी में इसे खीरा कहते हैं। यह मीठी और कडवी जाति का होता है। औषधियों में कटु खीरा का प्रयोग उत्तम है।

मदन फल

मदनफल भी सन्देह रहित है। भाषा में इसे मैनफल कहते हैं।

क्लीतक

क्लीतक को भाषा में मुलेठी कहतेहैं। यह दो प्रकार का होता है। स्थलज एवं जलज। स्थलज

प्राप्य है। जलज नहीं मिलता। यहां मुलेठी के फलों का ही प्रयोग बताया है। परन्तु इनके फल बाजारों में नहीं मिलते।

धमार्गव

इसका दूसरा नाम कोशातकी है। भाषा में इसे पीली तोरैया कहते हैं, जिसके फूल पीले होते हैं।

इक्ष्वाकु

इसे कटुतुम्बी भी कहते हैं। चक्रपाणि जी ने भी तिक्तालाबु ही माना है। यह भी निर्विवाद है। भाषा में इसे तितलौकी कहा जाता है।

जीमूत

जीमूत को—चक्रपाणीने घोषक भेद माना है। जीमूत देवदाली को ही कहा जाता है। भाषा में इसे घघर बेल कहते हैं।

कृतवेधन

यह सामान्य तोरई का बोधक है। धामार्गव पीली तोरई को ही कहते हैं।

प्रकीर्या--उदकीर्या

चक्रपाणी ने करञ्जद्वय को ही प्रकीर्या एवं उदकीर्या कहा है। मेरी सम्मति भी यही है। भाषा में इसे कठकरंज कहते हैं।

हस्तिपर्णी

"हस्तिपर्णी मोरटःअस्याश्च शरत्काल भवमेव फलं ग्राह्यं। तदुक्तं-हस्ति पर्ण्याश्च शारदम्" च० सू०। हस्तिपर्णी को मोरट मानना सर्वथा अशास्त्रीय है;क्योंकि मोरट के पर्यायवाची शब्दों में हस्तिपर्णी का उल्लेख कहीं नहीं है। राजनिघण्टु प्रभृति देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होगा जो लोग हस्तिपर्णी को इक्षुमूल मानते हैं उनका सिद्धान्त भी असंगत ही है। इसको हस्तिकर्ण पलाश मानने वालों का सिद्धन्त भी ठीक नहीं। सुश्रुत ने जो क्षीर मोरटा लिखा' उसका तात्पय यह है कि इसमें दूध होता है। हस्तिपर्णी दूध वाली मोरट नहीं है; क्योंकि इसके पत्ते कभी भी हाथीके समान होते ही नहीं "हस्तिपर्ण्याश्च शारदम्" असल में यह शरद ऋतु में होने वाली कड़वी ककड़ी का नाम है। मेरे मत से इसी कड़वीककड़ी को ही हस्तिपर्णी मानना सर्वथा शास्त्र सम्मत है।

प्रत्यक्‌पुष्पी

अपामार्ग का नाम है यह निर्विवाद है।

अभया

हरीतकी का ही नाम अभया है। यह सर्व जन विदित है।

अन्तः कोटर पुष्पी

वृद्धदारूक का ही वाचक है, बल्कि मेरी सम्मति में इसके बीजों को ही अन्तःकोटरपुष्पी कहना चाहिए।

कम्पिल्लक

रोहिणी को ही कम्पिल्लक माना जाता है यह भी सर्व जन विदित है। भाषा में इसे कमेले वाला फल कहते हैं।

कुटज

इसे सभी जानते हैं। भाषा में इसे कुड़ा कहते हैं।

आरग्वध

आरग्वधोराजवृक्षः। आरग्वध अमलतास को कहते हैं।

चरक सू० स्थान अ० १-७५ में "मूलिन्यः षोडशैकोनाः फलिन्यो विंशतिः स्मृताः।" और मूलिनियों के गणना क्रम में क्षीरिणी चात्रषोडशी। फलान्येकोन विंशतिः" ऐसा पाठ चरककारने लिखा है। (यह उचित है क्या) वास्तविक है—क्या। इसका क्या भाव है? परस्पर विरोध पड़ता है। ऐसे ही संदेह बहुत सी औषधियों में बने हैं। उनकी वास्तविक जानकारी के लिए शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा गम्भीर आलोचन आवश्यक है।

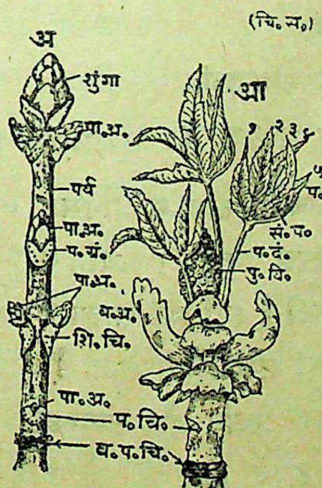
प्रकाण्ड: (The Stem)

कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, बी० ए०

वनस्पतियों के मूल और शाखाओं के मध्यभाग को प्रकाण्ड, प्रस्कन्ध और तना कहा जाता है स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधिस्तरोः" इत्यमरः। वनस्पतियों का परिचय स्कन्ध और पत्रों पर निर्भर है। अतः इनका पूर्णपरिचय आवश्यक है। इस प्रकरण में काण्ड का वर्णन किया गया है। पत्र पुष्पादि काण्ड के ही आश्रित रहते हैं।

कांड के अङ्ग-प्रत्यङ्ग

(१) पर्व और पर्व-ग्रन्थियां (पोरे और गाँठ) बीज के प्रकरण में बताया जा चुका है कि अंकुर (भ्रूण-प्ररोह) प्रकाश की ओर बढ़ता है और वनस्पतियों का क्षुद्र काण्ड, शाखाएँ, पत्ते आदि का रूप धारण करता है। इस आद्य-अंकुर में वृक्ष का महान् रूप छिपा रहता है।



चित्र—२०

(अ)

शुंगा=अन्तिम कलिका, काण्ड का वर्धमान भाग
पा० आ०=पार्श्विक-अक्ष।
पर्व=पर्व (पोरे)
प० ग्रं०=पर्व ग्रन्थि।
शि० चि०=शिराचिन्ह
प० चि०=गिर गये हुये पत्रों का चिन्ह
व०प०च०=वल्क पत्रचिन्ह (मेखला)

(आ)

प० प०=पर्णक-पत्रक
सं० प०=संयुक्तपत्र
प० द०=पत्रदण्ड-वृन्त
पु० वि०=पुष्पविन्यास

१ से ५ तक संख्या संयुक्त पत्र के पत्रकों के द्योतक है।

बड़ी वनस्पतियों में काण्ड एवं पत्र पर्याप्त अन्तर पर रहते हैं। जिस स्थान से पत्र या काण्ड निकलते हैं, उस स्थान पर एक गाँठ होती है। इस गांठ को 'पर्व-ग्रन्थि' (Nodes) कहा जाता है। इन दो गाँठों के बीच का भाग 'पर्व' (पोरा Internodes) कहा जाता है।

(२) अक्षियां (Buds) और उनके भेद (आँखें) ईख आदि में पर्व-सन्धि पर एक आँख देखी जाती है; वहां से ही नये ईख इक्षुदण्ड) की उत्पत्ति होती है। इसे संस्कृत में 'अक्षि' कहते हैं। इसे ही 'कलिका' भी कह सकते हैं। किन्तु 'कलिका' पुष्पों की कलियों को भी कहते हैं। अतः भेद के लिए काण्ड की कलिकाओं (उत्पत्ति स्थान) को 'अक्षि' या 'आँख' नाम दिया गया है और पुष्पों की कलियों को कलिका कोरक या कुड्मल' कहा जाता है। पाठक इस भेद को ध्यान में रक्खें।

(अ) शुङ्गा (Terminal Buds) प्रधानकाण्ड और शाखाएँ लम्बाई की तरफ अपनी शिखा की ओर बढ़ते हैं। शिखर पर पर्वों की लम्बाई सीमित रहती है। विकसमानपल्लव (नयीं कोंपलें) शिखर के शिखर पर चक्र के रूप में चारों ओर छाये रहते हैं। इस पल्लव सहित

शिखर को "शुंगा" या "अन्तिम अक्षि" कहते हैं। ज्यों-ज्यों शाखाएँ बढ़ती जाती हैं पर्वों की लम्बाई भी बड़ी हो जाती है और पत्ते भी दूर-दूर होते जाते हैं।

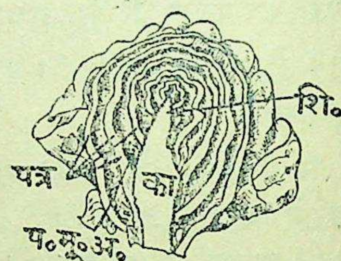
(आ) पार्श्विक-अक्षि (Lateral Buds)—पत्तों के समान काण्ड की शाखाएँ अक्षियों से ही उत्पन्न होती हैं। इन काण्ड शाखाओं को उत्पन्न करने वाली इन 'अक्षियों' को "पार्श्विक अक्षियाँ" कहते हैं। ये पार्श्विक अक्षियां पत्रदण्डमूल एवं काण्ड की सन्धि से उत्पन्न होती हैं। शाखा उत्पत्ति की यह पत्रकोणीय स्थिति स्मरणीय है। आवृत बीज वनस्पतियों (आम, जामुन आदि) में प्रत्येक पत्रदण्डमूल (डण्ठल) में 'अक्षि' होना आवश्यक है।

स्वभावतः यहां यह प्रश्न उठता है कि यदि प्रत्येक पत्र के साथ अक्षि होती है, तो उससे शाखाएँ उत्पन्न क्यों नहीं होती ?

बात यह है कि अधिकांश अक्षियाँ प्रकृति के या बाह्यवातावरण के प्रभाव से निष्क्रिय रहती हैं। कुछ ही अक्षियाँ शाखारूप में विकसित रहती हैं। किन्तु इस प्रकार की 'अक्षियों' को वन्ध्या नहीं कहा जा सकता—क्योंकि अवस्था विशेष में इनसे उत्पत्ति होने लगती है। यथा मुख्य काण्ड या शाखा काण्डों के नष्ट हो जाने पर इन्ही प्रसुप्त अक्षियों से नई शाखाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अक्षिनाम की सार्थकता का डल्हनाचार्य ने बड़ी स्पष्टता से वर्णन किया है। सुश्रुत-सूत्रस्थान में (अ० ४५. प १५६) वह लिखता है। "अक्षीणि पर्वसन्धिषुप्ररोहजननसमर्थाःअंकुराः" अर्थात् पर्वकी गांठों पर क्षप उत्पन्न करने में समर्थ अंकुर (सूक्ष्म रूप) को 'अक्षि' कहते हैं।

(इ) बीजाक्षि

गाँठ गोभी, बन्द गोभी आदि में एक प्रकार की 'अक्षि' पाई जाती है। जिससे प्ररोह या आद्य-अंकुर उत्पन्न हो सकता है। अतः इसे 'भ्रूणाक्षि या बीजाक्षि' कहते हैं। इस प्रकार की वनस्पतियों में पर्व सन्धि सूक्ष्म होती है और पर्वों का पूर्ण विकास भी नहीं होता। पल्लव (कोंपलें) एक दूसरे के ऊपर चढ़े रहते हैं और शाखा शिखर पर भी छाये रहते हैं।



चित्र—२१

शि०=शिखर (वर्धमान अग्रभाग)

का०=काण्ड

प० मू० अ०=पत्रमूलाक्षि

(ई) आगन्तुक अक्षियाँ (Adventitious buds)

साधारणतया अक्षियाँ शाखानुसारी वा अधरोत्तर क्रम से उत्पन्न होती हैं। अर्थात् ज्यों-ज्यों शाखा बढ़ती जाती हैं त्यों-त्यों शाखा के वर्धमान भाग में अक्षियाँ उत्पन्न होती जाती हैं। किन्तु जब वे किसी दूसरी स्थिति और पत्रदण्डमूल से असम्बन्धित उत्पन्न होती हैं तो उन्हें 'आगन्तुक अक्षियाँ' कहा जाता है। इस प्रकार की अक्षियाँ न केवल काण्डों पर ही अपितु पत्रों पर भी उत्पन्न होती देखी जाती हैं। यथा—पाषाणभेद (पर्णबीज, हिमसागर, पत्थरचट्टा) नामक वनस्पति में। अतएव इसे पर्णबीज (पत्ते रूपी बीज

वाला) भी कहा जाता है। गुलाब की मूल में भी इसी प्रकार की अक्षियां उत्पन्न हो जाती हैं।

(उ) अतिरिक्त वा यमलाक्षि (Accessory Buds)

अखरोट आदि अनेक वनस्पतियों में पत्र-दण्डमूल से एक से अधिक अक्षियां उत्पन्न हो जाती हैं। इन्हें 'यमलाक्षि (जोड़ा) या अतिरिक्त 'अक्षि' कहा जाता है।

(३) बल्कल पत्र वा सकल पत्र (Scale leaves)

बल्कल से तो प्रायः सभी जन सुपरिचित हैं। बल्कल को पहन कर ही भगवान् बन गये थे। बल्कल-अन्तस्त्वचा (अन्दर की छाल) का नाम है। अक्षियों में अवस्थित किसलय ही समय पर बड़े होकर हरे पत्ते बन जाते हैं किन्तु शीतकाल की अक्षियों में मध्य के पत्र ही पर्ण बनते हैं। ऊपर के पत्र उनकी रक्षा शीतादि से करते हैं। वे हरे पत्ते नहीं बनते, छोटे-छोटे ही रहते हैं, उन्हें पत्रबल्क वा बल्कपत्र कहते हैं। देखें चित्र संख्या १२. (स० आ० अक्टूबर. ४९) में। अक्षियों के ऊपर भी एक प्रकार का बल्कल होता है जो अति सुकुमार और सूक्ष्म होता है। यह कलियों या अक्षियों को शीत, उष्ण, एवं ताप, कीटाणु आदि से रक्षा करते हैं। मछली के ऊपर के सकल (गोल-गोल छिलके) के समान होने से इन्हें 'सकलपत्र' भी कहते हैं। अक्षि रक्षक बल्कों को अक्षिबल्क कहते हैं।

प्रायः सभी अक्षियों में पल्लव एक ही प्रकार के होते हैं। ये यथासमय पर्ण बन जाते हैं। किन्तु हेमन्त ऋतु में उत्पन्न अक्षियों में केवल केन्द्रीय पल्लव ही 'पर्ण' रूप में परिणत होते हैं। बाहर के पत्र (प्याज) के बाहर के पत्र छिलकों की तरह) बल्कल या त्वचा के रूप में, शीत-उष्णता आदि से हेमन्तज अक्षियों के केन्द्रीय पल्लवों की रक्षा करते हैं और उनमें जल का वाष्पीभवन भी रोकते हैं। इसी प्रकार गर्मी में ये पत्रवल्क ताप एवं शुष्कता से इनकी रक्षा करते हैं।

ऋतुराज वसन्त के आगमन से जब अक्षियां प्रस्फुटित होती हैं, उस समय ये 'बल्क पत्र' झड़ जाते हैं। एवं इनकी स्मृति स्वरूप मेखला (तगड़ी) का देखें चिह्न-संख्या चित्र २० ही रह जाता है। इन 'मेखला चिह्नों से किसी भी शाखा की, जिस पर ये उत्पन्न होती हैं, आयु जानी जा सकती है। क्योंकि वसन्त में पत्रवल्कों के गिरने से एक मेखला बनती है। यथा खुरमानी (Beech) नामक वृक्ष में ?

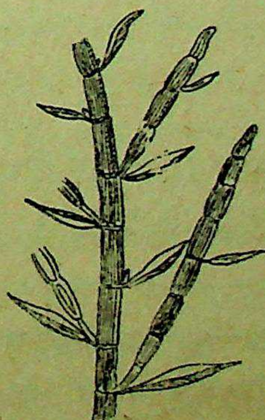
काण्ड पृष्ठ के भेद

काण्डों के स्वरूप एवं उनकी परस्पर विभिन्नता बताने वाले कुछ संज्ञा-शब्दों का वर्णन यहां किया जाता है। वनस्पतियों के परिचय में इनका विशेष स्थान है अतः जिज्ञासुओं को इन्हें पूर्णतः हृदयंगम कर लेना चाहिए।

(१) वर्त्तुल (Cylindrical)

ये काण्ड प्रायः गोलाई लिये हुए होते हैं। इन्हें 'बेलनाकार' भी कह दिया जाता है। यथा शीशम, आमादि।

वज्र भेद (वर्तुल काण्ड)
(सन्धित काण्ड)

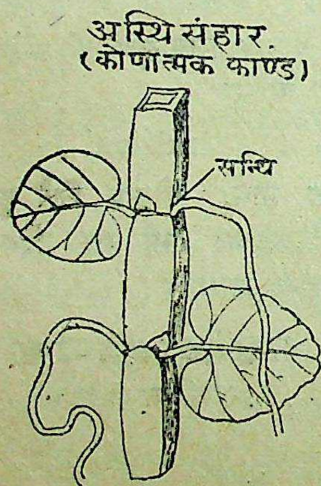


चित्र—२२

हरा काण्ड गोल (वर्त्तुल,) स्निग्ध पृष्ठ एव सन्धित तथा मांसल है। यह थोहर का एक भेद है।

(२) कोणात्मक (Angular Ribbed)

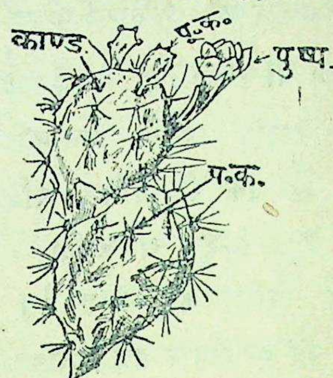
इस प्रकार के काण्डों में कोण (किनारे) पाए जाते हैं। और दो किनारों के बीच में खात या गहरी नाली पाई जाती है। विभिन्न वनस्पतियों में इनकी संख्या भी भिन्न-भिन्न होती है। यथा-अस्थिसंहार, सेहुण्ड में तीन-कोण या धारायें होने से उसे त्रिधारा (Triangular) कहा जाता है। अस्थि संहार, तुलसी, काकजंघा आदि में चार कोण होते हैं। इसी प्रकार वज्र (स्नुही) जाति की वनस्पतियों में अनेक (तीन-चार-पांच-छः,) कोण पाये जाते हैं।



चित्र—२३

अस्थिसंहार (हाड़ जोड़) का हरा कोणात्मक मांसल सन्धितकोण, एक ओर पत्र एवं दूसरी ओर परिवर्तित पत्र (सूत्र रूप में)

(३) चिपटाकार :—ये काण्ड बिल्कुल चपटे होते हैं। कुछ वनस्पतियों में ये मांसल और सरस भी होते हैं, यथा—नागफणी या सातला (छित्तर थोहर) में।



चित्र—२४

नागफणी (छित्तर थोहर) चपटा-मांसल-हराकाण्ड।
पु० क०=पुष्प कलिका
प० क०=कंटक रूप में परिणत पत्र।

वक्तव्य

उक्त प्रकार के काण्ड परस्पर जुड़े हुए सन्धित भी होते हैं। यथा—वर्तुल काण्ड गन्ने में, कोणात्मक अस्थिसंहार (हाड़जोड़) में, एवं चिपटाकार नागफणी में, इन्हें 'सन्धित काण्ड' भी कह दिया जाता है। जो काण्ड वर्तुल हों और अन्दर से खोखले हों उन्हें नाड़ी काण्ड या नाली काण्ड' नाम भी दिया जाता है। धनियाँ, गेहूं, जौ, आदि में ऐसे ही काण्ड पाए जाते हैं।

(४) कलशाकारः—या लट्वाकार—घड़े के आकार के यथा-जलकुम्भी में।

(५) अनियमिताकारः—इन सबसे भिन्नप्रकार के ये दोनों प्रकार बहुत कम मिलते हैं।

(६) रोमशः—रोम या लोममय—सूक्ष्मकेशवाले यथा उड़द-मूगांदि दालों के काण्डों में।

(७) कंटकितः—कांटों से युक्त, यथा-थोहर (नागफणी) चित्र—२४।

(८) स्निग्धः—काण्ड पृष्ठ यदि चिकना हो और उस पर रोम, कंटकादि न हों। यथा चित्र—२२
गठ्न के अनुसार काण्ड के भेद।

(१) हरितक या तृणः—सब प्रकार की घासों में और क्षुद्र वनस्पतियों में इस जाति के काण्डों में पर्व पर्याप्त लम्बा होता है। यह लम्बाई इनके शिरा जाल की विशेषता के कारण होती है।

(२) काष्ठमयः—दृढ़काठयुक्त शीशम, आम, देवदारु आदि में।

(३) सन्धितः—इसका वर्णन ऊपर आ चुका है, यह तृण जातियों में प्रायः पाया जाता है। यथा चि० सं० २२ और २३ में।

अवस्थिति के अनुसार

(१) वायवीय या भूमि पृष्ठीयः—भूमि के ऊपर अवस्थित साधारण वनस्पतियों में काण्ड इसी तरह के होते हैं।

(२) भौमिक—भूमि अधोघाती—पृथ्वी के सतह के साथ-साथ दौड़ने वाले, अदरक, हल्दी, सुदर्शन केतकी आदि के काण्ड इसी प्रकार चलते हैं। यथा चित्र संख्या २८ में। इनका विशेष वर्णन आगे किया गया है।

कांडों में शाखा क्रम

वनस्पतियों का शाखा क्रम चित्रसंख्या तीन में दर्शाया गया है (देखें जुलाई का सचित्र आयुर्वेद)। यह प्रधानतः दो प्रकार का होता है।

(१) द्विविभक्त या साम्मुखीन (चि० ३ में अ०) इस प्रकार में वनस्पति की वर्द्धमान-शाखा दो बराबर भागों में विभक्त हो जाती है। इसी कारण इसे 'अग्र विभक्त' भी कहा जाता है।

(२) पार्श्विकः—इस प्रकार में काण्ड की प्रधान-शाखा की शुङ्गा (अन्तिम-अक्षि) विभक्त नहीं होती अपितु बढ़ती चली जाती है और उसके पार्श्व से नयी-नयी अक्षियाँ पत्र-दण्डमूल से निकलती चली जाती हैं। (चि० सं० ३ में 'आ' और 'इ')।

इस पार्श्विक क्रम के पुनः दो भेद हो जाते हैं।

(१) अमर्यादित या अकुण्ठिताग्र (चि० ३ में 'आ') प्रधान शाखा की शुंगा बराबर बढ़ती चली जाती है एवं पार्श्व में नई-नई अक्षियाँ-शाखाओं को जन्म देती जाती हैं।

(२) मर्यादित या कुण्ठिताग्र या गौणजा (चि०३ में 'इ') इस क्रम में प्रधान शाखा की शुङ्गा की वृद्धि वन्द हो जाती है। और अप्रधान या गौण शाखा से वृद्धि एक ही दिशा में होती जाती है।

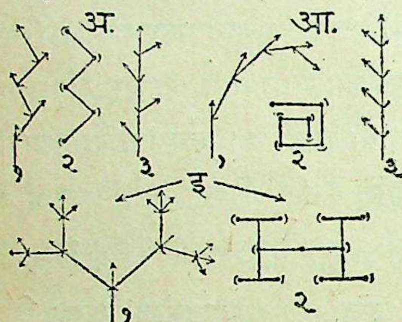
उक्त शाखा प्रकारों में से ही कोई एक भेद काण्डों में पाया जाता है। 'आवृतबीज' आम्र, जामुन, नीम आदि वनस्पतियों में प्रायः पार्श्विक-शाखा क्रम पाया जाता है। अर्थात् शाखाओं की उत्पत्ति पत्रदण्ड मूल से होती है। शाखा की शुङ्गा का विभाजन नहीं होता। ये भविष्य की शाखाएँ अक्षि और पल्लवों के रूप में, यह मातृ-अक्षि' शाखा शिखर से जरा नीचे रहती है।

शाखा क्रम कुण्ठिताग्र या अकुण्ठिताग्र दोनों ही प्रकार का हो सकता है। अकुण्ठिताग्र प्रकार में प्रत्येक पर्व-ग्रन्थि पर शाखाओं की संख्या के अनुसार एक या अधिक अक्षियाँ पाई जाती हैं। एक से अधिक अक्षियाँ होने पर इन्हें 'अक्षिचक्र या शाखा चक्र' कहते हैं। इन शाखा-उत्पादक-अक्षियों की संख्या पत्तों की संख्या पर निर्भर है क्योंकि पत्रदण्डों के मूल से ही तो शाखाएं निकलती हैं। यह क्रम काण्डों के अग्र वर्द्धन शील भाग' में पाया जाता है।

किन्तु निम्बू, आलू, आदि में कुण्ठिताग्र प्रकार भी पाया जाता है। इसका कारण यह है कि ऋतु या वर्ष के अन्त में काण्ड की शुङ्गा मर जाती है। आगामी वर्ष नयी पार्श्विक-अक्षि से नवीन शुङ्गा

उत्पन्न होती है। कुण्ठिताग्र शाखा क्रम के निम्न भेद हैं।

(१) एक भुज या एक प्रसूः—पत्रदण्ड मूल से एकही शाखा निकलती है। (देखें चित्र—२५ में "अ, आ")



चित्र—२५

'अ' और "आ" में 'एक भुज वा एक प्रसु' प्रकार बताया गया है। चित्र 'अ' में द्विदिशीय क्रम और "आ" में एक दिशीय वा वेल्लतिक क्रम दर्शाया गया है।

इस चित्र के 'अ' और 'आ' भाग में १—१ शास्त्रीय, २—२ योजनानुसार चित्रित और ३—३ वास्तविक (प्राकृतिक) हैं।

इसी चित्र के "इ" भाग में १—संख्या द्विविभक्तांश शाखाक्रम की शास्त्रीय विधि की दिग्दर्शिका है। २—योजनानुसार चित्र।

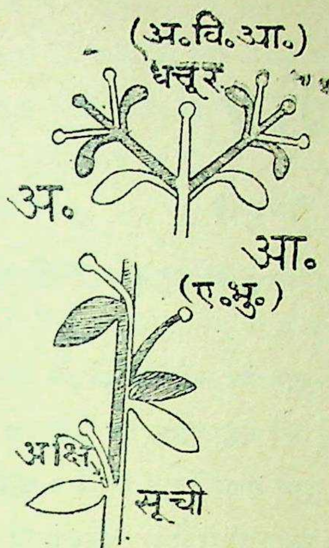
(२) द्विभुज वा द्विप्रसूः—पत्रमूल से दो शाखा-अक्षियाँ उत्पन्न होंगी (चि० २५ में 'इ')

(३) बहुभुज या बहुप्रसूः—यदि दो से अधिक शाखा अक्षियाँ उत्पन्न हों।

कुण्ठिताग्र-शाखाक्रम की विशेषता यह है कि इस क्रम में मातृ-शाखा को शुङ्गा की वृद्धि तो किसी कारणवश बन्द हो जाती है, और पार्श्विक गौण अक्षियों से वनस्पति की वृद्धि होती रहती है। और वह भी एक ही दिशा में। किन्तु द्विप्रसूः या द्विभुज प्रकार में, मातृ-अक्षि की वृद्धि बन्द हो जाने एवं दो नवीन गौण अक्षियों के उत्पन्न हो जाने से, इस में "द्विविभक्त शाखा क्रम' का भ्रम हो जाता है। अतएव इसे द्विविभक्ताभास' भी कह दिया जाता है। यथा—चि० सं० २५ में 'इ' में १।

एक भुज कुण्ठिताग्र-शाखा क्रम के पुनः दो भेद हो जाते हैं, (१) द्विदिशीय वा वाम-दक्षिण क्रम। इस क्रम में एक शाखाकाण्ड की बाईं ओर तो दूसरी शाखा कुछ दूरी पर उसके विपरीत पार्श्व में दाहिनी ओर दिखाई देगी। (चि-२५ में 'अ') (२) एक दिशीय या वेल्लतिक-इस क्रम शाखाओंकी उत्पत्ति एक ही दिशा में होती जाती है; जिस प्रकार वेल एक ही दिशा में वृक्षपर लिपटती जाती है। (चि० २५ में 'आ') किन्तु ये दोनों प्रकार विशुद्ध शास्त्रीय हैं। प्रकृति में ऐसा नहीं होता। वहां तो वनस्पतियों की शाखाएं सीधी ही चलती हैं। जैसा कि चि० २५ में अ और आ के ३—३ में दिखाया गया है। साधारणतः सारी शाखाओं की उत्पत्ति मूल मातृ अक्षिसे ही हो रही होती प्रतीत होती है। अतः इसे 'मूलजाभास' भी कह देते हैं। वस्तुतः मूल मातृ अक्षि से उत्पत्ति न होकर गौण अक्षियों से ही उत्पत्ति होती है। उक्त प्रकार में अकुण्ठिताग्र शाखा क्रम का भ्रम हो जाता है। किन्तु पत्रों की स्थिति और उत्पत्ति प्रकार से इनमें भेद किया जा सकता है। अकुण्ठिताग्र में पत्ते आमने सामने रहते हैं। और कुण्ठिताग्र में एक ही दिशामें एकही पत्ता पाया जाता है।

इस पार्श्विक-शाखा क्रम के कुण्ठिताग्र भेदमें द्विभुज शाखा प्रकार में भी कुछ परिवर्त्तन आजाते हैं जिनसे वे एक भुज प्रतीत होने लगते हैं। यथा धत्तूरा, (बेलाडोना) आदिमें (चि० २६ में अ. आ)। शाखा क्रम के सम्यक् ज्ञान के लिए बहुत सारी वनस्पतियों पर योग्य (प्रत्यक्ष ज्ञान का) अभ्यास करना आवश्यक है।



चित्र -२६

"अ" वस्तुनः कुण्ठिताग्र शाखा क्रम है किन्तु "अग्रविभक्त आभास वा "द्विविभक्ताभास" है। इसमें द्विविभक्त का भ्रम हो जाता है। यह धत्तूरा का क्षुप है।

"आ" वास्तव में द्विविभक्ताभास' (चि० २५ में 'इ' का १) है किन्तु वह एक भुजीय वा एक दैशिक बन गया है। यह सूची या 'बेलाडोना' का क्षुप है।

काण्ड कार्य का एवं स्वरूप

यह तो प्रथमही स्पष्ट किया जाचुका है कि वनस्पतियों को रचना और स्वरूप उनके कार्यों के अनुरूप ही होता है। काण्ड के कार्य निम्न हैं।

(१) पत्र धारणः—काण्ड और उसकी शाखाएं पत्रों को इस प्रकार धारण करती हैं कि पत्रों का अधिकांश भाग प्रकाश में रहसके। इससे वे प्रकाश संयोग द्वारा आहार का निर्माण कर सकते हैं।

(२) आहार संवहनः—पत्तों द्वारा प्रकाश संयोग से बनाया आहार सारी वनस्पति में पहुंचाना। विशेष कर वर्धनशील अङ्गों और आहार सञ्चय के स्थानों में। इस आहार को बनाने की सामग्री, मूलद्वारा-आशोषित जल और खनिजोंको पत्तों तक पहुंचाना। यह काण्ड का दूसरा कार्य है।

(३) आहारसंचयः—अनेक वनस्पतियों के काण्ड आहार संचय भी करते हैं विशेष कर भूमि के नीचे चलने वाले यथा शूरण (जमीकन्द) आलू, अदरक, पलाण्डु आदि।

यह कहा जाचुका है कि काण्ड प्रकाश में ऊपर (उत्तान स्थिति में) की ओर बढ़ने वाला वायवीय अवयव है। किन्तु कार्य वश इस स्थिति में परिवर्त्तन हो जाता है। और वह प्रकाश तथा वायु के स्थान में भूमि एवं अन्धकार मे बढने लगता है। यह स्थिति आहार संचय की आवश्यकता के कारण हो जाती है जैसा कि अभी उपर बतायागया है। इस प्रकार कार्य विभिन्नता काण्डों के स्वरूप की विभिन्नता का अन्यतम कारण बन जाती है। क्रमशः

पूर्णमिव तैल पात्रम्........

पूर्णमिव तैलपात्रम् असंक्षोभयता
अन्तर्वत्नी भवत्युपचर्या—च० शा० ८।२२
[अन्तर्वत्नी-सगर्भा]

सगर्भा का उपचार बताते हुए चरक कहते हैं, जैसे तैल से ऊपर तक भरा हुआ पात्र ले जाने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता होती है, वैसे सगर्भा का उपचार—उसको निर्दिष्ट आहार, विहार औषध—ऐसे होने चाहिये कि उनके कारण उसके अथच अन्तर्गत भ्रूण के शारीरिक-मानसिक व्यापारों में यत्किंचित् भी विकृति-क्षोभ- चाञ्चल्य-न उत्पन्न हो।

—वैद्य रणजित राय

करञ्ज और शिरीष

श्री भानु देसाई डायरेक्टर ऑफ पार्कस एण्ड गार्डन-बम्बई

करञ्ज

प्राचीन वाङ्मय में करञ्ज नाम से तीन उद्भिद् प्रसिद्ध हैं। एक, जिसके सूखने पर मटमैले फल और शाखाएँ कण्टकाकीर्ण होती हैं। इसका पौधा झुरमुट के आकार का तथा काण्ड-रहित होता है। इसके बीजों को हमारी ओर गुजराती-मराठी में 'सागरगोटा' या 'काचका' कहते हैं। ज्वर, उदर-विकार, कृमि तथा बाल रोगों में इन बीजों का घर-घर में व्यवहार होने से ये सुप्रसिद्ध है। संस्कृत में इस पौधे के 'कण्टकीकरञ्ज' 'लताकरञ्ज' 'पूतिकरञ्ज' (दुर्गन्धवाळा होने से) तथा 'कुवेराक्ष' नाम हैं। उत्तर भारत में करञ्ज नाम से यही प्रख्यात है। दूसरा, चिरविल्व (गुजराती में चरेल) तथा तीसरा करञ्ज जिसका वर्णन आगे दिया जा रहा है। गुर्जर भाषी प्रान्तों में करञ्ज नाम से तीसरे वृक्षका बोध होता है। हमारे प्रदेश में इसे 'कणभी' भी कहते हैं।

चिरविल्व और करञ्ज दोनों अति उत्तम उद्यान वृक्ष हैं। बहुत अंश में करञ्ज के सदृश पत्तोंवाली एक भिन्न लता होती है। वही वैद्यों का लता करञ्ज है। इस प्रकार वैद्यों के तीन करञ्ज ये हैं—कण्टकी करंज, आगे वर्णित करंज तथा लता करञ्ज।

गुजरात-सौराष्ट्र की ओर तो शायद ही कोई व्यक्ति होगा जो करञ्ज के नाम से परिचित न हो। इसके बीजों से निकलने वाले चिकित्सोपयोगी तेल (गुजराती में कणभीनुं तेल) के कारण भी जनता में करञ्ज सुविदित है। तथापि संभव है, बहुतों ने इसका वृक्ष न देखा हो या देखकर भी उसे नाम से न जानते हों।

उद्भिद् विद्या के कई ग्रन्थों में करञ्ज का वृक्ष मध्यम ऊँचाई का कहा गया है। परन्तु सत्य यह है कि जल, वायु तथा देश (भूमि) अनुकूल हो तो इसकी पुष्टि खूब होती है। करञ्ज दृढ़ अर्थात् सब प्रकार के जलवायु तथा नीरस भूमि में भी उग सकने योग्य होने से इसका प्रसार बम्बई प्रदेश में तथा शेष भारत में भी पर्याप्त हो गया है।

करञ्ज का मूल स्थान भारत ही है। इसका फैलाव आस्ट्रेलिया, चीन, लङ्का और मलाया के जङ्गली प्रदेशों में खूब है। गुजरात के जङ्गलों में, विशेषतः नदी-नालों के किनारे तथा समुद्र तीरवर्ती, प्रदेशों में यह निसर्गतः खूब फैला हुआ है। नम भूमि इसके लिए बहुत ही अनुकूल है। तथापि शुष्क और उष्ण प्रदेशों और कठिन भूमि में भी मार्गों के दोनों ओर इस वृक्ष की श्रेणियाँ पथिकों को शीतल छाया देती हैं। करञ्ज का वृक्ष घटादार, मुलायम तनेवाला, परन्तु गाँठोंवाली, धूसर छाल काऔर चमकीले, चिकने पत्तों से भरा होता है। पत्ते लगभग बारहों महीने पेड़पर बने रहते हैं। वृक्ष का फैलावा भी बिना आयास के होता है। इस कारण पी. डब्ल्यु. डी. के अधिकारियों में यह बहुत ही प्रिय हो गया है। उद्भिद्-विद्या की दृष्टि से विचार करें तो करञ्ज के बड़े-बड़े पत्ते वास्तव में उप पत्र होते हैं। ये उपपत्र बीच की डंडी पर जोड़ों के रूप में साथ-साथ लगे होते हैं। केवल बीच का उपरले सिरे पर लगा उपपत्र अकेला होता है।

करञ्ज पर मई-जून में धूसर (राखके रंग के) श्वेत तथा बहुत हलका जामुनी रंग लिए फूलों के गुच्छे लगते हैं। फूल छोटे तथा लोबिया के फूलों से बहुत मिलते-जुलते होते हैं। पत्तों के मूल के सामने से लम्बी डंडियों में बड़े-बड़े गुच्छे लटकते होने से वृक्ष बड़ा सुहावना लगता है। इनमें एक प्रकार की खास सुगन्ध भी होती है। इस सुगन्ध से आकृष्ट हो छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की मधुमक्षिकाओं के झुण्ड के झुण्ड सारे दिन फूलों पर मँडराते और पराग संग्रह करते प्रायः देखे जाते हैं।

करञ्ज में देखने में चपटे बादाम जैसे अलग-अलग बीज लगते हैं। इस बीज से अन्य द्विदल उद्भिदों के समान अधिक दाने नहीं निकलते, किन्तु एक ही बड़ा चपटा बीज निकलता है। फूल आने के लगभग एक वर्ष पीछे ये बीज पकते हैं और बहुत समय तक पेड़पर ही लगे रहते हैं। झड़ने के पीछे भी अन्य द्विदल बीजों के समान वे फट नहीं जाते। ऊपर का कवच जब तक सड़ नहीं जाता तब तक बीज आते नहीं। वृक्ष का स्वभाव नदी नालों के किनारे स्वयं उगने का होने के कारण प्रकृति ने इसके बीज भी हलके बनाये हैं। परिणाम तथा प्रवाह में पड़ कर तैरते-तैरते ये विना बिगड़े दूर-दूर पहुंचते और अपनी जाति-वृद्धि करते हैं।

करञ्ज के बीजों में २७ प्रतिशत तैल होता है। यह अनेक प्रकार से उपयोगी है। प्राचिन काल में यह दिया जलाने के काम आता था।

डा० किर्लोस्कर नामक' खेती के काम आनेवाले यन्त्र बनाने वाली एक कंपनी के संचालकने पता लगाया है कि करञ्ज के तेलसे डीज़ल एँजिन भी चलाये जा सकते हैं। वे स्वयं भी निकट भविष्य में डीज़ल एँजिन बनाने का एक कारखाना पूनामें खोलने वाले हैं। जिनके पास पंप अथवा अन्य मशीनों को चलाने के लिए तेल से चलने वाले एँज़िन हैं उन्हें, इस बात का पूर्ण अनुभव होगा कि आज कल डीज़ल तेल कितना दुर्लभ है। ऐसी स्थितिमें यदि करंज के तेल से एँजिन चलाने की परिपाटी चालू की जाय तो हमारे देश की एक बड़ी कमी पूरी होगी और हमें इसके लिए परदेशों का मुख न ताकना पड़ेगा। वर्तमान समय में यथेष्ट प्रमाण में करञ्ज न होने से तथा बीजों से तैल निकालना अतिव्यय साध्य होने से डीज़ल एँजिनों में करञ्ज के तैल का जितना उपयोग चाहिये उतना नहीं किया जा सकता।

करञ्ज की लकड़ी श्वेत दृढ तथा घड़रने में कठिन होती है। इन्धन के अतिरिक्त गाड़ी के पहिये बनाने में भी इसका उपयोग होता है। करञ्ज की छाल से रेशे निकाले जाते हैं। कहीं—कहीं लकड़ी की राख कपड़े रंगने के काम में लायी जाती है।

करञ्ज के पत्ते जानवरों को खिलाये जाते हैं। दक्षिण में इन पत्तों का तरवड़ (गुजराती—आवल) के खेतों में खाद के रूप में अत्यधिक उपयोग होता है।

करञ्ज के औषधीय उपयोग भी कम नहीं। विशेषतः बीजों का तेल कृमि नाशक तथा व्रणों को भरने वाला है। व्रणों पर काम आने वाले अनेक तैलों में इसके पत्र डाले जाते हैं। बीजों का तेल दाद, अकौता (छाजन-एग्ज़ीमा) तथा अन्य चर्म रोगों पर बहुत गुणकारी है। शरीर में दुखावा, आमवात (रुमटिज्म), सधिवात आदि विभिन्न शारीरिक वेदनाओं में तेल मसला जाता है। व्रण भरनेके लिए करञ्जके मूलका रस प्रयुक्त होता है। पत्तों का रस या कल्क (चटनी, लुगदी) रक्तपित्त तथा सूजनपर लगायी जाती है। फूल भी चिकित्सा में काम आते हैं।

तात्पर्य, यह है कि करञ्ज विशेषतः हमारे ग्रामों के

लिए बहुत उपयोगी है। शहरों में बाग-बगीचों तथा रास्तों पर लगाने के लिए भी इसका पुष्कल उपयोग होता है। यह सब होते हुए भी इतने रमणीय, शीतल—छायादार, चिकित्सोपयोगी गुणवाले, जिसका अङ्ग-अङ्ग काम आने वाला है तथा जो आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से भी अपनाने योग्य है; ऐसे इस वृक्ष का प्रचार नगण्य ही है।

शिरीष

फूलों की सुकुमारता के कारण संस्कृत कवियों की अत्यधिक प्रीति प्राप्त करने वाला शिरीष अपने इस संस्कृत नाम से या अपभ्रंश सिरस नाम से सुप्रख्यात है। कोई इसे काला सिरस भी कहते हैं कारण, इस सिरस के दो-तीन भेदों में छाल कालापन लिए-धूसर वर्ण की, तना खुरदरा तथा छालमें तरेड़ें पड़ी होती हैं।

सिरस भूमि की भिन्नता तथा गहराई के अनुसार मध्यम से लेकर खूब ऊँचाई तक बढ़ता है। शाखाओं की अभिवृद्धि भी ठीक-ठीक होती है। सिरस बारहों मास हरा नहीं रहता। शिशिर (पतझड़) में इसके पत्ते झड़ जाते हैं। पत्ते संयुक्त होते हैं। तथा चार या छः की संख्या में पत्रदण्ड पर लगे होते हैं। प्रत्येक पत्ते की डण्डी पर तीन से नौ उप-पत्र होते हैं। पत्र-दण्ड के मूल के पास एक ग्रन्थि होती है।

शिरीष के फूलों के गुच्छे पीलापन लिए हरे, खूब सुगन्धित और कोमल तन्तु-जैसे होते हैं। ये रेशम जैसे सुकुमार तन्तु अधिकांश पुंकेशर ही होते हैं। अपने कुटुम्ब के अन्य वृक्षों के फूलों की अपेक्षया सिरस के फूल सब से बड़े और सुन्दर होते हैं। फूलों की ऋतु में इसकी सुगन्ध दूर-दूर तक जाती है।

अपनी लम्बी, चपटी, फीके पीले रङ्ग की कलियों के कारण सिरस तत्क्षण पहिचाना जाता है। कलियों के सूखने पर हवा के कारण अन्दर के बीज खूब खड़खड़ाते हैं। फलियों के इस शब्द के कारण तथा पतले चौड़े और लम्बे आकार के कारण अमेरिका में सिरस को 'स्त्री जिह्वा'[1] भी कहते हैं। अमेरिका में ही कोई-कोई इसे तली जाती लकड़ी'[2] भी कहते हैं। कारण फलियों के बीजों की खड़खड़ाहट मछलियां भूनते समय होने वाले शब्द से बहुत मिलती है। सिरस के मूलस्थान के विषय में नाना मत हैं। अरब, मिश्र, चीन, हिन्दचीन, लंका, ब्रह्मदेश, अफ्रिका, अमेरिका और भारत में प्रायः सर्वत्र यह देखा जाता है। हमारे प्राचीन साहित्य तथा आयुर्वेद में इसका प्रचुर उल्लेख होने के कारण भारत इसका मूल स्थान होना सम्भव है।

सिरस का पेड़ बड़े मार्गों के दोनो ओर छाया और शोभा के लिये लगाया जाता है। इसके तले अन्य छोटे पौधे पनप नहीं पाते। अतः छोटे बगीचों में ये पेड़ नहीं लगाये जाते। हाँ, बड़े बागों में इन्हें बखूबी लगाया जा सकता है। सिरस के मूल बहुत गहरे नहीं जाते; इसलिए जहाँ हवा के झपट्टों का भय हो वहाँ इसके उखड़ पड़ने की आशङ्का रहती है। तथापि इसकी छाया, शोभा, फूल तथा सुहावनी फलियों के कारण बहुत से लोग इसे बगीचोंमें लगाने में भी हिचकते नहीं।

सिरस में ग्रीष्म ऋतु में फूल आते हैं और लगभग बरसात तक रहते हैं। फूलों की ऋतु समाप्त होने के पूर्व ही नये पत्ते अङ्कुरित होने लगते हैं। फरवरी और मार्च तक ये झड़ने लगते हैं। इस काल में सिरस के पेड़ पर प्रायः इसकी पीलापन लिए चपटी; छः से बारह इञ्च लम्बी फलियाँ लगी देखी जाती हैं। इन फलियों के कारण दूर से ही पेड़ को

1—Woman's Tongue.
2—Fry Wood.

पहचानना सुगम होता है। इसके बीज गोल, चपटे और कठिन होते हैं।

सिरस की लकड़ी कठिन होने से बहुत उपयोगी है। यह खेतीबारी में पहिये, ईख पेलने का कोल्हू या तेल निकालने की घानी बनाने के काम आती है। कई लोग इमारती काम में भी इसे उपयोग में लाते हैं। यह फर्नीचर बनाने के काम भी आ सकती है। 'भारतीय अखरोट' नाम से भारत तथा अण्डमान से सिरस की लकड़ी का निर्यात यूरोप को होता है। अंडमान में इसे 'कोको' कहते हैं। सिरस के तने का रस-काष्ठ[1] चौड़ा तथा मृदु होता है। इसी कारण इसमें बार-बार कीड़े लगते हैं तथा यह सड़ता है। परन्तु इसका काष्ठ या मध्य-काष्ठ[2] अथवा तने का मध्यभाग गहरा नसवारी (कत्थई) रंग का तथा बीच में हल्के रङ्गों की रेखाओं वाला होने से इसके बने फर्नीचर का देखाव अच्छा होता है। सिरस की लकड़ी के इस भाग की घड़ाई तथा इसपर पालिश भी अच्छी होती है।

सिरस के पत्ते तथा महीन शाखायें ऊँट का उत्तम चारा समझी जाती हैं। कई उष्ण प्रदेशों में इसे ऊँटों को खिलाने के लिए ही लगाया जाता है। इस के फूल बहुत टिकते नहीं। कोमल होने से उनका विशेष उपयोग भी नहीं होता। कई जगह इनका पूजा के लिए उपयोग अवश्य होता है।

1—Sap-wood.
2—Heart woo.

जैसे गद्य और पद्य उभय प्रकार केसाहित्य में कवियों ने इसका अबाध उपयोग किया है, वैसे प्राचीन वैद्योंने भी इस के अनेक अङ्गों का चिकित्सामें खुले हाथ उपयोग किया है। सब प्रकार के सांप, चूहे आदि जङ्गम (प्राणिज) और स्थावर (वानस्पतिक) विषों में इसका आभ्यन्तर और बाह्य पुष्कल उपयोग पुराने ग्रन्थों में लिखा है। बच्चों के दांत उगते समय पीडा न हो इस लिए इसके बीजों की माला बच्चों को अब भी पहनाई जाती है। फूल तथा बीजों का स्तम्भन के लिए तथा छाल दाँतों को को दृढ़ करने के लिए प्रयुक्त की जाती है। मधुमेह अथवा अन्य कारणों से हुआ फोड़ा वैठता या पाकता-फूटता न हो तो सिरस के पत्तों का कल्क (लुगदी) दिन में एक-दो-बार लगाने से तुरत लाभ होता है। सिरस की छाल कोढ़ तथा अन्य त्वग्रोगों में, फूल विसर्प और श्वास का वेग शान्त करने के लिए उपयोग में आते हैं। मूल का प्रयोग शिरःशूल में करने का विधान है।

ऐसा उपयोगी शिरीष वृक्ष हमारे देश की सर्व प्रकार की भूमि तथा जलवायु में पनप सकता है। उष्ण प्रदेश तथा कम बरसातवाली जगहों में यह भली भाँति बढ़ सकता है। जहाँ बरसात खूब होती हो वहाँ चौमासे में इसकी शाखायें गाड़ कर तथा अन्य स्थानों पर बीज से पौधा तय्यार कर इसे लगाया जा सकता है।

घरेलू इलाज

सर्व साधारणकी सुविधाके लिये अक्सर होनेवाले रोगोंके लक्षण और उनका इलाज संक्षेपमें यहाँ लिख रहे हैं। आशा है इससे पाठकों को बड़ा लाभ होगा।

ठंढ, सर्दी, जुकाम, अनियमित भोजन, अजीर्ण अधिक परिश्रम आदि कारणोंसे बुखार हो जाया करता है। इस तरहके साधारण ज्वरमें दवा करने की कोई जरूरत नहीं होती, वह अपने ही आप दो-तीन दिनमें ठीक हो जाता है। इस तरहके साधारण बुखार वाले रोगीको बिस्तरे पर लेटकर आराम करना चाहिये। खानेके लिये नहीं देना चाहिये। यदि खूब जोरोंकी भूख लगी हो तो दूध, साबूदाना बार्ली, धानकी खोई, मिश्री, मुनक्का, किसमिस, फल आदि हल्की चीजें खानेको दी जानी चाहिये। पानी खूब पिलाना चाहिये जिससे शरीरका जहर पेशाब द्वारा निकल जाय। रोगीको दस्तकी कब्जियत न होनी चाहिये, कब्जियत हो तो मामूली जुलाब देकर एक-दो दस्त करा देना चाहिये।

हर्रे, कुटकी, अमलतास, गिलोय और आमला इन पांचों दवाओंको दो तोला लेकर आधा सेर पानी में काढ़ा बनाइये जब दो छटांक पानी रहे तब छानकर और दो तोला शहद मिलाकर एक शीशीमें भर दीजिये। इसे चार-चार घण्टेके अन्तरसे चार बार पिलाइये। इससे सब तरहका बुखार आराम होता है और दस्त भी साफ होता है।

आनन्द भैरव रस या मृत्युञ्जय रसकी एक-एक गोली सुबह और शाम शहदके साथ चाटनेसे मामूली बुखार अच्छे हो जाते हैं।

सुदर्शन चूर्ण या उसका अर्क सेवन करनेसे भी मामूली बुखार अच्छे हो जाते हैं। हमारे यहांकी बनी "वैद्यनाथ प्राणदा" सब तरहके बुखारोंकी अचूक दवा है। सन्निपात ज्वरको छोड़कर किसी तरहका बुखार क्यों न हो, इस दवाकी एक-दो खुराकसे जरूर अच्छा हो जाता है।

मियादी बुखार (सन्निपात ज्वर)

तीन-चार दिनतक बुखार न उतरे और एक-सा जोरका बना रहे और जीभ पर सफेदी आ गयी हो तो समझना चाहिये कि यह मियादी बुखार है। मियादी बुखारवाले रोगीको अच्छे वैद्यसे दिखाकर इलाज कराना चाहिये। अगर अच्छा चिकित्सक न मिले तो नीचे क्रमसे औषधि दी जानी चाहिये। सुबह और शाम लक्ष्मीविलास रस, ब्राह्मी बटी, आनन्द-भैरव रस या मृत्युञ्जय रसकी एक-एक खुराक शहद और पानके रसके साथ—दिन में बारह बजे, डेढ़ माशा बज्रक्षार, जलके साथ और रातको सोते समय एक गोली कस्तूरी भैरव, तुलसी रस और शहदके साथ देना चाहिये। अगर रोगी प्रलाप करने लगे तो कस्तूरी भैरब रस रातको शहदके साथ चटाकर ऊपरसे दशमूलका काढ़ा ही दो बार पिलाना चाहिये अगर समय पर और दवाइयाँ न मिलें तो केवल दश-मूलका काढ़ा ही दो बार पिलाना चाहिये। रोगी को नीचे लिखा पानी पिलाइये, कच्चा पानी देना मना है।

नागर-मोथा, पित्तपापड़ा, खश, लाल चन्दन नेत्रवाला, सोंठ ये छः चीजें प्रत्येक एक-एक तोला

एक सेर पानीमें डालिये। जब पानी औंट जाय, तब छानकर एक पात्रमें ढककर रख दीजिये। यही पानी रोगी को पिलाइये। यदि यह पानी न बना सकें तो पानीको औंटकर मिट्टीके बरतनमें रख देना चाहिये और ठण्डा होनेपर पिलाना चाहिये। खाने के लिये अन्न देना सख्त मना है। साबूदाना, बार्ली बकरीका दूध, फल आदि देना चाहिये।

पुराना बुखार (जीर्ण-ज्वर)

तीन हफ्ते बीत जाने पर पुराना ज्वर कहलाता है। इसमें तिल्ली और जिगर बढ़ जाते हैं तथा रोगी का शरीर दुबला हो जाता है। इसके लिये स्वर्ण बसन्त-मालती दो रत्तीकी मात्रामें सितोपलादि चूर्ण के साथ सेवन करना चाहिये। अथवा जयमङ्गल रस या बृहत् सर्व ज्वरहर लौह सेवन करना चाहिये। ये स्वर्ण घटित तीनों दवाइयां पुराने ज्वरके लिये राम बाण हैं। साथमें महालाक्षादि तैल या महाकिरातादि तैलकी मालिश भी बहुत लाभकारी है। रोगी को कब्ज रहता हो तो चिरायता, कुटकी, गिलोय और अमलतास इन चारों दवाइयोंको मिलाकर दो तोला लेकर काढ़ा बनाइये। सुबह या रातको सोते समय पिलाइये, इससे दस्त साफ होगा और बारबार आनेवाला बुखार नष्ट हो जायगा। अमृतारिष्ट या सुदर्शन चूर्ण, चौंसठ प्रहरी पीपल भी पुराने ज्वरके लिये बहुत लाभप्रद है। ये दोनों दवाइयां सब तरह के बुखारमें लाभ पहुंचाती हैं। पुराना ज्वर अगर मन्द-मन्द हो तो चन्दनादि लौह बहुत फायदा करता है। निम्न लिखित रस भी पुराने बुखारके लिये बड़े लाभदायक हैं। ज्वरांकुश रस, ज्वरारि रस, सर्व-ज्वरहर लौह, चन्दनादि लौह, विषमज्वरान्तक लौह।

जूड़ीताप मलेरिया

मलेरियासे प्रति वर्ष लाखों आदमियोंकी मृत्यु होती है। इतने आदमी और किसी रोगसे नहीं मरते। यह ज्वर एनाफिलीज मच्छरकी जातिमें प्लेज्मोडियम नामक मच्छर के काटनेसे होता है। सितम्बर, अक्टूबर और नवम्बर तीन महीना इस बुखारका खास समय है। यह बुखार अधिक कंप-जाड़ा देकर आता है और पसीना होकर उतर जाता है। किसीको रोज किसीको एक रोज बाद और किसी को दो रोज बाद यह बुखार आता है रोगीका खून बहुत जल्दी सूख जाता है। तिल्ली बहुत बड़ी हो जाती है। रोगीके रक्तको अणुवीक्षण यन्त्र (मायकोसकोप) की सहायता से देखने पर मलेरियाके कीटाणु साफ दिखाई देते हैं। इस ज्वरकी सबसे बढ़िया दवा हमारे यहांकी बनी 'बैद्यनाथ प्राणदा' है। इस दवाकी एक खुराक पिलानेके बाद ही देखिये मलेरियाके एक भी कीटाणु रक्तमें नहीं मालूम होंगे। जूड़ीताप वाले रोगीको बैद्यनाथ प्राणदा पिलानेके बाद भी अगर रक्तमें एक भी कीटाणु रह जाय तो हम पाँच सौ रुपये इनाम स्वरूप दे सकते हैं। दवाईकी उत्तमताकी सीधी-सादी परीक्षा दूसरी यह है कि चार या आठ खुराक पिलाने पर जूड़ीताप आना शर्तिया बन्द हो जायगा। मलेरियाके लिये इससे अच्छी दूसरी दवा नहीं है। इसलिये मलेरिया (जूड़ी ताप) वाले रोगीको बैद्यनाथ प्राणदा ही सेवन करना चाहिये। मलेरियाके सिवा सन्निपात ज्वरको छोड़ कर सब तरह के बुखारोंमें यह शर्तिया फायदा करती है। मलेरिया बुखारवाले रोगीकी पिल्ही (तिल्ली) बड़ी हो जाती है जिससे रोगीको बार-बार बुखार आ जाया करता है। इसके लिये हमारे यहां की "बैद्यनाथ तिल्लीकी दवा" सेवन करना चाहिये। मलेरिया फैलते समय हफ्तेमें दो बार बैद्यनाथ प्राणदा पीनेसे मलेरिया होनेका डर नहीं रहता। हमारे यहांकी विषमज्वरघ्नी बटी भी मलेरिया बुखार की अचूक दवा है।

निमोनियाँ बुखार

इस बुखारमें खाँसीके साथ पसलियोंमें भयानक दर्द होता है, जिससे रोगीको बड़ा कष्ट होता है। निमोनियां वाले रोगीको बारहसींगे की सींगका भस्म दो रत्ती शहदके साथ दिन-रातमें तीन-चार बार चटाइये या आगमें फुलाई हुई फिटकरी तीन रत्ती, एक रत्ती अभ्रक भस्मके साथ चटाइये। अगर अभ्रक भस्म नहीं मिले तो केवल फुलाई हुई फिटकरी ही रोगीको दें। दर्द स्थानको आगसे सेकिये अथवा अफीम दो रत्ती, राई एक माशा, कबूतर का विष्ठा, (बीट) एक माशा गोमूत्रके साथ पीसकर दर्दके स्थान पर लेप कीजिये। पसली और छातीमें "वैद्यनाथ पेन-बाम" पुराने घीमें मिलाकर मालिश करनेसे बड़ा फायदा होता है या साम्भर सींगको पत्थरपर घिसकर गरम करके लेप कर दीजिये। जायफल, पुहकरमूल, काकड़ासिंगी और पीपल इन चारोंका महीन चूर्ण करके रोगीको डेढ़-डेढ़ माशा शहदके साथ तीन-चार बार चटाइये। रोगीको परिश्रम न करने दीजिये और जहांतक हो उससे बातें भी कम कीजिये। हमारे यहांकी नीचे लिखी दवाएँ बड़ी फायदे मन्द हैं। मृग मदासव, मकरध्वज, मल्लसिन्दूर, तालसिन्दूर, सौभाग्यबटी।

दस्त (Diarrhoea)

अजीर्ण आदिसे पतले दस्त होने लगते हैं। इसकी अच्छी दवाई उपवास और आराम है। बहुत जोरकी भूख लगनेपर दही का मट्ठा या बार्लीका पानी पीना चाहिए। इस तरह एक या दो दिनमें रोगी अपने ही आप अच्छा हो जायगा। अगर इससे अच्छा न हो तो कर्पूर वटी, सिद्धप्राणेश्वर जातिफलादि बटी या जातिफलादि चूर्णका सेवन करना चाहिये। भोजन में दही-भात खाना चाहिये। केवल सोंठका चूर्ण जल के साथ पीनेसे खूब फायदा होता है। हमारे यहांकी नीचे लिखी दवाएँ बड़ी लाभदायक हैं। अमृतार्णव रस, कनक सुन्दर रस, गंगाधर चूर्ण, वब्बूलारिष्ट।

आँव-पेचिस या खूनके दस्त

पेटमें दर्द और टट्टीके समय कांखना इस बीमारी के प्रधान लक्षण हैं। रोगी बार-बार दस्त जाता है; लेकिन दस्त नहीं होते। सिर्फ ऐंठनके साथ जरा-सा आँव निकल आता है। ऐसे दस्तोंको दवा देकर बन्द न करना चाहिए। दस्त बन्द करने से अनेक तरहके रोग पैदा हो जाते हैं। इसलिए आँव वाले रोगीको शुद्ध रेंड़ीका तेल अढ़ाई तोला, गरम दूध या त्रिफलाके काढ़ेमें मिलाकर पिलाइये या हर्रे की छाल छः माशे और काला नमक १ माशा, चूर्ण करके गरम पानी के साथ सेवन कराइये। इस से पेटका आंव निकलकर रोगी को बहुत जल्दी फायदा होता है। धनियां, सोठ, बेलगिरी, नागर मोथा और नेत्रबाला इन पाँचों दवाओंका काढ़ा आँव रोगकी अचूक दवा है। यदि आँव के साथ खून भी आता हो तो सोंठकी जगह कुड़ेकी छाल डाल देनी चाहिए। इसबगोल ६ माशे से एक तोला तक जलके साथ लेनेसे बहुत फायदा करता है। भुवनेश्वर रस एक गोली सौंफके अर्कके साथ सेवन करने से बहुत लाभ होता है। रोग पुराना होने पर कुटजारिष्टका सेवन करना चाहिये। 'वैद्यनाथ क्लोरोडाइन" से भी अच्छा फायदा होता है। खानेके लिए रोगी को दही भात दीजिये। रोटी और दाल खाना मना है।

संग्रहणी

बदहजमी के पुराने दस्तोंमें आँव अधिक होनेसे संग्रहणी कहलाता है। यह बहुत कठिन बीमारी है।

बिना अच्छे परहेज और दवाइके इसका आराम होना असम्भव है। जल और वायु के परिवर्तन से इसमें बहुत फायदा होता है। अन्नका परित्याग करके माठा और दूधपरही निर्भर रहना चाहिये। साथ-साथ फल भी खा सकते हैं। संग्रहणी के लिए "वैद्यनाथ ग्रहणी कपाट बटी" बहुत फायदेमन्द है। आंव अधिक हो तो धान्य पंचकका काढ़ा देना चाहिए। पंचामृत-पर्पटीका सेवन भी इस रोगमें बहुत लाभ पहुंचाता है। हमारे यहांकी दुग्धबटी, रसपर्पटी, नृपतिबल्लभ रस, लाई चूर्ण भी संग्रहणी की उत्तम दवा है।

बवासीर

कब्जियत से बवासीर की उत्पति होती है। जब तक कब्जियत पूर्णरूप से आराम न हो तब तक यह रोग जड़से अच्छा नहीं होता बवासीरके मस्सों को कटानेसे भी कब्जियत के कारण वे फिर से पैदा हो जाते हैं। इसलिए बवासीर के रोगी की कब्जियत को जड़से ही उखाड़ने की चेष्टा करनी चाहिए, इसके लिए अभयारिष्ट अच्छी दवा है। खूनी और बादी दो तरह के बवासीर होते हैं। बवासीर के लिए नीचे लिखी गोलियां बहुत फायदेमन्द हैं। नीमके फल (निमोलाके फल) मुनक्का, गेरू, रसोत और खूनखरावा ये पांचों दवाइयां बराबर-बराबर लेकर जलके साथ चनेकीसी गोलियां बना लें। दो गोली सुबह और दो गोली सोते समय पानी के साथ खाने से खूनी और बादी दोनों तरह की बवासीरों में फायदा करता है। हमारा "वैद्यनाथ-बवासीर-मलहम" मस्सों पर लगाने से तुरन्त फायदा करता है। बवासीर का खून बन्द करने के लिए इसबगोल का सेवन भी बहुत लाभकारी है। बाहुशाल गुड़, सूरण मोदक का सेवन भी इसके लिए अच्छा है। हमारे यहां की कांकायन बटी और प्राणदाबटी भी बवासीर के लिए बड़ी फायदेमन्द हैं। भोजन के बाद अभयारिष्ट या चित्र कादारिष्टका सेवन भी लाभकारी है। कच्चे पपीतेका साग और पक्के पपीते का खाना तथा मूलियों को नमक के साथ खाना बहुत गुणकारी है।

हैजा

चावल के धोवनके समान दस्त और बिना जोर लगाए ही उल्टीका होना हैजा के प्रधान लक्षण हैं। बादमें ऐंठन होती है। और पेशाब बन्द हो जाता है। इसके लिए हमारा 'वैद्यनाथ अर्ककपूर' शर्तिया फायदा करता है और वैद्यनाथ मूत्रल पाउडरसे हैजे के रोगी का बन्द हुआ पेशाब खुल कर होता है। सजीवनीबटी दो गोली प्याज एक तोला रसके साथ पिलाने से भी रोगी अच्छा हो जाता है। कपूर, पिपरमेंटके फूल और अजवायन का सत्व इन तीनों चीजों को एक शीशीमें मिलाकर रख दे। कुछ समय के बाद यह पानी सा बन जायगा। हैजा के लिए यह अच्छी दवा है। पांच से दश बूंद तक चीनी के साथ देना चाहिए। अगर यह दवा तैयार न कर सकें तो हमारे यहांकी 'वैद्यनाथ अमरधारा' दे सकते हैं। हैजे के दिनमें दो चार बूंद वैद्यनाथ अर्ककपूर सेवन करनेसे हैजेकी बीमारी होने का और डर नहीं रहता। पीपल पेड़ के सूखे छिलके को जलाकर आग बना ले, इन अङ्गारों का पानी में डाल कर बुझा दें और पानीको छानकर एक साफ वर्तन में भर दें और इसी पानी को रोगी को पीने दें। इससे बहुत फायदा होता है। हैजे के दिनों में भूल कर भी कच्चा पानी न पीना चाहिए। पानी को खूब औटाइये और उसी औटे हुए पानी से बर्तनोंको धोकर उसमें यह पानी अच्छी तरह से ढँक कर रख दीजिये और इसीका ही व्यवहार कीजिये। हैजा अच्छा होने के बाद भी रोगीको जल्दी अन्न न देना चाहिए।

पांडुरोग, पीलिया

जिगर के खराब होने से यह रोग पैदा होता है।

शरीर का चमड़ा आंखोंका सफेद भाग, पेशाब और नाखून पीले (हल्दी जैसे) रंगके हो जाते हैं। और बुखार तथा बदहजमी पैदा हो जाती है। खूनके अंश की कमी होने से पीलापन अंश बढ़ जाता है।

इसके लिये कुटकीका महीन चूर्ण तीन-तीनमाशे लेने से बहुत लाभ होता है। भोजन के बाद लौहासव का पीना लाभदायक है। हमारे यहां का नवायस लौह और पुनर्नवा मण्डूर इस रोग की प्रधान दवा है।

बदहजमी

बदहजमी के कारण भोजन अच्छी तरह नहीं पचता जिससे शरीर कमजोरी हो जाता है। इसके लिए दवा सेवन के साथ-साथ परहेज का ध्यान रखना चाहिए। घी ,खोवा और मांस आदि मुश्किल से पचने वाली चीजें न खानी चाहिए। संतरा, अनार आदि फलों का सेवन लाभदायक है। कुछ-कुछ भूख रखकर ही खाना चाहिए। रोज सुबह दो-चार मील घूमना इस रोग की अच्छी दवाई है। इसके रोगी को नीचे लिखे लवणभास्कर चूर्ण का सेवन करना चाहिए।

वीटनोन, सधानमक, धनियां, पीपल छोटी, पिपलामूल, स्याहजीरा, तेजपात, नागकेशर, तालीसपत्र और अम्लबेंत ये दस चीजें दो-दो तोले, समुद्रनोन आठ तोले, काला नोन पांच तोले, काली मिर्च, जीरा और सोंठ एक-एक तोला, अनार दाना चार तोले, दालचीनी और बड़ी इलायची के बीज आध-आध तोला। इन अठारह दवाओं का महीन चूर्ण करके नीबू के रस में भिगो लें। इसीका नाम लवण-भास्कर चूर्ण है। तीन से छ माशे तक भोजन के बाद नीबू का रस या जल देकर खायें या सुबह मट्ठा में मिलाकर खायें। इससे बदहजमी में निश्चय फायदा होगा। इसमें समभाग पंच सकार चूर्ण मिला कर रात को सोते समय गर्म पानी के साथ खाने से सुबह खुलासा दस्त होकर चित्त प्रसन्न हो जायगा।

सोंठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, सेन्धा नमक, स्याह जीरा और सफेदजीरा ये सात चीजें समभाग लेकर चूर्ण कर लें। फिर इसमें घी में भून-कर आठवां भाग हींग मिला दें। इसका नाम हिंग्वष्टक चूर्ण है। जब भोजन करने लगें तो तीन माशे चूर्ण को घी के साथ मिलाकर पहले ग्रास के साथ खा लें फिर भोजन करें। इससे बदहजमी दूर हो जाती है तथा पेट का वायु भी शान्त हो जाता है।

बदहजमी के लिए हमारे यहां की बनी "बैद्य-नाथ मन्दाग्नि संहार" नामक दवा बहुत ही लाभ-कारी है। इससे भूख खुल जाती और मन्दाग्नि दूर हो जाती है। जो लोग खाने के बाद हमारे यहांकी बनी क्षुधाकारी बटी, चित्रकादि बटी, अग्निवर्धक वटी, राजबटी और मुनक्का पाचक सेवन करते हैं उनको मन्दाग्नि होने का भय नहीं रहता है। मन्दाग्नि में हमारे यहां के बने हुए निम्नलिखित रस बहुत फायदा पहुंचाते हैं। अग्निकुमार रस, अग्नि-संदीपन रस, अग्नितुण्डीबटी, क्रव्याद रस, महाशंख बटी, रामबाण रस।

राजयक्ष्मा (तपेदिक)

यह संक्रामक रोग है। खांसी और मन्द मन्द ज्वर इस रोग का प्रधान लक्षण है। बहुत लोगों का विश्वास है कि यह रोग असाध्य है लेकिन रोग बिलकुल असाध्य नहीं है। रोग शुरू होते ही अच्छी दवाई की जाय, साथ में पूर्ण विश्राम पुष्टिकर भोजन और स्वच्छ वायु का सेवन किया जाय तो इससे रोग निश्चय आराम हो जायगा।

क्रमशः

ग्रीष्मचर्य्या

ग्रीष्म ऋतु आदान काल का अन्तिम समय है, अतएव इस ऋतु में सूर्य्य की प्रखरता विशेष होती है, और पृथ्वी का सोमभाग विशेष रूप से सूर्य्य की प्रचण्ड किरणों-द्वारा आकर्षित किया जाता है, अतः इस ऋतु में दिन-प्रतिदिन सोम-अंश—कफ का क्षय होता है। जिससे रूक्षता तथा उष्णता के कारण वायु का सञ्चय होने लग जाता है। इन्हीं कारणों से इस ऋतु में नमकीन, अम्ल और कटु रसों का विशेष सेवन नहीं करना चाहिए। मधुर प्रधान किन्तु हल्के, स्निग्ध और शीतल तथा द्रव आहार का ही इस ऋतु में सेवन करना उचित है। आजकल सत्तू खाना लाभदायक है। चीनी दूध मिला कर सत्तू खाना विशेष लाभ करता है।

इस ऋतु में स्वाभाविक वायु का संचय होता है, अतएव व्यायाम करना वर्जित है, अन्यथा और भी वायु की वृद्धि होगी और शरीर में रूक्षता बढ़ेगी, जो लोग शराब पीते हैं, उन्हें भी इस ऋतु में शराब नहीं पीनी चाहिए। यदि औषध रूप में आवश्यकता ही हो, तो थोड़ी मात्रा में बराबर पानी मिलाकर पीवें। इस नियम के विरुद्ध पीने से शरीर में शोथ, शिथिलता दाह, मूर्च्छा आदि उपद्रव होते हैं।

इस ऋतु में धूप में फिरना भी मना है। कड़ी धूप में—निकलने से लू लग जाने का डर रहता है। लू लग जाने पर शरीर की गर्मी बढ़ जाती है अर्थात् बहुत तेज बुखार-सा हो जाता है, सर्वाङ्ग में दर्द और बेचैनी मालूम होती है, रोगी बुखार की तेजी के कारण बहुत बेचैन हो जाता है। कभी-कभी तो रोगी की मृत्यु हो जाती है।

आगन्तुक रोगों के अन्दर यह बहुत भयानक रोग है। इससे बचने के लिए निम्नलिखित उपाय करना चाहिए।

(१) गर्मी के मौसम में जब लू खूब जोर से चलती है, सदा अपनी जेब में प्याज रखना चाहिये। लू से बचने के लिये यह सर्वोत्तम जगद्विख्यात ओषधि है। प्याज का रोजाना भोजन के साथ नियम पूर्वक प्रयोग करना चाहिए। सबसे प्रथम प्यास का कम करना इसका विशेष गुण है। जब कभी लू के कारण मन घबराने लगे, सिर में चक्कर आने लगे, चाहे मनुष्य घर में हो अथवा बाहर हो, फौरन प्याज़ को काट करो बार-बार सूँघना अर खोड़ा-थोड़ा चबा-चबा कर खाना चाहिए, ऐसा करने से मन में शान्ति हो जाती है।

(२) लू में जब कभी भी बाहर जावें, खाली पेट कभी बाहर नहीं जाना चाहिये और कुछ न मिले तो कम से कम ठण्डा पानी तो अवश्य पीना चाहिये (३) गर्मी के मौसम में निम्नलिखित पदार्थों का अधिक प्रयोग करने से लू से हम अवश्य बच सकते हैं।

(क) कच्चे दूध की लस्सी, दही की लस्सी, गाय के दूध से बनाया हुआ मक्खन इत्यादि अधिक मात्रा में सेवन करने चाहिये। (ख) गोंद-कतीरा या सत इसबगोल जो भी शरीर के अनुकूल सिद्ध हो, छः माशे लेकर एक छटांक पानी में भिगो दें, जब फूल जाये, तक मीठा या कोई खुशबूदार शर्बत, जैसे—शर्बत चंदन, केवड़ा वा गुलाब मिलाकर नित्य प्रातः उठ कर पीवें।

(ग) नींबू की सिकंजी का प्रयोग दिन में कई बार करना चाहिये। (घ) कच्चे आम को आटे में लपेट कर गर्म राख में डाल दें, जब आटा लाल हो जावे और आम अन्दर से गल जावे, तब आटा उतार कर फैंक दें। आम का गूदा निकाल कर पानी में घोल कर मिश्री मिला कर पीना चाहिये, यह भी उत्तम पानक है। अथवा—निम्नलिखित पानक बनाकर सेवन करें।

पानक

पानक या पना—(कच्चा आम भूनकर या पकी इमली पानी में भिगाकर पतला रसबनाना और उसमें नमक, पोदीना, चीनी, इलायची आदि डालकर बनावे, या गुड़, अनार का रस, इलायची, तेजपात, कालीमिर्च, दालचीनी, आदि मिलाकर बनावे) खट्टा, मीठा या नमकीन जैसी इच्छा होबनाकर सेवन करे। इसके सेवन से लू लगने का कतई डर नहीं रहता।

(ङ) जौ का सत्तू पानीमें घोल कर मीठा मिला कर पीना भी अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ है। (च) अर्क गुलाब, अर्क केवड़ा, अर्क बेदमुश्क, अर्क गावज़वान इत्यादि अर्क दूध पीते बच्चों को लू से बचाने के लिये रामबाण हैं। एक-एक चम्मच दिन में कई बार कोई एक अर्क पिलना चाहिये।

(छ) गिरी बादाम १ अदद, चारों मगज़ ३ माशे, फूल गुलाब २ माशे, सौंफ २ माशे, खसखास ७ माशे, छोटी इलायची ५ दाने, मिरच काली ३ दाने, मुनक्का २ दाने, इन सब को रात्री के पानीमें भिगो कर प्रातः काल साफ करके घोट कर ठण्डाई की भाँति बना कर मीठा मिला कर पीना चाहिये।

(ज) गिरी बादाम १० अदद रात्रि को भिगो कर प्रातः काल छिलका उतार कर मिश्री १ तोला, मखन गाय का १ तोला मिला कर नित्य प्रातः खाना चाहिये।

ऊपर लिखे उपायों से ग्रीष्म ऋतु में स्वास्थ्य की रक्षा करना और शरीर को नीरोग रखने का प्रयत्न करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। यदि किसी कारण वश इनका निभना सम्भव न हो तो कड़कती धूप में अधिक चलना-जब कि गर्मी का तापक्रम अत्यधिक हो, जहाँ तक हो सके कम करना चाहिये।

इसी प्रकार मांस का प्रयोग, तम्बाकू, सिगरेट का अधिक सेवन, शराब का व्यसन इत्यादि पित्त कारक पदार्थों को छोड़ देना चाहिये। कड़ा व्यायाम, अत्यधिक थकावट, उन्निद्र रहना और कब्ज़ से सदा बचना चाहिये। सिर पर टोपी, पगड़ी इत्यादि पहन कर धूप में जाना चाहिये। इसी प्रकार नंगे पावों घूमना भी हानि कारक है। इसलिये सदा जूता वा बूट पहन कर चलना चाहिये। बदन पर जहाँ तक हो सके हलके से हलका कपड़ा जैसे मलमल इत्यादि जो ढीला सिलवाया गया हो पहनना चाहिये।

आँखों को लू से बचाने के लिये गागल्ज़ (हरा चश्मा) का प्रयोग करना चाहिये। खस की बनी हुई टट्टी तथा पंखों द्वारा कमरों को जितना ठण्डा कर सकते हों दिन के समय करना चाहिये, और साथ ही जितनी रोशनी कमरों में कम जावे और अन्धेरा अधिक हो उतना ही अच्छा है।

(स्वास्थ्य सुधा से)

हैज़े से बचने के उपाय

"एक कहावत है कि इलाज की अपेक्षा रोग को उत्पन्न न होने देना अधिक बुद्धिमानी है।" आयुर्वेद में हैजा का उत्पन्न करनेके लिए मनुष्य को ही दोषी ठहराया गया है, इस तरह तो प्रायः सभी रोग मनुष्य की भूल के ही परिणाम हैं। परन्तु हैजा की भूल भयानक है। सावधान आदमी निश्चय ही हैजा से बच सकता है।

जहाँ अधिक गर्मी पड़ने लगी, या गन्दगी अधिक होने लगी अथवा अजीर्णकारक भोजन बराबर होने लगा, तहाँ समझना चाहिए कि हैजा फैलने ही वाला है। लोगोंको हैजा शुरू होते ही उससे बचने के उपाय में लग जाना चाहिए। डरपोक प्रकृति-वाले को वह स्थान छोड़देना चाहिए। हैजा उत्पन्न करनेवाले जो कीड़े होते हैं, वे भी साहाय्य सामग्री बिना कुछ नुकसान नहीं पहुंचा सकते। कच्चे व सड़े फलों का खाना, सड़ा व बासी भो न, बाजार की सड़ी-गली मिठाई, फल, खोंचा, दूषित वायु, मैले या खराब सड़े-गन्दे पानी का पीना, मादक चीजों का सेवन रात्रि जागरण-ऋतु परिवर्त्तन आदि हैजे के कीटाणु उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

बुद्धिमान आदमी को ऊपर लिखे कारणों से बचना चाहिए, एवं लोगों को बचने के लिए कहना चाहिए। भय या चिन्ता न कर मन को प्रसन्न रखना सुगंधित चीजों को सूँघना उत्तम है, ऐसे समय में कपूर की डली बराबर अपने पास रखें और उसे सूँघते रहें, सुगन्धित धूप से घर की वायु को शुद्ध कर देना चाहिए। दस्तावर दवा का सेवन न करें, हैजा के दिनों में सबसे महत्वपूर्ण बात जल की है। इन दिनों भूल कर भी कच्चा जल नहीं पीना चाहिए। पानी खूब अच्छी तरह औंटा कर और उसी औंटते हुए पानी से ही बर्तनों को धोकर तब उनमें पीने का जल रखकर अच्छी तरह से ढँक कर रख दें, रसोई बनाने के लिए भी उसी पानी को काम में लाएँ। परमागनेट आफ पोटाश उत्तम कृमिनाशक है, इसमें से २॥ तोला ले कुएँ में डाल देने से पानी शुद्ध हो जाता है, या बिनबुझी कलई (पत्थरों का चूना) २० सेर महीन पीसकर डालने से या २॥ सेर फिटकरी का चूर्ण डालने से भी कुएँ का जल शुद्ध हो जाता है।

रोगी के मल-मूत्र और कै को गढ़ा खोदकर गाड़ दें, या फिनाइल मिलाकर एक तरफ डाल दें। इसी तरह हैजे के रोगी के कपड़े से भी बचना चाहिए। मकान में जो जगह नीची या गीली-दुर्गन्ध पूर्ण हो, उन सब जगहों में कारबोलिक एसिड या राख डाल दें। यदि दुर्भाग्य से माता को हैजा हो गया हो तो उसका दूध बच्चे को न पीने दें। भोजन के साथ पुदीने की चटनी अवश्य लें। जो प्याज खाते हैं उन्हें प्याज भी खाना चाहिए। भोजन हल्का-ताजा और थोड़ा करें, इस बात का पूर्ण ध्यान रखें कि अजीर्ण न हो जाय, प्रातः सायं अर्क कपूर या पुदीने का अर्क दो से पांच बूँद तक जल के साथ अवश्य सेवन करें।

हैजे में नीचे लीखी दवाइयाँ बहुत लाभ करती हैं, हमारी कई बार की अजमाइश भी हुई हैं। हैजे के रोगी को कुछ देर के अन्तर से डूस देकर आँतों को धो देना बहुत लाभकारी है, हैजा के प्रारम्भिक

अवस्था में ग्राही औषध अर्थात् अफीम युक्त दवा नहीं देनी चाहिए। कै और दस्तों द्वारा जब हैजे का जहर शरीर से बिल्कुल निकल जाय तब स्तम्भक-ग्राही दवा देनी चाहिए। क्योंकि रोग का जहर शरीर में रहना उचित नहीं, फिर जब तक जहर बाहर निकल नहीं जाता, तब तक वह बन्द भी नहीं होता। बन्द हैजे में कै और दस्त लगनेवाली दवा देनी चाहिए। इसके लिए इच्छाभेदी रस का प्रयोग अच्छा है। गर्म जल में २॥ तोला नमक डाल कर पिला देने से भी कै और दस्त होकर रोग शान्त हो जाता है।

अर्क कपूर हैजे के लिए रामवाण दवा है, परन्तु यह असली होना चाहिए, आजकल बहुत से ठग लोग इसमें पानी मिला देते हैं, जिससे अर्क कपूर पूरा फायदा नहीं करता, असली अर्क कपूर तुरन्त जल जायगा, यही इसकी परीक्षा है। बैद्यनाथ अर्क-कपूर से १०० में ९९ रोगी अच्छे होते हैं, इसके ५ से १० बूँद तक की मात्रा चिनी में मिलाकर अवश्यकतानुसार ५-५ मिनट से लेकर दो-दो घण्टे के अन्तर से दिया जा सकता है। अर्क कपूर सेवन करके तुरत जल नहीं पीना चाहिए।

अमृतधारा और अर्क पुदीना भी हैजा में बहुत लाभदायक है। जहाँ कहीं हैजा फैल रहा हो, उक्त तीनों दवा प्रत्येक गृहस्थ को अपने पास रखनी चाहिए। समय पर ये लाखों रुपयों की बचत करती हैं।

उपचार

लहसुन, जीरा, सेंधा नमक, शुद्ध गन्धक, सोंठ कालीमिर्च, पीपल और भुनीहुई हींग इन दवा दवाओं को कूट-छान-समभाग लेकर नीबू के रस में चने के बराबर-गोलियाँ बनालें। रोग के अनुसार एकबार में २-५ तक गोलियाँ ताजे जल के साथ रोगी को खिलावें। यह गोली हैजा में बहुत फायदा पहुंचाती है।

शुद्ध कुचला, भुनी हींग और फूल नौसादर, तीनों दवाओं को जलके साथ घोंट कर चने के प्रमाण की गोलियाँ बनालें और हैजे में जल के साथ खिलावें।

प्याज का रस २ तोलासे ६ तोला तक पिलाने से हैजा में बहुत अच्छा फायदा होता है।

आपामार्ग (चिर चिरी) की जड़ को जलके साथ घोंट कर पिलाने हैजा शान्त होता है।

पाँच लालमिर्चों को जलके साथ खूब महीन पिसकर बताशे में मिलाकर पिलाने से—हैजा निश्चय शान्त होता है।

अगर हैजा केवल अजीर्ण जनित ही हो तो एरण्ड तैल २॥) तोला में, १ तोला सौंफ का अर्क मिलाकर रोगी को पिलादो, इससे दस्त साफ होकर शीघ्र फायदा होगा।

यदि रोगी को कै अधिक हो तो कैलोमल (पारदका अंग्रेजी ढंग से किया भस्म) १॥ रत्ती अर्क सौंफ या अर्क पुदीना २॥ तोले के साथ देनेसे अतिशीघ्र लाभ होता है।

हैजे में प्यास—बहुत लगती है, उसे रोकने के लिए—पुराने पीपल के वृक्ष के सूखे छिलके को—जलाकर पानी में डालो, थोड़ी देर बाद उस पानी को निथार कर छान करके दूसरे मीट्टी के वर्तन में रखलो, हैजे की प्यास या और किसी तरह उत्पन्न हुई प्यास को रोकने के लिए यह अमृत-समान गुण करता है। बमन में भी इससे लाभ होता है।

तम्बाकू और उससे हानियां

श्री गौरीशङ्कर

मैं स्वयं भी एक समय तम्बाकू पीनेवालों में से था, परन्तु कुछ मित्रों के सत्संग से इस बुरी आदत को छोड़ने में सफल हुआ, जिससे मुझको किसी भी प्रकार की हानि न होते हुए अनेक लाभ ही हुए हैं। यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है। —लेखक

कोलम्बस नामक प्रसिद्ध अंग्रेज जिन्होंने सन् १४९२ में नई दुनियां (अमेरिका) को ढूंढ पाया था, उन्होंने ही सबसे पहले तम्बाकू पीने की आदत को भी मालूम किया। क्यूबा नामक द्वीप में वहां के निवासियों को गावटी सिगरेट पीते देख कर उनको बड़ा मनोरञ्जन-सा हुआ।

फिर कुछ वर्षों बाद एक स्पेन के सन्तने सेन्ट डोमिंगो के टबाका (Tgbgca) नामक प्रांत में इसको जाना तथा इस प्रान्त के नाम पर ही इसका नाम (Tobacco) तम्बाकू पड़ा और समय पर यूरोप में तम्बाकू की आदत के विषय में चर्चा चलती रही, परन्तु सन् १५८६ में जब सर फ्रान्सिस ड्रेक अपनी यात्रा से लौटा तब तो इसका काम में लाया जाना और भी बढ़ा और जब सर वाल्टर रलेने हुक्का पीना आरम्भ किया तब से तो इसका प्रचार खूब बढ़ने लगा। इनके लिये कहा जाता है कि एक रोज यह हुक्का पी रहे थे तो इनके नौकर ने इनके मुँहसे धुआं निकलता देखकर यह समझ कर कि साहब के पेट में आग लग गई है पानी का बरतन इनके ऊपर उडेल दिया, जिससे कि पेटकी आग बुझ जाय।

मदिरा की भांति यह भी एक नशीली चीज है और जितनी मात्रा में काम में लाई जाती है वह बहुत अधिक है। यह सब अँतड़ियों को बिगाड़ देता है। तम्बाकू ७-८ तरह का होता है, इसका लेटिन नाम निकोटोनिया (Nicotanja) है, जो (Jean Nicot) जीननीकोट नामक एक फ्रांसीसी दूत के नाम पर पड़ा है, जिसने इसके पौधे के विषय में बहुत कुछ खोज की है। तम्बाकू की पत्तियों की बनावट में ९-१० भिन्न-भिन्न चीजें होती हैं, जिसमें निकोटाइन मुख्य है। जांच करने पर ज्ञात हुआ है कि यह विष एक तरल मदिरा है, जो स्वाद में तीखी और जलन पैदा करने वाली है। यह विषों में सबसे अधिक जहरीली है। तम्बाकू में दूसरी खास चीज निकोटेनिन है। यह भी एक तेज विष ही है जो निकोटाईनके अलावा दूसरा ही असर करता है। आपने कभी पुराने बिना साफ किये हुक्का चिलम या सिगरेट पीनेकी पाइप (नाली) पर इस विषको जमा हुआ देखा होगा, यह बड़ी दुर्गन्ध देता है और जीभ पर रखनेसे जी मिचलाने लगता है तथा जरा-सा भी पेटमें चला जाय तो उसी समय उल्टी हो जाती है। इसी विषकी थोड़ी-सी मात्रा भी प्राण तक ले सकती है।

तम्बाकूको काममें लानेके लिये उसकी सिगरेट, सिगार, बीड़ी, गुडाखु या कूटकर सूङ्घनी और जरदा आदि बना लिया जाता है और फिर रुचिके अनुसार खाने-पीने तथा सूङ्घनेके काममें लाई जाती है।

उपरोक्त किसी भी प्रकारसे काममें लाना मानव शरीर और मनके लिये ही क्या प्राणि-मात्रके लिये इसका निकोटाइन विष घातक ही सिद्ध हुआ है। यह विष रुधिर, नसों, नाड़ियों तथा मांस पेशियोंमें

घुस जाता है, क्योंकि तम्बाकूको काममें लानेका अभी तक कोई ऐसा उपाय नहीं निकला है कि जिससे इस के विषको गले के नीचे उतारे बिना ही यह काममें आ सकतीहो। यह होना भी ऐसा ही असम्भव है कि कोई लमनेट पीवे और निम्बूका सत पेटमें न जावे।

आजकल कई इस प्रकारके सिगरेट और सिगार भी बनते हैं जिनमें इनडीका Indica,के नेबिस Canabis, हशीश Hashish अर्थात् सणसेउत्पन्न होनेवाला विष, अफीम या कोकेन आदि दूसरे तेज मादक द्रव्य भी मिलाये जाते हैं। इस प्रकार तम्बाकू के साथ-साथ दूसरे भी कई तरहके जहरीले, मादक और घातक पदार्थ पेटमें पहुंच जाते हैं जो सारे ढांचे को खराब कर देते हैं।

तम्बाकू से होने वाली हानियाँ

(१) मांस पेशियों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि कोई खिलाड़ी अपनी बढ़तीके दिनोंमें तम्बाकू पीना आरम्भ कर दे तो वह शारीरिक शक्ति का ह्रास कर बैठेगा।

(२) इससे निस्सन्देह आत्मशक्ति, स्मरणशक्ति तथा मानसिक शक्तिका ह्रास होता है।

(३) इससे नपुंसकता आ जाती है। बहुत से आदमी नपुंसकता तथा अन्य ऐसी ही बिमारियों के मिटानेके लिये नाना प्रकारकी औषधियों का सेवन करते हैं, परन्तु उनको ध्यान रखना चाहिये कि यदि वे केवल तम्बाकू ही पीना छोड़ दें, तो उनके ऐसे ही रोग शान्त हो सकते हैं; कारण कि प्रकृति भी खोई हुई मनुष्यताको पुनः लौटानेका कार्य हर समय करती रहती है।

(४) इससे बुरे स्वप्न आदि से लेकर अनिद्रा और फिर धीरे-धीरे नर्वस प्रोसट्रेशन (Nervous prostration) आदि भयंकर बिमारियां हो जाती हैं।

(५) आंखकी नसों और मांस पेशियों पर इतना बुरा प्रभाव पड़ता है कि सब आंखके डाक्टरों के पेट भरते हैं। आंखें धीरे धीरे कमजोर हो जाती हैं, उनके सामने धुंधले पदार्थ तैरते हुए नजर आते हैं। बहुतसे तम्बाकू पीने या अन्य प्रकारकी काम में लानेवाले जो चश्मा लगाते हैं वे यदि इसे काममें न लावें तो चश्मा लगानेकी जरूरत ही न रहे।

(६) इससे रुधिरमें विष फैल जाता है जिससे गरमी, सुजाक तथा त्वचा संबंधी अन्य कई प्रकार की बिमारियाँ हो जाती हैं।

(७) कई फैक्टरियोंमें सिगरेट बनाने वाले उस के कागजको जोड़नेके लिये होठोंसे पकड़ कर जीभ से गीला करके जोड़ते हैं। (तथा भारतमें बीड़ी बनानेवाले उसके तागेको थूकसे गीला करके जोड़ते हैं) इससे उन लोगों की बिमारीका असर भी उन सिगरेट तथा बीड़ी आदिको पीनेवालों में आये बिना नहीं रहता। क्यूबा तथा स्पेन वालोंमें जहां सिग-रेटके कारखाने ज्यादा हैं, गरमी तथा तपेदिक आदि की बिमारियां सब जगह फैलती रहती हैं।

(८) इससे भयंकर दन्तरोग हो जाते हैं।मसूड़ों तथा मुंहमें छाले हो जाते हैं और कभी खून भी गिरने लगता है।

(९) स्त्रियोंमें भी आज कल तम्बाकू काममें लेनेका बहुत रिवाज है। पुरुषोंसे ज्यादा नुकसान उनको होता है कारण कि उनके शरीरके कई भाग पुरुषोंके बनिस्पत अधिक नाजुक हो जाते हैं। अतः उन पर बुरा प्रभाव जल्दी और ज्यादा पड़ता है। इसके सिवा स्त्रियां भावी संसारकी जननी हैं, इससे उनकी जिम्मेदारी और भी अधिक है। अतः उनको तो इसे कभी भी किसी प्रकार भी काममें न लाना चाहिये।

(१०) बीमा कम्पनियाँ तम्बाकू पीनेवालेका या तो बीमा करती ही नहीं और यदि करती भी हैं तो उससे औरोंके मुकाबलेमें ज्यादा रुपया लेती हैं, कारण कि तम्बाकू पीनेवाले का स्वास्थ्य खराब हो जाता है जिससे उनको जल्दी मर जानेका डर रहता है।

(११) इसे काममें लानेवाले जगह-जगह थूकते रहते हैं। जिससे गन्दगी फैलकर सबके स्वास्थ्यको बिगाड़ देती है।

(१२) किडनी (kidney) तथा लिवर की बीमारियाँ हो जाती हैं।

(१३) इससे बाल सफेद हो जाते हैं तथा उड़ भी जाते हैं।

(१४) गला आ जाता है, और कभी-कभी पक भी जाता है, जिससे जल पीनेमें भी कष्ट होता है।

जो बहुत ज्यादा तम्बाकू पीते हैं वे नीचे लिखी बीमारियोंमें से २-४ के शिकार अवश्य मिलेंगे। जो जितनी ही ज्यादा तम्बाकू काममें लाते हैं वे उतनी ही अधिक बीमारियों में फँसते हैं।

इससे द्रव्य याने धनका भी कम नाश नहीं होता है। अकेले भारतमें ही वर्ष भरमें ८५ लाख रुपयों के सिगार तो बाहरसे आ जाते हैं और १२॥ लाख एकड़ भूमि पर जो तम्बाकू भारतमें बोई जाती है उस का भी अधिकांशमें यहाँ ही धुआँ हो जाता है।

तम्बाकू से होनेवाली बीमारियाँ

(१) अनिद्रा।
(२) सिरमें बाजेसे बजना।
(३) सुबह खाँसी चलना।
(४) पुरुषत्वका लोप होना।
(५) बहिरापन।
(६) नेत्ररोग तथा कमजोरी।
(७) आँखोंके सामने धब्बेसे दिखना।
(८) बुरे स्वप्न आना, बेचैनी रहना।
(९) मस्तिष्क बिगड़ना।
(१०) भूख बन्द हो जाना, स्वप्नदोष होना।
(११) चिन्तित रहना।
(१२) गला आ जाना।
(१३) हृदय धड़कना, शक्तिहीनता।
(१४) स्वाद बिगड़ जाना।
(१५) मसूड़ोंकी बीमारी होना।
(१६) सिर दर्द होना।
(१७) होठों पर तथा मुँहमें छाले होना।
(१८) मुँहसे दुर्गन्ध आना, जिगरकी बीमारी।
(१९) श्वांस लेनेमें दिक्कत होना।
(२०) पेटमें गड़बड़ होना, मानसिक पतन।
(२१) स्मरणशक्ति और सहनशक्तिका नाश।
(२२) अन्धापन होना, मन न लगना।
(२३) बालोंका उड़ जाना, लापरवाही होना, तथा फेफड़ोंकी खराबी।
(२४) आलस्य आना, बोली या आवाज बिगड़ना, मूर्च्छा आना।
(२५) हृदयरोग होना, दाँत गिरना, रक्त बिगड़ना, पेट में गैस बनना।
(२६) बदहजमी होना।
(२७) जीवन ग्रन्थियों में रोग होना, बायु न भरना।

तम्बाकू के लिये जो रुपया खर्च होता है उसके सिवाय उपरोक्त बीमारियों से बचने या इनका इलाज कराने में भी और पैसा खर्च करना पड़ता है।

इन सब का हिसाब लगाया जाय तो मालूम होगा कि एक बड़ी भारी रकम इस प्रकार खाक कर दी जाती है या थूक की राह बहा दी जाती है।

यही रकम बचाई जाकर अन्य उपकारी कामों में लगाई जाय तो एक पंथ दो काज सहज ही हो सकते हैं। एक तो यह बुरी और घातक आदत छूट जाय दूसरे अन्य अच्छे-अच्छे कामों को करने के लिए रकम मिल जाना संभव हो जाय। अतः जो कोई भी तम्बाकू खाते, पीते या सुंघते हों तो वे इसको एकदम त्याग दें तथा जो इससे बचे हुए हैं वे इसको काम में लेने वालों से इसको छुड़ाने का भरसक यत्न करें। सब प्रान्तों में 'मदिरा निषेध' की भांति इसको भी बन्द करने का यत्न किया जाय तो अच्छा है।

बी० सी० जी० की नई बला

वैद्य रवीन्द्र शास्त्री आयुर्वेदाचार्य्य

अखबारी दुनिया से सम्बन्ध रखनेवाले "सचित्र आयुर्वेद" के पाठकों ने समाचार पत्रों में प्रकाशित होने वाले बी० सी० जी० सम्बन्धी समाचारको जरूर देखा होगा। हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध डाक्टरों का समर्थन और भारत सरकार का दृष्टिकोण भी उन्हें मालूम हो गया होगा। आज इस बी० सी० जी० की नई बला के सम्बन्ध में ही कुछ शब्द लिखे जा रहे हैं। बी० सी० जी० का मतलब है—क्षय निरोधक टीका। चेचक के टीके की तरह ही यह भी क्षय को रोकनेवाला टीका है। चेचक का टीका लगवाने पर भी चेचक निकल सकती है, निकलती भी है—इस बी० सी० जी० का टीका लगने पर भी क्षय हो सकता है।

'हिन्दुस्तान' के सभी समाचारपत्रों ने अपने पाठकों तक इस नये आविष्कारके समाचारको जरूर पहुंचाया था। और इसके प्रचारक डा० होम साहब और जामिन साहब ने इसकी उपयोगिता के समर्थन में लम्बे-लम्बे वक्तव्य भी दिये थे। इन प्रचारकों का यह दावा था कि यह टीका ८५ प्रतिशत लोगों को क्षय से रक्षा कर सकता है। टीके का आविष्कार करने वाली कम्पनी ने जिस प्रोपेगण्डे के लिये इन दोनों सज्जनों को भेजा था—उन्हें कुछ ऐसे विशेष-अधिकार भी दिये थे; जिनके बल पर हिन्दके प्रसिद्ध डाक्टरों की सम्मति और समर्थन भी उन्हें प्राप्त हो गया था। यह समर्थन—हिन्दुस्तान भर में फैले हुये प्रसिद्ध डाक्टरों की अनुकूल सम्मति उन्हें किस तरह इतनी जल्दी मिल गई यह एक रहस्य की बात है—और इस रहस्यका पर्दाफाश करना; उन भले डाक्टरों के लिये शोभा की चीज नहीं हो सकती।

सैकड़ों वर्षों की गुलामी के कारण हिन्दुस्तान का मस्तिष्क—पाश्चात्य विद्वानों की सम्मतियों और युक्तियों के अनुसार ही सोचने-समझने का अभ्यासी हो गया है। विदेशी कम्पनियों को हिन्दुस्तान जैसा मारकेट भी अन्यत्र नहीं मिलता। हिन्दुस्तान से ले जाकर किसी भी जड़ी-बूटी का या गंगाजी की बालू का पाउडर अच्छे पेकिंग में रख कर हिन्दुस्तान में ही खूब अच्छे पैसों में बेचा जा सकता है। विलायत से आई हुई दवा के समर्थक ये लाखों डाक्टर पहिले ही से तैयार रहते हैं; आते ही धड़ाके के साथ उसका प्रचार हो जाता है, अतः इस बी० सी० जी० वाली कम्पनी ने अपने प्रचारकों के द्वारा हिन्दुस्तान में इस टीके का जो प्रचार किया है; वह अब तक की परपरा को देखते हुये कोई नई चीज नहीं है।

लेकिन हिन्दुस्तान के ३२ करोड़ों लोगों को भी यह तो सोचना ही होगा कि उनके शरीर में लगाया जाने वाला टीका—जो देश के लाखों रुपयों को बलात् विदेश ले जायगा; क्षय के रोकने में कहां तक समर्थ हो सकता है ? भारत सरकार के द्वारा इस टीके का समर्थन कोरा समर्थन मात्र ही नहीं कहा जा सकता। जनता के ऊपर इसका आंख मींचके प्रयोग भी किया जायेगा और क्षय विरोधक हास्पिटलों के रूप में जगह २ ऐसी संस्थाएं भी खुलेंगी; जिनके प्रचार में ही लाखो रुपया स्वाहा होगा। हिन्दुस्तान की अपनी सरकार के द्वारा इस विदेशी टीके का—

जिसकी उपयोगिताकी कोई गारंटी नहीं और जिसका सारा पैसा विदेश में ही जायेगा-इस प्रकार समर्थन और प्रचार करना-भारतीयों के पैसे का दुरुपयोग और लोगों के शरीर के साथ खिलवाड़ करना है। शासन-तन्त्र में घुसी हुई डाक्टरों और ऐलोपैथीके भक्तों की मनोवृत्ति, आज इस संपूर्ण स्वतन्त्र भारतवर्ष में भी विदेशी चीजों से पराङ्मुख नहीं हो पाई है; और हिन्दुस्तान के अपने चिकित्साशास्त्र-आयुर्वेद में तो उन्हें कुछ तत्त्व ही नहीं नजर आता।

देश के स्वास्थ्य-मंत्रिणी—खादी और भारतीयता की उपासिका होते हुये भी अपने चारों तरफ के वातावरण के कारण इस टीके का विरोध न करके इसके समर्थन में ही अपनी शक्ति लगायेंगो यह सरकार और देश के लिये गौरव की बात तो हर्गिजही नहीं है। राष्ट्र के स्वास्थ्य के साथ इस तरह की छेड़-छाड़ हिन्दुस्तान में ही बर्दाश्त की जा सकती है।

वी० सी० जी० का समर्थन करने वाले इन सुप्रसिद्ध डाक्टरों की राय की कीमत का अन्दाजा तो इसी से लगाया जासकता है, कि इनमेंसे एक डाक्टर को भी इसके उपादानों का, इसके गुण-धर्म का इंच भर भी पता नहीं है और न किसी ने इसको कसौटी पर ही कसा है। औषध के उपदानों—गुण-धर्म तथा परीक्षण का पता लगाये बिना ही किसी औषध का समर्थन करनेवाले इन डाक्टरों की एक दर्जन संख्या का महत्त्व भले ही मान लिया जाये-लेकिन औषधके सम्बन्ध में उनकी सिफारिश की रत्ती भर भी कीमत नहीं रख सकती।

अब तक का इतिहास इस बात का साक्षी है कि विदेश से आने वाली प्रत्येक औषध की लम्बी-चौड़ी महिमा कम्पनी के साथ ही-उससे भी अधिक प्रभावशाली शब्दों में, इन ऐलोपैथिक डाक्टरों द्वारा बखानी जाती रही है। पेंसिलिन के आने पर किन मोहक शब्दों में इसे रामबाण-औषध बताया गया-प्रत्येक रोग की अमोघ औषध कहके इसे लोगों के शरीर में प्रविष्ट किया गया। अब विलायत वाले स्वयं ही यह महसूस करने लगे हैं, कि रोगों के कीटाणुओं के साथ ही यह शरीर की स्वाभाविक रोग क्षम-शक्ति का भी सफाया करती है। जनता ने अपने दर्द भरे अनुभव से पेंसिलिन को अनावश्यक समझ लिया-लेकिन इन एजेण्टों के हाथ में तो अब भी हरवक्त हर रोग में पेंसिलिन की सूई जरूर ही रहती है। आश्चर्य और आश्चर्य से अधिक लज्जाकी बात तो यह है, कि इस टीके के प्रचार के द्वारा क्षय का निरोध करने का ख्याल करने वाली हमारी सरकार, जड़को काटकर टहनियों में पानी देने का उपहास जनक कार्य करने जा रही है। देश में क्षय के रोग की बढ़ती का कारण अब तक गुलामी और मुफलसी का अभी शाप था—तो आज कंट्रोलर राशनिंग और महँगाई का दैत्य देश के जीवन को क्षीण कर रहा है।

सड़े-गले-तत्त्वहीन और शकरकन्द आदि के पाउडरों से मिश्रित आटा जिला के लोगों के स्वास्थ्य को खराब करनेवाली सरकार स्वयं ही तो देश के स्वास्थ्य को नष्ट कर रही है; पौष्टिक चीजें तो दूर, पेट का खड्डा भरने लायक अन्न तक भी जब शुद्ध रूप में नहीं मिल रहा, तब क्षय जैसे रोग के लिये उपजाऊ जमीन तो स्वयं सरकार ही तैयार कर रही है। राष्ट्र का स्वास्थ्य जिस बुरी तरह से नष्ट हो रहा है-लोगों की जीवनी और कर्त्तव्यशक्ति जिस बुरी तरह से नष्ट हो रही है इस बात पर ध्यान दिये बिना वी० सी० जी० के टीकों द्वारा क्षय का रोकना निश्चय ही शेख चिल्ली का सपना है।

(शेषांश ६३७ पृष्ठपर)

गुरुकुल-आयुर्वेद-महाविद्यालय-हरद्वार

वैद्य श्री रामेश बेदी आयुर्वेदालङ्कार

इसमें प्राच्य और पश्चात्य दोनों प्रकार का चिकित्सा-शास्त्र सिखलाते हुए प्राच्य-आयुर्वेद के महत्त्व को प्रस्फुटित किया जाता है। इस महाविद्यालय का उद्देश्य वैदिक आदर्शों के अनुरूप ब्राह्मण वृत्ति के चिकित्सक उत्पन्न करना है। चिकित्सा-सम्बन्धी विषयों के साथ-साथ वेद भी पढ़ाया जाता है। गुरुकुल में आयुवेद और ऐलोपैथी दोनों चिकित्सा-प्रणालियों की शिक्षा तुलनात्मक तथा पूरक रूप में साथ-साथ दी जाती है। गुरुकुल के संचालकों का दृष्टिकोण सदा से यह रहा है कि साथ-साथ नवीन चिकित्सा-प्रणाली के अध्ययन से प्राचीन-आयुर्वेद का अध्ययन अधिक स्पष्ट तथा पूर्ण हो जाता है। इसलिये पाश्चात्य शरीर-शास्त्र (एनाटमी), शरीरक्रिया-शास्त्र (फिजिओलोजी) शवच्छेदन (डिसेक्शन) शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) रोगविकृति - विज्ञान (पैथोलोजी) प्रसूति - तन्त्र (मिडवाइफरी) आदि आधुनिक सब विषय पढ़ाये जाते हैं।

प्रवेश सम्बन्धी योग्यता

गुरुकुल आयुर्वेद-महाविद्यालय में प्रविष्ट होने के लिये प्रत्येक विद्यार्थी को विज्ञान का एक विशेष कोर्स पास करना होता है; जिसका पाठ्य विषय (सिलेबस) लगभग वही है जो लखनऊ मेडिकल कालिज के एम. बी. बी. एस. छात्रों को प्रारम्भ में पढ़ाया जाता है। प्रवेश के समय अंग्रेजी का ज्ञान मैट्रिक तक और संस्कृत की योग्यता प्राज्ञ तक होनी आवश्यक है। फिजिक्स, केमिस्ट्री, अंग्रेजी, संस्कृत-आदि में प्रवेशार्थी की योग्यता अच्छी होने से वह आयुर्वेद और ऐलोपैथी की संस्कृत तथा अङ्गरेजी की पाठ्य पुस्तकों को भलीभांति समझ सकता है और गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय में शिक्षा के ऊँचे स्टैण्डर्ड में अपने को बिना कठिनाई के चला लेता है। प्रवेशार्थी को अविवाहित, सदाचारी होना चाहिये। जातिगत भेदभाव का विचार नहीं किया जाता।

निवास

विद्यार्थियों के रहने के लिये सुन्दर और स्वास्थ्य प्रद छात्रावास है। जो विद्यार्थी रहने का प्रबन्ध गुरुकुल से बाहर करना चाहें, वे अपने लिये अनुकूल स्थान पास-पड़ोस में प्राप्त कर लेते हैं।

आयुर्वेदिक-चिकित्सा पर अधिक बल

चिकित्सा के सम्बन्ध में हमारी यह धारणा है कि विदेशी या ऐलोपैथी दवाइयों की अपेक्षा भारतीय ओषधियां किसी भी अंश में कम प्रभावशाली नहीं हैं। साथ ही वे हमारे देश वासियों के लिये अधिक सुलभ तथा सस्ती भी हैं। कितनी औषधियां तो दोनों पद्धतियों में एक ही हैं। उनके नाम या तैयार करने के ढंग में कुछ अन्तर है। इसलिए यह उचित ही नहीं किन्तु आवश्यक है कि यथा संभव आयुर्वेदिक-औषधियां द्वारा ही चिकित्सा की जाय। अतः गुरुकुल में मुख्यतया आयुर्वेदिक ओषधियों के साथ-साथ एलोपैथिक-औषधियों का ज्ञान भी विद्यार्थियों को भली प्रकार कराया जाता है। यह ठीक है कि शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) में प्रधानता एलोपैथी को दी जाती है।

क्रियात्मक शिक्षा

क्रियात्मक शिक्षाके लिये प्रयोगशालाओं का शिक्षा - संस्था के साथ होना नितान्त आवश्यक है। गुरुकुल में क्रियात्मक शिक्षण के लिये निम्नलिखित सुविधायें विद्यार्थी को प्राप्त हैं।

केमिकल लेबोरेटरी

केमिस्ट्री की प्रयोगशाला गुरुकुल में एम० एस० सी० तक की है-जिसमें आयुर्वेद महाविद्यालयके छात्र केमिस्ट्री की क्रियात्मक शिक्षा पाते हैं।

वनस्पति-वाटिका

हिमालय की गोद में गुरुकुल अवस्थित होने से वनस्पति-शास्त्र (बोटनी) और द्रव्य-गुण के अध्ययन के लिये यह आदर्श संस्था है। गुरुकुल की वनस्पति-वाटिका में कुचला, नागचम्पा, त्रिफला, कुटज, गुड़मार, दशमूल आदि के पौधे पास और दूर से लाकर लगाए गये हैं। पड़ोस में भारत सरकार की वन्य-अनुसन्धानशाला (देहरादून) है। वन, उपवन, हिमालय के शिखरों आदि पर विद्यार्थियों को द्रव्यगुण की क्रियात्मक शिक्षा देने के लिये ले जाया जाता है।

शवच्छेदन

शवच्छेदन के लिये गुरुकुल का भवन आधुनिक ढंग का बनाया गया है। हरद्वार एक तीर्थ स्थान होने से क्रियात्मक शिक्षण के लिये शव सरलता से तथा काफी संख्या में उपलब्ध हो जाते हैं। कनिंघम के डिसेक्टर के आधार पर शवच्छेदन कराया जाता है।

किलनिकल लेबोरेटरी

रोग विनिश्चय के लिये रोगी के रुधिर, थूक, मल, मूत्र आदि स्रावों की परीक्षा करने के लिये किलनिकल लेबोरेटरी में माइक्रोस्कोप, हीमोग्लोबिनो मीटर, हिमोसाइटो मीटर, स्फिग्मोग्राफ, माइक्रोटोन, इन्क्यूबेटर, सेंक्रोमीटर, एल्व्यूमिनोमीटर, ब्लडशूगर, ऐपरेटस, पी. एच. वेल्यू का कम्परेटर, माइक्रोस्पैक्टोस्कोप, आदि आधुनिक उपकरणों का आश्रय लेकर विद्यार्थी को रोग विनिश्चय करने का अभ्यास कराया जाता है। माइक्रोस्कोप हमारे पास ८ हैं जिससे हरेक विद्यार्थी उस पर आवश्यक रूप में कार्य कर सकें।

श्रद्धानन्द सेवाश्रम

अन्तिम वर्षों के विद्यार्थियों को रोगों का क्रियात्मक-ज्ञान विस्तार से और व्यौरेवार देने के लिये एक बड़ा औषधालय श्रद्धानन्द सेवाश्रम नाम से स्थापित है। छोटे तथा बड़े सब तरह के औपरेशनों के लिए आधुनिक-उपकरणों से सुसज्जित शल्यक्रिया भवन है। हार्निया, एपेन्डिसाइटिस, वृक्काश्मरी, मूत्राशयाश्मरी, पित्ताश्मरी, सार्कोमा, कैन्सर, फाइब्रोमा, एडिनोमा, आदि अनेक प्रकार के अर्बुद अस्थिभंग व भ्रंश (एम्पुटेशन), स्पाइनल, केरीज, गैन्ग्रीन, जलोदर, यकृत् -विद्रधि, प्लूरसी, कैटरेक्ट, ग्लोकोमा, ट्रिकायसिस, आदि के अनेक औपरेशन प्रत्येक विद्यार्थी साल में कई बार देख लेता है। १९४७-४८ में तीनसौ से अधिक औपरेशन यहां हुए हैं।

एक्सरे

शल्यक्रिया सम्बन्धी तथा दूसरे रोगों का विनिश्चय करनेके लिये आवश्यक उपकरण एक्सरे से विद्यार्थियों को सहायता लेना सिखाया जाता है। इसके लिये श्रद्धानन्द सेवाश्रम में कमलापत सिंहानिया द्वारा विक्टर एक्सरे प्लाण्ट लगाया हुआ है। एक साल में ४०० से अधिक फोटो लिये जाते हैं।

आतुरालय

ऐलोपैथी तथा आयुर्वेद की दवाइयों का प्रयोग

कराने के लिये सेवाश्रम में दो रोगीगृह पृथक्-पृथक् है। इन में रह कर चिकित्सा कराने वाले रोगियों पर विद्यार्थियों को वैद्य तथा डाक्टर बैड साइड क्लिनिक देते हैं। १९४७, ४८ में श्रद्धानन्द सेवाश्रम से लगभग १७ हजार रोगियों ने उठाया।

संग्रहालय

विद्यार्थियों को अध्ययन में सहायता देने के लिये इस संग्रहालय में जीव-विज्ञान, शरीर-शास्त्र वनस्पति-विद्या, द्रव्यगुण, फिजिओलोजी, पैथोलोजी विषयक, चार्टस् चित्र तथा प्रतिकृतियां (मौडल) रखे गये हैं। मानव-शरीर के तथा विभिन्न प्राणियों के स्वस्थ तथा रुग्णावस्था के अंग-प्रत्यंग, अस्थि-पन्जर, वनस्पतियों तथा खनिज पदार्थों के नमूने, विद्यार्थियों को पढ़ाई जाने वाली ऐलोपैथी तथा आयुर्वेदिक दावाओं के कच्ची अवस्था–के तथा तैयार औषधि के के नमूने संगृहीत हैं। आयुर्वेद की अंग भूत सर्प विद्या का अध्ययन करने के निमित्त कुछ समय से संग्रहालय के अन्तर्गत एक सर्प विभाग भी आरम्भ किया गया है। इस में अठारह फीट लम्बे विशाल काय अजगर से लेकर चार इंच लम्बे भूमि में गड़ने वाले सांपों तक सभी प्रकार के विषैले फनियर (कोबरा) दबोइआ (रसलसवाइपर) कौड़िये (क्रेट्स) आदि तथा निर्विष धामन, तृण सर्प, वृक्ष सर्प, जल सर्प इत्यादि सुरक्षित रखे गये हैं। प्रति वर्ष बाहर से आने वाले हजारों ज्ञानयात्री और दर्शक भी इस से अपना ज्ञानवर्द्धन और मनोरंजन करते हैं। इस प्रदेश में इस प्रकार का एक मात्र संग्रहालय यही है।

पाठ्यक्रम-उपाधि

पाठ्यक्रम पांच वर्ष का है, जिस में आयुर्वेद के चरक, सुश्रुतआदि प्रायः समस्त ग्रन्थ ऐलोपैथी की पढ़ाई के साथ-साथ पढ़ा दिये जाते हैं। ऐलोपैथी पद्धति के अनुसार निम्न लिखित विषय आगरा के मेडिकल स्कूल के स्टैन्डर्ड तक पढ़ाये जाते हैं, एनाटमी, फिजिआलोजी, मैटीरिया मेडिका, मेडिसिन, केमिस्ट्री, बॉटनी, जुओलोजी, पैथोलोजी, क्लिनिकल मैथड, हाइजीन, डिसेक्शन, मिडवाइफरी, गाइनो कौलोजी, चिल्ड्रेनडिज़ीजैज, इत्यादि। आयुर्वेद और ऐलोपैथी दोनों के सब विषयों में उत्तीर्ण होने के बाद आयुर्वेदालंकार की उपाधि दी जाती है।

गुरुजन

आयुर्वेद और ऐलोपैथी दोनों विज्ञानों के ज्ञाता गुरुजनों को शिक्षण के लिये नियुक्त करने में आयुर्वेद महाविद्यालय सदा सचेष्ट रहा है। इस से दोनों पद्धतियों का समन्वयात्मक अध्ययन करने का एक विशेष दृष्टिकोण विद्यार्थी में आरम्भ से ही बन जाता है।

स्नातकों का उज्ज्वल भविष्य

गुरुकुल आयुर्वेद-महाविद्यलय के स्नातकों की योग्यता का ऊँचा स्टैन्डर्ड होने से यहां के स्नातक विदेशों के विश्वविद्यालयों में मेडिकल कोर्स लेकर ऐलोपैथी की एम. डी. आदि उच्च-उपाधियां प्राप्त करने में अच्छी सफलता प्राप्त कर रहे हैं। विदेशों से लौटे हुए ऐसे स्नातक सरकारी चिकित्सालयों में तथा स्वतंत्र रूपसे जनताकी सेवा कर रहे हैं। संयुक्त प्रान्त के क्षयरोग सेनेटोरियम (भुवाली) के अध्यक्षपद पर गुरुकुल आयुर्वेद-महाविद्यालय के एक सुयोग्य स्नातक डाक्टर धर्मानन्द आयुर्वेदालंकार लगभग तीन बरस से बड़ी योग्यता से कार्य कर रहे हैं। मौडर्न रिव्यू (कलकत्ता, नवम्बर १९४९) में प्रकाशित एक लेख से पता चलता है कि छाती के बहुत अधिक पेचीदे और जोखिम पूर्ण कुछ औपरेशनों को भुवाली सेनेटोरियम में प्रारम्भ करने का श्रेय डाक्टर धर्मानन्द को ही दिया जाता है।

संयुक्तप्रान्तीय-सरकार गुरुकुल के आयुर्वेदालंकारों को ऊँची योग्यता के कारण ए श्रेणी में रजिस्टर्ड कर रही है। संयुक्त-प्रान्त, मध्य-प्रान्त और विहार के सरकारी चिकित्सालयों में तथा स्वास्थ्य विभागों में आयुर्वेदालंकारों को सेवा करने के पूर्ण अवसर प्राप्त हैं। देश के विभिन्न प्रदेशों में यहाँ के स्नातक सफलतापूर्वक स्वतंत्र चिकित्सा कार्य कर रहे हैं।

साहित्य सेवाएं

चिकित्सा क्षेत्र के अतिरिक्त आयुर्वेदिक साहित्य के सृजन में भी गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय के स्नातकों ने गौरव पूर्ण कार्य किया है। श्री जयदेव विद्यालंकार, श्री अत्रिदेव जी विद्यालंकार, श्री विद्याधर जी विद्यालंकार, श्री रणजीतराय आयुर्वेदालंकार आदि स्नातकों ने चरक, सुश्रुत के प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत किये हैं और चिकित्सा शास्त्र की विविध शाखाओं पर स्वतंत्र पुस्तकें लिखी हैं। श्री रामेश वेदी आयुर्वेदालंकार वनस्पतियों तथा भोजन द्रव्यों पर जो प्रामाणिक वैज्ञानिक साहित्य पैदा कर रहे हैं उस में सात खोजपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं निम्न लिखित स्नातकों की साहित्य सेवा के कारण आयुर्वेद जगत् इन्हें भली भांति जानता है-श्री धर्मदत्त सिद्धान्तालंकार; डाक्टर इन्द्रसेन आयुर्वेदालंकार।

शेषांश — बी० सी० जी० की नई बला — ९३३ वें पृष्ठ का

बी० सी० जी० की इस बला से देश को बचाने लिये हिन्दुस्तान के अपने चिकित्सा-शास्त्रीयों—आयुर्वेदिक वैद्यों का भी खासकर्तव्य है। जब तक परीक्षणों और इसके उपादानों के गुण - धर्मके तात्विक विवेचना द्वारा टीके की उपयोगिता स्पष्ट नहीं हो जाती, तब तक देशके लोगों को इस नई आफत से बचाना आयुर्वेद का पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है। भलेही आज की सरकार डाक्टरी की उपासिका हो,—भलेही शासन तंत्र में ऐलोपैथी का मोह घुसा हुआहो—और भले ही सरकार की नजरों में आयुर्वेद की कोई प्रतिष्ठा न हो—लेकिन सैकड़ों-वर्षों के अत्याचारों के वावजूद भी देशकी सर्व-साधारण जनता को राहत देनेवाले-वैद्यों को; जनताको यह वताना ही होगा कि इस बी० सी० जी० से नहीं आयुर्वेद के स्वस्थवृत्त द्वारा ही क्षय का निरोध हो सकता है। "सचित्र आयुर्वेद" के द्वारा मैं आयुर्वेदीय पत्रों से भी यह निवेदन करना जरूरी समझता हूं कि वे अपने पत्रों द्वारा-जनता को सतर्क करने के पुनीत कार्य में अपना पूरा सहयोग दें।

भारतीय जन स्वास्थ्य और आयुर्वेद

कविराज श्रीनारायण शर्मा एम० ए० एस० एफ०, वैद्यशिरोमणि

आज हिन्दुस्तान में स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय सरकार पर सबसे बड़ी जुम्मेदारी भारत में रहनेवाले करोड़ों लोगों को स्वस्थ रखने और रोगी होने पर रोग मुक्ति के लिये उचित उपचार की व्यवस्था करने की है, कारण स्वस्थ नागरिक ही देश की स्वतंत्रता की रक्षा करने तथा सब तरह का समूहिक विकास करने में समर्थ हो सकता है।

इसीलिये देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने गत २६ जनवरी को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति के अवसर पर राष्ट्रपति की हैसियत से अपने वक्तव्य में रोगों से पीड़ित जनता की चिकित्सा और स्वास्थ्य-रक्षा के प्रचार पर अधिक जोर दिया है। आज देश में लाखों प्राणी तरह-तरह के भयंकर रोगों के शिकार बन काल के ग्रास बन रहें हैं। देश में चिकित्सकों और औषधियों का बहुत बड़ा अभाव है। सरकारी व्यवस्था इस विषय में विल्कुल ही नगण्य है। सरकार द्वारा संचालित और संरक्षित एलोपैथिक चिकित्सा पर देश का करोड़ों रुपये खर्च होने पर भी सौ में १० आदमियों को भी पूरा लाभ नहीं मिलता है। पेटेन्ट दवाओं के रूप में विदेशी—औषधियों की बिक्री से भारत का करोड़ों रुपयों का धन विदेशों में प्रतिवर्ष जा रहा है। बड़े-बड़े शहरों में भी जहां इस चिकित्सा-व्यवस्था का पूर्ण इन्तजाम है, वहां रोगों की बाढ़ बढ़ती ही जा रही है।

आज आर्थिक संकट के युग में गिरते हुए जन-वास्थ्य की हालत को देखते हुए, वर्तमान प्रबन्ध में यह समस्या दिन-प्रति-दिन गम्भीर होती जा रही है। इस समस्या पर भारत की जनता और राष्ट्रीय सरकार दोनों का कर्त्तव्य है कि गम्भीरता से विचार कर ऐसा रास्ता सोचे, जिस पर चलने से यह समस्या सुलझ सके। आयुर्वेद का महत्त्व सृष्टि के आदि काल से, जैसा ब्रह्मा ने जाना था उस आयुर्वेद-शास्त्र का उपदेश इन्द्र ने भरद्वाज मुनि को दिया, जो स्वस्थ और रोगी सम्बन्धी हेतु ज्ञान, लक्षण-ज्ञान, और औषध-ज्ञान संयुक्त है' जिसका सत्य सिद्धान्त निरन्तर रहनेवाला, अविनाशी और पुण्यजनक है। इसके बाद स्वस्थता और दीर्घ-जीवन की प्राप्ति के लिये सम्पूर्ण संसार में इसका प्रचार बढ़ा और फैला। लोग इसके सिद्धान्तों से चलकर सैकड़ों वर्षों तक दीर्घायु रहने में समर्थ हो सके। आयुर्वेद-शास्त्र ने काय चिकित्सा, शल्यतंत्र, शालाक्यतंत्र, प्रसूतितंत्र, कौमार भृत्य, अंगदतंत्र, रसायनतंत्र, और बाजीकरण तंत्र आदि विषयों में उच्चकोटि की उन्नति की। खासकर भारतवर्ष हजारों वर्षों तक सम्पूर्ण संसार के लिए शिक्षा का केन्द्र बना रहा। इसी आयुर्वेद-चिकित्सा प्रणाली का ज्ञान भारत से अरब, मिश्र, रोम और उसके बाद सम्पूर्ण यूरोप में फैला।

आयुर्वेद से निदान, विपरीत-चिकित्सा-सिद्धान्त को ग्रहण कर आज की ऐलोपैथिक चिकित्सा प्रणाली का आरम्भ हुआ है। आयुर्वेद के सम्पूर्ण ज्ञान के अभाव में इस विज्ञान द्वारा रोगों से पीड़ित मानव समूह की चिकित्सा-सफलता पूर्वक न हो सकी, हेनीमैन साहब ने "विपरीत-अर्थकारी" आयुर्वेद के

सिद्धान्त को लेकर होमियोपैथी-चिकित्सा प्रणाली का प्रचार किया।

जर्मनी में सुसलर साहब ने "सामान्य वृद्ध कारक" सिद्धान्त को लेकर १२ प्रकार के क्षारों से चिकित्सा सिद्धान्त का प्रचार किया।

इसी तरह आयुर्वेद के बहुप्रचलित पंचकर्म द्वारा शरीर शोधन प्रणाली के सिद्धान्त को लेकर आजकल प्राकृतिकचिकित्सा-प्रणाली फैली है। जुस्ट, लूईकूने आदि जर्मनीके आचार्यों ने मुक्तकंठ से भारत वर्ष में प्रचलित सिद्धान्तों की तारीफ की है।

इस तरह संसार में प्रचलित चिकित्सा-पद्धतियों ने आयुर्वेद से ही चिकित्सा ज्ञान के सिद्धान्तों को लिया है। विदेशों की लाइब्रेरियों में हजारों हस्त लिखित पुस्तकें आयुर्वेदके ज्ञान भंडार की पड़ी है, जिनसे चिकित्सा सम्बधी ज्ञान के विकास में बहुत सहायता मिली है। हमारी राष्ट्रीय सरकार का कर्त्तव्य है,कि लंडन तथा अन्य स्थानों से ऐसी पुस्तकों की खोज कर भारत वर्ष में मंगावे। गुणग्राही विदेशी चिकित्सकों ने आयुर्वेद को इस विषय में अधिक से अधिक महत्त्व दिया है। वे यह स्वीकार करते हैं कि अन्य रास्तो को छोड़कर यदि चरक के सिद्धान्तों से चिकित्सा की जाय तो मानव-समाज अधिक से अधिक स्वस्थ रह सकता है तथा रोगों से शीघ्र छूटकारा पा सकता है।

संकट काल में आयुर्वेद द्वारा सेवा

गुप्तकालीन समय के वाद विदेशो-आक्रमण के कारण भारत के दिन, दासता के सीकचे में जकड़े गये। पठान और मोगलकाल में तो कष्ट का ठिकाना न रहा। ऐसे कठिन समय में भी आयुर्वेदीय-चिकित्सकों ने ही देश के लोगों की रोगों से रक्षा की। हजारों वर्षों के पतनकाल में सिर्फ आयुर्वेदीय चिकित्सा ने ही जीवन दान देने का कठिन कार्य किया है। ब्रिटिश शासनकाल में अङ्गरेजों ने अपनी व्यापारिक कुशलता से ऐलोपैथिकचिकित्सा-पद्धति का प्रसार किया, और औषधि-व्यापार के रूप में साल में करोड़ों रूपये विदेश भेजने का साधन आज तक उपलब्ध है। फिर भी ८० प्रतिशत से अधिक लोगों की चिकित्सा आज तक आयुर्वेद द्वारा ही होती है।

आज की समस्या

आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में रोगों से छुटकारा पाने और जन-स्वास्थ्य उच्चकोटि का कायम रखने की समस्या प्रधान हो गयी है। भारत की गरीब जनता तरह-तरह के कठिन रोगों का शिकार हो रही है। ऐसे मौके पर राष्ट्रीय-सरकार पर, इस विषय में उचित कदम उठाने की जिम्मेदारी है। अभी तक इस विषय में देश की अन्दरूनी हालत पर व्यावहारिकता से न सोचकर हमारी प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार भी अङ्गरेजी सरकार की तरह ही अपना रवैया अख्तियार किये हुए हैं। देश की स्वास्थ्यरक्षा सफलता पूर्वक ८०% प्रतिशत से अधिक लोगों की चिकित्सा जिस आयुर्वेद पद्धति द्वारा होती है, उसको सब ओर से बढ़ावा देकर ही इस समस्या का समाधान किया जा सकता है।

चोपड़ा समिति

गत १९४६ ई० में कर्नल राम नाथ चोपड़ा की अध्यक्षता में एक समिति हमारी राष्ट्रीय सरकार ने गठित की थी, जिसमें डाक्टर और वैद्य दोनों थे। इस समिति ने सम्पूर्ण भारतवर्ष में घूमकर एक रिपोट दी है और आयुर्वेद के महत्त्व के विषय में इमानदारी से निम्नलिखित शब्द कहे हैं।

आयुर्वेद का महत्त्व

"इस समय पश्चिमीय चिकित्सा विज्ञान-हिन्दुस्तान के लिये बिलकुल ही पर्याप्त नहीं है तथा भार-

तीय चिकित्सा विज्ञान द्वारा सदियों से उपेक्षित होने पर भी हिन्दुस्तान में बहुतायत से चिकित्सा होती है। और सब तरह के जनसमुदाय में इसकी माँग भी है। सरकार द्वारा प्रतिपादित और संचालित पश्चिमीय-चिकित्साविज्ञान के पर्याप्त नहीं होने से चिकित्सा क्षेत्र में जो अभाव की बड़ी-बड़ी खाइयाँ बन गयी हैं, उनको भरने में भारतीय चिकित्सा-विज्ञान द्वारा बहुत सहायता मिल सकती है।"

इससे यह साफ जाहिर होता है कि देश में चिकित्सा— सम्बन्धी समस्या को हल करने के लिये आयुर्वेद को सब तरह का सहयोग देने से ही सफलता मिल सकती है।

इसी प्रकार उपरोक्त चिकित्सा-विज्ञान परिषद् और अनुसन्धानशाला की स्थापना आदि अनेक व्यावहारिक योजनाओं को सरकार और जनता के सामने रखा है। चिकित्सा सम्बन्धी तीन इकाइयों के रूप में ग्रामीण—चिकित्सा योजना से तो जनता का बहुत उपकार हो सकता है। इस रिपोर्ट के अनुसार यदि सरकार केन्द्र और प्रान्तों में काम करती, तो जन-स्वास्थ्य रक्षा की समस्या हल करने में सफल कदम बढ़ायी जा सकती थी, पर मालूम होता है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार भी अङ्गरेजों के समय से चलने वाले भारतीय जन-स्वास्थ्य विरोधी षड़यन्त्र को न समझ कर जनहित की वास्तविक कल्पना से दूर होकर आयुर्वेद की उपेक्षा कर रही है। यही कारण है कि एक तो जहाँ राष्ट्रीय केन्द्रीय सरकार द्वारा गठित चोपड़ा समिति के विशेषज्ञों की रिपोर्ट को कार्यान्वित करना था, उसके बदले इस रिपोर्ट को रद्दी की टोकरी में फेंक देने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार की स्वास्थ्य मंत्रिणी राज कुमारी अमृतकौर ने एक प्रश्न के उत्तर में ता० १० फरवरी को कहा है

"चोपड़ा समिति की रिपोर्टको व्यावहारिक रूप न देने का कारण यह है कि आधुनिक और देशी चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान के समन्वय सम्बन्धी मुख्य सुझाव को सरकार अव्यावहारिक समझती है।"

चूँकि आधुनिक विज्ञान के विषय के सिद्धान्त और मौलिक सत्य; आयुर्वेद और यूनानी पद्धतियों से बहुत भिन्न हैं, इसलिये समिति द्वारा समन्वय सम्बन्धी सुझाव को सरकार विश्वास के साथ अव्यावहारिक समझती है।

ऐसी समन्वय पद्धति का विकास तभी सम्भव हो सकता है, जब कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की खोज सम्बन्धी तरीकों को आयुर्वेद और यूनानी के सैद्धान्तिक और मौलिक सत्य के नियमों पर लागू किया जाय और उनकी योग्यता तथा कीमत निश्चित हो जाए। जो सिद्धान्त और नियम वृहत् आधुनिक विज्ञान की सूक्ष्म खोज में कीमत के योग्य पाये जायेंगे, वे स्वतः प्राकृतिक रूप से उसमें हजम हो जायेंगे। एक नयी समिति देशी चिकित्सा सम्बन्धी खोज परिषद के निर्माण सम्बन्धी सुझावों की सलाह देगी।"।

स्वास्थ्यमन्त्रिणी का उपरोक्त वक्तव्य देशकी सम्पूर्ण जनता के लिए बहुत ही निराशा जनक और भ्रमात्मक है। चोपड़ा समिति में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के उच्चकोटि के विशेषज्ञ थे और वे स्पष्ट शब्दों में आयुर्वेद के महत्त्व और वैज्ञानिकता को स्वीकार करते हुए निःसंकोच वक्तव्य देते हैं कि आज भी अनेक विषयों में आयुर्वेद से आधुनिक विज्ञान बहुत कुछ सीख सकता है। आयुर्वेद की वैज्ञानिकता, उपयोगिता को सम्पूर्ण संसार ने स्वीकार किया है, खासकर जहाँ आधुनिक विज्ञान पश्चिमीय देशों में पनपा है वहाँ के उच्चकोटि के विद्वानों ने आधुनिक विज्ञान

मुख्यस्रोत-आयुर्वेद को ही बताया है। समय-समय पर जो अधुानिक चिकित्सा-विज्ञान ने सैद्धान्तिक भूल सुधार और उन्नति की है, उसमें अयुर्वेद से बहुत सहायता मिली है। स्वतंत्रता और निष्पक्षता के गुणों से युक्त यूरोपीय विद्वानों ने जहां आयुर्वेद को पूर्ण श्रेय, चिकित्सा-विज्ञान की उन्नति का दिया है, वहां गुलामी के विचारों से लिप्त, अज्ञानवश कुछ डाक्टर जिन्हें चिकित्सा-विज्ञान की पूर्णता का होश नहीं आयुर्वेद की उन्नति का विरोध करते हैं। इसलिये स्वास्थ्य-मन्त्रिणी जी को सिद्धान्त के मामले में विशेषज्ञों की राय को ही सर्वमान्य करना चाहिये इस मामले में सरकारी स्वास्थ्य-विभाग में कार्य करने वाले आज्ञानी लोगों के विचार कोई मूल्य नहीं रखते।

जहां तक बृहत अधुनिक विज्ञान के तरीकों का प्रश्न है, वहां एलोपैथी के उच्चकोटि के विद्वान आज जब एक सिद्धान्त और नियम को ठीक बताते हैं, कुछ वर्षों के बाद एक दूसरा व्यक्ति ठीक उससे उल्टी चीज सत्य के रूप में साबित कर पहले की चीज को रद्दकर नयी को प्रतिष्ठित करता रहता है। यही हालत सैकड़ो वर्षों से चल रही है। हेनीमैन साहब तथा इसी तरह दूसरे ऐलोपैथी के उच्चकोटि के विद्वानों ने तो यह अनुभव किया कि ऐलोपैथी-पद्धति से चिकित्सा किये जाने पर जितने रोगी अच्छे हुए, अस्पताल से जाने पर वे दूसरे नये रोग लेकर गये। उनलोगों ने इस पद्धति के विरुद्ध जनहित के लिए क्रान्तिकारी परिवर्तन चिकित्सा-विज्ञान में किये, जिनसे आज भी सफलता पूर्वक संसार की सेवा हो रही है।

जहां तक आयुर्वेद का प्रश्न है, आयुर्वेद के तरीके से चलकर लोग रोगों से मुक्ति पाकर बहु काल तक दीर्घजीवी बन सके और बनते हैं। हजारों वर्षों की गुलामी के फलस्वरूप इस चिकित्सा-पद्धति को वदेशी शासकों ने अपने स्वार्थ के लिए नष्ट करने की चेष्टा की, पर सफल न हो सके। आज भी भारत के सब तरह के लोगों में अधिकांश लोग इसी चिकित्सा से लाभ उठाते हैं। बड़े बड़े शहरों में भी जब आधुनिक-पद्धति से रोग जटिल हो जाते हैं, तब अनेकों को इस आयुर्वेद-पद्धति से नवजीवन मिलता है। इसलिए जहां तक सिद्धान्त और नियम की कीमत और उपयोगिता का प्रश्न है, आयुर्वेद ने सृष्टि के आरम्भ से आज तक अपनी सत्यता—सही तरीके से कायम रखी है।

आयुर्वेद में ही जीवन-विज्ञान का सारा सत्य-निधि के रूप में भरा पड़ा है। आयुर्वेद ही पूर्ण विज्ञान है, अन्य सब तो आयुर्वेद के ही एक-एक विषय की शाखा लेकर पद्धति के रूप में फैले हैं। इसलिये स्वास्थ्य-मंत्रिणी महोदया से यही कहना है कि वे शीघ्रातिशीघ्र आयुर्वेद को सरकारी सम्मान, सहयोग संरक्षण, और विशेष सहायता प्रदान करें।

(१) चोपड़ा समिति के सुझाव के अनुसार शीघ्र ही कानून द्वारा भारतीय चिकित्सा-विज्ञानपरिषद् की स्थापना करें और अनुसन्धान परिषद् का निर्माण करें, जिनमें देशी चिकित्सा पद्धति के विद्वानों का बहुमत हो।

(२) सरकारी अस्पतालों में आयुर्वेदीय विभाग खोले जांय, उनमें अर्थ की पूरी सहायता दी जाय। चिकित्सा-फल प्रति वर्ष जनताके सामने रखा जाय।

(३) आयुर्वेदीय महाविद्यालयों में आधुनिक विज्ञान की तरह शिक्षा का पूरा प्रबन्ध हो।

(४) म्युनीसपैलिटी, डिस्ट्रीक्ट बोर्डों को यह आदेश रहे कि चोपड़ा समिति के सुझाव के अनुसार ग्राम-चिकित्सालय खोलें और उनमें वैद्यों को पूर्ण अधिकार दिये जावें।

(५) वैद्यों को डाक्टरों की तरह योग्यता के माध्यम में बराबर समझा जावे। यह छोटी-सी मांग देश के स्वास्थ्य हित के लिए प्रजातन्त्र के तरीकों से संख्या और योग्यता के आधार पर हमारी वर्तमान जनतन्त्र राष्ट्रीय-सरकार को शीघ्रातिशीघ्र पूरी करनी चाहिए। बड़ी-बड़ी संदिग्ध योजनाओं में तो आज इस गरीब देश का करोड़ों रुपये आधुनिक विज्ञान द्वारा खर्च होते रहते हैं, पर जहां वास्तविक जन-हित की मांग की जाती है, वहां टाल-मटोल और भ्रमात्मक बातों से तथा आयुर्वेदीय-पद्धति को नष्ट करने की योजनाओं को बढ़ावा दिया जाता है। यह हमारी जनताकी सरकारके लिये न तो शोभा देता है, न यह कर्त्तव्य है। कर्तव्य तो यह है कि आज की सरकार अधिकांश जनता द्वारा उपयोगिता में आने वाले आयुर्वेद विज्ञान को फिर से अपना गौरव प्राप्त कराने के लिए सब तरह से बढ़ावा दे, जिससे कि भारत का सम्मान सम्पूर्ण संसार में फैले और इस पूर्ण चिकित्सा विज्ञान के फैलने से इस ज्ञान द्वारा संसार रोगों से छुटकारा प्राप्त करने और स्वस्थ शरीर और मन से दीर्घ जीवी बनने की कल्पना में सफल हो। जिस तरह सम्पूर्ण संसार को आज भारत के आध्यात्मिक सन्देश की विशेष आवश्यकता हैं, उसी प्रकार चिकित्सा-क्षेत्र में आयुर्वेदीय ज्ञान के प्रचार की तो उससे भी अधिक जरूरत है।

विशिष्टजनों की सम्मतियां

भू० पू० केन्द्रिय उद्योग मंत्री डाक्टर श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने अखिल भारतवर्षीय-आयुर्वेदीय-कांग्रेस के ३७ वें वार्षिक अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए कहा "भारतीय जड़ी बूटियों तथा दवा-दारू के पौधों में ही कोष छिपा हुआ है। इनके अनुसन्धान से केवल भारत की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व की भलाई होगी। कोई भी सरकार आयुर्वेद को मान्यता देना अस्वीकार नहीं सकती। आयुर्वेदिक प्रणाली में पुनर्जीवन ला परम आवश्यक है, क्यों कि यह अभी भी ८० प्रति शत भारतीय जन ताकी सेवा करती है। इस प्रोत्साहित करने का दूसरा कारण यह है यह बहुत ही सस्ती है और भारतीय जनता के लि उपयुक्त है।"

वैद्य मार्तण्ड श्री यादवजी त्रिक्रमजी आचार्य निम्नलिखित महत्त्व पूर्ण भाषण गत १६ फरव को आयुर्वेद महामण्डल के सभापति की हैसि से दिया "देश के बिमारी-सम्बन्धी प्रश्न को ह करने के लिये आयुर्वेद को सरकारी मान्यता दे आवश्यक है। शारीरिक कमजोरी से युक्त-न के व्यक्ति, शान्ति काल या युद्ध के समय में कि भी हालत में देश-हित के लिए लाभदायक नहीं सकते हैं। विदेशी शासकों ने अपने स्वार्थों के का आयुर्वेद को पनपने नहीं दिया पर आज इस विज्ञ को सहानुभूति और सहयोग मिलने पर सिर्फ वर्षों में यह राष्ट्रीय-चिकित्सा के रूप में अप गौरवमय स्थान प्राप्त कर सकता है।"

गत १५ फरवरी को श्री के० एम० मुन ने द्वितीय अखिल भारत वर्षीय नेशनल मेडि कानफरेन्स के अवसर पर दिल्ली में कहा—

आज के समय की मांग है कि देशी चिकि पद्धति को सरकार मान्यता दे। क्या यह राष्ट्र के हि हितकर है, कि जिस चिकित्सा पद्धति के चिकि देश में अधिकाधिक संख्या में चिकित्सा करते उनकी पद्धति को सरकारी सम्मान से बंचित कि जाय? साधारण ऐलोपैथिक चिकित्सक, जो कि नगर या ग्राम में चिकित्सा-कार्य करता है, सम्बन्धी ज्ञान के विषय में कुछ नहीं जानता है, शल्यतन्त्र का भी ज्ञान बहुत कम होता है।

चालीसहजार आदमियों पर एक भी शिक्षित ऐलोपैथ देश में नहीं हैं। अधिकांश जनता की चिकित्सा वैद्य और हकीमों द्वारा ही होती है। उनका अनुभव परम्परा से पिता से पुत्र और गुरू से शिष्य को मिलता है।

चोपड़ा-समिति की रिपोर्टके अनुसार कार्य करने से देशी-चिकित्सा का माध्यम ऊँचा उठेगा, यह दुर्भाग्यकी बात है कि इन्डियन मेडिकल एसोसियेशनके ऐलोपैथिक चिकित्सकोंने इस रिपोर्ट के प्रति द्वेष प्रकट किया है। कोई भी चेष्टा चोपड़ा-समिति की रिपोर्टको रद्दीकी टोकरीमें फेंकनेकी राष्ट्रहित के विरुद्ध है और जनमत के खिलाफ तो है ही।

कैप्टेन जी० श्रीनिवास मूर्ति ने सभापतिको हैसियतसे कहा "सरकारको शीघ्रातिशीघ्र चोपड़ा समिति की रिपोर्ट को कार्य रूप में परिणत करना चाहिए, जिससे कि देशी चिकित्साकी उन्नति और रक्षा हो। राष्ट्रीय सरकार को ९० प्रतिशत जनता में चिकित्सा करने वाले देशी चिकित्सकोंके प्रति उचित सहानुभूति का रूख अख्तियार करना चाहिये।"

बिहार गवर्नर श्री अणे जीने ता० २३ फरवरी को बिहार प्रान्तीय आयुर्वेदिक छात्र सम्मेलनके उद्घाटनके अवसर पर कहा "सरकार ने अबतक आयुर्वेद की उपेक्षा की, किन्तु अब वह ऐसा नहीं कर सकतो। सरकार को चाहिये कि वह—आयुर्वेदिक पद्धति में सुधार करने तथा इसको अधिक से अधिक उन्नतिशील बनानेका प्रयत्न करे, क्योंकि इसका ह्रास देशके लिये सर्वथा अकल्याणकारक होगा। जो लोग आयुर्वेद के विरुद्धमें हठ धर्मी का युद्ध कर रहे हैं—अनाप-सनाप राय व्यक्त करते देखे जाते हैं। उनको चेतावनी देने का समय उनकी हरकत के विरुद्ध आ गया है।

अगर वे ठहर कर शान्ति से सारी हालत पर विचार करेंगे तो आयुर्वेद के प्रति अपना रूख अवश्य पलट लेंगे। सैकड़ों वर्षों से सरकार ने ऐलोपैथी को सरकारी संरक्षण सब तरह से दिया। फिरभी बिना सहयोग और सरकारी सहायता के देशी चिकित्सकों के विरोध और नष्ट करनेकी चेष्टाके बावजूद भी आयुर्वेद अपने स्थान पर डटा रहा। आयुर्वेदिक चिकित्सकों की संख्या सबसे अधिक है। देशके ३२ करोड़ लोग और बढ़ती हुई जन-आबादी के स्वास्थ्य का ख्याल करते हुए सरकार यदि केवल ऐलोपैथिक चिकित्सकों पर ही निर्भर सब तरह से करेगी तो देशकी चिकित्सा की आवश्कता पूरी नहीं कर सकती। क्या सरकार करोड़ों आदमियों के स्वास्थ्यके प्रति बेरूख रह सकती है? इसलिये यह हरएक व्यक्ति और सरकार का कर्त्तव्य होना चाहिये कि आयुर्वेद को सब तरहसे मान्यता दी जाय।

अनुसन्धान कार्य ठीक ढंगसे हो। चिकित्सा की प्रत्येक पद्धति वालोंको एक दूसरेसे मानव समाज की भलाईके लिए बहुत कुछ सीखना चाहिये। डाक्टर और वैद्य परस्पर सहयोगी बन सकते हैं।"

देशकी मांग

इसलिये आज हमारी राष्ट्रीय सरकार से आज देशकी जनता की यह मांग है, कि बिना किसी आनाकानी के देशके करोड़ों प्राणियोंकी स्वास्थ्य-रक्षा कायम रखने, देश के धन की बचत, और चिकित्सा क्षेत्र में फिर से भारत का गौरव संसार में उज्ज्वल करने के लिए यह उचित है, कि शीघ्रातिशीघ्र देशी चिकित्सा-पद्धतिको अधिक से अधिक सब तरह से बढ़ावा दिया जाय। आज यदि राष्ट्रीय सरकार और खासकर केन्द्रिय—स्वास्थ्य-विभाग इस तरफ ध्यान नहीं देती है, तो जनता इसके विरूद्ध कड़ीसे कड़ी आवाज उठाने के लिये हकदार है।

आशा है हमारी स्वास्थ्य-मंत्रिणी महोदया समय चूकने के पहले देशी चिकित्सा के प्रति उचित रूख अख्तियार करेंगी। चोपड़ा-समितिकी रिपोर्टके अनुसार आयुर्वेद को सर्वाङ्ग पूर्ण उन्नति के लिए शीघ्रातिशीघ्र कार्य करेंगी। जिससे कि जनता की भलाई के लिये उचित कदम शीघ्र उठा जा सके। देखना है कि आयुर्वेद के गौरवको जानने वाले और देशी-चिकित्सा के प्रेमी हमारे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसादजीकी अध्यक्षता में हमारी सार्वभौम जनतंत्र सरकार देशी चिकित्सा के लिये कितना कर्त्तव्य पालन करती है।

श्री श्यामादास वैद्य-शास्त्रपीठ के २९ वें स्थापना दिवस पर

आयुर्वेद के सेवकों का सम्मेलन

"यह सत्य नहीं है कि औसत भारतीय का आयुर्वेद में विश्वास नहीं रहा है। आयुर्वेद-शास्त्र शाश्वत है। प्राचीन काल के ऋषियों ने इसे जन्म देकर इसका विकास किया था। यह कभी मर नहीं सकता और न जनता का इस शास्त्र के प्रति सम्मान कम हो सकता है। कुछ अल्प-शिक्षित कविराजों के अज्ञान और उनके द्वारा उस शास्त्र के दुरुपयोग के कारण ही जनता की निष्ठा इस शास्त्र की ओर से कम हुई है।"

शनिवार; १५ अप्रैल, १९५० को कलकत्तेमें श्री श्यामादास वैद्यशास्त्रपीठ के २९ वें स्थापना-दिवस पर आयुर्वेद के सेवकों के एक विशाल सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए कलकत्ता विश्वविद्यालय के उप-कुलपति श्री चारुचन्द्र विश्वास ने उपरोक्त शब्द कहे।

पश्चिम बंग के माननीय श्री भूपति मजूमदार ने सम्मेलन का उद्घाटन किया और प० ब० के स्वास्थ्य-विभाग के डायरेक्टर डा० बी० सी० दासगुप्त प्रधान अतिथि के रूप में उपस्थित रहे।

श्री भूपति मजूमदार ने बताया कि किस प्रकार स्वर्गीय देशबन्धु चित्तरंजन दास ने आयुर्वेदीयपद्धति से चलने वाले एक चिकित्सालय एवं महाविद्यालय की आवश्यकता को अनुभव किया था और १९२१ में सुप्रसिद्ध कविराज श्री श्यामादास वैद्यवाचस्पति के सहयोग से वैद्यशास्त्रपीठ की स्थापना की थी। आपने कहा कि आयुर्वेद एक सुपरीक्षित शास्त्र होनेके कारण इसकी उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। "यह शास्त्र सत्य पर आधारित है और भले ही इसे कुछ विरोध का सामना करना पड़े, परन्तु इसका अस्तित्व लुप्त नहीं हो सकता।"

श्री मजूमदार ने (कलकत्ता) नगर के तीनों चिकित्सालय—संयुक्तमहाविद्यालयों—श्री श्यामादास वैद्यशास्त्रपीठ, अष्टांग आयुर्वेद महाविद्यालय और विश्वनाथ आयुर्वेद अस्पताल—के अधिकारियों से अपील की कि वे अपनी संस्थाओंका एकीकरण कर दें, ताकि उन्हें संयुक्त करके एक विशाल चिकित्सालय, महाविद्यालय और संशोधन-केन्द्र का संगठन किया जा सके। आपने अपना विश्वास प्रकट किया कि ऐसा एकीकरण हो जाने पर कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि सरकार संस्था के विकास में सहायता देने के लिये क्यों न अनुग्रह मानेगी।

आयुर्वेद की राजकीय फेकल्टी

आयुर्वेद की राजकीय फेकल्टी की कार्यवाहियों का अपना अनुभव प्रकट करते हुए श्री चारुचन्द्र विश्वास ने बताया कि जब से फेकल्टी अस्तित्व में आयी है, तब से उसे केवल एक बार बंगाल में लीग राज्य के समय में, १००० रुपये की सरकारी सहायता मिली है, और वह भी केवल सरकारी न्याय-निष्ठा को लाज रखने के लिए, क्यों कि यूनानी चिकित्सा की फेकल्टी को उस समय ४०:० रुपये सरकारी सहायता के रूप में दिये गये थे। आपने अपना यह मत प्रकट किया कि आयुर्वेद के समुचित विकास के लिए राजकीय सहायता अनिवार्य है।

'परन्तु विदेशी शासकों के द्वारा लगातार दिखायी गयी उपेक्षा के द्वारा पालित-पोषित एक जमाने से चलीआयी हुई द्वेष बुद्धि, मार्ग में बाधा के रूपमें खड़ी है। यद्यपि देश अब स्वतन्त्र है, परन्तु यह द्वेष बुद्धि अब भी जहाँ-तहाँ खड़ी है और इस बाधा को आयुर्वेद कें सेवकों को सम्मिलित प्रयास से चूर्ण विचूर्ण करना होगा।"

श्रीयुत विश्वास ने आगे कहा कि सरकार को यह अनुभव करा देना चहिए कि स्वतन्त्र भारत में आयुर्वेद को प्रगति करना उनका उत्तरदायित्व है और किसी भी तरह वे इस उत्तर दायित्व के वहन से बच नहीं सकते। फिर आप ने एक राजकीय आयुर्वेद महा विद्यालय, चिकित्सालय और संशोधन केन्द्र स्थापित करने के उद्देश्य से नगर की वर्तमान आयुर्वेदीय संस्थाओं के विलयन की अपनी योजना का उल्लेख किया, जो कि आप ने पश्चिमी बंगाल के स्वथ्यविभाग के तत्कालीन डायरेक्टर श्री ए. सी० चटर्जी के सम्मुख उपस्थित की थी, और इस के लिए खेद प्रकट किया कि सरकार के हाथ में अपने संस्था सौप देने के विषय में कुछ चिकित्सालयों के अधिकारियों की प्रवृत्ति अमान्य रही।

विश्वविद्यालय-कमेटी

श्री विश्वास ने सम्मेलन में घोषणा की कि आप ने आयुर्वेद के विषय में एक विश्वविद्यालय कमेटी नियुक्त की थी और आयुर्वेद-शास्त्र की एक विश्वविद्यालय-फेकल्टी बनाने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। आप ने वैद्यों से अपील की कि वे अपने मतभेदों को भुला कर आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन के लिए एक रूप शिक्षण क्रम बनावें। पुनः आप ने कहा कि जब तक नगर की तीनों वर्तमान संस्थाओंके अधिकारी तीनों को एक संस्था के रूप में संयुक्त करने के विषय में एक मत नहीं हो जाते, तब तक राजकीय सहानुभूति को जागृत करना दुष्कर होगा। यदि उन्हें भय हो कि सरकार के हाथों आयुर्वेद के वास्तविक लक्ष्यको हानि पहुँचेगी, तो आपने सुझाव दिया कि वे समुचित व्यवहार के लिए अपनी संस्थाएँ विश्वविद्यालय को सौंप सकते हैं, जब वह उन का संचालन अपने हाथ में लेने के लिए तैयार हो जाय।

प्रधान अतिथि का भाषण

पश्चिम बङ्ग के स्वास्थ्य-विभाग के डायरेक्टर श्री बी. सी० दासगुप्त ने, जो कि सम्मेलन में प्रधान अतिथि के रूप में उपस्थित थे, कहा कि व्यक्तिगत रूप से वे सम्मेलन को विश्वास दिलाते हैं कि पश्चिमी बंग के प्रधान मत्री-महोदय को आयुर्वेद के विकास से पूर्ण सहानुभूति है। आप ने कहा कि यदि वैद्यों में संगठन हो और वर्तमान आयुर्वेदीय संस्थाएँ एकीकरण के प्रस्ताव के साथ सामने आएँ-तो सरकारी सहायता तुरत मिलेगी।

कलकत्ता कार्पोरेशन के भूतपूर्व मेयर श्री जकरिया ने कहा कि, क्योंकि आयुर्वेदीय औषधं इस देश की भूमि में पैदा होने वाले द्रव्यों से बनती हैं, अतः वे यहाँ की जनता के शरीर-गठन के लिए सब से अधिक उपयुक्त हैं। यह कहते हुए आपने गौरव प्रकट किया कि आप की माता ने विदेशी औषधं ग्रहण करना कभी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनमें मद्य तथा अन्यान्य अपवित्र चीजें मिली रहती हैं।

श्रीमती राधारानी देवी ने अपने मधुर अनुभवों का वर्णन किया कि किस प्रकार सुप्रसिद्ध एलोपैथ और होमियो पैथ (डाक्टरों) के द्वारा असाध्य करार दिये जानेके बाद वे कविराज शिरोमणी श्री श्यामादास वैद्य वाचस्पति की आयुर्वेदीय चिकित्सा द्वारा पुराने यक्ष्मारोग से मुक्त हुईं।

महामहोपाध्याय श्री कालीपद तर्काचार्य ने अपने संस्कृत भाषण में आयुर्वेद की उपयोगिता दर्शायी और आयुर्वेद की उन्नति के लिए राजकीय सहायता और सार्वजनिक सहयोग की अपील की।

कविराज श्री विमलानन्द तर्क तीर्थ ने सम्मेलन के अध्यक्ष महोदय को उन के बहुमूल्य सुझावों के लिए धन्यवाद दिया और वैद्यशास्त्रपीठ के अधिकारियों की ओर से वचन दिया कि वे संस्था को प्रबन्ध के लिए सरकार या विश्वविद्यालय को सौंप देने के लिए सहमत हो जाएंगे, बशर्ते कि उन्हें यह विश्वास हो जाय कि आयुर्वेद की विशिष्टता अक्षुण्ण रहेगी। आप ने कहा कि आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र के आवश्यक अङ्गों का ज्ञान प्राप्त करने के विषय में यद्यपि आप को कोई विप्रतिपत्ति (आपत्ति) नहीं है, तथापि प्राचीन आयुर्वेद को तिलांजलि देने का विचार भी वे कल्पना में नहीं ला सकते।

जस्टिस ए० एन० सेन, श्री पुष्पितरंजन मुकर्जी, श्री प्रमोद सान्याल और कविराज अनाथनाथ राय के भी भाषण हुए।

कविराज रामकृष्ण शास्त्री ने 'वैद्यशास्त्रपीठ का संक्षिप्त इतिहास और उस के गत वर्ष के कार्य का विहगावलोकन पढ़ कर सुनाया। चिकित्सालय में ७५ शय्याएँ रहने का और गतवर्ष ७२६६ रु० का घाटा होने का आप ने उल्लेख किया। कार्पोरेशन की ओर से संस्था को २०,००० रु० की सहायता जारी है, जब कि सरकार ने चिकित्सालय के भवन की मरम्मत के लिए २०,००० की सहायता स्वीकार की है।

आयुर्वेद महापरिषद् के अध्यक्ष कविराज वीरेन्द्र चन्द्र मल्लिक ने परिषद् की ओर से चारुचन्द्र विश्वास का अभिनन्दन किया।

वैद्य शिव शर्मा आयुर्वेदाचार्य बी० ए० का आयुर्वेद प्रतियोगिता सम्मेलनमें अभिभाषण

हरिद्वार—हमें दास बनाने वाले चले गये हैं, पर दासताके कारण अभीतक हमारे देशमें विद्यमान हैं और हम बराबर मानसिक रोगोंके रूपमें ग्रस्त हो रहे हैं; इन महत्वपूर्ण शब्दों के साथ आयुर्वेद प्रतियोगिताके अध्यक्ष पदसे भाषण करते हुए आयुर्वेदाचार्य श्री शिव शर्माजीने आगे कहा' आपने ऋषिकुलसे अपना प्रगाढ़ संबंध बताते हुए बताया कि आज आयुर्वेद और अन्य प्रकारकी प्रगति में भारत किस प्रकार पिछड़ रहा है, श्री शिवशर्माजीने आजकी राजनैतिक पर प्रकाश डाला और कहा कि हमारे देशके अधिकांश देशभक्त, स्त्री-पुरुष बिलासिताके साधनों और गर्हित दिशा के अनुयायी हो रहे हैं, आपने अन्तर्राष्ट्रीयता की होड़की निन्दा करते हुए कहा कि देशमें धर्मनिरपेक्ष राज्य अच्छा हो सकता है, पर समान अधिकारके साथ समान राजभक्ति भी होनी चाहिये।

श्री शिव शर्माने भाषणजारी रखते हुए कहा कि जिनमें हमारी श्रद्धा थी वे विदेशियोंसे छले जा रहे हैं। और आजका शासन अत्यन्त निर्बल सिद्ध हुआ है। कीटाणुवादकी चर्चा करते हुए आपने उसे वाग्भट और चरकके द्वारा ईशाके कई शताब्दी पूर्व भारतमें आयुर्वेद द्वारा इस विषयके अनुसन्धान की बात बतायी।

आपने खेद प्रकट करते हुए कहा कि अमरीका और ब्रिटेनमें जिन औषधियोंका प्रचार बन्द किया जा रहा है, भारतमें कायरतासे उन्हें प्रचारित किया जा रहा है। प्रसंगमें बी० सी० जी० के टीकेके विषयमें अमेरीका और ब्रिटनमें २० वर्षोंके प्रयोगपर सफलता मिलनेका वर्णन करते हुए भारतको एशिया,

स्वीडन, नार्वे आदिके प्रयोगके आधारपर अनुसरण करनेकी आलोचना की। कई प्रसिद्ध अंग्रेज, अमरीकी डाक्टरोंके बी० सी० जी० की सफलताके संबंधमें उदाहरण दिये और अपने देशकी आर्थिक और राजनीतिक दोनोंको ही अमरीका और ब्रिटेनके अनुसरणपर चलानेकी चर्चा की।

आयुर्वेद के महत्त्व पर भाषण करते हुए आपने उसे सर्व प्रकार से उपयोगी और अन्य प्रचलित पद्धतियों के समावेश के योग्य बताया। आपने भोर, चोपड़ा आदि कमेटियों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अज्ञानता का परिचय कराते हुए अनेक विशेषज्ञों के संबंध में कहा कि आयुर्वेद न जानने से उनकी रिपोर्ट अपने देश और आयुर्वेद के अनुकूल थी। अन्तर्राष्ट्रीय चिकित्सक सम्मेलन के अध्यक्ष फिल्डेशिया के एक डाक्टर के शब्दों को भी इस अवसर पर आपने दोहराया कि कब्रें खोदने का काम आयुर्वेद कम कर सकता है।

आयुर्वेद प्रतियोगिता सम्मेलन की कार्यवाही ऋषिकुल विश्वविद्यालय के विशाल विविध प्रकार से सजाये हुए पन्डाल में आयुर्वेद प्रतियोगिता सम्मेलन मध्याह्न ३ बजे आरम्भ हुआ। आरम्भ में डा० रघुनन्दन मेहता ने स्वागत मंत्री पद से भाषण करते हुए आयुर्वेद प्रतियोगिता पर प्रकाश डाला और प्रतियोगिता के सभापति के सम्बन्ध में कहा कि ये आयुर्वेद के नेहरू और पटेल हैं। इसके बाद श्री कविराज रामलाल अग्रवाल ने स्वागताध्यक्ष पद से अभिभाषण करते हुए बताया कि हमारा देश स्वाधीन भले ही हो गया है पर हमारे स्वाधीन भारत के नेता अंग्रेजी परम्परा के आधार पर ही चल रहे हैं। इसलिए ये नेता आयुर्वेद के महत्व को स्वीकार करने में झिझते हैं। और शेष कुछ जो स्वीकार भी करते हैं वे उस में आवश्यक वैज्ञानिक अनुसन्धान चाहते हैं। कविराज रामलाल ने कहा कि एलोपैथी सरकारी प्रश्रय में पनप रही है। यदि उसपर से आज संरक्षण हटा लिया जाय तो वह ५ वर्ष में समाप्त हो सकती है। और आयुर्वेद का स्थान अच्छा हो सकता है।

वाद विवाद

आयुर्वेद प्रतियोगिता में राष्ट्रीय चिकित्सा के प्रश्न पर चार छात्रों ने भाग लिया, जिसमें सर्व श्री परमेश्वर चतुर्थ वर्ष ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज तथा श्री सोमदत्त ने परस्पर वादविवाद में क्रमशः आयुर्वेद और एलोपेथी के कार्य की चर्चा की। महाविद्यालय ज्वालापुर के छात्र श्री परमानन्द ने आयुर्वेद के पक्ष में और श्री प्रकाशचन्द्र त्यागी ने उसके विपक्ष में भाषण दिया।

प्रतियोगिता में एक चल उपहार तथा सर्वप्रथम विजेता श्री परमेश्वर को सुधानिधि संचालक जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल ने दो पुस्तकें प्रदान की तथा अन्य छात्रों को पदक प्रदान किये गये।

ऋषिकुल विश्वविद्यालय इस अवसर पर बड़ी शान के साथ सजाया गया था और यहां गांधीनगर का निर्माण किया गया थ। उसके साथ ही जवाहर प्रदर्शनी स्व० मदनमोहन मालवीय तथा नेताजी सुभाष चन्द्र बोस आदि के नाम पर द्वार भी बनाये गये थे।

उत्तर प्रदेश (यू० पी०)

उत्तर प्रदेश कुष्ठ कार्यकर्त्ता सम्मेलन

शनिवार, १५ अप्रैल, १९५० से फैजाबाद में उत्तरप्रदेश कुष्ठ कार्यकर्ता सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्य मन्त्री माननीय चन्द्रभानु गुप्त ने उद्घाटन भाषण में बताया कि उत्तर प्रदेश में पचासहजार संक्रामक कुष्ठरोगी हैं, जिनमें से दस हजार के लिए आपने कुष्ठचिकित्सालयों में रहना

आवश्यक बताया, परन्तु "उत्तर प्रदेश के वर्तमान पन्द्रह कुष्ठ-चिकित्सालयों में केवल १,१६४ रोगियों के लिए ही स्थान हैं"।

"यदि हम कुष्ठ-रोगियों की पृथक् बस्तियाँ बसाने की आधुनिक प्रवृत्ति भी ग्रहण करें, तो भी हमें राज्य में काफी शय्याएँ बढ़ानी पड़ेंगी।"

* * *

उत्तर प्रदेश के माननीय स्वास्थ्य मन्त्री से हमारा अनुरोध है कि कुष्ठ-रोगियों के लिए पृथक् निवास का प्रबन्ध तो वे सब से पहले करें ही, क्योंकि रोग को न फैलने देने के लिए यह पहला कदम है, साथ ही, भले ही एक सीमित क्षेत्र में, वे एक बार आयुर्वेद को भी कुष्ठ-चिकित्सा के लिए प्रयोग करके देखें।

* * *

उत्तर प्रदेश के कुष्ठ प्रतिरोधक कार्यों का उल्लेख करते हुए आरोग्य मन्त्री ने बताया कि एक कुष्ठ-अधिकारी हैं, जो राज्य के सभी कुष्ठ-चिकित्सालयों का निरीक्षण और उनमें सुधार के लिए प्रयत्न करते हैं। आपने बताया कि कुष्ठरोग जहाँ अत्यधिक फैला हुआ है, उन क्षेत्रों में कार्य करने के लिए दो चल—कुष्ठ-चिकित्सालय जारी करने का भी विचार हो रहा है।

* * *

आपने बताया कि कुष्ठ-रोगियों की पृथक् बस्तियों का विचार कुष्ठ-रोग विशेषज्ञों में अधिक प्रचलित होता जा रहा रहा है। जहां पर कि परस्पर सहयोग से वे अपनी हिफाजत करें। "लखनऊ का म्युनिस्पल बोर्ड इस प्रकार की एक बस्ती लखनऊ के पास में खोलने का विचार कर रहा है।"

* * *

श्री गुप्ता ने कहा कि कुष्ठरोग और भिक्षावृत्ति की समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। जब कुष्ठरोगियों के लिए उपयुक्त संस्थाएँ बन जाएँगी, तो वे तीर्थों में चिन्ताजनक जीवन बिताने की अपेक्षा उन संस्थाओं में जाना अधिक पसन्द करेंगे।

केन्द्रीय आयुर्वेद-संशोधन केन्द्र

पता चला है—कि अप्रल के तीसरे सप्ताह में भारत की स्वास्थ्य मंत्रिणी राजकुमारी अमृतकौर जब जामनगर जाएंगी, तो जामनगर आयुर्वेदिक कालेज में एक केन्द्रीय आयुर्वेद संशोधन केन्द्र खोलनेके प्रश्न पर भी वे विचार करेंगी।

जामनगर आयुर्वेदिक कालेज लगभग ६ वर्ष पूर्व स्थापित हुआ था। इसके लिये जामनगर के महाराजा और महारानी ने १० लाख रुपये का अनुदान दिया था। इसमें एक आधुनिक ढंग की प्रयोगशाला और पुस्तकालय है।

बम्बई

बम्बई सरकार आयुर्वेदिक फेकल्टी नियुक्त करेगी

११ अप्रैल को एसेम्बली में बम्बई के स्वास्थ्यमंत्री डा० गिल्डर ने बताया कि बम्बई सरकार शीघ्र ही आयुर्वेदीय और यूनानी चिकित्सापद्धतियों की एक फेकल्टी बनायेगी।

एक प्रश्नकर्ता को डा० गिल्डर ने बताया कि बम्बई सरकार एक आयुर्वेदीय कालेज चला रही है। ग्रामों में चिकित्सा-सहायता पहुंचाने के लिए सरकार चल संगठन भी चला रही है। आप ने कहा कि बम्बई प्रान्त में १०,६३३ रजिस्टर्ड वैद्य हैं।

श्रेणीभेद हटा

वैद्यसमाज को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि उत्तर-प्रदेश के देशी वैद्यक बोर्ड द्वारा अब तक वैद्यों के रजिस्ट्रेशन में जो 'ए' औ 'बी' श्रेणियों का भेद रहता था, वह अप्रल १९५० से हटा दिया गया है। अब केवल 'रजिस्टर्ड' लिखा जाया करेगा, श्रेणीभेद न रहेगा। रजिस्ट्रेशन-फीस १०) रहेगी।

कभर के दूसरे पृष्ठका शेष)
कूपीपक्व रसायन भी कम कीमत में देते हैं। भारतवर्ष भर में किसी भी कारखाने का ऐसा प्रबन्ध नहीं है कि भस्म और कूपीपक्व रसायन बनाने के लिए उन की ऐसी स्वतन्त्र रसायन शाला हो।

चिकित्सकों के लिए विशेषता

आयुर्वेदीय चिकित्सोपयोगी कल्पों में भस्मों की बहुत आवश्यकता होती है। लेकिन इनका निर्माण बहुत झंझट पूर्ण है। साधारण वैद्य के तो शक्ति से बाहर है। इस झंझट से वैद्यों को बचा कर और स्वयं बनाने में जितना खर्च होता है, प्रायः उसी खर्च में भस्मों को दे देने का उद्योग हम ने प्रारम्भ किया है। अब से ७ वर्ष पूर्व सन १९४३ में भी ऐसा उद्योग किया था, परन्तु युद्ध-जन्य कठिनाइयों के कारण वह सफल नहीं हुआ। मूल द्रव्य मिले नहीं, अतः जितनी मांग हुई, वह पूरी न हो सकी। फलस्वरूप भस्मोंकी बड़ी-बड़ी पैकिंग बन्द कर दी गयीं। इस वर्षसे उस कार्य का फिर से श्रीगणेश किया है। इसके पूर्ण नियम और मूल्य अलग से पत्र लिख कर मंगा सकते हैं। जो वैद्य बन्धु, 'सचित्र आयुर्वेद" के ग्राहक हैं, वे तो एक कार्ड लिख कर नमूना भी मुफ्त मँगा लें। बाकी जो वैद्य हमारे ग्राहक नहीं हैं, उनको रजिष्टर्ड पासल खर्च और पैकिंग खर्च के लिए ॥=) ग्यारह आनेके टिकट भेजने होंगे और यह भी सिद्ध करना होगा कि वे आयुर्वेदीय चिकित्सक हैं जिसके लिए प्रमाण देने होंगे।

व्यवस्थापक—श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड, कलकत्ता

आयुर्वेद और सरकार अंक

सर्वोत्तम आयुर्वेदीय पत्र

आज के आयुवद जगत् में जो पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं, उन में 'सचित्र आयुवद' सर्वोत्तम पत्र है। .... इसकी सजधज दर्शनीय एवं लेख पठनीय तथा मननीय हैं।··· ·.... 'आयुर्वेद और सरकार अङ्क' में अनेक विषय वैद्यसमाज के लिए बहुत ही अनुकरणीय हैं।

१४-३-५०

—कविराज प्रतापसिंह

डायरेक्टर-आयुर्वेद विभाग मद्रास-सरकार

ठोस सेवा

"सचित्र आयुवद" आयुर्वेद-जगत् की ठोस सेवा कर रहा है, इसके द्वारा इस पत्र ने अल्पकाल में ही अपने को सर्वप्रिय बना लिया है। 'आयुर्वेद और सरकार अंक' निकाल कर इसने इसका उत्तम दिग्दर्शन किया है कि आयुर्वेद के क्षेत्र में प्रगति किस प्रकार हो सकती है। इस के सम्पादक एवं अध्यक्ष धन्यवाद के पात्र हैं।"

—विश्वनाथ द्विवेदी

प्रिन्सिपल—ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत (उत्तर प्रदेश)

Reged. N. C 3147

सर्व प्रकार के बुखार में
मलेरिया, शीतज्वर, जूड़ी,
विषमज्वर, कम्पज्वर, फसली
इकतरा, पारीका बुखार

तिजारी, चौथिया
वरवट, ताप
तिल्ली इत्यादि



बैद्यनाथ

प्राणदा

मलेरिया व सर्व प्रकार के ज्वर के लिये
एकमात्र परीक्षित औषधि।



श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता : पटना : झांसी : नागपुर

Printer & Publisher--Pandit Ram Narayan sharma Vaidya, 1, Gupta Lane, Cal Printed at the Janabani Press



सचित्र आयुर्वेद

ी बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

क ल क त्ता

आयुर्वेद की उन्नति के लिए

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

के

बहुमुखी प्रयास

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० (कलकत्ता) के सचित्र आयुर्वेद का "आयुर्वेद और सरकार" विशेषाङ्क देखकर प्रसन्नता हुई। इस विशेषाङ्क में आयुर्वेद विज्ञान और सरकार के बीच सम्बन्ध, पारस्परिक सहयोग और प्रोत्साहन की अनिवार्य आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए आयुर्वेद विज्ञान की महत्ता, उपयोगिता, सुलभता आदि विभिन्न अङ्गों की विवेचना भिन्न-भिन्न लेखों द्वारा की गई है। मानव-शरीर के लिये भारत के इस प्राचीनतम आयुर्वेद विज्ञान की विदेशी राज्य-काल में आर्थिक खींचा-तानी और राजनैतिक कारणों को लेकर जैसी उपेक्षा हुई है और इस महान् विज्ञान को नष्ट करने के लिये प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जैसे प्रयत्न किये गये उन सभी तत्वों की अलग-अलग विवेचना करते हुए आंग्ल राजनैतिक आवरणों को उद्घाटित किया गया है।

स्वतन्त्र भारत में आयुर्वेद विज्ञान को राज्याश्रय एवं राजकीय चिकित्सा-पद्धति के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता और एतद्विषयक भिन्न-भिन्न विषयों को लेकर आयुर्वेद की उपयुक्तता, योग्यता और क्षमता को सिद्ध किया गया है। इस विशेषाङ्क के द्वारा भारतीय हितों में चिकित्सा विषयक परम आवश्यकता की पूर्त्ति के उपायों को व्यक्त करने का सफल प्रयास किया गया है।

"श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" आयुर्वेद विज्ञान के गौरव को बनाए रखने के निमित्त एक ओर तो रोगनाशक और स्वास्थ्यगुणदायक श्रेष्ठतम औषधियों का निर्माण कर रहा है और दूसरी ओर आयुर्वेद-विषयक साहित्यिक विवेचना और गवेषणापूर्ण लेखों से सत्य और वास्तविकता को प्रकाश में ला, जनता की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति कर रहा है, जिसके लिए वह बधाई का पात्र है।

"आयुर्वेद और सरकार" विशेषांक पठनीय और सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रशंसनीय और सफल प्रयास है।

रायगढ़

वैद्यराज श्याम सुन्दर शर्मा

आवेदन-पत्र (नवीन ग्राहक)

—:o:—

श्रीयुत व्यवस्थापकजी, 'सचित्र आयुर्वेद'
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
नं० १, गुप्ता लेन (जोड़ासाँकू),
पो० ब० ६८३५, कलकत्ता ।

प्रिय महोदय,

मैं 'सचित्र अयुर्वेद' के तीसरे वर्षका ग्राहक बनना चाहता हूं। इसके वार्षिक मूल्यके लिए चार रुपये मनिआर्डरसे भेज रहा हूं। आप नीचे लिखे पतेपर रजि० डाक / वी० पी० * से 'सचित्र आयुर्वेद' भेज देनेकी कृपा करें।

हस्ताक्षर—

श्री..(पूरा पता)

मुकाम..

पो०..

जि०..

* मनिआर्डर द्वारा पेशगी न भेजकर वी० पी० से 'सचित्र आयुर्वेद' मंगानेपर ।≈) डाकखर्च अधिक लग जायगा। यदि मनिआर्डरसे मंगाएँ तो 'वी० पी०' को काट दें और यदि वी० पी० से मंगाएँ तो 'रजि० डाक' शब्दको काट दें।

आवेदन-पत्र (पुराने ग्राहक)

—:o:—

श्रीयुत व्यवस्थापकजी, 'सचित्र आयुर्वेद',
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
नं० १, गुप्ता लेन (जोड़ासाँकू)
पो०ब० ६८३५, कलकत्ता ।

प्रिय महोदय,

मैं 'सचित्र आयुर्वेद' के तीसरे वर्षका ग्राहक बनना चाहता हूं। इसके वार्षिक मूल्यके लिए चार रुपये मनिआर्डरसे भेज रहा हूं। आप नीचे लिखे पतेपर रजि० डाक / वी० पी० * से 'सचित्र आयुर्वेद' भेज देनेकी कृपा करें। मेरा गत वर्षका ग्राहक नम्बर..........है।

हस्ताक्षर—

श्री..(पूरा पता)

मुकाम..

पो०..

जि०..

* मनिआर्डर द्वारा पेशगी न भेजकर वी० पी० से 'सचित्र आयुर्वेद' मंगानेपर ।≈) डाकखर्च अधिक लग जायगा। यदि मनिआर्डरसे मंगाएँ तो 'वी० पी०' को काट दें और यदि वी० पी० से मंगाएँ तो 'रजि० डाक' शब्दको काट दें।

BOOK POST.

)॥। पैसेका
टिकट लगाइए

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
पोष्ट बौक्स नं० ६८३५
कलकत्ता।

BOOK POST.

)॥। पैसेका
टिकट लगाइए

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
पोष्ट बौक्स नं० ६८३५
कलकत्ता।

सचित्र आयुर्वेद

निर्देशक
संदिग्धवनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद-महामहोपाध्याय, रसायनशास्त्री
श्री पं० भागीरथ स्वामी, *आयुर्वेदाचार्य, भिषक्-चूड़ामणि*

प्रधान सम्पादक
पं० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री

सहायक सम्पादक
पं० सभाकान्त झा, *आयुर्वेदशास्त्री*

वार्षिक मूल्य ४) साधारण अंक एक प्रति ।=)
यकृत्-अङ्क १) आयुर्वेद और सरकारअङ्क २)

प्राप्ति-स्थान
भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

की

४ निर्माण-शालाएँ
४६ बिक्री-केन्द्र
और १४००० एजेन्सियाँ

Publications Ltd. 36, Barabo...

पुराने तथा नवीन ग्राहकों से निवेदन

फाइल पूरी कर लें

"सचित्र आयुर्वेद" के द्वितीय वर्ष का यह अन्तिम अंक आपके हाथ में है। अब तक प्रतिमाह नियमित रूप से सब अंक आपकी सेवा में भेजे गये हैं। फिर भी यदि कोई अंक आपके पास न हो, तो फाइल पूरी करने के लिए आप वह अंक शीघ्र ही मँगा लें। पहला और चौथा अंक समाप्त हो चुका है, अतः उनके अतिरिक्त ही अंक हम भेज सकेंगे।

चन्दा भिजवाएं

यदि आप ने अभी तक अपना तीसरे वर्ष का चन्दा नहीं भेजा है, तो अब विलम्ब न करके शीघ्र भेजें और अपने मित्र-बन्धुओं को भी "सचित्र आयुर्वेद" के ग्राहक बनने के लिए प्रेरित करें तथा उनसे वार्षिक चन्दा ४) मनीआर्डर द्वारा भिजवाएँ। प्रति पाँच ग्राहक बनाने पर एक वर्ष तक "सचित्र आयुर्वेद" आपकी सेवा में निःशुल्क भेजा जायगा।

विशेषांक आधी कीमत में

नवीन ग्राहक अपने वार्षिक चन्दे के साथ १।।) और भेजकर दूसरे वर्ष के दोनों विशेषांक ('आयुर्वेद और सरकार अंक" तथा यकृत् अंक) प्राप्त कर सकते हैं। इन दोनों विशेषांकों का मूल्य ३) है, परन्तु नवीन ग्राहकों के लिए यह रियायत है।

१० अंक तीन रुपये में

सचित्र आयुर्वेद के द्वितीय वर्ष के प्रथम और चतुर्थ अंक बिक चुके हैं। शेष १० अङ्कों की फाइल ३) तीन रुपये में आप प्राप्त कर सकते हैं, जिसमें "आयुर्वेद और सरकार अङ्क" तथा "यकृत अङ्क" ये दो विशेषांक भी सम्मिलित हैं।

सम्मति और सुझाव

सचित्र आयुर्वेद के विषय में आपकी सम्मति तथा उसमें सुधार करने के विषय में आप के सुझाव जानने के लिए हम उत्सुक हैं। आपकी सम्मति और सुझाव का हम स्वागत करेंगे और उनसे लाभ उठाएंगे। अतएव अपने अमूल्य समय में से कुछ क्षण निकाल कर अवश्य ही अपनी सम्मति तथा सुझाव हमें भेजने की कृपा करें।

यदि असमर्थता हो

यदि किसी भी कारणवश आप "सचित्र आयुर्वेद" के ग्राहक तृतीय वर्ष में बने रहने में असमर्थ हों, तो कृपया इसकी सूचना एक कार्ड द्वारा हमें अवश्य भेज दें, ताकि हम आपके पास वी० पी० न भेजें। पुराना सम्बन्ध होने के नाते और भविष्य में पुनः सम्बन्ध स्थापित होने की आशा से इतना कष्ट हमारे लिए कृपया अवश्य स्वीकार करें। वैसे ग्राहक न रहने पर भी आप के साथ हमारा सम्बन्ध आयुर्वेद-प्रेमियों के नाते रहेगा ही।

व्यवस्थापक—

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा ता० २६-५-१९५० को प्रकाशित सूचनानुसार

मौसमी रिआयत संवत् २००७

हम अपने एजेंटोंको वर्षके प्रारम्भमें वर्षारम्भका कमीशन दिया करते हैं जिसे मौसमी रिआयत कहते हैं। यह कमीशन उन्हीं एजेण्टोंको मिलता है जो मौसमी रिआयतके लिये निश्चित समयके भीतर अपना आर्डर भेजकर दवाओंका पार्सल मँगाते हैं। जो निश्चित समयके भीतर आर्डर नहीं भेजते उनको यह कमीशन नहीं मिल पाता है। हमारी हार्दिक इच्छा रहती है कि इस लाभ से हमारा एक भी एजेण्ट वंचित न रहे। ऐसे बहुत कम एजेण्ट हैं जो लगातार दो मासतक अपना एक भी आर्डर न भेजें। इसीलिये हम रिआयतका समय दो मासका देते हैं। अब यह खुद एजेण्टोंके हाथकी बात है कि वह इस सुयोगको न छोड़ें और अपना आर्डर भेजकर यह लाभ प्राप्त करें। किसी कारणवश किसी एजेण्टकी एजेन्सी कैन्सिल हो गयी हो, उनके लिये फिरसे अपनी एजेन्सी चालू कराने का यह सबसे अच्छा मौका है।

इस मौसमी रियायतके अवसरपर एजेण्टोंको कार्यालयकी ओरसे कुछ न कुछ उपहार भी भेंट किया जाता है। उपहारमें हम ऐसी ही चीज देना चाहते हैं जो एजेण्टोंके कामकी हो। इस सालके उपहारके लिये कार्यालयकी ओरसे प्रकाशित "आयुर्वेद सार-संग्रह" नामका १०४० पृष्ठोंका सर्वसाधारणोपयोगी ग्रंथ देनेका निश्चय किया गया है। इस पुस्तकका मूल्य ६) है। हमारे प्रत्येक एजेण्टके पास इस पुस्तकका होना बहुत आवश्यक है। इस पुस्तकके अध्ययनसे हमारे एजेण्टोंका आयुर्वेद विषयक ज्ञान बढ़ेगा जिससे उन्हें आर्थिक लाभ तो होगा ही, साथ ही यशकी प्राप्ति भी होगी।

मौसमी रिआयतके समय कमसे कम २५०) की दवा मंगानेवाले एजेण्टको यह पुस्तक उपहार-स्वरूप बिल्कुल मुफ्त भेजी जायगी। २५०) से कमकी दवा मंगानेवाले एजेण्टको इसकी आधी कीमत अर्थात् ३) देनेपर यह पुस्तक मिल सकेगी। २५०) से कमकी दवा मंगाने वाले जिस एजेण्टको ३) देना स्वीकार नहीं हो, उन्हें अपने आर्डरवाले पत्रमें स्पष्ट लिख देना चाहिये कि हमें ३) देना स्वीकार नहीं है, अतः पुस्तक नहीं भेजी जावे।

यह रिआयत सिर्फ मौसमी रियाअतके समयके भीतर रिआयती पार्सल मंगानेवालोंके लिये ही है। किसी कारणवश कोई एजेण्ट मौसमी रिआयतके समय पार्सल न मंगा सकें और उनको यह पुस्तक नहीं मिल सके, वैसी हालतमें बादमें मुफ्त या आधी कीमत में किसी भी हालतमें नहीं मिल सकेगी।

सं० २००७ की मौसमी रियायत पानेके नियम नीचे लिखे अनुसार हैं—

१—यह रिआयत १ जूनसे ३१ जुलाई १९५० तक लागू रहेगी। ३१ जुलाईके बाद आनेवाले आर्डरोंपर रिआयत नहीं मिलेगी।

२—बोतलोंकी पैकिंगवाले सुगन्धित तैल, शर्बत, अर्क तथा थैलोंपर मौसमी रिआयत नहीं मिलेगी। जो एजेण्ट मौसमी रिआयतके पार्सलके साथ इन चीजोंमेंसे भी कोई चीज मंगाना चाहें, वह मंगा सकते हैं; परन्तु जितने रुपयोंकी यह चीजें होंगी, उतने रुपयों पर मौसमकी रिआयतका कमीशन नहीं मिलेगा।

३—मौसमी रिआयतके आर्डरमें कमसे कम १० प्रतिशत रस-भस्मका आर्डर होना आवश्यक है।

४—एजेण्टोंको उनकी श्रेणीके अनुसार कमसे कम ५०) और अधिकसे अधिक ४००) तककी दवाओंपर मौसमी रिआयत मिलेगी। अर्थात् ५०) से कमका आर्डर आनेपर कुछ भी रिआयत नहीं मिलेगी और ४००) से अधिककी दवा मंगानेपर भी ४००) की ही रिआयत मिलेगी।

५—एजेण्टोंको अपनी श्रेणीके अनुसार अधिक-से-अधिक दूसरे पृष्ठपर लिखे मुताबिक रुपयोंकी दवा मौसमी रिआयत के कमीशनके साथ मंगानेका अधिकार है :—

	पुराने एजेण्टको	नया एजेण्ट बननेवालेको
साधारण एजेण्टको	७५)	५०)
कार्यकर्त्ता एजेण्टको	१५०)	७५)
मान्य एजेण्टको	२५०)	१२५)
सम्मान्य एजेण्टको	३००)	१५०)
चीफ एजेण्टको	३५०)	१७५)
सोल एजेण्टको	४००)	२००)

अर्थात् मौसमी रिआयतके समय कोई सोल एजेण्ट ४००) से अधिकका आर्डर भेजेंगे तो भी सिर्फ ४००) पर ही मौसमी रिआयत के कमीशनमें ५०) की दवा भेजी जायगी। ४००) से अधिक जो होगा, उसके कमीशनमें दवा नहीं मिलेगी। यदि उनका आर्डर ४००) रुपये से कमका ही हुआ, तो जितनेका उनका आर्डर होगा, उतने रुपयों पर ही रिआयत मिलेगा। इसी तरह सभी श्रेणीके एजेण्टोंके लिये समझना चाहिये।

६—इस सालकी रिआयत यह है—जो एजेण्ट (अपनी श्रेणी के भीतर) जितने रुपयोंकी दवा मंगायेंगे, उतने रुपयोंपर प्रति रुपया दो आनेके हिसाबसे कमीशन मिलेगा। उस कमीशनके रुपयोंमें एजेण्टगण अपने इच्छानुसार कोई भी दवा मंगा सकते हैं। नकद कमीशन नहीं मिलेगा। पहले यह प्रतिबन्ध था कि रिआयती कमीशनमें दो-तीन किस्मकी खास-खास दवा ही दी जाती थी। अब वह प्रतिबन्ध उठा दिया गया है, एजेण्टगण हमारे यहां की बनी हुई कोई भी दवा मंगा सकते हैं।

उदाहरण—किसी सोल एजेण्ट ने मौसमी रिआयत में ४००) की दवाएँ मंगायीं तो उनको कमीशन में दो आना प्रति रुपयाके हिसाबसे ५०) की दवा मिलेगी। इस ५०) में एजेण्टगण अपने इच्छानुसार कोई भी एक किस्मकी या मिलाकर दो-चार किस्मकी दवा मंगा सकते हैं।

७—एक एजेण्टको एक ही बार रिआयत मिलेगी। अतएव अपनी श्रेणीके अनुसार अधिकसे अधिक जितने रुपयोंकी दवा मंगानी हों एक ही बारमें मंगा लेनी चाहिये।

८—एजेंटोंको अपने आर्डरके नीचे साफ-साफ लिख देना चाहिये कि हमारा इतने रुपयोंका आर्डर है, इसके कमीशनमें इतने रुपयोंकी अमुक-अमुक दवा भेजिये। ऐसा लिखा नहीं रहनेसे कार्यालय के कार्यकर्त्तागण कोई भी दवा अपने इच्छानुसार भेज देंगे।

९—पिछले साल अर्थात् सं० २००६ में किसी एजेण्टने मौसमी रिआयतके पार्सलके बाद दूसरा कोई पार्सल नहीं मंगाया हो, तो उनको इस साल मौसमी रिआयत नहीं मिलेगी।

१०—इन नियमोंमें जरा भी हेर-फेर नहीं होगा। अतः इसके विरुद्ध कुछ भी लिखा-पढ़ी करना बिल्कुल व्यर्थ होगा।

ता० २६—५–१९५०

मैनेजिंग डाइरेक्टर्स,
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड,
कलकत्ता, पटना, झांसी, नागपुर।

आवश्यक सूचना

१—हमारे एजेन्सी नियमके पृष्ठ ६१ पर दवा टूटने फूटने या घटनेकी शिकायतके नियम नं० १ में लिखा गया है कि टूट फूटका कमीशन १॥-) सैकड़ाकी दरसे सालके अन्तमें मिला करेगा और सालाना कमीशन की तरह यह भी पूरे सौ रुपयों पर मिलेगा। एजेण्टों के लाभ का ख्याल करके इस नियम में यह संशोधन किया गया है कि सालभर की इन्तजारी न करके टूट फूटका कमीशन १॥-) सैकड़ा की दर से हाथ का हाथ प्रत्येक बीजक में बाद कर दिया जाया करेगा। यह नियम ता० १·६-५० से लागू होगा। इसके पहले सं० २००७ में जिसको जितना माल गया रहेगा उतने का टूट-फूटका कमीशन जोड़कर अगले बीजक में बाद कर दिया जायगा।

२—हमारे यहाँ से पार्सल बहुत सावधानी से अपने काम में पूर्ण दक्ष पैकरों के द्वारा बिल्कुल नये बक्स में पैक कराकर भेजा जाता है। उसपर भी और अधिक मजबूती के लिये प्रत्येक बक्सके चारों तरफ चार तार मशीनसे कसवा दिये जाते हैं। पहले प्रत्येक बक्सपर दो तार ही लगाये जाते थे, फिर तीन तार लगाये जाने लगे और अब (ओ० टी० आर० में जानेवाले) प्रत्येक बक्स पर चार तार लगाये जाते हैं। एजेण्टों के पास सुरक्षित रूपमें माल पहुंचाने के लिये इससे अधिक और उपाय हम क्या कर सकते हैं? इतने पर भी कभी कभी ओ० टी० रेलवे के अन्तर्गत रहनेवाले एजेण्टों की एकाध शिकायत आ ही जाती है। इसलिये एजेण्टों से, खासकर ओ० टी० रेलवे के अन्तर्गत रहनेवालों से; हमारा अनुरोध है कि स्टेशन से पार्सल छुड़ाते समय वह पूरी सावधानी से काम लें। प्रत्येक बक्स को अच्छी तरह देख लिया करें। कोई बक्स टूटा-फूटा होने पर या पैकिंग ठीक मालूम होने पर भी अपेक्षाकृत हलका मालूम होने पर बीजक से मिलाकर उसकी ओपेन डिलेवरी लें। हमारे यहाँ से भेजे जानेवाले प्रत्येक बक्स में पैकिंग स्लिप दिया हुआ रहता है जिसमें लिखा रहता है, कि इस बक्स में कौन कौन दवा है और कितनी है। इस प्रकार जहांतक सम्भव है एजेण्टों के पास बीजकके मुताबिक सभी माल सुरक्षित रूपसे पहुंचे, इसके लिये हम पूरा प्रयत्न करते हैं। हमारी हार्दिक इच्छा रहती है कि ऊपर लिखे नियमके अनुसार टूट-फूट आदि का जो कमीशन १॥-) सैकड़ाके हिसाबसे दिया जाता है, वह पूराका पूरा हमारे एजेण्टोंको लाभके रूपमें प्राप्त हो। परन्तु हमारी इतनी सावधानी और कोशिशोंके बावजूद भी संयोगवश रास्तेकी गड़बड़ीसे और एजेण्टोंके पार्सल छुड़ाते समय पूरा ध्यान न देनेके कारण कोई माल कम मिले या टूटा-फूटा मिले, उसके लिये कार्यालय जिम्मेवार नहीं होगा। अपने यहाँसे सुरक्षित रूपसे पार्सल भेज कर बिल्टी भेज देनेके बाद कार्यालयकी जिम्मेवारी समाप्त हो जाती है।

ता० २९-५-५०

व्यवस्थापक,
श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०।

Publications Ltd. 36, Bara...

विषय-सूची

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड,



* श्री धन्वन्तरये नमः *

सचित्र आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष २ | कलकत्ता, जून, १९५० | अङ्क १२

आयुर्वेद की महानता निर्विवाद है

हम जानते हैं कि ब्रिटिशों द्वारा विजित होने के बाद हम अन्धप्रवृत्ति से प्रत्येक भारतीय वस्तु को निकृष्ट समझने लगे और सदसद्विवेक को तिलांजलि देकर योरोपीय विचारों और पद्धतियों को ग्रहण करने लगे। हमारी कला, हमारे संगीत, हमारी संस्कृति के लिए सर्वनाश का भय उपस्थित हो गया। योरोपीय वस्तुओं की इस तृष्णा से आयुर्वेद को हानि पहुँची। प्रसन्नता की बात है कि कुछ ऐसे दृढ़व्रती थे, जिन्होंने भारतीय संस्कृति को विनाश से बचाया। इस शताब्दी के आरम्भ से हमारी संस्कृति की सभी शाखाओं में नवजागरण हुआ और उन्नति की इस लहर के समय में हमें ध्यान रखना है कि यह प्राचीन और समृद्ध चिकित्सा-पद्धति (आयुर्वेद) आगे कदम बढ़ाये।

"मैं ने आयुर्वेदीय पद्धति से बहुत लाभ उठाया है और मुझे विश्वास हो गया है कि इसमें कुछ ऐसी चिकित्सा-पद्धति और औषधें हैं जो अन्य पद्धतियों के हार बैठने पर भी रोगों की चिकित्सा कर देती हैं। अतएव अन्य किसी भी प्रकार के संशोधन के समान ही आयुर्वेदीय संशोधन और संवर्धन को भी सरकारी प्रोत्साहन और सहायता मिलनी चाहिए। हमारी देशी पद्धति में यह सुविधा है कि इसकी औषधें स्वदेश में ही प्राप्य और अपेक्षाकृत स्वल्प मूल्य वाली हैं। इसके संशोधन की दिशा और रूपरेखा क्या होनी चाहिए, इस विषय में इस शास्त्र से अनभिज्ञ होने के कारण मैं कुछ नहीं कह सकता; मैं समझता हूँ, विभिन्न पद्धतियों के चिकित्सकों की एक परिषद् में विचार-विनिमय के बाद इसका निर्णय करना चाहिए। इन परामर्शों में हमें मिथ्या स्वार्थ, सम्मान या पूर्वकल्पित धारणाओं को स्थान नहीं देना चाहिए। इस परिषद् के सब सदस्य सच्ची शास्त्रीय भावना से और खुले हृदय से सब विषयों पर विचार करें और मुझे विश्वास है कि इससे व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण चिकित्साशास्त्र लाभान्वित होगा। कौन जानता है, भारत को यह गौरव मिले कि वह विश्व को रोगचिकित्सा की एक नवीन पद्धति दे, जो अब तक अस्तित्व में आयी हुई सब पद्धतियों से श्रेष्ठ सिद्ध हो?"

श्री श्यामादास वैद्यशास्त्रपीठ में दिये हुए भाषण का एक अंश } —माननीय श्री जस्टिस ए० एन० सेन

भारत की वैद्यक-शिक्षा

भारतीय पार्लमेंट के स्पीकर श्री ग० व० मावलंकर ने दिल्ली प्रान्तीय मेडिकल स्नातक संघ के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए ये उद्गार प्रकट किये कि "भारत में वैद्यक-शिक्षा की पद्धति असन्तोष जनक है।"

आगे श्री मावलंकर ने कहा—"डाक्टर लोगों ने आजकल कुछ डिग्रियाँ प्राप्त कर लीं और उस से केवल द्रव्यलाभ किया, और भी डिग्रियाँ लेने के लिये जो डाक्टर विदेश गये, वे भी अधिक पैसा कमाने के उद्देश्य से ही।"

आयुर्वेद का दृष्टिकोण अधिक शास्त्रीय

माननीय स्पीकर ने आयुर्वेद के शास्त्रीय दृष्टिकोण पर बोलते हुए कहा कि "आयुर्वेद का दृष्टिकोण पाश्चात्य वैद्यक की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय और परिपूर्ण है, 'आयुर्वेद' शब्द-प्रयोग से भी यह सुस्पष्ट है।

"आयुर्वेद केवल जड़ पंचमहाभूतों का विचार न कर के शरीर, मन और आत्मा का एकत्र विचार करता है।"

"पहले आयुर्वेद की शिक्षा, विद्यार्थी गुरु के पास रात-दिन रह कर लेते थे और गुरु द्वारा सिखाये हुए विषयों के सम्बन्धमें शंका-समाधान करनेके लिये तथा प्रश्न करने के लिये उन्हें प्रोत्साहित किया जाता था। शिक्षा की यही पद्धति मुझे ज्यादा पसन्द है। आयुर्वेद की यह शिक्षा कम खर्च में ही दी जाती थी और भारतीय जीवन-पद्धति और तत्त्वज्ञान का अनुसरण करते हुए वह होती थी।"

महात्मा गाँधी के एक वचन का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि "हमें अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपनी विद्या, जो भी भारतीय हों, उन का अनुसरण अवश्य करना चाहिए, अन्यथा इस स्वराज्य से बिलकुल थोड़ा लाभ ही रह जाता है। जो नयी शोधें हुई हैं, उन का लाभ आयुर्वेद को अवश्य उठाना चाहिए। केवल उसे अपना स्वत्व (Substance) नहीं छोड़ना चाहिए।"

वैद्यवर्ग का उत्तरदायित्व

भारतीय पार्लमेंट के डिप्टी स्पीकर श्री अनन्त शयनम् एयंगर ने कहा—'भारत के सभी वैद्यकीय महाविद्यालयों में आयुर्वेद तथा एलोपैथी का अध्ययन अनिवार्य कर देना चाहिए। भारत में ही नहीं, बल्कि संसार भर में आयुर्वेद को एक प्रमाणभूत वैद्यक-पद्धति की मान्यता प्राप्त करा देने का उत्तरदायित्व आज के वैद्यक वर्ग पर है।"

सरकार का कर्त्तव्य

प्रोफेसर इन्द्र ने कहा—"यदि सरकारी मदद न होती, तो एलोपैथी को वह प्रतिष्ठा न प्राप्त होती, जो आज उसे प्राप्त है। आयुर्वेद की दुःस्थिति के लिये वैद्यों को दोष देना युक्त नहीं होगा। सरकारी सहायता के बिना, केवल एलोपैथिक प्रैक्टिशनर्स द्वारा चलाया गया एक भी मेडिकल कालेज आज भारत में नहीं है। आयुर्वेद के उत्कर्ष के लिए सहायता देना सरकार का कर्त्तव्य है। सरकार को आयुर्वेद का अभ्युत्थान करना चाहिए।"

Publications Ltd. 36, Bara...

ये दो वर्ष



भगवान् धन्वन्तरि की असीम अनुकम्पा से और गुरुजनों के आशीर्वाद से 'सचित्र आयुर्वेद' अब दो वर्ष का हुआ। इन दो वर्षों में आयुर्वेद-जगत् में कितने ही परिवर्तन हो गये और वैद्य-समाज ने एक करवट ली है, जिससे हमारी राष्ट्रीय सरकार की नींद भी कुछ टूटी है और वह आयुर्वेद तथा वैद्य-समाज के उत्थान में कुछ दिलचस्पी लेने लगी है। हमारे राष्ट्र के कर्णधार अब समय-समय पर आयुर्वेद के विषय में अपने जो विचार व्यक्त करते हैं, उनसे विदित होता है कि आयुर्वेद-विषयक भ्रान्त धारणाओं से मुक्त होकर अब वे कुछ प्रकाश में आ रहे हैं और आयुर्वेद की महत्ता को समझ रहे हैं। इन सब लक्षणों से विश्वास होता है कि निकट भविष्य में ही आयुर्वेद को न केवल भारत में ही, अपितु विश्व में भी अपना प्राचीन आसन मिलने वाला है। जैसा कि भारतीय पार्लमेंट के डिप्टी स्पीकर श्री एयंगर ने वैद्यों को उद्बोधित किया है, "हमें इसका व्रत लेना चाहिए कि हम आयुर्वेद को वह प्राचीन गौरव प्राप्त करायें।"

अपने ग्राहकों, अनुग्राहकों, कृपालु लेखकों, स्नेही विद्वानों एवं स्वास्थ्य-अधिकारियों के आशीर्वाद और सहयोग से "सचित्र आयुर्वेद" इन दो वर्षों में अपने लक्ष्य की ओर जितना कुछ भी अग्रसर हो सका है, उसका श्रेय इन सहयोगियों को ही है। जिस महान् व्रत को लेकर "सचित्र आयुर्वेद" ने आयुर्वेद-जगत् में पदार्पण किया था, उसका अनुष्ठान इन सहयोगियों के सत्परामर्श, सहयोग और सद्भावना के बिना कदापि सम्भव नहीं है, यह हम निःसंकोच भाव से स्वीकार करते हैं और हमें पूर्ण विश्वास है कि आयुर्वेद-जगत् और जनता का यह सहयोग और भी अधिक विशाल रूप में और बढ़ते वेग से हमें मिलता रहेगा।

दूसरे वर्ष में नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के अध्यक्ष आयुर्वेदमार्तण्ड आचार्य यादवजी त्रीकमजी महाराज, नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ के अध्यक्ष चिकित्सक-चूड़ामणि पण्डित मणिरामजी शर्मा, कविराज प्रतापसिंहजी, डायरेक्टर आयुर्वेद विभाग, राजस्थान, श्री ओच्छवाल नाथुर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत के वाइसप्रिंसिपल वैद्य रणजितराय तथा अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय के प्रिंसिपल वैद्य रामरक्षजी पाठक के सत्परामर्शों एवं लेखों का हमें विशेष लाभ मिला। आयुर्वेदपंचानन पं० गंगाधर शास्त्री गुणे, कविराज अत्रिदेव गुप्त, वैद्य श्री रामशिरोमणि द्विवेदी, वैद्य महेन्द्रकुमार शास्त्री, वैद्य श्री बापालाल भाई, श्री मंगलदासजी स्वामी तथा आयुर्वेदपंचानन पं० जगन्नाथप्रसादजी शुक्ल का सहयोग प्रथम वर्ष की भाँति ही इस वर्ष भी रहा, जिसके लिए हम तथा वैद्य-समाज उनके कृतज्ञ हैं। द्वितीय वर्ष के नवीन सहयोगियों में डा० ए० बी० केतकर, M. B.B.S.,

पं० विश्वनाथ द्विवेदी वैद्यशास्त्राचार्य, वैद्यविशारद नटराजशास्त्री, क० पुरुषोत्तमदेव मुलतानी, श्री रमेश वेदी आयुर्वेदालंकार, पं० सोमदेव शर्मा सारस्वत, वैद्य अशोककुमार आयुर्वेदालंकार, कविराज सुखराम प्रसाद आयुर्वेदाचार्य, वैद्य दामोदर शर्मा गौड़, आयुर्वेदाचार्य, A. M. S., श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी, M. S. C., आयुर्वेदाचार्य, डिप्टी डायरेक्टर, आयुर्वेद-विभाग-उत्तरप्रदेश, आयुर्वेदाचार्य श्री डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर, बिहार के सूचना विभाग के डिप्टी डायरेक्टर श्री उमानाथ एम० ए०, साहित्यालंकार, श्री के० एम० वाकणकर, आयुर्वेदाचार्य, चोपड़ा कमेटी के सदस्य हकीम श्री नासिरुद्दीन अहमद खान देहलवी, कविराज अनाथनाथ राय, श्री भानु देसाई, डायरेक्टर-उद्यान विभाग-बम्बई, कविराज हरिवक्ष जोशी, काव्यसांख्यस्मृतितीर्थ, वैद्य दुर्गादत्तजी शास्त्री, भू० पू० सभापति नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ, प्रो० लालजीराम शुक्ल, वैद्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए० एम० एस०, वैद्य पु० वि० धामणकर, तथा वैद्य श्री बाबूराम शर्मा द्विवेदी, सदस्य आयुर्वेद-यूनानी मेडिसिन बोर्ड विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी विद्वानों के तथा अन्य अपने सभी सहयोगियों के हम हृदय से कृतज्ञ हैं।

"आयुर्वेद और सरकार अंक" के लिए जिन राष्ट्रीय नेताओं, अधिकारियों तथा विद्वानों ने अपने सन्देश और सम्मतियाँ देकर आयुर्वेद का गौरव बढ़ाया, उनके भी हम आभारी हैं।

"सचित्र आयुर्वेद" के सभी आदरणीय लेखकों ने इसे सजाने-सँवारने और उपयोगी बनाने में जो परिश्रम किया है, उसके लिए हम उन्हें पुनः हृदय से धन्यवाद देते हैं।

अपने लेखकों के अतिरिक्त अन्यान्य आयुर्वेदीय विद्वानों, आयुर्वेद-प्रेमी महानुभावों, वैद्य-सम्मेलनों एवं विभिन्न प्रान्तों एवं केन्द्र के आरोग्य-विभाग ने सचित्र आयुर्वेद को सफल बनाने में हमें जो सहयोग दिया है, उसके लिए हम उन्हें हृदय से धन्यवाद देते हैं।

हमें आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि हमारे सभी सहयोगी हमें अगले (तीसरे) वर्ष में भी इसी प्रकार, अपितु और भी अधिक सहयोग देते रहेंगे और इस सहयोग के बल पर "सचित्र आयुर्वेद" उत्तरोत्तर आयुर्वेद की अधिकाधिक सेवा कर सकेगा।

प्रतिकार-शक्ति बढ़ाने के अमूल्य उपाय

मद्रास के हिन्दी वैद्यक के सरकारी महाविद्यालय में किये गये ग्राम वैद्य विद्यार्थी संघ की सभा में निखिल भारतीय आयुर्वेदिक कांग्रेस के संघटन मंत्री डा० ए० लक्ष्मीपति का भाषण हुआ। महाविद्यालय के प्रमुख डा० एम० परांकुशम् अध्यक्ष के पद पर थे। डा० परांकुशम् ने कहा, "डा० लक्ष्मीपति ग्राम वैद्य योजना के मूल उत्पादक हैं और उन के सतत प्रयत्न से ही वह योजना आज अमल में आयी है।"

डा० लक्ष्मीपति ने कहा, "आयुर्वेद एक बड़ा शास्त्र है। आयुर्वेद में सब आधुनिक शास्त्रीय शोध समा लेने की शक्ति है। परन्तु ग्राम वैद्यों को आधुनिक वैद्यक की शोध सिखलाने के पहले हमें स्वयं उन्नत आयुर्वेदीय ज्ञान को पूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए।" आयुर्वेद की महानता समझाने के लिए उन्हों ने कुछ उदाहरण बतलाए। "मनुष्य केवल शरीर नहीं, अपितु शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का अविभाज्य संयोग है।

'शरीरेन्द्रिय सत्वात्मसंयोग आयुः।'

पूर्व मानव का विचार

"सभी हिन्दू ऐसा मानते हैं कि शरीर नष्ट हो जाता है। आत्मा नष्ट नहीं होती वह अनन्त

है। इन्द्रिय और मन भी शरीर और आत्मा को जोड़ने के साधन हैं। आत्मा का शरीर से सम्पर्क हुआ कि वेदना और दुःख उत्पन्न हुए। हमें पूर्व मानव का विचार करना सीखना चाहिए। धोखे के समय पर धैर्य देना, मृत्यु का भय और सब प्रकार की वेदनायें होते हुए भी रोगी को अच्छा लगे, ऐसा करना वैद्य का कर्तव्य है।

"जिसकी ईश्वर पर श्रद्धा है, और जिसे वैद्यक की उचित शिक्षा मिली है, वह अच्छा वैद्य वेदनाहरण का काम परिणामकारक रीति से कर सकता है। भौतिकवादी डाक्टर यह नहीं कर सकते। आत्मा अमर है और मृत्यु पुराने कपड़े उतार कर नये बदलने के समान है। यह स्पष्ट कल्पना रोगी के मन पर प्रतिबिम्बित कर देनी चाहिए। अत्यन्त संकट के समय भी हम धर्म से कार्य करते हैं; ऐसा रोगी के हृदय में आ गया तो सब दुःख और मृत्यु के भय भी एक दम नाश हो जाते हैं। यह मनःस्थिति स्थिर करने के लिये ईश्वर पर श्रद्धा होना आवश्यक है। प्रार्थना से यह मनः स्थिति उत्पन्न होती है।

धैर्य से प्रतिकार शक्ति बढ़ती है

"हमारे बचपन में हमारे गांव में कालरा का उपद्रव जोरों पर था। हमें यह श्लोक सिखलाया गया था।

> आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
> लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

हमें इस श्लोक का अर्थ मालूम न था। परन्तु यह श्लोक बार-बार बोलने से सब आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, इतना हमें मालूम था। अब यह भली प्रकार सिद्ध हो गया है कि कुछ सांसर्गिक रोगों में धैर्य से प्रतिकार-शक्ति उत्पन्न होती है। परम्परा से चली आई अपनी शिक्षा पद्धति के मानसोपचार के इस भाग पर का आयुर्वेदीय वैद्यों को अपना विश्वास खोने की आवश्यकता नहीं। 'रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीता राम॥ ईश्वर अल्ला तेरे नाम। सब को सन्मति दे भगवान॥' आपत्ति के प्रसंग में जनता में धैर्य उत्पन्न करने वाले आधुनिक उपचार के समान, वैद्यों को गान्धी जी की इस जागतिक प्रार्थना का उपयोग करना चाहिए।

नैसर्गिक अन्न का उपयोग कीजिये

"शिशु का पालन-पोषण करते समय माँ का दूध न हो, तो लोगों को कृत्रिम अन्न की ओर नहीं दौड़ना चाहिए। जहाँ तक हो सके उन्हें अपनी पहचानी प्रसूत-धात्री लाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि बच्चों को मानसिक और शारीरिक विशेष गुण देने के लिए शक्ति मानव के दूध में ही है, जानवर में नहीं। ऐसा हम मानते हैं। माँ या धात्री क्रोध करे या प्रसन्न रहे, तो उस भावना का परिणाम बच्चे की भूख और पाचन शक्ति पर होता है। यह बात सब बालसंगोपन केन्द्रों द्वारा मान्य है। योग्य प्रसूति दाई न मिलने पर बकरी का दूध देवें ऐसा आयुर्वेद कहता है। गाय के दूध का नम्बर उस के बाद आता है। हिन्दुस्तान में ये कृत्रिम बालान्न पहले थे; पर उन के स्थान बिल्कुल अन्तिम हैं।

"मेरे व्यवसाय में बालकों को बकरी का दूध दिया जाता था, इतना ही नहीं, रोगी के घर एक बकरी भेज दी जाती थी। एक-दो माह में कृत्रिम अन्न खरीदने में जो धन व्यय होता है, उतने में एक बकरी खरीदी जा सकती है। अपनी आरोग्य-दायी आचार-पद्धति फिर से आरंभ करने के लिए गांवों में जनता पर प्रभाव रखने वाले आप जैसे वैद्यों की मदद की आवश्यकता है। इससे "अधिक अन्न उपजाओ" इस महत्त्वपूर्ण योजना को भी सहायता मिलेगी।"

अपने व्याख्यान के अंत में डा० लक्ष्मीपति ने

वैद्यों को त्यागमय परन्तु कर्तव्य-निष्ठ जीवन व्यतीत करने का उपदेश किया। "अज्ञान, दारिद्र्य और दुःख के विरुद्ध युद्ध करने के लिए अर्जुन की तरह ('उत्तिष्ठ परंतप') उन्हें सज्जित होना चाहिए। अपने देश और मानवता के सम्बन्ध और अपने कर्तव्य को पूरा करने से अधिक बड़ा कोई आनन्द नहीं" आप ने कहा।

× × × ×

मिल्क पाउडर

बम्बई विधान सभा के अधिवेशन में श्री एस० एल० करन्दीकर ने राशनिङ्ग विभाग के मंत्री से मिल्कपाउडर के विषय में कुछ प्रश्न किये थे। प्रश्नोत्तर निम्नोक्त प्रकार से है।

प्रश्न—१९४६-४७ से १९४९-५० तक सरकार ने विदेशों से कितना मिल्क पाउडर मँगाया ?

उत्तर १९४६-४७ से १९४९-५० (३० सितम्बर) तक विदेशों से ९०७८ टन सिल्क पाउडर मँगाया गया।

प्रश्न—उस में से कितना बिका और कितना दूध में मिलाया गया ?

उत्तर—१९४६-४७ से १९४९-५० (३० सितम्बर) तक ७५८० टन मिल्क पाउडर बिका और ३८९४ टन पाउडर दूध में मिलाया गया।

प्रश्न—सरकार को इस व्यवसाय में कितना लाभ हुआ ?

उत्तर—सरकार को गत चार वर्षों में इस व्यापार में ९० लाख ८७ हजार रुपयों का लाभ हुआ।

× × × ×

वृद्ध और निर्बल व्यक्तियों को औषधीय उपयोग के लिए मद्य के अधिकार पत्र

वृद्ध और निर्बल लोगों को औषधीय उपयोग के लिए मद्य के अधिकारपत्र देने के लिए बम्बई सरकार ने ऐसा आदेश दिया है, कि ऐसे अधिकार-पत्रों के लिए अर्जी देने वाले व्यक्ति ६८ वर्ष के हों किन्तु उन्हें वैद्यकीय परीक्षा के लिए सरकारी स्वास्थ्य-अधिकारियों के सामने स्वयं उपस्थित रहना होगा। यदि वे स्वयं उपस्थित रहने में शारीरिक दृष्टि से अशक्त हों, तो "वे उपस्थित रहने में अशक्त हैं" इस आशय का प्रमाण पत्र अपने फेमिली-चिकित्सक द्वारा देने पर उन के निवास-स्थान पर ही उन की वैद्यकीय परीक्षा की जायगी। प्रार्थियों के घर जाकर परीक्षा करने के विषय में प्रत्येक व्यक्ति से १०) रुपये फीस लेने का अधिकार सरकारी स्वास्थ्य-अधिकारियों को दिया गया है।

+ + + +

आयुर्वेदिक फैकल्टी का चुनाव

आयुर्वेदीय महाविद्यालयों के वर्तमन अध्यापक मतदाताओं की ओर से किये गये चुनाव में निम्नलिखित उम्मीदवार यशस्वी हुए हैं। वै० बलवंत शर्मा दीक्षित (जामनगर), वै० गोविन्द राव फड़के (सातारा), व० नारायण राव जोशी (पूना)।

आयुर्वेद महाविद्यालय प्रमुखों की ओर से वैद्यराज बापालाल भाई (सूरत) और वै० भा० वि० उर्फ मामा गोखले (पूना) पहले से ही चुन लिए गये हैं। इस फैकल्टी में देशी वैद्यक बोर्ड से २ प्रतिनिधि चुने जायेंगे।

इस के अतिरिक्त बम्बई सरकार को ओर से ६ सभासदों की और एक अध्यक्ष की भी नियुक्ति होने वाली है। इस प्रकार १४ सभासदों की फैकल्टी (आयुर्वेद शिक्षण विभाग) तैयार होने वाली है।

× × × ×

कुष्ठरोगियों का संसर्ग

बम्बई विधान सभा की बैठक में आ० श्री आर० एन. मंडलिक ने आरोग्य मंत्री माननीय डा० एम० डी० डी० गिल्डर से कुछ कुष्ठरोग विषयक प्रश्न किये। प्रश्नोत्तर निम्न प्रकार से हैं—

प्रश्न—कुष्ठरोगियों का रास्ते में एवं सार्वजनिक स्थानों में लोगों से संसर्ग न हो, इस विषय में उन्हें अलग रखने के लिए क्या सरकार ने कोई उपयोजना की है ?

उत्तर—कुष्ठ रोग का उपसर्ग पाये हुए रोगियों पर जनता से सम्पर्क न रखने का प्रतिबन्ध है। इस प्रकार नियमानुसार उन पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये गये हैं।—कुष्ठरोगी को खाने के पदार्थ, पेय, औषधें, कपड़े आदि न तैयार करने चाहिये और न बेचने चाहिए। सार्वजनिक तालाब आदि से उन्हें पानी न लेना चाहिए और वहाँ न नहाना चाहिए, न कपड़े धोने चाहिए। सवारी नहीं हाँकनी चाहिए और उस की व्यवस्था भी न करनी चाहिए। उन्हें व्यापार-धन्धा या नौकरी नहीं करनी चाहिए।

प्रश्न—कुष्ठरोगी घर के और विशेष परिचित लोगों में मिल न जाय, इस विषय में सरकार के क्या प्रतिबन्ध हैं ?

उत्तर-संसर्ग टालने के लिए भिखारी कुष्ठरोगियों पर सरकार ऐसा प्रतिबन्ध कर सकती है कि वे कुष्ठ रोगियों के लिए निर्मित निवासगृहों में रहें। अन्य कुष्ठ रोगियों पर प्रतिबन्ध लगाने का सरकार को अधिकार नहीं है।

प्रश्न—टेंभुरणी (जिला सोलापुर) के एक धनी जमीन्दार भयंकर कुष्ठरोग से पीड़ित हैं। उन का ३०-४० मील तक के गांवों के लोगों से सम्बन्ध पड़ता है, इस बात का सरकार को पता है क्या ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—टेंभुरणी के जमींदार कुष्ठरोगी हैं, यह सरकार को यदि मालूम हो, तो जनता को संसर्ग न पहुँचे, इस विषय में सरकार को शीघ्र उपयोजना करनी चाहिए।

उत्तर—सरकार को इस विषय में कोई सूचना नहीं, अतएव सरकार कुछ भी नहीं कर सकती।

\+ × ×

कुष्ठसेवी कार्यकर्त्ताओं से

कुष्ठ रोग का अत्यधिक भय सर्वत्र फैल हुआ है। भय सर्वदा अज्ञान के परिणाम स्वरूप होता है; यह सिद्धान्त है। अतएव इस सम्बन्ध में निम्नलिखित जानकारी लोगों को देनी चाहिए कि:—

(१) खुजली, गजकर्ण की तरह यह रोग स्पर्शजन्य नहीं है। हस्तान्दोलन करने, रोगी के हाथ से कागज अथवा अन्य पदार्थ लेने देने से इसमें बाधा नहीं होती।

(२) रोगी के कपड़े, बिछौने, ओढ़ने, खाने के बर्तन अलग रहें, तो रोगबाधा होने की सम्भावना नहीं रहती।

(३) छोटे बच्चों पर रोगी के नाक आदि में से निकलने वाले सूक्ष्म जन्तुओं का परिणाम होता है। अतएव बच्चों को कभी भी शरीर अथवा कंधे पर खेलने न देना चाहिए और रात को रोगी के पास सोने न देना चाहिए।

(४) यह रोग संसर्गजन्य है। परन्तु क्षय रोग की भाँति शीघ्र इसके संसर्ग से बाधा नहीं होती। दीर्घकाल तक एक बिस्तर पर सोने आदि की तरह निकट संसर्ग होता रहेगा, तो बाधा होने की अधिक संभावना है। अतएव उपरिलिखित के अनुसार कपड़े, बर्तन आदि स्वतन्त्र होने चाहिए। ऐसा किया जाय, तो फिर भय का कोई कारण नहीं।

बड़े बड़े सुप्रसिद्ध शास्त्रज्ञों ने और उसी प्रकार ३०-३४, ४०-४० वर्षों तक घोर-परिश्रम करके अनुभव प्राप्त किए हुए चिकित्सकों ने अपने ग्रंथों में जो लिखा है, उसका यह अत्यन्त संक्षेप में सार है। योग्य सावधानी, रखी गयी, तो फिर निर्भय रहें।

स्पर्श तथा संसर्ग में अन्तर

कुष्ठ रोग (महारोग), खुजली की तरह स्पर्शजन्य नहीं है। संसर्ग-जन्य है। 'संसर्ग और

स्पर्श' में अन्तर क्या है, यह जानना आवश्यक है।

स्पर्श :—हाथ से हाथ, शरीर से शरीर लगना, रोगी की वस्तुएँ उठाना, धोना आदि।

ऐसे स्पर्श होनेपर जो रोग स्पर्श करनेवाले को होता है, वह स्पर्शजन्य है। खुजली, गजकर्ण आदि रोग स्पर्शजन्य श्रेणी में आते हैं।

संसर्ग :—रोगी के निकट सहवास से, पास रहने से होनेवाला रोग संसर्गजन्य कहा जायेगा। क्षय अर्थात टी० बी० और कुष्ठरोग संसर्गजन्य हैं।

नाक में से प्रवाही पदार्थ में से निकलने वाले जन्तु अन्यों के नाक में चले गये या रोगी के व्रण से बहनेवाले जन्तु दूसरों के घावों के छिद्रों द्वारा अन्दर गये तो यह रोग होने की निश्चित् सम्भावना रहती है।

यह अन्तर एक बार भलीभाँति समझ में आ जाय कि किस प्रमाण में हमें कैसे सँभल कर रहना चाहिए। यह सुगमता से मालूम हो जायेगा।

—श्री वी. बि. दास्ताने,
भुसावल कुष्ठरोग-निवारण प्रचाराधिकारी,
(बंबई प्रान्त)

* * *

कुष्ठ निवारण के लिए चालमूगरा तैल

हिन्द कुष्ठनिवारण संघ की मद्रास शाखा के अवैतनिक मंत्री श्री टी० एन० जगदीशन अपने २५ अप्रैल के पत्र में मद्रास के दैनिक "हिन्दू" में लिखते हैं:—

यह सच है कि कुष्ठ का प्रसार अमेरिका और भारत में समान रूप से है, परन्तु दोनों देशों में कुष्ठ के रूप में इतने महत्त्व का भेद है कि दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। भारत में कुष्ठ के ८० प्रतिशत रोगी असंक्रामक, हलके कुष्ठ से पीड़ित होते हैं। अमेरिका में कुष्ठ शुरू से ही दुस्साध्य रूप धारण करता है और प्रायः ८० प्रतिशत केस संक्रामक होते हैं।

न्यूयार्क के स्वास्थ्य विभाग की जनसम्पर्क शा की Mis Beulah Gutenstein के "हिन् में प्रकाशित एक लेख पर टिप्पणी करते हुए श्री ज दीशन ने कहा है कि चालमूगरे के तेल का उपयो कुष्ठ की चिकित्सा में नगण्य नहीं है। भारत कुष्ठ से आक्रान्त ६० प्रतिशत रोगियों के लि यह उपकारक है।

* * *

आयुर्वेदीय चिकित्सकों का अभाव

बम्बई विधान सभा की बैठक में श्री बी० निकटे (बड़ौदा) ने आरोग्य-मंत्री से आयुर्वेद वि यक कुछ प्रश्न पूछे थे। प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

प्रश्न – क्या यह बात सच है कि अपने प्रान्त आयुर्वेदीय चिकित्सकों की कमी है ?

उत्तर – अपने प्रान्त में कुल १०६३३ वैद्य औ ११५८ हकीम रजिस्टर्ड हुए हैं।

प्रश्न—यदि वैद्यों की कमी है, तो उसे पूरा कर के लिए सरकार क्या कर रही है ? यह काम विद्य पीठ को सौंप कर एलौपैथ डाक्टरों के समान लोगों का दर्जा बढ़ाये, क्या ऐसी व्यवस्था सरक कर सकती है ?

उत्तर —१६३८ के नियम में आयुर्वेद त यूनानी वैद्यों के शिक्षण क्रम, दर्जे (स्थान) औ परीक्षाओं के विषय में सरकार ने निश्चय किया और तज्ज्ञ वैद्यों की योग्यता भी एलोपैथ डाक्टरों समान मानी गयी है।

प्रश्न—क्या सरकार ने कभी ऐसा विचार कि है कि अपने बम्बई प्रान्त में एक व्यवस्थित आ र्वेदिक कालेज हो ?

उत्तर—सरकार ऐसा एक आयुर्वेदिक काले चला रही है। उस कालेज का नाम आर० ए० पो मेडिकल कालेज (आयुर्वेदिक) बम्बई, है।

जब मौतने हथियार रख दिये थे

वैद्य रणजीत राय आयुर्वेदालंकार

२० अगस्त १८९७ की घटना है। अपनी एकान्त कोठरी में बैठा हुआ इस युग का एक महान् विजेता अपनी सफलता के उल्लास में, इसी प्रसंग पर निर्मित एक गीत की कड़ियों से इस भवनको पूर्ण कर रहा था। वह गीत था—

उस प्रभुके उदार शासनकी गुण-गाथा का गान करो।
सहज सौम्य उसकी अनुकम्पा का फिर उरमें ध्यान धरो।
कर उन्मुक्त द्वार करुणाके, जिसने मेरे कर-तल पर।
लो-देखो, रक्खी है अनुपम आज एक वस्तु लाकर।
उसकी कृतियों के रहस्य की खोजों के आयासों का।
विषम वेदना जन्य अश्रुओं और दीर्घ उच्छ्वासों का।
आया अन्त, अन्तको पाया कोटि-कोटि जन हत्यारी—
मौत! कुटिल तेरे बीजों का पता और उनकी क्या री।
अब देखूँ—दिखला री, ला री अरी मौत! अपनी दाढ़ें!
पहले-सी पुरुषों के प्राणों को अबके तो वे बाढ़ें।
तेरा दर्प चूर करने को बार-बार करता है जी।
यह लघु कृति असंख्य मनुजों का त्राण करेगी निश्चय ही॥

विजेता का नाम था रोनाल्ड रौस, और विजित शत्रु था-यमराज का अग्रदूत एक रोगराज-मलेरिया।

केवल अति परिचय के कारण मलेरिया को क्षुद्र रोग समझना बड़ी भूल होगी। इतिहास साक्षी है कि यह रोग मानव जाति के विकास के मार्ग में कई शताब्दियों तक दुर्भेद्य-चट्टान बनकर खड़ा रहा। यूनान और रोम के विशाल साम्राज्यों के क्षय का प्रधान कारण मलेरिया था। इसी शताब्दी की कुछ घटनाएँ लीजिए। गत ३०-४० वर्षों का सबसे बड़ा भौगोलिक परिवर्तन पनामा की नहर है। एक अरब साढ़े बारह करोड़ रुपये खर्च करके इसके विधाताओं ने वस्तुतः प्रकृति पर अपूर्व विजय पाया है, परन्तु इस अवदान (गौरव पूर्ण कार्य) का प्रारम्भिक इतिहास बहुत विषादमय है। नहर की नींव सन् १८८८ में पड़ी थी। १९२० में इसका उद्घाटन हुआ। नहर के बनने में ३२ वर्षों की इस सुदीर्घ-अवधि का कारण, साधनों की अल्पता न था। इसका एकमात्र कारण था—उस प्रदेश में मलेरिया का प्रकोप। इसे खोदने का ठेका शुरू में एक फ्रेंच कम्पनी ने लिया था, परन्तु नहर के छोटे-बड़े कर्मचारी मलेरिया और पीतज्वरी[1] के शिकार हो गये। मङ्गलाचरण में ही सहस्रों-मनुष्यों की बलि हो गयी और कम्पनी को दिवाला निकालना पड़ा। रौस के इस आविष्कार का कि, मलेरिया का उत्पादक एक कृमि[2] है, जो एक विशेष मच्छर के शरीर में पलता है, फल यह हुआ कि मेजर वॉल्टर रीड ने रौस के मार्ग का अनुसरण करते हुए पता लगाया कि पीतज्वर भी इसी प्रकार एक कृमि और मच्छर के सहकार से फैलता है। जो काम निरन्तर असफलताओं के कारण अबतक रुका हुआ था, सहसा लम्बे डग भरने लगा। विलियम गार-गेस ने उक्त दोनों डाक्टरों की शिष्यता में रहकर मलेरिया और पीतज्वर की उत्पत्ति, प्रसार और विनाश के साधनों को पूर्णतया जाना। उसी के नेतृत्व में नहर के कार्य को दुवारा प्रगति और अन्त में सफलता मिली। मच्छरों के विरुद्ध किये गये विकट युद्ध की कल्पना निम्न अंकों से कीजिये—

1—Yellow fever—एलोफीवर।
2—Parasite—पैरेसाइट।

१--एक करोड़ बीस लाख वर्ग-गज के एक जङ्गल के झाड़-झंखाड़ निकाले गये।

२—दस लाख वर्ग गज की नर्म भूमि में जल का प्रवाह जारी किया गया।

३—तीन करोड़ वर्ग गज प्रदेश का घासफूस काटा गया।

४—तीन करोड़ फुट खाइयों की मरम्मत की गयी।

५—तालावों और जोहड़ों के मच्छरों के नाशार्थ तीन लाख मिट्टी के तेल के पीपे खाली किये गये।

६—तीन लाख पौण्ड कुनाइन बाँटी गयी।

७—घरों से मच्छर हटाने के लिए एक करोड़ दस लाख घन फुट स्थान में धूनी की गयी।

पनामाके साढे चार सौ वर्ग मील को सत्रह भागों में विभक्तकर प्रत्येक विभाग इस विषय के विशेषज्ञों को सौंपा गया था। तात्पर्य, सारे प्रदेश में एक भी कोना ऐसा न रहने दिया गया, जहाँ मच्छर की भिन भिनाहट सुन पड़े। इस महान् उद्योग में अब कोई अन्तराय न था। नहर खुल गयी और अब वह स्थान, जहाँ पहले मृत्यु झाँकियाँ लेती थीं, एक रम्य स्वास्थ्यप्रद-स्थान माना जाता है। इसके अनुसार पीछे से अन्य भी अनेक उपनिवेश आबाद किये गये।

युद्ध के समय गोला-बारूद उतना जन-संहार नहीं करते जितना एक मलेरिया से होता है। प्रथम महायुद्ध में बालकन राज्यों की मृत्यु संख्या से यह सिद्ध है।

शान्ति के दिनों में यह रोग समाज को घुन की तरह खाता रहता और उसके अभ्युदय में बाधा डालता है। हैजा, प्लेग आदि जब उभरते हैं। तब एक ही झपट में अपनी बलि लेकर रौद्र रूप दिखाकर शान्त हो जाते हैं। इसके विपरीत मलेरिया का आक्रमण हलका, परन्तु अधिक स्थायी और घातक होता है। प्लेग आदि के समान इस रोग से मृत्यु का उतना भय नहीं। परन्तु इसके एक ही आक्रमण के पीछे रोगी इतना क्षीण हो जाता है कि देर तक जीवन में रस नहीं ले सकता। बार-बार आक्रमण से जैसा कि बारहो मास मलेरिया -ग्रस्त प्रदेशों में होता है, रोगी की जीवनी-शक्ति का ह्रास होकर वह अल्पायु हो जाता है।

भारत में, विशेषतः बङ्गाल में, यह रोग वर्ष-भर घर किये रहता है। भारत में केवल मलेरिया के कारण प्रति वर्ष दस लाख से ऊपर मृत्यु होती है। इस रोग से बंगाल की कितनी क्षति हो रही है, इसका विचार कवि-सार्वभौम के निम्न शब्दों से कीजिए। रूस की चमत्कारिणी प्रगति का वर्णन करते हुए स्वदेश के विषय में वे लिखते हैं—'मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि बहुत कुछ शारीरिक बलपर ही अवलम्बित है। मलेरिया से जर्जर-अपरिपुष्ट शरीर को लेकर पूरे वेग से काम करना अशक्य है। यहाँ इस जाड़े के देश में लोगों की हड्डी मजबूत होने से ही कार्य इतनी सुगमता से आगे बढ़ रहा है। सिर गिनकर हमारे देश के कार्य कर्त्ताओं की संख्या का निर्णय करना ठीक नहीं। उनमें प्रत्येक को एक आदमी समझना भूल है। '(रूस की चिट्ठी)

यह रोग उन प्रदेशों में अधिक होता है जहाँ दल-दल या नमी हो, या छोटे-छोटे गड्ढों में पानी ठहरा रहे और घास-फूस सड़ते रहें। मलेरिया शब्द का अर्थ-दूषित वायु—इस बात का द्योतक है।

गत शताब्दी के उत्तरार्ध में चिकित्सा शास्त्र में एक नये वाद का पदार्पण हुआ। शीघ्र ही यह निरा वाद न रहकर सर्वसम्मत-सिद्धान्त के रूप में जनता के सामने आया। जर्मन वैज्ञानिक काख ने सिद्ध किया कि फोड़े-फुन्सी से लेकर राजयक्ष्मा तक सभी रोग बहुत ही छोटे-छोटे जीवाणुओं द्वारा होते हैं।

अनेक मार्गों से शरीर में घुसकर प्रबल वेग से वंश-वृद्धि करते हुए ये अपने विषों को शरीर में छोड़ते रहते हैं। यही विष नाना रोग-उत्पन्न करते हैं। ये जीवाणु आँखों से देखे नहीं जा सकते।

ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि मामूली पिन के सिरे-पर ऐसे-ऐसे लगभग एक हजार जीवाणु रह सकतेहैं। इन्हें देखने को अणुवीक्षण चाहिये। कई जीवाणु तो ऐसे होते हैं, जो अणुवीक्षण से भी नहीं देखे जा सकते और केवल कार्यानुमेय हैं। हाल ही में अलबत्ता इलेक्ट्रन-माइक्रोस्कोप बने हैं, जो इन जीवों को भी प्रत्यक्ष कराते हैं।

काख़ के आविष्कार ने वैज्ञानिकों को नयी दिशा दिखाई। वे प्रत्येक रोग के हेतुभूत जीवाणुओं की शोध में व्यग्र हो गये। मलेरिया के सम्बन्ध में भी प्रयत्न चालू हुए। इनसे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि दलदलों वाला पानी, उनके ऊपर का वायु, सड़ते हुए उद्भिद या नम-भूमि—कोई भी मलेरिया का साक्षात् कारण नहीं है।

सन् १८८० में लेवरन ने मलेरिया के रोगियों को रक्त में कुछ जीवाणु देखे। अनुमान हुआ कि मलेरिया का कारण यही हैं। आगे जाकर कुछ विद्वानों ने मलेरिया से पीड़ित पशु-पक्षियों में भी यही जीवाणु पाये। १८८५ में गौल्गी ने पता लगाया कि इन कृमियों के तीन भेद हैं, जिनमें प्रथम दोके कारण तीसरे और चौथे दिन ज्वर का वेग होता है।

कुछ समय पीछे सर पेट्रिक मैन्सनने पता लगाया कि श्लीपद का कारण एक प्रकार के कृमि हैं, जिनका जन्म और वृद्धि मच्छरों के शरीर में होती है। उस ने रौस के सामने अपनासन्देह व्यक्त किया कि संभवतः मलेरिया के कृमियों का सम्बन्ध भी मच्छरों से हो। परन्तु यह केवल कल्पना थी। इसकी परीक्षा के लिये भारी अध्यवसाय की आवश्यकता थी। रौस उन दिनों कलकत्ता में 'इण्डियन मेडिकल सर्विस' में थे, उन्होंने तुरन्त यह गुरुतर भार अपने कन्धों पर लिया। अपने पिता के सैनिक गुणों के उत्तराधिकारी रौनाल्ड ने, एक नये ही क्षेत्र, नये ही प्रकार के शत्रु को पछाड़ने का बीड़ा उठाया।

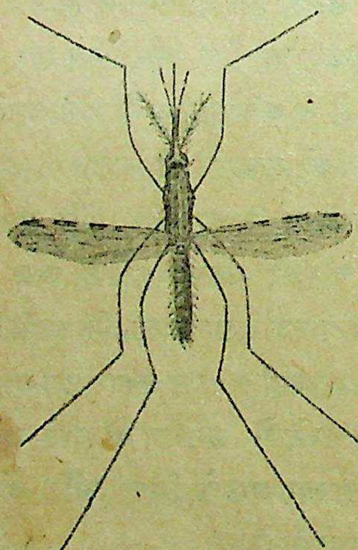
विकट परीक्षा का समय था। यह मुफ्त की आफत मोल लेने में रौस का कोई स्वार्थ न था। वह आसानी से इस बला को टाल सकता था। परन्तु रौस मामूली मिट्टी का नहीं बना था। उसने सिद्ध कर दिया कि चिकित्सा के क्षेत्र में पड़कर भी वह अन्त को एक प्रख्यात सेनानायक का पुत्र था। पिता की वीर वृत्तियाँ पुत्र में पूरी-पूरी उतरी थीं। कर्तव्य उपस्थित होने पर आगा-पीछा न देखना सैनिक का प्रथम गुण है।

समस्या यह थी कि क्या सचमुच ही मलेरिया के कृमि मच्छर के शरीर में पलते हैं? यदि, हाँ, तो मच्छरों की एक दो नहीं, दस-बीस भी नहीं, पूरी पाँच सौ-छः सौ जातियों में किस जातिके मच्छर में यह क्रिया होती है? और किस रूप में? मच्छर के शरीर से ये कृमि मनुष्य में कैसे घुसते हैं? इस परीक्षा के लिये मच्छरों को मलेरिया के रोगियों का रक्त चूसने दिया जाता और पीछे एक-एक मच्छर का शरीर चीरकर उसका प्रत्येक अङ्ग अणुवीक्षण के नीचे परख कर देखा जाता, कि उसमें किसी प्रकार के कृमि हैं या नहीं? इस प्रकार एक-एक मच्छर की पूर्ण परीक्षा करने में लगभग दो घण्टे लगते। इतने समय के निरन्तर श्रम से चित्त और चोला दोनों थककर चूर हो जाते।

कलकत्ता का दुःसह ताप, शीत-प्रदेश के अधिवासी रौस का अनभ्यस्त शरीर और फिर कठिनाई यह कि पंखे का नाम तक न लिया जा सकता था। कारण, पंखे की हवासे उनके चीरकर रखे हुए मच्छर

के उड़ने का भय था। होता यह कि, रौस—पसीने से तर, अणुवीक्षण में आँख गड़ाये, अपने शिकार की खोज में अकेले घण्टों माथापच्ची किया करते। जीवित मच्छर अपने मृत-सजातियों का बदला चुकाने के लिये मानो अलग हैरान करते। उधर, अणुवीक्षण का निचला काँच तड़क चुका था—माथे और हाथ से छूटे हुए पसीने के कारण ढिबरियों को मोर्चा खा रहा था। दो वर्ष होने को आये थे। अबतक वे कोई एक हजार मच्छरों की परीक्षा कर चुके थे, पर सिद्धि की कोई आशा न थी। प्रलोभन नाना रूपों में सामने आते थे, पर दैव को वह पुण्य-कार्य रौस के ही हाथों कराना था, यह महँगी दक्षिणा, उन्हीं की झोली में डालनी थी। वे अपने संकल्प से च्युत न हुए—न हुए। उनके अद्वितीय आत्म-संयम ने अन्त को विजय पाया। प्रकृति ने घुटने टेक दिये, रौस का परिश्रम सफल हुआ।

एक दिन रौस को अपने कमरे की दीवार पर एनोफिलीज़ जाति का एक मच्छर दिखाई दिया।



भारतमें मैलेरिया फैलानेवाला एलोफिलिज मच्छर

अब तक एक बार भी उन्होंने इन मच्छरों पर हाथ न चलाया था। दैवात् उसी दिन उनका एक मच्छर इकट्ठा करने वाला उसी प्रकार के दर्जन-भर मच्छर शीशी में भर लाया। फिर क्या था, नये उत्साह और नयी आशा से इन मच्छरों की भी वही गति की गयी जो अब तक इनके एक हजार भाई-बन्धुओं की की जा चुकी थी। परिणाम इस बार भी वही आया। पर अभी एक मच्छर बचा था। इसी पर सारी आशा केन्द्रित थी। उतनी ही दृढ़ आस्था के साथ इसकी भी जाँच आरम्भ हुई। आगेका हाल खुद रौसके शब्दों में सुनिये—

'चीर फाड़' में कोई कसर न थी। मच्छरों का अङ्ग-प्रत्यङ्ग मेरा छाना हुआ था। मुझे उनसे गाढ़ परिचय हो गया था। कोई किसी विशाल प्रासाद के खँडहरोंमें छिपी हुई थोड़ी-सी निधिको खोजने जा रहा हो ऐसे मनोयोग और सावधानी से मैं एक-पर-एक कोष (सेल) से गुजर रहा था। पर कहीं कुछ नहीं। यह खोज भी उसी प्रकार व्यर्थ जायगी—तो क्या यह बाद ही मिथ्या है?—पर अभी क्यों! अभी तो पेट अछूता पड़ा था—काचकी पट्टी पर—लुचलुचा-सा—मेरे सामने ही रखा था। उसके भी तो शिलाओं के बने विशाल आँगन के समान विस्तृत श्वेत, बड़े-बड़े कोषोंकी जाँच करना शेष था। एक-एक करके उन कोषों को परीक्षा? ओह! कितना क्लेशदायी, कितना थकाने वाला काम बचा था अभी? पूरा आध घण्टा वही बेढंगा चर्खा! मैं थक गया था—और फिर लाभ भी कौन होना था? अब तक मैं जरूर एक हजार मच्छरों के पेट चीर कर उनकी पड़ताल कर चुका था। पर दैवात् भाग्य की अधिष्ठात्री ने आशीर्वाद दिया और मुझे अपने सामने बारह माईक्रन व्यास की एक आकृति दिखाई दी। आकृति बहुत स्पष्ट थी। यह कोष बहुत ही छोटा था। इसे मच्छरके आमाशय का कोष कदापि न कहा जा सकता था। मैंने थोड़ी आगे दृष्टि दौड़ाई। एक और—ठीक वैसा ही कोष दिखाई पड़ा।

खूब याद है—उस दोपहर को कितनी गर्मी थी और बादल छाये हुए थे। मैंने अधिक प्रकाश आने के लिए अणुवीक्षण का पर्दा बदल कर फोकस ठीक किया था। देखा—इनमें प्रत्येक कोषमें छोटे-छोटे कज्जलवर्ण दानोंके गुच्छे थे।

'यह रङ्ग मलेरिया के कृमियों का था। अगले दिन तक कोष आकार में कुछ बढ़ गये थे। अब उन्हें सरलता से पहचाना जा सकता था। वे मलेरिया के कृमि थे। उनके जीवन-चक्र का भी इसके पीछे शीघ्र ही ज्ञान हुआ। इतने वर्षों के परिश्रम का रहस्य यों प्रकट हुआ। इस एक ही आविष्कार से मलेरिया के कृमियों के वाहक मच्छर की जाति, उसके शरीर में उनकी स्थिति और आकृति सब बातों का एक साथ ही ज्ञान हुआ। इस प्रकार अन्त को न केवल इन मच्छरों द्वारा मलेरिया का प्रसार रोकने के लिये सुसंघटित मोर्चा बाँधने का सर्वोत्तम उपाय ही विदित हुआ, प्रत्युत वैज्ञानिक-जगत् को पहली ही बार रोगकी मूल-प्रकृति का भी परिचय हुआ—जिसका प्रत्यक्ष परिणाम यह आया कि मलेरिया के अनेक और गूढ भेदों की आदि से अन्त तक की विभिन्न अवस्थाओं का अनुसंधान सुकर हो गया।'

अन्य प्रयोगों द्वारा इस सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान होने पर, रौसके प्रयत्न से सारे भूतल पर मच्छरों और मलेरिया के संहार के लिए सेनाएँ तैयार हुईं। इनके अमोघ शस्त्र थे—क्वीनाइन, मच्छरदानियाँ, और पेट्रोल। रौस के पद-चिह्नों पर चल कर पीछे से वाल्टर रीडने पीत ज्वर का रहस्य जाना। मच्छरों की उत्पत्ति और प्रसार रोकने के लिए पिछले कुछ वर्षों से डी० डी० टी० का व्यवहार किया जाता है।

इस शोध के पीछे एक और विस्मयकारी आविष्कार हुआ। फिरङ्ग रोग की अन्तिम अवस्था में नाड़ी-संस्थान की विकृति से होने वाला पागलों का लकवा[1] अब तक बड़ा भीषण और असाध्य रोग समझा जाता था। वीयेना के एक डाक्टर ने पता लगाया कि बहुत से रोगियों को मलेरिया के मच्छरों द्वारा कटवा कर उनके रक्त में मलेरिया के कृमि छोड़ देने से उन्हें इस रोग से मुक्त किया जा सकता है। मलेरिया का खूनी कीड़ा अपने से कहीं अधिक खूनी लकवे के कीड़े की गर्दन जा दबोचता है और उसके प्राण लेकर छोड़ता है।

विज्ञों का मन्तव्य है कि भारत में मलेरिया का प्रसार विशेष होने के कारण फिरङ्ग की अन्तिम अवस्था के रोगी अधिक नहीं देखे जाते। इस रोगपर इधर पेनिसिलीन भी उत्तम सिद्ध हुई है।

यह महान् आविष्कार हमारे ही देश के एक नगर-कलकत्ता-में हुआ। सन् १८५७ में भारत में ही-अलमोड़ा-में-इसके आविष्कर्ता रोनाल्ड रौस का जन्म हुआ था। इनके पिता भारतीय सेना में सेनापति थे। भारत की नौकरी से छूटकर रौस लिवरपूल में उष्ण देशीय रोगों के उपाध्याय नियत हुए। 'सर' की उपाधि मिली। १९२६ में इनके संमानार्थ उष्णदेशीय रोगों के अध्ययन-अध्यापन के लिए एक विद्या-मन्दिर स्थापित हुआ।

ये अच्छे साहित्यिक भी थे, इनकी अनेक कविताएँ और एक उपन्यास प्रकाशित हो चुका है। मलेरिया पर अनेक कृतियों के सिवाय इन्होंने संस्मरण भी लिखे हैं। गणित में भी इनकी गति थी। इस विषयपर भी इनकी रचनाएँ छप चुकी हैं।

शेषांश ६७१ पृष्ठपर

---

१ General paralysis of in sane जेनरल पैरेलिसिस ऑफ इन्सेन।

मानसिक रोगों का मूल कारण-प्रेमाभाव

प्रो० लालजीराम शुक्ल, एम० ए०

आधुनिक काल में मानसिक रोगों की व्यापकता बढ़ रही है। कहा जाता है कि मानसिक रोग आधुनिक सभ्य-पुरुष का एक लक्षण है। जैसे-जैसे सभ्यता का प्रसार होता जाता है मानसिक रोगों की संख्या भी बढ़ती जाती है। इन रोगों के लिए अनेक प्रकार के वैज्ञानिक उपचारों का आविष्कार हुआ है। पर जिस प्रकार शारीरिक-रोगों की संख्या डाक्टरों की संख्या की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती आई है, उसी प्रकार मानसिक रोगों की संख्या भी उनके वैज्ञानिक उपचार की विधि की उन्नति के साथ-साथ बढ़ती जाती है। इसके विषय में तुलसीदासजी की चौपाई लागू होती है।

> जस जस सुरसा बदन बढ़ावा।
> तासु दुगुन कपि रूप दिखावा॥

इस प्रकार की स्थिति का क्या कारण है ?

देखा गया है कि एक ही रोगी का उपचार करते समय मानसिक-चिकित्सक, रोगी को ऐसे रोग उत्पन्न कर देता है, जो उसे पहले न थे। मानसिक चिकित्सक के मन में किसी प्रकार के रोग की विशेष प्रकार की कल्पना होती है। जब वह किसी रोगी में अपनी समझ में आये रोग के पूरे लक्षण नहीं देखता, तो वह रोगी से पूछता है कि अमुक लक्षण भी हैं, अथवा नहीं। इस पूछताछ से ही मानसिक चिकित्सक उन लक्षणों को रोगी में उत्पन्न कर देता है। लेखक की चिकित्सा में आये हुए एक रोगी के रोग-विस्तार का वृत्तान्त इस प्रकार है—

× इसी अवसर पर एक मनोविज्ञान के विशेष-ज्ञ प्राप्त हुए। उन्होंने विश्लेषण कर के इस रोग का नाम 'नरवस स्ट्रेन' बताया, तथा इसका कारण आत्म-प्रशंसा तथा काम-वासना की ग्रन्थि बताया। उन्होंने कई सप्ताह तक स्वप्न भी नोट कराये। कापियों में पिछला जीवन-चरित्र लिखवाया परन्तु शोध (Suflimation) का कोई उपाय न बता सके और न आत्म-प्रशंसा और कामवासना किस प्रकार एक होकर ग्रन्थि बन गए, यह बता सके। उन्होंने मुझ से पूछा "तुम्हारे मस्तिष्क के अग्रभाग में कुछ बोझ-सा प्रतीत होता है ?" उस समय मुझे वैसा प्रतीत नहीं होता था, इसलिए "नहीं" कह दिया। पर अब उनके जाने के पश्चात् दो तीन मास बाद सचमुच मस्तिष्क का अग्रभाग इतना बोझिल होने लगा, कि अब मुझे तो सिर को हाथ से दबाकर विश्राम करना पड़ता है। इस समय अब यह अवस्था है कि सामने को देखते ही सिर में बोझ आरम्भ हो जाता है, नेत्र मिलाकर किसी से बात नहीं करता। नेत्रबन्दकरने पर भी (Teusion) का अनुभव करना पड़ता है।'

रोगी के उक्त कथन से स्पष्ट है कि मानसिक चिकित्सक ने रोगी का लाभ न करके और हानि ही की। जो मानसिक चिकित्सक कौतुहल वश अथवा पैसे के लिए मानसिक रोग की चिकित्सा करता है वह कभी-कभी रोग को घटाने के बदले और भी बढ़ा देता है। पहले तो सहानुभूति के अभाव में चिकित्सक, रोग के विशेष कारण को जान नहीं पाता। और

दूसरे उसके सन्निर्देश तो उसे लाभ नहीं पहुँचाते, किन्तु उसके दुर्निर्देश उसकी हानि तो अवश्य कर देते हैं। जैसे एक साधारण डाक्टर किसी प्रकार के शारीरिक रोग के अनेक कारण बताता है, इसी तरह मानसिक चिकित्सक भी किसी रोग के अनेक कारण बताते हैं। फिर जितने अधिक रोग हैं, उनके कई गुने अधिक कारण होंगे। इस प्रकार मानसिक चिकित्सा एक बहुत बड़ा रूप धारण कर लेती है। रोगी फिर मानसिक चिकित्सा के विशेषज्ञों की खोज करने लगता है।

जब आध्यात्मिक दृष्टि से मानसिक-रोग की ओर देखा जाता है, तो उसका मूल कारण एक ही पाया जाता है—यह कारण है, प्रेम की कमी। प्रेम की कमी के कारण ही मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं, और मानसिक विषमता आती है। प्रेम की कमी ही आत्म-दीनता की मानसिक-ग्रन्थि को जन्म देती है। और मनुष्य में किसी प्रकार की एकाग्रता या झक्कीपन का कारण प्रेम की कमी ही होता है, यह प्रेम की कमी बचपन युवा-अवस्था अथवा बुढ़ापे में हो सकती है। बचपन में प्रेमकी कमी आत्महीनता की भावना उत्पन्न करती है, जिसके कारण मनुष्य में ईर्ष्या, स्वार्थ प्रधानता और महानता की ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं। इस कमी के कारण मनुष्य स्वभावतः ऐसे कामों की ओर प्रेरित होता है, जिससे समाज का ध्यान वह अपनी ओर किसी न किसी प्रकार आकर्षित कर सके। अति-अधिक धन कमाना, बड़े नेता बने रहना, विद्या में सर्वप्रथम बन जाने की इच्छा रखना, प्रति वर्ष नई उपाधियों और डिगरियों के पीछे पड़े रहना—ये सभी बातें मनुष्य में आत्म-हीनता की मानसिक ग्रन्थि की उपस्थिति दर्शाती है, जिनका कारण प्रायः बचपन में प्रेम की कमी होता है। अधिनायक-बाप की मनोवृत्ति भी इसी से उत्पन्न होती है। जब तक किसी मनुष्य की चेष्टाएँ विशेष सीमा के भीतर रहती हैं, हम उसे स्वस्थ व्यक्ति कहते हैं। जब ये सीमा के बाहर आ जाती हैं, तो हम उसे विक्षिप्त कहने लगते हैं।

(शेषांश ९६६ व पृष्ठ का)

१९०२ में इन्हें अपनी सेवाओं के कारण संसार का सबसे बड़ा पारितोषिक 'नोबल-प्राइज़' मिला।

१६ सितम्बर १९३२ को इन महानुभाव वैज्ञानिक का देहान्त हो गया। अन्त्येष्टि के समय ब्रिटिश साम्राज्य के प्रधानामात्य तथा भारत के हाई-कमिश्नर के अतिरिक्त संसार के सभी देशों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। समाप्तिपर सब ने मिलकर रौस का बनाया वह गीत गाया, जिसका भाषान्तर लेख के आदि में है।

कलकत्ता में प्रेसीडेन्सी जनरल हॉस्पिटल रौस की स्मृति में खड़ा किया गया। मुख्य द्वार चिर काल तक उस अलौकिक घटना का स्मरण कराता रहेगा, जिसके लिए रौस ने अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया था। द्वारपर, एक ओर उक्त गीत तथा दूसरी ओर निम्न आशय का वाक्य खुदा हुआ है—

इस द्वार के ७० गज दक्षिण-पूर्व में स्थित छोटी-सी प्रयोगशाला में सर्जन मेजर रोनाल्ड रौस आई० एम० एस० ने १८९८ में मच्छरों द्वारा मलेरिया के प्रसार की रीति का अनुसन्धान किया।'

जहाँ तक मनुष्य वतावरणकी कठिनाइयों के पार करने में सफल होता जाता है, वहाँ तक उसका कार्य रचनात्मक होता है, और वह अपने आपको नहीं भूलता। पर जब उसकी इच्छाएँ अति प्रबल हो जाती हैं और वह उनकी पूर्ति होने की आशा नहीं देखता, तो वह कल्पना के जगत् में विचरण करने लगता है। जब मनुष्य कल्पना ही को सत्य मानने लगता है, तो हम उसे पागल कहते हैं। पर पागल और समान्य व्यक्तियों की आत्म-हीनता की भावना में समानता रहती है। सफल आत्म-हीनता की ग्रन्थि का प्रकाशन मनुष्य को अनेक प्रकार से जगत के सामने लाता है, और उसे महानता की पदवी दिलाता है, असफल आत्म-हीनता की ग्रन्थि का प्रकाशन उसे काल्पनिक जगत में विचरण करने के लिए बाध्य करता है, और इस प्रकार उसे पागलखाने का निवासी बना देता है।

जिस प्रकार बचपन के प्रेम की कमी विशेष प्रकार की मानसिक-ग्रन्थि को उत्पन्न करती है, इसी प्रकार प्रौढ़ावस्था की प्रेम की कमी भी विशेष प्रकार की मानसिक-ग्रन्थि को उत्पन्न करता है। यदि स्त्री-पुरुष में प्रेम की कमी हुई, और इस कमी को वे प्रकाशित न कर सके, तो आपस में सन्देह की भावना उत्पन्न हो जाती है। स्त्री कहती है, कि पति उसे जहर देना चाहता है। कभी-कभी स्त्री अकारण अपने पति पर दोषारोपण लगाती है। जिस प्रेम की कमी अपने आप में है, उसी कमी को वह अपने पति में देखने लगती है। बुढ़ापे में प्रेम की कमी होनेपर मनुष्य को पैसा कमाने की झक उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी उसे पढ़ने लिखने का ही व्यसन उत्पन्न हो जाता है।

जिस व्यक्ति के आसपास प्रेम का वातावरण नहीं होता, वह स्वयं भी दूसरे को प्यार करने की योग्यता प्राप्त नहीं करता। प्रकृति का यह नियम अटल सत्य है, जो व्यक्ति-स्वयं दूसरे से कोई गुण ग्रहण न किया हो-तो वह गुण अन्य को भी नहीं दे सकता, इसी प्रकार जो गुण एक-दूसरे को देता है आगे चलकर वही गुण उसे प्राप्त होता है। बचपन में बालक स्वतः निर्णय करने की शक्ति नहीं रखता, अतएव उसमें प्रेम देने की योग्यता भी नहीं रहती। इस काल में तो दूसरों पर ही यह जिम्मेदारी आती है, कि वे उसका जीवन, प्रेम से वंचित न करें। आगे चलकर प्रौढ़-व्यक्ति पर अपने आपको बनाने और बिगाड़ने की जिम्मेदारी आ जाती है। यदि कोई मनुष्य दूसरों की सेवा करता है, तो वह दूसरों से भी सेवा ही प्राप्त करेगा। प्रेम का बदला प्रेम से मिलता है और घृणा का घृणा से। घृणामय जीवन ; रोगों का कारण होता है और प्रेम का जीवन स्वस्थकर।

एक ही व्यक्ति के आस-पास प्रेमाभाव के कारण किस प्रकार मानसिक रोगों का वातारण उत्पन्न हो जाता है, इसका सुन्दर उदाहरण हालहीमें लेखकने एक विद्वान् मित्रके जीवन में पाया। ये मित्र एक प्रतिष्ठित विद्यालय के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान अध्यापक हैं। आप एक भारी दार्शनिक खोज में इस समय लगे हुए हैं- ये सातवीं शताब्दी के भारतवर्ष के दार्शनिक विचारों की कुछ गुत्थिओं को सुलझा रहे हैं। लेखक का उनसे अनायास ही मिलन हुआ। वे एक दूसरे सज्जन से मिलने के लिये उसी स्थान पर गये थे, जिस स्थान पर लेखक गया था। वे बड़ी जल्दी और मानसिक परेशानी अवस्था में दिखाई देते थे। जिस सज्जन से वे मिलने गये थे वे घर पर नहीं थे, अतएव कुछ काल तक उनसे कुछ बातचीत होने का अवसर मिल गया। उनसे पहले ही उनके एक सम्बन्धी की के मानसिक रोग के विषय में चर्चा हो चुकी थी। इस बीमारी को उन्होंने फिर से कह सुनाया।

उक्त महिला को यह मानसिक झक सवार है, कि उसका पति उसे जहर देने का प्रयत्न करते रहता है। पहले तो वह समझती थी कि उसके खाने में संखिया आदि मिला दिया गया है। पर अब उसकी धारणा हो गई है कि धीरे-धीरे उसे जहर देकर मारा जा रहा है। यह महिला अपने पतिके विरुद्ध पुलिस में कई बार जहर देने की सूचना दे चुकी है, जिसके कारण पति को पर्याप्त परेशानी उठानी पड़ी है। अभी चार माह पहले की बात है कि उक्त सम्बन्धी के घर मेरे मित्र डेढ़ साल के बाद गये। ये सम्बन्धी इस बार, इस बात पर खुश थे कि उनकी स्त्री ने इस बीच अपने सन्देह से परेशान न किया। उन्होंने कहा कि जान पड़ता है कि उनकी स्त्री का रोग अब जाता रहा है। इतना वे कह ही रहे थे कि एक पुलिसकान्स्टेबुल उनके पास एक नोटिस लेकर आया, जिसमें उन्हें थाने पर बुलाया गया था। मित्र उस नोटिस को देखकर हैरान हो गये। उन्हें तुरन्त सन्देह हुआ कि उनकी स्त्री ने फिर से उसे जहर देने की खबर पुलिस को दी है। बात ऐसी ही निकली।

इस किस्से के बाद उन्होंने अपने भाई का ही किस्सा कहा। इनके भाई को भी एक प्रकार के पागलपन का रोग है। जब इस रोग का दौरा होता है, तो वह जल्दी-जल्दी अनेक प्रकार की बातें करते रहता है। वह राजनैतिक विषयों पर ऐसी बातें करता है, कि मानो वे पूरी युक्ति संगत हों। उदाहरणार्थ महात्मा गाँधी की मृत्यु के समय इस रोग का दौरा हो गया था। अब वह कहने लगा कि लार्ड माउन्ट वेटेन ने ही महात्मा गाँधी की हत्या कराई है। इस पर वह अनेक प्रकार के प्रमाण देता था। केवल उसके भाई को छोड़ दूसरे लोग कुछ नहीं समझ पाते कि इसका इस प्रकार का कथन एक विक्षिप्त अवस्था का अलाप है। उस व्यक्ति का कभी-कभी अपनी स्त्री से झगड़ा हो जाया करता है। झगड़े के बाद उसे पागलपन का दौरा भी हो जाता है। इस रोग के प्रारम्भ होने के बाद में बताया गया, कि एक बार दस-वर्ष पूर्व उसने एक क्रान्तिकारी को अपने घर में ठहरा लिया था। पीछे वह पकड़ा गया। पकड़े जाने पर उसने अपने रहने का स्थान भी बता दिया। इस पर इसको भी अकारण ही एक साल की कैद की सजा हो गई। कैद से आने पर ही पहले इस बिमारी का आरम्भ हुआ। पीछे यह बिमारी बार-बार होने लगी। कभी-कभी वह अपनी स्त्री से झगड़ा हो जाने पर पागल होने का ढोंग मात्र रचता पर पीछे वह स्थिति वास्तविक पागलपन में आ गयी।

इस कथा के बाद उक्त विद्वान मित्र ने अपने बच्चों की शिक्षा के विषयमें कुछ चर्चा को और उनकी आदतों के सुधारने का उपाय पूछा। उनका कथन है कि मैं अपने बच्चों की शिक्षा की बड़ी परवाह करता हूँ और स्वयं उन्हें पढ़ाता भी हूँ! पर मेरे बालक पढ़ाई में उतनी उन्नति नहीं दिखाते, जितनी उन्हें दिखाना चाहिए। फिर वे अभी से उन सभी बुरी-आदतों में पड़ गये हैं, जो स्वयं उन्हें उस अवस्था में थीं। बच्चे दो हैं—एक की उमर पन्द्रह साल की है, और दूसरे की तेरह साल की। बच्चों की माँ सात-आठ वर्ष पूर्व मर गई। मित्र ने दूसरी शादी नहीं की। बड़ा बच्चा कुछ अधिक उद्दण्ड भी है। उसे गणित में इस समय कठिनाई हो गई है। उसे सोलह से आगे पहाड़े याद नहीं होते। ठीक इसी प्रकार उक्त मित्र को भी सोलहसे आगे पहाड़े याद नहीं होते थे, अतएव उन्हें पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी थी। लेखक ने इस मित्र को आश्वासन दिया कि ये बच्चे सुधर सकते हैं और कुछ पुस्तकों का

नाम बताया, जिनमें बालकों की उचित शिक्षा के विषय में चर्चा की गई है।

कुछ देर के बाद इस मित्र को कुछ विश्वास हुआ, कि मानसिक रोगों का सम्भवतः मेरी उपाय जानने से उचित उपचार हो सकता है! उसने फिर अपनी ही बिमारी की चर्चा की। इस मित्र को रात में बार बार पेशाब जाने का रोग है। पहले तो वह इसे साधारण आदतमात्र समझता था, पर पीछे उसे ज्ञात हुआ, कि यह एक प्रकार का रोग ही है। उसने साधारण डाक्टरों से इस विषय में परामर्श किया, पर उन्होंने इनके शरीरमें कोई रोग न पाया। उसे पहले तो धुमेह का सन्देह हुआ, पर डाक्टरों के कहने पर कि यह रोग उसे नहीं है, उसके मनमें कल्पना आई, कि सम्भवतः उसे मानसिक रोग ही हो।

रात के पेशाब के बारे में एक अद्भुत बात यह है, कि यदि यह मित्र रोटी खाकर तुरन्त ही सो जाये तो रात में एक ही बार पेशाब के लिए उठना पड़ता है। परन्तु यदि ये सोने से एकघण्टा पहले भोजन करें; जैसा कि स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक है, तो उन्हें रात भर परेशानी रहती है। बार-बार पेशाब के लिए उठना पड़ता है, और इसके कारण उनकी नींद भी पूरी नहीं हो पाती। अतएव उन्होंने अपने रात्रि के भोजन के विषय में नियम बना लिया है, कि भोजन करने के बाद वे तुरन्त ही सो जावें और जबतक सोने की इच्छा उनको न हो, तबतक वे भोजन ही न करें, चाहे आधी रात ही क्यों न हो जाय।

इस मित्र के जीवन के अध्ययन से पता चला कि उन्हें संस्कृत की पुस्तकों के अध्ययन का एक प्रकार का झक-सा हो गया है। इनकी उमर कोई पैंतीस बर्ष की है, पर वे अब एक नई उपाधि के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। उनके सिर के बाल पूरे सफेद हो गये हैं। उन्हें जल्दी हर समय लगी रहती है। यह उनके स्वभाव का अङ्ग बन गया है। जल्दी मनुष्य के जीवन का जल्दी अन्त भी कर देती है।

इस मित्र के जीवन के ऊपर विचार करने से पता चला, कि उनका आन्तरिक जीवन दुखी है। उनकी कामवासना तृप्त नहीं हुई और स्त्री से वंचित हो गये। समाज में प्रतिष्ठा के कारण अपने आपको सम्हाल कर रुके हुए हैं। पर वासना उन्हें तेज अवश्य करती है। अपनी आन्तरिक इस कमी की पूर्ति के लिए ही उन्होंने एक नया व्यवसाय खोज लिया है। वे पुस्तक अध्यन में ही अपने आपको लगाये रहते हैं। यह पुस्तक में लगे रहना संसार से विमुख हो जाने का प्रतीक है। पुस्तक अध्ययन में लगकर मनुष्य संसार की वास्तविकता के प्रति उदासीन हो जाता है। वह इस प्रकार का निर्णय तभी करता है, जब उसका सांसारिक जीवन पारिवारिक और सामाजिक दुःखमय होता है।

उपर्युक्त चार प्रकार के मानसिक रोगियों के उदाहरणों में सभी जगह एक ही बात दिखाई देती है—वह है प्रेम की कमी। स्त्री अपने पति को सन्देह की दृष्टि से देखती है, वास्तव में कुछ वर्ष पूर्व इस स्त्री को अपने पति पर किसी दूसरी महिला के प्रेम में फँस जाने का सन्देह था। इस सन्देह के लिए पर्याप्त कारण भी था। सम्भव है कि उस समय उक्त महिला के मनमें अनेक प्रकार अभद्र कल्पनाएं अपने पति के विषय में आई हों। अब महिला उन कल्पनाओं को तो भूल गई। उसकी नैतिक बुद्धि ने उनका दमन कर दिया। पर वे अब उसके मन में न रहने देने की झक का रूप धारण करके निकल रही है। महिला का सामान्य व्यवहार बड़ा सौजन्यतापूर्ण है, और उक्त झक के अतिरिक्त उस

व्यवहार में किसी प्रकार की असाधारणता नहीं पाई जाती। इसका अर्थ यह है कि महिला के क्रोध के प्रकाशन का उसे अवसर नहीं मिला। वह ऊपर से जितनी ही शीलवती बनती गई, भीतर से उसके मन में उतनी ही कटुता आती गयी। उसके हृदय की लहर अब उसकी चेतना के विरुद्ध मानसिक रोग के रूप में निकल रही है। किसी मनुष्य के प्रति जहर देने का अकारण सन्देह मन में आना—दबे क्रोध के भावों का परिणाम होना है। महिला के मन में पति के प्रति प्रेम नहीं है। इस प्रेमाभाव को वह अपनी साधारण चेतना में प्रकाशित नहीं कर पाती। अतएव वह इसे अपनी विक्षिप्त अवस्था में प्रकाशित करती है। सम्भव है, कि स्वयम् इस महिला का प्रेम किसी अन्य व्यक्ति से हो, और अपने प्रेम का नैतिक आधार खोजने के लिए उसका मन अपने पति पर जहर देने की कल्पना करता हो। अर्थात् इस प्रकार की प्रक्रिया अपने भावों का दूसरे पर आरोपण मात्र ही है। यदि इस महिला से आत्म-स्वीकृति तक उसके मन में अपने पति के प्रति वास्तविक प्रेम उत्पन्न कर दिया जाय, तो एक ओर इस महिला का व्यवहार उतना ही सौजन्यतापूर्ण नहीं रहेगा, जितना अभी है किन्तु उसकी अक्ल अब नष्ट हो जायेगी। पर वह अपने मन के दबे भावों को कैसे खोले, यह एक भारी समस्या है। यह उसी व्यक्ति के सामने अपने सभी दुःखों को प्रकाशित कर सकती है, जो उसका निकटतम आत्मीय हो।

लेखक के मित्र के भाई का जीवन भी प्रेम-विहीन है। इसीलिए उसे पागलपन के रोग का दौरा हो जाता है। जब मनुष्य का जीवन प्रेम-विहीन हो जाता है, तो वह संसार से भागने की चेष्टा करता है; पर अब वह देखता है, कि हम संसार से भाग नहीं सकते, तो वह किसी नशे अथवा वासना की शरण लेता है। परन्तु जब पारिवारिक-आवेश के कारण यह भी सम्भव नहीं होता, तो वह विक्षिप्तता का शरण लेता है। संसार में कष्ट मिलने पर अथवा निराश हो जाने पर कितने ही लोग पहले साधु हो जाया करते थे। अब इस ओर लोगों की रुचि कम हो गई है। अतएव या तो वे नशाखोरी और व्यभिचार की ओर जाते हैं, अथवा विक्षिप्त हो जाते हैं। ये सभी मार्ग संसार से भागने के मार्ग हैं। लेखक के मित्र के भाई को सम्भवतः जीवन में उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी सफलता मित्र को मिली। फिर स्त्री भी झगड़ालू मिल गई। ऐसी अवस्था में पागलपन के अतिरिक्त दूसरी कौन सी बात में मनुष्य जावे। पागलपन अपने आपको भुलाने का उपाय है। जिस व्यक्ति का आन्तरिक जीवन दुःखी हो जाता है, वही पागल होता है।

जो बात मित्र के भाई के जीवन में असाधारणता का कारण है, वही उनके लड़कों के जीवनमें असाधारणता का कारण है। बेचारे इन बच्चों की माँ तो पहले ही मर चुकी थी। उन्हें उसका पर्याप्त प्रेम नहीं मिला। ये तो विद्या के व्यसन में पड़े हुए हैं। वे यदि थोड़ा भी समय अपने बालकों की सेवा में देते हैं, तो समझते हैं कि उन्हों ने बहुत-सा समय दे डाला। बच्चों की साधारण इच्छाएँ सम्भवतः पूरी नहीं होतीं। ये मित्र नैतिक विचारों में बड़े कट्टर दिखाई देते हैं, अतएव बालकों की छोटी-छोटी-सी भूलों को भारी भूल मान लेते हैं। फिर वे प्रतिष्ठित-विद्वान हैं। वे चाहते हैं, कि उनके बालक भी शीघ्रातिशीघ्र उतने ही विद्वा बन जायें। पर मनोविज्ञान का नियम है, कि बाल-शिक्षा में किसी बात की जल्दी करने से बात बिगड़ती है, बनती नहीं। बालक अपना हो समय नई बात को सीखने

(शेषांश ९७७ पृष्ठ पर)

चक्षुष्य द्रव्य

वैद्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, ए० एम० एस०

एक दिन कुछ समय पूर्व मुझे एक अस्पताल के नेत्र-नासा-कर्ण-कण्ठ विभाग में जाने का अवसर मिला। वहां एक रोगी ने जो नेत्राभिष्यन्दन (Conguntitis) से पीड़ित था, पूछा कि वह भोजन क्या ले! इसके उत्तर में एक सज्जन ने हँस कर कहा कि "कुछ भी सेवन करो, पेट और आंख में इतनी दूरी है कि उसका कोई विशेष क्या साधारण भी प्रभाव नहीं पड़ता। नेत्ररोगों पर पथ्य नाम की सारी वस्तु ढकोसलामात्र है।" मुझे उनके ये शब्द सुनकर आश्चर्य हुआ और विचार किया कि क्या 'चक्षुष्य' 'नेत्र्य' 'नेत्रोपयोगी' नाम से जिन पदार्थों का आचार्यों ने वर्णन किया है वह मिथ्या है? इस जिज्ञासा को लेकर मैं स्वर्गीय डाक्टर बालकृष्ण अमरजी पाठक, भूतपूर्व प्रिन्सीपल आयुर्वेदिक कालेज के समीप गया। उन्होंने मेरी बात को पूरी तरह सुनने के पूर्व ही कहा कि, उस भले आदमी से पूछो कि पेट में खाई गई सेण्टोनीन के कारण आंख से जो पीला-पीला दीखने लगता है वह क्या झूठ है और जब वह झूठ नहीं, तो अन्य पदार्थ भी नेत्रों पर किसी न किसी रूप में प्रभाव दिखलाते हैं। यही नहीं हमारे आयुर्वेद में तो नेत्रों में औषधि—आंजन से रोग दूर किए जाते हैं, सर्प विष निर्हरण किया जाता है, मूर्च्छा हटाई जाती है। उनके इन शब्दों ने मुझे अपार सान्त्वना दी। और मैंने उस दृष्टि से आयुर्वेद शास्त्र का विचार प्रारम्भ किया। आज मैंने नेत्रों पर प्रभाव करनेवाले द्रव्यों के सम्बन्ध में विचार करने के लिए "सचित्र आयुर्वेद" के पाठकों का स्मरण किया है।

—लेखक

योगरत्नाकरकारने निम्नांकित श्लोकों में नेत्ररोगी के लिए पथ्यकर द्रव्यों के नाम गिनाए हैं—

वार्ताककर्कोटककारवेल्लं नवीन मोचं नवमूलकश्च।
पुनर्नवामार्कवकाकमाची पत्त्रूरशाकानि कुमारिका च॥
द्राक्षा च कुस्तुम्बुरु मणिमन्थ रोध्रं बराक्षौद्रमुपानहश्च।
नारीपयश्चन्दनमिन्दुखण्डं तिक्तानि सर्वाणि लघूनि चापि।
लावो मयूरो वनकुक्कुटश्च कूर्मः कुलिङ्गोऽथ कपिंजलश्च।
विजानता पथ्यमिदं प्रयुक्तं यथामलं नेत्रगदं निहन्ति॥

आगे वही लिखता है कि:—

शालितण्डुलगोधूम मुद्गसैन्धवगोघृतम्।
गोपयश्च सिता क्षौद्रं पथ्यं नेत्रगदे स्मृतम्॥

तथा—

सर्वशाकमचक्षुष्यं चक्षुष्यं शाक पञ्चकम्।
जीवन्ती वास्तुमत्स्याक्षी मेघनादः पुनर्नवा॥

इन श्लोकों के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि नेत्रोपयोगी पदार्थों के चयन करने में आचार्यों ने अटकल से काम नहीं किया, अपि तु बहुत विचार पूर्वक सिद्धान्त स्थिर करते हुए द्रव्यों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है।

नेत्र वा चक्षु उसी नाम की इन्द्रिय का अधि-ष्ठान है। वह इन्द्रिय समनस्क होने पर वस्तु का दर्शन कराती है। जिस पदार्थ के साथ मन का सम्पर्क होता है, वह रासायनिक द्रव्य तथा वाति तरङ्ग और जलपूर्ण है। इस प्रकार वह आलोचक पित्त, नेत्रस्थ वात और और नेत्रान्तर्निहित श्लेष्मा से युक्त होने के कारण त्रिदोषात्मक हैं, वैसे भी नेत्र का कृष्ण भाग वातिक, लाल पैत्तिक और श्वेत श्लैष्मिक होने की स्थूलरूपेण साक्षी देता है, अ सूक्ष्म और स्थूल दोनों दृष्टियों से नेत्र भी उतना त्रिदोषात्मक है जितना कि शरीर का अन्य भा

अतः शरीर के जिस किसी भाग में जो भी दोष बढ़ेगा, उसका प्रभाव नेत्र पर भी हुए बिना न रहेगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण धत्तूर है। इसके गुणों का वर्णन करते हुए भाव मिश्र लिखते हैं कि:—

"धतूरोमदवाणाग्नि वातकृतज्ज्वरकुष्ठनुत् ।" इसमें वातकृत् शब्द महत्त्व का है। धतूरा वातकारक है, अतः यह सेवन करने पर वात का प्रकोप करता है। वात के प्रकोप का त्वचा पर प्रभाव रौक्ष्य में होता है, पर साथ ही नेत्र के विस्फार (bilatarion of the foupil) में भी होता है। नेत्रतारक की विस्तारवृद्धि, कृष्णभाग की वृद्धि याने वातप्रकोप का उपलक्षण है, यह द्रव्यगुण-शास्त्र के प्राच्य वा पाश्चात्य के ज्ञाता सभी जानते हैं। कैसे क्रिया करती है-इसके दो स्वरूप हैं, दोनों अपने-अपने सिद्धान्तों से एक ही लक्ष्य पर पहुंचते हैं, अतः दोनों का आधार सत्य है, फिर एक दूसरे को मूर्खतापूर्ण बतलाने का डिण्डिम किसी भी विचारशील पक्ष के लिये सदैव लज्जास्पद है।

अत्यधिक मद्यपान नेत्रविस्फारक अर्थात् वातप्रकोप होता है। मद्य के १० गुणों का वर्णन करते हुए निघण्टुकार बतलाते भी हैं कि:—

लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्ल व्यवाय्याशुगमेव च।
रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम् ॥

यद्यपि मद्य उष्ण और तीक्ष्ण है, परन्तु उसकी लघुता, रूक्षता और विकाशिन् गुण उसके वातिक अंश की ओर अभिलक्ष्य करते हैं। ये गुण तभी अधिक प्रकर्ष को प्राप्त होते हैं, जब मद्य का अतियोग कर दिया जावे। अतः समझने का दोष है शास्त्र का दोष नहीं।

प्राचीन काल में भी द्रव्यों के गुणों के सम्बन्ध में अन्वेषणकार्य चलता था और विचार होता था। उदाहरण के लिये घृतवर्ग को लेते हैं। भावमिश्र सब घृतों को चक्षुष्य मानते हैं—

घृतं रसायनं स्वादु चक्षुष्यं वन्हिदीपनम्।
शीतवीर्यं विषालक्ष्मी कफपित्तानिलापहम् ॥

फिर जब पृथक्-पृथक् घृतों के गुणों का वर्णन आता है तो केवल गोघृत, अजाघृत, आविघृत, स्त्रीघृत, और मक्खन को चक्षुष्य मानते हैं। हरी घास और सूर्यधूप में उगने वाली विटामिन 'ए' युक्त वनस्पतियां

(शेषांश ६७५ वें पृष्ठ का)

में लेता है। जब उसे यह समय नहीं मिलता, तब उसकी बुद्धि का ठीक तरह से विकास नहीं होता। बालक को अपनी भूलों के लिए बार-बार डांटना भी उनकी मानसिक स्थिति को जटिल बना देता है। उसका जीवन इस प्रकार बोझ रूप में हो जाता है, वह इस बोझ को उतारने के लिए ही अनेक प्रकार के व्यसनों में पड़ जाता है। बालकों में नशा करने, काम-क्रीड़ा करने आदि के दुर्गुण इसी कारण उत्पन्न होते हैं। आन्तरिक मन के दुःखी बालक ही अपने आप में इस ओर प्रबल प्रेरणा पाता है।

बालकों का यह जीवन प्रेम-विहीन है। यह इसी बात से प्रमाणित होता है कि उनकी मां जीवित नहीं है, जो उनके हृदय की भूख को तृप्त करती। फिर पिता भी उनसे विमुख हो गया—उसको सदा पढ़ने की धुन सवार रहती है। वह अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने में ही लगा रहता है। उसे बालकों की छोटी-छोटी बातों को देखने और उनके छोटे-छोटे कामों के लिए उन्हें प्रोत्साहन देने की फुर्सत ही कहां है। वह यदि उन्हें किसी दृष्टि से देखना चाहता है, तो विद्याकी दृष्टि से। यदि वे विद्वान हो गये, तो वे पिता की दृष्टि में आपने आपको योग्य सिद्ध करेंगे।

को चरने वाले पशुओं के घृत में मेदविद्रावण, नेत्र-रोग नाशक तत्त्व अवश्य ही मिलेंगे, अतः सब घृतों से नेत्रों का लाभ हो सकता है। फिर और अधिक विचार करने पर उसे ज्ञात हुआ कि यह गुण महिषोघृत और पुराणघृत में नहीं रहता या अत्यल्प रहता है।

इसी प्रकरण का यदि राजनिघण्टुकार महा-महोपाध्याय श्रीमन्नरहरिपण्डित के दृष्टिविन्दु से विचार किया जाये तो ज्ञात होता है, कि वे नवोद्धृत नवनीत को चक्षुष्य मानते हैं। परन्तु गव्य-घृत को स्पष्ट रूप से भावमिश्र की तरह चक्षुष्य नहीं कहते। माहिषघृत, अजाघृत, नारीघृत में ही नेत्रोपकारक गुण देखते हैं। साधारण घृत भी चक्षुष्य होगा, इसका भी उल्लेख नहीं करते। आवि-घृत में इन्हें नेत्रहितकर गुण नहीं मिलता। ये अन्तर विद्वानों के तथ्यों के कारण उसी प्रकार के हैं; जिस प्रकार प्रयोगशाला में दो वैज्ञानिकों के परिमाणों के विचार में अन्तर।

गोमूत्र चक्षुष्य है, यह भावमिश्र का कथन है। पर नरहरिपण्डित उनमें वह गुण न देखकर माहिष-मूत्र में वह गुण पाते हैं। सम्भव है नरहरि की गाय और भावमिश्र की भैंस के मूत्र-में नेत्रप्रभावक तत्त्व न रहा हो, उन्होंने इस तत्त्वयुक्त आहार का सेवन न किया हो।

सर्षप (सरसों) तैल को उष्णवीर्य और पित्त तथा रक्त को दूषित करने वाला मानते हुए नरहरि उसे चक्षुष्य पाता है, भावमिश्र नहीं। उसने धान्यज तैलों पर भी रिसर्च की और जिस गेहूं के तैल से आधुनिक जगत् ने पुंस्त्वपोषक विटामीन 'ई' का प्रयोग किया है, उसने इसी तैल में चक्षुष्य तत्त्व की कल्पना की है। कौन कह सकता है कि आगे के विद्वान् विटामिन 'ई' के नेत्रोपयोगी होने का फतवा निकाल पाएँगे।

करञ्जतैल तथा सर्षप तल नेत्र के लिए लाभप्र हैं। कुसुम्भतैल हानिप्रद देखा जाता है। अतसीतै भी अचक्षुष्य है। क्योंकि एक अत्यधिक अश्रुस्राव है और दूसरा कफपित्तवर्धक है।

मूत्रों के गुणों और दोषों का जो विवेचन हमारे प्राचीन ऋषियों ने किया है, वैसा अभी तक न हो पाया। सभी प्रकार के जीवों के मूत्रों में पृथक्-पृथक् गुणों का दर्शन करके उन्हें चिकित्सा के लिए प्रयोग करने की क्षमता केवल-मात्र अनुमानात् नहीं हो सकती, इसके पीछे गवेषणाओं का अलिखित इतिहास निहित है, जिसे न कोई मसी और न कोई कागज सुरक्षित रख सका है, केवल मात्र कुछ सूत्र शेष हैं, जो आधुनिक चिकित्सा साहित्य के लिये अपूर्व देन है। पर बाहरे पाश्चात्य चिकित्साज्ञानमद में डूबे हुए प्राणी ? तू ने उन ऋषियों की युगों से अर्जित तपस्या को इस लिए ठुकराना आवश्यक समझा, क्योंकि इससे आयुर्वेद का नाम जन-जन के हृदय में समा जाता है।

गोमूत्र अक्षिदोषनाशक है—'शूल गुल्मोदरानाह कण्ड्वक्षिमुखरोगजित्।' उसी प्रकार माहिषमूत्र भी—'माहिषं मूत्रमानाह शोफगुल्माक्षिदोषनुत्।'

यदि आज एक डाक्टर नामधारी होम्योपैथ, एलोपैथ या इलेक्ट्रोपैथ से पूछा जाये कि, नेत्ररोगों में गाय, बकरी, भेड़, हथिनी, घोड़ी, गधी, ऊँटनी या के दुग्ध से जमाये हुए दही में से किस-किस का प्रयोग किया जा सकता है ? इसके उत्तर में व सिवा जमीन कुरेदने के और कुछ नहीं कह सकते। पर वेही यदि इन सूत्रों की ओर ध्यान दें तो पुकार कर ऋषिगण अपनी युगों की अर्जित विद्या को पुरस्कृत होकर देते हुए प्रतीत होते हैं:—

दध्याजं कफवातघ्नं लघूष्णं नेत्रदोषनुत् ।

* * * *

अस्त्रीदधि स्यान्मधुरं कषायं...............।

वातात्पदं दीपनकारि नेत्र-दोषापहं तत्कथितं पृथिव्याम् ॥

* * * *

चक्षुष्यं ग्रहदोषघ्नं दधिस्त्रीस्तन्यसम्भवम् ॥

* * * *

यह ध्यान देने योग्य बात है कि गाय और भैंस का दधि चक्षुष्य नहीं होता। कह सकते हैं कि इनके दुग्ध में या घृत में जब चक्षुष्य तत्त्व होता है तो फिर दधि में कहां गया ? उसका उत्तर है कि वह तत्त्व अभिष्यन्दी गुण के कारण इन दहियों में मन्द पड़ जाता है। ये अचक्षुष्य तो नहीं होते, पर नेत्रविकारहर नहीं हो पाते। स्त्री, घोड़ी और बकरी के दुग्धों में इतना प्रबल होता है कि वह दही के अभिष्यन्दी गुण पर भी विजय प्राप्त करके अपनी सत्ता स्थिर रखता है।

दुग्धों में गौ और माहिष दोनों ही दुग्ध इन घृतों के समान कोई विशेष लाभ नहीं करते। अजा और आवी (भेड़) दोनों ही इस दृष्टि से लाभ नहीं करते, परन्तु हस्तिनीक्षीर और मानुषीक्षीर ये दो ही नेत्र्य वा चक्षुष्य कहे गये हैं—

मधुरं हस्तिनीक्षीरं वृष्यं गुरु कषायकम् ।
स्निग्धं स्थैर्यकरं शीतं चक्षुष्यं बलवर्द्धनम् ॥

* * * *

मधुरं मानुषीक्षीरं कषायञ्च हिमं लघु ।
चक्षुष्यं दीपनं पथ्यं पाचनं रोचनं च तत् ॥

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि इन दुग्धों का नेत्रों में स्थानिक प्रयोग लाभप्रद है, वहां वैसा नहीं है। इन दोनों के दुग्धों का आन्तरिक प्रयोग (Internal use) अभिप्रेत है। कुछ माताएँ अपने पुत्र या पुत्री को अपना दुग्ध न देकर डब्बा या गाय का दुग्ध पिलाती हैं, पर क्या डब्बा, गाय या भैंसके दूध में माता के दुग्ध में उपस्थित चक्षुष्य तत्त्व की मात्रा है ? यदि नहीं तो फिर वह पूर्णतया उसका स्थान नहीं ले सकता। हां, जल मिला कर और दीपन-पाचन द्रव्यों से संस्कारित करके हथिनी के दुग्ध का प्रयोग करने से कुछ लाभ हो सकता है, पर पूर्णतः नहीं। गर्दभी और हस्तिनी के मिश्रित दुग्ध के द्वारा अधिकांश में मानुषी (स्त्री) दुग्ध की कमी दूर की जा सकती है।

मधु—'चक्षुष्यं दीपनं स्वर्य्यं व्रणशोधन-रोपणम्' बतलाया गया है। यह साधारण विवेचनमात्र है। विशेष देखने पर मधु की आठ जातियों में से केवल क्षौद्रमधु में "क्षौद्रं तु शीतलं चक्षुष्यं पिच्छिलं पित्त-वातहृत् ।" नेत्रोपकारक गुण है। यह मधु छोटी देशी शहद की मक्खी से बनता है। अतः नेत्र रोगी के लिए पहाड़ी शहद न लेकर देशी शहद का व्यवहार करना चाहिए।

मधुशर्करा भी जिसे हम ग्लूकोज़ कह सकते हैं चक्षुष्य है—

माक्षीकशर्करा प्रोक्ता सिताखण्डश्च खण्डवः ।
सीताखण्डोऽतिमधुरश्चक्षुष्यः छर्दिनाशनः ॥

रत्नों में हीरकभस्म, माणिक्यभस्म और मुक्ता तथा विद्रुमभस्म नेत्रोपयोगी हैं:—

वृष्यं महायुष्यमतीव नेत्र्यं बल्यं त्रिदोषघ्नमतीव वर्ण्यम् ।
मेध्यं विशेषाद्विविधामयघ्नं सुधोपमं स्यात्सुमृतं तु हीरम् ॥

—रसतरङ्गिणी

* * *

माणिक्यं लेखनं शीतं कषायं मधुरं सरम् ।
चक्षुष्यं मङ्गलं दाह-दुष्टग्रहविषापहम् ॥

* * *

मौक्तिकञ्च मधुरं सुशीतलं दृष्टिरोगशमनं विषापहम् ।

—राजनिघण्टु

विद्रुमं सुमृतं क्षारं मधुरं लघुशीतलम्।
दीपनं पाचनञ्चैव दृष्टिरोगनिषूदनम्॥

जहाँ अत्यन्त शीतवीर्य उपर्युक्त रत्न, नेत्रोपयोगी हैं, वहाँ उष्णवीर्य वत्सनाभ भी कम महत्त्व का नहीं है:—

विनिहन्ति विशेषेण तिमिरञ्च निशान्धताम्।
अभिष्यन्दं नेत्रशोथं कर्णशोथञ्च दारुणम्॥
—रसतरङ्गिणी।

चूने के विभिन्न यौगिको में कपर्दक (कौड़ी) के बारे में लिखा है —'गुल्मशूलामयघ्नश्च नेत्रदोषनिकृन्तनः।' इसी प्रकार खटी (खड़िया) के सम्बन्ध में बतलाया गया है—'व्रणदोषकफास्रघ्नी नेत्ररोगनिकृन्तनी।' ध्यान देने योग्य यह बात है कि कपर्द उष्ण है (कपर्दः कटुतिक्तोष्णः) तथा खटी शीतल है (खटनी मधुरा तिक्ता शीतला·········)। परन्तु शङ्ख और शुक्ति नेत्र्य हैं, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। मुक्ता और मुक्ताशुक्ति में कोई भेद है या नहीं इसका प्रमाण कोल्शियमकार्बोनेट की उपस्थितमात्र बताने वाले पश्चात्य चिकित्सक तथा उनके अनुसरणकर्त्ता भले ही न दे पावें, क्यों कि उनका ज्ञान एक अतिस्थूल एनालिटीकल प्रायोगिक परीक्षण तक ही सीमित रहता है, परन्तु जिनके प्रयोगों की सूक्ष्म विवेचना इनसे कहीं आगे बढ़ी हुई थी, वही प्राच्य विद्वान् इन दोनों के गुणों का अन्तर बतलाते हुए आज भी कहते हैं कि मुक्ता में चक्षुष्य गुण वर्तमान है, मुक्ताशुक्ति में नहीं। यदि नेत्र की दृष्टि से चयन करना है तो मुक्ता के अभाव में खटी लेना चाहिए, शुक्ति नहीं। पर जहां अन्य रोगों का (हृद्रोगादिक) भी विचार हो वहाँ मुक्ता के स्थान पर मुक्ताशुक्ति का प्रयोग रस-गुण-वीर्य-विपाक-कर्म,प्रभात्मक सादृश्य से किया जा सकता है।

विभिन्न धातु भस्मों की ओर ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि:—

१ स्वर्ण—शीतं स्वादु रसायनञ्च रुचिकृच्चक्षुष्यमायुः प्रद
२ कांस्य—कांस्यन्तु तिक्तमुष्णं चक्षुष्यं वातकफविकारघ्न
३ ताम्र—दुर्नामग्रहणीगदप्रशमनं नेत्रामयेषूत्तमम्।
४ वङ्ग—चक्षुष्यं सुमतिप्रदं क्षयहरं शुक्रैकसम्बर्द्धनम्।
५ यशद—यशदंतुवरंशिशिरंकटुकंपरमंनयनामय-नाशकर
६ लौह— वीर्यें शीतं गुरु च तुवरं लेखनञ्चातिनेत्र्यम्।
७ स्वर्णमाक्षिक—तिक्तंस्वर्यञ्च चक्षुष्यं त्रिदोषघ्नंपरं मत
८ तुत्थ—कफघ्नमथ चक्षुष्यं व्रणदोषनिषूदनम्।
९ खर्पर—चक्षुष्यः सर्वमेहघ्नो रक्तप्रदरनाशनः।
१० कासीस—श्वित्रघ्नं नेत्र्यमतुलं विषघ्नं कचरंजनम्।
११ स्रोतोञ्जन—रक्तपित्तक्षयकरं नेत्रामयनिषूदनम्।
१२ सौवीराञ्जन—रक्तपित्तप्रशमनं नेत्रामयहरं परम्।
१३ स्वर्णगैरिक—विषापहं तथा बल्यं मतंलोचनयोर्हितम्

नाग और मण्डूर तथा रौप्यमाक्षिक के अति रिक्त प्रायशः सभी धातुभस्मों की क्रिया नेत्रों प होती है। किस भस्म का क्या गुण है इसका ज्ञा आवश्यक है। क्योंकि जो भस्म नेत्र्य है व नयनामयघ्न भी है या इसका विलोम है यह कह सम्भव नहीं। स्वर्ण, स्वर्णगैरिक, स्वर्णमाक्षिक, व कांस्य, लोह, खर्पर जहाँ नेत्रोपयोगी हैं वहाँ ता तुत्थ, यशद और अञ्जन नेत्ररोगहर हैं। इन बाह्य प्रयोग प्रायः होता है। अतः दोनों का अन्त सदैव स्मरण रखना होगा।

अभ्रकभस्म नेत्रों के लिए अतीव हितकर है विशेषकर मधु, त्रिफलाचूर्ण के साथ—

सक्षौद्रं सवरं व्योम दृष्टिशक्तिकरं परम्।

मल्ल, ताल या मनःशिला या अन्य उनके द्वा निर्मित योग या इञ्जेक्शन नेत्रों के लिये लाभ नहीं होता। अतः इनका प्रयोग करते समय ने रक्षक उपचार आवश्यक है। सहज फिरङ्गी केराटाइटिस में सेन्द्रियाम्ल के इञ्जेक्शन का

प्रभाव होता है वह फिरङ्ग के चक्रकाणु के कारण है, साधारण नेत्ररक्षा की दृष्टि से नहीं।

स्फटिका नेत्ररोगों में बाह्य प्रयोग के लिए विशेष चलती है, क्योंकि उसका कषायगुण नेत्र की श्लेष्मल-कला पर संशामक प्रभाव डालता है। परन्तु स्फटिकभस्म का अन्तर्प्रयोग चक्षुष्य है।

राजनिघण्टु के चन्दनादिवर्ग नामक प्रकरण में ३७ औषधि-द्रव्यों का वर्णन आया है। इनमें चन्दन, कुङ्कुम, कस्तूरी, कर्पूर, जातीफल, लवङ्ग, मांसी, गुग्गुल, सारिवा, पद्मक, पुण्डरीक, उशीर मुख्य हैं। परन्तु इनमें से केवल लालचन्दन, कस्तूरी, लवङ्ग, और प्रपौण्डरीक को चक्षुष्य गिनाया है। कर्पूर भी चक्षुष्य है—"कर्पूरः शीतलो वृष्यः चक्षुष्यो लेखनो लघुः।" पर शेष-श्वेत-चन्दन, उशीर और कुङ्कुम जैसे प्रसिद्ध द्रव्य इस गुण की दृष्टि में धराशायी हो गये। महत्त्व की बात यह है कि अत्युष्ण कस्तूरी और अतिशीतल लवङ्ग, पुण्डरीक तीनों चक्षुष्य हैं—

कस्तूरी सुरभिस्तिक्ता चक्षुष्या मुखरोजित्।

तथा—

लवङ्गं शीतलं तिक्तं चक्षुष्यं भक्तरोचनम्।

अपि च—

प्रपौण्डरीकं चक्षुष्यं मधुरं तिक्तशीतलम्।

फलवर्ग (भावप्रकाश) तथा आम्रादि वर्ग (राजनिघण्टु) का वर्णन देखने से अनेक लाभ की बातें ज्ञात होती हैं। यथा—

१—अत्यधिक आमों का सेवन नेत्ररोगकर होता है—'आम्रातियोगो नयनामयं च।'

२—लकुच का प्रयोग नेत्रों के लिए हानिकारक है—'शुक्राग्निनाशनं वापि नेत्रयोरहितंस्मृतम्।'

३—केला साधारणतया नेत्र्य नहीं है, परन्तु नेत्ररोगों में प्रयोग किया जा सकता है।

४—नारियल, ताड़फल, खजूर और छुहारा नेत्र में लाभकर नहीं बतलाये गये।

५—खर्बूज, तर्बूज और और खीरा नेत्र्य नहीं हैं। उसी प्रकार जामुन और बेर भी।

६—अनार, फालसा और नारङ्गी नेत्ररोग में प्रयुक्त नहीं होते।

७—निर्मलीफल और बीज, द्राक्षा और निम्बूक नेत्रोपकारक हैं:—

(कतकफल) चक्षुष्यं वातकृच्छीतं रक्तपित्तं तृषां विषम्।

× × ×

कतकस्य च बीजन्तु चक्षुष्यं तुवरं गुरुः।

× × ×

द्राक्षा पक्वा सरा शीता चक्षुष्या बृंहणी गुरुः।

× × ×

निम्बूफलं प्रथितमम्लरस कटूष्णं,
गुल्मामवातहरमग्निविवृद्धिकारि।
चक्षुष्यमेतदथकासकफार्तिकण्ठ—
विच्छर्दिहारि परिपक्वमतीव कच्यम्॥

चिरौंजी, फिन्दक, चिलगोजा, अखरोट और मखाना तथा बादाम चक्षुष्य नहीं हैं।

९—विभीतक, आमलकी और हरीतकी ये तीनों नेत्र्य हैं—

विभीतक—चक्षुष्यः पलितघ्नश्च विपाके मधुरो लघुः।
आमलकी—धातुवृद्धिकरं नेत्र्यं लेपनात् कान्तिकारकम्।
हरीतकी—चक्षुष्या लघुरायुष्या बृंहणी चानुलोमिनी।

तभी तो त्रिफलाघृत के गुणों का वर्णन करते हुए शार्ङ्गधर लिखता है—

नक्तान्ध्यं नकुलान्ध्यं च कण्डूं पिल्लं तथैव च।
नेत्रस्रावं च पटलं तिमिरं काचकं जयेत्॥
अन्येऽपि प्रशमं यान्ति नेत्ररोगाः सुदारुणाः।
त्रैफलं घृतमेतद्धि पाने नस्यादिषूचितम्॥

राजनिघण्टु के करवीरादि वर्ग में मल्लिका, वल्लिका, त्रिविधतुलसी और तगर को ही चक्षुष्य बताया है। अशोक, चम्पा, केवड़ा, जपा, कामला, आदि नेत्रों पर कार्य नहीं करते।

अन्य वनस्पतियों में निम्न नेत्रों पर प्रभाव डालतीं तथा हितकारी कही गई हैं—

मुद्गपर्णी, स्वर्णजावन्ती, गिरिकर्णी, इन्दीवरा श्वेतबृहती, सितकण्टकारिका, द्रवन्ती, तरवट, कुलत्थ, कृष्णजीरक, हिंगु, सैन्धव, मधुयष्टी, मञ्जिष्ठा, दारुहरिद्रा, लोध्र, समुद्रफेन, सर्वक्षार, नीलशिग्रु, श्वेतरसोन, कौसुम्भशाक, पक्वाण्ड, (पाकड़), वृश्चिकाली तथा पुत्रजीव।

ये द्रव्य किस प्रकार कार्य करते हैं और इनका किस-किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है यह आगे के लेख का विषय हो सकता है, प्रस्तुत लेख वैसे ही अधिक बड़ा हो चुका है, अतः हम नासापीतजल नेत्र के लिये परम उपकारक है, इसका श्लोक—

> यः पानीयं पिबति शिशिरं स्वादु नित्यं निशीथे
> प्रत्यूषे वा पिबति यदि वा घ्राणरन्ध्रेणनोरः॥
> सोऽयं सद्यः पतगपतिना स्पर्द्धते नेत्रशक्त्या।
> स्वर्गाचार्यं प्रहसति धिया द्वेष्टि दस्रौ च तन्द्रा।

देते हुए और यह कहते हुए कि अपने शास्त्ररूपी सागर में परम आस्था रख कर तली पर्यन्त अवगाहन करें तो मुक्ता अवश्य प्राप्त होंगे, अन्यथा खारा जल ही हाथ लगेगा, जिसे चख कितनेक नाक भौं सिकोड़ने का कष्ट पा, अपने उपहासास्पद अज्ञान का प्रगटीकरण करते हैं, हम यह लेख समाप्त करते हैं।

गलस्थ रससिन्दूर

मूल लेखक—वैद्यराज पु० वि० धामणकर, आयुर्वेदभूषण
अनुवादक—वैद्य के० एम० वाकणकर, आयुर्वेदाचार्य

रस सिन्दूर (रस=पारा, सिन्दूर=सिन्दूर) पारा और गन्धक के संयोग से अग्नि की सहायता से निर्मित-लाल रंग के भारी पदार्थ को कहते हैं। कज्जली, पर्पटी, और पोट्टली के समान सिन्दूर भी पारद का एक बंध है। ये चारो बंध उत्तरोत्तर एक दूसरे से दृढ़ व बलवान होते हैं। कज्जली, रससिन्दूर व रसकर्पूर का समावेश पारद बंध में ही माना जाता है, परन्तु कुछ इसे पारद भस्म भी कहते हैं, कारण पारद का मारण अति कठिन है और वंश-क्षयकारी माना गया है, दूसरे औषधि योगों में इसका विशेष महत्त्व न होने से वैद्य रसभस्म बनाने के झंझट में भी नहीं पड़ते हैं। इन पारद कल्पों में से पारद पुनः मूल-भूत रूप में—प्रमाण में-निर्बंध रूप में प्राप्त भी किया जा सकता है। संयुक्त पदार्थों के गुण तो इसमें नहीं होते हैं परन्तु पारद के निजी गुणों (चापल्यादि गुण) को वृद्धि अवश्य हो जाती है। इसलिये ऊपर वर्णित बंध को भस्म नहीं कहा जाता है।

पारद स्वयं जड़, चचंल, अच्छ होने से शरीर में नहीं ठहरता और न इसका शरीर में संशोषण ही होता है। वह मल द्वार से बाहर निकल जाता है। फिर इसके उपयोग का प्रयोजन क्या? और उप-योग तो अपेक्षित ही है। इसका परिणाम शरीरस्थ भिन्न-भिन्न अवयवों पर होना चाहिये, इसलिये इतने बंध-प्रकारों की रचना प्राचीनों ने की है। यह मूल बंध तो सामान्य गुणों से युक्त होते ही हैं, विशेष गुणों के लिये विशिष्ट द्रव्यों का संयोग करना पड़ता है। सामान्यतः रससिन्दूर एक उत्कृष्ट आधार (Base) है। इसके अस्तित्व या संयोग से अल्प मूल्यवान् द्रव्य बहुमूल्यवान् बन जाता है, उसके गुणों की वृद्धि ही नहीं होती, अपितु वह दृढ़ तथा तेजस्वी बन जाता है। इसकी सेवन-मात्रा भी अल्प ही है। कार्यगति बढ़कर परिणाम भी दीर्घकालीन होता है। इस प्रकार के पदार्थों को आयुर्वेद ने योगवाही माना है। इसीलिये ज्वर, श्वास, क्लैव्यता-हर योगों में सामान्य रससिन्दूर की योजना की जाती है।

पाठ—पारा-गन्धक में रासायनिक भिन्नता है। ये दोनों पदार्थ विशिष्ट प्रमाण में ही एक दूसरे से संलग्न होते हैं, ऐसा आधुनिक रसायनशास्त्र मानता है, परन्तु आयुर्वेद ने इन पदार्थों के संयोग भिन्न-भिन्न प्रमाण में अनेक प्रकार से किये हैं। यथा—

पारद	गंधक	पारद	गंधक	पारद	गंधक
४	१	४	५	४	१२
४	२	४	६	४	१६
४	३	४	७	४	२०
४	४	४	८	४	२४

इस प्रकार चतुर्थांश से शतांश तक गन्धक जारण की जाती है। यह सर्व संयोग पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं। आज भी इनका अन्तर अनुभव सिद्ध है। ग्रन्थों में ऐसी विभिन्न संयोग योजना के अनेक प्रकार वर्णित हैं, परन्तु सामान्य योग-सम-गंधक-कज्जली ही प्रशस्त मानी गई है। इसी तुलना में कज्जली के सिन्दूर को भी यही प्रतिष्ठा प्राप्त है। पारा-गन्धक की कज्जली में अन्य पदार्थ मिलाकर

योग तैयार किये जाते हैं, वे योग तत्तद्विशिष्ट संयुक्त द्रव्यों के गुणात्मक योग होते हैं। यथा—

सिन्दूर-प्रकार

पारद	गंधक	भिन्न द्रव्य	सिद्धगद	कार्य	स्थान
,,	,,	नवसार	रससिन्दूर	कफोत्सर्जक	उरः कंठ
,,	,,	यवक्षार	,,	अश्मरी-भेदक	वस्ति
,,	,,	रसकर्पूर	व्याधि-हरण	उपदंश-शोषक	उपस्थ
,,	,,	संखिया	मल्ल-सिन्दूर	कफ-शोषक	उरःकंठ
,,	,,	स्वर्ण	मकरध्वज	शक्ति-वर्धक	सर्व शरीर
,,	,,	सीसा	माणिक्य रस	प्रमेह-नाशक	मूत्रेंद्रिय

इस प्रकार एक या अनेक द्रव्यों में, पारद को भिन्न-भिन्न प्रमाण में संग्रग्न कर रस-सिद्धोंने असंख्य योगों की रचनाकर डाली है, जिनमें से कुछही हमारे हाथ लगे हैं।

रस सिन्दूर विधि

यंत्रः—भट्टी, बालुका, कूपी, संडासी

उपकरणः—सलाई, छुरी, ऊन, डाट (मुद्रा)

द्रव्यः—पारा, गंधक, कोहल, (स्प्रीट), जल

विधिः— १ वेधन, २ पूरण, ३ स्थापन, ४ ज्वलन, (५) पाचन, (६) संचालन, (७) मुद्रण, (८) उद्धरण (६) छेदन, (१०) सिद्धि प्रमाण, (११) प्रामाण्य। भट्टी-(भ्राष्टी) के दो प्रकार हैं। (१) भूमि समतल और (२) चौकोर। पहिले भूमि तल प्रकार की ही भ्राष्टी बनानेकी कल्पना थी; इस भट्टी का अधिक भाग जमीनसे नीचे होता है तथा आकार शिवलिंग जैसा होता है; शिवलिंग सदृश आकार वाला बड़ा लाभप्रद होता है।

चौकोर भट्टी—यह भट्टी जमीन के पृष्ठ भाग पर होती है। आकार में चौकोन तथा पश्चिम भाग में दो द्वार होते हैं। दोनो दरवाजों पर कपाट होते हैं। एक द्वार ऊपर के ऊर्ध्व भाग में बनाते है; इसी द्वार से ईन्धन आदि इसमें डाला जाता हैं। दूसरा द्वार नीचे के भाग में होता है। यह वायु अन्दर जाने के लिये व राख आदि निकालने के काम में आता है। ऊर्ध्व दिशा के पृष्ठ भाग पर मदक (मृत्तिका पात्र, या डोल) रखने के लिये छिद्र रखते हैं। इस छिद्र के मध्य भाग में एक जाली लगाते हैं, ऊपरी द्वार के कुछ नीचे जाली लगाते हैं और ऊपरी द्वार को ईशान दिशा में एक छिद्र और भी रखते हैं, जिसमें एक चौड़े आकार का नल लगाते हैं, यह धूम्र निष्कासन के काम में आता है। इस प्रकार की भट्टी साधारण या अग्नि क्षम इटों (Fire Bricks) से भी बनाई जाती है। अग्निक्षम ईटों से भट्टी की उष्णता स्थिर रहती है व स्वतप्त होने से अपनी ऊष्णता भी प्रदान करती है जिससे ईन्धन की बचत भी होती है।

चौकोर भट्टी के गुण —ईन्धन कम खर्च होता है। अग्नि सतत धधकती रहती है। अग्नि ताप की साधना उत्तम प्रकार से होती है। ऊष्णता अन्दर ही खेला करती है। धुआँ कम होता है। बाहर वाले को ताप से कष्ट नहीं होता है। परिश्रम कम होता है। एक व्यक्ति एक समय ही में अनेक भट्टियों की देख रेख कर सकता है।

बालुका यंत्र—इसमें घट और बालुका का समावेश होता है। धातुपात्र से मृत्तिका पात्र अधिक अग्नि क्षम और कम खर्च का होता है। भट्टी से निकाले मृत्तिका पात्रको, कार्य होनेके पश्चात्, औंधा रखना चाहिये। जल का स्पर्श न होने दें। बालुका

भरा पात्र जमीन पर न रखें। साधारणतः ४० से ६० तोला कज्जली के लिये १२ इञ्च ऊँची ५ मुख-वाली, १३ इंच आकारवाली पर्याप्त होती है।

बालुका—श्वेत, काली, धूसर-वर्ण की होती है, रंग के समान इसके कण के आकार में भी भेद होता है।

कूपी—पेंदा गोल तथा दो तृतीयांश भाग नरियल के समान तथा ऊपरी $\frac{1}{3}$ भाग नलिका के समान होना चाहिये।

कूपीके नाप

ऊँचाई १० इञ्च, कूपी में जल ६२॥ तो० रहता है,

मुखकी चौड़ाई १ इञ्च, अर्धगोलार्ध तक ३५ तो० जल रहता है।

ऊपर की नलिका की लंबाई ३इञ्च, अर्ध गोलार्ध तक ६० तो० कज्जली रहती है।

गले की लंबाई २ इञ्च, नवसादर युक्त ४० तो० कज्जली रहता है

कूपी के मध्य (उदर) भाग का व्यास ४½". बंगेश्वर की ३२ तोला कज्जली रहती है।

केवल पारा गंधक की समभाग की कज्जली हो तो ६० तो० ठीक रह जाती है, अगर नवसार युक्त होगी तो ४० तो० ही रहेगी, कारण नवसार फूलने के लिये अवकाश की आवश्यकता होती है। बंगेश्वर की कज्जली होगी तो वह इससे भी कम भरना चाहिये; कारण इसमें बंग और नवसार दोनों फूलते हैं। फूलने वाले पदार्थ के लिये पर्याप्त अवकाश चाहिये, तभी औषधि उत्तम प्रकार की बनेगी।

मृद्वस्त्र—कूपी कांच की होती है व अग्निक्षम भी होती है, परन्तु कूपी को समान उष्णता मिलने के लिये और प्रसंगवशात् द्रवता और फूट-टूट से संरक्षण के हेतु कूपी पर कपड़मिट्टी करने की प्रथा है। यह कपड़मिट्टी ३ से १० परतों में की जाती है।

मृद्वस्त्र लेपन विधि—कूपी की तली, घेरा और गला ढँक जाय, इतना बड़ा चौकोर कपड़ा लेकर गोपीचंदन-मृत्तिका को पानी में सानकर कपड़े पर भलीभांति लेप करे। कपड़ा खींचकर लगाना चाहिये, कहीं भी वायु के लिये अवकाश न रहे इस ओर विशेष ध्यान रखें। मिट्टी में कंकर, कचरा आदि नहीं होना चाहिये। भोजन पकाने के पात्रों को अग्नि पर रखने के पूर्व राख या मिट्टी का लेपन करने की प्रथा है, इसमें भी यही रहस्य है कि अग्नि सब ओर भली भांति लगती रहे।

सांडस (संदंश)—यह पोले मुख वाली होना चाहिये।

सलाई (शलाका)—काष्ठ या लोहेकी होनी चाहिये। काष्ठ की शलाका प्रथम दो काल में या वंगेश्वर, समीर पन्नग में उपयोगी है। शलाका की मोटाई पौन इञ्च से आधा इञ्च लम्बाई २ से ३फुट व निचला भाग गोल होना चाहिये।

छुरी—लोहे की लकड़ी के हेंडिल वाली, पतली अल्प चौड़ाई वाली तथा सामान्य धार वाली होनी चाहिये।

रज्जु—ऊन या सूत की होनी चाहिये।

मुद्रा—चूना, गोमय, कपड़ा, ईंटआदि से बनाई जाती है।

द्रव्य-संग्रह

कज्जली—पारा गंधक के मिश्रण को कज्जली या मसि कहते हैं।

गंधक—आंवलासार उत्तम होता है।

कोहल-(स्प्रिट)—कूपी छेदनके काममें आताहै।

जल—कूपी छेदनार्थ व अग्नि शामनार्थ।

विविध विवेचन

वेधन—बालुका यंत्र के वर्णन में तलछिद्र का उल्लेख नहीं है, परन्तु परम्परा पात्र में छिद्र रखने की है। छिद्र चवन्नी से रुपये तक के आकार का बनाते हैं। कहीं-कहीं मूँग के बराबर अनेक छिद्र भी रखते हैं; इनकी संख्या ३से ७ तक रखना चाहिये छिद्र रखने से अग्निकाल कम हो जाता है, परन्तु अग्निक्रम साधना में व्यत्यय होता है। कूपी को साक्षात् अग्नि मिलती है। कूपी को अति उष्णता पहुंचने से वह फूलती है। पाचन विधि सशास्त्र नहीं होती है। औषधियां भी कसौटी पर नहीं उतरती हैं।

पूरण—बालुका यंत्र में बालुका और कूपी में कज्जली भरने को कहते हैं। कूपी सीधी रखकर बालुका भरनी चाहिये। कज्जली के प्रकार और कूपी के आकार में अनेक प्रकार होने से कज्जलीके वजन का यहां स्पष्टीकरण करना असंभव है, परन्तु उसके आकार का अवश्य स्पष्टीकरण किया जा सकता है। सामान्यतः कूपी के घेरे के अनुसार १/४ से १/२ भाग तक कज्जली भरना चाहिये। पारा-गंधक की कज्जली या हिंगुल, रसकपूर, संखिया युक्त कज्जली को अर्ध-भाग भरना चाहिये, परन्तु नवसार युक्त रस सिन्दूरकी कज्जली १/३ भाग तक ही भरे। वंगेश्वर की कज्जली ३/४ भाग तक ही भरना चाहिये। कूपी पर कपड़मिट्टी होने के कारण कितने भाग तक कज्जली भरी जा चुकी है, यह देखना कठिन है, परन्तु एक लम्बी-शलाका में कपास लपेट कर उसे कूपी में डालकर देखें, जहां तक कज्जली होगी वह कपास को लगेगी, उसका नाप गले तक देख लें, पश्चात् उस शलाकाके कूपी के बाहरी भाग से लगा कर देखें, दोनों का जो अन्तर होगा, उससे पता लग जायगा कि कूपी के कितने भाग तक कज्जली इसमें भरी गई है।

स्थापन—भट्टीपर पात्र और उसमें कूपी स्थापन कार्य अति सावधानी से करना चाहिये। भट्टीपर मटका बिलकुल सीधी रखना चाहिये। इसी प्रकार अन्दर की कूपी भी बिलकुल सीधी रखनी चाहिये। प्रथम पात्र में २ इञ्च बालुका बिछाकर उस पर कूपी रखें, फिर कूपी के मुख को बन्द कर धीरे-धीरे चारों ओर से बालुका दबा-दबा कर भरना चाहिये। कपड़मिट्टी पूर्णतः ढँक जाय, इतनी बालू भरनी चाहिये।

बालुकाका प्रयोजन—बालुका अति ताप सहन करती है। इसमें से अग्नि-किरणों का सहज प्रसार होता है। उष्णता से ही पारा चंचल गतिमान होता है और कूपी को भी हिलाने का यत्न करता है; परन्तु बालुका के दबाव के कारण नहीं हिलने पाती है। उष्णता वहन और दबाव यह बालुका के उपयोग होते हैं।

ज्वलन आयुर्वेद ने ईंधन के १२ प्रकार बताये हैं तथा इसके १३ उप-प्रकार भी बताये हैं। ईंधन ज्वलनकाल में वायु-निर्माण होती है। विविध अग्नि वेग भिन्न-भिन्न उष्णतामान-जनक भी होता है। यह वायु और उष्णतामान-संयोग कहीं-कहीं अति तीव्र होता है। हारीत प्राणी का मांस हल्दी की कांडी में पिरोकर अग्नि पर भूनने से वह सद्यः प्राण हरण विष में परिवर्तित हो जाता है। ईंधन की योजना के समय शत्रु-मित्रत्व का ध्यान रखना चाहिये। पर्पटी करते समय बेर-काष्ठ के कोयले की योजना उत्तम मानी जाती है। रस सिन्दूरादि कल्पों के लिये खदिर, बबूल के काष्ठ की योजना प्रशस्त मानी गई है। इस प्रकार के ईंधन से बालका तप्त होती है और उस पर रसायन सिद्धि भी

उत्तम होती है। हवा में होने वाले परिवर्तन और उष्णतामान के चढ़ाव-उतार का परिणाम रसायन सिद्धि में बाधक न बने, इसलिये बालुका को मध्यस्थ बनाया गया है।

तक्र बिलोते समय, ६४ प्रहरी खरल करते समय, तप्तलोह पर घन मारते समय नैनंतर्य आवश्यक है। इसकी ओर ध्यान न देनेसे इष्ट हेतु की साधना अपेक्षित काल व मान में साध्य नहीं होती है। यही बात सिन्दूर-कल्पों की सिद्धि में निहित है, जिसको उत्तम-साधना अग्निकर्म पर ही निर्भर है। उदाहरण मध्यम अग्नि मंद हो जाने पर द्रव घन हो जाता है, उसका परिभवन रुक जाता है। इस अवस्था में पुनः अग्नि तीव्र करने पर या एकदम बढ़ जाने पर समय अधिक लगता है या रस का उत्थान होकर कूपी का गला बन्द हो जाता है, यह अयोग्यावस्था है।

पाचनः—१. गंधक जारण, २. गुणपरिवर्तन ३. उत्थापन इत्यादि रासायनिक परिवर्त्तन के लिये अग्नि की सहायता आवश्यक है, यह आवश्यकता उतार-चढ़ाव-श्रेणी की होती है। इस श्रेणी की निम्न संज्ञाएँ हैं।

(१) मृदु—यंत्र ताप के लिये।

(२) मंद– कज्जली द्रव करने के लिए।

(३) मध्य—जारण, गुण-परिवर्त्तन, रवा बनना, उत्थापन के लिए।

(४) खर—रवा उठाने के लिये।

खर के पर्याय—प्रखर, गाढ़, तीक्ष्ण, तीव्र, चंड, इत्यादि हैं, स्व-शीत के पर्याय—स्वयंशीत, स्वांग-शीत, निसर्गशीत हैं।

चावल पकाने के लिये जल डालना पड़ता है, यह जल पूर्णतः चावलों में तो नहीं रहता है। कुछ जल; पकाने को सहायता देता है, कुछ भाप बन कर उड़ जाता है। वही सिद्धांत गंधक के लिये है। पाचन के लिये अग्नि, द्रव व काल की अपेक्षा होती है। यह मान ठीक से साध्य होने पर पाक-निष्पत्ति भली भाँति होती है। यह कार्य उपरोक्त प्रथम तीन प्रकार अग्नि द्वारा पूर्ण होता है। खर से अग्नि-सिद्धि ऊपर उठता है, इस समय रवे के साथ द्रव गंधक भी कुछ ऊपर उठता है, इसी कारण रवा कूपी के मुख पर जमता है, रसगंधक का पाचन होकर रवा प्रथक होने के लिये कूपी के गले के आस-पास तक बालुका भरी रहती है। भट्टी व बालुका स्वांग-शीत न होकर उष्णावस्था में औषध बाहर निकाल लेने पर औषध गीली-सी मृदु निकलेगी, इसके कण नवसार के समान लंबे चीकट, जामुनी रंग के चमकदार होंगे। यह लक्षण भी दोषास्पद माना है, इसी लिये स्वांग-शीत होने पर औषध निकालना चाहिये।

ऊपर लिखी-अग्नि श्रेणीयोंका काल भी समान नहीं होता है। कहीं-कहीं यह काल निश्चित भी बताया गया है। साधारणतः दीपाग्नि(मृदग्नि) ४ प्रहर, मंदाग्नि ३ प्रहर, मध्याग्नि २ प्रहर, तीक्ष्णाग्नि १ प्रहर, इस क्रमसे अग्नि देनेका विधान है, परन्तु कज्जली के घटक द्रव्यों की ओर ध्यान देकर ही अग्निक्रमके काल-मान में अन्तर करना पड़ता है। आरंभ से अन्त तक पाचक की अवस्थाएँ कूपी के गलेसे निकलने वाले धूम, और ज्वालाके रंगसे जानी जा सकती है।

उदाहरण कज्जली द्रव होते ही नवसार बाहर आने लगता है, नवसार श्वेत रूप में कूपी के मुख पर आकर जमने लगता है, अग्नि की तीव्रता के साथ नवसार का कुछ भाग हवा में उड़ने लगता है व कुछ भाग कूपी के गले में जमता है। गंधक द्रव होने के लिये व ऊपर उठने के लिये नवसारसे अधिक

उष्णताकी आवश्यकता होती है। इस लिये नवसार के पीछे-पीछे गंधक उड़ने लगता है, यह भी कूपी के गले में आकर जमने लगता है। नवसार व गंधक यह दोनों पदार्थ बाहर जाने के लिये व्यत्यय उत्पन्न करते हैं। यह व्यत्यय इतना बढ़ता है कि कभी-कभी कूपी भी फूट जाती है। इस आपत्ति से रक्षा करनेके लिये उर्ध्वपालिका यंत्र से खुरच कर जमा-माल उपर निकाल लेना चाहिये। गंधक के इस धूम से श्वास रोगियों को बड़ा कष्ट होता है, "मल्ल-सिंदूर" की भट्टी के समय मल्ल का धूम वायु में मिला करता है। "व्याधि हरण" की कूपी का धूम, रस कपूर होने से बुरा प्रभाव करने वाला होता है, इससे दांत हिलने लगते हैं। इन्हीं पदार्थों के साथ पारा भी उड़ता है और वहां जो कार्य करते हैं उनके सोनेकी अंगूठी, बटन आदि पर भी जमने लगता है। पासकी वस्तुओं पर गंधक के धूम का प्रभाव चांदी के पदार्थ (रसायनशाला में काय करने वाले लोगों के हाथकी घड़ियां, बटन इत्यादि) पर पड़कर काले पड़ जाते हैं। अतएव इस धूमसे अपनेको बचाना चाहिये।

कज्जली में मल्ल फिटकरी, स्वर्ण इत्यादि पदार्थ होते हैं, इनकी स्वाभविक ज्वालाके प्रथक्-प्रथक् निश्चित रंग भी होते हैं, जो कूपी के गले से निकलने वाले धूम्र-ज्वाला में परिवर्तित होने पर प्रतीत होते हैं—

कुछ ज्वालाओं के रंग

स्वर्ण—पीला-अंजीरी
चांदी—श्वेत
तांबा—हरा-नीला,
जसद—काला-बेंगनी
सीसा—श्वेताभ-धूसर
हीरा—अनेक प्रकार
लोह—ताम्राभ
फिटकरी—तेजस्वी-नीला
संखिया—नीला
रांगा—नीलाभ-धूसर
मैनसिल—धूसर-रंग
कांतलोह—धूम्र-रंग

संचालन—शलाका-चलाना। कज्जली के द्रवता की परीक्षा के लिये काष्ठ-शलाका का उपयोग किया जा सकता है। कूपीकी नालिका में जमा हुआ गंधक, नवसार तप्तलोह शलाका डालकर ही बाहर निकालना चाहिये। क्रमशः अग्नि देने पर शलाका की आवश्यकता भी नहीं पड़ती है, फिर भी कूपीका मुख बंद होने लगे, तो तप्त-शलाका सावधानी पूर्वक कूपी मुख में फिराना चाहिये, जिससे रुकी हुई वायु को मार्ग मिलेगा और वायु जोर से बाहर निकलेगी। आवश्यकतानुसार ही शलाका चलाना चाहिये। मोटी-शलाका और छोटी-शलाका बारंबार चलाते रहने से कूपी का कठगत सिंदूर जलने लगता है, इस समय शलाका बाहर निकालते ही ताम्र-रंग का धूम्र निकलता है, इससे रस-सिंदूर का रंग भी खराब (काला-सा) हो जाता है, तथा मात्रा में भी कम उतरता है। असमय में मुख बंद हो जाय तो शलाका को बल पूर्वक मुख खेलने के हेतु नहीं चलाना चाहिये। तीक्ष्णाग्नि समाप्ती के समय मुख बंद हो जाय तो कोई हानि नहीं है तथा इस समय अग्नि कम करने की भी आवश्यकता नहीं होती है।

मुद्रण—रसायन तैयार होते ही कूपी का तल भाग स्वच्छ हो जाता है यानी पदार्थ ऊपर उड़ने लगने लगते हैं। यह मुद्रण का काल है। मुद्रण से रसायन एकत्र होकर जमता है।

उद्धरण—स्वांगशीत होने पर पात्र की बालुका कलछी से निकालकर कूपी को निकालना चाहिये।

छेदन—कूपी बालुकायन्त्र से निकाल कर शीतजल में गले तक डुबोक रखे, जब बुलबुले आना

ंद हो जाएँ, तब छुरी से कपड़मिट्टी को खुरचकर साफ कर ले, कूपी के मध्य-भाग में स्प्रिट (कोहल) में भिगोया धागा लपेटकर उसे जला दे, जब ज्वाला मंद होने लगे, तब ठंडे पानी का छींटा देने से कूपी की कांच चटककर कूपी के दो भाग हो जायँगे।

सिद्धी-प्रमाण—तैयार रससिंदूर में पारागंधक का मान ८८ : १२ होता है, इस न्याय से सम गंधक-कज्जली का रससिंदूर एक सप्तमांश बढ़ना चाहिये। यानी १४ तो० पारा, १४ तो० गंधक का रससिंदूर १६ तो० उतरना चाहिये, कज्जली में मल्ल, हिंगूल, रसकर्पूर होने पर उसका कुछ अंश सिन्दूर में आता है। यह प्रमाण प्रत्यक्ष प्रयोग से निश्चित करना चाहिये।

प्रामाण्य—कज्जली के घटक द्रव्यों से सिद्ध, रससिंदूर के पहलुओं का आकार व रंग से निश्चित की जा सकती है। सिंदूर जलते समय गंधक युक्त ज्वाला व रंग से सिद्धौषधि के प्रकार का अंदाज किया जासकता है। रासायनिक पृथक्करण व रुग्ण प्रात्यक्षिक-निरीक्षण, ये परीक्षा के साधन हैं।

कसौटी—(१) रंग, रूप, आकार, घन वजन, (२) घटकावयव, (३) रुग्ण-विज्ञान आदि में जो कठनाइयाँ हैं, उनका विवेचन ऊपर दिया गया है। यह विद्या गुरुमुख व प्रात्यक्षिक पर ही साध्य व विशद होती है। आगम-प्रमाण सत्य है, परन्तु वह मूक होता है। गुरू यह उसका भंडारी है, इसलिये शास्त्राध्ययन के पश्चात गुरु से प्रात्यक्षिक ज्ञान करना भी उतना ही आवश्यक है—

प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्र दृष्टं च यद्भवेत्।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञान विवर्धनम्॥

इसीलिये गुरुजनों से शास्त्रज्ञान प्राप्त कर उसे परखना चाहिये।

सिन्दूर कल्पों की संख्या असंख्य है। अल्पमात्रा में, शीघ्र कार्यकारी तथा स्थायी परिणाम करने वाले यह कल्प है, परन्तु औदासिन्य-उपेक्षा के कारण वे योग आज धूल खारहे हैं। संशोधन व प्रयत्न से ही यह साध्य हो सकता है, तभी दैदीप्यमान रत्न हम प्राप्त कर सकेंगे और शीतज्वर (मलेरिया), उपदंश, वात-कफ विकारों पर आधुनिक प्रभावी-औषधियों की तुलना में हम यह योग चिकित्सक-बंधुओं को प्रदान कर सकेंगे। इतना अमूल्य-भंडार हमारे पास होकर भी हम दूसरों की शरण क्यों जायँ? लेकिन यह सब संशोधन व परिश्रम पर निर्भर है।

(आ० मी० से)

अन्य भाषाओं का आयुर्वेदीय-वाङ्मय

श्रीयुत पु० वि० धामणकरजी महाराष्ट्र के उन इने-गिने यशस्वी और मनस्वी वैद्यों में से हैं, जिन पर आयुर्वेद को गर्व है। आप का सहयोग इस अङ्क से सचित्र आयुर्वेद को मिल रहा है, इस के लिए हम सचित्र आयुर्वेद और सम्पूर्ण श्री बैद्यनाथ आ० भ० परिवार की ओर से आप का अभिनन्दन करते हैं। जैसा कि प्रस्तुत लेख से ही हमारे पाठक समझ सकेंगे, जितना गम्भीर आप का अध्ययन है, उतना ही विशद प्रत्यक्ष अनुभव भी है। हमें विश्वास है कि ऐसे लेखों से विद्वानों और प्रेक्टिस करने वाले वैद्यों को समान रूप से लाभ हो सकता है। अन्यान्य भाषाओं के आयुर्वेदीय वाङ्मय को भी राष्ट्रभाषा में प्रकाशित करने की व्यवस्था हम कर रहे हैं।

—स० सम्पादक

भल्लातक सिद्ध-हिंगूल

भल्लातक या भिलावा के वात-कफ नाशक अनेक गुणों का वर्णन आयुर्वेदीय-ग्रन्थों में किया गया है। "भल्लातकोऽग्नि समः" इसे साक्षात् अग्निरूप भी माना है। आज का बुद्धिजीवी-मध्यमवर्ग तथा धनिकवर्ग जिसे मस्तिष्क और बैठे रहने का अधिक कार्य करना पड़ता है, अग्निमांद्य एवं वात-कफ रोगोंसे अधिक पीड़ित दिखाई देता है।

बाजार में भिलावा, भिलावे का तेल, भिलावे का फूल इस रूपमें प्राप्त होता है, परन्तु इससे बनी-सिद्धौषधियों का अभाव-सा ही है, भिलावे को ऊष्णसूजी (शलाका) से छेदन कर तैलके बूँद मलाई, दूध, दही, व घृत में टपका कर आमांश-रोगियों को दिया जाता है, यह प्रथा कुछ प्रान्तों में (विशेषतः महाराष्ट्र में) आज भी प्रचलित है। भिलावे के तैल से फफोले पड़ जाते हैं, इस भयसे आज-कल इसका प्रयोग कम किया जाता है।

भिलावा कषाय-मधुर और उष्णवीर्य है। यह शुक्र-वृद्धि कारक है, तथा उदर, आनाह, त्वचा रोग, अर्श, गुल्म, ज्वर, श्वेत-कुष्ठ, कृमी, अग्निमांद्य, व्रण आदि कफवातात्मक दोष प्रधान रोगोंकी अवस्था में अति लाभप्रद सिद्ध होता है।

भल्लातक के प्रसिद्ध कल्प-चूर्ण में-नारसिंह-चूर्ण; गुटिका में भल्लातक-वटी, आसव में भल्लातकासव इत्यादि प्रकारों में प्रसिद्ध है, परन्तु बाजारमें यह भी अल्प मात्रा ही में देखे जाते हैं।

निखिल-भारतीय-आयुर्वेद महासम्मेलनके अध्यक्ष वैद्य मार्त्तण्ड श्री यादवजी त्रिकमजी महाराजने भल्लातकके प्रयोग कर अपने स्वानुभव "आनुभविक औषधियाँ" नामक ग्रन्थ के प्रवाहिका, संग्रहणी, अतिसार चिकित्सा प्रकरण में दिये हैं। उसमें "हिंगुल योग" नामक एक प्रकार है, इसका वर्णन निम्न प्रकार से है—

४० तो भिलावे को दो-दो टुकड़ों में काट कर लोहे की कढ़ाई में फैला दें। इस पर ४० तो हिंगुल के ५-५ तोला वजन के ८ टुकड़े कुछ अन्तर से रख दें। इस पर ४० तो एरंड तैल, ४० तो घृत, ४ तो शहद डाल कर मंदाग्नि पर पकावें। जब इसमें से ज्वाला निकलने लगे तब अग्नि देना बंद कर दें, और स्वांगशीत होने पर हिंगूल के टुकड़ों को वस्त्र से पोंछ लें। इसे २-३ दिन खरल में घोंटे। यही है "भल्लातक सिद्ध हिंगूल"।

संग्रहणी में जायफल, जायपत्री-चूर्ण ४०-४० तो मिलाकर देवें। उदर, अनाह, कृमी रोग में पथ्य विडंग इन दोनों का सम भाग चूर्ण मिलाकर देना चाहिये। अनुलोमनार्थ दधिजल (मस्तु) के साथ देना चाहिये। एरंड तैल, शहद, मधु आदि त्रिदोषघ्न द्रव्यों के संस्कार हिंगुल में होने से त्रिदोषज जीर्ण-विकारों में यह अति लाभप्रद सिद्ध होगा। जिन रोगों में भिलावा उपयुक्त माना गया है, उन सब विकारों में लाभकारी सिद्ध होगा। आधी रत्ती से १ रत्ती की मात्रा में इसका सेवन करें।

(आ० पत्रिका)

रुग्ण-चिकित्सा

वैद्य रामशिरोमणि द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य

प्रवेशतिथि —२१-११-४६, निर्गमतिथि २-१२-४६।

रोग लक्षण—ज्वर, कास, श्वास, दक्षिण पार्श्व में शूल, विबंध, सरक्त-पित्त-श्लेष्मष्ठीवन, आस्य वैरस्य, निद्राल्पता, तृष्णाः(प्यास)।

रोग-उत्पत्तिकाल—५ दिन

निदान—शीत, वातस्पर्श, ठण्ढी-भूमिपर लेटना।

पूर्वरूप—अंगमर्द, नेत्रदाह, प्रतिश्याय, शिरःशूल

उपद्रव— अत्यधिक बेचैनी

दोष—पित्त और श्लेष्मा

रोग-मार्ग—कोष्ठ (ज्वरो हि आमाशय समुत्थः)

विकृत-स्थान--प्राणवह स्रोत (दक्षिण फुफ्फुस का ऊर्ध्व भाग)

प्रत्यक्ष परीक्षा—

दर्शन

ऊपर तथा नीचे के ओष्ठों पर छोटी-छोटी पिड़िकाएँ, नासिका की श्लैष्मिक-कला सशोथ (रक्त-वर्ण युक्त), जिह्वा-साम, श्वेत-पीत, मलावृत तथा किनारे रक्तवर्ण के। श्वसन काल में नासा-पार्श्वों में स्फूर्जन, मनोदैन्य, श्वसन प्रति मिनट ४०, उदर का विशेष फूलना-पचकना। शरीर का संहनन, प्राकृतिक वर्ण-कृष्ण।

स्पर्शन

परिमर्शन—त्वचा-रूक्ष, सन्ताप (ज्वर-वेग) अधिक (१०२ डिग्री)।

प्रपीड़न—उदर में पीड़नाक्षमता, मल-ग्रन्थियों की प्रतीति, नाड़ी वेगवती (प्रतिमिनट १२०), उत्प्लवन-अधिक, संहनन-मृदु, आकृति-स्थूल, स्पन्दन-सम, दोष-पित्त और श्लेष्मा।

आकोटन—पक्काशय - प्रदेश में मन्द-ध्वनि, दक्षिण-फुफ्फुस में ऊपर से पांचवीं-पर्शुका तक मन्द ध्वनि।

श्रवण

दक्षिण-फुफ्फुस के ऊर्ध्वभाग सश्लेष्म-ध्वनि, हृदय वेगवान्, उत्प्लवन-अधिक।

सम्भावित रोग

श्लेष्म-ज्वर, वातश्लेष्म-ज्वर, पित्तश्लेष्म-ज्वर सन्निपात-ज्वर (कर्कटक सन्निपात)।

रोग विनिश्चय

पित्तश्लेष्म-ज्वर।

रोग की अवस्था—ज्वर की पच्यमानावस्था का आरम्भ।

साध्या-साध्यता—कष्ट-साध्य।

परिणाम—रोगी स्वस्थ होकर गया।

चिकित्सा

लंघनंस्वेदनंकालो यवागूस्तिक्तकोरसः।
मलानां पाचनानि स्युः यथावस्थं क्रमेण वा॥

औषध—(१) जहरमोहरा पिष्टी १ माशा
पिप्पली चूर्ण ४ रत्ती
पुष्कर मूल ४ रत्ती
यष्टी चूर्ण ६ रत्ती
शृङ्ग भस्म ४ रत्ती

ऐसी ४ पुड़िया मधु और वासा स्वरस से दिया गया।

(२) कटफलादि काथ २॥ तो०
संशमनी २-४ रत्ती
यवक्षार २ माशा

१ पुड़िया का काथ कर ४ मात्रा बनाकर दिया गया।

(कट्फलं कत्तृणं भार्गी मुस्तंधान्यं वचा भये।
शुण्ठीं पर्पटकम् शृंगीं सुराह्वंच शृतं जले॥
च० चि० अ० १७)

(३) उपनाह-स्वेद (दक्षिण फुफ्फुस में)

(४) कस्तूरी भैरव १-१ गोली—
आवश्यकतानुसार दी जाती रही।

(५) आस्थापन-वस्ति सामान्य गरम जल की)

पथ्य

आहार—कॉफी; पंचकोलसिद्ध-दुग्ध, षडङ्ग पानीय।

बिहार—पूर्ण विश्रान्ति, कम्बल से ढक कर रोगी को रखा जाता था।

दैनिक विवरण

२२।११।४६—तन्द्रा, सामान्य प्रलाप, भुग्ननेत्रता औषध पूर्वोक्त १,२,३,४ दिया।
ज्वर वेग अधिक से अधिक १०२॥ श्वसन—५५ प्रति मिनट
नाडी—वेगवती (१३०) प्रति मिनट

नोट—यह ज्वर की पूर्ण पच्यमानावस्था समझनी चाहिये।

२३।११।४६—विबन्ध, ष्ठीवन में रक्ताभाव अर्थात्-सपित्त-श्लेष्म ष्ठीवन, किंचित् आध्मान, औषध पूर्ववत् १,२,३ ४, दिया।
दक्षिण उदर प्रदेश में पीडनाक्षमता,
अल्प निन्द्रा, ज्वर वेग १०१ डिग्री,
नाडी १०० प्रति मिनट, श्वसन ४०, नासापार्श्व में स्फूर्जनाल्पता।

२४।११।४६ मल-प्रवृत्ति, सरक्त-पित्तश्लेष्म-ष्ठीवन दवा पूर्वोक्त १,२,३, ४ चालू
निद्रा, दक्षिण-फुफ्फुस किंचित स्वस्थ, वाम फुफ्फुस के अधोभाग में सश्लेष्म मन्द ध्वनि, ज्वर वेग १-२, श्वसन ४५, नाडी ११० प्रति मिनट, तृषाधिक्य।

२५।११।४६—निद्रा-उत्साह, दक्षिण-फफ्फुस में। दवा पूर्वोक्त १,२,३, चालू
यत्र-तत्र सश्लेष्म वातध्वनि-ज्वर वेग १०२, आज द्राक्षासव और मृगमदासव ये दोनों दवा बढ़ाई गई।
श्वसन ४५, प्रतिमिनट नाडी १२०, जिह्वानिराम, तृषाधिक्य, स्वेद-प्रवृत्ति।

२६।११।४६—मल-प्रवृत्ति, निद्रा, उत्साह, [illegible] फुफ्फुस पूर्ववत, प्राकृत ज्वर वेग-अल्प-६६ [illegible] १००, श्वसन ४१। दवा पूर्वोक्त १।२।३ [illegible]

२७।११।४६—ज्वर वेग ६७, शेष पूर्ववत्, चालू [illegible] पूर्वोक्त १,२,३।

२८।११।४६ कास, दौर्बल्य-शेष प्राकृतवत्। दवा पू[र्वोक्त] १,२,३। आज पथ्य में मुद्‌यूष दिया गया।

नोट—रोगी को २४-११-४९ को ज्वर का वेग [illegible] हो जाना चाहिये था किन्तु स्वेद आने पर शीतवात[illegible] कारण वाम-फुफ्फुस भी पीड़ित हो गया अतः पच्यमाना[वस्था] ३ दिन और भी अधिक हो गई।

इसके अनन्तर रोगी को सभी दवाइयां बन्द [कर] पिप्पली यष्टी सदृश का उपयोग किया गया, [illegible] पाण्डुता आदि सभी लक्षणोंके दूर होने पर ७-१[illegible] के दिन रोगी को छुट्टी दी गई।

नोट—अक्टूबर १९४९ से ३० अप्रैल ५० तक लगभग ५० रोगियों पर इस प्रकार की दवाइयों का [illegible] न्यूनाधिक्य कर उपयोग किया है, जो रोगी ज्वरारम्भ [illegible] दिन के अन्दर हौस्पिटल में आ गये हैं, उनका ज्वर पांच [illegible] अथवा सात दिनों में कम हो गया है, इनमें कुछ श्लेष्म[illegible] के, कुछ वात-श्लेष्म-ज्वर के, कुछ पित्तश्लेष्म ज्वर के थे। [illegible] रोगी पांच दिनके बाद हौस्पिटल में आये हैं उनका [illegible] ७ से १२ दिनों में मुक्त हुआ है।

वैद्य बन्धुओं से मेरी नम्र प्रार्थना है कि वे [इस] प्रकार दोषों का तर-तम भाव देख कर चिकि[त्सा] करने का यत्न करें, निश्चय ही सफलता मिले[गी]। कई डाक्टर बन्धु कहते सुने जाते हैं कि "सल्फा[डाय]मीन" आदि के आविष्कार के पूर्व ६० प्रतिशत न्यु[मो]निया के रोगी मर जाते थे, इस परिणाम से [illegible] उक्त वात को सत्यता में सन्देह होती है, हां स[न्नि]पातिक (कर्कटक-सन्निपात) ज्वरों में यह [बा]त सत्य अवश्य हो सकती है, सो आज पेनिसि[लिन] सदृश अमृत विन्दु का आविष्कार होने पर भी [illegible] मृत्यु संख्या वैसी ही है।

इस रोगी की चरकादि आर्ष-वाक्यों के आ[धार] पर हेतु विपरीत-चिकित्सा न कर समयानुसार [illegible] व्याधि-विपरीत-चिकित्सा की गई है तदर्थ [illegible] समाज से क्षमा प्रार्थी हूं।

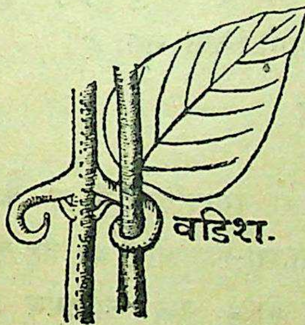
प्रकाण्ड: (The Stem)

कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य; बी० ए०

भेद—

काण्ड की रचना, ऊँचाई, लम्बाई, क्रमशः आयु एवं जीवन का रंग-ढंग और कार्यों के कारण निम्न भेद पाये जाते हैं। वायवीय और भौमिक या भूमिगत। वायवीय के भेद ये हैं। (१) उत्तान या सरल उन्नत, (२) प्रणत परावलम्बी या मृदु काण्ड। इन दो प्रधान भेदों के उपभेद बहुत से हैं। क्रमशः उनका वर्णन किया जाता है।

वडिश आरोहक.



चित्र—२७

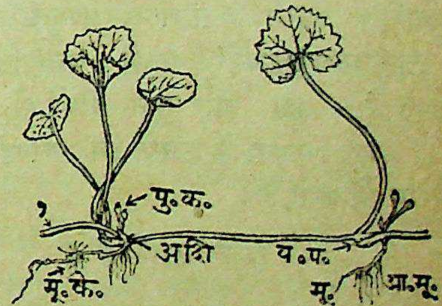
सरल (सीधा-खड़ा) वा उत्तान काण्ड में 'वडिश' लगा हुआ दिखाया गया है। इस प्रकार के वडिशों के सहारे अनेक मृदु-वनस्पतियाँ काष्ठमय वनस्पतियों के ऊपर चढ़ जाती हैं।

उत्तान काण्ड

यह भूमि के ऊपर सीधा खड़ा रहता है और बिना किसी के सहारे यथा शरपुंखा, बावची, सूर्यमुखी, आम, बब्बूलादि। ये उत्तान-काण्ड तृणमय (हरीतक) और काष्ठमय दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं।

(१) तृणमय उत्तान काण्डः--आयु के अनुसार ये तीन प्रकार के हैं। (१) वर्षायु, (२) द्विवर्षायु, (३) चिरायु (बहु वर्षायु)। अधिकांश तृणमय काण्ड वर्षायु और द्विवर्षायु होते हैं। द्विवर्षायु या द्विवार्षिक क्षुप प्रथमवर्षमें अंकुर, काण्ड, पत्र और पुष्पादि उत्पन्न करते हैं और द्वितीय वर्ष में फल और बीज। तिल, गाजर, मूली, आदि इसी प्रकारकी वनस्पतियाँ हैं। इन्हें ही आयुर्वेद में "ओषधि" (ओषध्यः फलपाकान्ताः) कहा गया है।

ब्राह्मी-संसर्पि काण्ड.



चित्र—२८

मृदु-काण्डों का प्रणत प्रकार और भूमि पर फैलने वालों का सर्पि प्रकार। यह ब्राह्मी-मण्डूकपर्णीका क्षुप है।

पु० क०=पुष्प कलिका
व० प०=बल्क पत्र
मू०=मूल
आ० मू०=आगन्तुक मूलें
मू० को०= मूल कोष

बहु वर्षायु तृणमय सरल-काण्डवाली वनस्पतियों में, भूमि में रहने वाला स्थायी काण्ड पाया जाता है। जो प्रति वर्ष वायवीय काण्ड, पत्र-पुष्पादि को उत्पन्न

करता है। ये वायवीय अवयव ऋतु के अन्त में मुरझा जाते हैं। अतएव साधारण दृष्टि में ये भी 'वार्षिक' ही प्रतीत होते हैं। शरपुंखा, बला, कोकिलाक्ष (ताल मखाना) आदि ऋतु में उत्पन्न होकर ऋतु के अन्त में सूख जाने से इन्हें भी 'ओषधि' कहा जाता है। इन वनस्पतियों के भूमिके अन्दर रहने वाले काण्ड इतने छोटे-छोटे होते हैं कि उनका अस्तित्व भी मूल और पत्र में ही समा जाता है।

यद्यपि मूल के पास ही अति-क्षुद्र-काण्ड और पर्व भी पाया जाता है। यथा रामवांस, केतकी, घृतकुमारी आदि। आरारोट, आर्द्रक, कुलिञ्जन, केला भी इसी वर्ग में सम्मिलित हैं। इन्हें 'हरितक' (Herbs) कहा जाता है। हरितकों से बड़े और वृक्षों से छोटे, मध्यम आकार के उत्तान या सरल-काण्डों वाली वनस्पतियों को 'गुल्म' (Shrubs) कहा जाता है। यथा जपा, कार्पास, वासा, निर्गुण्डी शेफालिकादि। आम, सागौन, बब्बूल, हरीतकी आदि दृढ़काष्ठमयकाण्डों वाली वनस्पतियों को 'वृक्ष' कहते हैं। वृक्ष और गुल्म दोनों ही चिरायु होते हैं। कार्य भिन्नता के कारण इन काण्डों में भी कुछ उपभेद हो जाते हैं।

वृन्त आरोहक



चित्र—२९

वृन्त वा पत्रदण्ड मुड़कर आरोहमें सहायक हो जाता है।

मांसल काण्ड

थोहर (व्रज) करीर आदि मांसल काण्ड वाले हैं। इनके काण्डों में जलाधान घटक रहते हैं। जिनमें जल का संचय होता रहता है। इन वनस्पतियों में पत्र प्रायः नहीं होते। करीर के विषय में "पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषोवसन्तस्य किं" की लोकोक्ति सुप्रसिद्ध है। इनके काण्ड हरे रंग के होते हैं और वे पत्तों का कार्य भी करते हैं। इन काण्डों का उपरि-स्तर तो सूय-प्रकाश में पत्तों के समान आहार निर्माण एवं श्वास-प्रश्वास का कार्य करते हैं। और अन्दर का जलाधान घटकों का बना होता है। आहार-संचय के कारण भी काण्डों में प्रायः परिवर्त्तन हो जाता है। मूली, शलगम आदि के जड़ दीखने वाले फूले हुए भाग वस्तुतः काण्ड ही हैं। अधिकांश काण्ड वायवीय होते हैं किन्तु कुछ भूमिगत भी। जिनका वर्णन आगे किया गया है।

काष्ठ-मयकाण्ड

इस प्रकार की वनस्पतियों में न केवल काण्ड अपितु उनकी शाखा-प्रशाखाएँ भी बहु-वर्षायु होती होती हैं। सेव आदि कुछ काष्ठमय काण्ड वाले वृक्षों में कुछ वामनावतार अंकुर भी उत्पन्न होते हैं। इनकी वर्धन-शक्ति सीमित होती है "अतः इन्हें 'वामनांकुर' भी कहा जाता है। इन पर पत्र और पुष्पों के गुच्छे लगे रहते हैं। कभी-कभी ये 'वामनांकुर' इतना बढ़ते हैं कि दैत्याकार हो जाते हैं।

प्रणत-परावलम्बी या मृदु-काण्ड

इस प्रकार के काण्ड मृदु होने के कारण भूमि पर फैले रहते हैं अथवा किसी का सहारा लेकर ऊपर चढ़ते हैं। लताएँ, गिलोय, ज्योतिष्मती, विधारा, त्रिवृत् आदि और मूषाकर्णी, मण्डूकपर्णी, कटुतुम्बी

काशीफल, कूष्माण्ड आदि शाक भाजी इसी प्रकार के काण्डों वाली वनस्पतियां है। (देखें चित्र सं० २८)

कांडों के निम्न भेद होते हैं

(अ) आरोहक काण्ड :—इन काण्डों वाली वनस्पतियाँ किसी आश्रय-वृक्ष, मकान आदि पर अपने विशेष प्रकार के आरोहक-अवयवों की सहायता से उपर चढ़ती हैं। जिनके भेद निम्न हैं। आरोहक-साधन के अनुसार इनके नाम दिए जाते हैं।

(क) मूलारोहक—छोटी-छोटी आगन्तुकमूलों द्वारा ये स्वाधार पर चढ़ते हैं। पान, पिप्पली, चव्य, गजपिप्पल आदि इसके उदाहरण हैं। (देखें सचित्र आयुर्वेद-अक्टूबर १९४९ चित्र-१६)

(ख) सूत्रारोहक :—द्राक्षा, त्रिवृत, मटर, उशवा आदि वनस्पतियों को काण्ड या पत्रादि सूत्ररूप में परिणत हो जाते हैं, और आश्रय पर चढते हैं। इन सूत्रों में भी कुछ विशेषताएँ होती हैं। कुछ वनस्पतियों के सूत्रों में चिमटी के आकार का (संदंशवत्) विशिष्ट अवयव होता है, जिससे वे अपने आधार को चींटे के समान पकड़ लेती हैं। इन्हीं का भेदवृन्तारोहक भी है।

(ग) बड़िशारोहक :—ये काण्ड एक प्रकार के वड़िश (हुक) के समान कांटो द्वारा उपर चढ़ते हैं। स्थल चम्पक या कटंकी चम्पक इसका उदाहरण है। वड़िश के स्थान में कांटों से भी कुछ वनस्पतियां स्वाधार पर चढ़ती हैं।

(घ) पत्रारोहक :—पत्राग्र या पत्रदण्ड से ये बनस्पतियां आरोहण करती हैं। कलिहारी (लांगली) मोर वेलादि इसी वर्ग की है।

(आ) व्रतति वल्ली :—आराहकों के विपरीत ये वनस्तियां स्वाधार पर चारों ओर से लिपटकर चढ़ती हैं। अपराजिता, (कोयल), जीवन्ती इसका उत्तम उदाह ण है। इनमें जो मोटे काण्ड वाली और बड़ी वसस्पतियां होती हैं होती है



चि०—३०



चि० - ३१

वडिश द्वारा आश्रय पर चढ़ना, यह कंटकी चम्पक नामक वनस्पति है। चित्र-३०

लांगली (कलिहारी का पत्र (आवर्त्तित-मुड़ा हुआ) पत्र) आश्रय पर इसके सहारे से चढ़ता है। चित्र-३१

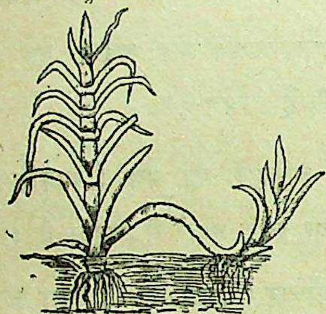
उन्हें वीरुध (Lianes) कहा जाता है, यथा गिलोय, काधवीलता, ज्योतिष्मती, कोविदार आदि।

(इ) प्रसर्पि काण्ड :—अनेक वनस्पतियों में उत्पादन क्रिया विशिष्ट अङ्गों द्वारा होती है। अदरक, हरिद्रा, शुण्ठी, मूषाकर्णी इसके उदाहरण हैं। ये काण्ड पृथ्वी पर या पृथ्वी के कुछ नीचे सांप के समान सरकते हुए चलते हैं। और कुछ अन्तर पर वायवीय उत्तान-काण्ड उत्पन्न करते जाते हैं अतः इन्हें 'संसर्पि काण्ड कहा गया है। प्रणत-काण्डों के ही अन्तर्गत होने से इनका वर्णन किया गया है। भूमि गत काण्डों का वर्णन आगे किया गया जायगा। इनके तीन भेद हैं।

(१) संसर्पि, (२) संसरणि, (प्राण्युत्पादे संसरण मित्यमरः) या नतमूलिनी, (३) उत्प्ररोही।

संसर्पि काण्ड :—ये भूमि के पृष्ठ भाग पर एक ही दिशा में चलने वाले कोमल काण्ड हैं। भूमि तल पर पत्रदण्ड-मूल से उत्पन्न हाते हैं। कुछ अन्तर पर वल्क पत्रों को उत्पन्न करते जाते हैं। इन वल्क पत्रों की कोण में एक अक्षि रहती है। इन अक्षियों के मूल से आगन्तुक मूलें निकल कर भूमि में चली जाती हैं जिससे इनकी स्थिरता बढ़ जाती है। मण्डूकपर्णी मूषाकर्णी, स्ट्राबेरी इसके उदाहरण हैं। प्रकाश से भूमि की ओर चलते हैं।

संसर्पि काण्ड.
(वा.का.प.रु.)



चित्र—३२

संसर्पि काण्ड—वा० का० प० रू०=वायवीय काण्ड का परिवर्तित रूप—यह भूमि पर ऊपर ही ऊपर चलता है। भूमि की स्तर रेखा के नीचे दो स्थानों पर काण्ड से आगन्तुक मूलें निकलती दिखाई देती हैं।

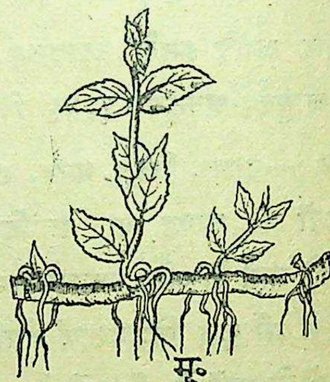
संसरणि

उत्पत्ति, वर्धनादि में ये संसर्पियों के समान ही किन्तु उनकी अपेक्षा दृढ़, छोटा और मोटा होता है। काण्ड के अग्र-भाग से उत्पत्ति होना, इसकी विशेषता है। हरिद्रा, आर्द्रक इसके उत्तम उदाहरण हैं। (देखें चित्र-१२)।

उत्प्ररोही

ये भी प्रसर्पि काण्डो का ही भेद है। इसकी विशेषता यह है कि यह ऊपर की दिशा में बढ़ने का प्रयास करता है। इससे वायवीय-अंकुर भी उत्पन्न हो सकते हैं। भूमि गत काण्ड, पत्र दण्ड मूल में उपस्थित अक्षि से उत्पन्न होकर यह ऊर्ध्व दिशा (पृथ्वी के ऊपर) गमन करने का प्रयत्न करता है, अतः इसे 'उत्प्ररोही' कहा गया है। मूल की आगन्तुक अक्षि से भी इसकी उत्पत्ति संभव है। गुलाबादि में इस प्रकार की उत्पत्ति देखी जाती है। इसके भूमिगत भाग में मूल का भ्रम हो जाता है। किन्तु पत्र वल्क की उपस्थिति एवं उत्पत्ति प्रकार इस भ्रम को दूर कर देती है। पोदीना, चन्द्रमल्लिका इसके उदाहरण हैं।

(वा.का.प.रु.)



चित्र—३३

पिपरमेन्ट का क्षुप। यह भी वायवीय काण्ड का परिवर्तित रूप है और इसमें से बीच-बीच में वायवीय काण्ड वा शाखायें निकलती दिखती हैं।

कन्दात्मक काण्ड या वल्की काण्ड—इस प्रकार के काण्डों को पत्र दण्ड-मूलोत्पन्न-अक्षि कहना अधिक उपयुक्त है। आहार संचय के कारण ये मांसल एवं बड़ी हो जाती है। साधारण अक्षियों से इनमें विशेषता यह है कि ये मातृ वनस्पति से पृथक् होकर भी उत्पादन में समर्थ होती हैं। इस प्रकार की वनस्पतियों में बीजों से उत्पत्ति अनिवार्य नहीं होती। पलाण्डु आदि वनस्पतियों में ये पुष्पों का स्थान ले लेती हैं। (देखें चित्र ३५-३६)

भौमिक-काण्ड

भूमिगत वा भूमिस्थ काण्ड-भूमि के नीचे रहने वाले काण्ड चिरायु या बहुवर्षायु वनस्पतियों के अंग हैं और ये प्रायः कन्दात्मक होते हैं। अनेक बहुवर्षायु वनस्पतियों में भी पाए जाते हैं। इनमें भूमिके ऊपरके भाग में भूमि पर फैला हुआ छोटा-सा कन्द होता है। जो प्रजनन का कारण बन जाता है। कभी-कभी उसी छोटे-से काण्ड के द्वारा उत्पादनक्रिया होने लगती है। इस अवस्था में ये अति शीघ्र समीपस्थ प्रदेश में फैल जाते हैं।

मूलाभास (मूल-मूर्त्ति या अनियताकार) ये भूमि के तल में तिरछे फैलते हैं, एक समान-स्तर पर जो साधारण दृष्टि से देखने पर मूल ही लगते हैं अतः इन्हें 'मूलाभास' कहा गया है; किन्तु पत्र और अक्षियों की उपस्थिति से मूल का भ्रम निवृत्त हो जाता है। ये पत्र पृथ्वी के उपर प्रकाश में आकर पर्ण (हरे-पत्ते) भी बन सकते हैं और पत्र-वल्क भी। अधिकांश भूमिगत-काण्डों में पत्र-वल्क और वह भी क्षुद्र रूप में पाए जाते हैं। इन वल्क-पत्रों की अक्षि से या मूलाभास काण्डों की शुंगा (अन्तिमाक्षि) से वायवीय-अंकुर उत्पन्न होते हैं। अनेक आगन्तुक मूलें भी इस काण्ड से निकलती हैं और 'सौत्रिक मूल संस्थान' का भी निर्माण करती हैं।



चित्र—३४

मूलाभास काण्ड—५० चि०=पूर्व (पहले) वर्ष के वायवीय अंकुर के चिह्न।

आ० मू०=आगन्तुक मूलें।

पा० शा०=पार्श्विक शाखा को काटकर अलग लगाया जा सकता है। या मुख्य काण्ड के सड़ या गलजाने पर इस शाखा से वनस्पति की वृद्धि हो सकती है।

वृद्धि

वृद्धि शुंगा या वल्क-पत्र में उत्पन्न अक्षियों से होती है। पुराने होने पर यह अंकुर अपने चिह्न छोड़ जाते हैं। विकास काल प्रायः वसन्त और नाश काल ग्रीष्म ऋतु है। मूलाभास काण्डोंके ये वायवीय अंकुर प्रति वर्ष एक गोल चिह्न (मेखला) काण्ड पर छोड़ जाते हैं। जिससे इनकी आयु जानी जा सकती है। इन दो मेखला-चिह्नों के मध्य का भाग (पर्व) एक वर्ष की वृद्धि का द्योतक है, जो प्रायः वल्क पत्रों से ढका रहता है। किन्तु वायवीय अंकुर के मूल में उत्पन्न अक्षि से आगामी बसन्त ऋतु में पुनः उत्पत्ति होती है। एक या दो दूसरी अक्षियों से भी वृद्धि होती है। इन दूसरी अक्षियोंसे उत्पन्न शाखाओं को मातृ-वनस्पति से पृथक् करके भी वृद्धि की जा सकती है। और प्रकृति ऐसा करती भी है। मूलाभास काण्डों के पुराने भागों के गल जाने पर ये ही अक्षियां प्रजनन का कार्य करती हैं। आर्द्रक, हरिद्रा, कलिहारी, कमल, इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार की वृद्धि को "परस्परोपजीवी" (काण्ड द्वारा शाखाओं की और शाखाओं द्वारा काण्डों की) वृद्धि कहा जाता है। शर-नरसल आदि घासें भी इसका उदाहरण हैं। यह उत्पत्ति अकुण्ठिताग्र रूपमें होती रहती है। इनमें काण्डका अग्र भाग सदा अकुण्ठित, प्रवर्धन-शील एवं एक ही दिशामें बढ़ता जाता है। मूल-दण्ड जैसा दीखने वाला अब तक वस्तुतः 'मूलाभास काण्ड' ही है यथा रेवन्द चीनी (पीत मूली में)।

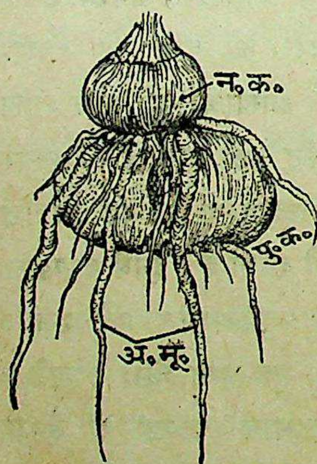
वज्र (दृढ़कन्द)

सूरण (जिमीकन्द), सुरंजान और केसर कन्दों को 'वज्र' कहते हैं। ये पूर्वोक्त मूलाभास-काण्डों का ही स्थूल जौर घनीभूत रूपान्तर हैं। इनमें काण्ड, घन-कठोर, दृढ़ और स्थूल होते हैं। जिन

पर रक्षक (ढाल) का काय करने वाले बहुत से पत्र लगे रहते हैं। इनका आकार आहार संचयकी मात्रा के अनुरूप रहता है। अधिक आहार वाला मोटा और कम आहार संचय होने पर अपेक्षाकृत कुछ पतला। पत्र-मूल में एक या एक से अधिक अक्षियाँ पाई जाती हैं। इन अक्षियों में पत्र-मूल में सीधा, सरल और छोटा-सा काण्ड रहता है। इसी काण्ड के अग्र भाग से पुष्प निकलता है। वसन्त में ये अक्षियां बढ़ने लगती हैं और अंकुर उत्पन्न करती हैं। अंकुर-मूल से आगन्तुक-सौत्रिक मूलें निकल कर पृथ्वी में गहराई की ओर चली जाती हैं। ग्रीष्म-ऋतु में हरे पत्तों द्वारा बना आहार का अतिरिक्त अंश 'वज्र'में संचित होता जाता है और वज्र को बढ़ाता एवं जन्म देता है। यह नया वज्र कन्द आगामी वसन्त में उत्पन्न होने वाले अंकुर के उत्पादक पत्रोंसे ढका रहता है। यद्यपि हरे पत्ते कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं। यह नया वज्रकन्द कलामय पत्तों द्वारा आवेष्टित

(चि० स०)

वज्रकंद.



चित्र—३५

यह जिमीकन्दका कन्द है। न० क०=नवीन कन्द। पु० क०=पुराण कन्द। अ० मू०=अधरधावीमूलें। पुराने कन्द नीचे पृथ्वी की ओर खींचती रहती है। जिससे कन्द के ऊपर पृथ्वी का स्तर वहाँ रहता है।

होकर भूमि में पड़ा रहता है। किन्तु प्रकाशीय वृ... रुक जाने पर भी भूमि में पार्श्विक-अक्षियों से इसकी वृद्धि होती ही रहती है। यह भूमिगत वृद्धि 'गौण' वृद्धि, कहाती है, जैसा कि शाखा क्रममें दिखाया गया है।

'वज्रों, को साधारणतः वल्की-कन्द' भी क... दिया जाता है। वस्तुतः दोनों एक दूसरे से पृथक् हैं।

वल्की-कन्द

इन्हें भूमिगत विशिष्ट प्रकार का अंकुर भी क... दिया जाता है। (देखें चित्र—२८) पलाण्डु, वन पलाण्डु, लशुनादि इसी प्रकार के अन्तर्गत हैं। ये काण्ड अन्य काण्डोंकी अपेक्षा बहुत छोटे होते हैं। आहार का संचय मोटे-मोटे वल्कों में होता है। ये वल्क हरे पत्तों या वल्क-पत्रों के ही स्थूलरूप होते हैं। अक्षियाँ इन वल्कों की मूल कोणसे उत्पन्न होती हैं। वसन्त ऋतु में इनमें से एक या दो अक्षियाँ पूर्व संचित आहार के आधार पर बढ़ने लगती हैं। इन वर्धनशील अक्षियोंको चारों ओर से हरे पत्ते वा वल्क पत्र घेरे रहते हैं। ये अक्षियां ही बढ़ कर पुष्प रूप में विकसित हो जाती हैं। इन अक्षियों के आधार से भी आगन्तुक सौत्रिक मूल उत्पन्न होते हैं। इन काण्डों के निम्न भेद हैं।

(अ) पत्रकन्द या सकल कन्दः—इनमें आहार का संचय पत्तों जैसे अंगो में (जिन्हें शकल (टुकड़े) (मातृय शकलवत्) भी कहते हैं) होता है। ये छोटे शकल एक दूसरे को अपने किनारों से दावे रहते हैं। (देखें चित्र—१२) स्थल पद्म इसका अच्छा उदाहरण है।

(आ) चोलधारी या कंचुकी कन्द- इन में बाहर के कन्द बड़े होते हैं और कन्द को पूर्ण रूप से ढके रहते हैं। यथा—पलाण्डु (प्याज) और

लशुन में। एक वर्णमय श्लैष्मिककला आच्छादन, इस जाति के कन्दों की विशेषता है। ये अच्छादन विगत वर्षके पत्रों के अवशेष या वल्क पत्रों का कलामय भाग होते हैं।

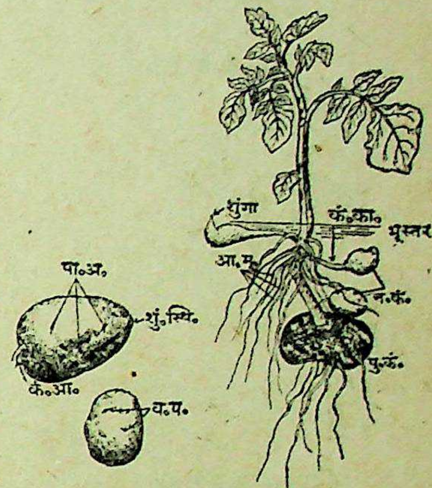
वल्की और वज्र कन्द वनस्पति की दीर्घायु एवं प्रजनन (भावी-उत्पत्ति) के कारण होते हैं। मूलाभास काण्ड कन्दों की अपेक्षा मूल कन्दों के ही समीपस्थ है। अक्षियों और बीजो दोनों ही द्वारा इनकी उत्पत्ति इनकी विशेषता है। (देखें चित्र-१८)

वज्र और वल्की कांड-कन्दों की भूमि में गहराई

एक जाति के कन्द प्रायः समान गहराई पर पाए जाते हैं। वृद्धि के साथ-साथ नए कन्द भूमि में ऊपर को उठते रहते हैं। इस उत्थान के विपरीत गहराई का सन्तुलन ठीक रखने के लिए कुछ कन्दों में संकोचशील मूलें निकल आती हैं। जिनमें इन कन्दों को भूमि में गहरा ले जाने की प्रवृत्ति रहती है। (देखें चित्र-३५) अतिरिक्त इसके वनस्पतियों के आस-पास पत्रों आदि सड़ने-गलने से भी भूमि का स्तर बढ़ता रहता है। इन सब कारणों से ये कन्द भूमि में लगभग एक नियत स्तर पर रहते हैं।

स्फीत वर्तुल या ग्रन्थिमय कांड

आलु, कचालु, शकरकन्द इसी प्रकार के कन्द हैं। उत्पादन और आहार-संचय दोनों ही काम ये कन्द करते हैं। आलु में उपस्थित शुंगाओं और पार्श्विक अक्षियों से इनका काण्डत्व सिद्ध है। निचले पत्तों की पत्रमूल से उत्पन्न अक्षि पृथ्वी में तिरछी चलती है, जिससे आलु आदि की उत्पत्ति होती है। आहार संचय के कारण ये भूमिगत पार्श्विक शाखाएँ फूल (स्फीत हो) जाती हैं। इनमें श्वेतसार एवं कुछ अंश प्रजीवनकों का भी पाया जाता है। इनका कलामय अवतरण भूरे रंग का होता है। भूमिगत फूला हुआ काण्ड होने के कारण ही आलू में अनेक पत्तों एवं अक्षियों की सत्ता पाई जाती है।



चित्र - ३६

शुङ्गा—अन्तिम अक्षि वा वर्धमान भाग।
कं॰ का =कन्द काण्ड
न॰ कं॰=नवीन कन्द।
पु॰ कं॰=पुराण कन्द
आ॰ मू॰=आगन्तुक मूलें।
पा॰ अ॰=पार्श्विक-अक्षियाँ (आलू के कन्द में)
शु॰ स्थि॰=शुंगा या प्रवर्धमान भाग की स्थिति।
कं॰ अं॰=कन्द-अंकुर।
व॰ प॰=वल्क-पत्र।

परिवर्त्तित कांड

काण्डों का बहुरूपियापन या "एकोऽहं बहु स्याम" की अभिलाषा तो उक्त वर्णन से स्वतः सिद्ध है। किन्तु कुछ रूपान्तर तो इतने आश्चर्यजनक हैं कि उन्हें काण्ड कहना ही असम्भव-सा हो जाता है; यदि विशिष्ट परिक्षाओं द्वारा उन्हें काण्ड सिद्ध न किया जाए। काण्ड के ये परिवर्तित रूप पठनीय और दर्शनीय है।



चित्र—३७ (अ)

सं०=सन्धि। सौ० का=सौत्रिक काण्ड।

अ०=अक्षि।

चित्र—३८ (आ)

सं=सौ० का=संसक्त वा संश्लिष्ट सौत्रिककाण्ड (घुण्डियां)

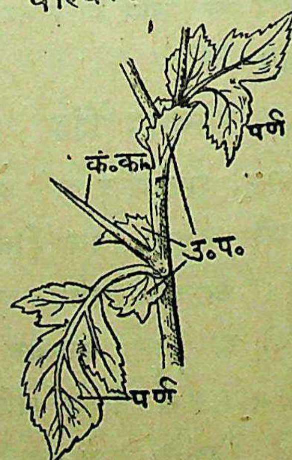
सूत्रात्मक कांड

ये काण्ड सूत्र रूप होकर वा सौत्रिक-काण्ड वनस्पति को अपने आधार पर चढ़ने में सहायता देते हैं। इसी कार्य के कारण इनका रूपान्तर होता है। ये काण्ड मृदु, बहुधा विभक्त एवं क्षुद्र वल्की पत्रों से युक्त होते हैं। वृद्धि अवस्था में काण्ड-शाखा के समान, शाखा-शिखर से नियमित रूपेण वृद्धि होती रहती है। इस वृद्धि-अवस्था में जब यह किसी सशक्त और दृढ़ आधार योग्य पदार्थ के संपर्क में आता है, तो उसके चारों ओर लिपट जाता है। नवीन काण्ड में स्पर्श ज्ञान पाया जाता है। इसी ज्ञान के कारण अपने आधार को पहचान कर इसके चारों ओर लिपट जाता है। पुराना ज्ञान शून्य हो जाता है।

इस काण्ड के किसी आधार पर लिपट जाने से आवर्त्त (साँप की कुंडली के समान) बन जाते हैं। (देखें-चित्र—१७)। ये आवर्त्तों का घुमाव अपनी दिशा के अनुसार वामावर्त्त या दक्षिणावर्त्त (बाईं या दाहिनी ओर के घुमाव) कहाते हैं। दोनों आवर्त्तों के मध्य में व्यवच्छेदक चिन्ह पाया जाता है। इन आवर्त्तों के कारण ही वनस्पति अपने आधार पर दृढ़ता से स्थिर हो जाती है। घिया, काशीफलादि वनस्पतियां सौत्रिक काण्डों के द्वारा ही स्व-आधार पर चढ़ती हैं।

इन सौत्रिक-काण्डों के अक्षीय अकुंरों या मर्यादित शाखा क्रम के परिवर्त्तित स्वरूप द्राक्षा-लता आदि में पाये जाते हैं। इन सौत्रिक-काण्डों में एक विशेष प्रकार की चिपकने वाली घुण्डियां (संश्लेषण शील वर्त्तुलाण्ड) पाई जाती हैं। (देखें चित्र ३८) ये घुण्डियां स्व-आधार पर चिपक जाती हैं और इस तरह आधार पर बिना लिपटे भी ये वनस्पतियां आरोहण कर सकती हैं।

कण्टकात्मक काण्ड :—ये उन काण्डों के परिवर्त्तित रूप हैं, जिनके अग्रकोण की वृद्धि बन्द हो गई है।



चित्र—३९

कं० का०=कंटकात्मक वा कटंकरूप काण्ड।

उ० प०=उप पत्र।

वे कठोर एवं नुकीले हो जाते हैं। वेल, दाड़िम प्राचीनामलक (पानी-आंबला) अलूचा आदि इसी प्रकार के कंटकों वाले हैं।

पत्रमूल से अक्षियों की उत्पत्ति, वल्कपत्रों और कलिकाओं की उपस्थिति, उन्हें काण्ड सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। शुष्क-जलवायु में काटों की वृद्धि हो जाती है और आर्द्र में न्यूनता। किन्तु यह कोई नियम नहीं है। कंटकों की उत्पत्ति पर जलवायु का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता।

कील और कंटक :—ये दो प्रकार की वस्तुएँ अनेक वनस्पतियों में पाई जाती हैं। इनके विषय में कुछ जानना आवश्यक है।

कांटे और कीलें (Thorn and Pickle) दोनों नोकदार तेज अवयव हैं और पशुओं से वनस्पतियों की रक्षा के लिए बनाए गये हैं। इनका दूसरा काम वनस्पति को स्वाधार पर चढ़ाना है। इतना साधर्म्य होते हुए भी उत्पत्ति एवं रचना में भेद है।

कांटा

(१) यह काण्ड का परिवर्त्तित रूप है और पत्रमूल से उत्पन्न होता है अतः इसकी स्थिति पत्रमूल की अक्षि के अनुरूप होती है।

(२) कांटा गहरा होता है और बिना क्षति पहुंचाए इसे हटाया नहीं जा सकता।

(३) कांटा लम्बा और प्रायः सीधा होता है।

(४) शाखा का परिवर्त्तित रूप होने के कारण कांटे पर फूल, फल और कभी-कभी शाखा की उत्पत्ति भी देखी जाती है। बब्बूल आदि के कांटे इनके उत्तम उदाहरण हैं।

कील

(१) यह काण्ड की मलरूप उत्पत्ति है। काण्ड पर कहीं भी उत्पन्न हो सकता है और स्थिति या उत्पत्ति का कोई नियम नहीं है।





चित्र—४० और चित्र—४१

कील और कटंक का भेद दर्शाया गया है।

(२) यह ऊपरि अंग है जो साधारण दवाव से भी बिना किसी प्रकार की क्षति पहुंचाए वनस्पति को हटाया जा सकता है।

(३) कील छोटी एवं सिरे पर झुकी हुई होती है।

(४) बाह्य अवयव होने के कारण पत्र-पुष्पादि से रहित और शाखा से रहित होता है। शालमली आदि के कीलं इसी प्रकार के होते हैं।

पर्णकोष्ठ

इस प्रकार में काण्ड ; पत्र के रूप में परिणत हो जाता है और फूल जाता है। यह हरा-फूला

हुआ और चपटा होता है। हरे होने के कारण यह परिवर्त्तित काण्ड, पत्तों का भी कार्य करता है। पत्ते यदि होते भी हैं तो छोटे वा अविकसित। सेहुण्ड, नागफण, आदि उन्हीं जाति की वनस्पतियाँ हैं और शतावरी, जलकुम्भी आदि इसके उदाहरण हैं।

परिवर्तित काण्ड. (चि.स.)

पर्णकोष्ठ काण्ड.



चित्र—४२

प० का०=पर्णकोष्ठ रूप काण्ड।

पु० क०=पुष्प कलिका

व० प०=वल्क पत्र

सेहुण्डादि में चपटे और शतावरी आदि में सूच्याकार पर्णकोष्ठ पाए जाते हैं। साधारणत: देखने में ये पत्ते प्रतीत होते हैं किन्तु उनमें पुष्पकलिकाएँ पाई जाती हैं, जो शुद्ध बल्क-पत्रों के मूल से उत्पन्न होती है।

संक्षेपत: काण्ड की जीवनगाथा और विशेषताएँ अधोलिखित है।

(१) काण्ड प्राय: ऊपर की ओर प्रकाश में बढ़ते हैं। उनके अन्त में कलिका पाई जाती है या वे स्वयं कलिका का रूप धारण कर लेते हैं।

(२) काण्डों पर पत्र-पुष्प एवं प्रजनन-अंग पाए जाते हैं।

(३) पार्श्विक कलिकाएँ पत्र-मूल से उत्पन्न होती हैं।

(४) इनका विकास एवं रचना वनस्पति के अन्य अंगों से भिन्न प्रकार की होती है।

उक्त विशेषताएँ काण्ड की सुनिश्चित परिभाषा नहीं हैं। क्योंकि उक्त विशेषताएँ सभी काण्डों में नहीं पाई जातीं। किन्तु ये विशेषताएँ बहुत सीमा तक काण्ड की पहचान करा देती हैं। अत: इन्हें ध्यान में रखना आवश्यक है।

वट और पीपल

श्री भानु देसाई, डाइरेक्टर आफ पार्क्स एण्ड गार्डन्स, बम्बई

वट या बरगद

हमारे धर्म, संस्कृति, साहित्य, लोक-कथाओं एवं यात्रियों के वर्णनों में बड़ और पीपल दोनों वृक्षों का स्थान लगभग एक-सरीखा है। दोनों के विषय में अति प्राचीन काल से साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में जो उल्लेख पाया जाता है; उसका अनुशीलन करने से सहज ही अनुमान होता है, कि ये दोनों वृक्ष निःसंशय मूलतः हमारे ही देश के हैं। प्राचीन भारतीयों ने प्रथम किस वृक्ष को अपनाया इसका उत्तर देना अवश्य कुछ विकट है।

संस्कृत में बड़ के वट, न्यग्रोध, बहुपाद इत्यादि नाम हैं। इससे मिलते-जुलते उद्भिदों के वर्ग का नामकरण भी इसके नाम पर ही 'वटादि वर्ग' किया गया है। वाचकों को विस्मय होगा कि इस वर्ग में बड़, पीपल और गूलर सदृश उद्भिदों के साथ भाँग और गाँजा का भी समावेश है।

बड़ का विशेष परिचय देने की आवश्यकता नहीं। प्रारम्भ में इसके बीज पक्षियों की विष्ठा के साथ किसी अन्य वृक्ष की दरारों में या मकानों अथवा खण्डहरों की दीवालों आदि की तरेड़ों में जा पड़ते हैं। इनसे बड़ का परिपुष्ट वृक्ष उत्पन्न होता है। यह ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है; त्यों-त्यों अपने अपने आश्रय का ही नाश करता जाता है। बड़ किसी वृक्ष पर उगा हो तो उसके अनेक मूल उस वृक्ष को चारों ओर से जकड़ लेते हैं। किसी दीवाल पर लगा हो तो उस दीवाल को ही तोड़-फोड़ देता है। दीवाल के पास उत्पन्न हुआ हो तो कालक्रम से उसकी नींव ढीली करके उसे गिरा देता है। इस दृष्टि से पीपल भी कुछ हद तक बड़ के समान ही है। घरों को बचाकर रखना हो तो दोनों में एक भी वृक्ष को उनपर या उनके निकट बढ़ने न देना चाहिये।

बड़ के पत्ते जब छोटे होते हैं तो उनपर रोम होने से मुलायम लगते हैं। उनका पर्ण भी लाल होता होता है। इसी कारण नवपल्लवित बड़ का देखाव बड़ा नयनाभिराम होता है। इसके बाद इसके फल जब पककर लाल या नारंगी हो जाते हैं तब वर्ष में दूसरी बड़ पुनः मोहक रूप धारण करता है। जिन्हें बड़ का फल कहा जाता है, उद्भिद् विद्या की दृष्टि से वे उसके फूलों के समुदाय हैं। इनमें नर, मादा और द्विलिङ्गी सब फूल एकत्र होते हैं।

गुजरात में नर्मदा के तीर पर कबीर-बड़ नामक एक विशाल वट-वृक्ष है। कलकत्ता के रॉयल बोटेनिकल गार्डन में भी एक अति विशाल बड़ है। कहा जाता है कि संसार में यह सबसे बड़ा बड़ का पेड़ है। यह सन् १७८२ में एक खजूर के पेड़ पर पहले-पहल उगा था। इसकी शाखाओं से मूल फूट-फूट कर अब अनेक वट-वृक्षों की घटा बन गयी है। प्रारम्भिक तना तो कब का नष्ट हो चुका है। किसी समय आन्ध्र की तराई में दो हजार फुट परिधि का एक वट था। इसमें तीन हजार उप-स्कन्ध अथवा शाखाओं से निकले मूल (वट-जटा) थे। किंवदन्ती है कि इसके नीचे बीस हजार पुरुष सुगमता से एक साथ बसेरा ले सकते थे।

पूना के गवर्नमेण्ट-हाउस में वर्षों से वट-जटाओं को अमुक ही दिशा में बढ़ने देकर तथा उनके नीचे सीढ़ी बाँधकर सुन्दर सोपान बनाया गया है।

भारत में शायद ही कोई प्रदेश होगा जहाँ बड़ न उग सकता हो। भूमि यदि बहुत ही रेतीली और देश सूखा हो तो बड़ अधिक बड़े नहीं होते। कच्छ और काठियावाड़ में वर्षों पूर्व मार्गों के दोनों किनारे उगाये हुए बड़ के वृक्ष गोल और कलशाकृति न होकर हवा के झपट्टों के कारण एक ही दिशा में अधिक फैल गये हैं। दूर से देखने से प्रतीत होता है जैसे उनको ऊपर से काट दिया गया हो। वायु के निरन्तर झोंकों का प्रभाव अन्य वृक्षों पर भी ऐसा ही होता है। ग्रामों की सीमापर, खेतों में या वनों में जहाँ बड़ को फैलने के लिए अनुकूल परिस्थिति होती है, वहाँ यह स्वाभाविक रूप में बढ़कर सुन्दर और घटादार आकृतिका बन जाता है।

बड़की शाखाओं तथा पत्तों से एक चिकना रस (दूध-क्षीर) निकलता है। इससे निकृष्ट प्रकार का रबर बनता है। छाल तथा जटाओं के रेशों से रस्सियाँ बनायी जाती हैं। इनका उपयोग कागज बनाने में भी होता है। पहले दियासलाई बनाने में भी इनका व्यवहार होता था। बड़का तना न मकान बनाने के काम आता है, न उसका उपयोग जलाने में ही विशेष होता है। अतः उसका मूल्य बहुत नहीं होता। वट जटाएँ पतली होती हैं तो इनका उपयोग दातुन के रूप में करते हैं। लोटा, घड़ा आदि गहरे बर्तन साफ करने के लिए, वट-जटा की कूची का व्यवहार होता है। वट-जटा की दातुन तथा कूची दातुन बेचने वाले प्रायः लाते हैं। तम्बुओं की खूँटी बनाने के लिए भी इनका उपयोग किया जा सकता है। प्रचीन समय में छतरी की डंडी बनाने में भी इनका उपयोग होता था।

बड़के पत्ते और फल बकरी आदि पशुओं को खिलाये जाते हैं। जंगल में हाथी इन्हें बड़े चाव से खाते हैं। कई प्रान्तों में मनुष्य भी बड़के फल खाते हैं। घोड़ों के लिए ये जहरीले माने जाते हैं।

वैद्यक में वट के अनेक उपयोग कहे गये हैं। शुक्र स्तम्भन के लिए इसका दूध बतासे में रखकर सेवन किया जाता है। दौर्बल्य के कारण कटि-शूल हो तो भी दूध के सेवन से लाभ होता है। व्रणपर दूध लगाने से वे शीघ्र भर आते हैं। कृषकों या श्रमिकों को, हाथ-पैर के काम बहुत करने से उनमें दरारें पड़ जाती हैं; तो, बड़ का दूध लगाने से लाभ होता है। उदक मेह (बहुमूत्र में वट-जटा की छाल का क्वाथ गुणकारी है। इसके फल भी उदक मेह तथा मधुमेह में लाभप्रद माने जाते हैं। वट-जटा की दातुन दाँत तथा मुख के रोगों में उत्तम काम करती है। इससे दाँत चमकदार हो जाते हैं। दाँतों में कीड़े हों (दाँत खाये गये हों) तो बड़का दूध भरने से फायदा होता है। कटि और संधि की वेदना में इसका लेप किया जाता है। बड़के झड़ गये हुए परन्तु हरे पत्तों का काढ़ा चावल के पानी के साथ देने से स्वेद आकर ज्वर का वेग उतर जाता है। गर्भाशय के रोगों में वट का अनेक प्रकार से उपयोग किया जाता है। पत्ते गरम करके फोड़ों पर बाँधने से वे जल्दी पक कर फूट जाते हैं। त्वचा के रोगों में भी पत्तों का उपयोग हितावह है।

अभ्रक की भस्म शीघ्र तथा लाल बनाने के लिए वैद्य जन वट-जटा की भावना देते हैं।

बड़में फल सामान्यतः अप्रेल से जून तक आते हैं। कई वृक्षों में दिसंबर में भी आते हैं। नये पत्ते फरवरी और मार्चमें आते हैं। कई वृक्षों में सितम्बर-अक्तूबर में भी नये पत्ते लगते हैं। कई बार एक ही समय एक ही वृक्ष में कुछ शाखाओं पर नये पत्ते

फूटते हैं, तो कई शाखाओं पर फल आते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वृक्षका जीवन-क्रम शृङ्खलाबद्ध न होकर असंबद्ध-सा प्रतीत होता है। एक ही वृक्षकी भिन्न-भिन्न शाखाओं के जीवन-क्रम के इस भेदका कारण यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण वट एक ही बीजका विकसित रूप नहीं होता, किन्तु अनेक वृक्षोंकी अनेक शाखाएँ परस्पर जुड़ने से वह तय्यार होता है, जिससे उसके भिन्न-भिन्न भागोंमें जीवनी क्रियाएँ भी भिन्न-भिन्न और आगे-पीछे होती हैं।

बीज से बड़का वृक्ष होने में अनेक वर्ष लगते हैं। बाग इत्यादि में इसका पौधा लगाने के लिये डालियों का उपयोग होता है। जहाँ बड़ लगाना हो वहाँ चौमासे के पूर्व गढ़ा खोद कर उसमें मट्टी भर दें। एकाध अच्छी बारिश पड़ने के बाद किसी वट-वृक्ष की हाथ-जितनी मोटी, पाँच, छः या अधिक, लम्बी सीधी शाखायें काट कर उन्हें एक फुट गहरा सीधा गाड़ दें। शाखाओं पर अन्य छोटी शाखाएँ हों तो उन्हें निकाल दें। उनके शिखर पर तारकोल, अथवा अभावे मट्टी और गोबर का मिश्रण लगा दें। वर्षा अच्छी होगी तो अल्प-काल में ही शाखाओं में नीचे नये मूल और ऊपर पत्ते फूट कर पाँच-सात वर्ष से भी अधिक वर्षके वृक्ष जैसा वृक्ष तय्यार हो जायगा।

बड़ को अंग्रेजी में 'बनियन' कहा जाता है। इस नामका मूल, एक मजेकी बात है। अंग्रेज लोग पहले ऐसा समझते थे कि यह वृक्ष बनियों (व्यापार करने वालों) को अतिशय प्रिय है। इसी कारण उन्होंने इस वृक्षको यह सूचक संज्ञा दे दी।

पीपल

संस्कृत में पीपल को अश्वत्थ या पिप्पल कहते हैं। अन्य वृक्षों की अपेक्षया इसकी आयु कई गुणा अधिक होती है। बहुत-से देशोंका प्रतीक-तुल्य अमुक-अमुक वृक्ष होता है। यदि प्रश्न किया जाय कि भारत में कौन वृक्ष सबसे प्रिय, लोकोपयोगी और निसर्ग में आयास बिना उग निकलता है, तो निश्चय ही प्रथम-स्थान पीपल को मिलेगा। बहुतों को आम प्रिय होता है पर वह बागों का वृक्ष होने से उसकी तुलना पीपल से नहीं की जा सकती।

भारत में शायद ही कोई व्यक्ति होगा जो पीपल को न पहचानता हो। देवालयों या रास्तों के किनारे यह उगा होता है। बोता इसे कदाचित् ही कोई हो। इसके बीज दीवाल पर या अन्य किसी वृक्ष के मूल के पास गिर पड़ते हैं। काल क्रमसे ये विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हो जाते हैं। इसे बोना हो तो इसके बीज अथवा शाखा चालू वर्षा में भूमि में गाड़ देने से उग निकलती है। पीपलके बीजों का संग्रह दुष्कर होने से लोग स्वयं उगे हुए पीपल के पौधे को सावधानी से उखाड़ कर गमले में बो, बड़ा कर के बाद में जहाँ इसे स्थायी रूप से लगाना हो वहाँ गढ़ा कर के अच्छी मिट्टी छोड़कर इसे बो देते हैं।

पीपल भारत में कदाचित् सहस्रों वर्षों से उगता आया है। अतः इसका मूल देश कौन है, इस का इतिहास उपलब्ध नहीं होता। इसके घटादार वृक्ष, धूसर छाल का मुलायम तना, मनोहर-आकृति के चमकते और हवा से निरन्तर हिलते पत्ते (जिन के कारण पीपलको संस्कृत में 'चलदल' भी कहा जाता है) तथा पत्तों का नोकीला सिरा शायद ही किसी का ध्यान आकृष्ट किये बिना रहते हों। वायु की लहरियों से पत्तों की पतली अणियाँ जब काँपती हैं और आस-पास के या नीचे के पत्तों से टकराती हैं, तो जैसे वर्षा हो रही हो ऐसी प्रतीति होती है। वर्षा का पानी इन अणियों की राह जल्दी उतर जाता है।

पीपल के फल वस्तुस्थित्या छोटे-छोटे फूलों के समुदाय होते हैं। छोटे कृमियों द्वारा उनका फलन होने पर वे संयुक्त फल के रूप में परिणत होते हैं। पक्षी इन्हें खाकर उड़ जाते हैं। उनकी विष्ठा में बीज भी होते हैं। विष्ठा के साथ ये बीज यदि किसी अच्छी नमीवाली जगह पर पड़े तो उनसे नया पीपल उग निकलता है। जैसा कि कह आये हैं वट-बीजों का प्रसार भी इसी प्रकार होता है।

भगवान् बुद्ध को एक पीपल के नीचे तपस्या करते हुए तत्त्वज्ञान हुआ था। जिस विशेष पीपल के तले उन्हें बोध हुआ और वे बोधिसत्त्व कहाये, उसका नाम 'बोधिवृक्ष' है। यह गया में है। इसकी एक शाखा पीछे से लङ्का में भी लगायी गयी। बुद्ध के जीवन से संबद्ध होने के कारण बौद्ध युग में पीपल को बहुत महत्त्व का पद प्राप्त हुआ। स्थापत्य में भी, गुफाओं तथा मकानों की महराबों की आकृति पीपल के पत्ते के सदृश बनायी जाती थीं। अब भी अनेक पुरानी गुफाओं में पीपल के पत्ते की आकृति की महराबें देखी जाती हैं। वैदिक धार्मियों में भी पीपल का महत्त्व कम नहीं है।

प्राचीन काल में जब दियासलाई न थी, पीपल की शुष्क-शाखायें रगड़ कर अग्नि उत्पन्न किया जाता था। इसकी लकड़ी अति पवित्र मानी जाती है। अनेक धार्मिक क्रियाओं में इसका उपयोग होता है। बहुत से लोग अन्त्येष्टिमें भी इसका उपयोग करते हैं।

पीपल के दूध या रस को सुखाकर गोंद बनायी जाती है तथा लाख के रूप में काम में लायी जाती है। लाख के कीड़े के संवर्धन के लिए पीपल अच्छा समझा जाता है। पीपल की लाख भी उत्तम मानी जाती है। छाल को चमड़ा रंगने के काम में लाते हैं। उसके रेशों से कागज बनाये जाते हैं। इसका काण्ड (तना) बहुत कठिन होने से इसके फट्टे इत्यादि नहीं बनाये जा सकते। जलाने के काम में ही इसका उपयोग होता है। दुर्भिक्ष में तथा अन्य कालों में भी कई लोग पीपल के फल, कोमल पत्र आदि खाते हैं। जंगलों में हाथी तथा बस्ती में भैंसे पीपल के पत्तों को बड़े चाव से खाती हैं।

स्थान-स्थान के जलवायु तथा पीपल जहां उगा हो उस भूमि के स्वरूप के अनुसार पीपल में नये पत्ते फरवरी से अप्रैल तक आते हैं। फल आने का कोई नियत काल नहीं है। कहीं अप्रैल में, कहीं मई से जून तक और कहीं-कहीं तो अगस्त अथवा अक्टूबर नवम्बर में भी फल लगे देखे जाते हैं।

वैद्यक में इसका उपयोग अन्य उद्भिदों जितना नहीं देखा जाता। इसकी लाख (लाक्षा) दूध में उबालकर रक्त प्रदर में या उरःक्षत में (छाती से खून आने पर) देते हैं। छाल की राख पानी में घोलकर पानी नितार कर वमन में देते हैं। वेजलीन अथवा धौत घृत में छाल का कोयला मिलाकर व्रणों पर लगाते हैं, जिससे वे शीघ्र भर आते हैं।

श्वास के लिए शरत्पूर्णिमा की रात को जिस बूटी के सेवन का विज्ञापन अखबारों में बार-बार आता है, वह बहुतों के मत में पीपल की छाल ही है। पूयमेह (गनोरिया—सुजाक) के रोगी को इसकी कोमल पत्तियाँ दूध में उबाल कर देने से पेट साफ हो जाता है और रोग के लक्षण कम होते हैं। पीपल के मूल की छाल मधु में घिसकर बच्चों के रोग में देते हैं। इसके फल पाचक और रक्त शोधक माने जाते हैं।

वैदिक षोडश संस्कारों में एक पुंसवन है, जो गर्भ-स्थिति के दूसरे या तीसरे मासमें (संतान पुत्र हो, इस हेतु किया) जाता है। इसमें पढ़ा जाने वाला एक मन्त्र है—

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वाभरामसि॥

—अथर्व कांड ६ सूक्त ११। मन्त्र १

इसका अर्थ यह है कि शमी वृक्ष पर उगा हुआ अश्वत्थ (पीपल) सेवन कराने से स्त्रीको पुत्र (नर-पुत्र) की प्राप्ति होती है। वैद्यों को प्रयोग कर के इसकी परीक्षा करनी चाहिये।

पुनर्नवा

वैद्य रामेश वेदी, आयुर्वेदालंकार

नरहरि पण्डित ने श्वेत-पुनर्नवा को अनुलोमक और रसायन गुणवाला लिखा है। उन्होंने निम्न-लिखित रोगों में भी इसकी उपयोगिता स्वीकार की है—शोथ, पाण्डु, हृद्रोग, विष, कास, आन्त्र-शूल, उदर-क्रिमि आदि। इसका दूसरा भेद (लाल) तिक्त है। शोथ, रक्तस्राव, प्रदर, पाण्डु तथा पैत्तिक विकारों के लिए इस (लाल) की बहुत प्रशंसा की गई है। नीली जाति का तिक्त और रसायन है। पाण्डु, हृद्रोग, शोथ और कास में यह लाभदायक है।

सफेद और लाल जाति की पुनर्नवा के गुणों में बहुत समानता है। इसलिए, यहां हम दोनों के उपयोग पुनर्नवा नाम से दे रहे हैं। जहां जाति विशेष अभीष्ट होगी वहां लाल या सफेद विशेषण दिया जायगा।

चरक ने (सूत्रस्थान में) वयः स्थापक-औषधियों में पुनर्नवा को गिनाया है। उदावर्त और मलबन्ध में आस्थापन के लिए पुनर्नवा का प्रयोग करना चाहिए (च०, सू०, अ० २, ११-१२)। स्निग्ध वस्ति में उपयोग किये जाने वाले द्रव्यों में पुनर्नवा प्रयुक्त होती है च०, सू०, अ० ४; १४-२६)। पुनर्नवा-मूल का चूर्ण तीस रत्ती की मात्रा में अथवा मूलका कषाय या फाण्ट अनुलोमन के लिए दिया जा सकता है। अधिक मात्रा में दी जाय तो अपने वामक गुणके कारण उलटियां उत्पन्न करता है। श्वास प्रणालियों के लिए दमे में इसकी मूल उपयोगी समझी जाती है। यह श्वास मार्ग से कफको निकालती है। चरक ने कासहर दस-औषधियों में पुनर्नवा का उल्लेख किया है।

आंखके रोगोंमें

अनेक लेखकों ने इसे श्रम, निद्रानाश, आमवात और आंखों के रोगों में प्रयोग करने की सिफारिश की है। पञ्जाब में यह नेत्र रोगके लिए अच्छी समझी जाती है। नेत्र-कण्डू, नेत्र-स्राव, रतौंधी, नेत्र-पुष्प आदि रोगोंमें स्त्री दुग्ध से पुनर्नवा मूल-चूर्ण की वर्ति बना कर शहद से घिस कर कुछ दिन आंखों में लगाने से आराम आता है। पुरातन नेत्र-शोथ और नेत्र-पुष्प में पत्र-रसके साथ मधु मिला कर आंखोंमें डाला जाता है। इसकी जड़को रगड़ कर घी में मिला कर आंखों में लगाने से फूला नष्ट होता है। शहद के साथ मिला कर लगाने से अक्षि-स्राव बन्द होता है। केवल जल में घिस कर आंजने से तिमिर रोग नष्ट होता है। गौ के गोबर के रस और पीपलके साथ मिला कर आंजने से रतौंधी (नाइट ब्लाइण्डनैस) दूर होती है (निघण्टु रत्नाकर)। ऊर्ध्व-जत्रुगत रोगों में उपयोगी एक योग महा मायूर घृत में चरक ने (चि, अ० २६; १६५-१७३) पुनर्नवाका पाठ किया है।

मदात्यय

मदात्यय की चिकित्सा में चक्रपाणि ने इसका उपयोग बताया है। उनका कहना है कि पुनर्नवादि घृत के सेवन से मद्यपान जनित शक्ति हीनता नष्ट होकर शरीर सुदृढ़ हो जाता है।

बिच्छू और सांपका विष

वृश्चिक दंश में इसका अन्तः और वहिः प्रयोग होता है। सुश्रुत ने सर्प-विष और मूषिक-दंश के संक्र-

मण में इसके प्रयोग का वर्णन किया है। पुष्य नक्षत्र वाले दिन सफेद पुनर्नवा की जड़को तण्डुलोदक के साथ पीस कर पीनेसे एक साल तक साँप के काटने का भय नहीं रहता, ऐसा चक्रपाणि का विश्वास है। बिच्छू और साँप के विषों को उतारने के लिए इसके प्रचलित विश्वासोंको ध्यानमें रख कर बम्बई की हाफकिन इंस्टिट्यूट के डाक्टर कायस् और म्हस्कर (इण्डियन मेडिकल रिसर्च मेमोयर्स नं० १६, जनवरी १६३१ और नं० २४, जून १६३२) ने अनेक परीक्षण किये हैं। इन अन्वेषकों ने पता लगाया है कि पुनर्नवा न तो साँप के विषको उतार सकती है और न बिच्छू के विष को।

मूत्र संस्थानके रोग

तिब्बी चिकित्सक दमा, कामला और जलोदर में इसके प्रयोग की राय देते हैं। वे इसके मूत्रल गुणों का भी वर्णन करते हैं तथा इसे उदर-कृमिहर और ज्वरहर रूप में एवं मूत्र-मार्ग की शोथ में भी देते हैं। मूत्रल होने से पत्र-स्वरस गोआ में मूत्र कृच्छ्र और पूयमेह में दिया जाता है। पूयमेह में इसका प्रयोग पुर्तगालियों से प्रारम्भ हुआ मालूम पड़ता है। पूयमेह जन्य सन्धि शोथ, नाड़ी शोथ और श्वास मार्ग के शोथों में पुनर्नवा के योग दिये जाते हैं। मूत्र कम मात्रा में आता हो तो उसकी उत्पत्ति बढ़ाने के लिए यह दी जाती है। पुनर्नवा वृक्क के सब रोगों में दी जा सकती है। मूत्र कृच्छ्र और मूत्राश्मरी चिकित्सा में चरक ने पुनर्नवा का थोड़ा व्यवहार किया है। पुनर्नवा, लोह भस्म, हल्दी, गोखरू, मूंगे प्रवाल भस्म, दर्भ के फूल को वह एक माशा की मात्रा में दूध, जल, मधु या ईख के रस से अच्छी प्रकार पीस कर अश्मरी और मूत्र शर्करा (मधुमेह) में पीने के लिए देते हैं (च०, चि०, अ० २६; ६२) वातज-अश्मरी में दोनों प्रकार की पुनर्नवा के क्वाथ से विधि पूर्वक सिद्ध मांस रस देना हितकर होता है। पित्त की अधिकता हो तो इन्हीं के क्वाथ से सिद्ध यूष आदि अन्न-पान हितकर होता है। तीनों दोषों के संसर्ग से उत्पन्न शुक्रज मूत्र कृच्छ्र में इसका प्रयोग किया जाता है।

हृदयके रोग

हृदय के कार्य करने के समय और शक्ति को बढ़ा देने के कारण हृदय से सम्पूर्ण रक्तको बाहर फेंक सकती है। इस लिए यह कपाटियों की सब अवरुद्ध अवस्थाओं में लाभदायक हो सकती है। हृन्दौर्बल्य या हृदय की शिथिलता के कारण शोथ या जलोदर हो तो इस ओषधि के देने से गुरदों का रक्त सञ्चार बढ़ जाता है और शरीर में सञ्चित अधिक जलीय भाग मूत्र-मार्ग द्वारा बाहर निकल जाता है। चरक ने हृद्रोगों की चिकित्सा में एक तेल लिखा है, वातिक हृद्रोग में इसका प्रयोग मालिश के लिए और पीने के लिए किया जाता है। वाग्भट इसकी वस्ति भी देते हैं।

व्यायाम

वैद्य रवीन्द्र शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य्य

व्यायाम क्यों आवश्यक है

हम जो कुछ खाते-पीते हैं—आमाशय में उसका पाचन होता है। रस बनने के बाद रक्त बनता है और जो अनावश्यक पदार्थ रहता है-वह मल मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है। निरन्तर खाते रहने से अनावश्यक पदार्थ का कुछ अंश पेट के भीतर ही रह जाता है, जो सभी रोगों का उत्पादक कारण है। पेट की पाचन शक्ति भी इस तरह धीरे-धीरे सुस्त होने लगती है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिये समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों का क्रियाशील होना आवश्यक है। हृदय, फुफ्फुस, यकृत्, प्लीहा आदि सभी अपना-अपना कार्य उचित रूप से करते रहते हैं, तो शरीर की दशा ठीक रहती है। यदि किसी एक के भी कार्य में कुछ गड़बड़ी हो जाती है, तो सारा ढांचा ही बिगड़ने लगता है।

शरीर-रक्षा का अधिक दायित्व रक्तशुद्धि पर है—जब तक शरीर की नसों में शुद्ध रक्त का उचित प्रवाह है तब तक सब कुछ ठीक है। रक्तशुद्धि का कार्य हृदय करता है और हृदय को वायु से प्रेरणा मिलती है -वायु का अधिष्ठान फुफ्फुस है। कहने का मतलब यह है कि फेफड़ों को वायु से आदान-प्रदान में पूर्ण क्रियाशील होना चाहिये। फेफड़ों के द्वारा शुद्ध-वायु भीतर जाती है—और अशुद्ध-वायु बाहर निकल आती है। शुद्ध-वायु - प्राण वायु होती है—जो रक्त को शुद्ध बना कर पाचन शक्ति को बल देती है। साधारण दशा में फेफड़ों के द्वारा वायु का जो आदान-प्रदान होता है—वह पर्याप्त नहीं होता -इससे रक्तशोधनकी हृदयस्थ गति में कोई तेजी नहीं आती। दिन-रात के २४ घण्टों में विजातीय-द्रव्य का कुछ अंश पेट के भीतर संचित हो जाता है—साथ ही हृदय और पाचनशक्ति कुछ सुस्ती महसूस करने लगती है।

ऐसी दशा में इस बात की अत्यधिक जरूरत है कि हृदय की गति तेज हो—जिससे वह रक्तशुद्धि की क्रिया तेजी से करके आमाशय को पाचन-रस प्रदान करे—ताकि पाचन-शक्ति तेजी के साथ विजातीय द्रव्य को पचा कर दिल और दिमाग में नयी ताजगी दे।

यह क्रिया होती है केवल व्यायाम से—और इसीलिये व्यायामका इतना महत्त्व है कि जीवन और जागृति के लिये इसको शीर्षस्थान दिया गया है। व्यायाम करने से रक्त की गति बढ़ती है—जिससे हृदय के द्वारा रक्तशुद्धि का कार्य तेजी से होता है। और शरीर के सभी अंग-प्रत्यंगोंमें पर्याप्त हरकत हो जाती है। अनुभव इस बात को बतलाता है कि व्यायाम करने के बाद ही शरीर का बोझ हलका हो जाता - दिमाग ताजा हो जाता और कार्य करने के लिये नया साहस और नवीन बल मिल जाता है। पेट में संचित हुआ विकार पदार्थ स्वेद और पेशाब के साथ बाहर निकल जाता है—तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुगठित और बलवान् होता है।

व्यायाम करने से रक्तप्रवाह में तेजी आती है—शुद्ध-वायु ज्यादा मात्रा में भीतर जाती है, और अशुद्ध वायु बाहर निकलती है। प्राणवायु हृदय को बल

प्रदान करके शुद्ध-रक्त की मात्रा बढ़ाती है--और शरीर के समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों में क्रियाशीलता उत्पन्न करके पाचन-शक्ति को प्रचण्ड करती है। व्यायाम नहीं करनेवाले मनुष्य के भोजन की मात्रा—व्यायाम करने वाले के भोजन से कम होती है, इसका कारण यही है, कि व्यायाम के द्वारा अवशिष्ट विकारी पदार्थ का पाचन होकर भूख की वास्तविक मांग होती है, जब कि बिना व्यायामके समय पर खालेने की इच्छा मात्र होती है।

व्यायाम से सौन्दर्य्य की वृद्धि होती है, शरीर में सुडौलता आती है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग के द्वारा श्रम हो जाने से उन में ताकत और सौन्दर्य्य पैदा होता है। भोजन का ठीक परिपाक होने से शरीर में रक्त की पर्याप्त मात्रा रहती है—जिस से वीर्य खूब बनता है। वीर्य, दिल और दिमाग को ताकत देता; शरीर को पुष्ट बनाता और मुख-मण्डल को उद्दीप्त करके आकर्षक बनाता है।

भोजन का ठीक पाक हो जाने से समस्त शरीर में जो जीवनी-शक्ति उत्पन्न होती है, वही साहस और पौरुष को उत्पन्न करके नये-नये आविष्कारों की प्रेरणा करती है।

वस्तुतः व्यायाम के द्वारा शरीर का शोधन होता है—पसीने के द्वारा बहुत-सा विजातीय द्रव्य बाहर निकलता है—जिससे रोमछिद्र साफ हो जाते और शरीर हलका हो जाता है। व्यायाम का सबसे अच्छा असर यह होता है कि इसके द्वारा विचारों की शुद्धि होती है। व्यायामशील पुरुष के मस्तिष्क में वासनाओं का नग्न-नृत्य नहीं होता और वह अपने कार्यों को पूर्ण मनोयोग पूर्वक करता है। विचारों की स्थिरता और शुद्धि ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है—और यह कार्य व्यायाम से ही होता है।

कोई भी पहलवान व्यभिचारी नहीं सुना गया, बल्कि प्रत्येक पहलवान व्यभिचारियों का प्रधान शत्रु होता है। व्यायाम के द्वारा अवांछित मैथुन की इच्छा ही नहीं होती, और वीर्य का कोष हमेशा परिपूर्ण रहता है। वीर्य कोष से मिलने वाला ओज मस्तिष्क को नयी प्रतिभा और नवीन धारणा देता है - जिसके द्वारा संसारक्षेत्र में हमेशा सफलता प्राप्त होती है।

व्यायाम का एक विचित्र प्रभाव यह भी होता है, कि इसके द्वारा मनुष्य में उदारता बढ़ती है, और वह दूसरों के कष्ट में हमेशा मदद देता है। चोरी डाका तथा घृणित उपायों द्वारा धन इकट्ठा करना व्यायामशील पुरुष के लिये बहुत ही कठिन --असम्भव जैसा होता है।

आवश्यक सूचना

व्यायाम के सम्बन्ध में कुछ ऐसे आवश्यक नियम हैं:—जिनका पालन करना अत्यावश्यक है। अनियमित रूप से किया जाने वाला व्यायाम लाभ के स्थान में हानि करता है, अतः खास-खास आवश्यक नियमों का उल्लेख यहां किया जाता है:—

व्यायाम का स्थान शुद्ध-साफ और खुला हुआ होना चाहिये—गन्दे और ढके हुये स्थान में कसरत नहीं करनी चाहिये। व्यायाम से फेफड़ों में बाहरी वायु का प्रवेश अधिकता से होता है; इसलिये यह वायु शुद्ध होनी चाहिये। गन्दे स्थान की वायु—गन्दगी के कीटाणु भी अपने साथ फेफड़ों में ले जाती है।

हमेशा लंगोट कसके व्यायाम करना चाहिये—बिना लंगोट के व्यायाम करने से अण्डकोष शिथिल पड़ जाते हैं।

व्यायाम के समय दिल और दिमाग का खुश होना आवश्यक है:—चिन्ता या और किसी मान-

सिक विकार के समय; व्यायाम करना निरर्थक ही नहीं, हानि कर भी होता है।

व्यायाम का समय प्रातः और सायंकाल है; खाना खाने के बाद व्यायाम नहीं करना चाहिये, इससे पेट में दर्द हो जाता और परिपाक में बाधा पड़ती है। दुपहर या रात में भी व्यायाम नहीं करना चाहिये।

व्यायाय के समय मुंह बन्द रहना चाहिये, श्वास प्रश्वास की क्रिया नाक से होनी चाहिये, और यथा सम्भव प्राणायाम भी होना चाहिये। श्वास के लेने देने की क्रिया धीरे-धीरे होने से फेफड़ों में ताकत आती और सीना चौड़ा होता है।

व्यायाम के पहिले ही स्नान कर लेना उचित है, व्यायाम के बाद जब तक शरीर का श्वास-प्रश्वास स्वाभाविक गति पर न आ जाय—धीरे-धीरे टहलते रहना चाहिये।

अपने बल के अनुसार बलार्द्ध मात्रा तक ही व्यायाम करना चाहिये। कपाल और कोख में पसीना आ जाय, और मुँह में खुश्की आने लगे, यही बलार्द्ध मात्रा है।

व्यायाम के समय गर्दन और छाती हमेशा ऊँची रहनी चाहिये—और व्यायाम के बाद बैठना नहीं चाहिये। थोड़ा-थोड़ा टहल के आध घंटा बाद बैठना चाहिये। कसरत के बाद पेशाब कर लेना ज्यादा लाभदायक होता है।

व्यायाम और भोजन में २ घंटे का अन्तर जरूर रखना चाहिये। भूख के समय व्यायाम करना हानिकर है, और व्यायाम के बाद भोजन कर लेना भी हानिकर है। व्यायाम के घण्टा भर बाद दूध जरूर पी लेना चाहिये।

व्यायाम कई तरह के हैं—कबड्डी, दौड़, दण्ड-बैठक, जल में तैरना, चक्की पीसना, पानी खेंचना आदि सभी परिश्रम-साध्य-कार्य—व्यायाम ही हैं। बालीबल, फुटबाल, टेनिस, हाकि आदि नवीन खेल भी व्यायाम में ही शामिल हैं। सभी मनुष्यों के लिये कोई खास व्यायाम ठीक नहीं पड़ता—अपनी शारीरिक दशा और रुचि के अनुसार ही सब को अपना व्यायाम चुन लेना चाहिये। कमजोर मनुष्य के लिये शुद्ध हवा में घूम लेना ही व्यायाम है, स्त्री के लिये चक्की पीसना खासा-व्यायाम हो जाता है, देहाती स्त्रियां घास खोदने में ही खासा-व्यायाम कर लेती हैं—और इसी के फल-स्वरूप उनका शरीर सुडौल और पुष्ट होता है।

प्रातः सायं शुद्ध हवा में अपनी शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे दौड़ लगाना अच्छा व्यायाम है। जल में तैरने, फुटबाल खेलने, अखाड़ा खोदने और लकड़ी चीरने से भी व्यायाम हो जाते हैं। जिस क्रिया के द्वारा शरीर के समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग से हरकत हो और अच्छा पसीना आ जाय; वही व्यायाम है, किन्तु इसका नियमित होना आवश्यक है। नियत समय पर कायदे के मुताबिक जो शारीरिक कसरत की जाती है, वही वास्तविक व्यायाम है, और उसी से शरीर और मन को लाभ भी होता है।

दिन भर बोझा ढोना या मजदूरी करना व्यायाम नहीं है, व्यायाम तो वही है—जो केवल व्यायाम के उद्देश्य से किया जाता है। सबसे आवश्यक बात व्यायाम का नियमित रखना है, एक दिन व्यायाम किया जाय, और दूसरे दिन न किया जाय तो इस से लाभ के स्थान में हानि होगी। नियत समय पर अनिवार्य रूप से शुद्धचित्त हो के व्यायाम करने से तत्काल ही इसका लाभ प्रतीत होने लगता है।

भिन्न-भिन्न अङ्गों के भिन्न-भिन्न व्यायामों का प्रचार भी आज कल हो रहा है, आसन ऐसे ही व्यायाम हैं, किन्तु आसनों का प्रयोग बिना किसी

अच्छे गुरु के नहीं करना चाहिये। शीर्षासन बहुत ही अच्छा व्यायाम है, पं० जवाहर लाल नेहरू नियत रूप से इसे करते हैं, और उन्होंने इसकी बड़ी प्रसंशा की है।

टहलना— वाकिंग (Walking)

वकील—डाक्टर—प्रोफेसर—कलाकार आदि दिमागी कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिये—जिन्हें शारीरिक श्रम करने का अवसर नहीं मिलता, उन के लिए टहलने का व्यायाम बहुत ही सुविधा जनक और उपयोगी है। प्रातः-सायं खुली हवा में टहलना एक इतना अच्छा व्यायाम है—जो शरीर को नया पौरुष और नये विचार प्रदान करता है।

कुछ आराम पसंद लोगों की धारणा हो सकती है; कि टहलने से सिर्फ पैरों की थोड़ी कसरत हो सकती है, किन्तु यह धारणा सवथा गलत है। साधारणतः मनुष्य का दिल एक मिनट में ७० बार धड़कता है, और एक बार की धड़कन में १ औंस खून हृदय फेंकता है,—यानि—रक्त शुद्धि के स्थान में एक मिनट में ३६ छटांक खून हृदय के द्वारा पहुंचता है। अब तेजी के साथ टहने के समय दिल की धड़कन प्रति मिनट १० बार अधिक हो जाने से ३६ के बजाय ४१ छटाक खून हृदय फेंकेगा—इस तरह ३० मिनट भी यदि तेजी से टहला जाता है, तो १५ छटांक खून का प्रवाह ज्यादा होता है। सिफ आध घण्टे में ही जब हमारे शरीर को १५ छटांक शुद्ध खून और मिल जाता है, तो कल्पना कीजिये कि प्रातः-सायं २ घंटे टहलने से ४ सेर खून का प्रवाह शरीर को कितना स्वस्थ और सबल बनायेगा?

तेजी से टहलने के समय श्वास का आदान-प्रदान भी बढ़ता हैं—जिससे हवा का पोषक तत्व (आक्सीजन) ज्यदा मात्रा में फेफड़ों के पास पहुंचता है, और रक्त शुद्धि की क्रिया में भी प्रगति हो जाती है। स्वभावतः ही सारे शरीर में से पसीना भी निकलता है, जिससे विजातीय पदार्थ निकलने के कारण शरीर हलका हो जाता है। दिन भर मेज के पास बैठकर काम करने वाले कलर्कों के लिये तो टहलना—एक जबर्दस्त टानिक और बिना पैसे की दस्तावर दवा है हाँ; टहलने के व्यायाम में इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये, कि टहलने का स्थान आबादी से दूर और शांत होना चाहिये, मीलों के धूँआंधार-पड़ोस में टहलना तो उल्टा हानि कर है।

टहलने के समय पैरों की चाल में दुगुनी तेजी जरूर आनी चाहिये—और टहलने का समय भी निश्चित होना आवश्यक है। साधारणतः प्रातःकाल सूर्योदय के पहिले और सायंकाल सूर्यास्त के समय टहलना ठीक है। छाती को सीधी तान के नाक के द्वारा श्वास लेने का पूरा ध्यान रखना चाहिये। टहलने के समय शरीर पर हल्के और आरामप्रद कपड़े होने चाहिये—जूते भी ऐसे हों जिनसे पैरों को कोई दिक्कत न हो। ज्यादा अच्छा तो यह है कि टहलने के समय एक—मन-पसंद साथी भी हो जिससे साथ में मनोरंजन भी होता रहे।

घरेलू इलाज

(गतांक से आगे)

राजयक्ष्मा

मृगांक रस, या हेमगर्भपोटली, चौंसठ प्रहरी पीपलके साथ प्रातः काल देना चाहिये। चन्दनादि लौह, सितोपलादि चूर्णके साथ सायंकाल देना चाहिए। रात को सोते समय च्यवनप्राश, अगस्त्यहरीतकी अवलेह या वासावलेह सेवन कराना चाहिए। रोगीका हाजमा अच्छा हो तो अश्वगंधादिघृत या कामदेवघृत दूधके साथ देना चाहिए। वसन्तमालतीका सेवन भी इस रोगमें बहुत लाभदायक है। मालिसके लिए चन्दनादि तैल सर्वोत्तम है। भोजनमें दूधका भाग अधिक होना चाहिए। काले रंगकी गाय या बकरीका दूध इस रोगके लिए ज्यादा मुफीद है। रोगीको बराबर आरामसे लेटे रहना चाहिए। सूर्य-किरणोंका सेवन भी इस रोगमें बहुत लाभ पहुंचाता है।

फेफड़ोंका प्रधान भोजन वायु है और यह रोग भी फेफड़ेका है। इसीलिये रोगीको दिन-रात स्वच्छ हवामें रहना चाहिये। ब्रह्मचर्यसे रहना आवश्यक है।

खाँसी (COUGH)

खाँसीको कभी छोटा ख्याल न करना चाहिये। कहावत है कि रोगका घर खाँसी है। इसका तुरन्त इलाज न करनेसे कई तरहके रोग पैदा हो जाते हैं। खाँसी अक्सर दो तरहकी होती है। खुश्क-खाँसी और तर-खाँसी। बहुत खाँसने पर कफ न आए तब उसे खुश्क-खाँसी समझना चाहिये और खाँसीके साथ बहुत कफ आये तो उसे तर-खाँसी समझना चाहिये खुश्क-खाँसी के लिये श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का सितोपलादि चूर्ण ताजा घी और शहद के साथ चाटना चाहिये।

मिश्री आठ तोले, वंशलोचन चार तोले, पीपल दो तोले, छोटी इलायची एक तोला और दालचीनी आधा तोला। इन पांचों दवाइयोंका महीन चूर्ण कीजिये। इसका नाम 'सितोपलादि चूर्ण' है। यह खुश्क-खांसीकी मशहूर और फायदेमन्द दवा है। खुश्क-खांसीके लिये श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का चन्द्रामृत लौह, चन्द्रामृत रस, शृङ्गाराभ्र, तालिसादि चूर्ण, च्यवनप्राश, द्राक्षासव, कासबटी, मरिच्यादि बटी, लवंगादि बटी आदि दवाइयाँ उपयोगी हैं।

तर-खांसीके लिये वासावलेह, सर्वाङ्गसुन्दर रस, कफकेतु आदि दवाइयां उत्तम हैं। लौंग, काली मिर्च बहेड़ाका छिलका एक-एक तोला और पपरिया कत्था तीन तोला। इन सबोंके महीन चूर्णको बबूर (कीकर) की छालके क्वाथ से घोटकर चनेके बराबरकी गोलियां बना लें। ये गोलियां खांसीमें बहुत लाभ पहुंचातीहैं। दिन-रातमें आठ-दस गोली मुंहमें रखकर चूसिए इसका नाम "लवंगादि बटी" है।

"बैद्यनाथ कफ मिक्चर" खुश्क और तर दोनों ही खांसीके लिये रामबाण दवा है।

श्वास (दमा)

खांसी बहुत दिनकी होनेसे दमा हो जाता है। दमा होनेके बाद इसका अच्छा होना बहुत मुश्किल है। यह भी खुश्क और तर दो तरहका होता है। तर दमाके लिये सुबह-शाम श्वासकुठार रस पानके रस और मधुके साथ मिलाकर चाटना चाहिये। दमा बहुत पुराना हो तो श्वासचिन्तामणि रस का सेवन करना चाहिये। भोजनके बाद कनकासव या द्राक्षासव

पिलाना चाहिये। खुश्क दमाके लिये च्यवनप्राश और भार्गीगुड़का सेवन करना अधिक लाभदायक है। "बैद्यनाथ श्वासकल्प" दोनों तरहकी दमामें शर्तिया फायदा करता है। यह हिमालयकी सोमलता नामक जड़ीसे बनता है। इसकी एक-दो खुराक से ही कष्टदायक दमेका वेग शान्त हो जाता है और बराबर सेवन करनेसे दमा एकदम अच्छा हो जाता है। खाँसी और दमे के रोगीको तम्बाकू पीना सख्त मना है। हमारे यहाँकी नीचे लिखी दवाएँ भी दमाके लिये फायदेमन्द हैं। कनकासव, भार्गीगुड़, श्वासकुठार रस, श्वासचिन्तामणि आदि।

कब्जियत (CONSTIPATION)

किसी कारणसे एक-दो रोज दस्त न होनेसे उसे कब्जियत न समझनी चाहिये। बराबर कोठा साफ न होना ही कब्जियत कहलाता है। इस रोगीको सख्त जरूरत होनेपर ही दस्तकी दवा लेनी चाहिये। रोज-रोज दस्तावर दवा खानेसे यह बिमारी बढ़ती है घटती नहीं। शारीरिक व्यायाम तथा स्वच्छ-जल-वायुके अभावसे कब्जियत पैदा होती है। इस रोगीको प्रति दिन दो-चार मील टहलना चाहिये। चोकर सहीत आटेकी रोटी, गेहूंका दलिया, भाटा, सीम अधिक खाना चाहिये। मौसमी फल तथा अंजीर किसमिस आदि सूखे मेवे खाने चाहिये। सुबह उठते ही ठंढा पानी पीना चाहिये। ज्यादा कब्ज होनेपर शुद्ध रेड़ीका तेल या लिक्विड पिराफिन गरम दूधके साथ लेना चाहिये। रातको सोते समय इसबगोलकी भूसी गरम दूधके साथ लेनेसे सुबह दस्त साफ हो जाता है। सुबह खाली पेट लवणभास्कर चूर्ण एक तोला और नींबूका रस एक पाव पानीके साथ मिलाकर पीनेसे कोष्ठ साफ हो जाता है। रातको सोते समय "बैद्यनाथ जुलाबकी गोली" गरम जलके साथ खानेसे दस्त साफ और चित्त प्रसन्न हो जाता है। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का "सौंफादिचूर्ण" और सुखविरेचन चूर्ण कब्जियत मिटानेके लिये बहुत ही अच्छा है।

हिक्का (हिचकी.)

लाल मिर्च आदि तीक्ष्ण पदार्थोंके खानेसे तथा कई एक रोगोंके कारणसे हिचकियाँ आने लगती हैं जो बाजे समय प्राणान्तक कष्ट देती हैं। इस रोगके रोगीको अन्न न देना चाहिए। मामूली गरम दूध या गरम जल पीनेके लिए देना चाहिए। मोरकी पंखकी चांदोंको जलाकर भस्म कर लें, यह भस्म दो रत्ती शहद के साथ चटावें। रोगीका ध्यान किसी एक विषयमें एकत्रित करनेसे भी यह रोगशान्त हो जाता है। गढ़ी हुई कोई ऐसी अफवाह सुनाना चाहिए जिसको सत्य मानकर रोगीका ध्यान उसीमें एकत्रित हो जाय। इससे हिचकी तुरत बन्द हो जायगी। आधी रत्ती परमागनेट आफ पोटासको महीन पीसकर जलमें मिलावें और रोगीको सुंघावें। इससे इतनी छींकें आएंगी कि रोगीका ध्यान छींकनेमें ही एकत्रित हो जायगा और साथ-साथ हिचकी भी बन्द हो जायगी। बैद्यनाथ ताम्र भस्मकी एक रत्ती मात्रा मधुके साथ चटानेसे फायदा होता है।

(बमन)

अजीर्ण आदि अनेक कारणोंसे वमन (उल्टी) होने लगता है। कारण की ओर ध्यान रखकर दवाई देनेसे यह जल्दी ठीक हो जाता है। "एलादिचूर्ण" भी बमन की अच्छी दवाई है। गर्भ के कारण होनेवाले स्त्रियोंके बमन में "लवंगादि चूर्ण" बहुत फायदा करता है। बैद्यनाथ - अर्क कपूर, अर्क पुदीना या अमृतधारा देनेसे किसी भी तरहकी कै हो, तुरन्त बन्द हो जाती है।

अन्तः जननेंद्रिय-अवयव

वैद्य अत्रिदेव गुप्त, आयुर्वेदालंकार

गर्भाशय की रचना पूरी तरह जानने के लिये इसके साथ सम्बन्धित एक-दो अवयवों की भी जानकारी प्राप्त कर लेना जरूरी है। गर्भाशय का एक नाम गर्भ-शय्या है। अर्थात् गर्भस्थ शिशु इसमें शयन करता है। गर्भ कैसे बनता है, यह जानना जरूरी है। गर्भाशय तो दो प्रेमियों के मिलने का एकान्त कुंज है। इसमें विभिन्न दिशा से आनेवाले दो प्राणी एक स्थान में मिलते हैं। इनमें एक प्राणी तो पुरुष-बीज और दूसरा प्राणी स्त्री-बीज है। जिस प्रकार पुरुष-बीज बाहर से आता है, इसी प्रकार स्त्री-बीज भी गर्भाशय के बाहर से आता है। अन्तर केवल इतना है कि पुरुष-बीज के उत्पन्न होने का कोई विशेष समय निश्चित नहीं होता, जब कि स्त्री-बीज का समय निश्चित होता है।

स्त्री-बीज सधारणतया २१ से २८ दिन के अन्तर से उत्पन्न होता है। यह बीज जहां उत्पन्न होता है, और जिस रास्ते से आता है, वह सब अलग ही रचना है। इस रचना को समझने के लिये बच्चों का खिलौना—जो कि बैलेन्स या गुरुत्वा-कर्षण सिखाने के लिये होता है ठीक रहेगा। इस खेल में एक आदमी एकटांग से खड़ा होता है और दोनों पार्श्वोंमें एक-एक तार डालकर समान बोझ टांगे रहता है। इस खेल में मनुष्य को आगे पीछे भले ही झोंका दिया जाय वह गिरेगा नहीं। क्योंकि उसका भार समान है। इसी तरह गर्भाशय के दोनों ओर एक-एक प्रणाली है, जिनमें डिम्बकोष लगे हुए हैं।

डिम्बकोष और डिम्ब प्रणाली

को समझने के लिये 'डिम्ब' इस शब्द को जानना आवश्यक है। 'डिम्ब' शब्द अण्डे के अर्थ में आता है। अर्थात डिम्बकोष एक तरह से अण्डों का कोष है। इसके अन्दर कई हजार संख्या में अण्डे रहते हैं। ये दोनों पार्श्वों में एक-एक हैं। इनमें अण्ड या डिम्ब अपने समय पर पकता है, और पक कर साथ में सभी नलों के द्वारा गर्भाशय में आता है। डिम्ब एक महीने में एकबार एक पार्श्व से आता है, और दूसरे महीने में दूसरे पार्श्व से आता है। यह इसलिये अनुमान किया गया है कि जब बच्चे जोड़वां पैदा होते हैं, तो उसका लिंग प्रायः एक ही होता है। दो लड़के एक साथ पैदा होते हैं। एक लड़का और एक लड़की एक साथ पैदा हों, ऐसा प्रायः नहीं होता। इसलिये यह कल्पना की गई है कि एक बारमें एक पार्श्व का डिम्ब पकता है, और दूसरी बार में दूसरा डिम्ब।

डिम्ब के पकने और न पकने का भी समय है। इस पर भी ऋतु आदि का प्रभाव कई अंशों में होता है; जिस प्रकार कि दांत स्वभावतः छठे महीने निकलने आरम्भ होते हैं; उसी प्रकार डिम्ब भी एक निश्चित आयु में पकने लगता है। यह समय १३ वर्ष से प्रायः आरम्भ होता है। शीत देशों में यथा—यूरोप में पन्द्रह साल से और अफ्रीका या दूसरे गरम देशों में ग्यारह-बारह साल से प्रारम्भ होता है। डिम्ब के पकने का अर्थ यह है कि अब स्त्री गर्भ धारण के योग्य बन गई अर्थात स्त्री-बीज उत्पन्न होने लगा है।

यह स्त्री-बीज जितना १६ से २४ वर्ष की आयु में जल्दी-जल्दी पकता है—तथा जितना अधिक शक्तिशाली रहता है, उतना इसके पीछे नहीं। चौबीस या सत्ताईस वर्ष के पीछे इसकी शक्ति घटती जाती है,यहां तक कि ४२ से ४८ तककी आयुमें प्रायः सम्पूर्ण रूप में क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि जिन कन्याओं की शादी १६ से २४ वर्षकी आयु में हो जाती है, उन्हें प्रायः बच्चे जल्दी-जल्दी होते हैं। और इनकी संतान अधिक शक्तिशाली भी होती है। सत्ताईस साल की आयु के पीछे विवाह होने पर एक-दो बच्चे होकर प्रायः आगे सन्तान बन्द हो जाती है। यह एक साधारण नियम है, इसमें अपवाद भी हैं, और इनका कारण भी है।

उदाहरण के लिये मेरे एक मित्र कविराज हैं, बंगाली हैं, इसलिये मत्स्य-मांस का वे भोजन करते हैं—उन्हें तेरह सन्तान हैं, इनमें एक भी सन्तान नष्ट नहीं हुई और न कोई गर्भपात या गर्भस्राव हुआ—अभी आगे होने की सम्भावना पूर्ववत बनी है। इसलिये अपवाद को छोड़कर सामान्य नियम यही है कि छोटी आयु में अर्थात् १८ से २१ साल का लड़का यदि १४ से १६ साल की लड़की से शादी करता है, तो संतान अधिक होती है। यह सन्तान कमजोर होगी यह सम्भव है—चूँ कि जो वृक्ष संख्या में अधिक एवं पास-पास रहते हैं, वे बढ़ते नहीं! इसीलिये वृक्षों को दूर-दूर पर लगाया जाता है। इसी तरह जितनी देर में और जितनी बड़ी आयु में सन्तान होगी वह संख्या में कम परन्तु पुष्ट होगी। इसके विपरीत जल्दी-जल्दी और कम आयु में हुई संतान संख्या में अधिक और कमजोर होगी। इसका कारण एक ही है कि डिम्ब का परिपाक छोटी आयु में जितनी जल्दी और अधिक होता है, उतना बड़ी आयु में नहीं होता।

डिम्ब जब पकता है, तब पक कर साथ में लगी झालर के साथ गिर जाता है, और वह उसमें होकर गर्भाशय में आ जाता है। इसका खोल वहीं रहता है। वास्तव में यह डिम्ब दो प्रकार का है—एक पका हुआ और दूसरा न पका हुआ। अब तो दोनों ही रूप चिकित्सा में बरते जाते हैं और बाजार में अलग-अलग रूप में मिलते हैं।

जिस प्रकार पुरुष में कामेच्छा-वासना उत्पन्न होने के साथ उसके रक्त-संचार में तेजी, श्वास का बढ़ना, चेहरे और छाती में स्फुरण दीखता है, उसी प्रकार इस डिम्ब के परिपाक समय में—अर्थात् गर्भाशय में आने के समय में भी स्त्री में परिवर्त्तन आ जाता है। इस परिवर्त्तन को 'ऋतुकाल' नाम दिया गया है।

डिम्ब की रचना छोटे-छोटे दानों से बनी होती है. ये डिम्ब एक विशेष क्रम से डिम्बकोष में संग्रहीत रहते हैं। भोजन-विहार, जलवायु का जैसे शरीर पर प्रभाव होता है, उसी प्रकार इन पर भी प्रभाव होता है। इसकी बनावट में इतना अन्तर है कि ये डिम्ब क्रमशः पकते हैं, एक साथ नहीं पकते। जिस प्रकार कई आम एक शाखापर दो इकट्ठे लगे रहते हैं, या बिलकुल पास-पास होते हैं, जिससे कि एक ही चोट से दोनों गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार कभी-कभी दो डिम्ब एक साथ पक जाते हैं। यह प्रायः कई स्त्रियों में प्रकृत रूप से होता है, अर्थात् उनके बच्चे सदा जुड़वां पैदा होते हैं और कईयों में कभी कदाचित ऐसी स्थिति आती है। परन्तु यह प्रायः निश्चित है, कि ऐसी अवस्था में दोनों का लिंग एक ही होता है। जिससे स्पष्ट है कि एक मास में एक ही पार्श्वका डिम्ब कार्य करता है। डिम्ब कोषमें डिम्ब की रचना प्रायः मछली के अण्डों के समान रहती है। जिस प्रकार मछली के अण्डे परस्पर एक दूसरे से चिपके

हुए परन्तु अलग-अलग रहते हैं, उसी प्रकार ये डिम्ब भी परस्पर सम्बद्ध परन्तु अलग-अलग रहते हैं भगवान् की यह कृपा है कि मछली या सांप के अण्डे एक साथ जुड़े रहते हैं, यदि ये अलग-अलग रहते, तो बहुत से नष्ट हो जाते।

जब मनुष्य को स्त्री-बीर्य का कार्य समझ में आ गया, तब उसने यह भी सोचा कि यदि इसे किसी प्रकार से बन्द कर दिया जाये, या इसको नष्ट कर दिया जाये, तो गर्भ धारण नहीं होगा। इसलिये उसने डिम्ब प्रणाली को बांध दिया। जिससे डिम्ब स्त्री-बीज गर्भाशय में नहीं आता। अथवा डिम्ब कोष को ही निकाल दिया, जिस प्रकार कि वृक्क के रोगों में गुर्दे को निकाल देते हैं। ऐसा करने से एक तरफ गर्भ धारण होने का भय तो दूर हुआ, परन्तु साथ ही उसके सामने एक दूसरी उलझन आ गई।

वह उलझन यह है, कि जिस प्रकार पुरुषमें वीर्य और शुक्र कीट-पुरुष बीज-एक विशेष अवस्था में और विशेष समय पर उत्पन्न होते हैं, शेष समय अण्ड एक दूसरा कार्य करके अन्तःस्राव पैदा करते हैं, जिसे साधारण लोग ओज कहते हैं,जो कि शरीरके लिये अति उपयोगी वस्तु है, उसी प्रकार डिम्ब भी डिम्ब-परिपाक के समय छोड़कर एक अन्य रस-उत्पन्न करते हैं, जो कि शेष समय शरीर का पोषण करता है। डिम्बकोष निकाल देने पर इस रस की न्यूनता को शरीर में पूरी करनेके लिये इसके इंजेक्सन देने पड़ते हैं। जिन स्त्रियों में डिम्ब कोष निकाल दिये गये—उनमें कामशक्ति बहुत कम हो जाती है, एक प्रकारसे उसकी कामेच्छानष्ट होती देखी गई है। इसके बाद जब उनको इसीके इन्जैक्शन दिये गये—उनमें वासना—चाह कुछ दिनों के लिये आगई। इतना ही नहीं उत्साहमें भीवृद्धि हुई यह लक्षण तो बहुत ही स्पष्ट मैंने अनुभव किया। इन्जेक्शन का प्रभाव बीतने पर जो कि दो चार दिन में स्वयं जाता रहता है,औरत सुस्त, काम न करने की इच्छा और उदास रहने लगती है, इस अवस्था में दिया गया इन्जेक्शन उसमें नये सिरे से उत्साह पैदा कर देता है।

इस से स्पष्ट है कि डिम्बकोष डिम्ब के परिपाक के सिवाय शरीरके उपयोगी रस भी बनाता है, जिस प्रकार कि पुरुष के अण्ड कार्य करते हैं— इसी तरह दोनों एक ही कार्य करते हैं। इससे स्पष्ट है कि डिम्ब जहां वाह्य रूप में स्त्री-बीज उत्पन्न करते हैं, वहां अन्तः-स्राव-ओज भी उत्पन्न करते हैं। इस लिये डिम्ब कोष निकलवाना सन्तानो पत्ति रोकने के लिये उत्तम उपाय नहीं है। सन्तानोत्पत्ति रोकने के लिये संतोष जनक एवं हानि-रहित उपाय तो मैं आगे बताऊंगा।

इसके सिवाय जिस प्रकार चोट के कारण या गनोरिया रोग के कारण अण्ड में सूजन आ जाती है, पक जाते हैं, निष्क्रिय हो जाते हैं, उसी प्रकार डिम्ब कोष में भी रोग का विष पहुंच जाता है। परमात्मा की इतनी सावधानी रखने पर भी सूजन, विष, गनोरिया का कीटाणु इन में आ ही जाते है। इतना ही नहीं कभी-कभी तो इन डिम्ब-कोषों में गर्भ भी बन जाता है, अर्थात् डिम्ब के साथ पुरुष-बीज गर्भाशय में न मिलकर डिम्ब प्रणाली या डिम्ब कोष में मिल जाता है। उस समय औरत का जीवन मृत्यु के झोले में होता है। इस समय एक ही रास्ता रहता है कि या तो गर्भ को नष्ट करे अथवा डिम्ब कोष को बाहर कर दें। इसमें जो ठीक रास्ता दीखता है वह चिकित्सक चुन लेता है।

स्त्री या पुरुष का कारण

गर्भ के बनने में डिम्ब कोष—एक अण्ड की भांति काम करता है, डिम्ब-प्रणाली शुक्र मार्ग की

भांति काम करती है। डिम्ब-अर्थात् स्त्री बीज और शुक्र-कीट-या शुक्र अथवा पुरुष-बीज इसमें जिसकी शक्ति अधिक होगी वही लिंग गर्भ का बनता है। शास्त्र वचन 'अधिक' शब्द से कहा है। अधिक का अर्थ जहां राशि या परिमाण से होता है, वहां शक्ति की अधिकता से भी होता है। मेरी समझ में इस विषय में दोनों ही अर्थ होने चाहिये। अर्थात् स्त्री बीज में क्रोमोजन की संख्या पुरुष-बीज के क्रोमोजन की संख्या अधिक हो तो गर्भ का स्त्री लिंग होगा और यदि पुरुष-बीज में क्रोमोजन की संख्या अधिक रहेगी तो गर्भ पुरुष लिङ्ग होगा। समान होने पर नपुसंक होगा।

क्रोमोसोम क्या है ? इसे भी समझ लें तो रास्ता सरल बन जागगा। दूध से दही सब बनाते हैं। दूध को दही में बदलने वाले एक प्रकार कीटाणु या एन्जाईम हैं। ये ही एन्जाईम सुरा; मद्य, शुक्त आदि बनाते हैं। परन्तु उनमें ये एन्जाईम तीव्र रूप में रहते हैं। इसलिये मनुस्मृति में ब्रह्मचारी के लिये जहां सुरा, शुक्त आदि का खाना बन्द किया है, वहां दही आदि का भी निषेध होता था, इसलिये मनु ने उसको विशेष रूप में न खाने का विधना किया है। क्योंकि दही और सुरा की श्रेणी तो एक ही है। इसी प्रकार का कार्य करनेवाले कीटाणु या एंजाईम को 'यीष्ट' नाम दिया जाता है। क्रोमोसोम भी इसी प्रकार का एक एंजाईम है, जो कि उत्पत्ति-प्रजनन-वृद्धि का कार्य करता है। दूध में हम थोड़ा-सा झाग (गुजराती-में मेलेवन) डालते हैं, यही बढ़कर-वृद्धि पैदा करके सारे दूध में फैलकर दूधको दही में बदल देता है; यह वृद्धि इसका स्वाभाविक गुण है। बस, इसी वृद्धि को करनेवाला क्रोमोसोम है। ये वृद्धि करनेवाले कीटाणु या एन्जाईम ही पुरुष-बीज या स्त्री बीज में क्रोमोसोम कहलाते हैं। इनकी संख्या के ऊपर गर्भ का लिंगस्थिर करता है।

पुंसवन संस्कार या विधि में हम इस संख्या में वृद्धि कर सकते हैं। उदाहरण के लिये जब तक वृक्ष छोटा है, या फल छोटा है, उसे जैसा भी चाहें हम मोड़ सकते हैं, जैसा झुकाना चाहें झुका सकते हैं। बड़ा होने पर हम उसको बदल नहीं सकते। इसी प्रकार छ से आठ सप्ताह की गर्भ धृति में पुंसवन द्वारा हम लिंग परिवर्त्तन की कोशिश करते हैं। इसमें एक बात सदा ध्यान में रखना आवश्यक है कि आयुर्वेद की सब औषधियां जो पुंसवन में वरती जाती हैं, वे सब स्त्री लिंग को पुरुष लिंग में बदलनेवाली हैं—अर्थात् नीचे से ऊपर ले जानेवाली बताई हैं। कोई भी औषध पुरुष-लिंग को स्त्री लिंग बदलनेवाली नहीं बताई। इससे स्पष्ट है कि नीचे से ऊपर जाने का ध्यान रखा गया है। यह क्रिया भी प्राक्तन कर्म के आधार पर रहती है, अर्थात् यदि प्राक्तन कर्म कमजोर रहेगा तो यह क्रिया ठीक प्रकार करने पर अवश्य फलवती होगी, अन्यथा प्राक्तन कर्म के कारण निष्फल भी जा सकती है। इस क्रिया से हम पुरुष-तत्त्व अर्थात् सौम्य गुण को अधिकता लाते हैं। स्त्री-बीज के क्रोमसोम और पुरुष बीज के क्रोमोसोम में अन्तर रहता है, इनके इसी भेद को आयुर्वेद में आग्नेय-तत्त्व और सौम्य-तत्त्व का नाम सम्भवतः दिया है। पुंसवन से सौम्य-तत्त्व बढ़ाने का यत्न किया जाता है।

इसी क्रोमोसोम के ऊपर गर्भ शरीर का पुष्ट, निर्बल या रोगी होना निर्भर करता है। इसे जितना बलवान बनाया जायेगा उतना ही गर्भ निरोग-पुष्ट होगा। इसीलिये गर्भाधान से एक मास

(शेषांश १०२० पृष्ठ पर)

दांतों की सफाई

रवीन्द्र शास्त्री

हम जो कुछ खाते हैं वह दांतों से काटा और चबाया जाता है। रोटी, शाक-फल आदि सभी खाद्य पदार्थ दांतों की चक्की में पिस के पेट में पहुंचते हैं। बच्चे को जब तक दांत नहीं निकलते; केवल दूध पिलाया जाता है—और जिन बच्चों को दांतों के अच्छी तरह निकलने के पहिले ही अन्न दे दिया जाता है—उन्हें पेट की खराबी जरूर होती है। मुँह में दांत इसलिये ही बनाये गये हैं कि इनसे खाद्य पदार्थ को काटा और चबाया जाय।

दांत हमारे लिये बहुत ही जरूरी चीज है—इनसे मुँह का सौन्दर्य्य और जीवन रक्षा भी है। दांतों की प्रशंसा में कवियों ने खूब कल्पना की है। सुन्दर और साफ दांतों वाला आदमी, सभी को अच्छा लगता है। प्रकृति की तरफ से सभी को दांत दिये जाते हैं। इनकी सफाई और रक्षा का विवेक भी मानव मात्र को दिया गया है।

जिस तरह शरीर के और हिस्सों की सफाई आवश्यक है,—इसी तरह दांतों की भी। भोजन करने के बाद अन्न-फल आदि के कुछ कण दांतों में रह जाते—और यदि इन्हें रोज साफ न किया जाय तो दांतों में बदबू आने लगती—इनका सौन्दर्य खराब हो जाता और कई तरह के रोग हो जाते हैं, जो दांतों के साथ ही पेट को भी खराब कर देते हैं।

दुर्भाग्य से दांतों के सम्बन्ध में लोगों में बहुत लापरवाही है। बहुत से आदमी जिन्दगी भर दांत साफ नहीं करते—बहुत से महीने में दो चार बार करते हैं। ऐसे आदमियों के मुंह से ऐसी बदबू आने लगती है कि पास बैठना मुश्किल हो जाता है। दांतों के ऊपर मैल की पपड़ियां जम जातीं और वे मसूढ़ों तक पहुंच कर कई खराबियां पैदा कर देती हैं। दांत साफ नहीं करने का यह भी नतीजा होता है कि भोजन के बाद जो अन्नकण दांतों पर रह जाते हैं—वे धीरे २ सड़ जाते हैं और फिर भोजन या जल के साथ पेटमें पहुंच जाते हैं। पायरिया,—जवानी में ही दांतों का हिलना और गिरना आदि रोग दांत साफ नहीं करने के कारण ही होते हैं।

प्रातः काल शौच जाने के बाद दांत साफ करने का नियम प्रत्येक मनुष्य को रखना चाहिये। भोजन के बाद खूब अच्छी तरह कुल्ला करना चाहिये—जिससे अन्न का एक भी कण दांतों पर नहीं रहने पावे। रात में सोते समय भी दांत साफ करके सोना बहुत आवश्यक है। ज्यादा ठंडी और गर्म चीजों से दांतों को हानि पहुंचती है, और एक ही समय में ठंडी और गर्म चीजों का खाना दांतों में रोग पैदा कर देता है। चाय पीके ठंडे पानी से कुल्ला करना या ठंडे पानी से कुल्ला करके चाय पीना ठीक नहीं। मलाई की बर्फ, आइसक्रीम तथा खट्टी चीजें दांतों को खराब करती हैं।

दतौन और मंजन

हिन्दुस्तान में तो कुदरत ने ही इतने अच्छे टूथपेस्ट तैयार कर दिये हैं, कि इनके प्रयोग से कभी भी कोई दंतरोग नहीं हो, और जब से इनका व्यवहार छूटा और विदेशी दन्त मंजनों ने अपना विज्ञापन किया

है—दांतों की बीमारियाँ तेजी से बढ़ती जा रही हैं। नीम की एक छोटी-सी बिना पैसों की टहनी केवल दाँतों को ही नहीं जीभ को भी साफ कर देती है और जो लोग नियमित रूप से नीम की दतौन करते उन्हें कभी पायरिया की पीव के दर्शन नहीं होते।

नीम की तरह ही कीकर, खैर, आम, गूलरकी दतौन भी दाँतों को साफ करती है।

दतौन के लिये टहनी ऐसी लेनी चाहिए—जिस में गाँठ न हों और जो पकने को न आई हो। अच्छी तरह सावधानी के साथ दतौन की कूँची बनाकर प्रत्येक दाँत को अच्छी तरह से साफ करें घस्सा इतने जोर का न लगे कि मसूढ़े छिल जायँ। फिर दतौन को बीच से चीरकर जीभ को खूब अच्छी तरह ऐसा साफ करें कि उस पर जरा-सा भी मैल न रहे। फिर साफ पानी से अच्छी तरह कुल्ला करें।

दतौन करने के बाद यदि नमक और कडुवे तेल को मिला कर मंजन और कर लिया जाय तो सोने में सुगन्ध का काम हो जाता है। नमक और तेल से दाँतों की जड़ मजबूत होती है और हिलते हुए दाँत भी जम जाते हैं। मिट्टी या कोयले से दाँत साफ करना ठीक नहीं है।

वास्तव में दाँतों का साफ और सफेद रहना ही उनका सौन्दर्य्य है। दतौन सभी जगह आसानीसे मिल जाती है, अतः उचित यही है कि मंजनों के झंझट में न पड़कर इसी से दाँत साफ किये जांय। अंगरेजी शिक्षा के सम्पर्क में आये हुए लोग दतौन को वाहियात चीज समझ के ब्रश और पेस्ट से दाँत घिसते हैं—यह न केवल अर्थ शास्त्र की दृष्टि से ही बल्कि स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उचित नहीं है। दूथ पेस्ट और ब्रूसों का अधिकांश पैसा विदेश जाता और जितना लाभ नीम या बबूल की दतौन से होता है उसका दशांश भी इन पेस्टों से नहीं होता। होता यह भी है कि ब्रस से दांत साफ करने के बाद उसे ठण्डे पानी से धोकर योंही रख दिया जाता और फिर इसी तरह रोज महीनों तक उसका व्यवहार किया जाता है। यह तरीका इतना गलत है कि बड़े-बड़े डाक्टरों ने भी इसको हानिकर बतलाया है।

दाँतों को साफ करने के लिये यदि मंजन का ही प्रयोग करना हो तो निम्न मंजन बनाके रखलें। यह कम खर्चवाला तो है ही पायरिया जैसी बिमारियों को दूर करके दाँतों को मजबूत भी बना देता है।

मंजन

सेंधा नमक, सफेद मिर्च, सफेद जीरा, सोंठ, मस्तगी, कत्था, इलायची, दालचीनी, शुद्ध नीला मोथा प्रत्येक १-१ तोला और कपूर ३ माशा—सब चीजों को कूट पीस छान के शीशी में भरलें, और अंगुली से मंजन करें।

शेषांश

अन्तः जननेन्द्रिय-अवयव

१०१८ वें पृष्ठ का

पूर्व पूर्ण ब्रह्मचारी रहने का, दूध और घी से संस्कृत-शाली-भात खाने का पुरुष को; तेल और उड़द की खुराक लेने का स्त्री को विधान है। इतना ही नहीं—गर्भाधान करने से पूर्व दिन विशेष रूप में संस्कृत किया दूध या खुराक लेने का विधान है। इस खुराक से शुक्र और उसका क्रोमोसोम अधिक पुष्ट होता है, क्योंकि कई वस्तुएँ जल्दी शुक्र को बढ़ाती और पुष्ट बनाती हैं।

इसलिये स्त्री और पुरुष की रचना का मुख्य कारण स्त्री-बीज और पुरुष बीज को क्रोमोसोम पर है। इसमें हमने जननेन्द्रिय अवयव देख लिये—और स्त्री तथा पुरुष बनने का कारण भी समझ लिया। अब अगले प्रकरणों में आर्त्तव-ऋतु एवं ऋतुकाल-ऋतु-धर्म आदि बातों का विवेचन करेंगे।

अष्टांग-आयुर्वेदीय-कालेज-कलकत्ता

कविराज यामिनी भूषण राय, एम० ए०, एम० बी०, कविरत्न, ने आज से ३४ वर्ष पूर्व १० फरवरी १९१६ को पातीपोखर-गली में किराये के एक छोटे से मकान में एक छोटा-सा आयुर्वेदिक दातव्य औषधालय संस्थापित किया। दो मास के उपरान्त १२ छात्रोंको लेकर उन्होंने यहीं एक कालेज भी चलाना प्रारम्भ कर दिया। उक्त औषधालयकी चिकित्सा-प्रणाली आरम्भ से ही प्राचीन - नवीन मिश्रित रखी गयी। उस समय के बड़े-बड़े प्रवीण सज्जन एवं कुशल कविराज औषधालय के कार्य सम्पादन में हाथ बटाते थे।

थोड़े ही दिनों के अनन्तर कविराज यामिनी भूषण की लोक-प्रियता निस्सीम हो गयी और ४ मार्च १९१९ को उक्त संस्था के लिये एक सार्वजनिक ट्रस्टी बोर्ड बना दिया गया और स्वर्गीय सर आशुतोष मुखर्जी इसके सभापति हुए। संस्था की व्यवस्था जनता द्वारा निर्वाचित 'कौंसिल' के हाथ चली गयी १९२० अप्रेल को कलकत्ता कारपोरेशन ने २५ सौ रुपये की वार्षिक स्वीकृति भी दे दी। इससे संस्था का कार्य इतना प्रसरित हो गया कि उसे उठाकर "आर० जो० कार रोड" ले जाना पड़ा। किन्तु वहाँ भी वही स्थान-संकीर्णता होने लगी। १९२२ में कलकत्ता कारपोरेशन ने १७०, राजा दीनेन्द्र स्ट्रीट में १ बीघा १४ कट्ठे भूमिका एक टुकड़ा ९९ वर्षों के लिये नाम मात्र १००) वार्षिक किराया पर उक्त संस्थाको दान कर दिया। इतना ही नहीं भवन के निर्माण हेतु भी कारपोरेशन ने ३० हजार रुपये दिये। यामिनी भूषण राय ने स्वयं इसके लिये ७० हजार रुपये दिये।

उक्त अष्टांग-आयुर्वेद-कालेज के इतिहास में ६ मई १९२५ सदा के लिये अमर रहेगा। जिस दिन राष्ट्र-पिता-महात्मा गांधी ने इसके अस्पतालका शिला न्यास समारोह सम्पन्न करते हुए कहा था—"यह संस्था अपनी निष्काम सेवाओं द्वारा भारतकी एक आदर्श संस्था होगी तथा इसके कार्यकर्त्ता अपने स्वार्थ-त्याग द्वारा देश में ऐसी अन्य संस्थाओं के जन्म और भरण-पोषण में प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देंगे।"

१९२६ की पहली जनवरी को अष्टांग-आयुर्वेदिक कालेज तथा अस्पताल दोनों उक्त नव-निर्मित भवन में ले जाये गये, जिसका केवल नीचेका तल्ला ही तब तक बनकर तैयार हो सका था। ११ अगस्त १९२६ को श्री यामिनी भूषण राय के असमय देहावसान के कारण उक्त संस्थाके ऊपर एक जबर्दस्त धक्का लगा। भवन तथा अन्यान्य सभी योजनाओं के काम अधूरे पड़े हुए थे। किन्तु विधाता की कृपासे उनके अभिन्न मित्र स्वर्गीय श्रीयुत मनमोहन पांडेय ने अधूरे कामको पूर्ण करनेका सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया तथा थोड़े ही दिनों के पश्चात् अस्पतालकी ऊँची अट्टालिका नभमण्डल में अपना स्वच्छ मुकुट उठाकर संस्थापकका यशोगान करने लगी। भवन-निर्माण में लगभग डेढ़ लाख रुपये खर्च हुए। २४ जनवरी १९२७ को देशप्रिय यतीन्द्र मोहन सेन गुप्तने अस्पतालका उद्घाटन किया। आरम्भिक कालमें यहां केवल ५० रुग्ण शय्याएँ ही रहीं, किन्तु १९४० आते-आते शय्याओंकी संख्या १२५ हो गयी।

१९३२ ई० में स्वर्गीय संस्थापक के पाती पोखर के उद्यान भवन में पश्चिमी बङ्गाल के वर्तमान प्रधान मंत्री डा० बी० सी० राय ने क्षय अस्पतालका शिलारोपण किया। श्री यामिनी भूषणरायके अभिन्न सुहृद श्रीयुत मनमोहन पाण्डेय के अविरल प्रयास के द्वारा ही १९३४ में २५ मार्चको कलकत्ता कारपोरेशन के तत्कालीन मेयर श्रीयुत सन्तोषकुमार बसु ने इस अस्पतालको सार्वजनिक बना दिया। इस भवन के निर्माण में लगभग ४५ हजार रुपये खर्च हुए, जिसमें २५ हजार कलकत्ता कारपोरेशनकी ओर से सहायता मिली। इस अस्पताल में इस समय ५० रोगियोंकी चिकित्साका प्रबन्ध है।

१९३६ में इसी कालेज के अन्तर्गत देशी औषधियों के अन्वेषण के लिये एक अनुसंधान (Resurch) विभाग भी खोला गया। १९३८ में अष्टाङ्ग आयुर्वेद-कालेज अपने भवन १७०, राजा दीनेन्द्र स्ट्रीट में चला गया। यह जमीन ६६५०) रुपये में खरीदी गयी थी तथा २१६६४-१३-आना मकान बनवाने में खर्च हुआ।

शास्त्रोंकी विधियों के अनुसार औषधि-निर्माण के लिये सन् १९४० में एक औषधि-निर्माण शाला बनायी गयी; जिसमें ६२३२-१४-६ पाईका खर्च बैठा। इसका उद्घाटन संस्था के तत्कालीन अध्यक्ष स्वर्गीय मन्मथ नाथ मुखर्जी ने किया। उनके उपरान्त स्वर्गीय आशुतोष मुखर्जी अध्यक्ष हुए। वर्तमान अध्यक्ष श्री न्यायमूर्ति सी० सी० विश्वास हैं।

१९३८ में जनरल अस्पताल के पूरब १२ कट्ठे का दूसरा प्लाट ३४०८८-२-६ में खरीदा गया। यह प्लाट तथा कलकत्ता कारपोरेशन द्वारा दिया गया ५ कट्ठे का एक दूसरा प्लाट इस समय खाली पड़े हैं।

उक्त संस्थामें इस समय निम्नलिखित विभाग हैं:—(१) कालेज, (२) अस्पताल—(अ) जनरल अस्पताल, (ब) क्षय अस्पताल, (३) अनुसंधान विभाग।

(१) कालेज—कालेजका भवन तिमञ्जिला है। ३०० छात्रों के पठन-पाठनका प्रबन्ध है। "आयुर्वेद चिकित्सा फैक्टरी बङ्गाल" द्वारा निर्धारित शिक्षण अवधि ५ वर्ष की है। उक्त काल में आयुर्वेदको आठों शाखाओंकी पढ़ाई होती है और पश्चात पाश्चात्य पद्धतिका भी काम-चलाऊ ज्ञान करा दिया जाता है। कालेज में प्रविष्ट होने के लिये छात्रोंको संस्कृत लेकर प्रवेशिका परीक्षोत्तीर्ण होना आवश्यक है। कमजोर छात्रोंको संस्कृत के पूर्ण ज्ञान के लिये एक विशेष प्रकारकी पढ़ाईका प्रबन्ध है।

कालेज में एक संग्रहालय भी है। जिसमें विभिन्न वस्तुओंकी तालिका में जड़ी-बूटियां तथा अन्यान्य प्रकार के नमूने हैं। एक पुस्तकालय भी है। जिसमें २ हजार से अधिक पुस्तकें तथा कई प्राचीन हस्तलिपियां हैं। एक प्रयोग शाला भी है; जिसमें छात्रों को भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र तथा जीवन-शास्त्र की व्यवहारिक शिक्षा दी जाती है।

स्नातककी उपाधि मिल जानेके उपरान्त परिस्नातककी पढ़ाईका भी प्रबन्ध है। यह पढ़ाई १ साल की है, और इसके लिये विशेषज्ञ शिक्षक नियुक्त हैं।

अतः कालेजमें दो श्रेणी के अध्यापक हैं—एक आयुर्वेदिक तथा दूसरे पाश्चात्य। अध्यापक मण्डल में १२ कविराज तथा ८ डाक्टर हैं। इसके अतिरिक्त दोनों अस्पतालों में नियम पूर्वक औषधि-निर्माण की भी पढ़ाई होती है, जिसके लिये अत्यन्त योग्य अध्यापक नियुक्त हैं।

(२)—जनरल अस्पतालका भवन चौ-मञ्जिला है। इसकी नींव राष्ट्र पिता महात्मा गांधीजी द्वारा डाली गई थी, और इसका उद्घाटन देशप्रिय

यतीन्द्र मोहन सेनने किया था। अन्तः वासी रोगी विभाग में १२५ रुग्ण शय्याएँ हैं, जिन्हें निम्न-लिखित रीतिसे विभाजित किया गया है—

मेडिकल विभाग—	७८ रुग्ण शय्याएँ
शल्या चिकित्सा विभाग—	२० " "
आंख-कान-नाक-कंठ-विभाग—	१० " "
प्रसूती तथा अन्य स्त्री रोग विभाग—१०	" "
सङ्कटकालीन या एम्बुलेंस विभाग—७	" "
	कुल १२५ रुग्ण शय्याएँ हैं।

मेडिकल विभाग में शुद्ध आयुर्वेदिक पद्धति से चिकित्सा की जाती है। अन्य विभागोंमें पाश्चात्य पद्धतिसे तो चिकित्सा की जाती है, किन्तु आवश्य-कतानुसार आयुर्वेदिक पद्धति से भी काम लिया जाता है।

वहिरागत रोगी-विभाग के तीन उप-विभाग हैं—(अ) मेडिकल, (आ) शल्य, चिकित्सा तथा (इ) आंख-कान-नाक तथा ग्रीवा विभाग।

अधिकारी वर्ग छाती के रोगों तथा स्त्री-रोग विशेष के लिये एक विभिन्न विभाग खोलने के प्रबन्ध में हैं। एक 'क्ष' किरण (एक्स-रे) विभाग की भी स्थापना होगी। इसके लिये आधुनिकतम यन्त्र रखने का विचार किया जा रहा है। इन कार्यों में ५० हजार रुपये के व्ययका अन्दाज लगाया जाता है।

जनरल अस्पताल में नवीन प्रणालीका एक शल्य भवन भी है जहाँ—गर्मी पहुंचानेका अति नवीन यन्त्र तथा एक अल्ट्रा-वायलेट-लैम्प है। रोग निदान और अन्वेषण के लिए एक पृथक् प्रयोग शाला भी है।

उक्त अस्पताल में प्रति दिन २०० से अधिक वहिरागत रोगियोंकी चिकित्साकी जाती है तथा १०० से अधिक अन्तः वासी रोगियों के लिये औषधि, भोजन तथा अन्य सामग्रियों का प्रबन्ध करना पड़ता है।

जनरल अस्पतालका खर्च कलकत्ता कारपोरेशन की स्वीकृति रकम तथा उदार-धनियोंके दानसे चलता है। सरकार ने कभी भी इस संस्थाकी ओर ध्यान नहीं दिया।

क्षय अस्पताल

क्षय अस्पतालका भवन तीन-मञ्जिला है। यह जन-रल अस्पताल से तीन मील दूर नगरके बाहर पाती-पोखर में है। इस वाटिकाका क्षेत्रफल १२ बीघा है। उक्त संस्था के संस्थापक ने ही यह वाटिका क्षय अस्पताल के लिये दान दिया था। इसके एक तल्ले और दो तल्ले पर १६-१६ कमरे हैं। नीचे सतह पर १८ कमरे हैं। इस प्रकार कुल ५० क्षय रोगियोंकी चिकित्साका प्रबन्ध है, जिनमें ३४ पुरुषों तथा १६ महिलाओंके लिये सुरक्षित रखे रहते हैं।

चिकित्साकी प्रणाली अत्यन्त अधुनिक तथा सभी साधनों से परिपूर्ण है। एक्स-रे विभाग तथा पयोग शाला इसके अपने हैं। विदेशी चिकित्सकों द्वारा पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति से चिकित्सा का प्रबन्ध है। किन्तु यहां भी आवश्यकता पड़ने पर आयुर्वेद विशेज्ञों से भी परामर्श किया जाता है।

यह क्षय अस्पताल सदा रोगियों से भरा हुआ रहता है तथा कम से कम एक सौ रोगियों के नाम पहलेसे ही लिखे रहते हैं। इसका विस्तार होना सबसे अधिक आवश्यक है। इसके लिये पश्चिमी बंगाल के भूमि-प्राप्ति विभागको चाहिये कि वह उक्त वाटिका की चतुर्दिशु भूमि को लेकर अस्पताल को दे दे। कोष के अभाव में अस्पताल के अधिकारी कोई उपयुक्त योजना नहीं बना रहे हैं। देश के सब से अधिक दुर्दिन के समय बंगाल संबत् १३४४ से १३४५ तक इस अस्पताल से २ हजार से अधिक क्षय रोगी चंगे हुए हैं।

यहां अन्त में यह कह देना अनुपयुक्त नहीं होगा कि जनरल अस्पताल के समान ही इस क्षय-अस-ताल का सब खर्च कलकत्ता कारपोरेशन तथा उदार जनता ही द्वारा चलता है।

भारतीय प्रजातन्त्र में आयुर्वेद का स्थान

वैद्यराज बाबूराम शर्मा द्विवेदी सदस्य आयुर्वेदिक-यूनानी मेडीसन वोर्ड (मध्यप्रान्त-बरार)

शताब्दियों की पराधीनता के वाद हमारा देश सन् १६४७ की १५ वीं अगस्त को स्वतन्त्र हुआ है और २६ जनवरी सन् १६५० को अपना देश सार्व-भौम प्रजातन्त्र राष्ट्र भी घोषित हो चुका है।

हमें आवश्यकता है कि हम अपनी प्राप्त स्वतंत्रता की रक्षा सर्वतोभावेन करें, और इसके लिये हमारे राष्ट्र को रोग-शोक से रहित सशक्त नागरिकचाहिए। हमारे देश के प्रत्येक आवाल-वृद्ध-बनिता निरोग तथा शक्तिशाली हों। तभी हम प्रजातन्त्र राज्य का सच्चा आनन्द उठा सकेंगे। गुलामी के अभिशाप से हमारा देश रोग-शोक तथा दुख-दैन्य का क्रीड़ा-स्थल बन गया है। इन सबसे मुक्ति पाने के लिये हमें अपने स्वास्थ्य संरक्षण के लिये प्रथम स्थान देना होगा। क्योंकि कहा भी है—धर्मार्थकाम मोक्षाणा-मारोग्यं मूलमुत्तमम्। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन के प्राप्त करने में निरोग शरीर ही सामर्थ्यवान् हो सकता है।

आरोग्य लाभ के हेतु आयुर्वेद-विज्ञान ही संसार का सर्वश्रेष्ठ साधन है। आयुर्वेद के प्रभाव से ही हमारे पूर्वज दीर्घायु प्राप्त करते थे। और स्वस्थ तथा निरोग रह कर इहलौकिक सुख प्राप्त करते थे। आयुर्वेद का प्रादुर्भाव ही संसार के कल्याण के हेतु हुआ था। आयुर्वेद में ही आयु का हिताहित रोगों के पैदा होने का कारण तथा उसकी चिकित्सा भलीभाँति वर्णित है। कहा भी है—

हिताहितं सुखं दुःख मायुस्तस्य हिताहितम्।
मानश्चतच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥

प्राचीन भारत में आयुर्वेद की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। और राज्य द्वारा शिक्षालयों को पूरी सहायता प्रदान किया जाता था। दूर-दूर से शिक्षार्थी भारत में आकर आयुर्वेद की शिक्षाका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करते थे। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व तक तक्षशिला और नालन्दा, आयुर्वेद शिक्षा के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। प्रसिद्ध कौमार भृत्य जीवक ने तक्षशिला से ही आयुर्वेदाध्ययन कर राजा तथा प्रजा की चिकित्सा में विशेष ख्याति प्राप्त की थी।

आयुर्वेद प्राकृतिक और अनादि शास्त्र है। जिसकी चिकित्सा-त्रिदोष सिद्धान्त पर अवलम्बित है, और देश तथा काल के अनुसार सभी प्राणियों के लिये हितकर भी है। शास्त्रकारों ने कहा है-यःपिण्डे सः ब्रह्माण्डे—जो शरीर में है वह संसार में है। जिस तरह संसार का कार्य सूर्य, चन्द्र और वायु पर अवलम्बित है, उसी तरह शरीर का कार्य वायु (वात); सूर्य्य (पित्त), कफ (चन्द्र) यानी जलीय अंश इन्हीं के द्वारा सञ्चालित होता है। इन्हीं की न्यूनाधिकता के कारण रोग हुआ करते हैं। इन्हीं को समान हालतमें ला देने से रोगों का नाश होता है।

पाश्चात्य-चिकित्सा में रोगों का कारण कीटाणुओं का होना माना गया है। किन्तु कीटाणुओं की उत्पत्ति रोग विज्ञान में तीसरी स्थिति का बोधक है। आयुर्वेद-विज्ञान का जानकार वैद्य पहिले रोग के निमित्त तथा हेतु (कारण) पर ध्यान देगा। फिर लक्षणों पर, जो रोग प्रगट होने पर होते हैं अर्थात किन-किन कारणों से रोग - कीटों की शरीर में

उपलब्धि होती है और 'रोग-कीटाणु' पैदा होने के पूर्वरूप क्या है ; इस पर ध्यान देगा। रोग कीटाणु एक साथ नहीं पैदा होते; पहले किसी वस्तु में बिना संधान के रखने से अम्लत्व पैदा होगा ; बादमें सड़ांद, और तब कहीं कृमि होते हैं। यही क्रम शरीर में होता है। पहले मिथ्याहार और बिहार से शरीर में स्थित वायु, पित्त, (ऊष्मा) और कफ (जलीय अंश) इनमें विकृति होती है; पश्चात दोष और दूष्य के संयोग से रोग पैदा होता है। शारीरिक क्रियाओं को तथा बढ़े हुए दोष और दूष्य को समान-स्तर पर ला देना ही चिकित्सा है।

आयुर्वेद आठ अङ्गों में विभक्त है। यथा काय-चिकित्सा, बाल-चिकित्सा, ग्रह-चिकित्सा, ऊर्ध्वाङ्ग चिकित्सा (मुख, नाक, कान, नेत्र, शिर आदि , शल्य चिकित्सा, (Surgery) दंश चिकित्सा, जरा चिकित्सा और वृष्य-चिकित्सा, इस तरह यह अष्टाङ्ग आयुर्वेद-संसार की सभी चिकित्सा-पद्धतियों में परिपूण है। यह सत्य है कि भारत की पराधीनता के कारण आयुर्वेद की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध न होने के कारण आयुर्वेद का बिकास रुका रहा, औ. जो चिकित्सा-संसार में शिरमौर थी वह अपने ही देश में दैन्य-स्थिति को पहुंच गई। कारण, विदेशी विजेता लोग भारतीय चिकित्सकों पर अपने जीवन की जिम्मेदारी देने में हिचकते थे। अतः उन्होंने अपनी चिकित्सा और अपने चिकित्सकों को प्रश्रय दिया। फलस्वरूप राज्याश्रय के प्रभाव में केवल गुरु परम्परा से ही आयुर्वेद का ज्ञान उपलब्ध होता रहा। और काय-चिकित्सा में ही वैद्य लोग पारङ्गत होते रहे। शल्यक्रिया का प्रत्यक्ष ज्ञान न होने के कारण आयुर्वेद का यह अङ्ग शिथिल होता गया। और वैद्य लोग इस विषय में ज्ञान शून्य-से हो गये। फिर भी शल्यक्रिया का कार्य भारतीय वैद्य आज भी जड़ी-बूटियों द्वारा करने में कृतकार्य होते हैं। जिसके लिये राष्ट्र कवि मैथिली शरणजी गुप्त ने लिखा है कि—

> चीर फाड़ की क्रिया जहां करते हैं वैदेशिक सारे।
> जड़ियों से आराम वहां करते हैं वैद्य हमारे॥

अनेक शताब्दियों से उपेक्षित रहने पर भी आज भी हमारा आयुर्वेद, चिकित्साक्षेत्र में यशस्वी है। आज भी भारतीय जनता ८० से ९० प्रतिशत आयुर्वेद के द्वारा ही आरोग्य लाभ करती है। तब आवश्यकता है कि भारतीय राष्ट्र के कर्णधार भारतीय प्रजातन्त्र में आयुर्वेद को उचित स्थान देव। हमें चिकित्सा-क्षेत्र में जीवन मरण के प्रश्न पर दूसरे पर अवलम्बित रहना ठीक नहीं। भारतीय जलवायु में पले हुए भारत वासियों को भारतीय आयुर्वेदिक चिकित्सा ही उपयुक्त होगी। आज भारतीय सरकार औषधियों के लिये करोड़ों रुपया विदेशों को भेजती है। फिर भी हमारे लिये, हमारे राष्ट्र के लिये पर्याप्त व्यवस्था नहीं हो पाती और न हमारे स्वास्थ्य का ,'रक्षण हो पाता है। हमारे कहने का यह मतलब नहीं है कि हम हर विदेशी वस्तु को त्याज्य कर दें। उसमें जो उत्तम है उसे हमें स्वीकार करना चाहिये। किन्तु उन्हीं विषयों में जिनमें हमारे ज्ञान और अनुभव की कमी है। शल्य-चिकित्सा में पाश्चात्य चिकित्सकों द्वारा जो अनुभव और खोज हुई है हमें उसे ग्रहण करना चाहिये। तथा उससे लाभ उठाना चाहिये। आयुर्वेद में कहा है—"स एव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्"—वही वैद्य अच्छा है, जो रोग को आराम कर सके। हमारे सामने आरोग्य संरक्षण ही महत्त्वपूर्ण होना चाहिये। आयुर्वेद के विषय में महर्षि आत्रेय ने चरक संहिता में कहा है—

धर्मार्थं चार्थकामार्थं मायुर्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्म्म परैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम् ॥

अर्थात् महर्षियों ने आयुर्वेद का प्रकाश केवल धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिये किया था। वे धर्म परायण थे। उनकी इच्छा मोक्ष प्राप्ति करने की थी। उन्होंने स्वार्थ भावना से रहित होकर जन समुदाय के कल्याण के लिये आयुर्वेद का ज्ञान संसार को दिया। उनका सिद्धान्त था—

नात्मार्थं नापिकामार्थमथभूत दयांप्रति।
वर्तते यः चिकित्सायां स सर्वमति वर्तते ॥

अर्थात्—बिना किसी अर्थ कामना के अथवा स्वार्थ सिद्धि के प्राणियों पर दया करके चिकित्सा में प्रवृत्त होते थे उन्हीं के अनुभव का निचोड़ आयुर्वेद शास्त्र है।

आयुर्वेद तथा प्राचीन हिन्दू-वैद्यक-शास्त्र के विषय में कुछ पाश्चात्य विद्वानों के अभिमत उद्धृत करते हैं। जिससे आयुर्वेद के प्रति पाश्चात्यों के विचार का पता सर्व साधारण को लग सकेगा।

प्रोफेसर जे० एफ० रायल डी० एफ० आर० एल० एस० जी० सी० जो बङ्गाल की सेना के डाक्टर थे और मेडिकल व फिजीकल सोसाइटी एडिन वर्ग तथा मेडिकल सर्जिकल सोसायटी लन्दन के मेम्बर थे; अपने व्याख्यान में कहते हैं—

(१) हिन्दुओं की वैद्यक विद्या बहुत प्राचीन है। अरब और यूनान वालों से बहुत पुरानी है और असली है। वैद्यक विद्या का किसी समय अरब में बहुत अधिक व्यवहार हुआ था यह सब प्रकार से निश्चय कर लिया गया है। धतूरे का धुवां श्वास रोग में और कोंच कृमि रोग में श्रेष्ठ हैं। हिन्दुओं (भारतीयों) की वैद्यक विद्या की और औषधियों की हमने भलीभांति परीक्षा करली है। यही अरब में प्रचलित हुई। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। ऐसा विदित होता है कि हिन्दुओं की औषधि तंत्र विद्या अरब में पहिले से प्रचलित थी। उन्होंने इन्हीं पुस्तकों से यह विद्या ग्रहण की। क्योंकि प्रथम रोगों का निश्चय हिन्दुस्थानी वैद्यों ने किया। धातुओं और रसों का बनाना प्रथम हिन्दुस्तान में ही प्रगट हुआ। बहुत प्राचीन पुस्तकों से हमने निश्चय कर लिया है कि भारतवर्ष में उनके बड़े-बड़े औषधालय थे, और उन भैषज्य भवनों में उन वैद्य लोगों का लवलीन होना सदा से निश्चित होता है। अनुसंधान कार्य उन्होंने भलीभांति किया है।

(२) प्रोफेसर होरेस हेमेन बिलसन एम० ए० एफ० आर० एस० प्रेसीडेन्ट मेडिकल सोसायटी कलकत्ता और प्रोफेसर आफ संस्कृत यूनिवर्सिटी कालेज आफ आक्सफोर्ड जो कि अत्यन्त विख्यात एवं संस्कृत विद्या के पूर्ण पारगामी माने जाते हैं; अपनी पुस्तकों में लिखते हैं—औषधि और ज्योतिष, शिल्पविद्या तथा तंत्रविद्या में भारतीयों ने अत्यंत योग्यता प्राप्त की है। अस्त्र चिकित्सा और द्रव्यगुण में वे विलक्षण हैं। पुराने भारतवासियों को चिकित्सा-शास्त्र में बड़ी योग्यता प्राप्त थी। उसका बरावर प्रमाण मिलता चला आया है।
(ओरिंयन्टल मेगजीन सन् १८२३ जिल्द प्रथम पृष्ठ २ ७ व २१२ में है)

(३) मिस्टर वेबर लिखते हैं शल्यक्रिया (surgery) में भी भारतवासियों ने विशेष योग्यता प्राप्त की थी। और इस विभाग में आज कल के पाश्चात्य सर्जन भी कदाचित उनसे कुछ सीख सकेंगे। वास्तव में नई नाक बनाना अथवा नाक को आपरेशन से सुन्दर बनाना इन्होंने हिन्दुओं से ही सीखा है।

(४) मिस्टर एल्फिन्स्टन अपने भारतवर्ष के इतिहास में लिखते हैं—भारतवासियोंने अन्य चिकित्साकी तरह शल्यक्रिया में भी कमाल हासिल किया है।

(५) मिसेस मैनिङ्ग लिखती हैं—हिन्दुओं के शल्य-शस्त्र भी बहुत तीव्र और पैने थे और इतने सूक्ष्म कि बाल को भी खड़ा चीर कर दो भाग कर सकें।

(६) डाक्टर हंटर साहब (सर विलियम हंटर) लिखते हैं—प्राचीन हिन्दुस्तानियों की शल्यक्रिया (surgery) बड़ी निर्भयता और चातुरी से पूर्ण थी। वे अंगच्छेद क्रिया में कुशल थे। रक्त प्रवाह को केवल दबाव से तथा प्याले के आकार वाली पट्टी और उबलते हुए तेल से बन्द कर दिया करते थे। पथरी निकालने के लिये मूत्राशय का आपरेशन किया करते थे। इसी प्रकार पेटमें गर्भाशय का आपरेशन किया करते थे। अंत्रवृद्धि और भगंदरकी चिकित्सा करते थे,टूटी हुई हड्डी को जोड़ते, और अपने स्थान से खिसकी हुई हड्डी को अपने स्थान पर लाते थे। साथ ही बड़ी प्रवीणता से विजातीय द्रव्यों को शरीर से बाहर निकाल फेंकते थे। शल्यक्रिया का एक विशेष भाग नासिका, कर्णादिकों का छेदन-निर्माण तथा सुन्दर बनाने का था। यह भाग भी पाश्चात्य सर्जनों ने यहीं से सीखा है।

प्राचीन भारतीय शल्यक्रिया में सिरपीड़ा की चिकित्सा में भ्रुवों के ऊपर पांचवी नाड़ी को काटना आधुनिक प्रणाली के समान है। ऋषि लोग शल्य शास्त्रों को बड़े परिश्रम से बनाते थे। और विद्यार्थियों को भी शल्यक्रिया मोम बिछाकर अथवा वृक्ष-बनस्पतियों पर और मरे हुये पशुओं पर सिखलाते थे। वे धात्रीकर्म (प्रसूति तंत्र) में भी बड़े प्रवीण थे। और भयानक छेदन भेदन से भी नहीं घबड़ाते थे।

(७) कलकत्ता मेडिकल कालेज के प्रिंसिपल डा० ल्यूकिस एम० डी० एफ० आर० सी० एस० साहब का कथन है कि हिन्दुस्तानी वैद्यों से हमलोगों को चिकित्सा और औषधि के बारे में बहुत सी बातें सीखने लायक हैं। आदि

(८) अमेरिका के सुप्रसिद्ध डाक्टर कारपेन्टर लिखतेहैं कि अग्निवेश, चरक, सुश्रुत एवं अन्यान्य प्राचीन महर्षियों की आविष्कृत-चिकित्सा प्रणाली का अवलोकन करने से हमको आज उनकी दिव्य स्मृति का स्मरण हो जाता है। कारण अनेक शताब्दियों के पूर्व उक्त महर्षियों के आयुर्वेदिक ग्रन्थों का अरबी, लैटिन व ग्रीक आदि अनेक भाषाओं में अनुवाद होकर योरोपीय और अमेरिका में उनका प्रचार हो चुका है। इससे हमारे ग्रन्थों में उनकी विभूति विद्यमान है।

(९) अमेरिका के डाक्टर जी० एच० क्लार्क एम० ए० एम० डी० कहते हैं—यदि इस जमाने में डाक्टर लोग अपनी फार्माकोपिया से नवीन दवाइयाँ और रासायनिक पदार्थ निकाल डालें तथा चरक-संहिता में कही हुई रीति से चिकित्सा करना प्रारम्भ कर दें तो प्रेत संस्कार करने वालों का काम बहुत कम हो जाये। अर्थात् लोग बहुत कम मरें। इतना ही नहीं बल्कि इस पद्धति के अवलम्बन करने से पुराने रोगियों की संख्या भी कम हो जाये।

इसके अतिरिक्त अनेक विद्वान डाक्टरों ने अपनी पुस्तकों में डाक्टरी चिकित्सा-पद्धति को अपूर्ण अवस्था वाली तथा अत्यन्त संदिग्ध लिखा है। वे इस बात की पुष्टि करते हैं कि पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली अपूर्ण है तथा भारतीय चिकित्सा

प्रणाली के पास उस प्रणाली से अधिक ज्ञान भाण्डार है वे यह भी मानते हैं कि अखिल विश्व के स्वास्थ्य संरक्षण कार्य में केवल पाश्चात्य-पद्धति कभी सफल नहीं हो सकती। ऊपर के उद्धरणों से आयुर्वेद की उत्तमता भलींभाँति प्रगट हो जाती है।

अब हम अपने भारतीय प्रजातंत्र सरकार के सञ्चालकों से साग्रह निवेदन करेंगे कि वे भारतीय प्रजातंत्र में आयुर्वेद को समुचित विकसित करने का अवसर देवें। ताकि आयुर्वेद के द्वारा भारत के ही नागरिकों का नहीं अखिल विश्व के जन समाज को रोग मुक्ति में सहायता दी जा सके। हम विश्वास दिलाते हैं कि आयुवेद की उचित शिक्षा-दीक्षा के बाद जो वैद्य तैयार होंगे वे भारतीय जनता की स्वल्प व्यय में ही स्वास्थ्य रक्षा कर सकेंगे।

वर्तमान अलोपैथिक चिकित्सा जन साधारण को काफी मँहगी पड़ती है तथा हरएक उससे लाभ नहीं उठा सकता। अतः भारत सरकार अविलम्ब आयुर्वेद के विद्यालयों का प्रबन्ध करे। तथा अनुसन्धानशालाओं की व्यवस्था करे। हर प्रान्त में आयुर्वेद की शिक्षा तथा औषधि वितरण की व्यवस्था हो, तभी भारतीय जनता स्वस्थ रहकर दूसरे कार्यों में अग्रसर होने के लिये सक्षम हो सकेगी। अन्त में मेरी यही कामना है कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

अर्थात सब सुखी हों। सब निरोग रहें, और सब कल्याण का अवलोकन करें। और कोई दुखी न रहे।

आयुर्वेद जैसे सम्पूर्ण और महान विज्ञान के साथ जो वास्तव में देश के स्वास्थ्य की सुरक्षा कर सकता है, अब यह नीति नहीं चल सकेगी, 'हमें अब देश की सरकारों को तथा भारतीय जनता को आयुर्वेद की उपयोगिता का ज्ञान कराना है। हमें बताना है कि आयुर्वेद का एक मात्र सिद्धान्त स्वास्थ्य रक्षा ही नहीं, अपितु जनता के आचार-विचारों को शुद्धकर उनको देश के प्रति एक सच्चा नागरिक भी बनाना है।

आयुर्वेद की बताई हुई दिनचर्य्या आदि का पालन करने से; रोग मनुष्य के पास फटक भी नहीं सकता। देश के स्वास्थ को उत्तम बनाने के लिए जनता को आयुर्वेदीय-सद्वृत्त और स्वस्थवृत्त के मार्ग को अपनाना होगा।

मेरी तो राय यह है कि सरकार को अपने मन्त्रिमण्डल में शारीरिक विकास-विभाग खोलना चाहिए, जिसके द्वारा भारतीय जनता को स्वास्थ्य रक्षा के साधन सिखाया जाय।

एलोपैथी हमारे देश के स्वास्थ्य-रक्षा की समस्या कदापि हल नहीं कर सकती, यह स्वयं भोर कमेटीकी रिपोर्ट से सिद्ध हो चुकी है,

हमारे देश में डाक्टरों की कुल संख्या ४७५०० है, जिसमें १३००० डाक्टर सरकारी नौकरी में हैं, और शेष स्वतन्त्र चिकित्सक हैं। इन स्वतन्त्र चिकित्सकों से तो निर्धनों को कोई लाभ नहीं हो सकता। १५० वर्षों के एलोपैथी के प्रचार एवं अरबों रुपये व्यय होने के बाद हमारे देश में २५००० जनसंख्या के लिए भी एक डाक्टर पैदा न हो सका। अब १००० जनसंख्या के लिए 1 डाक्टर के आयोजन का स्वप्न देखा जा रहा है, इस सपने को भविष्य में सच्चा बनाने के लिए कितना समय और द्रव्य लगेगा, इसकी कल्पना हमारे शासक स्वयं करलें।

—कविराज हरिरंजन मजुमदार

आयुर्वेद वैज्ञानिक शास्त्र है

राजपूताना प्रा० वैद्य-सम्मेलन के अध्यक्ष के विचार

आयुर्वेद एक सर्व सम्मत वैज्ञानिक शास्त्र है और यह विज्ञान भारत का ही क्या संपूर्ण विश्व का चिकित्सा शास्त्र हो सकता है। अब वह दिन दूर नहीं जब हमारी सरकार आयुर्वेद के बारे में फैलाई गई भ्रान्तियों की उलझन से निकलेगी और आयुर्वेद को ही राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति घोषित करेगी—यह विश्वास सीकर में ता० २ मई को राजपूताना वैद्य सम्मेलन के दसवें वार्षिक अधिवेशन के सभापति पद से भाषण करते हुए जोधपुर के राजवैद्य तथा कुशल चिकित्सक आयुर्वेद मार्त्तण्ड श्री उदय चन्द्रजी भटारक ने प्रकट किया।

आपने कहा आयुर्वेद केवल शरीर के स्थूल व सूक्ष्म अंगोंपांगों को स्वस्थ रखने एवं विकृतावस्थापन्न शरीर को निरोग रखने वाला शास्त्र ही न होकर आध्यात्मिक विद्या व मानव-शास्त्र भी है। इसमें एक ओर धर्माधर्म तथा योग-शास्त्र जैसे गहन विषयों का विवेचन है और दूसरी ओर नैतिकता और सच्चरित्र के उपदेशों द्वारा आदर्श नागरिक निर्माण की कला है। एक ओर वैशेषिक दर्शनों द्वारा प्रतिपादित त्रिगुणवाद और परमाणु-गुणवादके आधार पर भौतिक शास्त्रका सूक्ष्म विश्लेषण है, तो दूसरी ओर त्रिदोष वाद के मौलिक सिद्धान्तानुसार शरीरके स्थूलावयवों की चिकित्सा भी है।

श्री भटारक ने भारतीय सरकार के ऐलोपैथी के प्रति एकान्त पक्षपात की कड़ी आलोचना की और कहा,—जिस चिकित्सा-पद्धति को विदेशी सरकार ने भी भारत जैसे दीन हीन देश के लिए ठीक नहीं समझा और भोर कमेटी की खर्चीली योजना को कार्यान्वित न कर देशी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहित करने के लिये चोपड़ा कमेटी नियुक्त कर विचार उपस्थित करने को कहा, उसी भोर कमेटी के सुझावों को आज हमारी स्वदेशी सरकार कार्यान्वित करने जा रही है, जो न केवल देश को ही निर्धन बनायेगी अपितु देशवासियों के स्वास्थ्य को भी अत्यधिक गिरा देगी।

"जो चिकित्सा पद्धति राज्य से पूर्ण आश्रय पा कर डेढ़सौ वर्ष तक अरबों रुपये प्रचार के लिये खर्च करवाकर २५:०० की जन संख्या के पीछे एक चिकित्सक भी तैयार न कर सकी, उससे एक हजार की जनसंख्या पर एक चिकित्सक की आशा करना एक दुराशा मात्र नहीं है तो क्या है ? यह हमारे शासक वर्ग स्वयं शान्त मस्तिष्क से सोचें तो भला होगा।

समय की मांग को दृष्टिगत करते हुए अब कमेटियों से निर्णय लेने का समय बीत चुका है। अब सरकार को आयुर्वेद के लिए रचनात्मक कदम बढ़ाना चाहिए और इसके सिद्धान्तों परही देश के लिये एक संयुक्त चिकित्सा पद्धति घोषित कर देनी चाहिये।

विदेशी चिकित्सा पद्धति ने संसार को जो अद्भुत व आवश्यक नवीनताएं दी हैं उनको व्यवहार में लाने की सलाह देते हुए सभापति महोदय ने कहा कि आयुर्वेद का सिद्धान्त भी इसको स्वीकार करता आया है कि विश्व का कोई भी द्रव्य नहीं है जो औषध में नहीं है। किन्तु उसकी पूर्ण विवेचना आयुर्वेदीय सिद्धान्तानुसार द्रव्य गुणपरीक्षण के आधार पर ही उसको कार्य रूप में व्यवहृत करना चाहिए।

आयुर्वेद की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए अपने सुझाव देते हुए श्री भटारक जी ने सरकार से भारत के समस्त विश्व विद्यालयों में आयुर्वेदिक कालेजों का स्थापना का अनुरोध किया और उनके साथ आतुरालय, शावच्छेदनालय, चिकित्सालय, रसायनशाला, वानस्पतिक उद्यान, वनस्पति विश्लेषणशाला, पुस्तकालय आदि को भी अनिवार्य व्यवस्था की आवश्यकता बताई। उन्होंने कहा कि कालेजों का पाठ्यक्रम आयुर्वेद प्रधान तो हो ही किन्तु उसमें आवश्यक आधुनिक रसायन शास्त्र और भौतिक विज्ञान का भी आवश्यक समन्वय किया जाय। आयुर्वेदीय औषधियों का मापदंड एक सा हो। इसके लिये सरकार देशी औषधियों के व्यवसाय पर नियन्त्रण करे। किसी प्रकार का संदिग्ध द्रव्य प्राप्त न हों इसके लिये फार्मेसी एक्ट और भारतीय वनस्पति-एक्ट बनाकर कार्यान्वित किया जाय।

भारत जैसे समृद्ध देश में प्रकृति देवी की असीम अनुकम्पा रही है जिससे यहाँ कई प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। सरकार को उनके निर्णय, संग्रह और सदुपयोग की पूरी-पूरी व्यवस्था करनी चाहिए। एक केन्द्रीय विशाल अनुसन्धानशाला की भी व्यवस्था हो। इसमें वैद्य और डाक्टर दोनों मिल-जुल कर देश के हित को ध्यान में रखते हुए उत्तमोत्तम अनुसंधान करें जो देश के लिए वरदान सिद्ध हो।

राजस्थान के वैद्य बान्धवों में संगठन और एकता की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए अध्यक्ष महोदय ने कहा कि समय का प्रभाव है कि वैद्य समाज को भी अब अपना परिवर्तन करना होगा। आज का युग संगठन एवं प्रचार का है। इस प्रचार प्रधान युग में भी वैद्यों की गुण-गरिमा यदि औषधालय और उनके रोगियों तक ही सिमित रही तो एक दिन हमें समाप्त हो जाना होगा। आज भी यदि वैद्य बन्धु अपने प्राचीन संहिता ग्रन्थों के सूत्रों पर पारस्परिक द्वन्द्व युद्ध करते रहे, संसार के नवीनतम अधिकारों को देखकर एक पंक्ति का सूत्र इस आशा में कहकर कि कि यह तो हमारे यहां भी है, सन्तोष लेते रहे एवं एक दूसरे की कमी को ताकते रहे तो इसमें संदेह नहीं कि सरकार हमारे लिये जो करने जा रही है उसमें वैद्यों का अन्त हो जायगा। अतएव हमें पारस्परिक भेद भाव एवं छोटी-मोटी भावना भुला कर जन सम्पर्क में आते हुए आयुर्वेद के पूर्ण प्रचार के लिये कटिबद्ध होना चाहिये।

अन्त में आपने आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति के रूप में स्वीकार कराने की मांग को बल देने तथा आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक प्रकार की सेवाओं द्वारा विश्व को विमल सन्देश देने के लिये राजस्थान के किसी केन्द्रीय ग्राम में 'आयुर्वेद सेवाग्राम' स्थापित करने की रूप रेखा प्रस्तुत की। आपने कहा कि ऐसे स्थान से साहित्य संशोधन व प्रकाशन, वनस्पति बाटिका, व अनुसंधान, स्वातन्त्र्य प्रचार आदि सभी कार्य सम्पादित किये जायँ। (वि० मि०)

आयुर्वेदिक आतुरालय का उद्घाटन

"गत ३ मई सन् ५० को सीकर में राजपूताना प्रान्तीय दशम वैद्य सम्मेलन के अवसर पर श्री परशुरामपुरिया - राजस्थान - आयुर्वेद - कालेज से सम्बद्ध आतुरालय (इन्डोर हास्पिटल) का उद्घाटन श्रद्धेय श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य महोदय के पवित्र करकमलों से बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। इस उत्सव की अध्यक्षता प्रयाग के आयुर्वेद पञ्चानन वैद्य पं० श्री जगन्नाथ प्रसादजी शुक्ल ने की। राजपूताना तथा बाहर के प्रान्तों के अनेक प्रसिद्ध वैद्यराज उक्त अवसर पर उपस्थित थे।

स्वर्गीय आयुर्वेद मार्त्तण्ड स्वामी लक्ष्मीराम चल विजयोपहार (धन्वन्तरिरजत प्रतिमा) छात्र प्रति-

योगिता में भी इसी विद्यालय के छात्र सर्वप्रथम विजयी हुए। इसके सम्मान में संस्था को धन्वन्तरि प्रतिमा प्रदान की गई। पहले भी इस प्रकार की एक प्रतियोगिता में यह संस्था अमृतकलश प्राप्त कर चुकी है।

निखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन देहली

३७ वें निखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन (देहली) तथा निखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन की स्थायी समिति के ता० ७ मई १६५० के अधिवेशन द्वारा निर्वाचित—

पदाधिकारियों की सूची।

निखिल भारतीय-आयुर्वेद-महासम्मेलन -

अध्यक्ष—वैद्य श्री यादवजी त्रिकम जी आचार्य, बंबई
उपाध्यक्ष—वैद्य श्री शिव शर्मा, वैद्य रत्न, बम्बई
" " " ओंकार प्रसाद शर्मा, देहली
प्रधान मंत्री—वैद्य श्री गुरुदत्त, नई देहली
संयुक्त मंत्री—वैद्य श्री वामनराव दीनानाथ, बम्बई
सह०मंत्री—वैद्य श्री आशुतोष मजुमदार, नई देहली
" " वैद्य श्री बाबूराम मिश्र, हापुड़
" " वैद्य श्री कान्ति नारायण मिश्र, पटियाला
" " वैद्य श्री दयानिधि शर्मा, मेरठ
कोषाध्यक्ष—वैद्य श्री शिवनाथ शर्मा, देहली
प्रधान सम्पादक—वैद्य श्री पुरुषोत्तम देव मुलतानी, नई देहली

निखिल भारतीय-आयुर्वेद-विद्यापीठ।

अध्यक्ष—वैद्य श्री मणिराम शर्मा, रतनगढ़
उपाध्यक्ष—वैद्य श्री उपेन्द्रनाथ दास, देहली
" वैद्य श्री मुन्शी रामजी, पटियाला
मन्त्री—वैद्य श्री रामगोपाल शास्त्री, देहली
उपमन्त्री—वैद्य श्री रामचन्द्र शर्मा, देहली
" वैद्य श्री वैद्यनाथ, वगड
कोषाध्यक्ष—वैद्य श्री शिवनाथ शर्मा, देहली

प्रधान मन्त्री
नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेनल

प्रथमाधिवेशन का कार्य-विवरण

स्थानः—मारवाड़ी औषधालय, किनारी बाजार देहली।

समयः—रविवार ता० ७ मई १६५०, सायंकाल ७ बजे।

उपस्थितिः—आयुर्वेद मार्तण्ड वैद्य श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य बम्बई, भिषगाचार्य वैद्य श्री मणीरामजी शर्मा रतनगढ़, सर्व श्री रामप्रसादजी पटियाला, सुन्दरलाल शुक्ल, जब्बलपुर, गुरुदत्त नई देहली, ओंकार प्रसाद शर्मा देहली, स्वामी जयराम दास जयपुर, मुन्शीराम भटिण्डा, केशव प्रसाद आत्रेय देहली, आशुतोष मजूमदार नई देहली, स्वामी चेतनानन्द देहली, बद्रीविशाल त्रिपाठी कानपुर, वैद्यनाथ शर्मा बगड़, उमाशंकराचार्य सरदार शहर, दयानिधि शर्मा मेरठ, रामगोपाल शास्त्री देहली, बाबूराम मिश्र हापुड़।

वैद्य श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की अध्यक्षता में कार्यवाही आरम्भ हुई। विचारार्थ विषय निम्न प्रकार थे।

१—आवश्यक धन संग्रह के उपायों पर विचार एवं तदर्थ उत्तरदायित्व का विभाजन।

२—भूमिप्राप्ति के विषय पर विचार।

३—जनमत (Public opinion) पैदा करने के साधनों पर विचार।

४—सरकार से अनुमति प्राप्त करने के साधनों पर विचार।

५—कार्यारम्भ कब और कैसे हो, इसका निश्चय करना।

उपर्युक्त विषयों पर विचार विनिमय करने के बाद निश्चय हुआ कि सर्व प्रथम विश्वविद्यालय के लिये भूमि प्राप्त करने का यत्न किया जाय। उक्त भूमि सरकार से अथवा किन्हीं दानवीर महानुभावों से निःशुल्क प्राप्त की जाय। यदि ऐसा न हो सके तो विश्वविद्यालय कोष से रुपया व्यय करके भूमि खरीद ली जावे।

यह भी निश्चय हुआ कि भूमि प्राप्ति के इस कार्य की प्रारम्भिक रूपरेखा बनाने के लिये निम्न-लिखित महानुभावों की एक उपसमिति बनाई जाय।

१—वैद्य श्री उपेन्द्रनाथ दास
२ „ „ गुरुदत्तजी
३ „ „ ओंकार प्रसाद शर्मा
४ „ „ केशव प्रसाद आत्रेय

निश्चय हुआ कि एजण्डे के सभी विषयों पर यही समिति अपनी योजना यथा सम्भव शीघ्र उपस्थित करे।

सभापति जी के धन्यवाद के बाद सभा विस-र्जित हुई।

—संयोजक

विश्वविद्यालय योजनोपसमिति

महिलाओं की यू० पी० सरकार से मांग

यू० पी० सरकार से महिला आयुर्वेद विद्यालय के लिए पृथक एक लाख रुपए की धन राशि को स्वीकृत करने की प्रार्थना।

महिलाओं की जनसंख्या ५० प्रतिशत है। उनके स्वास्थ्य रक्षार्थ सुलभ-सस्ती-प्राकृतिक एवं हानिरहित चिकित्सा प्रणाली आयुर्वेद विज्ञान की शिक्षा देने के लिए महिला आयुर्वेद कालेज का पृथक् रूप से संचा-लन यू० पी सरकार द्वारा होना आवश्यक है। जिससे योग्यतम सरजन वैद्यों में निकल सकें। अथवा इस समय चल रहे किसी एक अच्छे आयुर्वेद कालेज को महिला आयुर्वेद कालेज में परिणत कर यू० पी० सरकार के आयुर्वेदिक बजट में से अच्छी आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। इससे नारी समाज देश की आवश्यकता के अनुसार सर्जरी सहित आयु-र्वेद अध्ययन करने में उत्साह प्राप्त करके देश के स्वास्थ्य को ऊंचा बनाने में सहायक हो सकेगा।

१ भारत में जितने अधिक चिकित्सक बढ़ते जा रहे हैं उतना ही रोग का प्रचार भी अधिक होता जा रहा है, इसका मूल कारण नारी समाज का आयुर्वेद ज्ञान से अनभिज्ञ रहना है।

२ गर्भिणी चर्या, बालचर्या, रोगीचर्या, प्रसूति चर्या, ऋतुचर्या, दिन-रात्रि चर्या, आदि के ज्ञान का सम्बन्ध पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं से अधिक है। अतः उक्त कर्मों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए भी महिलाओं में आयुर्वेद-ज्ञान के प्रसार की विशेष रूप से आवश्यकता है।

३ महिलाएँ जितनी अच्छी तरह अपने शरीर की परीक्षायें व रोग वर्णन स्त्री-चिकित्सक के समक्ष खुल कर कह सकती हैं, उतनी अच्छी तरह पुरुष चिकित्सक के सामने नहीं कह सकतीं। स्त्री-जनन संस्थान के रोगों की अन्तःस्थ परीक्षा एवं उपचार तो भारतीय संस्कृति के अनुसार, स्त्री-चिकित्सा के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अतः भारत के ग्रामों में सर्जन वैद्याओं की विशेष आवश्यकता है।

४ ग्रामीण भाइयों के लिए आयुर्वेद सुलभ सस्ती हानिरहित प्राकृतिक स्वदेश चिकित्सा-पद्धति है। प्राकृतिक रूप से ग्रामों के अन्दर हजारों जड़ी बूटियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनका कि हानिरहित स्वास्थ्यदायक प्रयोग आयुर्वेद में ही वर्णित है।

५ प्रत्येक भारतीय गृहस्थ की भोजन-व्यवस्था का भार प्रायः महिलाओं पर ही होता है। अतः

ऋतु, प्रकृति, देश, आयु आदि का ध्यान रखते हुए खाद्य सामग्रियों का विशिष्ट बलदायक एवं स्वास्थ्य का प्रयोग आयुर्वेद में ही मिलता है।

६ जल, वायु, धूप, प्राणायाम, व्यायाम, निद्रा उपवास-ब्रह्मचर्य, स्वास्थ्य कर आहार विहार आदि प्राकृतिक स्वास्थ्य दायक विवरण आयुर्वेद में ही विशेष रूप में लिखा है।

यू० पी० सरकार से प्रार्थना

सरकार को चाहिए कि सर्जरी युक्त महिला आयुर्वेद विद्यालयों के साथ ही साथ यू० पी० इण्डियन मेडिसिन बोर्ड द्वारा संचालित द्विवर्षीय गृह-स्वास्थ्य विशारदा परीक्षा के पाठ्यक्रम तथा आयुर्वेद धात्री शिक्षा के अनेक केन्द्रों को स्थापित कर संचालित करें।

२ पाश्चात्य चिकित्सकों ने भी लड़की-लड़कों के सम्मिलित मेडिकल कालेजों के दुष्परिणामों से ऊब कर देहली में महिलाओं के लिए महिला मेडिकल कालेज की स्थापना की थी। अतः यू० पी० सरकार को भी पृथक् "महिला आयुर्वेदिक कालेज" खोलना आवश्यक है।

३ सरकार अपने आयुर्वेदिक बजट में से एक लाख रुपए की धन राशि उक्त योजनाओं के लिए इस वर्ष सुरक्षित रख कर महिला समाज के स्वास्थ्य को ऊंचा करने में सहायता प्रदान करे।

४ यू० पी० धारा सभाओं के सदस्यों से भी प्रार्थना है कि उक्त धनराशि से महिलाओं में आयुर्वेद ज्ञान को प्रसारित कराने के लिए सुरक्षित करावें।

प्रार्थिनी
सरोजनी देवी वैद्य बिशारदा
सदस्या इ० मे० बो० यू० पी०

हमीरपुर जिला वैद्य सम्मेलन

गत ता० १५।१६ अप्रेल को हमीरपुर जिला वैद्य सम्मेलन वैद्य सत्यनारायण मिश्र आयुर्वेदाचार्य के सभापतित्व में बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ वैद्यों के भाषण हुए। उत्तर प्रदेशीय धारा सभा के अध्यक्ष माननीय टण्डनजी का भाषण बहुत महत्त्व पूर्ण हुआ।

आपने अपने लगभग डेढ़ घंटे के भाषण में आयुर्वेद की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा कि एलोपैथिक चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के मुकाबले में विशेष लाभ प्रद नहीं है। यही कारण है कि आज भी ८० प्रतिशत जनता आयुर्वेद से जितना लाभान्वित हो रही है, उतना एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति से नहीं।

बाद में अन्य विद्वानों के भाषणोपरान्त सभा विसर्जित हुई।

प्रधान मंत्री

छत्तीसगढ़ वैद्य सम्मेलन-तृतीयाधिवेशन

दिनांक २३ फरवरी को स्थान महासमुन्द (मध्यप्रदेश) में प्रान्त के सुप्रसिद्ध चिकित्सक श्री पं० बाबूरामजी शर्मा द्विवेदी, सदस्य आयुर्वेदिक एन्ड यूनानी चिकित्सापद्धतिबोर्ड मध्य-प्रदेश तथा मेम्बर प्रावीजनल एण्ड वाइजरी कमेटी मध्य प्रदेश के सभापतित्व में बड़े समारोह पूर्वक सम्पन्न हुआ। सम्मेलन की व्यवस्था श्रीमान् यती यतनलालाजी संचालक विवेकवर्धन आश्रम महासमुन्द तथा स्वागताध्यक्ष श्री वैद्यराज अयोध्या-प्रसाद शर्मा के द्वारा बड़ी उत्तमता से की गई थी।

सम्मेलन में छत्तीसगढ़ के लगभग ३०० प्रतिनिधि तथा वैद्यगण उपस्थित थे। सम्मेलन में विवेक वर्धन

आश्रम द्वारा जड़ी बूटियों की प्रदर्शिनी एवं शिशु तथा कृषि प्रदर्शिनी की भी सुन्दर व्यवस्था की गई थी। उपस्थित जन समूह लगभग चारसे पाँच हजार तक खुले अधिवेशन में था। सन्त तुकड़ोजी महाराज के सुन्दर भजनों तथा बन्देमातरम् गान के बाद सम्मेलन की कार्यवाही प्रारम्भ हुई।

स्वागताध्यक्ष वैद्यराज अयोध्या प्रसाद शर्मा द्वारा स्वागत भाषण के पश्चात श्रीमान् मनोनीत अध्यक्ष महोदय ने अपना मुद्रित भाषण जिसमें कि त्रिदोष पर विवेचन व वर्तमान समय में वैद्यों के कर्तव्य के सम्बन्ध में सुन्दर विवेचना की गई थी, पढ़कर सुनाया। विषय निर्वाचिनी समिति द्वारा निर्धारित ११ प्रस्ताव खुले अधिवेशन में स्वीकृत हुए। प्रस्तावों पर प्रमुख वैद्यों के प्रभावशाली भाषण हुए। सम्मेलन में प्रदर्शित अनेक जड़ी बूटियों पर अध्यक्ष, तथा अन्य वैद्यों द्वारा विवेचना की गई और जन साधारण के हितार्थ सरल प्रयोग भी बताए गये जिन्हें उपस्थित जन समूह ने अधिक पसन्द किया। सम्मेलन में आए हुए वैद्योंने दूर-दूर से आए हुए रोगियों का निरीक्षणकर उन्हें औषधि व्यवस्था दी। इसतरह यह सम्मेलन पूर्ण सफल रहा। सम्मेलन की सफलता के लिये कई महानुभावों की शुभकामनाएं पत्र तथा तार द्वारा प्राप्त हुई।

आयुर्वेद पाठ्यक्रम में परिवर्तन

हिन्दू विश्वविद्यालय की सीनेट ने आयुर्वेदिक कालेज में आगामी जुलाई से आठ वर्ष का नया पाठ्यक्रम चलाने का निश्चय किया है। प्रथम दो वर्ष के प्रारम्भिक पाठ्यक्रम में प्रवेशिका या एड-मिशन अथवा समकक्ष परीक्षा पास छात्रों को संस्कृत, विज्ञान और अंगरेजी शिक्षा देकर प्रति-योगिता परीक्षा ली जायगी। इस परीक्षा में उच्च शिक्षाप्राप्त छात्र प्राइवेट भी बैठ सकेंगे। प्रारम्भिक पाठ्यक्रम के बाद ६ वर्ष के पाठ्यक्रम में ऐलोपैथी की उच्च-शिक्षा और आयुर्वेद में आयुर्वेदाचार्य के बराबर शिक्षा देकर "आयुर्वेदार्य बैचेलर आफ मेडिसन एण्ड सजरी" की नयी उपाधियाँ और दी जायगी। यह नया पाठ्यक्रम प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति की समन्वित उच्च शिक्षा के दृष्टिकोण से किया गया है।

केन्द्रीय संशोधन केन्द्र

केन्द्रीय आयुर्वेदीय संशोधन केन्द्र स्थापित करने के लिए जामनगर में उपयुक्त स्थान है या नहीं, यह देखने के लिए भारत की आरोग्यमंत्रिणी राजकुमारी अमृतकौर १७ अप्रैल को सुबह जामनगर आयीं। आयुर्वेद के संशोधन के विषय में जो कमेटी नियुक्त की गयी है, उस के डा० चोध आदि सदस्य भी उन के साथ थे। सौराष्ट्र प्रान्त के शिक्षामंत्री, कुछ विशेष जन और अधिकारी उस समय उपस्थित थे।

उस दिन आरोग्यमंत्रिणी के सन्मान में एक उद्यानसमारम्भ किया गया। उस में सौराष्ट्र के आरोग्यमंत्री श्री दयाशंकर दवे ने जनता की ओर से सत्कार भाषण किया। उत्तर देते हुए माननीया राजकुमारी ने आयुर्वेद की सुन्दर प्रगति के लिए जामनगर की महारानी गुलाब कुअँरबा के द्वारा किये गये प्रयत्न की प्रशंसा की और वैद्यकीय क्षेत्र में डा० प्राणजीवन मेहता जो कार्य कर रहे हैं, उस के लिए उनका अभिनन्दन किया। आप ने यह विश्वास प्रकट किया कि आयुर्वेद के विषय में होने वाला यह संशोधनकार्य मानव जाति के लिए उपकारक होगा।

जामनगर में आयुर्वेद का कार्य शुरु हुए ६ वर्ष हो गये। इस के लिये १० लाख का दान जामनगर के महाराजा व महारानी साहब ने दिया था। इस में

आधुनिक ढंग की शास्त्रीय संशोधन शाला व आतिथि (अप-टु-डेट) पुस्तकालय भी है।

लखनऊ विद्यापीठ में आयुर्वेद

प्रसन्नता की बात है कि लखनऊ विद्यापीठ (युनिवर्सिटी) में "वैद्यक (पुरातन और आधुनिक) विभाग" खुल गया है। आशा है कि अन्य विद्यापीठ भी इस आदर्श का अनुकरण कर के आयुर्वेद के प्राचीन गौरव को पुनः प्रस्थापित करने में सहायक होंगे।

यूनानी और आयुर्वेदीय पद्धति की शिक्षा देने के सम्बन्ध में एक शिक्षा-विभाग निर्माण करने के लिए शैक्षणिक कौंन्सिल ने सिफारिश की थी। तदनुसार आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में लखनऊ युनिवर्सिटी की कार्य-समिति की बैठक हुई और "वैद्यक शिक्षा विभाग" खोलने का निर्णय किया गया। इस शिक्षाविभाग की ओर से बी० एम० बी० एस० नामक पदवी दी जायगी।

इस वैद्यक शिक्षा विभाग (फेकल्टी आफ मेडिसिन) की कार्यव्यवस्था में सुविधा के लिए, सरकारी मदद मिलने के बाद, इसके निम्न प्रकार से उपविभाग किये जाएंगे—(क) दन्तविषयक, (ख) अस्थिसन्धान (टूटी हुई हड्डी को जोड़ने की) विद्या, (ग) गले, कान और नाक के रोग।

शैक्षणिक कौन्सिल की सिफारिशों पर विचार कर के कार्य-समिति ने "वैद्यक शिक्षा विभाग" के अध्यापकों का वेतन ४००-२५-८०० रु० निश्चित किया। साथ ही यह निश्चय किया गया है कि सरकार द्वारा आवश्यक फण्ड हो जाने पर वे सिफारिशें कार्यरूप में परिणत की जायँगी।

मैसूर में सम्मेलन

२६ अप्रैल को मैसूर राज्य के आयुर्वेदीय और यूनानी स्नातकों का प्रथम सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन डा० बी० जी० दास की अध्यक्षता में हुआ और उद्घाटन जनस्वास्थ विभाग के माननीय मंत्री श्री टी० सिद्दालिंगिया ने किया।

सम्मेलन की सफलता के लिए भारत के भूतपूर्व गवर्नर जनरल श्री सी० राजगोपालाचार्य, भारत सरकार की जन-स्वास्थ्य विभाग की मंत्री राजकुमारी अमृतकौर, मैसूर के प्रधान मंत्री श्री के० सी० रेड्डी, मद्रास के स्वास्थ्य-मंत्री डा टी० एस० एस० राजन तथा अन्य नेताओं के शुभ कामना के सन्देश प्राप्त हुए।

आयुर्वेद अभ्यास मण्डल (नासिक) का छठा वार्षिक समारोह

नासिक का आयुर्वेद अभ्यास मण्डल आदर्श और मनोरंजक संस्था है। इसका छठा वार्षिक समारोह विगत अक्षय तृतीया के दिन वैद्य बिन्दुमाधव शास्त्री पण्डित की अध्यक्षता में मनाया गया। इस संस्था का परिचय इस प्रकार है :—

संस्थापक—नासिक के वैद्यगण।

स्थापना—२५-४-१९४४, अक्षय तृतीया।

उद्देश्य—परस्पर सहकार्य द्वारा ज्ञानवर्द्धन।

साधन—ग्रन्थवाचन, प्रात्यक्षिक, व्याख्यान चर्चा, इत्यादि।

घटना—कुछ नहीं।

पदाधिकारी—सब लोग।

शुल्क—निश्चित समय पर विषय का अभ्यास करके अवश्य उपस्थित रहना।

पथ्यपालन—किसी भी व्यक्ति, संस्था या शास्त्र का निरादर न करना।

पहले का स्थल—आयुर्वेद सेवासंघ का प्रकाश औषधालय, नासिक।

वर्तमान स्थल—वैद्य गोगटे का दवाखाना, रविवार कारंजा, नासिक।

सचित्र आयुर्वेद

—: के :—

दूसरे वर्ष जुलाई १९४९ से जून १९५० तक की वार्षिक विषयसूची

प्रथमांक-जुलाई १९४९

द्वितीयांक-अगस्त १९४९
विशेषांक-यकृत अंक

तृतीयांक—सितम्बर १९४९

चतुर्थ-अंक—अक्टूबर १९४९

जनवरी-फरवरी १९५० (आयुर्वेद और सरकार अंक)

चित्र-सूची

जुलाई-१९४९-प्रथमांक

अगस्त १९४९ द्वितीयाङ्क (यकृत अंक)

सितम्बर १९४९ तृतीयाङ्क

वैद्य सभाकान्तझा शास्त्री
स० सम्पादक

नोट—१२ वें अंक की विषयसूची इसी अंक में प्रकाशित है, पाठक वहीं देखलें।

नि० भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ के सभापति का आशीर्वाद

सचित्र आयुर्वेद अत्यन्त उपादेय है और इस ने अद्भुत प्रगति की है। मेरी शुभकामना है कि दिन प्रति दिन यह इसी प्रकार अधिकाधिक उन्नति करे।

—वैद्य मणिराम शर्मा
सभापति, नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ

"प्रत्येक पंक्ति पढ़नी पड़ती है"

"सचित्र आयुर्वेद" के अङ्क बहुत ठोस निकल रहे हैं। आप ने यह साबित कर दिया है कि चिकित्सा जगत् में सचित्र आयुर्वेद भारत के सभी पत्रों से आगे है।.............. "सरकार और आयुर्वेद अङ्क" तो अद्वितीय निकला। उस के बाद के भी अङ्क एक से एक बढ़ कर निकल रहे हैं। यह प्रयत्न आयुर्वेद के गौरव को तो बढ़ा ही रहा है, साथ ही सामान्य जनता की ज्ञान-पिपासा को भी तृप्त कर रहा है। सचित्र आयुर्वेद की प्रत्येक लाइन पढ़नी ही पड़ती है। यही पत्र की सफलता है। सम्पादकों और प्रकाशकों को बधाई।

कटरा,
इलाहाबाद
९-५-५०

वैद्यराज महेन्द्रनाथ पांडेय

सचित्र आयुर्वेद द्वारा आयुर्वेद और वैद्यसमाज की जो सेवा हो रही है, वह वास्तव में अनुकरणीय एवं सराहनीय है। वर्तमान समय में आयुर्वेद-विषयक जितने पत्र प्रकाशित हो रहे हैं, उनमें "सचित्र आयुर्वेद" का सर्वोच्च स्थान निर्विवाद है। यह पत्र चिकित्सक जन और सर्वसाधारण के लिए अत्युपयोगी है और इसका प्रत्येक अंक संग्रहणीय है। वैद्यमात्र से मेरा अनुरोध है कि इसके ग्राहक बन कर स्वयं लाभ उठाएँ और आयुर्वेद की प्रगति और प्रचार-प्रसार में सहायक बनें।

केकड़ी, अजमेर

—वैद्यरत्न श्रीकृष्ण शर्मा औदीच्य

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा आयुर्वेद के अभ्युत्थान के लिए महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है। इस संस्था द्वारा प्रकाशित मासिक पत्र "सचित्र आयुर्वेद" भी इस दिशा में प्रमुख कार्य कर रहा है। पत्र की पाठ्य सामग्री के सङ्कलन और सुसम्पादन में सम्पादक-मण्डल का श्रम और सुरुचि आदर्श है।

रायपुर
७-५-५०

वैद्यराज बाबूराम शर्मा द्विवेदी

Reged. N. C 3147

सचित्र आयुर्वेद के ग्राहकों का लाभ

सचित्र आयुर्वेद के माननीय ग्राहकों को यह सूचित करते हुए हमें बहुत ही प्रसन्नता होती है कि 'श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड' की तरफ से 'सचित्र आयुर्वेद' के ग्राहकों को बैद्यनाथ मण्डूर भस्म, बैद्यनाथ लोह भस्म साधारण, बैद्यनाथ अभ्रक भस्म, बैद्यनाथ बंग भस्म और बैद्यनाथ मकरध्वज के नमूने मुफ्त भेजने की व्यवस्था की गयी है। इन दवाइयों के नमूने मुफ्त देने की व्यवस्था इस लिए की गयी है, ताकि वैद्यों के मन में बैठी हुई यह भ्रमपूर्ण धारणा दूर हो कि विक्रयार्थ बनने वाली औषध घर जैसी नहीं बनती। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस धारणा के विपरीत श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ने यह सिद्ध कर दिया है कि बिक्री के लिए बनने वाली औषध उससे श्रेष्ठ होती है, जो वैद्य लोग स्वयं निर्माण करते हैं; कारण, हमारा कार्य ही औषध-निर्माण करना और दिन-दिन कार्यक्षेत्र की उन्नति और वृद्धि करना है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की बैद्यनाथ प्राणदा ही प्रसिद्ध है, सो ठीक है। पर साथ ही बैद्यनाथ प्राणदा के अतिरिक्त बैद्यनाथ रसभस्में और कूपीपक्व रसायन भी भारतवर्ष भर में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। इसका एक विशेष कारण है। वह विशेष कारण यह है कि भस्म और कूपीपक्व रसायन बनाने के लिए श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का स्वतन्त्र और निराला प्रबन्ध है, जहाँ भस्म और कूपीपक्व रसायन ही तैयार होते हैं। इस विशेष प्रबन्ध के बल पर ही हमलोग बढ़िया से बढ़िया भस्म और कूपीपक्व रसायन भी कम कीमत में देते हैं।

आयुर्वेदीय चिकित्सोपयोगी कल्पों में भस्मों की बहुत आवश्यकता होती है। लेकिन इनका निर्माण बहुत झंझटपूर्ण है। साधारण वैद्य के तो शक्ति से बाहर है। इस झंझट से वैद्यों को बचा कर और स्वयं बनाने में जितना खर्च होता है, प्रायः उसी खर्च में भस्मों को दे देने का उद्योग हमने प्रारम्भ किया है। अब से ७ वर्ष पूर्व सन १९४३ में भी ऐसा उद्योग किया गया था, परन्तु युद्धजन्य कठिनाइयों के कारण वह सफल नहीं हुआ। मूल द्रव्य मिले नहीं, अतः जितनी मांग हुई, वह पूरी न हो सकी। फलस्वरूप भस्मों की बड़ी-बड़ी पैकिंगें बन्द कर दी गयीं। इस वर्ष से इस कार्य का फिर से श्रीगणेश किया गया है।

सचित्र आयुर्वेद के तीसरे वर्ष के प्रथम अंक (आगामी जुलाई के अंक) में इसके लिए कूपन छपेगा, जिसे काट कर भेजने पर नमूना भेजा जायगा।

व्यवस्थापक—श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड,
कलकत्ता।

Printer & Publisher--Pandit Ram Narayan sharma Vaidya, 1, Gupta Lane, Cal. Printed at the Janabani Press & Publications Ltd, 36, Baranoshi Ghose St. Calcutta-7

सचित्र आयुर्वेद

वर्ष ३] कलकत्ता, जुलाई १९५० [अंक १

व्रत

अपनी वय के तृतीय वर्ष में प्रवेश करते हुए "सचित्र आयुर्वेद" आदिवैद्य ब्रह्मा जी, भिषग्वर्य शंकर जी, स्वर्वैद्य अश्विनीकुमार, देवराज इन्द्र तथा भगवान् धन्वन्तरि को प्रणाम कर के जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के अपने व्रत को आज पुनः दोहराता है :

'नात्मार्थं न कामार्थमथ भूतदयां प्रति' को जो ऋषिवाणी आज भी आयुर्वेद के चिरनवीन प्रासाद में गूञ्ज रही है, वह इस पत्र को प्रेरणा और बल दे रही है : जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिए ही जिस आयुर्वेद की उद्भावना हुई थी, उसके सर्वतोमुखी अभ्युत्थान के लिए यह आज समस्त वैद्यवर्ग का आह्वान करता है : विश्वजीवन के संरक्षक वैद्यों के सहयोग से यह पत्र मानवीय शक्तियों के आदर्श कलापूर्ण सामंजस्य के लिए सतत उद्योगवान् रहेगा : ताकि एक ऐसे आदर्श समाज का विकास हो, जिसके अंग-प्रत्यंग स्वस्थ, सुन्दर एवं एक-दूसरे के पोषक हों, जिनके पारस्परिक ऐक्य का सौरभ फैल कर दिग्दिगन्त को सुरभित बना रहा हो :

सचित्र-आयुर्वेद

"सचित्र आयुर्वेद" के माननीय लेखक, गवर्मेण्ट टीचर्स ट्रेनिंग कालेज काशीके मानस-शास्त्र के प्रोफेसर, मासिक "सुखी बालक" के सम्पादक तथा दर्जनों मानस-शास्त्र-विषयक पुस्तकों के लेखक, प्रोफेसर लालजी राम शुक्ल की सम्मतिः—

बड़े हर्ष की बात है कि भारत वर्ष के स्वतन्त्र होते ही हमारे देश के मनस्वी विद्वानों और देशभक्त नेताओं का ध्यान भारतवर्ष की उन प्राचीन विभूतियों की ओर जाने लगा है जिनके प्राप्त करने और परिवर्द्धित करने में यहां के तपस्वी ऋषियों ने सदियों तक परिश्रम किया। विदेशी राज्य का हमारे मन पर एक प्रभाव यह पड़ा कि हम अपने देश की सभी बातों को हेय दृष्टि से देखने लगे और परदेश की प्रत्येक वस्तु को उच्चकोटि की समझने लगे। यह दृष्टि बहुत कुछ आज भी बनी है। परन्तु धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन होता जा रहा है। यह हमारी मानसिक स्वाधीनता का लक्षण है।

आयुर्वेद विज्ञान भारतवर्ष का बहुत पुराना विज्ञान है। आज से दो हजार वर्ष पूर्व भारत ने चिकित्सा विज्ञान में जितनी उन्नति की थी उतनी उन्नति संसार के और किसी देश ने नहीं की थी। इतना ही नहीं, चिकित्सा के कुछ क्षेत्रों में तो आज भी उतनी उन्नति नहीं हो पाई है। आयुर्वेद का ज्ञान आज भी हमारे देश के कोने-कोने तक फैला हुआ है। प्रत्येक गांव में बूढ़ी दाइयां और कुछ सयाने लोग गांव के आस-पास प्राप्त होने वाली वनौषधियों द्वारा ऐसे अनेक रोगों की चिकित्सा कर लेते हैं जिनका प्रारंभिक उपचार न होने पर वे भयानक बन जाते। इन लोगों की सद्भावना भी इन औषधियों के साथ रोगों की चिकित्सा में काम करती है। अतएव देश के शिक्षित नागरिकों का देश में प्राप्त औषधियों का ज्ञान बढ़ाना और भारतीय ढंग से चिकित्सा करना-सिखाना एक ऐसा पुण्य कर्त्तव्य है जो ऊँचे-ऊँचे आदर्श के व्यक्ति को शोभा देता है। हमें यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि श्री-वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड द्वारा प्रकाशित 'सचित्र-आयुर्वेद' ऐसे ही ऊँचे आदर्शको लेकर प्रकाशित हो रहा है।

'सचित्र-आयुर्वेद' में देश के आयुर्वेद-चिकित्सा के विशेषज्ञ अनुभवी पंडितों के उच्च कोटि के लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका में बहुत से ऐसे लेख हैं जो देहात की सामान्य जनता के लिये उपयोगी हैं और जो उनकी समझ में आ सकते हैं। कुछ लेख ऐसे भी हैं जिनमें आयुर्वेद की विशेष नई खोजों को सुपाठ्य ढंग से रखने की चेष्टा की गई है। हमारे मनोभावों का हमारे स्वास्थ्य पर विशेष प्रकार का परिणाम पड़ता है। हम बहुत से फल और फूलों का सेवन करते हैं परन्तु हम यह नहीं जानते कि हमारी प्राणशक्ति बढ़ाने में उनका वास्त-

आवेदन-पत्र (नवीन ग्राहक)

—:o:—

श्रीयुत व्यवस्थापकजी, 'सचित्र आयुर्वेद'

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

नं० १, गुप्ता लेन (जोड़ासाँकू),

पो० ब० ६८३५, कलकत्ता।

प्रिय महोदय,

मैं 'सचित्र अयुर्वेद' के तीसरे वर्षका ग्राहक बनना चाहता हूं। इसके वार्षिक मूल्यके लिए चार रुपये मनिआर्डरसे भेज रहा हूं। आप नीचे लिखे पतेपर रजि० डाक / बी० पी० ※ से 'सचित्र आयुर्वेद' भेज देनेकी कृपा करें।

हस्ताक्षर—

श्री...(पूरा पता)

मुकाम...

पो०...

जि०...

※ मनिआर्डर द्वारा पेशगी न भेजकर वी० पी० से 'सचित्र आयुर्वेद' मंगानेपर ।≡) डाकखर्च अधिक लग जायगा। यदि मनिआर्डरसे मंगाएँ तो 'वी० पी०' को काट दें और यदि वी० पी० से मंगाएँ तो 'रजि० डाक' शब्दको काट दें।

आवेदन-पत्र (पुराने ग्राहक)

—:o:—

श्रीयुत व्यवस्थापकजी, 'सचित्र आयुर्वेद',

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

नं० १, गुप्ता लेन (जोड़ासाँकू)

पो०ब० ६८३५, कलकत्ता।

प्रिय महोदय,

मैं 'सचित्र आयुर्वेद' के तीसरे वर्षका ग्राहक बनना चाहता हूं। इसके वार्षिक मूल्यके लिए चार रुपये मनिआर्डरसे भेज रहा हूं। आप नीचे लिखे पतेपर रजि० डाक / वी० पी० ※ से 'सचित्र आयुर्वेद' भेज देनेकी कृपा करें। मेरा गत वर्षका ग्राहक नम्बर.........है।

हस्ताक्षर—

श्री...(पूरा पता)

मुकाम...

पो०...

जि०...

※ मनिआर्डर द्वारा पेशगी न भेजकर वी० पी० से 'सचित्र आयुर्वेद' मंगानेपर ।≡) डाकखर्च अधिक लग जायगा। यदि मनिआर्डरसे मंगाएँ तो 'वी० पी०' को काट दें और यदि वी० पी० से

BOOK POST.

)॥। पैसेका
टिकट लगाइए

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
पोष्ट बौक्स नं० ६८३५
कलकत्ता ।

BOOK POST.

)॥। पैसेका
टिकट लगाइए

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
पोष्ट बौक्स नं० ६८३५
कलकत्ता ।

सचित्र आयुर्वेद

निर्देशक

संदिग्धवनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद-महामहोपाध्याय, रसायनशास्त्री

श्री पं० भागीरथ स्वामी, *आयुर्वेदाचार्य, भिषक्-चूड़ामणि*

प्रधान सम्पादक

पं० रामनारायण शर्मा, *वैद्यशास्त्री*

सहायक सम्पादक

पं० सभाकान्त झा, *आयुर्वेदशास्त्री*

वार्षिक मूल्य	४)	साधारण अंक एक प्रति	।=)
यकृत्-अङ्क	१)	आयुर्वेद और सरकारअङ्क	२)

प्राप्ति-स्थान

भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

की

४ निर्माण-शालाएँ

४६ बिक्री-केन्द्र

और १४००० एजेन्सियाँ

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा ता० २९-५-१९५० को प्रकाशित सूचनानुसार

मौसमी रिआयत संवत् २००७

हम अपने एजेंटोंको वर्षके प्रारम्भमें वर्षारम्भका कमीशन दिया करते हैं जिसे मौसमी रिआयत कहते हैं। यह कमीशन उन्हीं एजेण्टोंको मिलता है जो मौसमी रिआयतके लिये निश्चित समयके भीतर अपना आर्डर भेजकर दवाओंका पार्सल मँगाते हैं। जो निश्चित समयके भीतर आर्डर नहीं भेजते उनको यह कमीशन नहीं मिल पाता है। हमारी हार्दिक इच्छा रहती है कि इस लाभ से हमारा एक भी एजेण्ट वंचित न रहे। ऐसे बहुत कम एजेण्ट हैं जो लगातार दो मासतक अपना एक भी आर्डर न भेजें। इसीलिये हम रिआयतका समय दो मासका देते हैं। अब यह खुद एजेण्टोंके हाथकी बात है कि वह इस सुयोगको न छोड़ें और अपना आर्डर भेजकर यह लाभ प्राप्त करें। किसी कारणवश किसी एजेण्टकी एजेन्सी कैन्सिल हो गयी हो, उनके लिये फिरसे अपनी एजेन्सी चालू कराने का यह सबसे अच्छा मौका है।

इस मौसमी रियायतके अवसरपर एजेण्टोंको कार्यालयकी ओरसे कुछ न कुछ उपहार भी भेंट किया जाता है। उपहारमें हम ऐसी ही चीज देना चाहते हैं जो एजेण्टोंके कामकी हो। इस सालके उपहारके लिये कार्यालयकी ओरसे प्रकाशित "आयुर्वेद सार-संग्रह" नामका १०४० पृष्ठोंका सर्वसाधारणोपयोगी ग्रंथ देनेका निश्चय किया गया है। इस पुस्तकका मूल्य ६) है। हमारे प्रत्येक एजेण्टके पास इस पुस्तकका होना बहुत आवश्यक है। इस पुस्तकके अध्ययनसे हमारे एजेण्टोंका आयुर्वेद विषयक ज्ञान बढ़ेगा जिससे उन्हें आर्थिक लाभ तो होगा ही, साथ ही यशकी प्राप्ति भी होगी।

मौसमी रिआयतके समय कमसे कम २५०) की दवा मंगानेवाले एजेण्टको यह पुस्तक उपहार-स्वरूप बिल्कुल मुफ्त भेजी जायगी। २५०) से कमकी दवा मंगानेवाले एजेण्टको इसकी आधी कीमत अर्थात् ३) देनेपर यह पुस्तक मिल सकेगी। २५०) से कमकी दवा मंगाने वाले जिस एजेण्टको ३) देना स्वीकार नहीं हो, उन्हें अपने आर्डरवाले पत्रमें स्पष्ट लिख देना चाहिये कि हमें ३) देना स्वीकार नहीं है, अतः पुस्तक नहीं भेजी जावे।

यह रिआयत सिर्फ मौसमी रियाअतके समयके भीतर रिआयती पार्सल मंगानेवालोंके लिये ही है। किसी कारणवश कोई एजेण्ट मौसमी रिआयतके समय पार्सल न मंगा सकें और उनको यह पुस्तक नहीं मिल सके, वैसी हालतमें बादमें मुफ्त या आधी कीमत में किसी भी हालतमें नहीं मिल सकेगी।

सं० २००७ की मौसमी रिआयत पानेके नियम नीचे लिखे अनुसार हैं—

१—यह रिआयत १ जूनसे ३१ जुलाई १९५० तक लागू रहेगी। ३१ जुलाईके बाद आनेवाले आर्डरोंपर रिआयत नहीं मिलेगी।

२—बोतलोंकी पैकिंगवाले सुगन्धित तैल, शर्बत, अर्क तथा थैलोंपर मौसमी रिआयत नहीं मिलेगी। जो एजेण्ट मौसमी रिआयतके पार्सलके साथ इन चीजोंमेंसे भी कोई चीज मंगाना चाहें, वह मंगा सकते हैं; परन्तु जितने रुपयोंकी यह चीजें होंगी, उतने रुपयों पर मौसमकी रिआयतका कमीशन नहीं मिलेगा।

३—मौसमी रिआयतके आर्डरमें कमसे कम १० प्रतिशत रस-भस्मका आर्डर होना आवश्यक है।

४—एजेण्टोंको उनकी श्रेणीके अनुसार कमसे कम ५०) और अधिकसे अधिक ४००) तककी दवाओंपर मौसमी रिआयत मिलेगी। अर्थात् ५०) से कमका आर्डर आनेपर कुछ भी रिआयत नहीं मिलेगी और ४००) से अधिककी दवा मंगानेपर भी ४००) की ही रिआयत मिलेगी।

५—एजेण्टोंको अपनी श्रेणीके अनुसार अधिक-से-अधिक दूसरे पृष्ठपर लिखे मुताबिक रुपयोंकी दवा मौसमी रिआयत के कमीशनके साथ मंगानेका अधिकार है :—

	पुराने एजेण्टको	नया एजेण्ट बननेवालेको
साधारण एजेण्टको	७५)	५०)
कार्यकर्त्ता एजेण्टको	१५०)	७५)
मान्य एजेण्टको	२५०)	१२५)
सम्मान्य एजेण्टको	३००)	१५०)
चीफ एजेण्टको	३५०)	१७५)
सोल एजेण्टको	४००)	२००)

अर्थात् मौसमी रिआयतके समय कोई सोल एजेण्ट ४००) से अधिकका आर्डर भेजेंगे तो भी सिर्फ ४००) पर ही मौसमी रिआयत के कमीशनमें ५०) की दवा भेजी जायगी। ४००) से अधिक जो होगा, उसके कमीशनमें दवा नहीं मिलेगी। यदि उनका आर्डर ४००) रुपये से कमका ही हुआ, तो जितनेका उनका आर्डर होगा, उतने रुपयों पर ही रिआयत मिलेगा। इसी तरह सभी श्रेणीके एजेण्टोंके लिये समझना चाहिये।

६—इस सालकी रिआयत यह है—जो एजेण्ट (अपनी श्रेणी के भीतर) जितने रुपयोंकी दवा मंगायेंगे, उतने रुपयोंपर प्रति रुपया दो आनेके हिसाबसे कमीशन मिलेगा। उस कमीशनके रुपयोंमें एजेण्टगण अपने इच्छानुसार कोई भी दवा मंगा सकते हैं। नकद कमीशन नहीं मिलेगा। पहले यह प्रतिबन्ध था कि रिआयती कमीशनमें दो-तीन किस्मकी खास-खास दवा ही दी जाती थी। अब वह प्रतिबन्ध उठा दिया गया है, एजेण्टगण हमारे यहाँ की बनी हुई कोई भी दवा मंगा सकते हैं।

उदाहरण—किसी सोल एजेण्ट ने मौसमी रिआयत में ४००) की दवाएँ मंगायीं तो उनको कमीशन में दो आना प्रति रुपयाके हिसाबसे ५०) की दवा मिलेगी। इस ५०) में एजेण्टगण अपने इच्छानुसार कोई भी एक किस्मकी या मिलाकर दो-चार किस्मकी दवा मंगा सकते हैं।

७—एक एजेण्टको एक ही बार रिआयत मिलेगी। अतएव अपनी श्रेणीके अनुसार अधिकसे अधिक जितने रुपयोंकी दवा मंगानी हो, एक ही बारमें मंगा लेनी चाहिये।

८—एजेंटोंको अपने आर्डरके नीचे साफ-साफ लिख देना चाहिये कि हमारा इतने रुपयोंका आर्डर है, इसके कमीशनमें इतने रुपयोंकी अमुक-अमुक दवा भेजिये। ऐसा लिखा नहीं रहनेसे कार्यालय के कार्यकर्त्तागण कोई भी दवा अपने इच्छानुसार भेज देंगे।

९—पिछले साल अर्थात् सं० २००६ में किसी एजेण्टने मौसमी रिआयतके पार्सलके बाद दूसरा कोई पार्सल नहीं मंगाया हो, तो उनको इस साल मौसमी रिआयत नहीं मिलेगी।

१०—इन नियमोंमें जरा भी हेर-फेर नहीं होगा। अतः इसके विरुद्ध कुछ भी लिखा-पढ़ी करना बिलकुल व्यर्थ होगा।

ता० २६—५—१९५०

मैनेजिंग डाइरेक्टर्स,
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड,
कलकत्ता, पटना, झाँसी, नागपुर।

आवश्यक सूचना

१—हमारे एजेन्सी नियमके पृष्ठ ६१ पर दवा टूटने-फूटने या घटनेकी शिकायतके नियम नं० १ में लिखा गया है कि टूट-फूटका कमीशन १।।-) सैकड़ाकी दरसे सालके अन्तमें मिला करेगा और सालाना कमीशन की तरह यह भी पूरे सौ रुपयों पर मिलेगा। एजेण्टों के लाभ का ख्याल करके उस नियम में यह संशोधन किया गया है कि सालभर की इन्तजारी न करके टूट फूटका कमीशन १।।-) सैकड़ा की दर से हाथ का हाथ प्रत्येक बीजक में बाद कर दिया जाया करेगा। यह नियम ता० १ ६-५० से लागू होगा। इससे पहले सं० २००७ में जिसको जितना माल गया रहेगा उतने का टूट-फूटका कमीशन जोड़कर अगले बीजक में बाद कर दिया जायगा।

२—हमारे यहाँ से पार्सल बहुत सावधानी से अपने काम में पूर्ण दक्ष पैकरों के द्वारा बिल्कुल नये बक्स में पैक कराकर भेजा जाता है। उसपर भी और अधिक मजबूती के लिये प्रत्येक बक्सके चारों तरफ चार तार मशीनसे कसवा दिये जाते हैं। पहले प्रत्येक बक्सपर दो तार ही लगाये जाते थे, फिर तीन तार लगाये जाने लगे और अब (ओ० टी० आर० में जानेवाले) प्रत्येक बक्स पर चार तार लगाये जाते हैं। एजेण्टों के पास सुरक्षित रूपमें माल पहुंचाने के लिये इससे अधिक और उपाय हम क्या कर सकते हैं? इतने पर भी कभी कभी ओ० टी० रेलवे के अन्तर्गत रहनेवाले एजेण्टों की एकाध शिकायत आ ही जाती है। इसलिये एजेण्टों से, खासकर ओ० टी० रेलवे के अन्तगत रहनेवालों से; हमारा अनुरोध है कि स्टेशन से पार्सल छुड़ाते समय वह पूरी सावधानी से काम लें। प्रत्येक बक्स को अच्छी तरह देख लिया करें। कोई बक्स टूटा-फूटा होने पर या पैकिंग ठीक मालूम होने पर भी अपेक्षाकृत हलका मालूम होने पर बीजक से मिलाकर उसकी ओपेन डिलेवरी लें। हमारे यहाँ से भेजे जानेवाले प्रत्येक बक्स में पैकिंग स्लिप दिया हुआ रहता है जिसमें लिखा रहता है, कि इस बक्स में कौन कौन दवा है और कितनी है। इस प्रकार जहांतक सम्भव है एजेण्टों के पास बीजकके मुताबिक सभी माल सुरक्षित रूपसे पहुंचे, इसके लिये हम पूरा प्रयत्न करते हैं। हमारी हार्दिक इच्छा रहती है कि ऊपर लिखे नियमके अनुसार टूट-फूट आदि का जो कमीशन १।।-) सैकड़ाके हिसाबसे दिया जाता है, वह पूराका पूरा हमारे एजेण्टोंको लाभके रूपमें प्राप्त हो। परन्तु हमारी इतनी सावधानी और कोशिशोंके बावजूद भी संयोगवश रास्तेकी गड़बड़ीसे और एजेण्टोंके पार्सल छुड़ाते समय पूरा ध्यान न देनेके कारण कोई माल कम मिले या टूटा-फूटा मिले, उसके लिये कार्यालय जिम्मेवार नहीं होगा। अपने यहाँसे सुरक्षित रूपसे पार्सल भेज कर बिल्टी भेज देनेके बाद कार्यालयकी जिम्मेवारी समाप्त हो जाती है।

ता० २९-५-५०

व्यवस्थापक,
श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०।

सचित्र आयुर्वेद के ग्राहकों का लाभ

सचित्र आयुर्वेद के माननीय ग्राहकों को "श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड" की तरफ से वैद्यनाथ मण्डूर भस्म ६ माशा, वैद्यनाथ लोह भस्म साधारण ३ माशा, वैद्यनाथ अभ्रक भस्म १॥ माशा, वैद्यनाथ वंगभस्म १॥ माशा और वैद्यनाथ मकरध्वज ३ मात्रा के नमूने मुफ्त भेजने की व्यवस्था की गयी है, यह हमारे पाठकों को सुविदित ही है। उसी योजना के अनुसार हम नीचे कूपन प्रकाशित कर रहे हैं, जिसे भरकर भेजने पर हम उन्हें नमूने भेज देंगे। हमारे ग्राहक ये नमूने मांगकर स्वयं देखेंगे कि "श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड" का यह दावा कहाँ तक सही है कि बिक्री के लिए बनने वाली औषध उससे कहीं श्रेष्ठ होती है, जो वैद्य लोग स्वयं निर्माण करते हैं; कारण हमारा कार्य ही औषध निर्माण करना और दिन-दिन कार्यक्षेत्र की उन्नति और वृद्धि करना है।

सचित्र आयुर्वेद के ग्राहकों का लाभ-कूपन

श्रीयुत व्यवस्थापक जी

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड, कलकत्ता।

प्रिय महोदय,

"सचित्र आयुर्वेद के ग्राहकों का लाभ योजना" के अन्तर्गत वैद्यनाथ मण्डूर भस्म, वैद्यनाथ लोह-भस्म साधारण, वैद्यनाथ अभ्रकभस्म, वैद्यनाथ वंगभस्म और वैद्यनाथ मकरध्वज के नमूने मुझे भेज दें। मैं सचित्र आयुर्वेद के तीसरे वर्ष का ग्राहक हूँ। मेरी ग्राहक संख्या.................. है।

भवदीय

हस्ताक्षर

पूरा पता—

श्री..

स्थान..

पोष्ट..

जिला..

पुराने तथा नवीन ग्राहकों से निवेदन

चन्दा भिजवाएँ

यदि आप ने अभी तक अपना तीसरे वर्ष का चन्दा नहीं भेजा है, तो अब विलम्ब न करके शीघ्र भेजें और अपने मित्र-बन्धुओं को भी "सचित्र आयुर्वेद" के ग्राहक बनने के लिए प्रेरित करें तथा उनसे वार्षिक चन्दा ४) मनीआर्डर द्वारा भिजवाएँ। प्रति पांच ग्राहक बनाने पर एक वर्ष तक "सचित्र आयुर्वेद" आपकी सेवा में निःशुल्क भेजा जायगा।

विशेषांक आधी कीमत में

नवीन ग्राहक अपने वार्षिक चन्दे के साथ १।।) और भेजकर दूसरे वर्ष के दोनों विशेषांक ('आयुर्वेद और सरकार अंक'' तथा यकृत् अंक) प्राप्त कर सकते हैं। इन दोनों विशेषांकों का मूल्य ३ है, परन्तु नवीन ग्राहकों के लिए यह रिआयत है।

१० अंक तीन रुपये में

"सचित्र आयुर्वेद" के द्वितीय वर्ष के प्रथम और चतुर्थ अंक बिक चुके हैं। शेष १० अङ्कों की फाइल ३) तीन रुपये में आप प्राप्त कर सकते हैं, जिसमें "आयुर्वेद और सरकार अङ्क" तथा "यकृत अंक" ये दो बिशेषांक भी सम्मिलित हैं।

सम्मति और सुझाव

सचित्र आयुर्वेद के विषय में आपकी सम्मति तथा उसमें सुधार करने के विषय में आप के सुझाव जानने के लिए हम उत्सुक हैं। आपकी सम्मति और सुझाव का हम स्वागत करेंगे और उनसे लाभ उठाएँगे। अतएव अपने अमूल्य समय में से कुछ क्षण निकाल कर अवश्य ही अपनी सम्मति तथा सुझाव हमें भेजने की कृपा करें।

कृपया)।।। का टिकट लगाएँ

श्री युत व्यवस्थापक जी,

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

१, गुप्ता लेन (जोड़ासाँकू)

कलकत्ता—६

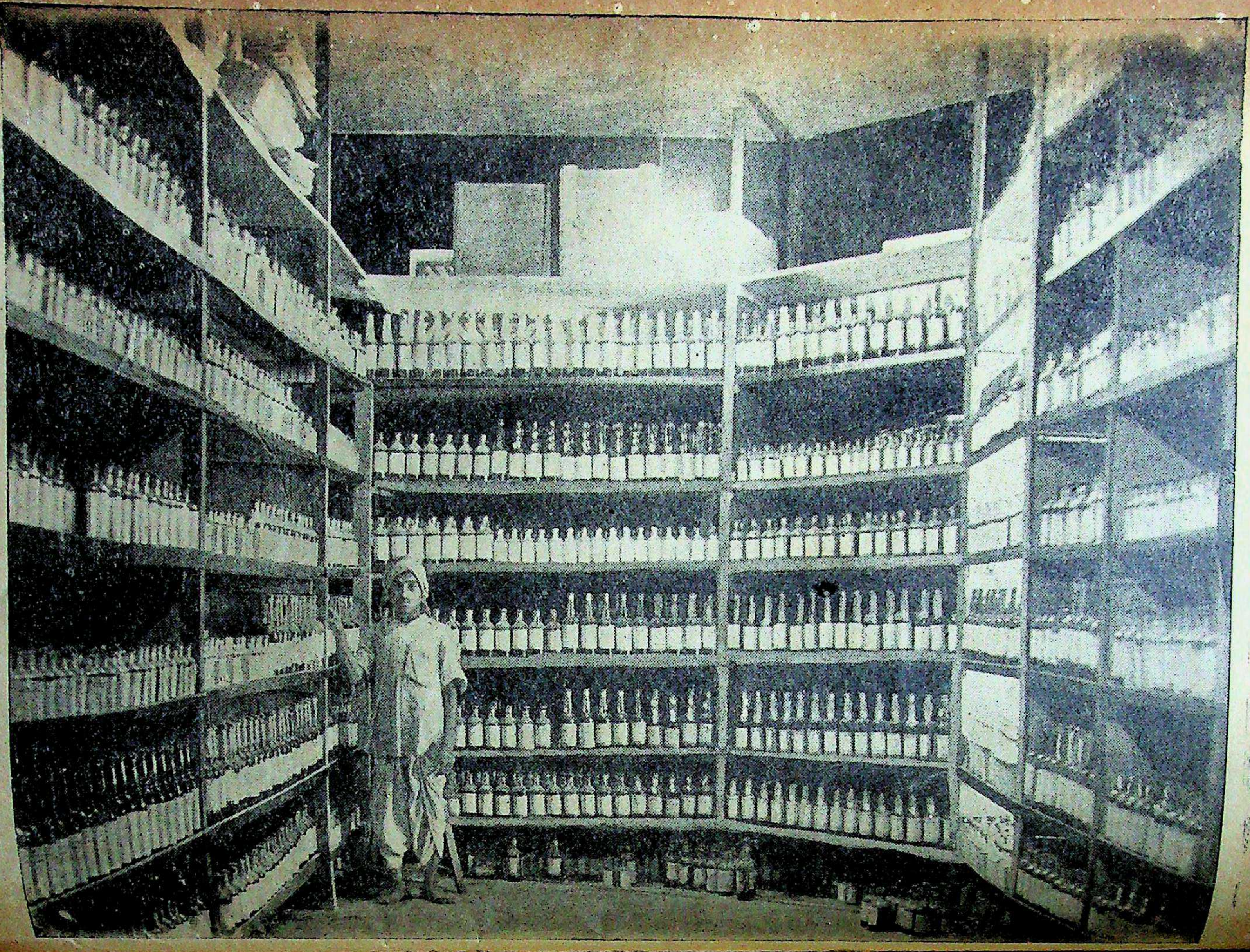
वैद्यनाथ रस-भस्मों की श्रेष्ठता

—:o:—

अब तो यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि वैद्यनाथ रस-भस्में सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम होती हैं। हमारी रस-भस्में ठीक उसी प्रकार तत्काल फायदा करती हैं जैसे इन्जेक्शन लाभ करता है। इसका क्या कारण है? क्योंकि हमारे यहाँ रसायन और भस्म बनाने के लिये रसायनशाला एक छोटे से गांव में है, जहाँ रसायन और भस्में बनाने के लिये सब तरह की सुविधाएँ प्राप्त हैं। इस जगह जङ्गल के कंडे (वन्योपल—गोंइठे) हजारों मन आसानी से मिलते हैं। और मजदूरी भी सस्ती है। यहाँ से सब से नजदीक का रेलवे स्टेशन २४ मीलपर है। स्टेशन पर भी पत्थर के कोयलों की बिक्री नहीं होती। इस देहात में बिजली या गैस का कोई प्रश्न ही नहीं। अतः शुद्ध आयुर्वेदीय पद्धति से भस्म और कूपीपक्व रसायन बनाने का जैसा स्वतन्त्र सुप्रबन्ध हमारे यहां है वैसा भारतवर्ष में किसी के यहाँ नहीं है। इस रसायनशाला के अध्यक्ष एक सुयोग्य वैद्य हैं जो पारद के संस्कार और भस्मों के निर्माण की विशेषता के लिये भारत में प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार वैद्यनाथ रसायन और भस्में सर्वश्रेष्ठ तैयार होकर हमारे कलकत्ता, पटना, झांसी और नागपुर के कार्यालयों में जाकर वहाँ पैक होकर तथा सील-मोहर लगा कर एजेण्टों के पास बिक्री के लिये भेजी जाती हैं। भस्में जितनी पुरानी होती हैं उतनी ही ज्यादे गुणकारी होती हैं। हमारे यहाँ वजन में मनों भस्में एक साथ तैयार होती और पुरानी होने पर ही बिक्री की जाती हैं। कई दूसरे प्रतिष्ठित औषध-निर्माता भी हैं जो रस-भस्में अच्छी बनाते हैं, परन्तु उनके मूल्य बहुत ज्यादा होने के कारण अमीर लोग ही खरीद सकते हैं, साधारण जनता नहीं। इसके विपरीत कई औषध-निर्माता बहुत ही सस्ते भाव में बेचते हैं जो किसी भी हालत में विश्वसनीय नहीं हो सकती। "श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि." द्वारा बनी हुई रस-रसायन और भस्में उत्तम श्रेणी की होने पर भी मूल्य में अधिक नहीं हैं। थोड़ा-सा अधिक मूल्य देकर आप वैद्यनाथ रस-भस्में खरीद कर निश्चित रूप से फायदा उठायेंगे। हम आप को गारंटी देते हैं कि वैद्यनाथ रस-भस्में निश्चित रूप से फायदा दिखलाती हैं और माँ के दूध की तरह निर्दोष होती हैं। इस तरह की उत्तम भस्में डालकर बननेवाले रस भी पूर्ण गुणकारी होते हैं।

विषय-सूची

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड



* श्री धन्वन्तरये नमः *



सचित्र आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ३	कलकत्ता, जुलाई, १९५०	अङ्क १

ग्रामीण वैद्यों के लिये रिफ्रेशर कोर्स

भारत में ढाई लाख से अधिक ऐसे वैद्य हैं, जो गांवों में चिकित्सा करते हैं। चोपड़ा-कमिटी की यह सिफारिश थी कि अल्पकालीन योजना के तौर पर इन्हें प्रारम्भिक चिकित्सा, ग्रामीण आरोग्य-शास्त्र, प्रसूति-शास्त्र और शिशुपालन की अर्द्धवर्षीय शिक्षा दी जाय, जिससे ये ग्रामीण स्वास्थ्य-रक्षण में सहायक सिद्ध हो सकें।

मद्रास की सरकार ने इस दिशा में सबसे पहले कदम उठाया। साधारण तौर पर चोपड़ा-कमिटी द्वारा निर्धारित पाठ्य-क्रम को ही सरकार अपने यहाँ चला रही है, किन्तु वैद्यों के लिये भारतीय वैद्यक में एक अतिरिक्त पाठ्य-क्रम भी निर्धारित किया गया है और सरकार की ओर से इस विषय में एक परीक्षा भी ली जाती है।

मद्रास राज्य में ग्रामीण वैद्यों के लिये होने वाली परीक्षाओं के परीक्षक-बोर्ड का मैं प्रधान चुना गया था। प्रधान होने के नाते मुझे उनकी उत्तरपुस्तकों का मूल्याङ्कन करने का अवसर मिला। व्यक्तिगत रूप से भी मुझे कतिपय ऐसे वैद्यों का सान्निध्य प्राप्त हुआ, जो 'रिफ्रेशर कोर्स' पूरा करके मौखिक परीक्षा देने मेरे पास आए थे। ग्रामीण वैद्यों की प्रथम परीक्षा के बाद, जिसका फल अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ था, उनके विषय में अपने विचारों को यहाँ लिखते बड़ी प्रसन्नता होती है।—

१—अधिकांश वैद्य बहुत ही वयोवृद्ध थे और चिकित्सा-विषयक उनके अनुभव बड़े ही व्यापक थे।

२—उनमें अधिकांश ऐसे हैं, जो औसत दर्जे से कहीं अधिक तीव्र बुद्धि के हैं।

३—उनमें अधिकांश ऐसे भी हैं, जिनका अपने चिकित्सा-क्षेत्रों में बड़ा ही सम्मानपूर्ण प्रभाव है।

४—परीक्षा में उत्तीर्ण हुए वैद्यों की संख्या ६५ प्रतिशत से भी अधिक थी; और उनमें से कुछ लोगों ने आधुनिक विषयों जैसे प्राथमिक चिकित्सा और ग्रामीण आरोग्य-शास्त्र में बड़ी दक्षता दिखायी।

५—अपने-अपने गाँव लौटने पर निश्चय ही वे अपने कार्यों द्वारा सर्व-साधारण लोगों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे, और उनकी सेवाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में आज 'मेडिकल रिलीफ' के नाम पर जो कुछ होता है, उसकी तुलना में अनमोल साबित होंगी।

अतः इष्ट यह है कि उनकी इस योजना को यथाशीघ्र कार्यान्वित किया जाय जिससे तमाम जिलों में जितना अधिक से अधिक संभव हो सके इसका विस्तार हो।

इस राज्य में इस प्रयोग की पूर्ण सफलता भारत के अन्यान्य राज्यों (स्टेट्स) के लिये एक आदर्श उपस्थित करेगी जो इसका अनुसरण करेंगे।

आयुर्वेद की जड़ इस देश की मिट्टी में बड़ी गहराई तक जमी हुई है। प्रायः प्रत्येक वैद्य के पास प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ हैं और अधिकांश वैद्य अब इन ताड़पत्र पर लिखे हुए ग्रन्थों में संकलित परम्परागत ज्ञान-कोष का उपयोग कर सकने में असमर्थ हैं। निश्चय ही यदि इन ग्रन्थों को वर्तमान पीढ़ी में सुरक्षित नहीं रक्खा जाएगा तो ये ग्रन्थ नष्ट हो जाएँगे। मुझे गुन्तूर जिले के गोत्तुमुक्कला ग्राम के एक वैद्य परिवार से ताड़ के पत्रों पर लिखा हुआ एक हस्तलिखित ग्रन्थ हाथ लगा। इसे मैंने मद्रास राज्य के डायरेक्टर आफ इण्डियन मेडीसिन को दे दिया। यह ग्रन्थ कम से कम ३०० वर्ष से भी अधिक प्राचीन मालूम होता है। कहा जाता है कि यह 'चिन्तामणि' और 'बसवराजीयम्' की पूर्ण मूल प्रतिलिपि है। मुझे मालूम हुआ कि यद्यपि यह 'चिन्तामणि' और 'बसवराजीयम्' की मुद्रित प्रतिलिपि, जो इन दिनों मिलती है, की नकल नहीं है; फिर भी इससे बहुत उपयोगी नुस्खों के अतिरिक्त समकालिक चिकित्सकों द्वारा अपनायी गयी चिकित्सा-विधियों की बहुत-सी अनमोल बातें ज्ञात होती हैं। मूल ग्रन्थ में मैंने बहुत से तेलगू के पद्य भी देखे, जो मुद्रित ग्रन्थों में नहीं मिलते। अतएव, यह अत्यन्त आवश्यक है कि वैद्यों के इन परिवारों में प्राप्य मूल प्रतिलिपियां उपलब्ध की जायँ। ये लोग स्वयं भी मामूली पारिश्रमिक पर मूल ग्रन्थों की नकल सरकार के लिये कर सकते हैं। भोर-कमिटी की योजना में बेसिक वैद्यों के बारे में जैसा विचार किया गया है, ग्रामीण वैद्यों का उपयोग ऐसे ही बेसिक वैद्यों के रूप में किया जाना चाहिये। साथ ही व्यावहारिक रूप में, वैद्यक शास्त्र में हुई नवीनतम प्रगति का सम्यक् ज्ञान उन वैद्यों को हो, ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिए।

आशा है कि राष्ट्र की स्वास्थ्योन्नति को दृष्टि में रखते हुए इस योजना को केन्द्र और राज्य की सरकारें आगे बढ़ायेंगी।

—डा० ए० लक्ष्मीपति

[अध्यक्ष, ग्राम वैद्य परीक्षक समिति, मद्रास]

सम्पादकीय

मध्य प्रदेश का आयुर्वेद-यूनानी-चिकित्सा बोर्ड

जब हमने यह समाचार पढ़ा कि प्राणाचार्य श्रीगोवर्धन शर्मा छांगाणीजी ने मध्य-प्रदेश के आयुर्वेद-यूनानी चिकित्सा-बोर्ड से त्याग पत्र दे दिया है, तो हमें स्वभावतया यह विश्वास हो गया कि अवश्य ही बोर्ड में कहीं कुछ खराबी है। इस विषय में हम ने इस बोर्ड के अनेक सदस्यों से पत्र-व्यवहार भी किया। रायपुर के श्री बाबूरामजी शर्मा वैद्य ने अपने पत्रोत्तर में विस्तार से स्थिति स्पष्ट की है। उन के पत्र का सारांश इस प्रकार है:—

"जून, १९४८ में मध्यप्रदेश के आयुर्वेद-यूनानी चिकित्सा बोर्ड का निर्माण हुआ। पहली बैठक में आरोग्य-मन्त्री के भाषण और परस्पर परिचय के बाद कार्यक्रम समाप्त हुआ। दूसरी बैठक ३० जून को हुई जिस में चुनाव के बाद प्राणाचार्य पं० सुन्दर लालजी शुक्ल सभापति निर्वाचित हुए ; यद्यपि जबलपुर आदि क्षेत्रों से उन का काफी तगड़ा विरोध हुआ।

"मध्यप्रदेश का यह प्रथम ही बोर्ड होनेके कारण अपनी कार्य-विधि के नियम-उपनियम आदि बनाना प्राथमिक कार्य था। सरकार से सम्बन्धित होने के कारण हर विषय में सरकारी स्वीकृति लेना भी बोर्ड के लिये आवश्यक है। बोर्ड की दृष्टि में प्रार्थना-पत्र भेजने की तिथि के पूर्व प्रार्थी का १० वर्ष का चिकित्साकाल पर्याप्त था ; किन्तु संदिग्ध होने के कारण ८ दिसम्बर १९४८ के पत्र में सरकार से पूछने पर उस का उत्तर २१ मई १९४९ को मिला कि १० वर्ष का चिकित्साकाल १ जनवरी १९४७ के पूर्व का होना चाहिए। परन्तु मई १९४९ के पूर्व जो वैद्य आवेदन पत्र भेज चुके थे, उन का १९४७ से पूर्व १० वर्ष के चिकित्साकाल का प्रमाण-पत्र बहुतों का नहीं था। इस में उन का कोई दोष भी नहीं था; क्योंकि मजिस्ट्रेट से जिस तारीख में उन्होंने प्रमाण-पत्र माँगा, उसी तारीख में मैजिस्ट्रेट ने उन्हें प्रमाण-पत्र दे दिया कि वे १० वर्ष पूर्व से चिकित्सा करते आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में बोर्ड के सामने दो ही मार्ग थे—या तो वह आवेदन-पत्रों को अस्वीकृत कर दे, या फिर प्रार्थी को दूसरा प्रमाण-पत्र भेजने का आदेश दे। दूसरा मार्ग अधिक अच्छा समझ कर बोर्ड ने प्रार्थियों को दुबारा प्रमाण-पत्र भेजने का आदेश दिया। फलस्वरूप बहुत से प्रार्थियों के रजिस्ट्रेशन में विलम्ब हुआ। इस बीच जिन आवेदन-पत्रों का प्रमाण-पत्र नियमानुसार ठीक था, उन के बारे में बोर्ड के आदेश से जानकारी प्राप्त कर के उन में से जिन को योग्य निश्चित किया, उन्हें स्वीकृति देकर रजिष्टर कर लिया। शेष आवेदकों के बारे में १४ सितम्बर १९४९ को बोर्ड ने यह निश्चय किया कि आवेदकों की सुविधानुसार भिन्न-भिन्न स्थानों पर इन्टरव्यू लेकर आवेदन-पत्रों की जाँच की जाय, जिस के बाद सभापति की स्वीकृति से रजिस्ट्रेशन हो। तदनुसार दिसम्बर १९४९ में बोर्ड के सदस्यों ने इन्टरव्यू लेकर आवेदन-पत्रों की जांच की और वे आवेदन-पत्र ३० दिसम्बर की बैठक में बोर्ड के समक्ष उपस्थित किये गये।

इन आवेदन-पत्रों के साथ सदस्यों की सम्मति अलग से पत्रक पर थी। बोर्ड ने निश्चय किया कि आवेदन-पत्र के साथ जुड़ा हुआ सम्मति-पत्र गुप्त या नष्ट भी हो सकता है; अतएव निश्चय किया कि सदस्यों के पास आवेदनपत्र पुनः वापस किये जायँ, ताकि वे उन आवेदन-पत्रों के पृष्ठ पर ही अपना सम्मति लिख दें कि "यह रजिष्ट्रेशन के योग्य है"। तदनुसार आवेदन पत्र पुनः वापस किये गये। इस में विलम्ब होना ही था। इधर आयुर्वेदिक-यूनानी चिकित्सक-ऐक्ट में निर्दिष्ट रजिष्ट्रेशन की अवधि (१ जनवरी १९५०) बीत गयी। इस अवधि को बढ़ाने के लिए सरकारी स्वीकृति आवश्यक थी। वह मार्च में असेम्बली के बजट-अधिवेशन में ३१ दिसम्बर १९४९ तक आये हुए आवेदन-पत्रों के लिये प्राप्त हुई। उस की भी नियमित रूप से सरकारी सूचना रजिष्ट्रार महोदय को २७ मई तक नहीं प्राप्त हुई। इस प्रकार रजिष्ट्रेशन में विलम्ब पर विलम्ब होता गया। फिर ६ मास से ऊपर हो गये, बोर्ड द्वारा स्वीकृत "मुख्य प्रमाण-पत्र का मसविदा" सरकार द्वारा स्वीकृत होकर अभीतक नहीं लौटा है। न ही, ये दो वर्ष हो गये, बोर्ड के सदस्यों के मार्ग-व्यय के विषय में ही सरकारी स्वीकृति प्राप्त हुई है।"

भाई बाबूरामजी के इस पत्र से बोर्ड के ऊपर किये गये इस आक्षेप का काफी निराकरण हो जाता है कि बोर्ड ने रजिष्ट्रेशन में विलम्ब किया। दूसरा आक्षेप बोर्ड के ऊपर इन्टरव्यू का है। यह ठीक है कि श्रीकृष्ण प्रसादजी त्रिवेदी जैसे विद्वान् वैद्यों को इन्टरव्यू के लिये बुलाना उन का अपमान करना है; परन्तु दस हजार के लगभग आवेदन-पत्रों को बिना विवेक-विचार के स्वीकृत करने के पक्ष में भी कितने तर्क दिये जा सकते हैं? अस्तु।

फिर भी, यदि बोर्ड में गड़बड़ी है, तो प्राणाचार्य श्रीगोवर्द्धन शर्मा छांगाणीजी जैसे विद्यावयोवृद्ध के बोर्ड में न रहने पर तो और भी अधिक गड़बड़ी होने की आशंका है। वैद्यों के विरुद्ध तो सरकार ही काफी है; आपस में ही विरोध करने से तो हम अपनी शक्ति स्वयं क्षीण करेंगे। हमारी हार्दिक इच्छा है कि मध्यप्रदेश के सब वैद्य परस्पर संगठित हों और अपने अधिकारों के लिये सरकार से लड़ें, न कि आपस में लड़कर अपनी शक्ति क्षीण करें।

शेषांश] चाहिये—अवधूत [८ वें पृष्ठ का

श्री वेदीजी से अनुरोध कर ऐसे ही प्रमाणभूत लेख पुनः पुनः प्रकाशित करेंगे तो यह विषय अभिनव और रोचक रूप में सामने आयेगा।

स्वस्थवृत्त पर श्री अत्रिदेवजी आदि के लेख, द्रव्य-गुण-रसशास्त्र पर श्री बापालाल भाई, क० प्रताप सिंह जी आदि के स्वाध्यायपूत लेख, क. महेन्द्र कुमार जी की उद्भित्-विद्या सम्बन्धी लेखमाला आदि विशेषताएँ भी गत वर्ष के अङ्कों को भूषित करती रही हैं। इधर आयुर्वेद-जगत् के वृत्तान्तों के अतिरिक्त संस्थाओं के विवरण देना भी प्रारम्भ किया गया है।

इतना मानो कम हो ऐसा मानकर दो विशेषाङ्क संचालकों ने प्रकाशित किये हैं। इनमें 'सरकार अङ्क' द्वारा आयुर्वेद की वर्तमान परिस्थिति का विशद रूप उपस्थित करने तथा भविष्य के कर्तव्य की दिशा दिखाने का इतना सुन्दर प्रयत्न अन्यत्र देखने में नहीं आया। भगवान् धन्वन्तरि इस प्रयास को और सिद्धि दें तथा कार्यकर्ताओं के उत्साह में वृद्धि करें।

चाहिये—अवधूत !

वैद्य रणजित राय आयुर्वेदालंकार

अब याद है। सचित्र आयुर्वेद के सहायक संपादकजी ने 'सरकार और आयुर्वेद' अङ्क पर मुझसे सम्मति माँगी थी—और मैंने हृदय की प्रति-ध्वनि शब्दों के रूप में अङ्कित कर भेजी थी—"आप सम्मति माँगते हैं ? यह तो 'अनार्य-जुष्ट' (आर्योंद्वारा असेवित) कर्म है। श्रुतिका स्पष्ट आदेश है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः'[1]—पुरुष, तू कर्म करता हुआ—फल की अपेक्षा न रखता हुआ ही कर्म कर। श्रीभगवान् ने इसी श्रौत वाणी का अनुवाद करते हुए कहा था—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन[2]—मनुष्य, कर्म करने में ही तेरी इतिकर्तव्यता है; फलाकाङ्क्षा का तुझे अधिकार नहीं।' आयुर्वेद के उपासकों को आज इसी वाणी का स्मरण कराने की आवश्यकता है। कर्म, कर्म और कर्म—यही हमारा ध्येय होना चाहिये। फल का विचार करने की फुरसत हो ही कैसे सकती है ?" तथापि, आपने सम्मति माँगी है तो इतना लिख दूँ—आप सही रास्ते पर हैं; डटे रहिये।

जब-तब यही विचार मित्रों के आगे और इन पृष्ठों में मैंने व्यक्त किये हैं। साथी समझते हैं, मैं निराशावादी हूँ। कोई कहते हैं, ढाल का दूसरा भी बाजू है—विषय का दूसरा भी पहलू है। वैद्यों के भी घर-बार और पूत-पतोहू हैं। आयुर्वेद की सेवा के नाम पर उनकी बलि तो नहीं दी जा सकती!

इसमें असत्य का लेश नहीं, स्वीकार करता हूँ। पर जीवन में निराशावाद न हो, थोड़ा-बहुत मनोदैन्य (इन्फीरिओरिटी कॉम्प्लेक्स) न हो तो अपनी उन्नति का खयाल भी कैसे आ सकता है ? अपने जीवन तथा उसके ध्येय के विषय में संतुष्ट होकर पुरुष बैठ रहे तो आगे बढ़ने की भावना हो उसके हृदय में कैसे उत्पन्न हो सकती है ? पुरुष में मनोदैन्य हो—अपनी त्रुटियों पर ध्यान देने की वृत्ति हो, पर साथ ही उन त्रुटियों को दूर करने की उमंग हो तो वह उत्तरोत्तर उन्नति करता जाता है। अब्राहम लिङ्कन इसका विशद उदाहरण है। उसके चरित्र-लेखकों ने लिखा है कि राष्ट्रपति होने के बाद भी कभी-कभी छोटी-छोटी समस्याएँ भी उसे इतना विचलित कर डालती थीं कि उसकी नींद हराम हो जाती थी। ऐसे प्रसंगों पर वह रात-भर अपने आवास के प्राङ्गण में चक्कर लगाता देखा जाता था। 'सचित्र आयुर्वेद' का, नहीं, आयुर्वेद-जगत् मात्र का गत वर्ष का आय-व्यय का ब्यौरा जाँचते हुए एक ही अकांक्षा उठती है—आयुर्वेद को एक अब्राहम लिङ्कन मिल जाय! अपने देश के नेता का नाम लेना हो तो—आयुर्वेद के लिए लँगोटी लगानेवाला एक 'बापू' हमें मिल जाय।

और वास्तवमें अपने देशमें भी ऐसे नैष्ठिकों की कहाँ कमी रही है ? श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवनका शिलान्यास जिस मगध-देशमें हुआ उसीके अलंकार-भूत एक प्राचीन विद्वान् की बात है। सारे दार्शनिक-जगत् में उसका सिक्का चलता था। जीवन की सुध बिसार कर एक ही धुनमें मस्त रहता था

१—यजुर्वेद ४० वाँ अध्याय तथा ईशोपनिषद्।
२—श्रीमद्भगवद्गीता।

वह—अध्ययन, अध्यापन और ग्रन्थनिर्माण। एक सायंकाल दीपके प्रकाशमें वह दैनिक जीवन-क्रमके अनुसार कुछ लिखने में मस्त था कि दिया बुझ गया। घर तिमिराच्छन्न हो गया। मिनट-भरमें एकाएक दीपक पुनः झलझला उठा, और एक कङ्कणवाला हाथ दीपक से परे हटता हुआ दार्शनिक की दृष्टिमें आया। आँख ऊपर उठाकर देखा तो एक प्रौढा दीपक रखकर जाती हुई देखी। दार्शनिकने संकोच और श्रद्धा से प्रश्न किया, 'देवि, कौन हो तुम, जिसने मेरा बुझा दीपक फिर जला दिया?' प्रश्न का उत्तर न देकर रमणी ने कहा, 'स्वामी, आज अपराध हो गया। दिया पुनः जलाने में कुछ विलम्ब हो गया, क्षमा करें।' 'पर, रमणी, तुम हो कौन?' दार्शनिक ने पुनः प्रश्न किया। लज्जावनत रमणीने उत्तर दिया—'आपकी दासी।' आगे बातचीत में स्त्रीने कहा—'आज से अठारह वर्ष पूर्व आप ने दासी का पाणि-ग्रहण किया था'। दार्शनिक ने फिर कहा—'ओह, मेरा विवाह हो चुका है? मुझे तो खयाल भी न था। मैंने तुम्हारे प्रति अपना कुछ कर्तव्यपालन न किया। घरका खर्च अबतक कैसे चला है?' स्त्रीने कहा—'मैं ही कुछ काम-धाम करके घरका खर्च निकालती हूँ। आपके काममें विघ्न न हो, इसका ध्यान रखना ही मेरे जीवनका लक्ष्य रहा है। आज भूल हो गयी। अन्य कार्य में व्यस्त रहने से दिया तत्काल जला न सकी। इसके लिए क्षमा चाहती हूँ। मुझे अब जाने दीजिए।' दार्शनिक ने गद्गद होकर कहा—"ओह, कितनी भूल हुई मुझ से? अच्छा, आगे तो घर का व्यवहार मैं चलाऊँगा, पर अब तक के तुम्हारे क्लेशका प्रतिदान भी कर दूँ। हाँ, क्या नाम है तुम्हारा?' 'भामती।' 'तो मेरी इस टीका का नाम भामती ही रहा। यह टीका यावच्चन्द्र-दिवाकरौ तुम्हारे नाम को अमर करेगी। दार्शनिक का नाम था—सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्री वाचस्पति मिश्र। आयुर्वेद को आज ऐसे हजार-हजार वाचस्पति मिश्रों की आवश्यकता है।

इसी मगधके एक वर्तमानकालिक विद्वान्का भी इस प्रसंगमें स्मरण किया जा सकता है। शायद तीन बार निरन्तर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के उपकुल-पतिपद को विभूषित करने वाले श्री गङ्गानाथ झा का नियम था सोनेके पूर्व प्रतिदिन ८० पृष्ठ फुल्सकेप के अवश्य लिख डालना। इसी अध्यवसाय का परिणाम था कि एक स्कूल के संस्कृताध्यापक-पद से उन्नति करते-करते ये इतनी उच्च पदवी पर पहुँच सके और प्राचीन अनेक ग्रन्थों पर अधिकार-पूर्ण टीकाएँ हमें दे सके।

मगधकी ही एक और विश्व-विदित विभूति की बात कहता हूँ। राजनीतिनिष्णात के रूपमें चाणक्य प्रसिद्ध हैं। परन्तु विद्वन्मण्डलमें सर्वशास्त्र-पारङ्गत लेखक के रूपमें भी उनकी ख्याति है। अर्थशास्त्र, कामसूत्र तथा न्यायदर्शन-भाष्य उनके लिखे माने जाते हैं। इस महानुभावके घरका वर्णन करते हुए 'मुद्राराक्षस' में कञ्चुकी कहता है—

'अहो राजराजेश्वरस्य मन्त्रिणो विभूतिः—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तूपमेतत्।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥"

—क्या विभूति है राजराजेश्वर के मन्त्री की?—इस ओर उपलों को तोड़ने के काम आने वाला पत्थर पड़ा है। उधर, विद्यार्थियों की लायी कुशाओं की ढेरी है। और घर? घरके कुशा-छप्पर पर समिधाएँ सूख रही हैं। उन के बोझ से वह नीचे झुका जा रहा है। दीवारें भी पुरानी होने के कारण टूटूँ-टूटूँ कर रही हैं।

युग विपरीत है। पर मनोरथ किसके रोके रुके हैं ?—मनोरथानाम् अगतिर्न विद्यते। आयुर्वेदके पुनरुज्जीवन के लिए किसी कोने में एकाध चाणक्य के नवावतारकी आशा करना क्या अस्थाने है ?

और एक दिन अपने मनोरथों को जैसे प्रश्रय मिल गया। अपने युगान्तरकारी आविष्कार के कारण नोबल-पुरस्कार प्राप्त करने वाले डॉ० एलेक्सिस केरल का ग्रन्थ 'मैन ध अननोन' आजके लोकप्रिय ग्रन्थों में एक है। लेखक प्राचीन भारतीय संस्कृति से अपरिचित है। इसी कारण उसके मुकाबले पश्चिमी संस्कृतिको स्थान-स्थानपर उत्कृष्ट भी बताता है। पर सरस्वती ने उसकी लेखनीसे मानो भारतीय संस्कृति के ही अनेक प्रकरणों की मीमांसा करायी है। पढ़ते हुए यही मालूम होता है कि भारतीय संस्कृति की व्याख्या करने वाले, किसी भारतीय विद्वान् का लिखा ग्रन्थ ही हम पढ़ रहे हैं। इसीके एक अध्याय 'मनुष्यका पुनर्निर्माण' में लेखक ने इस महान् आरम्भ (उद्योग) का भार वहन करने के लिए कैसे आदमी चाहिये, इस बातका विवेचन करते हुए लिखा है—

"अपना जीवन इस कार्य को अर्पित करनेवाले ये थोड़े मनुष्य जीवन-यापन की सामान्य पद्धति का परित्याग करनेवाले होंगे। उन्हें गोल्फ या ब्रिज खेलना न मिलेगा; सिनेमा वे न जा सकेंगे; न रेडियो सुन सकेंगे; भोजन की पार्टियों में भाषण वे न दे सकेंगे; न किसी कमिटी के सदस्य या साक्षी हो सकेंगे; वैज्ञानिक समितियों, राजनीतिक समारम्भों या विद्वत्परिषदों में वे भाग न ले सकेंगे; न समुद्र पार करके अन्तर्राष्ट्रिय कांग्रेसों में सम्मिलित हो सकेंगे। उन्हें चिन्तन-शील साधुओं के समान जीवन बिताना होगा; विश्वविद्यालयों के उपाध्यायों के समान नहीं, और व्यवसासियों के समान तो सर्वथा नहीं। सभी महान् राष्ट्रों का इतिहास अनेक व्यक्तियों के स्वार्पण का ही इतिहास है। बलिदान प्रगति का नियत कारण है। * * * जिसके हृदय में महान् साहस की ज्वाला धधक रही हो उसके लिए बलिदान कोई असंभव वस्तु नहीं। * *"

मालूम होता है आयुर्वेद के नाम पर ऐसी साधना करनेवाले लोग बाहर निकल आये हैं। योग्य समय पर अधिष्ठात्री देवता ने आयुवद की रक्षा के लिए समूचे देश में एक सेना-सी खड़ी कर दी है, जिसका प्रत्येक घटक अपने-अपने ढंग से आयुर्वेद की सेवा के लिए सन्नद्ध दिखाई देता है। घर-बार, गली-कूचा, सभा-सोसायटी, असेम्बली और पार्लमेण्ट सब में आयुर्वेद एक चर्चा का विषय बन गया है। लोगों को विदेशी दवा महँगी पड़ती है, कई बार उसकी प्रतिक्रिया बकरी निकाल कर ऊँट घुसेड़ने-जैसी होती है। जनता, जिसमें कितने ही डाक्टर बन्धु भी सम्मिलित हैं, आयुर्वेद से कुछ आशा रखती है। किसे नहीं पता, ऐलोपेथी का प्राण आज मुख्यतया प्रोपेगेण्डा या प्रचार ही है। यही प्रोपेगेण्डा, ऐसा ही जबर्दस्त आन्दोलन आयुर्वेद की उन्नति के लिए दुर्निवार है। आन्दोलन की शक्ति का अन्दाज लगाना हो तो हिन्दी की पदप्रतिष्ठा का उदाहरण ताजा है। मुख्यतया जिन प्रान्तों ने हिन्दी का सिर ऊँचा उठाया वही सौभाग्य से आयुर्वेद की पताका को भी पुनः प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाये हैं। जहां तक 'सचित्र आयुर्वेद' का सम्बन्ध है, मैं अपने अनुभव के आधार पर लेख के प्रारम्भ में ही कह चुका हूँ—'सचित्र आयुर्वेद' सही रास्ते पर है, आप लोग ऐसे ही डटे रहिये।

'सचित्र आयुर्वेद' का द्वितीय वर्ष का इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। आयुर्वेद के सभी

विषयों का पर्यवसान जिस 'निदान-चिकित्सा' में होता है उस पर अनुभवपूत लेखों की कमी मुझे सदा खटकती रही है। हर्ष है इस कमी की पूर्ति का प्रयत्न गत वर्ष में किया गया है। श्रीगुणे शास्त्री, श्रीरामशिरोमणिजी, श्री आयुर्वेद-पञ्चाननजी, श्रीअशोक कुमार, कु० हरि-कृष्ण, कु० सुखराम प्रसादजी, श्रीपुरुषोत्तम देव आदि अनुभवी वैद्यराजों के लेख प्रायः गत वर्ष के अङ्कों को मण्डित कर इतर वैद्यों तथा विद्यार्थियों का मार्गदर्शन करते रहे हैं। निदान-चिकित्सा-का मार्ग प्रशस्त करने की दृष्टि से एक अति उप-योगी कार्य इसी वर्ष श्री विश्वनाथजी द्विवेदी ने प्रारम्भ किया है और वह है आयुर्वेदोक्त द्रव्यों और कल्पों का कर्मानुसार वर्गीकरण। निःसन्देह इस त्रुटि को पूर्ण करने की प्रेरणा आचार्यजी को दीर्घ अनुभव के बाद हुई होगी।

मन का शरीर तथा रोगों से सम्बन्ध भारतीय दार्शनिकों और वैद्यों को चिरकाल से सुविदित है। इधर, पश्चिम में इस विषय का दीर्घ और गूढ़ अध्य-यन हुआ है। यह विषय चिकित्सकों के अभ्यास का प्रमुख अंग बन चुका है। "सचित्र आयुर्वेद" को मनोविज्ञान में निष्णात प्रो० लालजी राम शुक्ल का सहयोग प्राप्त हुआ है। आपके लेख शारीरिक रोगों की उत्पत्ति में मन की कारणता पर विशद प्रकाश डालते हैं।

ऐसा ही एक सहयोग इस वर्ष के महाराष्ट्र प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के अध्यक्ष श्री वैद्य पु० वि० धामणकर जी का है। आपकी साधना का लाभ "सचित्र आयुर्वेद" द्वारा हिन्दीभाषी वैद्यसमाज को भी अब मिल रहा है, यह सचित्र आयुर्वेद के लिये गौरव की बात है।

आयुर्वेद के आन्दोलन को राष्ट्रव्यापी सफल बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य सचित्र आयुर्वेद कर रहा है। आयुर्वेद की राजनीति तथा आयुर्वेद-जगत् की विचित्र गतिविधियों के समाचार प्रकाशित करने से इस आन्दोलन को प्रगति मिली है। हर्ष की बात है कि मराठी "आयुर्वेद पत्रिका," "भिषग्विलास", "आयुर्मीमांसा", "आरोग्यमन्दिर", "आहार" तथा गुजराती "आयुर्वेद-जगत्" आदि प्रान्तीय भाषाओंके पत्रों से भी समाचार-संकलन की व्यवस्था सचित्र आयुर्वेद के संचालकों ने की है। आयुर्वेद सेवा संघ, नासिक से प्रकाशित तथा वैद्य बिन्दुमाधव पण्डित द्वारा सम्पादित "आयुर्वेद-पत्रि-का" का तो विशेष सहयोग सचित्र आयुर्वेद को मिला है *।

निदान-चिकित्सा संबन्धी एक कमी पूर्ण करने का विचार इस नम्र लेखक का भी है। आगामी वर्षसे विशेषतः विद्यार्थियों की दृष्टिसे उपयोगी एक लेख-माला लेखक प्रारम्भ करना चाहता है। इसका शीर्षक रहेगा —"छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा" या "निदान-चिकित्सा-हस्तामलक"। विद्यार्थी-समाज तथा अध्यापक महानुभाव इसे पसन्द करेंगे तो यह लेखमाला शीघ्र ही ग्रन्थाकार में प्रकाशित की जा सकेगी।

स्वयं संचालकों की ओरसे विभिन्न कल्पों के निर्माण, प्रयोगविधि, घरेलू इलाज आदि के रूपमें 'निदान-चिकित्सा' विषय के विशदीकरण का स्तुत्य प्रयास गत वर्ष हुआ है।

कल्प-निर्माण सम्बन्धी एक अति गम्भीर लेख श्रीवेदीजी का गत वर्ष निकला है। सम्पादक महोदय

(शेषांश चौथे पृष्ठ पर)

* अपने इन सहयोगियों को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं और आशा एवं विश्वास करते हैं कि भविष्य में इनका और भी अधिक सहयोग हमें मिलेगा। —स० सम्पादक

मृत्युलोक में अमरत्व की झांकी

वैद्य रणजित राय आयुर्वेदालंकार

आज से दो शताब्दी पूर्व के एक महापुरुष की प्रतिमा मुझे दिखाई दे रही है। अविचल आत्मविश्वास और अश्रान्त अध्यवसाय की मूर्ति है यह! यह प्रतिमा है—चेचक के टीकेके आविष्कारक डॉक्टर एडवर्ड जेनर की। रूढ़ियोंके क्रीतदास, नवीनता के अन्धविरोधी अज्ञ मानव-समुदाय का उपहास एक ओर; दूसरी ओर स्वयं जेनर के चिकित्सक बन्धुओं की तीव्र-विरोध-मिश्रित उपेक्षा; और इन सबसे बढ़कर बीस से अधिक वर्षों की अवसादिनी चिन्ता और श्रम के होते हुए भी पर्याप्त प्रमाण की अनुपलब्धि—इन सबके मर्मभेदी आक्रमणों की अवगणना कर एक दिन उसने पहले-पहल अपने शिशु को टीका लगाया—अपनी आविष्कृत चिकित्सा पर दृढ़ आस्था के बल पर! कृतज्ञ देशवासियों ने पीछे से इस आलौकिक दृश्य को एक प्रतिमा खड़ी कर अंकित किया। किसी अननुभूत पूर्व कर्म (शस्त्र-क्रिया) की आशङ्का से कातर शिशु पिता जेनर की ममतामयी गोद में बैठा है। उसका दाँया हाथ पिता ने अपने एक हाथ में उठाया है। दूसरे हाथ से पिता—मानो द्रवीभूत आत्मविश्वास-रूप—औषध बच्चे के शरीर में प्रविष्ट कर रहा है। असाधारण मनोयोग, अस्खलित धैर्य और प्रगाढ़ गाम्भीर्य टपक रहे हैं उसके आकार से। मैं लेख लिखने बैठा हूं और यह प्रतिमा रह-रहकर मेरे मनो-मन्दिर में अपनी झलक दिखा रही है। जिन डॉक्टर जेनर की यह प्रतिमा है उन्हीं के आविष्कार का कुछ विवरण अगली पंक्तियों में दिया जा रहा है—अलबत्ता, आयुर्वेद को भी कोई जेनर या कोई रोनाल्ड रॉस मिले इस आशा से!

जेनर का पिता ग्लोसेस्टरशायर (इङ्गलैंड) का पादरी था, और उसे तीन वर्ष का छोड़ कर दिवंगत हो गया था। जेनर का भरण-पोषण पीछे से उस के पितृकल्प बड़े भाई ने किया। बचपन में ही जेनर घण्टों अपने संगियों के साथ घोंघे और पक्षियों के घोंसले जमा करता रहता था। कालक्रम से यही प्रवृत्ति पशु-पक्षियों की चीर-फाड़ में परिणत हो गयी। बड़े भाई की इच्छा थी कि जेनर अपने पिता की ही वृत्ति स्वीकार करे, पर उसने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चिकित्सक होने का निर्णय किया और उसे एक निष्णात और विश्रुत शल्य-चिकित्सक के पास शिक्षा के लिए भेज दिया गया। वहीं काम करते हुए एक दिन वह—देखने में साधारण—घटना घटी, जिसने जेनर—उस समय एक तरुण विद्यार्थी—को मानव-जाति के त्राता महान् पुरुष के रूप में इतिहास में अमर कर दिया।

एक दिन एक ग्रामीण युवती कुछ डाक्टरी सलाह लेने दवाखाने आयी। उसका केस साधारण होने से जेनर को सौंप दिया गया। बातचीत में चेचक का प्रसंग छिड़ा और स्त्री ने यह घोषणा की—'मुझे चेचक नहीं हो सकता; कारण, मुझे गो-मसूरिका[1] हो चुकी है।' जेनर जैसे चौंक पड़ा। एक साधारण ग्रामीण स्त्री, और सारा चिकित्सा शास्त्र-तात्कालिक-

१—Cow-pox—काऊ-पॉक्स; चेचक की जाति का गौओं को होने वाला रोग।

जिसका भय माने उस, साक्षात् यम-सखी स्वरूप व्याधि के प्रति यह दावा। यह या तो प्रमत्त-प्रलाप था, या अनुभव-सिद्ध सत्य का स्पष्ट प्रकाशन।

इसे निरा प्रलाप समझ कर इस घटना की उपेक्षा की जा सकती थी। पर उस दशा में मानव-जाति एक बड़े ईश्वरीय उपहार से वञ्चित रह जाती। और यह सुहाता भी किसे? किसी जरठ पुरुष को, जिसके मस्तिष्क की रेखाएँ पक चुकी हों, नवीनता के नाम ही से जो भड़के, जिसकी दुर्बल इन्द्रियाँ स्वल्प-श्रम से भी झिझकें! यौवनसुलभ साहस, नवीनता के प्रति प्रेम और बालपन से ही पुष्ट असामान्य कौतूहल और जिज्ञासा का धनी जेनर भला इस मार्ग को कैसे पसन्द कर सकता था?

वह अभी अनुभव-शून्य और अशिक्षित था, इससे क्या? उसने दूसरा मार्ग पकड़ा। इस दावे के पीछे उसे प्रकृति का कोई रहस्य छुपा प्रतीत हुआ, जिसे प्रकाश में लाने से मानव-कुलका असीम कल्याण हो सकता था।

प्रारम्भिक शुष्क विस्मय के पीछे शीघ्र ही जेनर की जिज्ञासा-वृत्ति जाग उठी। अनुसन्धान शुरू हुआ। उसका औत्सुक्य और आश्चर्य द्विगुणित हो गये जब उसे विदित हुआ कि जिस बात ने उसे इतना स्तब्ध कर दिया था वह उस प्रदेश की गोपिकाओं के लिए समान्य-सी बात थी।

कौन नहीं जानता चेचक कितना संक्रामक रोग है और इसके रोगियों का क्षणिक संपर्क भी कितना परिहरणीय होता है। परन्तु उस प्रदेश की अनेक गोपिकाओं (ग्वालिनों) को रुग्ण गौओं का दूध दुहते हुए हाथों पर गो-मसूरिका का हलका-सा असर हो चुका था। उन्हें चेचक के रोगियों का संपर्क होने पर भी वह रोग न हुआ था, यद्यपि स्वयं उन्हें इसकी पूर्ण भीति थी। परिणामतया उन लोगों में [illegible] धारणा घर कर गयी थी।

जेनर स्वप्न-लोक में विहार करने लगा। [illegible] जेनर के शब्दों में—"हरी घास पर बैठकर मैं प्रा[illegible] अपने विषय का अनुध्यान किया करता। सोच[illegible] संसार के प्रधान संकटों में एक का उच्छेद होने [illegible] है और उसका निमित्त होनेवाला हूँ मैं। इस आ[illegible] से मैं हर्षाविष्ट हो जाता। साथ ही सोचता—[illegible] कितना स्वाश्रय, सुख और शान्ति का धाम हो[illegible] मेरा गृहस्थाश्रम! ये भाव कभी-कभी सीमा पार क[illegible] जाते और मैं ध्यान-मग्न-सा हो जाता। आज [illegible] स्मरण कर मुझे संतोष होता है कि इन भावनाओं [illegible] अन्त में मैं सदा उस महती शक्ति का भक्ति-नम्र हो[illegible] आभार मानता, जो इस तथा अन्य करुणाओं का उद्गम-स्थान है।"

इक्कीस वर्ष की अवस्था में जेनर लन्दन पहुंचा। वहां चार वर्ष चिकित्सा-शास्त्र का गहरा अभ्यास कर घर लौट आया और वहीं प्रैक्टिस करने लगा। समय बीतते न बीतते उस ने नगर में अपना विशेष स्थान बना लिया। किसी को कल्पना भी न होती कि अपने रोगियों को देखने के लिए घोड़े पर चढ़कर जानेवाला रँगीला डाक्टर, जो आकृति से इतना प्रसन्न और इतना संतुष्ट जान पड़ता था, अपने हृदय में कैसी दुर्दान्त—कैसी गहरी—व्यथा छिपाये हुये है। मसूरिका का एक-एक केस जो उसके देखने-सुनने में आता, जेनर को अपने लिए अभिशाप-रूप प्रतीत होता। बेचारा जेनर हृदय का भार हलका करने के लिए तरह-तरह के छोटे मोटे काम करता, यहां तक कि कभी-कभी कविता भी करने बैठता।

जेनर की कठिनाई का कुछ आभास इस बात से हो सकता है कि जो जीवाणु-शास्त्र आज इतना पल्ल-

वित हो गया है उसका बीज ही जेनर के सौ वर्ष बाद बोया गया था। परिणामतया, परीक्षण का कोई ढंग न होने के कारण वैज्ञानिकों से अपना सिद्धान्त स्वीकार कराना बालुका से तेल निकालना था। वृद्ध चिकित्सकों के लिए जेनर के विरुद्ध एक ही युक्ति थी, और वह यह कि जेनर युवा और अनुभवशून्य था; इसलिए उसका भ्रान्त होना निश्चित था। कैसी प्रतारणा ?

ऐसे उदाहरण प्रायः मिलते जिनमें एक बार मसूरिका या गो-मसूरिका होने के पीछे उनका दुबारा आक्रमण न पाया जाता। पर ऐसे भी दृष्टान्त पाये गये जिनमें एक बार गो-मसूरिका होने के पश्चात् भी चेचक का हमला हुआ। थोड़ी देर को लगा कि जेनर का पक्ष अब डूबा ! पर नहीं, दैव को तो इन्हीं घटनाओं से जेनर को उबारना अभीष्ट था। अनुसंधान से विदित हुआ कि गो-मसूरिका एक विशेष कक्षा तक पहुंच चुकी हो और तब उसकी छूत किसी व्यक्ति को लगे तभी वह मसूरिका के प्रभाव से अलिप्त रह सकता है।

जेनर की यह सबसे बड़ी विजय थी। इस से टीके का सिद्धान्त तो स्थिर-पद हो गया, पर उसे अभी वास्तविकता की अग्नि-परीक्षा में से गुजरना था। अन्त को यह भी हुआ। १४ मई १७९६ को जेनर ने एक आठ वर्ष के बच्चे को गो-मसूरिका की सुपरिक्षित लसीका का टीका लगाया। टीका सफल हुआ -बच्चे पर गोमसूरिका का असर हुआ। पहली जुलाई को उसे चेचक के विषका टीका लगाया गया। पर उसे कुछ न हुआ। टीके की विश्वसनीयता पर मुहर लग गयी।

टीका चल निकला। आज उसका जैसा प्रचार है, वह सर्व विदित है। कम महापुरुषों को अपने जीवनकाल में ऐसी प्रसिद्धि मिली होगी जैसी जेनर को। रूस में जिस बच्चे को पहले-पहल टीका लगाया गया उसका धार्मिक नाम रखा गया—'वेक्सीनोव' (वेक्सीन गो-मसूरिका का विष)। सरकार से १८०१ में जेनर को दस हजार पाउण्ड पुरस्कार मिला। १८०६ में उसे दुबारा बीस हजार पाउण्ड मिले।

मानव-कुल को टीके से कितना लाभ हुआ है इस विषय का संक्षिप्त निरूपण कर के हम यह प्रकरण समाप्त करेंगे। दिये गये अंक बर्क के 'मेनेजमेंट एण्ड मेडीकल ट्रीटमेंट आव चिल्ड्रेन इन इण्डिया' से लिये गये हैं। सन् १७९६ में (जिस वर्ष टीके का आविष्कार हुआ) मसूरिका के कारण हुई मृत्युएँ अन्य सब रोगों से हुई मृत्युओं से १८ प्रतिशत अधिक थीं। मसूरिका के प्रति चार रोगियों में एक की मृत्यु हुई। सम्पूर्ण अन्धों में आधों का कारण मसूरिका थी।

१७६१ से १७७० तक दस वर्षों में—अर्थात् टीके के आविष्कार के पूर्व—१००० मृत्युओं में १०८ मसूरिका के कारण हुईं; जब कि १८५१ से १८६० तक दस वर्षों में—अर्थात् टीके के प्रचार के पश्चात् —१००० मृत्युओं में चेचक के कारण केवल ११ मृत्युएँ हुईं। बर्लिन में टीके के प्रचार के पूर्व प्रति दस लाख मानवों में ३४२२ मसूरिका से मरते थे। टीके के प्रचार के बाद यह संख्या १७६ ही रह गयी।

'लेन्सेट' कहता है कि 'लीसेस्टर' में मसूरिका के २८१ रोगियों में १२६ को टीका नहीं लगा था। इन १२६ में ८३ दस वर्ष से कम वय के थे, जिनमें ९ रोगवश मर गए। इसके विपरीत दस वर्ष से अल्प वय के जिन बच्चों को टीका लगा था उनमें एक को भी मसूरिका न हुई; और बड़ी वय के जिन टीके-

वाले पुरुषों को मसूरिका हुई उनमें एक की भी मृत्यु नहीं हुई।

प्रिवी कौंसिल के मेडिकल आफिसर की निम्न रिपोर्ट से मसूरिका के टीके की विश्वसनीयता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—

मसूरिका के रोगी	प्रति सौ रोगियों में मृत्यु संख्या
१. बिना टीके के	३५
२. जिनके टीका हुआ बताया गया, पर चिह्न नहीं-पाये गये—अर्थात् अपूर्ण टीके वाले	२३.५७
३. एक चिह्न वाले	७.७३
४. दो चिह्नों वाले	४.७०
५. तीन चिह्नों वाले	१.९५
६. चार चिह्नों वाले	०.५५

इससे स्पष्ट है कि सफल टीकोंकी संख्या जितनी अधिक होगी, मनुष्य चेचक से उतना ही रक्षित रहेगा।

आजकल कभी-कभी टीके के विरुद्ध आवाज सुनने में आती है। विषयान्तर और विस्तार के भय से मैं इस संबन्ध में विवाद में न उतरूँगा। इतना अवश्य कहूंगा कि जब तक उक्त तथा अन्य अङ्क साक्षी हैं, तथा जब तक टीके से अधिक विश्वस्त उपचार हाथ नहीं आता तब तक चिकित्सक-जगत किसी अधिकारी या अनधिकारी की टीके के विरुद्ध एक बात भी सुनने को तय्यार नहीं।

जिन्हें विवादास्पद विषयों का निर्णय प्राचीन वचनों किंवा प्रथाओं के आधार पर करना रुचिकर हो उनके लिये इस विषय में पर्याप्त सामग्री है। १२ जनवरी १८१६ के 'मद्रास कूरिअर'[1] में धन्वन्तरि-कृत 'शाक्तेय' नामक ग्रन्थ से निम्न पद्य उद्धृत किये गये हैं—

धेनुस्तन्यमसूरी वा नराणां च मसूरिका।
शस्त्रेणोत्कृत्य तत्पूयं बाहुमूलेऽवचारयेत्॥
तत्पूयं रक्तमिलितं स्फोटज्वरकरं भवेत्॥

—अर्थात् गो-मसूरिका या मानव-मसूरिकाके दानों से लसीका लें। दूसरी ओर शस्त्र द्वारा स्वस्थ पुरुष के बाहु-मूल में पछने करके वह लसीका उस पर छोड़ दें। यह लसीका रक्त में मिलने पर मसूरिका-ज्वर उत्पन्न करती है।

'मद्रास कूरिअर' में प्रकाशित होने के पूर्व गैरीसन[1] ने ये पद्य अपने 'एन इन्ट्रोडक्शन टु धी हिस्ट्री आव मेडिसिन' में उद्धृत किये हैं। कुछ भेद से वे पद्य शब्दकल्पद्रुम तथा विनोदलाल सेन कृत 'आयुर्वेद-विज्ञान' में भी आये हैं। डा० धीरेन्द्र नाथ बनर्जी[2] ने अपने एक लेख में लिखा है कि

१—Madras Courior.

१—Garrison F. H.

२—डा० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी M. B. (कलकत्ता) M. D. (बर्लिन), आयुर्वेद भूषण, प्रोफेसर आव पैथोलाजी कार्माइकेल मेडिकल कालेज, कलकत्ता। आप आयुर्वेद के प्रखर अभ्यासी हैं। अभ्यास के परिणाम-स्वरूप आपके प्रबन्ध अङ्गरेजी पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः प्रकाशित होते हैं। लेख का यह प्रकरण आप के ही एक लेख से लिया है। —लेखक

भारत में सर्वत्र, कुछ ही दशक पूर्व मसूरिका के छिछड़ों का चूर्ण पुरुष की त्वचा या नासिका की श्लेष्म-कला में पछने द्वारा संक्रान्त करने की पद्धति सुप्रचलित थी।

डा० बनर्जी ने[1] आगे इसी लेख में इस विषय का अन्य एक प्रमाण उद्धृत किया है। 'मद्रास कूरिअर' में १८१९ में उक्त पद्य प्रकाशित होने के काफी पूर्व की घटना है। १७६७ में बंगाल के विजय के कुछ ही काल पीछे, बंगाल के एक गवर्नर हालवेल[2] ने लन्दन के 'रायल कालेज आव फिज़िशन्स' के समक्ष एक निबन्ध पढ़ा था। इसका विषय था—पूर्व भारत में मसूरिका के टीके की पद्धति। इस लेख में हालवेल ने तात्कालिक ब्राह्मणों द्वारा किये जाने वाले टीके का विशद विवरण दिया है। वह लिखता है—टीका पुरुषों की कलाई और कोहनी के मध्य में तथा स्त्रियों के कन्धे और कोहनी के मध्य में किया जाता था। लोहे या फौलाद के शस्त्र से पन्द्रह-सोलह मिनट पछना करके, एक वर्ष पूर्व मसूरिका के दानों के द्रव से भावित चिथड़ा इन पछनों पर कोई छह घंटों के लिए रखा जाता था। व्रण पर गङ्गाजल भी छिड़का जाता था। प्रारम्भ में इस स्थान पर सात-आठ मिनट सूखी मालिश की जाती थी[3]।

प्राच्य-पाश्चात्य उभय पद्धतियों से टीके का समर्थन होने पर भी अन्य उपचारों का भी विचार किया जा सकता है। प्राचीन ग्रन्थों में मसूरिका की उत्पत्ति रोकने के लिये तथा उत्पत्ति के पश्चात् चिकित्सा रूप में अनेक उपचार लिखे हैं। एक-दो यहाँ दिये जाते हैं।—

आयुर्वेद-मार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा प्रकाशित आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला (अब अस्त) में एक भोज महाराज कृत 'राज मार्तण्ड' है। यह अनुभूत योगों का उत्तम संग्रह प्रतीत होता है। इसमें एक पद्य है—

> चिञ्चादलेन सहितां रजनीं प्रपिष्य,
> ये शीतलेन सलिलेन सकृत् पिबन्ति।
> तेषां भवन्ति नहि शीतलिकाः शरीरे,
> कार्यं त्विदं प्रथममेव तदुद्भवेऽपि।

—अर्थात् जो पुरुष इमली के पत्तों के साथ हलदी का कल्क बना एक बार शीतल जल के अनुपान से उसका पान करें उनके शरीर में मसूरिका नहीं होती। मसूरिका हो जाय तब भी तत्काल यही उपचार करना चाहिये।

एक प्राचीन गुरु-प्रदत्त श्लोक है—

> रुद्राक्षं मरिचैर्युक्तं पीतं पर्युषिताम्भसा।
> त्र्यहात् पापरुजं हन्ति दृष्टं वार सहस्रशः॥

—रुद्राक्ष और काली मिर्च बासी पानी के साथ पिये तो तीन दिन में मसूरिका नष्ट हो। यह सहस्रों बार अनुभूत है।

इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित वैद्य कालीदास कृत वैद्यमनोरमा ने भी मसूरिका उत्पन्न होने पर प्रातःकाल गो दुग्ध सहित रुद्राक्ष के सेवन को तत्काल मसूरिका-शामक बताया है। इन तथा अन्य ग्रन्थों में आभ्यन्तर और बाह्य अन्य उपचार भी लिखे हैं। चिकित्सक महानुभाव अवसर मिलने पर परीक्षा द्वारा इनकी सत्यासत्यता का निर्णय करें तथा अपना अनुभव प्रकट करें।

इस ओर सूरत में मसूरिका, खसरा (रोमान्तिका) या चिकन-पाक्स (गुजराती में अछबड़ा) की छूत के दिनों में लोग रोग की उत्पत्ति के पूर्व और पीछे जंगली केले के बीजों का आभ्यन्तर उपयोग करते हैं। परिणाम अन्वेषणीय है।

१—डा० बनर्जी के विद्वत्तापूर्ण लेखों का लाभ शीघ्र ही "सचित्र आयुर्वेद" के वाचकों को मिले, इसके लिए हम प्रयत्नवान हैं। —स० संपादक

२—Hol well.

३—स्मरण रहे यह लेख पढ़ा गया १७६७ में और जेनर ने पहला टीका लगाया १७९६ में।

अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान के १२ वें अध्याय में—

'वाहट' क्या कहता है

विद्वद्रत्न के० एल० दफ्तरी बी० ए०, एल० एल० बी०, डि० लिट्

भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् जहाँ एक ओर आयुर्वेद-पुनरुत्थान के आन्दोलन को विशेष प्रगति प्राप्त हुई है वहाँ दूसरी ओर सर्व वैद्यक पद्धतियों का समन्वय करके 'एक राष्ट्रीय पद्धति' निर्माण करने का भी आन्दोलन द्रुतगति से चल रहा है। नागपुर ही में समन्वय की प्रथम बैठक हुई, और 'भारतीय समन्वय समिति' इस कार्य को सफल बनाने में यत्नशील है। ऐसे समय में आयुर्वेद के सच्चे स्वरूप (रहस्य) का स्पष्ट होना आवश्यक है। यहाँ उसी पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है।

आयुर्वेद का रहस्य किस ग्रन्थ से स्पष्ट होगा ?

पहले इसी पर विचार करें। आयुर्वेद का इतिहास जो आज आयुर्वेद ग्रन्थों से उपलब्ध है, वह निम्न प्रकार है—

ब्रह्मा
|
प्रजापति
|
इन्द्र
|
आत्रेय-पुनर्वसु
|
अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पाराशर, हारीत, क्षीरपाणि

इस प्रकार की यह शिष्य परंपरा है। अन्तिम ६ शिष्यों ने इसे स्वतन्त्ररूपेण लेखबद्ध किया। विद्यार्थियों को इनकी अलग-अलग संहिताओं के अध्ययन के श्रम से बचाने के लिये 'वाहट'* ने अष्टांगसंग्रह नामक गद्य पद्यात्मक (जिनमें उपरोक्त छै संहिताओं का समावेश है) संग्रह तैयार किया। इसी अष्टांगसंग्रह का पद्यात्मक सार अष्टांगहृदय के नाम से 'वाग्भट' नामक लेखक ने तैयार किया; जिसका आजकल विद्यार्थी अध्ययन कर रहे हैं। आयुर्वेद की ६ संहिताओं में से केवल अग्निवेशसंहिता आज प्रसिद्ध है। अन्य संहिताएँ आज उपलब्ध भी होंगी तो सरल-साध्य नहीं हैं। अग्निवेशसंहिता भी आज मूलरूप में प्राप्त नहीं है, उस पर भी चरक व दृढ़बल ने संस्कार किये हैं। वाहट ने इन छै संहिताओं के अर्थ का संग्रह किया और उस के बाद के ग्रन्थों में इसी के अनुवाद किये गये हैं। उपरोक्त इतिहास को देखने पर यह मानना होगा कि आयुर्वेद का मुख्य प्रामाणिक ग्रन्थ वाहट का अष्टांगसंग्रह है और उसी के आधार पर आयुर्वेद के रहस्य के ज्ञान की निश्चितता आज भी स्थिर की जा सकती है। चरक संहिता का भी आवश्यकतानुसार उपयोग किया गया है, कारण 'वाहट' के अनेक वचनों का मूल चरक ही में मिलता है।

* 'अष्टांग संग्रह' के रचयिता को 'वृद्ध वाग्भट' कहते हैं, लेकिन 'इन्दु' टीकाकार ने इसे "वाहट" कहा है, उसी के अनुसार हमने भी इसे 'वाहट' कहा है। हमारे मत से 'अष्टांगहृदय' के कर्त्ता वाग्भट से 'वाहट' भिन्न व्यक्ति हैं।

दो बातों की ओर विशेष ध्यान देना होगा

इस रहस्य को समझने के लिये हमें दो बातों की ओर विशेष ध्यान देना होगा। -

(१) भाषा कई बार निश्चित अर्थबोध के लिये असमर्थ सिद्ध होती है। इसीलिये उपनिषदों के अनेक अर्थ आचार्यों ने किये हैं। भाषा का अर्थ अनिश्चित हो या अनेक-अर्थकारी हो, लेकिन जो प्रत्यक्ष अनुभव से मेल खाने वाले हों उसीको ग्राह्य मानना चाहिये। कारण भारत के जिन महर्षियों ने तत्त्व-ज्ञान में जीवब्रह्मैक्य और सर्वजीवैक्य तक माना है उसी भारत के दूसरे महर्षियों ने वैद्यक में प्रत्यक्ष अनुभव न प्राप्त करके ही योग्य सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया होगा, यह मान लेना तो भयंकर भूल होगी। इसलिये उनकी भाषा के अनुभव से सिद्ध होने वाले सिद्धान्तों के समतुल्य अधिक सरल जो अर्थ निकल सकते हैं उन्हें ही ग्रहण करना चाहिये।

(२) आयुर्वेद में चिकित्सा के सामान्य तत्वों के साथ औषधियों का भी वर्णन है, इन दोनों में अगर विरोध है तो उसके प्रमाण क्या हैं यह एक प्रश्न है ? पहला प्रश्न हल करने के लिये तो अनुभव की कसौटी लगाई जा सकती है, परन्तु दूसरे के लिये तो नहीं लगाई जा सकती, कारण वहां अर्थ के सम्बन्ध में शंका थी, वह यहां नहीं है। विरुद्ध वचनों के अर्थ निश्चित हैं, और इन विरुद्ध वचनोंमें से आयुर्वेद का तत्त्व-ज्ञान स्पष्ट करने के लिये कौन से प्रमाण वचन हैं, यह भी प्रश्न है ? इनका यही उत्तर है कि चिकित्सा का सामान्यतत्त्व स्पष्ट करने वाले वचनों को प्रमाण मानना चाहिये। इनमें वर्णित प्रयोगों के आधार पर ही आज हम चिकित्सा के सामान्य-तत्त्व स्पष्ट समझ सकते हैं औषधि-प्रयोग व सामान्य चिकित्सा-तत्वों में जो विरोध हमें दिखाई देता है, वह उस समय अल्पानुभव या अभावाभाव से स्पष्ट नहीं हुआ था, यह आक्षेप, विरोधक की भूमिका स्वीकार करके तो हम कर सकते है, इन सब शंकाओं का समाधान उनके सामान्य-तत्त्वों को प्रमाण मानने से ही हो सकेगा। वह इस प्रकार है—

वाहट के १२ वें अध्याय का मुख्य भाग

'द्विविधमौषधं। ऊर्ध्वोत्करं रोगघ्नं च। रोगघ्नमपि द्विविधं। प्रशमनं अपुनर्भवकरं च। पुनरपि च त्रिविधम्। दैवव्यपाश्रयम् युक्तिव्यपाश्रयम् सत्वावजयश्चेति। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमंगलबल्युपहारहोमनियमं प्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिधानगमनादीनि। युक्तिव्यपाश्रयं आहारौषधयोजनादि। सत्वावजयः पुनरहितान्मनोनिग्रहः। पुनरपि च त्रिविधम्। अपकर्षणं प्रकृतिविघातो निदानत्यागश्च। ते पुनरपकर्षणादयो द्विविधाः बाह्याभ्यन्तरभेदेन। तत्र बाह्यं ग्रन्थ्यर्बुदोपपक्ष्मक्रिमिशल्यादिषुशस्त्रहस्तयन्त्रादिभिः। आभ्यन्तरम् पुनर्वमनविरेचनादिभिः। प्रकृतिविघातः संशमनं तद्बाह्यं अभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोपमर्दनादि। आभ्यन्तरम् यदन्तरमनुप्रविश्याविक्षोभयत् दोषान् शमयति। निदानत्यागो यथादोषं शीतोष्णाशनव्यायामदीनां वर्जनम्। स्निग्धरूक्षाद्यनभ्यवहारश्च। पुनरपि त्रिविधं हेतुविपरीतं व्याधिविपरीतं उभयार्थकारि च। तत्र हेतुविपरीतं गुरुस्निग्धशीतादिजे व्याधौ लघुरूक्षोष्णादि। तथेतरस्मिन्नितरत् व्याधिविपरीतं द्वौ मूलोपक्रमौ लंघनबृंहणे पंचकर्माणि वमनादीनि सद्यमधूपाजनादीनि च तथा विम्लापनोपनाहनपाटनादीनि च। यच्च दोषशमनत्वे सत्यपि ज्वरे, विशेषतो हितं मुस्तापर्पटकं यवाग्वश्च प्रमेहे रजनी यवान्नं चेत्यादि। रक्तपित्ते चोर्ध्वगे विरेचनं अधोगे वमनम्। उभयार्थकारि पुनर्दैवव्यपाश्रयमौषधम्। तथा छर्द्याम् छर्दनं अतिसारे विरेचनं मदात्यये मद्यपानं चुल्थदग्धे अग्निप्रतपनं पित्तेऽतिनिगूढे विमार्गगे वा स्वेदः कट्वम्ललवणतीक्ष्णाभ्यवहारश्च बहिः प्रवर्तनाय स्वमार्गोपादनाय च। श्लेष्मणि वातनिर्यूहे स्तब्धे बहिः शीतोपचारः तत्पीडितस्योष्मणोऽन्तःप्रवेशेन कफो विलयतामुपयाति। एवं विषस्य विपरीतमेव सत् भेषजं हेत्वव्याधिविपरीतं अर्थं करोति।"

इन्दुटीका का मुख्य भाग

'वाहट' के ग्रन्थ पर इन्दु की टीका है, उस टीका का मुख्य भाग यहाँ दिया जाता है।

तत्र "दैवव्यपाश्रयं यत् पाप्मस्योपघातकत्वेनैव जठराग्निसंयोगेन विना धातुसाम्यकरं मन्त्रौषध्यादि। अत्रौषधीनां धारणमेवाभिप्रेतम् ...।...।...। तत्र हेतुविपरीतम् यत् व्याधिविशेषाविवक्षायां व्याधिजनकदोषकारणविपरीतगुणं। यथा विपरीतस्य गुर्वादिगुणयुक्तद्रव्यजेव्याधौ लघ्वादि गुणं औषधम्। उभयार्थकारी यद् उभयस्य हेतुव्याधि विपरीतस्य च सम्बन्धिनमय रोगोपशमलक्षणं एतद् गुणमपि करोति। तच्च दैवव्यपाश्रयमणिमंत्रादिकृतम्॥ तया रोगस्वभावादविपरीतस्वरूपमपि यद्रोगोपशमनं करोति तदुभयार्थकारी। यथा छर्द्यां तत्स्वरूपमेववमनम् एवमपि स्वबुद्धया विकल्प्यम्'....। एवमनेन प्रकारेण रोगादविपरीतमपि विपरीतार्थरोगस्य नाशनं करोति।

पुनर्भवकर और अपुनर्भवकर औषधियां

उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रोगघ्न औषधियों के दो प्रकार हैं। एक प्रशमन व दूसरा अपुनर्भवकर। अपुनर्भवकर का अर्थ है रोगघ्न या रोग को पुनः उत्पन्न न होने देनेवाले। औषधियों के दो वर्ग करके एक को अपुनर्भवकर, दूसरे को पुनर्भवकर (प्रशमन) कहने पर इसका यही अर्थ होता है कि रोग प्रशमन करके पुनः रोग को उत्पन्न करे। इस अर्थ (अनुमान) को सिद्ध करने वाला अनुभव भी हमें मिलता है। रेचक या सारक से मलबद्धता तत्काल नष्ट अवश्य हो जाती है परन्तु फिर होती है। अफीम से निद्रानाश या अतिसार का प्रथम शमन किया जा सकता है परन्तु वह फिर हो सकता है। शीतजलोपचार से ज्वर का शमन हो जाता है परन्तु पुनः होता है। यह अनुभव हमारे पूर्व महर्षियों के भी थे और उसे उन्होंने स्पष्ट भी किया है।*

वाहट का दूसरा वर्गीकरण

रोगघ्न औषधियों का वाहट ने एक दूसरा वर्गीकरण हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत और उभयार्थकारी ऐसे ३ वर्गों में किया है। यहाँ चिकित्सा के तीन स्वरूप और व्याधि पर विचार करें। 'हेतुविपरीत का अर्थ कोई करेगा—रोग के कारण का त्याग, उदाहरण अम्ल से खाँसी होने पर अम्ल-सेवन का त्याग। यह अर्थ ठीक नहीं है। 'वाहट' ने भी एक ही वाक्य में निदानत्याग का उदाहरण दिया है। रोग के कारण का त्याग निदान त्याग ही है, और रोग के कारणों के विपरीत उपचार करना हेतुविपरीत चिकित्सा है। उदाहरणस्वरूप शीतजल के कारण खाँसी होने पर उष्ण जल का सेवन, हेतुविपरीत चिकित्सा है। 'गुरुस्निग्धशीतादिजे व्याधौ लघुरूक्षोष्णादि'—वाहट का यह उदाहरण स्पष्ट ही है।

*सुश्रुत ज्वर चिकित्सा में—
भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्।
शोधनं शमनीयं च करोति विषमज्वरम्॥
उत्तर तन्त्र अ० ३९ श्लोक १२१-१२२

चरक कहते हैं—
स्तम्भ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम्।
दोषाबद्धाः कषायेण स्तंभित्वा तरुणे ज्वरे॥१५६

भावार्थ :—आमज्वर में औषध यानी शोधन (या अशमनीय यानी अपुनर्भवकर) देने पर ज्वर बढ़ता है परन्तु शोधन या शमन औषध देने पर विषमज्वर उत्पन्न करता है, अर्थात पहले ज्वर कम करके फिर बढ़ाता है।

नवीन ज्वर में कषाय औषध से (.बद्धाः) वहन करने वाले दोष स्तब्ध हो जाते हैं अर्थात् शरीर के बाहर नहीं जाते हैं, वे पक्व नहीं होते हैं और विषमज्वर यानी पहले कम करके फिर ज्वर को उत्पन्न करते हैं। (चरक)

यह भी गलत है

कुछ कहते हैं कि सर्वरोगों का कारण दोष है, इसलिये हेतुविपरीत का अर्थ दोषविपरीत है। यह गलत है, कारण, सभी रोगों का कारण दोष है, फिर भी दोष का कारण 'विविध अहितकर कार्य का सेवन, है। निदान स्थान अध्याय १ में भी 'तत्र निदानं वाय्वादि प्रकोपः। तस्य पुनरहिताहारविहार सेवा' इस वचन में वाहट ने भी यही स्पष्ट किया है। इस लिये हेतुविपरीत में 'हेतु' शब्द का अर्थ 'दोष' न लेकर 'अहितकर आहार-विहारादि' यही अर्थ ग्राह्य होगा। इन्दु अपनी टीका में 'व्याधिजनक-दोषकारणविपरीतगुणं' इन शब्दों में भी यही स्वीकार करता है जो ऊपर लिखित वाहट के उदाहरणों से मेल खाता है।

हेतुविपरीत चिकित्सा

अब हेतुविपरीत चिकित्सा की व्याप्ति देखें। सदा हेतुविपरीत चिकित्सा नहीं की जा सकेगी, कारण, कई बार हेतुविपरीत चिकित्सा करना कठिन हो जाता है। शीत के विपरीत उष्ण हम दे सकते हैं, परन्तु अम्ल के विपरीत कडुवा, मीठा, खारा या कसैला क्या निश्चित करें नहीं कहा जा सकता है। इस स्थिति में हेतुविपरीत चिकित्सा नहीं हो सकती है।

व्याधिविपरीत चिकित्सा

अब व्याधिविपरीत चिकित्सा पर विचार करें। उपचर्य व्याधि के विपरीत व्याधि उत्पन्न करने वाली चिकित्सा को व्याधिविपरीत चिकित्सा कहना ही इसका शब्दशः अर्थ है। उदाहरण-मलबद्धता पर रेचक या अतिसार पर स्तंभक या निद्रा-नाश पर निद्राकारी अफीम जैसी औषधियों का उपयोग। परन्तु वाहट ने जो उदाहरण दिये हैं उन से कुछ यह भिन्न प्रकार का है। उदाहरण-रक्तस्राव की अवस्था में विरेचन देना व अधोरक्तस्राव में वमन देना। ऊपर जैसा कहा गया है कि व्याधि-हेतु के विपरीत हेतु की कल्पना, जिस प्रकार कहीं कहीं नहीं की जा सकती है, उसी प्रकार व्याधि-विपरीत व्याधि की कल्पना भी कई बार नहीं की जा सकती है; उदाहरण-रक्तस्राव, खाज, दुःख, लालिमा, हरापन, श्वेतता, कडुवापन, मीठापन, खांसी, हिक्का वमन इत्यादि पर विपरीत क्या है? नहीं है, यह ध्यान में रखने योग्य है।

विपरीत कल्पना नहीं की जा सकती है

मलस्तंभ के विपरीत अतिसार या निद्राल्पता के विपरीत निद्राधिक्य,इसी प्रकार रक्तस्राव,वमन या खाज के विपरीत क्या होगा, यह कल्पना करना भी कठिन है, इस अवस्था में व्याधि विपरीत चिकित्सा किस प्रकार की जायगी? इस पर वाहट का उत्तर है कि दूसरा रोग उत्पन्न करनेवाली औषधि देनी चाहिये। जिस प्रकार जब रक्तस्राव व खाज के विपरीत कल्पना नहीं की जा सकती है, तब पंचकर्मान्तर्भूत रेचक या वामक औषधि देनी चाहिये, और इस प्रकार की औषधियों को भी वाहट व्याधिविपरीत औषध मानता है। परन्तु उन्हें व्याधिविपरीत औषध न कहकर दूसरा नाम देना होगा।

यह उभयार्थकारी या सम-चिकित्सा है

उपचर्य व्याधि के समान व्याधि उत्पन्न करने वाली औषधि उभयार्थकारी या सम-चिकित्सा है; उपचर्य व्याधि से अन्य रोग उत्पन्न करने वाली औषध उस व्याधि के विपरीत होगी या नहीं भी होगी; अतः प्रथम को विपरीत चिकित्सा कहें तथा दूसरी को विषम-चिकित्सा। उदाहरण-ज्वर में ज्वर कारक औषध उभयार्थकारी या सम-चिकित्सा है। शरीर में शीतलता पहुंचाने वाली बर्फ या जल, यह

व्याधि-विपरीत चिकित्सा वस्तुतः व्याधिविपरीत से भिन्न है—तथापि वाहट ने इसे व्याधिविपरीत चिकित्सा के अन्तर्गत ही लिया है।

अन्य रोगों के दो प्रकार हैं, विपरीत और विषम

फिर भी विपरीत में ही विषम का अन्तर्भाव किया गया है। यह उसके ही उदाहरण से स्पष्ट है, अर्थात् उसके मत से विपरीत यानी 'अन्य' और 'अन्य' शब्द पर सूत्रस्थान अ. २३ में 'संशमनानि तु' का उपयोग किया गया है। इसका अर्थ 'विपरीत' और 'विषम' है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वाहट द्वारा अभिप्रेत विपरीत चिकित्सा हमेशा की जा सकती है।

उभयार्थकारी चिकित्सा

पर भी विचार करें, वाहट के उदाहरण 'छर्द्यां छर्दनं अतिसारे विरेचनं'—वमन में वामक और अतिसार में अतिसारक का उपयोग करना चाहिये। इन्दुटीकामें भी कहा है—'एवमपि स्वबुद्ध्या विकल्प्य' यानी स्वबुद्धि से योजना करे; ज्वर पर ज्वरकारी, खाज पर खाजकर योजना करे; तो रोगनाश होगा यह वाहट और इन्दु दोनों मानते हैं। यह उभयार्थकारी या सम-चिकित्सा जिसे 'होमियोपैथी (Homeopathy) कहते हैं वह इसी प्रकार की है। समरोग की कल्पना नहीं करनी पड़ती है; वह तो होती है, इसीलिये सम-चिकित्सा सदा की जा सकती है।

अपुनर्भवकर चिकित्सा ही सच्ची चिकित्सा है

इस वर्गीकरण के हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत और उभयार्थकारी चिकित्सा के स्वरूप व व्याप्ति का स्पष्टीकरण हो जाने पर यह प्रश्न शेष रह जाता है कि पहिले जो वर्गीकरण किया गया है उससे इसका क्या संबन्ध है? क्या उभयार्थकारी औषध अपुनर्भवकर है या प्रशमन? उसी प्रकार हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत व उभयार्थकारी इन तीन चिकित्साओं में से कोई तो अपुनर्भवकर और कोई पुनर्भवकर होना चाहिये। अब इनमें कौन सी क्या है? यह प्रश्न अति महत्त्व का है। कारण, अपुनर्भवकर चिकित्सा श्रेष्ठ व सच्ची चिकित्सा है। आयुर्वेद में इस प्रश्न का उत्तर अगर नहीं है, तो हमें अनुभव के आधार पर निश्चित करना होगा; परन्तु वाहट ने इसका भी उत्तर सूत्रस्थान अ० २३ में 'संशमनानि तु व्याधिबलाधिकानि तु प्रशमय्य व्याधिं व्याधिक्षपितदेहे शीघ्रमन्यमावहन्ति। शरीरबलाधिकानि ग्लानिमूर्च्छामदमोहबलक्षयान्। अग्निबलादधिकानिग्लानिमभिसादञ्च।'

अर्थ - संशमन को ही ऊपर प्रशमन कहा है। 'शम' धातु का मूल अर्थ है रोगनाशक; कुछ काल के लिये रोग का नाश होना या सदा के लिये रोग नाश होना—ये दोनों प्रकार के अर्थ ले सकते हैं। इससे पुनर्भवकर शमन या अपुनर्भवकर शमन यह दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं। आयुर्वेद-ग्रन्थों में 'शम' धातु व उससे उत्पन्न होनेवाले शब्द, दोनों अर्थों को ग्रहण किया गया है, जिससे पुनर्भवकर शमन या अपुनर्भवकर शमन इन दोनों ही अर्थों का समावेश इस में हो जाता है। वाहट के 'प्रशमनं अपुनर्भवकरं च' इस वाक्य में 'प्रशमन' का पहला अर्थ ग्राह्य है। 'शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा'—इस प्रथम अध्याय के वाक्य में वाहट ने 'शमन' शब्द का दूसरा अर्थ स्वीकार किया है। विचार्य वचन में संशमन शब्द औषधि के किसी वर्ग को ही संबोधित किया गया है, यह स्पष्ट है; इसलिये वर्गीकरण के १२ वें अध्याय में जिन वर्गों का वर्गीकरण किया गया है, उन्हीं में से यह होना चाहिये। 'प्रशमनं अपुनर्भवकरं च' इस वाक्य में 'प्रशमन' शब्द ही होना चाहिये।

(क्रमशः)

मूढगर्भ-चिकित्सा

वैद्य दामोदर शर्मा गौड़, आयुर्वेदाचार्य, ए० एम० एस

(विगत—दिसम्बर के अङ्क से आगे)

(१) "तस्य गर्भशल्यस्य जरायुपातनकर्म संशमनमित्येके, मन्त्रादिकर्माथर्ववेदविहितमित्येके, परिदृष्टकर्मणा शल्यहर्त्रा हरणमित्येके" —च० शा० ८।

[आशुकारित्वात् प्रत्यक्षोपायत्वाच्च शल्यहर्त्रा हरणमेवात्र प्रधानम्]

(२) "नातः कष्टतममस्ति यथा मूढगर्भशल्योद्धरणम्, अत्र हि योनियकृत्प्लीहान्त्रगर्भाशयानां मध्ये कर्म[1] कर्त्तव्यं स्पर्शेन, उत्कर्षणापकर्षणस्थानापवर्त्तनोत्कर्त्तनभेदनच्छेदनपीडनर्जूकरणदारणानि चैकहस्तेन, गर्भं गर्भिणीं चाहिंसता, तस्मादधिपतिमापृच्छ्य परं च यत्नमास्थायोपक्रमेत्" —सु० चि० १५।

"तद्वियसहितस्तमुपक्रमेत्। अक्रियायां ध्रुवं मरणम्। उपक्रमे संशयः" इति सङ्ग्रहे विशेषः।"

(३) "अथ हस्तप्राप्यं शल्यं हस्तेनाहरेत्। तदशक्यं यथायथं यन्त्रेण। तथाप्यशक्यं शस्त्रेण विशस्य...।" —संग्रह सू० ३७।

तथा च द्विविधा शल्यक्रिया फलिता, यन्त्रकृत शस्त्रकृता चेति। तत्र यन्त्रक्रियायामुत्कर्षणापकर्षणस्थानापवर्त्तनपीडनर्जूकरणानि शस्त्रक्रियायाञ्चोत्कर्त्तनभेदनच्छेदनदारणानि प्रयुज्यन्ते।

असम्यगागतमूढगर्भोपक्रमः

[क] "तस्मात्तत्संगे सूत्यः प्रयतेरन्। त्रिविधस्तु संगो भवति, शिरस्यंसे जघने वा"। —संग्रह शा० ४।

"स्वभावगता अपि त्रयः संगा भवन्ति, शिरसो वैगुण्यादंसयोर्जघनस्य वा। जीवति तु गर्भे सूतिका गर्भनिर्हरणे प्रयतेत।" —सु० चि० १५।

[प्रयतेत=नानाविधैः प्रसवोपक्रमोक्त नस्यधूमजृम्भणचंक्रमणप्रवाहणोत्कटुकासनादिभिरुपायैर्यतेत]

[ख] "निहर्तुमशक्येच्यावनान् मन्त्रानुपश्रृणुयात् तान् वक्ष्यामः—

इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि।
उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते॥

इदममृतमपां समुद्धृतं वै,
तव लघु गर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्रि।
तदनलपवनार्कवासवास्ते,
सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम्॥

मुक्ताः पशोर्विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येण रश्मयः।
मुक्तः सर्वभयाद्गर्भ एह्येहि विरमावितः॥

—सु० चि० १५।

क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः।
सगर्भां त्वां सदा पातु वैशल्यं वा दधात्वपि॥
प्रसुष्व त्वमविक्लिष्टमविक्लिष्टा शुभानने।
कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिकेयादिरक्षितम्॥ इति

संग्रह शा० ३।

[ग] "औषधानि च विदध्याद् यथोक्तानि"। —सु० चि० १५।

[यथोक्तानि=अपरापातनोदितानि, यानीह प्रसवोप-

---

(१) कर्म कर्त्तव्यं स्पर्शेन=स्पर्शदोषस्य च सङ्क्रमणजनकत्वेन कष्टतमत्वं व्यक्तम्। उत्कर्षणादीनि—तत्र उत्कर्षणम्=उत्पीडनम् अधोगतस्योर्ध्वीकरणम् (Pushing up) अपकर्षणम्=ऊर्ध्वगतस्याध कर्षणम् (Traction), स्थानापवर्त्तनम्=स्थानव्यावर्त्तनम् उत्तानस्यावाङ्मुखीकरणम् अवाङ्मुखस्य चोत्तानीकरणम् (Version—Cephalic or podalic), उत्कर्त्तनम्=ऊर्ध्वस्य कस्यचिदङ्गस्य छेदनम्, भेदनम्=आध्मातस्य गर्भकुक्ष्यादेर्विदारणम् (Evisceration), छेदनम्=सक्तस्य तत्तदङ्गस्य छेदनम् (Division, cutting excision)पीडनम्=चम्पनम्, बलनम् (Compression, ऋजूकरणम्=कुटिलस्य सरलीकरणम्(c ptraightening) दारणम्=विदारणम् (Section or Incision)

क्रमे २८६, २६० पृष्ठयोर्दर्शितानि] वक्ष्यमाणाः सुखप्रसूति कृद्योगाश्चापि प्रयोज्याः।

[घ] "वृथाभूते[1] च—उत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या धन्वननगवृन्तिकाशाल्मलीमृत्स्नघृताभ्यां म्रक्षयित्वा हस्तं योनौ प्रवेश्य गर्भमुपहरेत्। तत्र—

१) सक्थिभ्यामागतमनुलोममेवाञ्छेत्[2]।

(२) एकसक्थ्ना प्रपन्नस्येतरसक्थि प्रसार्यापहरेत्।

(३) स्फिग्देशेनागतस्य स्फिग्देशं प्रपीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य सक्थिनी प्रसार्यापहरेत्।

(४) तिर्यगागतस्य परिघस्येव तिरश्चीनस्य पश्चादर्धमूर्ध्वमुत्क्षिप्य पूर्वार्ध[3]मपत्यपथं प्रत्यार्जवमानीयापहरेत्।

(५) पार्श्वापवृत्तशिरसमंसं प्रपीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य शिराऽपत्यपथमानीयापहरेत्।

(६) बाहुद्वयप्रतिपन्नस्योर्ध्वमुत्पीड्यांसौ शिरोऽनुलोममानीयापहरेत्।

(७-८) द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ। -सु० चि० १५।

[तौ मूढौ हस्तेनाहर्त्तुमशक्याविति शस्त्रमवचारयेत्—संग्रह शा० ४, विष्कम्भौ नाम तौ मूढौ शस्त्रदारणमर्हतः—वा० शा० १]

अनिरस्यमानमूढगर्भस्योपक्रमः

[ङ] "एवमशक्ये शस्त्रमवचारयेद्"[4]।

[१] तत्र स्त्रियमाश्वास्य मण्डलाग्रेणांगुलीशस्त्रेण वा शिरोविदार्य[5], शिरःकपालान्याहृत्य, शङ्कुना गृहीत्वा [चिबुके तालुनीति संग्रहेऽधिकम्] उरसि कक्षायां वापहरेत्, अभिन्ने शिरसि चाक्षिकूटे गण्डे वा।

[२] अंससंसक्तस्यांसदेशे बाहुं छित्वा।

[३] दृतिमिवाततं वातपूर्णोदरं वा विदार्य निरस्यान्त्राणि शिथिलीभूतमाहरेत्; जघनसक्तस्य वा जघनकपालानीति।"

—सु० चि० १५।

भवन्ति चात्र—

मण्डलाग्रेण कर्त्तव्यं छेदमन्तर्विजानता।
वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात्कदाचन॥
यद्यदङ्गं हि गर्भस्य तस्य सज्जति तद्भिषक्।
सम्यग्विनिर्हरेच्छित्वा रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥
सचेतनञ्च शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत्।
दार्यमाणो हि जननीमात्मानञ्चैव घातयेत्॥
अविषह्ये विकारे तु श्रेयो गर्भस्य पातनम्।
न गर्भिण्या विपर्यासः प्राप्तकालं न हापयेत्॥
नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पण्डितः।
स ह्याशु जननीं हन्ति निरुच्छ्वासं पशुं यथा॥

—सु० चि० १५।

[च] यथामार्गं दुराहरमन्यतोऽप्येवमाहरेत्"।

—संग्रह सू० ३७।

(१) बस्तिद्वारविपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि।
तत्क्षणाज्जन्मकाले तं पाटयित्वोद्धरेद्भिषक्॥

—सु० नि० ८।

अथ निर्हृतशल्याया उपचार विधिः

एवं निर्हृतशल्यां तु सिञ्चेदुष्णेन वारिणा।
ततोऽभ्यक्तशरीराया योनौ स्नेहं निधापयेत्॥
एवं मृद्वी भवेद् योनिस्तच्छूलं चोपशाम्यति।
कृष्णातन्मूलशुण्ठ्येलाहिङ्गुभार्गीः सदीप्यकाः।
वचामतिविषां रास्नां चव्यं सञ्चूर्ण्य पाययेत्॥
स्नेहेन दोषस्यन्दार्थं वेदनोपशमाय च।
क्वाथं चैषां तथा चूर्णं कल्कं वा स्नेहवर्जितम्॥

(क्रमशः)

---

(१) वृथाभूते=निष्फले मन्त्रौषधिव्यापारे। धन्वनोर्धनुर्वृक्षः, नगवृन्तिका शल्लकी, मृत्स्नं=पिच्छा।

(२) आञ्छेत्=आञ्छनमात्मादिक्कर्षणम्, सक्थिनी प्रसार्य तन्निर्हरेदिति।

(३) पूर्वार्धम्=शिरोभागः; आर्जवमानीय=ऋजुभावमानीय।

(४) Embryotomy (५) craniotomy—शिरोविदार्य =Perforation

मानसिक दुर्बलता और मानसिक रोग

प्रोफेसर लालजीराम शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०

मानसिक रोगों का प्रधान कारण मानसिक दुर्बलता है। मानसिक दुर्बलता की अवस्था में मनुष्य को किसी भी रोग का विचार जब एक बार आ जाता है तो वह प्रयत्न करने पर भी मन के बाहर नहीं निकलता। कभी-कभी किसी रोगी के बीमार होने की खबर सुनने मात्र से अथवा उसकी किसी विशेष प्रकार के रोग से मृत्यु हो जाने की चर्चा सुनकर मानसिक दुर्बलतावाले व्यक्ति को वही रोग हो जाता है जिसके बारे में वह वृत्तान्त सुनता है अथवा उसकी अपनी मृत्यु के बारे में कल्पनायें उठने लगती हैं। ये कल्पनाएँ इतनी प्रबल होती हैं कि वे वास्तविक रोग की उपस्थिति कर देती हैं। कभी-कभी रोग, कल्पना मात्र में ही रहता है परन्तु उससे रोगी को वैसी ही पीड़ा होती है जैसी वास्तविक रोग से।

लेखक के एक मित्र ने आज से तीन वर्ष पूर्व एक व्यक्ति के हृदय की गति रुक जाने के कारण मृत्यु हो जाने का समाचार सुना। इस समाचार के सुनते ही उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो हृदय की गति रुक रही है और उसके कारण उनकी मृत्यु हो रही है। उन्होंने अपने हृदय की परीक्षा कई जगह करायी। डाक्टरों की परीक्षा के परिणामस्वरूप उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका हृदय सामान्य अवस्था में है परन्तु इस प्रकार की परीक्षा से उनका रोग का भय न गया। उन्हें तीन वर्ष तक सदा यह भय बना रहा कि किसी समय भी हृदय की गति रुक जाने के कारण उनकी मृत्यु हो सकती है। उस भय के कारण उनके रुधिर में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया और रुधिर की कमी के कारण उनका चेहरा पीला पड़ गया। उनका शरीर दुर्बल हो गया। यदि कोई व्यक्ति उनसे यह कह देता कि इन्हें विशेष प्रकार की दुर्बलता हो गई है तो वे तुरन्त ही अपने आप में शक्ति-हीनता की अनुभूति करने लगते। उनके हृदयकी धड़कन बढ़ जाती थी। उनको प्रायः अनिद्रा की बीमारी हो जाया करती थी। बड़े प्रयत्न के द्वारा उन्हें नींद आती थी।

एक दूसरे मित्र को अचानक कई प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न हो गये। पहले इन्हें पेट का रोग उत्पन्न हुआ, फिर कुछ ज्वर हुआ, फिर हृदय की धड़कन हुई और इसके बाद अनिद्रा का रोग उन्हें तंग करने लगा। वे जब एक रोग की चिकित्सा करते तो दूसरा रोग उपस्थित हो जाता। कुछ समय तक एक प्रकार की चिकित्सा कराने के परिणामस्वरूप जब उनका एक प्रकार का रोग चला जाता तो दूसरे प्रकार का रोग उन्हें आ घेरता था। जिस समय वे अनुभव करने लगते थे कि वे पूर्ण स्वस्थ हैं उसी समय उन्हें दूसरा रोग हो जाता था। रोग की जैसे-जैसे चिकित्सा होती जाती थी रोग वैसे-वैसे बढ़ता जाता था।

एक तीसरे व्यक्ति को इस समय हृदय का रोग हो गया है। इसके भाई की मृत्यु भी इसी रोग से हुई। यह इस समय अपने रोग की भौतिक चिकित्सा करा रहा है। हृदय के रोग से पीड़ित व्यक्ति की मृत्यु का असाधारण भय होता है। ऐसे लोगों की मृत्यु भी अचानक हृदय की गति रुकने से होती है।

प्रत्येक प्रकार का मानसिक रोग शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है। ये शारीरिक रोग उस मानसिक विकार के प्रतीक होते हैं जिसके कारण मन में दुर्बलता आती है। कंजूस-धनी व्यक्तियों को प्रायः हृदय का रोग हो जाया करता है। जो दूसरे लोगों के हृदय पर आघात पहुँचाते हैं उनके हृदय पर आघात प्रकृति पहुँचाती है। अर्थात् वे कल्पना करने लगते हैं कि उनकी मृत्यु हृदय की गति रुक जाने से हो जायगी। जब इस कल्पना के कारण उसके भय की प्रबलता हो जाती है तो उसकी मृत्यु वास्तव में भी हो जाती है। पेट के रोग की कल्पना जिन लोगों को पीड़ा देती है उन लोगों में प्रायः अपने किसी पुराने मित्र के प्रति द्वेष भावना का उदय होता है। पुराने मित्र के प्रति द्वेष भावना उदय होते ही पेट के रोग की कल्पना भी होने लगती है। कभी-कभी ऐसे व्यक्ति को यह विचार भी आता है कि उसके पुराने मित्र ने उसे जहर दे दिया। विष के सन्देह के कारण इसका रोग अनेक प्रकार की औषधियाँ करने पर भी बना ही रहता है। किसी प्रकार की अशुभ भावना के प्रबल हो जानेपर मन निर्बल हो जाता है और फिर मानसिक रोग की उत्पत्ति हो जाती है। मानसिक रोग मानसिक विकार को निकालने का उपाय है।

लेखक को हाल ही में एक मानसिक रोगी की चिकित्सा करने का अवसर प्राप्त हुआ। इस रोगी को पहले पेट का रोग हुआ था और फिर दूसरे अन्य प्रकार के रोग होने लगे। इसके रोग का कारण खोजने पर दो बातों का ज्ञान हुआ। पहले तो रोग की उपस्थिति के कुछ दिन ही पूर्व उसके एक साले का देहान्त होगया था। जब इसका साला बीमार पड़ा था तब उसकी चिकित्सा कराने का भार इसी रोगी पर पड़ा था। सभी प्रकार की चिकित्सा होते रहनेपर भी उसका देहान्त हो ही गया। इस व्यक्ति के बच्चे नाबालिग थे और इसका लेन देन का व्यापार बहुत-सा फैला हुआ था। दिया हुआ रुपया वसूल करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बहुत से कर्जदार कर्ज देने वाले की अचानक मृत्यु से लाभ उठाकर रुपया खा गये। इस स्थिति ने उक्त व्यक्ति के मन में इस कल्पना को उत्पन्न किया कि यदि उसकी भी मृत्यु अचानक हो गई तो उसका भी धन इसी प्रकार बरबाद हो जायगा जिस प्रकार उसके साले का धन बरबाद हुआ। इस विचार के आते ही यह रोगी अपने सब कर्जदारों से कर्ज का दस्तावेज आदि लिखाने लगा। इसके थोड़े ही दिन बाद से रोग का प्रारम्भ हुआ।

रोगी के मन में अचानक यह भावना आई कि उसे उसके एक पुराने मित्र ने जिससे अब उसका लेनदेन के कारण वैमनस्य हो गया था, विष दे दिया है। उसे यह ज्ञान नहीं था कि उसे यह विष कब दिया गया। इस कल्पना के कारण उसका रोग स्थिर-सा हो गया था। उस साथी ने सार्वजनिक संस्थाओं का कुछ रुपया खा लिया था और उसे इस संस्था से निकलवाने में इस रोगी का ही प्रमुख हाथ था। इसके सभी साथी इसके इस कार्य को अनुचित समझते थे।

उक्त प्रकार के मानसिक रोग तब तक नहीं जाते जब तक कि मनुष्य अपनी मानसिक दुर्बलता से मुक्त नहीं होता। साधारणतः ऐसा रोगी अपने रोग की केवल शारीरिक चिकित्सा कराता रहता है। इसकी कल्पना में यह बात कभी नहीं आती कि उसके रोग का मानसिक कारण हो सकता है। यदि ऐसा रोगी धनी हुआ तो बहुत से डाक्टर उसे सदा घेरे रहते हैं। उनकी चिकित्सा से कुछ थोड़ा-बहुत

लाभ होता है। इसके कारण उसके मन में और भी यह विचार नहीं आता कि उसके रोगका कारण उसके मन में है। फिर प्रत्येक व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता को दूसरों के सामने सिद्ध करने की और अपनी मानसिक कमजोरी को भुलाने की चेष्टा करता है। इसके कारण उसे अपने रोग का वास्तविक कारण और भी ज्ञात नहीं होता। यदि मनुष्य को अपने रोग का कारण अपने मन में होने का ज्ञान न होकर किसी बाहरी परिस्थित में होनेका ज्ञान होता है तो उसे विशेष प्रकार का आत्मसंतोष होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको नैतिक दृष्टि से महान मानता है। अपनी नैतिक भूलों को स्वीकार करना बड़ा ही कठिन काम है। अतएव यदि किसी बाहरी परिस्थिति में अपने रोग का कारण खोज लिया जाय तो सभी लोगों को अच्छा लगता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण रोगी से अपनी मानसिक कमज़ोरी की स्वीकृति कराना बड़ा ही कठिन होता है। और जब तक कोई रोगी मानसिक कमजोरी को स्वीकार नहीं करता तब तक वह ऐसे काम कदापि नहीं करेगा जिससे इसका निराकरण हो।

परन्तु कई दिनों तक रोग से पीड़ित रहने पर मनुष्य में यह सद्बुद्धि उत्पन्न होती है कि वह अपनी मानसिक कमजोरियों को पहचाने और उनके हटाने के वास्तविक उपायों को अपनावे। स्वयं रोग ही मनुष्य के मन को इस स्थिति में ले आता है कि वह अपने अभिमान को भुलाकर सत्य को समझने की चेष्टा करे। रोग पाप का प्रायश्चित्त है। इससे मानसिक दुर्बलता का विनाश होता है और मनुष्य में त्याग-बुद्धि आती है।

मानसिक दुर्बलता का निराकरण आत्म-स्वीकृति, त्याग, मैत्रीभावना के अभ्यास, सत्संग, आध्यात्मिक चिन्तन और जप के द्वारा होता है। मनुष्य जिस भावना को बार-बार मन में लाता है इसीके अनुरूप उसका मन हो जाता है। धन के चिन्तन करने वाले व्यक्ति का मन इस लिये दुर्बल हो जाता है कि ऐसा व्यक्ति सदा अपने आप को शरीर के रूप में देखता है। जिस व्यक्ति को अपने शरीर से अधिक प्रेम है वही धन की चिन्ता करता है। परन्तु शरीर नश्वर वस्तु है। दूसरे के शरीरों को नष्ट हुए देख शरीर से तादात्म्य किये हुये व्यक्ति के मन में अचानक कल्पना आ जाती है कि उसकी मृत्यु भी दूर नहीं और कोई भी उसे रोक नहीं सकता। अतएव ऐसे लोगों को हृदय की गति रुक जाने का भय स्वभावतः उत्पन्न हो जाता है। यदि ऐसे व्यक्ति अपने धन का त्याग कर दें तो उनका मृत्यु का भय भी नष्ट हो जाय! मनुष्य की सभी प्रकार की प्रबल इच्छायें फलित होती हैं, चाहे ये इच्छायें रचनात्मक हों अथवा ध्वंसात्मक। भय मनुष्य की ध्वंसात्मक अथवा नकारात्मक इच्छा है। जब मनुष्य के मन में किसी प्रकार का भय उत्पन्न हो जाय तो उस भय की पूर्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार उसकी रचनात्मक इच्छा की पूर्ति होती है। अपनी रचनात्मक इच्छा-शक्ति के कारण मनुष्य धन का संचय कर लेता है और अपनी ध्वंसात्मक इच्छा के कारण अथवा भय के कारण वह काल-कवलित हो जाता है।

जो मनुष्य सदा ज्ञान-चर्चा में रमण करता है, जो विचारों के उत्पादन, प्रचार और संग्रह में अपना समय व्यतीत करता है, वह अचानक मृत्यु होने से नहीं डरता। यदि मृत्यु अनायास आ जाय तो वह उसके लिये सदा तैयार रहता है। ऐसे व्यक्ति के समीप मृत्यु जल्दी आती भी नहीं। वास्तव में शरीर के नष्ट होने पर भी ज्ञानचर्चा में रमण करने वाला व्यक्ति अमर ही बना रहता है।

देहात्मक बुद्धि बढ़ाने से मनुष्य में स्वभावतः

मानसिक दुर्बलता आती है। देहात्मक बुद्धि से जैसे-जैसे मनुष्यमुक्त होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी मानसिक दुर्बलता नष्ट होती जाती है। यदि हृदय के रोग से पीड़ित व्यक्ति अपना धन प्रसन्नता के साथ दूसरे लोगों में वितरण कर दे तो उसका हृदय-रोग अवश्य ही दूर हो जाय। इसी प्रकार दूसरों के साथ कपटव्यवहार रखनेवाले व्यक्ति यदि उनके साथ सच्चाव्यवहार करने लगें, और उनके अकल्याण के विषय में चिन्तन न कर कल्याण के विषय में ही चिंतन करें तो उनके पेट का रोग नष्ट हो जाय। दूसरों के अहित का चिंतन करना ही पेट का विष है और दूसरों के हित का चिंतन करना पेट का अमृत है। जो व्यक्ति मन ही मन दूसरों की बुराई के बारे में सोचता है वह पेट का रोगी बन जाता है। जब वह दूसरों के कल्याण के बारे में सोचने लगता है तो उसका पेट का रोग विनष्ट हो जाता है। कभी-कभी जिन लोगों के प्रति अमैत्री-भावना का अभ्यास किया गया वे उपस्थित ही नहीं रहते और उनके प्रति किसी प्रकार की मैत्री-भावना दिखाना असम्भव होता है। ऐसी अवस्था में किन्हीं दूसरे व्यक्तियों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करना उसी प्रकार उपयोगी होता है जिस प्रकार पहले लोगों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास उपयोगी होता है। जब हम किसी व्यक्ति के प्रति बुरा विचार अपने मन में लाते हैं तो हम उस व्यक्ति को कोई नुकसान पहुंचायें अथवा नहीं, अपने आप को तो अवश्य ही नुकसान पहुंचाते हैं। और इस नुकसान की पूर्ति तभी होती है जब हम किसी व्यक्ति का कल्याण करते हैं।

मानसिक दुर्बलता के निराकरण, बिना मानसिक त्याग और सद्बुद्धि की वृद्धि नहीं होती। कितने ही लोग ईश्वर, देवी, देवता इत्यादि के पूजन के द्वारा यह आत्म-विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं कि उन्हें विशेष प्रकार का रोग न होगा; इस प्रकार के प्रयत्न से उन्हें मानसिक लाभ अवश्य होता है; परन्तु उनका रोग सर्वथा नष्ट नहीं होता। ईश्वर का ध्यान वहीं तक मनुष्य को लाभकारी है जहाँ तक मनुष्य उसके द्वारा देहात्मक बुद्धि से मुक्त है। यदि शरीर-रक्षा अथवा धन-रक्षा के लिये कोई मनुष्य ईश्वरध्यान और पूजा करता है तो वह अपने आपको धोखा ही देता है। इसके कारण उसकी मानसिक दुर्बलता का निराकरण नहीं होता। ईश्वर को यह क्या पड़ी है कि वह आपको चिरजीवी बनावे अथवा कुबेर की सारी सम्पत्ति आप को दे दे। जो मनुष्य ईश्वर-आराधना किसी स्वार्थवश करते हैं वे अपनी मानसिक दुर्बलता को और भी बढ़ा लेते हैं। मानसिक शुद्धि के बिना मानसिक दृढ़ता नहीं आती और यह मानसिक शुद्धि व्यक्तिगत इच्छाओं के परित्याग से ही होती है।*

* श्री शुक्लजी खूब काम करते हैं, खूब अध्ययन करते हैं और खूब लिखते हैं। हमारे देश के मानसशास्त्रियों में आपका अपना स्थान है और मानस-शास्त्र के साहित्य को आपकी अपनी विशिष्ट देन है। उपरोक्त लेख में प्रतिपादित आपके विचारों से पाठकों को अवश्य ही लाभ होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। भविष्य में भी आपने हमें बराबर सहयोग देने का विश्वास दिलाया है।

—स० सम्पादक

धार्मिक कृत्य और आयुर्वेद

वैद्य अम्बाप्रसाद खंडेराव बारोट, आयुर्वेदाचार्य

इन्दुओं के त्यौहार, उत्सव और देव-पूजन के मूल में क्या कोई शास्त्रीय दृष्टि किंवा वैज्ञानिक विचारधारा है ? इस प्रश्न का एक नवीन दृष्टि से विवेचनापूर्ण उत्तर इस लेख में पढ़ें। —स० सम्पादक

हिन्दुओं के देवता और उनकी रूढ़ि पूजा-विधि के बारे में अनेक कल्पनाए विद्वानों में प्रचलित हैं। उनमें से कितनी ही तो विदेशी विद्वानों की विक्षिप्त विचार-सरणी की परछाईं मात्र हैं; किन्तु कुछ सत्यसंशोधन की प्रमाण भूत इच्छा के फलरूप भी हैं।

प्रागैतिहासिक काल में आर्यों की भ्रमणशील टुकड़ियों को प्रकृति की विभिन्न प्रबल शक्तियों का सामना करना पड़ा। ये प्रबल शक्तियां यद्यपि अदृश्य हैं किन्तु प्रभावशाली हैं और जब कुपित हो जाती हैं तब हानि पहुंचाने लगती हैं। इसलिये इनकी पूजा करने से नुकसान तो कुछ होता नहीं, प्रत्युत लाभ अवश्य पाया जाता है। ऐसा विचार कर के आर्यों ने इन शक्तियों की आराधना शुरू की; प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक स्वरूप वायु, अग्नि, वरुण इत्यादि की उपासना उन्होंने देवता के रूप में प्रारंभ की।

आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। उनका बहुत-सा भाग इन देवताओं की स्तुति में लिखे गये काव्य से भरा हुआ है। आगे चल कर सूक्ष्म निरीक्षण और तर्क-शुद्ध विचारधारा के फलस्वरूप देवताओं की कल्पनाएँ अलग कर के भारतीय तत्त्वज्ञान का उदय हुआ। साथ ही इसके साथ अटूट सम्बन्ध रखने वाले जन्म-मरण के कूट प्रश्न की विवेचना करते हुए शरीर-शास्त्र की अनेक कल्पनाएँ की गयीं। अथर्ववेद की इस विषय की कल्पनाओं से आयुर्वेद की उत्पत्ति हुई।

निसर्ग (प्रकृति) की शास्त्रीय पूजा

अग्नि, वायु, वरुण आदि नामधारी प्रकृति की प्रबल शक्तियां देवतारूप हैं, इस प्रकार की विचार-सरणी आगे के संशोधकों को ठीक नहीं जँची। परन्तु निसर्ग की इन शक्तियों का मानव-शरीर पर अच्छा और बुरा प्रभाव होता है, यह इन संशोधकों को मान्य हुआ। सूक्ष्म अवलोकन से सिद्ध हुआ कि प्रकाश, वायु और पानी की विभिन्न दिवस, मास और ऋतुओं में जो विषमता होती है, उससे शरीर पर भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं, और आहार-विहार सम्बन्धी अनुरूप फेर-फार करने से अनिष्टता दूर हो जाती है। इन कल्पनाओं के आधार पर सम्पादित अनुभवों तथा निरीक्षणों का संग्रह कर के 'आयुर्वेदीय ऋतुचर्य्या' का प्रकरण रचा गया। ग्रीष्म, वर्षा और हिमकाल में शरीर के आहार-विहारों की समीक्षा कर के शरीर-स्वाथ्य के नियम बनाए गये। इस प्रकार पूर्वोक्त कल्पित देवताओं के स्थान पर निसर्ग की शक्तियों की शास्त्रीय (वैज्ञानिक) आराधना प्रचारित हुई।

धूप, वायु और वर्षा—इन तीनों पदार्थों के शरीर पर होने वाले प्रभाव को देखकर पित्त, वात और कफ की और तदनुसार औषध-नियोजन की विधि प्रयुक्त की गयी। त्रिदोष के अनुसार उप-

युक्त औषधों में से अनेक सहज प्राप्य प्रारम्भिक उपचार में उपयोगी औषधों का यदि दैनिक जीवन में उपयोग किया जाय तो मानव-जीवन की रोग-प्रतिकार शक्ति (रोगप्रत्यनीक बल) बढ़कर स्वास्थ्य-संरक्षण होता है, इस बात को ध्यान में रखकर कुछ औषधों का जीवन निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं के रूप में उपयोग करने की प्रथा शुरू हुई। इन औषधों का संग्रह कर के आरोग्य-शास्त्र का 'ऋतु-चर्य्या' भाग रचा गया।

आयुर्वेद के सिद्धान्त आम-जनता के समझने के लिए दुरूह थे। परन्तु समाज के सभी व्यक्तियों को दैनिक आरोग्य-शास्त्र का परिचय कराना भी बहुत आवश्यक था। अतएव इस समस्या को हल करने के लिये आयुर्वेदज्ञ ऋषियों ने देव-पूजन एवं त्यौहारों का उपयोग करने का विचार किया एवं कितने ही देवताओं तथा उनकी आराधना-विधि की कल्पना उन्होंने की।

मारुति (हनुमानजी)

भारत के ग्रामों में तैल-सिन्दूर-लिप्त मारुति की मूर्ति सीमान्त पर देखने में प्रायः आती है। मारुति शब्द मरुत् से निकला है। मारुति (हनुमानजी)



वायुपुत्र हैं, यह बात हिन्दू-मात्र को अच्छी तरह ज्ञात है। त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) की कल्पना में वात के प्रतीक स्वरूप मारुति हैं। वात दोष (दोष घटक) के प्राकृत तथा वैकृत कार्यों के मन तथा शरीर पर होने वाले प्रभाव को देखते हुए वैकृत कार्यों के रोगरूप परिणाम हटाने के लिये आहार एवं औषध का समष्टि से विचार कर के इस देवता की पूजा-विधि का प्रचार किया गया। मानव प्राणी की क्रिया-शक्ति और जनन-शक्ति शरीर के वायुतत्त्व पर निर्भर है, ऐसा आयुर्वेद का सिद्धान्त है—"विश्वकर्मा विश्वात्मा विश्वरूपः प्रजापतिः। (वाग्भट्ट)। डाक्टर धीरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा "इण्डियन मेडिकल एसोसियेशन" के जर्नल में वायु के विषय में दिया हुआ स्पष्टीकरण यहाँ उद्धृत करने से इस दोष का यथार्थ स्वरूप कल्पना में आ सकेगा—

" It is sought to explain वायु as the nervous impulse conducted in the nerves in which वायु represents electricity and the nerves, the dead wires which only act as vehicles."

चपलता, चंचलता इत्यादि मज्जा-मण्डज के कार्य मनुष्य की अपेक्षा वानर (बन्दर) में अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। अनापशक्ति के किसी प्रचण्ड ओरंग-उटङ्ग नामक बन्दर को उग्र आवाज के साथ एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर लम्बी छलांगे लेते हुए देख किसी आयुर्वेदाचार्य को यदि यह कल्पना हुई हो कि वायु-तत्त्व का यह एक उत्तम प्रतीक (Symbol) है, तो इसमें आश्चर्य भी क्या है ? वाग्भट्ट के वातक प्रकृति के लक्षण पढ़ने से इस कथन की सत्यता अच्छी तरह प्रतीत है। "स्फुटितधूसरकेशगात्राः। चलद्धृतिस्मृतिबुद्धिचेष्टाः, बहुप्रलापाः, बहुभुजः, दीर्घाकृतयः, सशब्दयाताः, न कान्तादयिताः, बहुप्रजा वा। शैलद्रुमांस्ते गगनं च यान्ति।"

—इन सब लक्षणों में वर्णित स्वरूप के अनुरूप ही मारुति नाम के प्रचण्डकाय शक्तिमान ब्रह्मचारी देवता की स्थापना की गई, यह बात सहज ही ख्याल में आ सकती है।

वात रोग के निदान और चिकित्सा की समीक्षा करने से यह बात सहज ही ध्यान में आ सकती है कि अत्यधिक शारीरिक श्रम करने वाले किसान की वात प्रकृति के योग्य या वात रोगियों के लिये ही ऐसे पदार्थ चुन कर मारुति की पूजा-विधि में रखे गये हैं। प्रति शनिवार के दिन तैल, उड़द, नमक, रूई, पान और फूल तथा सिन्दूर आदि पदार्थों से मारुति की पूजा करनेकी प्रथा प्रचलित है। आयुर्वेद के मूल प्रदेश (उत्तर भारत) के निवासियों में आहार के लिये चने का उपयोग प्रधान रूप से होता है। आयुर्वेदीय आहार-शास्त्र का कथन है कि चना वात-वृद्धिकारक है। तैल, उड़द और नमक के आहार से वात का शमन होता है। सप्ताह में एक दिन वात-वृद्धिकारक आहार बन्द कर के यदि वात-शामक चीजें आहार के लिए उपयोग में लायी जायँ, तो शरीर के आहार-जन्य तत्वों का प्रमाण साम्यावस्था में आ जायगा। अतएव वात के प्रतीक मारुति की पूजा विधि में इन तैल, उड़द इत्यादि चीजों के उपयोग का अन्तर्भाव किया गया। वात व्याधि के लिये माष, सैंधव और तैल का उपयोग तो वैद्य वर्गमें प्रचलित ही है। मारुति पर चढ़ने वाले सिन्दूर, रूई के फूल और पान आदि भी वात व्याधि को शांत करने के लिये अनुभवसिद्ध उत्तम औषधें हैं।

शारदा और गणपति

वात के अतिरिक्त कफ और पित्त को भी आयुर्वेद शरीर के मूलभूत तत्वों के रूप में मानता है। उस का कथन है कि कफ ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का मूल कारण है (चरक, सूत्र, १२) जिस में पित्त के प्रभाव से परिवर्तन होता रहता है। पित्त और कफ के प्रकोप से होने वाले अनेक विध रोगों का, विशेषतः ज्ञानेन्द्रियों की व्याधियों का मुख्य काल शरदृतु है। इस 'शरद्' शब्द से ही शारदा शब्द निकला है। मनुष्य की पाँच ज्ञानेन्द्रियों की शक्तिरूपी देवता शारदा हैं। यह बात हिन्दू मात्र को ज्ञात है। साथ ही गणपति के साथ इन का सम्बन्ध भी सर्व विदित है। कफ दोष के प्रतीक गणपति हैं।



मानवीय शरीर की स्थूलता जलांश पर आधारित है, जिसका आयुर्वेद में बार-बार उल्लेख आता है। आधुनिक रसायन शास्त्रकी दृष्टि से भी जल तथा मेद के मूलभूत द्रव्य एक ही है।

वर्षा में शरीर में जलांश की वृद्धि होने से आज भी शरदृतु में कफ-पित्तजन्य अनेक व्याधियाँ हो जाती हैं। इस ऋतु में आने वाले शारदोत्सव, गणेशोत्सव, शरत्पूर्णिमा (कोजागरी) आदि त्यौहार इस ऋतु में होने वाले रोगों की सामुदायिक चिकित्सा के रूप में हैं। इन त्यौहारों में पूजाविधि में प्रयुक्त पदार्थ कफ-पित्त के रोगों का शमन करते हैं। गणपतिजी को समर्पित दूर्वा, कमल आदि वस्तुएँ पित्त रोग की नित्य उपयोगी दवाएँ हैं। मोदक बनाने के लिये प्रयुक्त चावल, नारियल, गुड़ आदि द्रव्य

(शेषांश २८ वें पृष्ठ पर)

आयुर्वेदोक्त भौतिक नाड़ी

डा० बी० ए० भट्टाचार्य्य, एम्० ए०, पी० एच० डी०, राज्यरत्न, ज्ञानज्योति

['कल्याण' के 'हिन्दु-संस्कृति-अंक' में प्रकाशित यह लेख आयुर्वेद की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण हम यहां साभार उद्धृत कर रहे हैं। इसके विद्वान् लेखक बड़ौदा के म्यूजियम के क्यूरेटर हैं। आयुर्वेदोक्त भूत-नाड़ी के विषय में प्रत्यक्ष अनुभव की बातें आपने लिखी हैं। भूत-नाड़ी अर्थात् वह नाड़ी, जिसे भूत लगा है। —स० सम्पादक]

संसार भर के चिकित्सकों में अपने रोगियों की नाड़ी देखने की एक सामान्य प्रथा है। प्रत्येक वैद्य नाड़ी देखकर भिन्न-भिन्न अर्थ का ग्रहण करता है। कोई एक ही अँगुली से नाड़ी पकड़ता है और कोई तीन से; कोई उसके आघातों की संख्या गिनते हैं तो कोई गतिका विचार करते हैं। जहां तक मुझे विदित है, भारत को छोड़कर अन्यत्र किसी देश में इस विज्ञान का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन नहीं किया गया। नाना प्रकार की नाड़ियों की परीक्षा और उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण यहीं पर हुआ है। संस्कृत में नाड़ियों के भेद बतलानेवाले कम-से-कम १०० ग्रन्थ होंगे। इन ग्रन्थों में लगभग छह सौ प्रकार की नाड़ियों का वर्णन है और उन सबके अत्यन्त सूक्ष्म फल भी उनमें बताये गये हैं। बड़े अचम्भे में डालने वाला विषय है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि नाड़ी जैसे बहुत ही महीन धागे में ६ सौ प्रकार की विभिन्न गतियाँ हैं। और ये सब गतियां अलग-अलग पहचानी जा सकती हैं, सबके अलग-अलग फल भी बताये जा सकते हैं!

नाड़ी के इन ६०० प्रकारों में दो बहुत ही विचित्र हैं। उन्हीं के सम्बन्ध में मैं यहां कुछ कहना चाहता हूँ। इन दोनों को भौतिक नाड़ी कहते हैं - अर्थात् वह नाड़ी, जिसे भूत लगा है। जब किसी रोगी को भूत या प्रेत लगता है, तब उसकी नाड़ी की गति में बड़ा परिवर्तन दीख पड़ता है। इस परिवर्तन को ही "भौतिक नाड़ी" कहते हैं।

अपने बहुत-से पाठकों की भांति मैं भी एक शिक्षित व्यक्ति होने के कारण पहले इस प्रकार की किसी नाड़ी के होने की बात नहीं मानता था और इन द्विविध नाड़ियों की चर्चा को केवल एक वाग्विनोद समझता था। पर अपने ३० वर्षों के दीर्घ चिकित्साकाल में लगभग तीन लाख रोगियों की नाड़ियों

(शेषांश २७ वें पृष्ठ का)

आयुर्वेदीय दृष्टि से बृंहण (शक्तिदायक) हैं और पित्त-शमनार्थ कही हुई चिकित्सा में शीत तथा मधुर वर्ग पाये जाते हैं। पित्तज रोग न होने पाये इस के लिए शरद् ऋतु में पित्त शामक विरेचन लेने का आदेश "ऋतुचर्य्या" में दिया गया है। परन्तु किसी तीक्ष्ण विरेचन की अपेक्षा केवल दूध ही खूब पीकर यह कार्य करने की दृष्टि से आयुर्वेद के आचार्यों ने शरद् पूर्णिमा (कोजागरी पूर्णिमा) का त्यौहार चालू किया। विरेचक द्रव्यों में दूध को वाग्भट्ट ने उत्तम विरेचक कहा है। दुग्धपान का यह प्रयोग रात्रि को बताने में भी एक विशेष आयुर्वेदीय सिद्धांत है। पित्त दोष और पित्त रोग का अर्द्ध-रात्रि-काल देख कर यह दुग्ध चिकित्सा कालानुसार जारी की गयी। (क्रमशः)

देखने के बाद मुझे तीन रोगी ऐसे मिले, जिनकी नाड़ियां देखने पर मालूम हुआ कि वे भौतिक नाड़ियां ही हैं। तब मुझे प्राचीन ऋषियों की बुद्धि की गहराई का पता चला। सत्य एवं ज्ञान की रक्षा के निमित्त ही बिना किसी अत्युक्ति के मैं इन रोगियों का हाल यहां लिखता हूँ। मैं जो कुछ कहूँगा, वह केवल उन्हीं लोगों के लिये है, जिन्होंने अपने मस्तिष्कके कपाटों को बन्द करके नहीं रक्खा है और जो सत्य एवं ज्ञान के प्रति किसी भ्रान्तधारणा से ग्रस्त नहीं हैं। भौतिक नाड़ी की बात, विशेषतः आजकल विचित्र-सी लगती है। पर यदि यह सत्य है तो इसे मानना ही होगा।

भूतबाधा वाली नाड़ी का एक लक्षण यह है कि अंगुली रखनेपर कुछ देरतक तो स्वभाविक रीति से एवं नियमित प्रकार से चलती मालूम पड़ती है, किन्तु फिर एकाएक लुप्त हो जाती है। कई आघातों का और कभी-कभी एक साथ दस-दसका पता नहीं चलता। रोगी जब कि देखने में स्वस्थ है, ये दस आघात न जाने कहां गायब रहते हैं। नाड़ी की गति का इस प्रकार लुप्त हो जाना दस मिनट में प्रायः पाँच बार दिखायी पड़ता है। भूताविष्ट नाड़ी का यह एक प्रकार है। आगे मैं बताऊँगा—ऐसी अवस्था में रोगी प्रायः जीवित रहता है, किन्तु भूताविष्ट होने के कारण शरीर की स्वभाविक क्रियाओं में अव्यवस्था दिखायी देती है।

नाड़ी की एक दूसरे प्रकार की गति है, जिससे यह पता लगता है कि रोगी तो मर चुका है, पर उसके शरीर को किसी भूत या प्रेतात्मा ने दखल कर लिया है। ऐसी अवस्था में नाड़ी की गति अस्वाभाविक और असाधारण हो जाती है। अँगुली रखने पर यह नाड़ी अत्यन्त तीव्र गति से चलती हुई मालूम पड़ती है। इसकी गति में क्रमबद्धता का नितान्त अभाव रहता है। एक अँगुली से दूसरी अँगुली तक बिजली की तरह दौड़ती मालूम देती है। अँगुली में ऐसा अनुभव होता है मानो बिजली के एक ऐसे तार को छू रही हो, जिसमें ११० वोल्ट की पर्यायक्रम से परिवर्तनशील विद्युत्धारा प्रवाहित हो रही हो। ऐसी नाड़ी को देखकर डाक्टर लोग पाँच मिनट में रोगी की मृत्यु हो जाने की घोषणा कर देते हैं, पर रोगी हँसता रहता है। ऐसा रोगी अपनी रोग-शय्या पर पड़ा-पड़ा घर में कहां क्या हो रहा है—सब जानता रहता है, मानो उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई हो। रोगी ठीक-ठीक बता देगा कि भण्डार में किस जगह कौन-सी खाने की वस्तु रक्खी है। डाक्टर जब दूसरी बार रोगी को देखने आता है तो आश्चर्य चकित रह जाता है और उसके पांच मिनट में मरजाने की फिर घोषणा करता है। पर बार-बार कहने पर भी डाक्टर की भविष्यवाणी सच नहीं होती। आयुर्वेदिक ग्रन्थ चिकित्सक को आदेश करते हैं कि भूत-व्याधि की चिकित्सा करने की चेष्टा स्वयं न करके ऐसे रोगीको किसी मान्त्रिक के हाथों में सौंप देना चाहिये, क्योंकि भूत-प्रेतोंपर दवा काम नहीं करती, तन्त्र-मन्त्र से वे तुरत वश में हो जाते हैं।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, मुझे भूतग्रस्त तीन रोगियों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। दो रोगी तो पहले प्रकार के थे और तीसरा दूसरे प्रकार का।

पहला दृष्टान्त खोजा जातिकी एक लड़की का है। वह मेरे एक बहुत पुराने मित्र की गोद ली हुई लड़की थी। बीमार होने के पहले वह दो बार डर चुकी थी। एक बार तो सन्ध्या-समय एक वृक्ष के नीचे और दूसरी बार एक वृद्धा स्त्री के छाया-रूप के दर्शन से, जो इस लड़की के हाथ कुछ बेचना चाहती थी। क्रमशः उसकी नींद मारी गयी और वह दिन रात

लगातार कुछ बड़बड़ाती हुई घूमा करती। उसने स्नान तथा आवश्यक कृत्य करना छोड़ दिया। मनके अधिकाधिक उग्र होने के लक्षण दिखायी देने लगे और उसका व्यवहार लोकविलक्षण होने लगा। रोगिणी मेरे पास परामर्श के लिये लायी गयी। उस समय उसका व्यवहार ठीक था और वह मेरे प्रश्नों का समझ के साथ विशुद्ध अंग्रेजी भाषा में उत्तर दे रही थी। साथ में आये हुये अभिभावक ने मुझे बताया कि घर से बाहर जाने पर उसका व्यवहार सुधर जाता है, पर घर में आते ही वह फिर पूर्ववत् बिल्कुल पागल हो जाती है। जब मैंने उसकी नाड़ीपर हाथ रक्खा तो स्तम्भित रह गया। थोड़ी देर के लिये एकाएक नाड़ी बिल्कुल बन्द हो जाती, फिर स्वभाविक ढँग से क्रमपूर्वक आघात होने लगते। मैं बहुत देर तक नाड़ी पकड़े रहा, वह पर्यायक्रम से चलती और लुप्त होती रही। जिन लोगों ने थोड़ा बहुत भी नाड़ी का अनुभव किया होगा, उनके लिये यह जानना कठिन नहीं होगा कि इस प्रकार की नाड़ी बहुत कम देखने में आती और अत्यन्त संदिग्ध होती है। ऐसे रोगी का सुधार एवं चिकित्सा नितान्त कठिन है। संस्कृत में इसको अदृश्या नाड़ी कहते हैं, यद्यपि इसे 'पर्यायक्रम से अदृश्या' कहना अधिक ठीक होगा। इसे भूत-व्याधि का निश्चित लक्षण मानना चाहिये।

मैंने लड़की के पिता से कहा कि इसे भूत लगा है, इस लिये किसी ऐसे व्यक्ति को दिखाना चाहिये, जो भूत-प्रेतों का भगाना जानता हो। ये महाशय अत्यन्त आधुनिक विचारों के होने के कारण मेरी बात मानने को तैयार नहीं हुए और ऐसा कोई यत्न न करके निपुण 'डाक्टरों और वैज्ञानिकों' के द्वारा चिकित्सा कराते रहे। पर वे रोग का सिर-पैर कुछ भी समझ न सके। रोगिणी की दशा उत्तरोत्तर खराब ही होती गयी। उस में पागलपन के अधिकाधिक उग्र लक्षण दीखने लगे। प्रायः तीन सहस्र रुपये खर्च हो चुके। और उसे शान्त रखनेके लिये लगभग आधासेर ब्रोमाइड भी उसको खिलाया जा चुका, परंतु फल कुछ नहीं हुआ। लड़की के पिता निराश हो चुके थे कि संयोग से उनसे मेरी दूसरी बार भेंट हो गयी और मैंने उन्हें किसी ओझा से सलाह लेने की राय दी। इस बार वे तुरंत तैयार हो गये और बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे पर स्थित नवसारी के पास खरसाड़ में एक अद्भुत स्त्री ओझाइन को उन्होंने खोज निकाला। यह स्त्री गुजरात में मंछी माता के नाम से विख्यात है। प्रत्येक रविवार एवं मङ्गलवार को सैकड़ों व्याधि ग्रस्त प्राणी उसके पास पहुंचते हैं। वे उसके पास एक नारियल ले जाते हैं, जिस से वह रोगी की सारी कथा जान लेती है। रोगीको एक बार भी नहीं देखती, पर रोगका निदान और उसके विशिष्ट लक्षणों का ठीक-ठीक वर्णन कर देती है और भूत-प्रेत की बाधा की ठीक चिकित्सा भी कर देती है। उसने ऐसे-ऐसे अद्भुत और चमत्कार पूर्ण इलाज किये हैं कि यदि आज कल के किसी डिग्रीदार डाक्टर ने वैसा एक भी चमत्कार किया होता तो वह विश्व ख्यातिके आसन पर कूद कर जा बैठता और चिकित्सा-विषय में नोबेल पुरस्कार का उम्मीदवार बन जाता। पर यह महिमामयी स्त्री नित्य ही ऐसे अनेक चमत्कार कर रही है और उनसे सहस्रों व्याधिग्रस्त परिवारों का दुःखमोचन हो रहा है, यद्यपि समाचार पत्र का कोई अदना रिपोर्टर भी उसकी कोई खबर नहीं रखता।

इन मंछी माताके पास एक दिन रविवार को वह दुख के मारे हुए लड़की के पिता एक नारियल लेकर गये और अपनी बारी आने की बाट देखने लगे। जब उनकी बारी आयी, तब उस महिमामयी स्त्री ने ढेर में से उनके नारियल को उठाकर अपने कानों के

पास अच्छी तरह से हिलाया और फिर रोगी का तथा उसके रोग के लक्षणों का वर्णन करना आरम्भ कर दिया। उसने बताया कि कैसे वह लड़की डरी, कैसे उसके साथ ठीक व्यवहार नहीं हुआ और न उसका ठीक उपचार ही हुआ। उसने बताया कि रोगिणी को भूतबाधा है और एक सप्ताह में वह बिल्कुल चंगी हो जायगी। उसने उसकी भुजा में बाँधने के लिये एक काला सूत्र दिया तथा एक मुट्ठी चावल दिये, जिनमें से कुछ दाने रोज उस वर्तन में डाल देने को कहा, जिसमें उसका खाना पकता। उसने इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं किया, न कोई शुल्क लिया। कितने आश्चर्य की बात है कि तीन ही दिनों में रोगिणी की स्थिति स्वाभाविक हो गयी और सात दिनों के बाद तो रोग का कोई नाम-निशान तक नहीं रहा। वह आज भी जीवित है। उसका विवाह भी हुआ और अब कई बच्चोंकी माँ है। भौतिक नाड़ी का यह पहला दृष्टान्त है। मैं यहाँ यह बता दूँ कि ऐसी अवस्था में नाड़ी के बीच-बीच में लुप्त हो जाने में तथा अजीर्ण रोग में नाड़ी के लुप्त हो जाने में बहुत अन्तर है। अजीर्ण में तो कभी-कभी दो-तीन आघात नहीं मिलते। पर यहाँ अधिक नहीं तो कम-से-कम आठ-दस आघातोंतक नाड़ी का कोई पता नहीं चलता।

दूसरा दृष्टान्त मेरे पास के ही गाँव की एक सोलह वर्ष की लड़की का है। मेरे एक पुराने मित्र होमियोपैथिक चिकित्सा कराने के लिये उसे मेरे पास ले आये। पहले वाली लड़की की भाँति इसमें कोई भ्रम लक्षण नहीं थे। कुछ महीने पहले उसे थोड़ा ज्वर हुआ था; पर जब वह अच्छी हुई, तब उसकी बोली बंद हो गयी। वह सुन सकती थी, बोलने की चेष्टा भी करती; पर शब्द ही न निकलते और वह रोने लगती। उसके बाह्यरूप एवं सामान्य स्वास्थ्य को देखते हुए रोगके लक्षण दुःसाध्य, भयानक अथवा चिन्ताजनक नहीं प्रतीत होते थे। पर जब मैंने नाड़ी पर हाथ रखा तो दंग रह गया। कम-से-कम आठ दस आघातोंतक नाड़ी बिल्कुल लुप्त हो जाती थी। थोड़ी देर और परीक्षा करने पर मैंने देखा कि नाड़ी पर्याय क्रम से ऊपर बतायी हुई रीति के अनुसार मिलती और फिर छूट जाती। अपने पूर्व अनुभव के आधार पर मैंने इसे भौतिकी नाड़ी ही माना और अपने मित्र को उसी रात को मंझी माता के पास जाने की सम्मति दी, जिससे कि वे दूसरे दिन मङ्गल वार को प्रातःकाल उन से मिल सकें। उन्हें मेरी बात का पूरा विश्वास तो नहीं हुआ और यदि दूसरे किसी ने कहा होता तो वे वहाँ जाते भी नहीं। अस्तु, वे नारियल लेकर खरसाड़ गये और उस प्रसिद्ध स्त्री के दर्शन करके उसे वह नारियल थमा दिया। उस ने इस बार भी रोग का बिल्कुल ठीक-ठीक वर्णन कर दिया और बताया कि रोगिणी के बोलने लगने में लगभग एक महीना लगेगा। कुछ चावल के दाने देकर उन्होंने कुछ आदेश दिये, जिनका अक्षरशः पालन किया गया। पाँच सप्ताह बाद मेरे मित्र मुझ से कार्यालय में मिले और रोगिणी के अच्छे हो जाने का सुसंवाद सुनाया। उसकी बोलने की शक्ति बिल कुल ठीक हो गयी और उसकी पहली सगाई, जो प्रायः छूट चुकी थी, फिर से पक्की हो गयी, जिससे सब सम्बन्धी लोग बड़े प्रसन्न थे। भौतिकी नाड़ी का यह दूसरा उदाहरण है। इन दोनों उदाहरणों में रोगिणियाँ जीवित तो थीं, पर प्रेतात्माओं द्वारा उन की स्वाभाविक चेष्टाओं में बहुत अन्तर पड़ गया था।

अब मैं आप को एक ऐसा उदाहरण सुनाऊँगा जिसमें—आप चाहे विश्वास करें या न करें—रोगिणी वास्तव में तो मर चुकी थी, पर एक क्षुधार्त स्त्री की मृतात्मा उसे—मृत शरीर को—जीवित रक्खे हुए थी।

यह एक अत्यन्त संभ्रान्त महिला का वर्णन है। उनके कई सन्तानें थीं। वे बहुत दिनों से अल्ब्युमिनेरिया का कष्ट भोग रही थीं और सब तरह की चिकित्साएँ करा चुकी थीं तथा बहुत दिनों तक स्थानीय अस्पताल में भी रह आयी थीं। उन्हें किसी से कोई लाभ होता नहीं दिखायी दिया। यहाँ तक कि उन्हें थोड़े दिनों की और मेहमान बताकर सब डाक्टरों ने जवाब दे दिया।

अब रोगिणी के अभिभावकों ने होमियोपैथी का स्मरण किया और दुर्भाग्य से उनकी श्रद्धा मेरे ऊपर ही आकर टिकी। उनके बुलावे को अस्वीकार करने में असमर्थ होने के नाते मैं रोगिणी के पास गया और बहुत देर तक उनकी खाट के पास बैठकर उनकी चेष्टाओं तथा दशा का अध्ययन करता रहा। मैं कहूंगा कि रोगिणी के विषय की प्रत्येक बात विचित्र और सन्देहास्पद प्रतीत होती थी। मुझ से बताया गया कि डाक्टरों को यह आशा नहीं है कि ये रात काट ले जायँगी ; पर उनकी आँखों की ओर देखने से मुझे उनमें एक असाधारण क्या, एक लोकोत्तर-सी चमक दिखाई पड़ी। शरीर का तापक्रम सामान्य था, बातचीत भी वह साधारणतया स्वाभाविक ढंग से कर रही थीं और उनके इन्द्रियद्वारों से निकले मल-विष्ठादि में भी न तो कोई गन्ध थी, न कोई विशेषता। सच पूछा जाय तो रोगिणी में ऐसी कोई बात नहीं थी, जिस से उनकी दशा भय सूचक समझी जाती। खाने के लिये वह अत्यन्त आतुर थीं, नाना प्रकार की सुस्वादु वस्तुओं को माँग रही थीं। इतना ही नहीं, परिचारकों को यह भी बता रही थीं कि घर में वे वस्तुएँ कहाँ रक्खी हुई हैं। यह सब होते हुए भी उन्हें उसी रात को मर जाना था।

अपने सामान्य अभ्यास के अनुसार मैंने उन की नाड़ी पर हाथ रक्खा। मैं आपसे क्या बताऊँ ! अँगुलियों के नीचे नाड़ी की गति का अनुभव कर के आश्चर्य का एक ऐसा झटका लगा, जैसा जीवन में पहले कभी न लगा था। मैं तो ऐसा भयभीत हो गया, मानो किसी भूत से पाला पड़ गया हो। मैं उस नाड़ी को कभी नहीं भूलूँगा। किसी जीवित व्यक्ति की नाड़ी इस प्रकार की नहीं होती। ऐसी नाड़ीवाला व्यक्ति तो तुरन्त मर जायगा। फिर भी हमारी रोगिणी देखनेमें अपने स्वाभाविक स्वरूप में स्थित थीं और भोजन माँग रही थीं। नाड़ी सूत की तरह पतली थी, और कभी यहाँ, कभी वहां आघात करती हुई एक अँगुली से दूसरी अँगुली तक बिजली की भाँति उछलती चल रही थी। उसकी गति में कोई क्रमबद्धता नहीं थी, बल्कि अत्यन्त उच्छृङ्खल और एक प्रकार से कोलाहलपूर्ण क्रमहीनता वर्तमान थी। अपने जीवन में मैंने तीन लाख नाड़ियाँ देख डाली हैं, पर ऐसी नाड़ी कहीं नहीं देखने को मिली थी। सौभाग्य से मुझे नाड़ीशास्त्र का एक वाक्य याद आ गया, जिसमें इसे 'विद्युल्लता—'चपला की कौंध के समान चलनेवाली नाड़ी'-संज्ञा दी गयी थी। शास्त्र में यह आदेश था कि चिकित्सक के हाथ में जब ऐसी नाड़ी आये तो उसे तत्काल रोगी को किसी ओझा के हाथ में सौंप देना चाहिये।

मैं ने कोई दवा न दे कर उन्हें किसी योग्य ओझा से सलाह लेने की राय दी। कठिनता से एक योग्य व्यक्ति उसी शहर में मिले और रोगिणी को घर आ कर देख जाने के लिये उन्हें किसी तरह प्रस्तुत किया जा सका। वे वहाँ गये, रोगिणी को देखा-भाला। उनके साथ प्रश्नोत्तर कर के उनकी परीक्षा की और फिर निम्नलिखित वक्तव्य दिया। 'रोगिणी जिन दिनों अस्पताल में थी, उसके बगल के कमरे में एक

और स्त्री थी। वह वृद्धा थी और किसी दरिद्र-परिवार से आयी थी। अपने जीवन में उसने कभी भरपेट अच्छा भोजन भी नहीं किया था, फिर सुस्वादु वस्तुओं की तो बात ही क्या। अच्छे और स्वादिष्ट भोजन की उसके मन में बड़ी लालसा थी, और मरने के बाद इस दुर्बल रोगिणी को पास ही पाकर उस के शरीर में प्रविष्ट हो गयी। लगभग दो मास पूर्व असली रोगिणी तो चल बसी, पर उसके शरीर को भूखी बुढ़िया की आत्मा जिलाये हुए है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि मूल रोगिणी अर्थात् इस घर की लड़की तो मर चुकी है और उसको फिरसे लौटने की अब कोई सम्भावना नहीं है। जबतक उसकी क्षुधा नहीं शान्त हो जाती, बुढ़िया इस देह में रहेगी और फिर अपनी इच्छा से इसे छोड़ देगी।'

इस समाचार से अधिक क्या कहूँ, परिवार के सभी लोग काँप उठे और सबने मिलकर तय किया कि इस भूत को अपने बीच में और नहीं टिकने देना चाहिये, बल्कि शान्त उपाय द्वारा उसे भगा देना ही ठीक है। ओझा ने एक कागज के टुकड़े पर एक मन्त्र लिखकर उसे एक ग्लास पानी में घोल-कर दिया और परिचारकों से कहा कि 'इस जल में से थोड़ा-थोड़ा रोगिणी पर कई बार छिड़कते रहना। फिर चौबीस घण्टे के बाद शरीर निर्जीव हो जायगा।' दूसरे दिन दोपहर के पश्चात् ठीक चौबीस घण्टों के बाद रोगिणी निस्तब्ध हो गयी और उसमें जीवन का कोई चिह्न शेष नहीं रहा।

इन तीनों विवरणों से यह अनुमान किया जा सकता है कि नाड़ी-शास्त्र एक रहस्यपूर्ण विज्ञान है और इस पर अधिकार प्राप्त करना कोई हँसी-खेल नहीं है। किन्तु इस कारण से विज्ञान के इस इस विभाग की खोज बन्द न हो जानी चाहिये। बल्कि नाड़ी परीक्षा का विषय अत्यन्त सूक्ष्म होते भी प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार उसका अध्ययन करना चाहिये और मैं बिना किसी संकोच के कह सकता हूँ कि किसी भी चिकित्सक को-चाहे वह डाक्टर हो, होमियोपैथ हो, हकीम हो या वैद्य हो—इससे लाभ ही होगा और उसकी मर्यादा में भी अभिवृद्धि होगी। यदि नाड़ी के स्पन्दनों को लिख लेने के लिये रेडियो-परिचालित संवेदन-ग्राहकयन्त्र बन जायँ तो नाड़ीविषयक ज्ञान बहुत दूरतक आगे बढ़ जाय।

संगीत से मच्छरों का संहार

न्यूयार्क के एक प्रोफेसर संगीत से मलेरिया के मच्छरों के संहार में लगे हैं। मच्छरों के समागम कालिक संगीत को वह रेडियो की सहायता से दस लाख गुना ऊँचा करता है। नर-मच्छर संगीत से आकृष्ट हो पास आते हैं और विद्युत् से आविष्ट एक बेलन के संपर्क में आकर मर जाते हैं। हाल ही में इस विधि से प्रोफेसर ने क्यूबा में एक वर्ग मील क्षेत्र में एक भी नर मच्छर नहीं रहने दिया है। जानने योग्य बात इस विषय में यह है कि रोग फैलाने का कार्य सदा मादा मच्छर करता है। परन्तु वह कभी नर मच्छर के संगीत से आकृष्ट हो उसके निकट नहीं जाती[1]।

—वैद्य रणजीत राय

१—१४ मई १९५० के 'सण्डे न्यूज ऑफ इण्डिया' से।

आयुर्वेद—अतीत, वर्तमान, भविष्य

वैद्यरत्न, कविराज प्रतापसिंह, डायरेक्टर आयुर्वेद विभाग, भारत सरकार, संयुक्त राजस्थान, उदयपुर

भारत शताब्दियों से अपनी जीवन-रक्षा के लिये अनेक प्रकार के युद्धों में प्रवृत्त रहा है— राम-राज्य से लगा कर आज तक कभी चैन की नींद नहीं ले सका। राम के समय में रावण जैसे रसायनतत्त्वज्ञ वैद्य ने भी राम का भयङ्कर विरोध किया और अपने ज्ञान-विज्ञान का नाश कर डाला। किन्तु हमारे ऋषि अगस्त्य प्रभृति अपने वैज्ञानिक जीवन को आश्रमों में बिता कर आततायियों की क्षति के लिये धर्मपरायण राज्यशक्ति की सहायता करते रहे।

द्वापर में कृष्णावतार के समय में भी दुष्ट कंस ने ऐसा उपद्रव मचाया कि बालकाल से ही लीलावतार को दीनहीन जनता की उन्नति के लिये घोर संग्राम करना पड़ा, पर उस समय भी द्रोणादि विद्वानों ने शस्त्रकला की पारंगतता प्राप्त कर राज्य की शिक्षादीक्षा में सहयोग दिया, पर महाभारत के गृहकलह ने देश के ज्ञान-विज्ञान का सर्वनाश कर दिया। देश की षोडश कला और चौंसठ विज्ञानों का नाश कर दिया। बची-खुची विद्याओं को ब्राह्मणों ने अपने हृदय में रखकर उसकी रक्षा की और वह परम्परा से बराबर चलती आयी। उस भग्नावशेष ने भी उत्तम से उत्तम वैद्य और विद्वान् पैदा किये और उन्होंने उस ज्ञान को संकलित कर पुस्तकाकार हमें दिया जो हमारी थाती है। किन्तु दैवदुर्विपाक से कलियुग के आदि में बौद्ध युग प्रारम्भ हुआ। उसने अहिंसा का ऐसा प्रचार किया कि हमारी रही-सही शल्य-शालाक्य चिकित्सा को सदा के लिये शिथिल कर दिया। किन्तु उस समय के बहादुर वैद्य विद्वानों ने देश के युद्धों में शल्य-शालाक्य क्रिया को किसी रूप में जर्राह और चान्दसी वैद्यों के रूप में चतुर्थ श्रेणी की चिकित्सा में परिणत कर जीवित रखा। उस समय भी जीवक जैसे बौद्ध भिक्षुक ने तक्षशिला के विश्वविद्यालय में शिक्षा पाकर शल्य-शालाक्य और काय चिकित्सा में महान् ख्याति प्राप्त की; क्योंकि देश स्वतन्त्र था। मत-मतान्तरों के और दस्युओं के आक्रमण होते रहने पर भी मनुष्य प्राणपण से प्रयत्न कर व्यक्तिगत उन्नति कर सकता था और उसका ही यह परिणाम है कि आज भी उनकी संकलित संहिताओं पर हम गौरव करते हैं और उन्हीं को मूल मानकर अपना भविष्य उज्ज्वल करने का यत्न करते हैं।

यह तो हुई उस भारत की कथा जिसके कथानक ही हमारे साक्षी हैं। यूनानी और मुगल राज्य का इतिहास तो हमारे सामने है। यूनानियों के आक्रमण-काल में आयुर्वेद-शास्त्र इतना उन्नत था कि यूनान के विद्वानों ने यहां के विज्ञ वैद्यों को गुरु माना और उनको राज्याश्रय दिला कर सहस्रों ग्रन्थ यूनानी भाषा में अनूदित कराये और पश्चिम में उस चिकित्सा-शास्त्र का प्रचार किया। उसीकी भित्ति पर आज का पाश्चात्य शास्त्र उन्नत हुआ है। पर दैव-दुर्विपाक से मुगल साम्राज्य भारत में स्थापित हुआ और मुगलों ने भारतीय संस्कृति पर कुठाराघात करना शुरू किया। वे अपने साथ अपने चिकित्सक भी लाये। उन चिकित्सकों ने मुगल आधिपत्य स्थापित करने के लिये आयुर्वेद चिकित्सा को दबाने का भरसक प्रयत्न किया और

किसी प्रकार भी आयुर्वेद को उन्नत नहीं होने दिया। उस संकटापन्न समय में भी तन, मन, धन से रक्षा करते हुए आयुर्वेद की चिकित्सा प्रणाली बनाये रखी और "हिकमत प्रकाशादि" छोटी-मोटी पुस्तकें लिख आयुर्वेदीय वृत्ति करने वालों की ज्ञानवृद्धि का उद्योग किया। ऐसे ही कालमें पाश्चात्य चिकित्सा के द्वारा ब्रिटिश लोगों ने अपना पैर भारत में जमाया और धीरे-धीरे व्यापार के द्वारा अपना साम्राज्य कायम कर लिया और अपनी चिकित्सा प्रणाली को ग्रामों तक में पहुंचाने का यत्न किया। बड़े- बड़े मेडिकलकालेज खोले और आयुर्वेद को उन्नत करने की प्रतिज्ञाएँ कीं; पर, सबपर पानी फेरके आयुर्वेद को पनपने नहीं दिया और अपना-चिकित्सा व्यवसाय बढ़ाने के लिये धनी-मानी, राजा-महाराजाओं के द्वारा इतने अस्पताल, डिस्पेंसरी और फार्मेसी बनवा दीं कि स्वदेशी आन्दोलन होने



लेखक

और विलायती कपड़ों की होली जलाने पर भी विदेशी चिकित्सा-साम्राज्य को हिला नहीं सके। कारण, अंगरेज राजनीतिज्ञ समझता था कि भारतीय शिष्य-गण उन की सभ्यता, उनके ज्ञान और विज्ञान में इतने रंग गये हैं कि वे अपने देश के गौरव- ज्ञान और विज्ञान को कुछ न समझेंगे और हमारे चले जाने पर भी हमारे व्यापार के दास बने रहेंगे।

भगवान् की असीम कृपा से स्वदेशी आन्दोलन सफल हुआ। राम ने रावण जैसे आततायी पर विजय पायी। कृष्ण ने कंस जैसे देश द्रोही का नाश किया। वैसे ही युग-पुरुष महात्मा गान्धी नेब्रिटिश सत्ता का अन्त किया। अब हमारा प्रजातन्त्र राज्य है। हमें अब आशा करनी चाहिये कि विदेश में करोड़ों रुपये जो औषधि-खाते में जाते हैं, उनको रोककर स्वदेशी आयुर्वेदीय चिकित्सा की

उन्नति में लगावें और स्वतन्त्र राज्य होने का परिचय दें।

वर्तमान राज्य-शक्ति का कर्तव्य है कि वह प्रजा की सब आवश्यकताओं को पूरा करे। अन्न, वस्त्र, औषधि, और निवास-स्थान, यह मनुष्य मात्र की इहलौकिक आवश्यकताएँ हैं। हमारे अन्न, वस्त्र, और निवास स्थान के लिये तो सरकार हर प्रकार से प्रयत्नशील है, किन्तु स्वदेशी औषधि के सम्बन्ध में अभी तक वह उदासीन है, यह चिन्तनीय है। इस उदासीनता को दूर कराने के लिये वैद्यों को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ेगा। वैद्य समुदाय का कर्त्तव्य है कि सरकार पर अपने-अपने प्रान्त की धारासभा के सदस्यों द्वारा आयुर्वेद सम्बन्धी कानून बनवाने का यत्न करे, जिससे निम्नलिखित कार्य सम्पादित हो सके—

(१) निखिल भारतीय परिषद् ;

(२) वैद्यों की रजिष्ट्री (रजिष्ट्रेशन);

(३) अष्टाङ्ग आयुर्वेद की सर्वत्र समान शिक्षा;

(४) आयुर्वेदीय प्रान्तीय महाविद्यालयों की स्थापना ;

(५) निखिल भारतवर्षीय निर्माणशाला की स्थापना ;

(६) अन्वेषण-विभाग की स्थापना ;

(७) औषधियों के संग्रह, संरक्षण और विक्रय पर कानूनी नियमन।

मेरा विश्वास है कि वर्तमान सरकार उक्त सात काम कर दे तो आयुर्वेद की उन्नति अवश्यम्भावी है।

पहली आवश्यकता

स्वामी विवेकानन्द

पहली आवश्यकता इस बात की है हमारे नौजवान मजबूत हों। धर्मका विचार इसके बाद करना होगा। मेरे नौजवान मित्रो, बलवान बनो। मेरी तुम्हें यही सलाह है। गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबॉल खेलकर तुम भगवान् के अधिक निकट पहुंच सकोगे। शब्द अखरनेवाले हैं, पर मैं इन्हें तुम्हें कहे बिना रह नहीं सकता, कारण, तुम मेरे प्रिय हो। मैं जानता हूं रोग का मूल क्या है! मुझे कुछ अनुभव है। गीता को तुम कुछ अच्छी तरह समझ सकोगे, यदि तुम्हारे बाहु, तुम्हारी पेशियां कुछ अधिक दृढ़ होंगी। कृष्ण की 'विशाल बुद्धि' और विशाल शक्तिको समझने की योग्यता तुममें तब आयगी जब तुम्हारे लहूमें थोड़ा सामर्थ्य आयगा। उपनिषदों को और आत्मा की विभूति को जरा अच्छी तरह बूझ पाओगे जब तुम्हारे पैरों में स्थिरता आयगी, जब तुम अपने को 'मनुष्य' समझने लगोगे। [१]

—अनु० वैद्य रणजित राय

१—First of all, our young men must be strong. Religion will come afterwards. Be strong, my young friends; that is my advice to you. You will be nearer to Heaven through football than through the study of Gita. These are bold words, but I have to say them, for I love you. I know where the shoe pinches. I have gained a little experience. You will understand the Gita better with your biceps, your muscles a little stronger. You will understand the mighty genius and the mighty strength of Krishna better with a little of strong blood in you. You will understand the Upanishads better and the glory of Atman, when your body stands firm upon your feet, and you feel yourselves as men.

उद्यान-वृक्ष—४

एमहर्स्टिआ, अशोक और ग्लिरिसीडिआ

श्री भानु देसाई—डाइरेक्टर, पार्क्स एण्ड गार्डन्स, मुम्बई

एमहर्स्टिआ

भिन्न-भिन्न वृक्षों में भिन्न-भिन्न प्रकार की सुन्दरता होती है। कोई अपने आकार के कारण, कोई घटा के कारण, कोई पत्तों के मार्दव के कारण और कोई अपने पुष्पों के कारण जनता की प्रीति का पात्र बनते हैं। द्विदल-वर्ग के बड़े वृक्षों में गुलमौर, केशिया आदि का समकक्ष एक वृक्ष 'एमहर्टिआ नोबिलिस'[1] है। यह ब्रह्मदेश से भारत आया है, अतः इसके विषय में संस्कृत वाङ्मय में कुछ उल्लेख नहीं पाया जाता। न ही भारतीय वद्दिदों पर लिखे गये अति प्राचीन अंग्रेजी ग्रन्थों में इसका समावेश है। नयी प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों में इसका वर्णन पाया जाता है।

इस वृक्ष को अंग्रेजी में 'स्वर्ग का वृक्ष' कहते हैं। हमें भी इसी से मिलता-जुलता अथवा इसके फूलों की शोभा के अनुरूप अन्य नाम भारतीय भाषाओं में इसे देना ही चाहिए। और कोई उद्भिद्वेत्ता जब तक कोई नया नाम न सुझावे तब तक हम इसे 'इन्द्रवृक्ष' कह सकते हैं। वैसे आयुर्वेद में इन्द्रवृक्ष नाम का अन्य वृक्ष भी है, जो धातकी के वर्ग का है तथा जिसे टोकाकारों के लेखानुसार बोल-चाल में 'इन्दरख' कहते हैं।

कइयों ने इसका वर्णन करते हुए संपूर्ण उद्भिद्-वर्ग में इसे सबसे सुन्दर कहा है। यह अत्युक्ति[2] हो सकती है, तथापि इस बात में कोई असत्य नहीं कि गिने-चुने सुन्दरतम वृक्षों में इसकी गणना की जा सकती है। एमहर्स्टिआ नोबिलिस के पत्र लम्बे, मुलायम तथा अनेक उपपत्रों वाले होते हैं। डंडी से निकलनेवाले पत्रदण्ड के दोनों ओर कोमल-कोमल लम्बे पत्ते लगे होते हैं। वृक्ष में जब नये पत्ते अंकुरित हो रहे होते हैं उस समय अत्यधिक कोमल प्रतीत होने वाली इसकी पाटल (गुलाबी) वर्ण की पत्तियों के गुच्छ के गुच्छ इसकी प्रत्येक शाखा पर दृष्टिगोचर होते हैं। पत्ते पकने पर हरित-वर्ण तथा दृढ़ हो जाते हैं। पत्तों के पाटल से हरित वर्ण की कक्षा को पहुंचने तक पत्तों के यूथ ताम्रवर्ण, गहरे गुलाबी तथा जामुनी रंग की, इस प्रकार अनेक प्रकार के रंगों की छाया में से गुजरते हैं। अशोक के पत्तों में भी इसी प्रकार क्रमविकास देखा जाता है।

फूलों की शोभा तो बाँचने की अपेक्षया स्वयं देखने से ही भली-भाँति खयाल में आ सकती है। पहले, वृक्ष की भिन्न-भिन्न शाखाओं पर नीचे की ओर गुलाबी रेशमी डोरों-जैसी लम्बी-लम्बी डण्डियां (पुष्पदण्ड) लटकती दिखाई देती हैं। इन रेशमी डोरों पर चारों ओर फैली हुई, नीचे की ओर क्रमशः सँकरी होती जानेवाली कलिकाओं की व्यवस्था

१—Amherstia Nobilis,

२—अंग्रेजी 'एग्जेजरेशन' के लिए 'अतिशयोक्ति' शब्द भी प्रसिद्ध है। पर अतिशयोक्ति तो एक अलंकार का वाचक है, जिसमें उपमान और उपमेय का अभेद मानकर उपमेय के स्थान पर उपमान का ही प्रयोग होता है। अतः इस शब्द का उसी अर्थ में व्यवहार योग्य होने से 'एग्जेजरेशन' के लिए अत्युक्ति शब्द का सविशेष व्यवहार करना चाहिये।

चित्त को आवर्जित (आकृष्ट) करती है। कलिकाएँ विकसित होकर जब पुष्पित होती हैं, तब तो यही भास होता है जानो किसी ने रंगबिरंगे झूमर लटका दिये हों।

एमहर्स्टिआ के फूलों की डण्डियाँ गहरे गुलाबी रङ्ग की होती हैं। फूल के ऊपरी भाग पर दो पंखड़ियों का गहरा गुलाबी या रक्तवर्ण कवच होता है। कवच के नीचे पुष्पकोश होता है, जो चार पंखड़ियों से बना होता है। ये पङ्खड़ियाँ फूलों की पङ्खड़ियों जैसी ही प्रतीत होती हैं। इनके नीचे वास्तविक फूल होता है। फूल में हलके लाल रङ्ग को, कुछ पीतिमा लिये तीन पंखड़ियाँ होती हैं। इन तीन पंखड़ियों में ऊपर की पंखड़ी सबसे बड़ी होती है। फूल में दस पुंकेशर आगे निकले होते हैं।

परन्तु पुष्प-गुच्छों की शोभा यहीं तक सीमित नहीं। कोमल बीजों की फलियाँ भी रक्त और हरितवर्ण रेखाओं वाली होने से बहुत रमणीय होती हैं। इस प्रकार कलियों, विकसित पुष्पों और कोमल कलियों के संमिश्रण से एक अपूर्व गुच्छ बन जाता है। इस वृक्ष के फूलों की सुन्दरता मौसंबी[1] के फूलों की शोभा से बहुत मेल खाती है। फूल जनवरी से अप्रैल तक आते हैं।

एमहर्स्टिआ के सदृश एक और वृक्ष 'ब्राउनिया' होता है। एमहर्स्टिआ का काण्ड कठिन होता है। लकड़ीपर गुलाबी रङ्ग की फीकी रेखाएँ होती हैं। ये वजन में भारी होती हैं।

इस वृक्ष को बीज द्वारा उगाना अति दुष्कर है। हाल ही में सेरेडिक्स नामक मूल उत्पन्न करने वाले द्रव्य की सहायता से इसकी अण्टा-कलम (गुटी) करने में बहुत सफलता मिली है। मुम्बई में एमहर्स्टिआ के शायद ही दो-तीन वृक्ष हों। इनमें एक छोटा, सुन्दर, घटादार वृक्ष राटा बाग में है।

बागबानी (उद्यान-कला) के शौकीन पुरुषों को अपने बगीचों में यह वृक्ष अवश्य लगाना चाहिये।

अशोक

संस्कृत साहित्य के रसिकों में शायद ही कोई होगा जो अशोक के नाम से परिचित न हो। आदि कवि ने अशोक-वाटिका को सीतादेवी के बन्धन-स्थान के रूप में पसन्द करते हुए अपने हृदय की मृदुता का तो परिचय दिया ही है, हिन्दु-जाति के हृदय-धाम में इस वृत्ति को सदा के लिए आरोपित भी कर दिया है। संस्कृत-कवियों ने इसको जो गौरव प्रदान किया है उससे तो यही अनुमान होता है कि यह वृक्ष प्रत्येक उद्यान और उपवन में अवश्य लगाया जाता होगा। इसके सिवाय इसका नाम अशोक (शोक रहित) होने से इसका सम्बन्ध कामदेव से बताया जाता है। पुष्पधन्वा के फूलों के पाँच बाणों में एक अशोक-पुष्प भी माना गया है। वैदिक तथा बौद्ध दोनों इस वृक्ष को पवित्र मानते हैं। कहते हैं भगवान् तथागत (बुद्ध) का जन्म इस वृक्ष के नीचे हुआ था। वैद्यक में भी यह वृक्ष सुप्रयुक्त है।

प्राचीन साहित्य में अशोक का जो और जितना वर्णन पाया जाता है उससे संभावना होती है कि यह कोई बहुत बड़ा घटादार वृक्ष होगा तथा उद्यान के अन्य वृक्षों के मध्य अपनी विशालता के कारण एकदम दृष्टिगत होता होगा। परन्तु सत्य यह है कि अशोक कद में छोटा, साधारण विस्तार वाला तथा इस पर फूल नहीं होते तब अनाकर्षक होता है। जहाँ जहां भी यह वृक्ष पाया जाता है वहाँ-वहाँ गुलमोर अथवा बरगद के समान अलग रहकर अपना प्रभाव न प्रदर्शित करता हुआ अन्य वृक्षों के यूथ में, उनकी

1—Orchid—ऑर्चिड।

ओट में किंवा बागों के कोनों में उगा देख पड़ता है। इससे अनुमान होता है कि इसकी प्रकृति सुकुमार होने के कारण इसे सावधानी से अन्य वृक्षों के साथ उनकी छत्र-च्छाया में उगाया जाय तभी सफलता सहित उग सकता है।

अशोक के पत्तों में अनेक उपपत्र होते हैं। एमहर्स्टिया के समान इसकी कोमल पत्तियाँ जब नयी नयी निकली होती हैं तो मुलायम और बल खाये हुए होती हैं। प्रारम्भ में ये श्वेतिमा लिये धूसर वर्ण की होती हैं। ज्यों-ज्यों परिपक्व होती जाती हैं त्यों-त्यों वर्ण बदल कर ललाई पकड़ती जाती हैं। कुछ ही दिनों में यह रङ्ग भी बदल जाता है और गहरा हरा रङ्ग उसका स्थान ले लेता है। साथ ही उपपत्र भी दृढ़ होकर पत्रदण्ड के दोनों पार्श्वों पर आ जाते हैं।

अशोक के फूलों की व्यवस्था एमहर्स्टिआ के समान कलामय नहीं होती। परन्तु फूल आकार में बहुत छोटे तथा बड़े-बड़े गुच्छों के रूप में व्यवस्थित होने के कारण बाग में दूर से आँखों को आकृष्ट करते हैं। फूल कोमल, पीलापन लिये नरङ्गी रंग के होते हैं। कालक्रम से ये गहरे कुकुंम-वर्ण के हो जाते हैं। परिणामतया, एक ही पुष्प-गुच्छ में रङ्गों के पृथक्-पृथक् मिश्रण के कारण फूल बड़े मनोहर लगते हैं।

अशोक के फूल को गुच्छ से अलग किया जाय तो वह विशेष सुन्दर नहीं प्रतीत होता। पहले तो इसके बारीक नली-सरीखे फूलों में पंखड़ियाँ ही नहीं होतीं। उनका कार्य पुष्प-कोश की रंगीन पत्तियों द्वारा होता है। पुंकेशरों के झुन्ड भी फूलों की शोभा में वृद्धि करते हैं।

अशोक के बीज की पपड़ियाँ चपटी, ललाई लिये चमड़े के समान मोटी होती हैं। इनके ऊपर रेशे होते हैं। उनमें कोई खास आकर्षण नहीं होता। ये फलियाँ जब कोमल होती हैं तब गहरे जामुनी रंग की होती हैं। पीछे से ये काली हो जाती हैं। अशोक के बीज संचित करने हों तो फलियाँ सूखने को हों उससे पूर्व उन्हें तोड़ कर सुखा लेना चाहिए। ऐसा न करने से पेड़ पर ही उनके सूख कर फट जाने से बीजों के बिखरने की भीति रहती है।

अशोक-त्वचा का वैद्यक में उपयोग सुप्रसिद्ध है। गर्भाशय पर क्रिया करने वाले द्रव्यों में अशोक प्रमुख है। आयुर्वेदीय औषधों के परिचय में आये हुओं में कोई ही होगा जिसने 'अशोकारिष्ट' का नाम न सुना हो। अशोक घृत इसका अन्य कल्प है, जिसका बहुधा व्यवहार होता है। 'अशोक कर्डिअल' आदि नामों से कई अंग्रेजी दवा बनाने वाली फार्मेसियाँ अशोक के कल्प बनाती हैं। अपने कषाय रस के कारण अशोक अनैच्छिक मांस की दृढता[1] को बढ़ाता है। गर्भाशय के मांस सूत्रों पर इसकी यह क्रिया विशेषतया होने से श्वेत तथा रक्त प्रदर में अशोक के कल्पों का व्यवहार होता है। अशोक और लोध्र दोनों के शास्त्रोक्त पृथक् कल्पों के स्थान पर उनके संयुक्त कल्प अधिक गुणकारी सिद्ध हुए हैं। कई वैद्य तथा फार्मेसियाँ इसी प्रकार इनका व्यवहार करती भी हैं। सतत उपयोग से प्रदर के सहकारी लक्षण – दौर्बल्य, भ्रम, कटिशूल आदि—भी दूर होते हैं। अशोक की छाल पेट के रोगों में भी प्रयुक्त होती है। फूलों को कूटकर प्रवाहिका (पेचिश) में देते हैं।

अशोक इतना प्रयुक्त होते हुए भी इसका परिचय कम लोगों को होता है। प्रायः गुजराती में जिसे 'आसोपालव' कहते हैं उसे ही अशोक समझा जाता है। भूल से उसका उपयोग अशोक के स्थान पर करने से गुण-लाभ भी नहीं होता।

अशोक की लकड़ी नरम होने से किसी काम में नहीं आती। यों यह वजन में भारी होती है। बाग-बगीचों में, खास कर जिन्हें प्राचीन संस्कृति के प्रति सद्भाव है, उन्हें यह वृक्ष अवश्य लगाना चाहिये।

१—Tone-टोन।

ग्लिरिसीडिया

कुछ ही काल पूर्व विदेश से आयी वस्तु के लिए तत्काल कोई देशी नाम मिलना मुश्किल होता है। ग्लिरिसीडिया के विषय में भी यही बात है। यह हमारे देश में नया-नया ही विदेश से आया है। अतः इसे कोई देशी नाम दिया गया न होने से यह अपने अंग्रेजी नाम से ही ख्यात है। इसका संपूर्ण लेटिन नाम 'ग्लिरिसीडिया मेक्युलाटा' है! इसका अर्थ "चूहों को मारने वाले धब्बों वाला" है। इतना लम्बा नाम व्यवहारोपयोगी न होने से शायद कोई इसे 'मूषक वृक्ष' या ऐसा ही कोई नाम देनेका विचार करें। परन्तु ग्लिरिसीडिया के वृक्षों की सुन्दर वीथियाँ जिसने देखी हों वह ऐसा नाम कदापि पसन्द न करेगा।

ग्लिरिसीडिया देखने में छोटा, बड़े वेग से उगने वाला और थोड़े पानी से होने वाला वृक्ष है। इसके तने पर धूसर त्वचा तथा उस पर सीधी तरेड़ें पड़ी होती हैं। कभी-कभी इस में एक तना न होकर जमीन के पास से ही फूटे हुए तीन या अधिक तने होते हैं। ग्लिरिसीडिया की शाखाओं की वृद्धि अन्य साधारण वृक्षों से भिन्न होती है। ये तिरछी दिशा में न निकल कर सोटे के समान लम्बी और ऊपर की ओर बढ़ती हैं। इनकी छाल भी धूसर-वर्ण होती है। ऊपर चित्तियों जैसे धब्बे होते हैं।

ग्लिरिसीडिया के लम्बे-लम्बे पत्तों में अनेक उपपत्रों की जोड़ियाँ होती हैं, जो मध्य सिरा से निकलती हैं। पत्ते के सिरे पर एक चौड़ा उपपत्र होता है। साधारणतया पत्ते हरे, चिकने और देखने में आकर्षक होते हैं। पत्तों में नाईट्रोजन का प्रमाण बहुत होने से उन्हें खाद के रूप में काम में लाया जा सकता है।

शीतकाल के प्रारम्भ में ही इस वृक्ष के सभी पत्ते झड़ जाते हैं, और वृक्ष निर्जीव जैसा लगता है। परन्तु फरवरी में शाखाओं पर श्वेत और जामुनी रङ्ग के मिश्र फूलों कि पंक्तियाँ निकल आती हैं। इन्हें देखने से ऐसा मालूम होता है जानों फूलों की ही फुट लम्बी डाली न हो। ग्लिरिसीडिया जब फूलों से लदा होता है तब इसकी सुन्दरता को कोई वृक्ष पहुंच नहीं पाता। इसके सिवाय इसके फूलों में मधु का प्रमाण खूब होने से हजारों मधुमक्खियों के टोले ग्लिरिसीडिया के वृक्षों के आसपास मँडराया करते हैं।

मार्च-अप्रैल में फूल विरल होने लगते हैं और हरे पत्तों की कोपलें निकलने लगती हैं। साथ ही (कत्थई) हरी चपटी फलियाँ भी बढ़ कर बड़ी और नसवारी रंग की हो जाती हैं। इन फलियों में छोटे चपटे, मटियाले रंग के बीज होते हैं।

ग्लिरिसीडिया की सुन्दरता सुरक्षित रखने के लिए तथा उसका सुडौलपन बिगड़े नहीं इस हेतु वर्ष में एक बार उसकी डालियों की काट-छांट करनी चाहिये। ऐसा करने से दूसरी नयी सीधी डालें फूट कर उन पर फूलों की बहार आती है। डालों की काट-छांट न की जाय तो वे टेढ़ी-मेढ़ी होकर बेढङ्गी हो जाती हैं तथा फूल भी कम आते हैं।

दक्षिण अमेरिका में ग्लिरिसीडिया के तले कोको के पौधे लगाये जाते है। इससे उन्हें छाया मिलती हैं तथा वे हवा से भी बचे रहते हैं। भारत में जहां थोड़े समय में ही बाड़ें तथा छायादार वृक्ष लगाने हों वहाँ ग्लिरिसीडिया जैसे उपयुक्त वृक्ष शायद ही कोई हों!

ग्लिरिसीडिया की पौध बीज से होती है। परन्तु, चौमासे में इसकी शाखाओं के टुकड़े करके कलम बनाकर लगा देने से शीघ्र ही नये पेड़ तथा बड़ी बाड़ें तय्यार हो जाती हैं। उगने का तीव्र वेग, पौध लगानेका सौकर्य, फूलोंकी मोहक वर्ण और डालों पर उनके लगने की सुन्दर व्यवस्था के कारण यह पेड़ बाग-बगीचों में लगाने के योग्य है। ग्लिरिसीडिया के श्वेत फूलों की जाति भी कहीं-कहीं देखी जाती है।

पर्णम्

कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, बी० ए०

वनस्पतियों को पहचानने में सब से अधिक उपयोगी 'पर्ण-पत्ता' है। हरे पत्ते को 'पर्ण' (पर्ण-हरितभावे) नाम दिया गया है। यद्यपि 'पत्रं पलाश-च्छदः दलं छदनः पुमान् (अमर)" इत्यादि अनेक नामान्तर पाये जाते हैं किन्तु हरितभाव की विशेषता के कारण इस शास्त्र में पर्ण विशेष संज्ञा दी गई है।

पर्ण के कार्य

पत्तों के उपर्युक्त नामों से ही इनका कार्य स्पष्ट हो जाता है। "पृ" पालन पूरणयोः, पृण प्रीणनं, पिपर्तीति पर्णं, पृणातीति पर्णं" आदि व्युत्पत्तियों में पर्णों के सब कार्य बता दिये गये हैं जो कि आधुनिक वनस्पति विज्ञान बताता है। अतिसूक्ष्म शब्दों में गहन भाव भर देना और वह भी पूर्णरूप से, यह संस्कृत भाषा तथा इसके आचार्यों की विशेषता है। आधुनिक वनस्पति विज्ञान जिस बात को कई पृष्ठों में वर्णन करता है, उस समस्त ज्ञान को दो अक्षरों-वाले "पर्ण" शब्द में भर देना हमारे ऋषियों के ज्ञान गाम्भीर्य का द्योतक है। उक्त व्युत्पत्तियों के अनुसार पत्ता वनस्पति का पालक और पोषक है। "पततीति पत्रं" के अनुसार पत्र की आयु का भी वर्णन हो जाता है। अस्तु।

'पर्ण' के प्रधान कार्य अधोलिखित हैं :—

(१) आहार निर्माण :—मूल द्वारा आचूषित जल-तथा अन्य खनिज लवणों को आहार के रूप में परिवर्तित करना, जिससे वे वनस्पति के देह का अवयव (सात्म्यीकरण द्वारा) बन जाएँ। यह कार्य सूर्य-प्रकाश की सहायता द्वारा सम्पन्न होता है।

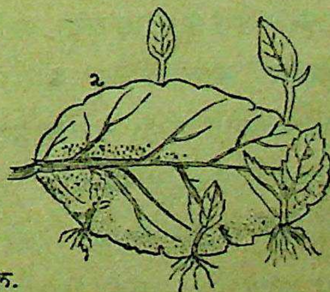
(२) श्वसन :—श्वास तथा प्रश्वास द्वारा वायु का शोधन करना। प्रश्वास में वनस्पति शुद्ध वायु को वायुमण्डल में छोड़ता है। तथा श्वास में दूषित वायु (कार्बन-द्वि-ओषित्) को ग्रहण करता है। यह कार्य केवल सूर्य प्रकाश की उपस्थिति में ही क्रिया होता है। अतः वायु-मण्डल का शोधन दिन में ही होता है। रात्रि में नहीं। रात्रि में वनस्पतियाँ भी दूषित वायु ही छोड़ती हैं। अतएव रात्रि में वनस्पतियों के नीचे सोना निषिद्ध है।

(३) रस-संवहन :—मूल द्वारा ग्रहण किये हुये जल का समग्र वनस्पति में संचार कराना तथा आवश्यकता से अधिक जल को वाष्प द्वारा वायुमण्डल में छोड़ना।

(४) आहार संचय :—घृतकुमारी, प्याज, लहसुन, लोणिका आदि वनस्पतियों में आहार संचित होता रहता है।

(५) प्रजनन :—विरलतया प्रजावृद्धि का कार्य भी पत्ते करते हैं। इस प्रकार की वनस्पतियों को 'पर्ण बीज' कहा जाता है। पाषाण भेद इसी (चि०सं०४३.)

पर्ण बीज (पाषाण भेद)



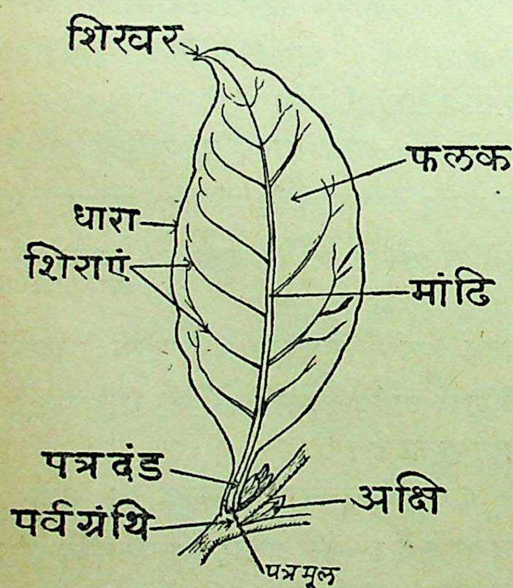
चित्र—४३

प्रकार की वनस्पति है। चित्र संख्या ४३ में पाषाण भेद के पर्ण से उत्पत्ति दिखाई गई है। इस प्रकार की अमैथुनिक सृष्टि को "प्रारोहक-सृष्टि" नाम दिया गया है।

पर्ण के अवयव

पर्ण के अवयव पर्ण काण्ड की वृद्धि का बाह्य-रूप हैं। ये काण्ड के शिखर के पार्श्व में उत्पन्न होते और बढ़ते हैं तथा अनेक स्वरूप के होते हैं। इनमें मुख्यतया निम्नलिखित अवयव पाये जाते हैं :—

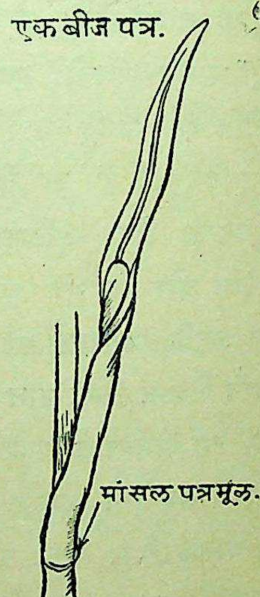
(चि॰सं॰ ४४)



चित्र—४४

(१) पत्रमूल या पत्राधार :—(चि॰ ४४) पत्र प्रजनन के स्थान पर काण्ड के साथ लगा रहने वाला भाग 'पत्राधार' कहलाता है। अनेक उद्भिदों में, विशेषत: एकबीज पत्रकों—यथा घासों गेहूँ, जौ, आदि—में पत्रमूल पर चारों ओर एक पतला-सा कोष चढ़ा रहता है। इसे 'पत्रमूल कोष' कहा जाता है। इसके विपरीत द्विबीज पत्रकों—गुलाब, आम, जामुन, आदि—में पत्र-मूल के पार्श्व में दो क्षुद्रपर्ण पाये जाते हैं। इन्हें "उपपत्र" कहा जाता है। ये चित्र संख्या ३६ में दर्शाये गये हैं। जिन वनस्पतियों में पर्ण उपपत्र सहित होते हैं उन्हें 'सोपपत्र' (यथा चित्र ३६ में) तथा उपपत्र रहित होने पर 'निरुपपत्र' (यथा चित्र संख्या ४४ में) कहा जाता है। कुछ वनस्पतियों में, यथा चना, मटर, इमली, अपराजिता आदि में, स्फीत या फूला हुआ होता है। गद्देदार होने के कारण इस प्रकार के पत्रमूल को 'स्फीत या मासंल पत्रमूल' कहा गया है, यथा चित्र संख्या ४५ में।

(चि॰सं॰ ४५)



चित्र—४५

(२) पत्रदण्ड वा पत्रवृन्त :—यह पत्रफलक को काण्ड के साथ संयुक्त करने वाला लम्बा सा दण्ड-समानाकृति अंग है। अतएव इसे 'पत्रदण्ड' संज्ञा दी गई है। जिन वनस्पतियों में यह पाया जाता है उन्हें 'सदण्ड वा सवृन्त' संज्ञा दी जाती है, यथा चित्र संख्या ४४ में। जिनमें इस अंग का आभाव होता है उन्हें 'अवृन्त वा

निर्दण्ड' नाम दिया जाता है, यथा चित्र संख्या ४५, ४८, ४६, ५०, ५१, ५२ में। दूसरी प्रकार की वनस्पतियों में पत्रफलक काण्ड को अधूरे वा पूरे रूप में घेरे रहता है, यथा ४८ से ५२ तक के चित्रों में।

(३) पत्रफलक :—यह पर्ण का हरा तथा चौड़ा भाग है। फलक ही पर्ण का प्रधान भाग है। इससे ही पर्ण के सारे व्यापार होते हैं तथा इससे ही वनस्पति का परिचय मिलता है। फलक के अध्ययन से पत्राग्र, पत्रशिखर, किनारा या धारा, शिरास्थिति, आकृति एवं कुछ अन्य बातों का पता लगता है। बहुधा पत्रफलक और पत्रदण्ड एक ही दिशा में पाये जाते हैं, जैसा कि चित्र संख्या ४४ में स्पष्ट है, किन्तु कमल, सिंघाड़ा आदि में पत्रवृन्त पत्रफलक के मध्य में रहता है। इस प्रकार के पर्णों का 'ढालाकार' नाम दिया गया है।

पर्ण-विकास

सर्वप्रथम पत्रमूल पत्रफलक से भिन्न दिखाई देने लगता है। पुनः पत्रमूल उपस्थित होने लगताहै तथा मांसल हो जाता है। आकृति के अनुसार इस के निम्नलिखित तीन भेद होते हैं :—

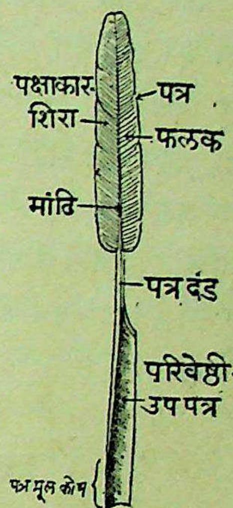
(१) मांसल पत्रमूल, यथा चित्रसंख्या ४५ में।

(२) पत्रमूलकोष, यथा चित्र संख्या ४६ में।

(३) उपपत्र, यथा चित्र संख्या ३६ में।

पर्ण-फलक भी विकसित हो जाता है। इसके दो पृष्ठ या तल होते हैं। ऊपर सूर्य प्रकाश में रहनेवाला पृष्ठ "ऊर्ध्व पृष्ठ या ऊर्ध्व तल" उदर कहाता है और निचला पृष्ठ 'अधर-पत्र पृष्ठ' कहलाता है। इन दोनों तलों के मध्य में शिराओं का जाल बिछ जाता है, यथा चित्र संख्या ६२ में। पत्रफलक, वृन्त तथा पत्राधार द्वारा,काण्डसे दूर रहता है। अतएव पत्रफलक का स्वरूप काण्ड से सर्वथा भिन्न ही होता है। साधारणतः फलक हरा ही होता है। उस

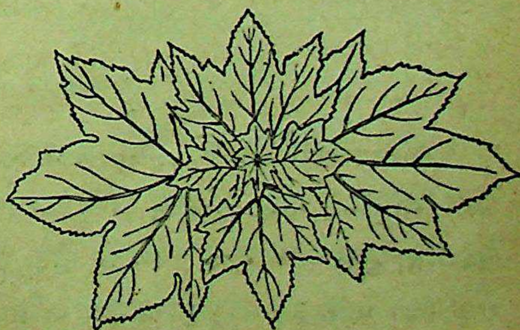
कदलीपत्र.



चित्र—४६

का ऊर्ध्व और अधरतल काण्ड के साथ समकोण पर इस प्रकार अवस्थित रहता है, जिससे सब पत्रों को पर्याप्त सूर्य प्रकाश मिलता रहे। पत्र का ऊर्ध्व तल प्रायः सूर्य प्रकाश के संपर्क में रहता है। विशेष प्रकार के पर्णव्यूह (छत्रक, छत्तेदार) वाले पत्तों में यह बात विशेष रूपेण स्पष्ट होती है; यथा चित्र संख्या ४७ में।

पर्णव्यूह (छत्राकाकार).



चित्र—४७

पर्ण-भेद

पर्ण के कार्यों के समान ही इनकी आकृति में भी भेद पाये जाते हैं। आवृतबीज वनस्पतियों में निम्न भेद देखे जाते हैं :—

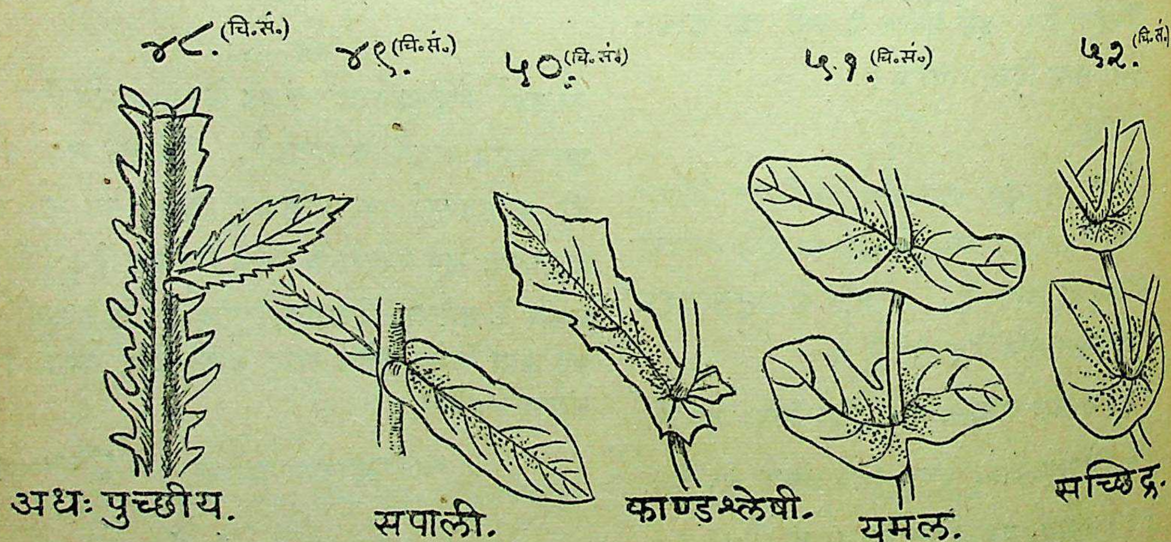
(१) बीजपत्रक :—अंकुरोत्पत्ति के समय में बीज में से सबसे पहले बाहर आने वाले पत्र, यथा चित्र संख्या ५ (ख) में। ये सीधे बीजों से ही बाहर निकलते हैं तथा साधारण पत्रों की अपेक्षा बहुत छोटे होने के कारण इन्हें पत्रक (कन् प्रत्यय लघुता अर्थ में आता है) कहा जाता है। अर्थात् ये बीजों से निकलने वाले क्षुद्र पर्ण हैं। संगठन के विचार से ये बहुत साधारण पत्र हैं।

गांठ, आंख, गन्ने आदि में) इन वल्क पत्रों के मूल में रहती हैं। जिस प्रकार वल्कल (छाल) वृक्ष के सुकोमल अंगों की रक्षा करती है, उसी प्रकार ये वल्कपत्र शीत, उष्णता, वायु, आतप, कीटों आदि से उनकी रक्षा करते हैं। कुछ आचार्य इन्हें 'सकल पत्र' या 'शल्क पत्र' भी कहते हैं।

(३) पर्ण :—हरे पत्तों को कहते हैं। जिनका वर्णन अभी ऊपर किया गया है।

(४) पुष्पाच्छद वा पुष्पावरक पत्र :—ये विशिष्ट प्रकार के पत्र हैं। इनका विशेष वर्णन पुष्प-प्रकरण में किया गया है। ये रंगीन या हरे दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। पुष्पगुच्छ

अवृन्त पत्रों के भेद.



चित्र—४८, ४९ ५०, ५१, ५२

(२) वल्क पत्र :—ये छोटे, शुष्क, (कभी-कभी सरस और मांसल, यथा पलाण्डु में), निर्दण्ड एवं प्रायः धूसर (मटियाले) वर्ण के होते हैं, यथा चित्रसंख्या ३६ में)। इनका कार्य अक्षियों का रक्षण है। ये अक्षियां (शाखा उत्पादक

या पुष्प के उद्भव स्थान पर पाये जाते हैं। ये पुष्पमूल या उसके उद्गमस्थान को चारों ओर से ढके रहते हैं।

(५) पुष्पपत्र वा पुष्पदल :—ये पुष्पों के पत्र हैं। इनकी रचना (गठन) विशिष्ट प्रकार की होती

है। ये बीजोत्पादन करते हैं या इस कार्य में सहायता देते हैं।

(६) सबीजाणु पत्र :—ये अपुष्प वनस्पतियों हंसराज, शैवाल, काई आदि में पाये जाते हैं। इन पर अमैथुनिक सृष्टि के सूक्ष्म बीज (बीजाणु) चिपटे रहते हैं।

अवृन्त या निर्दण्ड पत्रों के भेद

(१) अधःपुच्छीय :—इन वनस्पतियों में पत्रमूल पक्षी के पर जैसी आकृति के होते हैं। श्लैष्मिक कला का बना पक्ष काण्ड पर नीचे की ओर कुछ दूर तक फैला रहता है, जिससे काण्ड 'सपक्ष' सा दीखता है, यथा चित्र संख्या ४८ में।

(२) सपालि पत्र :—कान के निचले लटकते हुये भाग को "पालि" कहा जाता है। इस भाग में ही आभूषण पहने जाते हैं। पालि के समान ही अवृन्त पत्र के दो भाग काण्ड को तीन दिशाओं से घेरे रहते हैं, चौथी ओर की दिशा रिक्त रहती है। इस प्रकार को 'सपालि' संज्ञा दी गई है। अर्क (मदार) आदि में यह प्रकार देखा जाता है (चित्र संख्या ४९)।

(३) काण्डश्लेषी :—जब पत्रमूल से निकले हुये काण्ड को चारों ओर से घेर कर आलिंगन करते जैसे प्रतीत होते हों, यथा हिरणखुरी आदि वनस्पतियों में, तब उन्हें काण्डश्लेषी कहा जाता है ; यथा चित्र संख्या ५० में।

(४) यमल :—इस प्रकार में पत्र जुड़वा जैसे दीखते हैं। ये पत्र काण्ड को चारों ओर से घेर कर परस्पर मिल जाते हैं ; यथा चित्र संख्या ५१ में।

(५) सच्छिद्र वा काण्ड परिवेष्टी पत्र :—ये पत्र काण्ड के चारों ओर इस प्रकार लिपटा रहता है, मानों काण्ड-पत्र को फाड़ कर (छिद्र करके) बाहर आया हो। यथा चित्र संख्या ५२ में।

उपपत्रों के भेद तथा कार्य

इनका वर्ण, स्वरूप एवं कार्य विभिन्न होते हैं। किन्हीं वनस्पतियों से बढ़कर हरे पत्तों के समान हो जाते हैं एवं 'पर्ण' का ही व्यापार सम्पादन करते हैं। किन्तु यदि उपपत्र छोटे, शुष्क, पीले या कपिल वर्ण के एवं कलामय ही रहें तो वे 'निष्क्रिय' ही होते हैं। उपपत्र शीतकाल में शाखा की अक्षियों (गांठों) की शीत-कीट आदि से रक्षा करते हैं। वसन्त में पत्रोद्गम होने पर झड़ जाते हैं। विरलावस्था में कण्टकों आदि के रूप में भी परिवर्तित हो जाते हैं। यथा बब्बूल आदि जातियों में। यथा चित्र संख्या ५७ में।

उपपत्रों के भेद

(१) पर्वपरिवेष्टी उपपत्र :—ये मूल सहित पत्र पर्व को कुछ दूर तक चारों दिशाओं से घेरे रहते हैं! चुक्रिका, चांगेरी आदि इसके उदाहरण हैं। अतः इन्हें 'पर्वपरिवेष्टी' कहा जाता है। ये नलिकाकार होते हैं। यथा चित्र संख्या ५३ में।

(२) सन्मुखीन वा अभिमुख :—जिन वनस्पतियों में पर्व ग्रन्थि से एक ही पत्र निकलता है, उनमें यह प्रकार पाया जाता है। उपपत्र पत्राधार पर उत्पन्न होकर अपने उद्गम की दिशा के विपरीत काण्ड के चारों ओर घूम जाते हैं। इस प्रकार अग्रज उपपत्र के सम्मुख आ जाता है। यथा चित्र संख्या ५४ में।

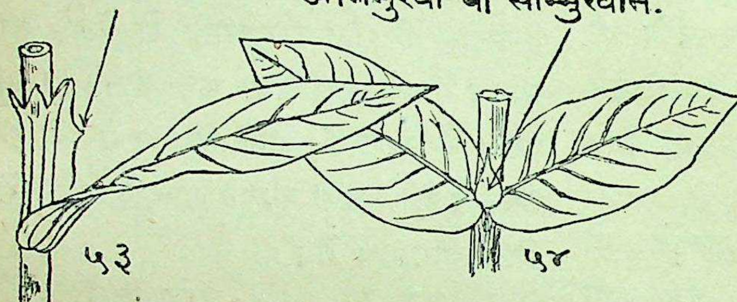
(३) पत्रदण्डीय वा पत्रवृन्तीय :—गुलाब आदि में यह प्रकार देखा जाता है। उपपत्र पत्रदण्ड के साथ-साथ कुछ दूरी तक चलता है। यथा चित्र संख्या ५५ में।

(४) अक्षीय उपपत्र :—इस प्रकार में उपपत्रों के अन्दर का किनारा (अन्तःधारा) पत्रदण्ड तथा काण्ड के मध्य में मिल जाता है और उपपत्र अक्ष (गांठ) की स्थिति में होने के कारण "अक्षीय" कहाते हैं।

उपपत्रों के परिवर्त्तित रूप

कार्य, स्थिति, जलवायु के कारण इनका स्वरूप बदल जाता है। तब इन्हें 'परिवर्त्तित-उपपत्र' कहा जाता है।

उपपत्रोंके भेद.



संयुक्त पत्र

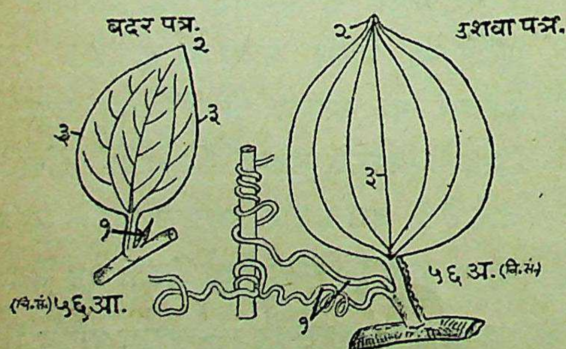


चित्र—५३, ५४, ५५

(५) उपपत्रक :—अपराजिता (कोयल) आदि कुछ उद्भिदों में प्रत्येक पत्रमूल में एक छोटा-सा उपपत्र निकलता है। इसे 'उपपत्रक' कहा जाता है।

(१) सौत्रिक उपपत्र :—उशवा आदि वनस्पतियों में यह उपपत्र तन्तु या सूत्र के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। यह आरोहण में सहायक है।

परिवर्तित उपपत्र



चित्र—५६, ५७

(२) कण्टकित उपपत्र :—बब्बूल, बेरी (बदर) लज्जालु आदि में उपपत्र कांटों के रूप में परिणत हो जाता है। ये भेद चित्र संख्या ५६ और ५७ में दिखाये गये हैं।

(क्रमशः)

श्वासरोग

कविराज अशोक कुमार आयुर्वेदालंकार

मसल मशहूर है कि "दमा दम के साथ जाता है।" इसमें चाहे कुछ सचाई हो या न हो लेकिन इससे इस रोग की गम्भीरता वा चिरस्थायिता अच्छी तरह समझ में आ सकती है।

श्वासरोग श्वासवाहिनियों का एक रोग है—"श्वास की कठिनता"। संक्षेप में हम इस रूप में इस रोग का निरूपण कर सकते हैं। सामान्य अवस्था में स्वस्थ व्यक्ति जितनी आसानी से श्वास-उच्छ्वास ले सकता है, इस रोग में वैसी सरलता नहीं रहती; अपितु रोगी को श्वास लेने में विशेष परिश्रम करना पड़ता है, जिससे उसका श्वास फूल जाता है।

इस रोग में श्वासनलियों में वायु का प्रवेश और निर्गमन सुगमता से नहीं होता; संभवतः श्वासनलियों के मिचने से ऐसा होता है। इस संकोच का कारण श्वासनलियों की श्लेष्मकला में शोथ का हो जाना है परन्तु यह प्रधान कारण नहीं है। श्वासनलिका की मांसपेशियों में उद्वर्त (Spasm) होना ही इस संकोच का प्रधान कारण प्रतीत होता है। इसीसे सहसा श्वासनलियों में संकोच होकर श्वास में कठिनता हो जाती है; अतः यह मुख्यतः वातरोगजन्य है—"यदा स्रोतांसि संरुद्धः मारुतः कफपूर्वकः विश्वग्व्रति संरुद्धः तदा श्वासान् करोति सः"। कफप्रकोप कहने से पता लगता है कि वायुप्रकोप का कारण कफ का प्रकोप है। श्वासनलियों में कफ-प्रकोपजन्य शोथ हो जाती है और इससे सहसा वायु का प्रकोप हो जाता है। पहले शरीर में इसी कफ-प्रकोपजन्य विष का उत्पन्न होना आवश्यक है। दूसरे वातिक निर्बलता का होना भी आवश्यक है; क्योंकि यह कफप्रकोप हरएक व्यक्ति में श्वास उत्पन्न नहीं करता। परन्तु किसी एक व्यक्ति में ही श्वासनलियों में वातप्रकोप होता है। इससे स्पष्ट है कि जिन में यह श्वास-सम्बन्धी वातिक निर्बलता सहजरूप में या आगन्तुकरूप में पहले से विद्यमान हो, उन्हें नासिका, कण्ठ, श्वासमार्ग आदि में थोड़ा सा कफप्रकोप हो जाने पर भी श्वास का वेग आरम्भ हो जाता है।

हमारे नाड़ीजाल में विष को सहन करने की शक्ति कभी-कभी अस्वाभाविक रूप से अति मन्द हो जाती है। इसे विष की असहिष्णुता, विष-अक्षमता या सहज वातिक निर्बलता कहते हैं। एक व्यक्ति के अन्दर किसी एक प्रकार के विष को सहन करने की शक्ति अति न्यून होती है; अर्थात् उसे विष की अधिकता से कष्ट नहीं होता; पर विष को सहन करने की स्वाभाविक शारीरिक शक्ति की हीनता के कारण कष्ट होता है। यह विष-असहिष्णुता चिकित्सा-विज्ञान में भिन्न-भिन्न रूपों में देखी जा सकती है; उदाहरणतः किसी एक व्यक्ति में धूआँ या धूल के नासिका में स्पर्श होने से उसे श्वयथु रोग हो जाता है, जब कि उतनी ही धूल या धूआँ से किसी दूसरे को श्वयथु (छिक्का) रोग नहीं होता। कभी भोजन-जन्य विष के रूप में फैल जाने से एक व्यक्ति को शीतपित्त रोग या त्वचा पर चकत्तों का रोग उद्बुद्ध हो जाता है, जब कि दूसरों में उसी विष के कारण

यह रोग नहीं होता। उस व्यक्ति की त्वचा की नाड़ियों में, जिनके कारण रक्तवाहिनियों का नियंत्रण होता है, स्वाभाविक निर्बलता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में यह निर्बलता इतनी अधिक स्वाभाविक होती है कि शरीर में उस विष की थोड़ी सी उपस्थिति से ही उसे मृगी वा अर्धावभेदक आदि हो जाते हैं। इसी प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति की श्वास-सम्बन्धी नाड़ियों में यह निर्बलता जब स्वाभाविक होती है तो उसे इस विष के कारण अनायास श्वासकाठिन्य हो जाता है। यह विष-असहिष्णुता नाना रूपों में मिलती है। जब यह असहिष्णुता होती है तब श्वास एकदम कठिन हो जाता है—श्वासनलियाँ संकुचित हो जाती हैं। कौन सी वस्तु घातक होती है, यह कहा नहीं जा सकता पर कोई प्रोटीन-श्रेणी का विष है। शरीर में जब कभी कफ-प्रकोप-जन्य विष पैदा होता है तो उस अंग में रोग हो जाता है। वातिक दुर्बलता हमारे नाड़ीजाल के एक भाग में होती है जो पैतृक परम्परा से चली आती है, आवश्यकता किसी विष के द्वारा उद्बोध करने की है। यदि हम उस विष का पता लगा सकें तो हम देखेंगे कि इसका प्रवेश होने पर त्वचा में चकत्ता पड़ जाता है। पैप्टोन (Peptone) श्रेणी का विष जब हमारे अवयवों में भर जाता है तो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में नाना प्रकार के उपद्रव होने लगते हैं। यह विष जहाँ कुछ खाद्य पदार्थ के कारण उत्पन्न होता है, वहां यह जीवाणु-विष के कारण भी उत्पन्न होता है। अजीर्णजन्य विष भी इस रोग की उत्पत्ति में सहायक हैं। कभी-कभी फूलों का पराग जब उड़-उड़ कर नासिका में आता है तो दमा हो जाता है। अनाज की धूल से भी दमा का होना सम्भव है। कभी-कभी पशुओं के बाल या त्वचा से उड़ने वाले ऊन के हिस्सों के विक्षोभ के कारण यह रोग उत्पन्न होता है। यह असहिष्णुता विभिन्न विषों के लिए भिन्न-भिन्न है। विष का अगर पता लगाया जा सके तो उसका प्रतिकार कर देने से वह ठीक हो जाता है; इसलिए कभी-कभी स्थान-परिवर्त्तन और सूखे स्थानों पर जाकर रहने से श्वास रोग ठीक हो जाता है। बहुत लोग पहाड़ पर जाकर अच्छे हो जाते हैं, कइयों को पहाड़ पर ही जाकर दमा हो जाता है।

श्वास रोग में जो असहिष्णुता या विक्षोभशीलता है वह ७ वीं नाड़ी (Vagus) में होती है। सप्तम नाड़ी के द्वारा ही श्वास-प्रश्वास की नालियों में संकोच होता है। जैसे नाड़ियों में सहज निर्बलता के कारण और रोग पैदा होते हैं वैसे ही इस नाड़ी की सहज निर्बलता के कारण यह रोग पैदा होता है। विष के अतिरिक्त शरीर में कहीं पर भी विक्षोभ हो तो उसकी प्रतिक्रियासे भी ७ वीं नाड़ी में विक्षोभ हो जाता है अर्थात् यदि शरीर में और विशेष कर फेफड़ों में कोई विषयुक्त द्रव्य पैदा हो जाए तो उसके प्रवेश मात्र से ही श्वासरोग पैदा हो सकता है। यदि शरीर में कहीं भी विष हो, जैसे नासिका या नासिका सम्बन्धी स्रोतों में शोथ, पूय हो या नासिका में नासा ग्रन्थियां हों या नासापटल वैषम्य हो—नाक एक ओर को झुकी हुई हो या शुकास्थियों की प्रतिकृति आदि के रोग हों तो इस कारण भी श्वासनलियों में विक्षोभ उत्पन्न हो सकता है। आँखों तथा दाँतों से भी विक्षोभ फुफ्फुस में प्रतिक्षिप्त हो सकता है। यही कारण है कि जिनको नासिका से छींक आदि आने का रोग रहता है उनमें से कइयों को कालान्तर में श्वास भी हो जाता है। इसी प्रकार यदि खाँसी (कासरोग) या

श्वासनलियों में शोथ उत्पन्न हो जाए, तो उसके विक्षोभ से भी श्वासरोग हो जाता है।

श्वासरोग की प्रकृति के पुरुषों को जब कभी वर्षा में, नमी से युक्त प्रदेश में, धूलयुक्त वायु में रहना पड़े या कभी बहुत श्रम करना पड़े या अजीर्ण, मलबन्ध, पाण्डु आदि रोग हो जायँ या कोई मानसिक शोक, चिन्ता आदि आघात आ पड़े या किसी भी प्रकार से शरीर में कोई विष द्रव्य प्रवेश कर जाय या केवल विष्टम्भी, अजीर्णकारक भोजन कर लिया जाय या कोई अति शीत भोजन खा लिया जाय, तो इस रोग का उपद्रव हो जाता है।

लक्षण

रोग का वेग प्रायः सहसा प्रारम्भ होता है। बहुत लोगों को इसके प्रारम्भ होने से पहिले नाक में से पानी की बूँदें आने लगती हैं, छींकें आने लगती हैं, तथा शरीर में कुछ तन्द्रा और आलस्य प्रतीत होने लगता है, जिससे अनुमान किया जाता है कि शरीर में श्वास-रोग का विष उत्पन्न हो गया है। साधारणतः रात्रि में जब रोगी लेटा हुआ होता है तो उसे सहसा अपना श्वास बन्द प्रतीत होता है; जिससे वह उठकर बैठ जाता है। फिर उसे प्रतीत होता है कि श्वास लेना उसके लिये कठिन हो गया है। श्वास लेने के लिये वह बहुत यत्न करता है। साधारणतः श्वास-उच्छ्वास दोनों के साथ सीटी जैसी आवाज सुनाई पड़ती है। अन्तःश्वास की अपेक्षा बहिःश्वास लम्बा सुनाई पड़ता है, जब कि साधारण श्वास-प्रश्वासमें बहिःश्वास थोड़ा ही सुनाई पड़ता है और अन्तःश्वास की अपेक्षा कम लम्बा होता है। जब कफस्राव होने लगता है तो बुदबुद ध्वनियाँ भी सुनाई देने लगती हैं। नाड़ी तीव्र, निर्बल और छोटी होती है; उसका विस्तार कम होता है। जब रोग उभाड़ पर होता है उस समय रोगी की छाती की परीक्षा करें तो ये लक्षण नहीं प्रतीत होते, फुफ्फुस में हवा अधिक रहती है, जिससे देखने में रोगी की छाती फूली-सी नजर आती है। चलने-फिरने से साँस में हलचल होती है और श्रम करने की शक्ति कम हो जाती है क्योंकि फुफ्फुस में श्वास-प्रश्वास लेने की शक्ति कम होती है। वेगके कारण कभी मृत्यु नहीं होती और यदि साल भर में एक दो बार ऐसा रोग हो जाए तो स्वास्थ्य में कोई कमी भी नहीं होती। पर यदि वेग जल्दी-जल्दी होने लगे तो श्वास-नलियों में वायु अधिक भर जाने और खाँसी रहने के कारण मुंह पर श्यामता बनी रहती है। हृदय पर भी इसका दुष्प्रभाव पड़ता है, हृदय में ज्यादा रक्त संचित हो जाता है, जिससे आयु की दीर्घता पर प्रभाव पड़ता है।

रोग-विनिश्चय

इसका भ्रम दूसरी श्वासरोध-सम्बन्धी व्याधियों से हो जाता है। जिनमें से मुख्य ये हैं—

(१) श्वासनलिका सम्बन्धी श्वास—यह वास्तविक श्वास रोग का परिणामरूप है परन्तु स्वतंत्ररूप में भी सम्भव है। इसमें श्वासकाठिन्य बहुत अधिक होता है। यह प्रायः शीतकाल में होता है।

(२) हृदय-सम्बन्धी श्वास—इसमें श्वास रोग के समान श्वासकृच्छ्रता नहीं होती। रोगी जल्दी जल्दी श्वास लेता है। अगर रोगी बूढ़ा हो, हृदय या मांस सम्बन्धी क्षीणता हो और पहिले कभी श्वास रोगके दौरों का इतिवृत्त न हो तो कोई संदेह नहीं रह जाता।

(३) वृक्क सम्बन्धी श्वास रोग—वृक्कों के ठीक तरह कार्य न करने से रक्त में विष-संचार होकर श्वास रोग हो जाता है, रोगीमें रक्त दबाव (High Blood Pressure) के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं। मूत्र-परीक्षा से रोग निश्चित करने में सुविधा रहती है।

(४) छिक्कारोग (Hay Asthma)—यह छिक्का ज्वर का तीव्ररूप है—यह एक प्रकार का श्वास रोग ही है। उससे इसका भेद करना उचित नहीं है। गर्मियों के प्रारम्भ में जब वायु में धूल, पराग आदि ज्यादा होते हैं, ऐसे समय में श्वासवेग हो जाता है।

अवधि और साध्यासाध्यता

श्वास रोग का आक्रमण कुछ मिनट से लेकर कई घण्टों तक रहता है। जब दौरा बहुत जोर का हो और कई घण्टों तक अविराम आता रहे तो स्थिति खतरनाक समझनी चाहिए। इससे बीमार अत्यन्त अस्वस्थ हो जाता है और मृत्यु का शिकार बन जाता है। कई बार कई रात एक ही समय पर श्वास का वेग होता है, और कुछ समय रहकर फिर शान्त हो जाता है। ऐसा मालूम होता है कि कभी रोग हुआ ही नहीं। लेकिन कुछ दिन बाद फिर से लक्षण शुरू हो जाते हैं। धीरे-धीरे बीच का विराम छोटा होता जाता है और चिरस्थायी कास उत्पन्न हो जाता है।

स्थायी श्वास रोगी की एक विशेष आकृति नजर आती है। वह प्रायः क्षीण मात्र दुर्बल स्वास्थ्य का होता है। उसकी गर्दन लम्बी, दृष्टि दयनीय तथा आँखें बाहर की ओर निकली होती हैं। साथ ही उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है।

यह रोग वैसे तो कष्टसाध्य है और अधिकांश वृद्ध पुरुषों की या स्थायी श्वासरोगियों की मृत्यु का कारण बनता है; परन्तु अगर इस रोग का आक्रमण शैशवावस्था, या तरुणावस्था के प्रारम्भ में हो और रोग के कारणों की जाँच करके उसका प्रतिकार किया जाय तो रोग बढ़ने नहीं पाता और हमेशा के लिये शान्त हो जाता है। कई बार रोग का तीव्र आक्रमण होने पर ऐसा भ्रम होता है कि श्वासावरोध आदि के कारण रोगी नहीं बचेगा। परन्तु ऐसी कठिन अवस्था में भी मृत्यु का प्रतिशत कुछ अधिक नहीं मिलता है।

चिकित्सा

प्रतिरोधक—चिकित्सक का सर्व प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि रोगी पर रोग का आक्रमण न हो। प्रत्येक रोगी जानता है कि उसे किन अवस्थाओं में रोग होता है, अतएव उनसे प्रत्येक को बचना चाहिए। बहुतों को प्रत्येक गर्मी के आरम्भ में होता है; ऐसा धूल या धुएँ के कारण सम्भव होता है। ऐसे व्यक्तियों को गाँव या शहर की बस्तियों से दूर चला जाना चाहिए और यदि वहीं किसी प्रकार रहना भी पड़े तो नाक में धूल न जाने देने का प्रयत्न करें। इसके लिये नाक में वैसलीन या घी लगाते रहें। जिस विष के प्रति असात्म्यता हो उसके सूचीवेध इस ऋतु से पहिले दे देने चाहिए। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य को निर्बल करने वाली सब बातों से बचना चाहिए। परिश्रम कम करें। हलका व्यायाम नियमपूर्वक करें और सातवें दिन पूर्ण विश्राम लें।

कई व्यक्ति बड़े शहर में चले जाने से इस रोग से बचे रहते हैं, कई गाँव में। कई लोग पहाड़ पर चले जाने से तथा कई नीचे ही रहने से अच्छे हो जाते हैं। यह वायु के भारीपन पर निर्भर है।

भोजन के बारे के इस रोग में बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। भोजन सर्वथा सुपच तथा हलका हो, भारी भोजन रात को तो कभी न करें। दही, पनीर आदि बिलकुल न लेने चाहिये, केवल सेंकी हुई रोटी एवं साग सब्जी पर रहना चाहिये, दूध का सेवन नहीं करना चाहिये। खाण्ड के स्थान पर अगर फल-शर्करा (ग्लुकोज) का उपयोग किया जाय तो अच्छा रहता है।

सोने से १०, १५ मिनट पहले गर्मपानी से

स्नान करके सो जाय तो रात को दौरा नहीं होता। हलकी विरेचक औषधि वा विरेचन लेते रहने से या कभी २ वमन लेते रहने से भी इसके दौरे का भय नहीं रहता। प्रतिश्याय से बचना चाहिए। इसके लिए नाकमें षड्बिन्दुतैल का नस्य लेते रहें या पेराफीन अथवा वेसलीन में थोड़ासा कपूर वा अजमोदा-सत मिला कर नाक में २, ४ बून्द डालते रहें। यदि नाक में कोई शोथ या पूय हो तो उसका यथोचित प्रतिकार करना चाहिए।

रोगीको वात-प्रकोपक एवं कफ-प्रकोपक भावों से बचना चाहिए। धूल से रहित खुश्क खुली हवा में रहना अच्छा है। गहरे श्वास लेने या प्राणायाम से श्वास-नलियों में वात-प्रकोप नहीं होता। छाती पर बल्य तैलों की मालिश करने से वातप्रकोप शांत होता है। दूध भी यदि बकरी का पिया जाय तो अच्छा है और चावल पुराने ही खाये जायं। लहसुन एवं हींग का सेवन भोजन में करना चाहिये तथा रात्रि का भोजन बंद कर देना चाहिये। ३ या ४ बजे के बाद कुछ नहीं खाना चाहिए।

अधिकतर शरीर में कैल्शियम वा लोह की कमी से इस रोग के बढ़ने में सहायता मिलती है, इसलिए अगर रोग के प्रारम्भ होने से इनके सूचीवेध रोगी को ५, ६ लगा दिए जायँ तो रोग बढ़ने नहीं पाता।

शामक चिकित्सा

श्वासरोग के वेग के समय रोगी को गर्म स्थान-पर गर्म कपड़ा ओढ़ाकर लिटा दें। पीने को गर्मपानी या गर्म चाय दें। हलका २ स्वेदन वाष्प के द्वारा करना चाहिए। छातीपर गर्म तैल मलना चाहिये। पांव गर्म पानी में रखवायें।

वेग की शान्ति के लिए आयुर्वेदिक औषधियों में श्वासकासचिन्तामणि वा कनकासव अच्छी हैं। कूठ का सत कनकासव के साथ दिया जाय तो और भी अधिक लाभदायक रहता है। रोगी को केवल कूठ का चूर्ण या फाण्ट या दशमूलकषाय से कूठ का चूर्ण देने से भी वेग शांत होता है-।

यह रोग क्योंकि विशेष कष्टसाध्य है और बहुत कम अवस्थाओं में अच्छा होता है, अतः यदि वेगों की संख्या कम की जा सके तो रोगी को बहुत लाभ होता है। रोगी को वातकफशामक औषधि देनी चाहिए जिससे हलका विरेचन भी होता रहे और हलका स्नेहन एवं स्वेदन भी होता रहे। रोगियों के लिए च्यवनप्राश का सेवन लाभकारी होता है। च्यवनप्राश को भी यदि मुक्ताभस्म, प्रवालभस्म, वराट अथवा शुक्तिभस्म में से किसी एक के साथ अभ्रकभस्म चाहे साधारणपुटी या सहस्रपुटी मिला-दी जाए तो रोगी को अधिक लाभ होते देखा गया है। कइयों को दशमूल हरीतकी वा चित्रक हरीतकी से भी लाभ होता है। भार्गीगुड़ भी कफ का अनुलोमन करने के लिए अच्छी औषधि है। क्षुद्रावलेह भी रोगी के लिए अच्छा है। कूठ से बने चूर्ण या चातुर्भद्रचूर्ण को शहद या बांसा के साथ लेते रहने से भी वेग का भय नहीं रहता। सोमल या संखिया के किसी योग को थोड़ी २ मात्रा में देते रहने से भी रोग पर विशेष प्रभाव होता है, जैसे श्वासकुठार आदि।

सोमल को अर्कदुग्ध से मर्दन कर सेहुण्डखण्ड में बंद कर कपड़मिट्टी कर फूंक दें। यह राख थोड़ी २ मात्रा में देते रहने से या ऐसे ही सोमल को सुहागा, नवसादर, फिटकिरी, शोरक सब समान मिला अर्कदुग्धसे मर्दन कर टिकिया बना पुट के अन्दर चूनेके अन्दर रख लघुपुट देकर निकाल लें। इस टिकिया का चूर्ण ½ से १ रत्ती की मात्रा में दें। या सोमल १ भाग को ८० भाग शंख में डालकर

पुट देवें एवं शंख में अर्क दुग्ध भी भर दें। इस शंख की भस्म १ रत्ती से २ रत्ती तक दे सकते हैं। हरताल या सोमल की भस्म वा अनेक योग इस रोग में दिए जाते हैं। सोमल के देने से रोगी को कुछ न कुछ लाभ जरूर होता है। सोमलद्राव पांच बून्द दिन में एक बार भोजनके बाद देनेसे लाभ होता है। कई ताम्रभस्म भी इस रोग में देते हैं। सोमल, पारा १-१ तोला में एक पैसा भर ताम्रभस्म मिला कर संधिबंधन कर लघुपुट देते हैं। इसकी $\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{2}$ रत्ती की मात्रा दी जाती है। अभ्रकभस्म भी अच्छी है। उसका मुख्य योग लक्ष्मीविलास अच्छा लाभ करता है। वायु शांत करने के लिए लशुनाष्टक या हिंग्वष्टक अच्छे हैं। उन्हें गर्मजल के अनुपान से देना चाहिए।

रोगशांति के बाद हर हालत में रोगी की शारीरिक एवं फुफ्फुस तथा श्वासवाहिनियों की शक्ति बनाये रखना अनिवार्य है ताकि दुबारा रोग का आक्रमण न हो। इसलिए ऐसे रोगी को निम्न औषधियाँ नियमित क्रम से लगातार लेते रहना चाहिए:—

(१) सितोपलादि १ माशा
अभ्रकभस्म २ रत्ती

प्रातः-सायं शहद या वासावलेह के साथ।

(२) द्राक्षासव या अंगूरासव २-२ चम्मच, बराबर मात्रा में पानी के साथ, सुबह-शाम खाना खानेके बाद।

अगर शरीर में लोह की कमी हो तो रात्रि में मण्डूरभस्म प्रथम योग के साथ बढ़ाई जा सकती है।

सावधानी

इस रोग से छुटकारा रोगी की अपनी सावधानी पर निर्भर है। संयमित जीवन, हलका भोजन (मिर्च-मसाले, खटाई, अचार तथा गुरु भोजन छोड़ कर) तथा प्रातः-सायं भ्रमण—ये इस रोग से बचने के मूलमंत्र हैं। प्रातःस्नान से पहले महालाक्षादि तैल की मालिश शरीर पर करके कुछ देर उषाकाल की धूप में नंगे शरीर बैठने से भी लेखक की दृष्टि में काफी लाभ होता है।

भगवान चरक ने शोथ किंवा क्षय के चार कारण बताये हैं—१ साहस, २ वेगों को रोकना, ३ धातुक्षय, ४ विषम भोजन। अपने बल की अपेक्षा अधिक कार्य करने का दुःसाहस करने से वह कर्म छाती किंवा फुफ्फुस में आघात पहुँचाता है और वह विदीर्ण हो जाता है। वेगों को रोकने से वायु प्रकुपित होकर ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् तीनों भागों में फिरता है। धातुक्षीणता से भी वायु और विष्मी भोजन से वात-पित्त-कफ विषम हो जाते हैं। इन विषमताओं से होने वाले रोगों में से एक श्वासरोग है। प्रकुपित वायु जब प्राणवह स्रोतों में जाता है, तो उससे श्वास रोग या प्रतिश्याय हो जाता है।

ऋतु

वैद्य अत्रिदेव गुप्त आयुर्वेदालंकार

प्रत्येक कार्य या वस्तु का एक समय होता है। इसी समय को बोल-चाल की भाषा में ऋतु भी कहते हैं, यथा अब वसन्त ऋतु है, आम की ऋतु है, खरबूजों का मौसम है। इसी प्रकार गेहूं या चना बोने का यह समय है, उनके लिये बीजरोपण का काल है। वर्षा ऋतु आने पर कुछ फल पकते हैं (यथा लीची) और कुछ बोये जाते हैं (यथा आम)। अर्थात् वर्षा ऋतु लीची और आम दोनों के लिये श्रेष्ठ है। इसी प्रकार पशुओं में भी है। गायों का बच्चा देने का समय माघ से लेकर वैशाख तक प्रायः होता है, भैंसें प्रायः सरदियों में अधिक बच्चा देती हैं। ये पशु अपने समय पर ही गर्भ-धारण करते हैं, शेष समयों में न तो इनमें इच्छा होती है, और न गर्भधारण होता है। उनकी इस समय की पहिचान हो जाती है। उनके खान-पान की अरुचि, बाहर जाने की प्रवृत्ति तथा दूसरी बातें बता देती हैं कि पशु में अब गर्भधारण की इच्छा है। यदि समय पर इच्छा पूर्ण न की जाय तो यह कुछ समय पीछे नष्ट हो जाती है, और फिर कुछ देर बाद पैदा होती है। समझदार व्यक्ति इस समय को व्यर्थ नहीं जाने देते। अर्थात् ऋतुकाल में अवश्य बीजारोपण होना चाहिये।

आजकल बीजारोपण पशुओं में कृत्रिम ढंग से पिचकारी के द्वारा भारत में भी होने लगा है। इस क्रिया में एक लम्बी पिचकारी के द्वारा गर्भाधान किया जाता है। पिचकारी में उत्तम जाति का पशु-वीर्य भरकर गाय के गर्भाशय में पहुंचा देते हैं। वहां पर स्त्री-बीज और शुक्र-बीज के मिलने से गर्भ धृति हो जाती है।

परन्तु इसमें दो-तीन बातों का नुकसान है। एक तो यह कि इस प्रकार कृत्रिम विधि से गर्भधारण करने पर पशु को सुखप्राप्ति नहीं होती। वात्स्यायन ने कामसूत्र में इस प्रश्न को 'कण्डूति रवनयनं हि प्रियः सुखम्'—इस सूत्र से सुलझाया है। वह सुख इस क्रिया में नहीं मिलता। साथ ही गर्भधृतिके समय पशुके जैसे रंग-रूप का जोड़ा होता है, वही रूप-रंग बच्चे का होता है; इस क्रिया से वह भी रह जाता है। इस क्रिया में तो केवल वही लाभ है कि विटामिन की गोली खाकर जिया जाये परन्तु भोजन की इष्ट गन्ध, वर्ण, रस, स्पर्श का अभाव ही रहता है। * भोजन पुष्टि दे इसके लिये भोजन में इच्छित गन्ध, वर्ण, रस आदि का होना आवश्यक है। इसी प्रकार गर्भाधान में पुरुष और स्त्री का मेल होना जरूरी है।

पशु-पक्षियों में गर्भाधान की ऋतु है, वनस्पतियों में गर्भाधान की ऋतु है—इसी प्रकार मनुष्य जाति में भी गर्भाधान की ऋतु है। बीजारोपण में ऋतु का विचार आवश्यक है। यह बीज वनस्पति का हो, पशु का हो, मनुष्य का हो, इसको इस के समय पर ही बोना चाहिये। स्त्री में जिस समय पुरुष का बीज बोया जाता है, वह ऋतु या ऋतु-काल है। इस समय जो मर्यादा पालन की जाती है, वह ऋतु-धर्म है।

---

* इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शविधिविहितमन्नापानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः॥

स्त्रियों में ऋतुकाल—पहले हम पढ़ चुके हैं कि स्त्रियों में ऋतु—गर्भाधान का समय—बारह-तेरह वर्ष से प्रारम्भ होता है और पैंतालिस या पचास तक रहता है। यह एक साधारण नियम है; इसमें कुछ अपवाद भी रहते हैं। ऋतुकाल साधारणतः सोलह दिन का है। इसमें चार दिन ऋतुस्राव या गर्भाशयशोधन के हैं। और शेष दिन गर्भ रहने के हैं*। शेष बारह दिन गर्भाशय के पुनः स्वस्थ अवस्था में आने के हैं। इस प्रकार से अट्ठाईस दिन में यह चक्कर पूरा होता है। यह चक्कर चौबीस दिन में, छब्बीस दिन में और तीस दिन में भी किसी किसी रमणी में पूरा होता है।

ऋतु है क्या ?

ऋतुस्राव में रक्त आता है। यह रक्त शुद्ध रक्त नहीं होता इस लिये इसके जाने से किसी प्रकार की निर्बलता या न्यूनता स्त्री को अनुभव नहीं होती। यह रक्त प्रायः वैसा ही होता है, जैसा कि कई बार अच्छे मसूड़ों से निकलता है। इस प्रकार रक्त पानी में मिलने पर श्वेत बन जाता है, कपड़ेपर पड़ा दाग तुरन्त पानी से धोने पर जाता रहता है (यद् वासो न रंजयेत्)। इसे रक्त नाम केवल इसका लाल रंग होने से दिया गया है। वास्तवमें इसके अन्दर रक्तके घटक न्यून रहते हैं। यही कारण है कि यह रक्त जमता नहीं, जबकि दूसरे प्रकार का रक्त शरीर से बाहर आने पर जमने लगता है। जमकर यह रक्त शिरा या धमनी रूपी रक्त वाहिनी का मुख बन्द कर देता है, जिससे आगे रक्त नहीं बहता। परन्तु ऋतुकाल का यह रक्त न जमने से तीन या चार दिन तक बराबर चालू रहता है।

इस रक्त में दूसरी वस्तु श्लैष्मिक कला तथा अन्य सौत्रिक तन्तु आदि हैं। ये सब गर्भाशय से आते हैं। इनके आने से गर्भाशय शुद्ध साफ निर्मल नया बन जाता है। जिस प्रकार कि बीज बोने से पहले खेत में से घास आदि सब साफ करके उसमें हल चलाकर पानी देकर उसे तैय्यार करते हैं, उसी प्रकार प्रकृति इस ऋतु के स्राव से गर्भाशय की पुरानी सब कला को साफ करके उसे फिर से नया-साफ बना देती है। इसी से मुनिने कहा है कि

"गते पुराणे रजसिशुद्धे"।

पुरातन रज के निकल जाने पर और नये रजके उपस्थित होजाने पर स्त्री संतान के लिये प्रयत्न करें। इससे ऋतु का मुख्य कार्य गर्भाशय को शुद्ध करके गर्भ धारण के योग्य बनाना है।

साधारणतः प्रकृत रूप में यह कार्य प्रकृति स्वयं करती है। परन्तु कई अवस्थाओं में यह कार्य मनुष्य को कृत्रिम रूप में भी करना होता है। इसके लिये औषध-उपचार और शल्यकर्म हैं। औषधोपचार में अन्तः औषध तथा स्थानिक वर्ति-प्रयोग किया जाता है। इसका एक ही उद्देश्य होता है कि ऋतु स्वयं प्रवृत्त हो जाये और वह गर्भाशयको धोकर साफ करदे। परन्तु कई बार औषधोपचार व्यर्थ जाता है, जैसे कि मेदप्रधान औरतों में। इन औरतों में रक्तवाहिनियाँ चर्बीके कारण गहरी अन्दर दबी रहती हैं। इनके मुख गहरे होने से रक्त नहीं आता। ऐसी अवस्था में अन्दर से इनको खोलना होता है। इस क्रिया को क्युरेशन करना, क्युरेट करना कहते हैं। इस क्रिया से हम गर्भाशय के अन्दर वही कार्य करते हैं जो काम देहाती खेत में से घास निकालने के लिये खुरपे से करता है। इसी क्रिया से वहाँ की चर्बी कम करके रक्तवाहिनियों के मुख खोल देते हैं। इससे रक्त आने लगता है।

* ऋतुस्तु दृष्टार्तवो द्वादशरात्रं भवति। षोडश केचित् रात्रमित्यन्ये। शुद्धयोनिगर्भाशयार्त्तवायाः मासमपितु केचित्

इस क्रिया से बहुत सी औरतें प्रजावती बनाई गई हैं।

इसलिये ऋतु एकमासिक स्राव है, जो कि प्रकृति गर्भाशय के शोधन के लिये प्रवृत्त करती है। इस स्राव के होने से स्पष्ट है कि स्त्री गर्भधारण के योग्य है। स्त्रियों में यह नि मित प्रतिमास होता है। परन्तु पशुओं में और पक्षियों में एक नियत समय या नियत ऋतु में होता है। इसलिये उनमें नर या दूसरे लिंग के प्रति आकर्षण एक ही समय होता है। यही कारण है कि दूसरे समय ऋतु में न तो नर पशु या नर पक्षी मादा के पास जाता है, और न वह आने देती है।

परन्तु पुरुषों में स्थिति भिन्न है। पुरुषों के पास बुद्धि है, पशु और पक्षियों के पास बुद्धि नहीं। इसलिये उनका नियन्त्रण बुद्धि न करके प्रकृति स्वयं करती है। दूसरे से नियंत्रित रहने के कारण उनके लिये काम शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता भी नहीं रहती। मनुष्य चूंकि बुद्धि से नियंत्रित है, इसलिये उसके लिये कामशास्त्र का उपदेश जरूरी है। यही कारण है कि कामज्ञान कराने के लिये वात्स्यायन आदि ऋषियों को कामशात्र आदि बनाने पड़े हैं। और अत्रि आदि आचार्यों को ऋतुधर्म सम्बन्धी नियम बताने पड़े हैं।

प्राचीन वैदिककाल में पशुओं और पक्षियों के ऋतुधर्म की भांति इस नियम का पालन होता था। अर्थात् उस काल में ऋतुकाल को व्यर्थ नहीं जाने दिया जाता था, उस समय अवश्य गर्भाधान किया जाता था। ऋतुकाल में यदि गर्भाधान न किया जाये तो यह एक पाप गिना जाता था।* इसलिये जो आश्रम-व्यवस्था का नियम बनाया गया है, वह इसी दृष्टि से बनाया है। अर्थात् मनुष्य का विवाह पचीस वर्ष की आयु में १६ साल की कन्या से होता है, तो गृहस्थाश्रम के पचीस साल के समय में उसे दस सन्तान पैदा करनी चाहिये। प्रत्येक सन्तान में २½ साल का अन्तर आना चाहिये। इसमें दस महीने गर्भावस्था के लिये, दस महीने बच्चे को स्तनपान के और दस महीने पूर्ण विश्राम पाकर स्वस्थता प्राप्त करने के लिये रखे हैं। परन्तु मनुष्य इस नियम का पालन नहीं करते, इसलिये आधुनिक कृत्रिम साधनों या उपायों को काम में लाना पड़ता है। इसके लिये कामशास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता आचार्यों ने बताई है।

गर्भाधान एक पवित्र कर्म है, यह भी एक संस्कार है। इसलिये बीजारोपण या वृक्षारोपण का त्योहार जिस प्रकार सुन्दरता से मनाते हैं, और खेत में बीज बोने के समय को व्यर्थ नहीं जाने दिया जाता, उसी प्रकार इस समय को भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये और इसे उसी सुन्दरता से मनाना चाहिये। इसीलिये आयुर्वेद में ऋत्विक् होम विधि रूप से गर्भाधान-क्रिया का वर्णन किया है। जिस प्रकार वर्षा ऋतु होने पर खेतों में बीज को बोते हैं, उसी प्रकार इस समय स्त्री में वपन-क्रिया करनी चाहिये।

ऋतुकाल तीन से चार दिन रहता है। इससे अधिक या कम रहना अस्वस्थता है। प्रत्येक बार में रक्त की मात्रा इसे ७½ से १० तोला आती है। इस रक्त का दाग कपड़े पर लगने पर पानी से धोने पर साफ हो जाना चाहिये। इसका रंग लाख के पानी (लाक्षारस) के समान

---

* महाभारत में एक कथा है। उत्तङ्क ऋषि जब अपने गुरु के पास विद्याध्ययन कर रहे थे, तब गुरु एक बार बाहर गये थे। पीछे गुरुपत्नी को ऋतुकाल हुआ। उसने उस समय बीजारोपण (गर्भाधान) के लिये मांगनी उत्तङ्क से की। परन्तु उसने शिष्यधर्म से निषिद्ध किया।

होना चाहिये। इसके होने से स्त्री को किसी प्रकार की पीड़ा या दुःख नहीं होना चाहिये। प्राकृतिक कार्य होने से स्वाभाविक रूप में होता रहना चाहिये, जिस प्रकार कि वृक्षों में या पशु-पक्षियों में होता है। यदि इसमें दर्द या कोई और अनियमितता आती है, तो वह विकार है। इसके होने के समय किसी प्रकार का दर्द भी नहीं होता।

ऋतुस्राव होने के समय शरीर में कुछ परिवर्त्तन होते हैं। ऋतुस्राव होने पर क्षीण हुआ कौर्पस ल्युटियम ऋतु के साथ बाहर आ जाता है। ऋतु बीतने पर परिवर्त्तन गर्भाशय और डिम्बकोष दोनों में होते हैं और जब तक अग्रिम ऋतु नहीं आती ये परिवर्त्तन चालू रहते हैं।

डिम्बकोष में होनेवाले परिवर्त्तन—डिम्बकोष में अपक्व फौलीकल (बीज) होता है। यह बीज बढ़ना आरम्भ होता है। बढ़कर परिपूर्ण होता है। पूर्ण बढ़कर पककर यह फटता है। फटने पर डिम्ब (स्त्रीबीज) अलग हो जाता है। शेष भाग वहीं रह जाता है। यह स्त्रीबीज गर्भाशय में पहुंच जाता है, वहां पर यदि शुक्रबीज से मिल जाये और गर्भधृति हो जाये, तो आगे मासिक धर्म नहीं होता। अर्थात् अब डिम्बकोष में भी परिवर्त्तन बन्द हो जाते हैं। अगला डिम्ब बाहर नहीं आता। और यदि गर्भधृति नहीं हुई, तो यह स्त्रीबीज क्षीण होकर मासिक ऋतु में बाहर आ जाता है।

गर्भाशय में होनेवाले परिवर्त्तन—ऋतुस्राव समाप्त हुआ, गर्भाशय की रक्तवाहिनियां सिकुड़ने लगीं। गर्भाशय को पूर्व की अवस्था में आनेमें बारह दिन लगते हैं। गर्भाशय की मांसपेसियों में हुआ रस, रक्त, लसीका का संचय घटता है। इस बीच में यदि शुक्रबीज के मिलने से गर्भधृति हो गई तो यह बढ़ा हुआ संचय गर्भ के पोषण का काम आरम्भ कर देता है। गर्भाशय में आया हुआ रक्त पानी से सिंचित भूमि की भांति तुरन्त बीजको ग्रहण करने के लिये इस समय योग्य होता है। यदि इस समय बीज न मिले तो यह सूखकर पिछली हालत में लौट आता है। पिछली हालत में आने के पीछे फिर चक्कर चलता है। दिन के बीतने पर रात और रात के बीतने पर जैसे फिर दिन होता है, उसी प्रकार पूर्वावस्था में आने के तुरत पीछे परिवर्त्तन आरम्भ होने लगते हैं। गर्भाशय की भित्ति अन्दर से मोटी होने लगती है। इसकी रक्तवाहिनियां गुच्छाकार बन जाती हैं। पुरानी श्लैष्मिक कला गिरने के लिए ढीली हो जाती है। यह संचय धीरे-धीरे बढ़ जाता है। और जब स्राव पूरा संचित हो जाता है, तब रक्तवाहिनियों के मुख खुल जाते हैं, और रक्त, लसीका, टूटी-फूटी श्लैष्मिक-कला, सौत्रिक तन्तु सब कूड़ा-कचरा गर्भाशय से बह जाता है। और जब संचय प्रारम्भ होता है, तब गर्भधृति होने का अवसर बहुत कम है, तथा जब गर्भाशय संकुचित होकर पूर्वावस्था में लौट रहा होता है, तब अधिक अवसर है। इसलिये मुनि ने कहा है कि दिन के व्यतीत होने पर जैसे कमल बन्द हो जाता है, उसी प्रकार ऋतु बीत जाने पर गर्भाशय का मुख बन्द हो जाता है। दिन निकलने पर जैसे कमल खिलता है, वैसे ही गर्भाशय का मुख खिलता है। यहाँ पर ऋतु से अभिप्राय ऋतुकाल सम्पूर्ण सोलह दिन का या ऋतुस्राव के चार दिन छोड़कर शेष बारह दिन लेने चाहिये। इसलिये संतति-नियम का एक उपाय यह भी है कि ऋतुकाल के बारह दिन पीछे यदि सहवास किया जाये तो गर्भधृति नहीं होती। ऋतु काल के पीछे जितना जल्दी सहवास होगा उतना ही अधिक गर्भधृति का अवसर है। गर्भाशय का संकोच पुरुषबीज और स्त्रीबीज को पकड़ लेता है। संकोच के समय मांसपेशियां अन्दर की ओर सिकुड़ती हैं, इसलिये यदि पुरुषबीज गर्भाशय के मुख या योनि में भी पड़ा होता है, तो उसको भी वे खींच लेती हैं। इसी संकोच को बढ़ाने के लिये मुनि ने कहा है कि सहवास की तृप्ति के पीछे तुरन्त शीतल जल से परिसेक इस भाग पर करे। इस क्रिया से संकोच पूरा हो जाता है।

(क्रमशः)

घरेलू इलाज

बच्चों के रोग

जन्म होने के बाद से ही यदि बच्चों की तन्दुरुस्ती पर पूरा ख्याल रखा जाय तो उनके बड़े होनेपर रोगों के आक्रमण का भय नहीं रहता। गर्भावस्था में माता का अनियमित रहन-सहन, खान-पान की खराबी और ब्रह्मचर्य के अभाव का असर भी पैदा होनेवाले बच्चे पर ज्यादा पड़ता है। बच्चोंका उचित रीति से पालन-पोषण और देखभाल न होने से उन्हें तरह-तरह के रोग सताते रहते हैं। बच्चों को ज्यादा तादाद में दूध पिला देने और ठीक निश्चित समय पर दूध न पिलाने से बदहजमी हो जाती है। सरसों के तेल की अच्छी तरह से रोज मालिश न करने से बच्चों का ठीक व्यायाम नहीं हो पाता और हड्डियां कमजोर हो जाती हैं जिससे रिकेट्स आदि हड्डी से सम्बन्ध रखनेवाली बीमारियाँ हो जाती हैं। दूषित दूध और गरिष्ट खाद्य से बच्चों का लीवर खराब हो जाता है। इस हालत में बच्चे को गदही का दूध पिलाने से बड़ा फायदा होता है। माता के ज्यादा गर्म चीजें (लाल मिर्च, तेल, खटाई आदि) खाने से बच्चों का खून खराब हो जाता है जिससे खुजली, फोड़े-फुन्सी आदि चर्म रोग पैदा हो जाते हैं। बच्चों को ज्यादा ठण्ढक, कड़ी धूप, तेज और दूषित हवा से बचाना चाहिये; क्योंकि इससे भी बच्चोंको कई तरह की तकलीफें हो जाती हैं।

दांत उठने के समय में बच्चों को ज्वर आना, हरे पीले और पतले दस्त या उल्टी होना, रोना, चिल्लाना या नींद न आना आदि शिकायतें पैदा हो जाती हैं। इसके लिये हमारे यहां का दन्तोद्भेद गन्दान्तक रस बहुत फायदेमन्द है। सुहागे को भूनकर (लावा बना) मधु के साथ घिसकर मसूड़ोंपर मलने से दाँत जल्दी निकल आते हैं। बच्चों को ठीक मात्रा में माता का दूध न मिलने से तथा जीवनीय शक्ति बढ़ानेवाले उत्तम पुष्टिकर खाद्य के न मिलने से उन्हें सूखा रोग हो जाता है। यह बच्चों के लिए क्षयी का रोग है, इस से बच्चों का शरीर दिन-दिन सूखता जाता है। खाया हुआ पदार्थ हजम नहीं होता, दूध पीने या कोई चीज खाने से बच्चों को अरुचि हो जाती है। इसके लिये अरविन्दासव बड़ा ही लाभदायक है।

जो बच्चे कमजोर हो गये हैं या जिन्हें माता का दूध पूरी मात्रा में हजम नहीं होता और पुष्टिकारक खाद्य नहीं मिलता, उन्हें यदि "वैद्यनाथ बालामृत" पिलाया जाय तो बच्चे ताकतवर, तन्दुरुस्त और नीरोग रहते हैं। उनकी हाजमा-शक्ति ठीक रहती है, पेट साफ रहता है, कब्ज नहीं होता। क्योंकि वैद्यनाथ बालामृत तमाम जीवनीय शक्ति बढ़ानेवाली और कब्जियत तथा क्षय रोग नाशक दवाओं के संयोग से बनाया जाता है। सूखा रोग में इससे बड़ा फायदा होता है।

कब्जियत में बच्चोंको लाइमवाटर (चूनेका पानी) पिलाने से बड़ा फायदा होता है। एक बोतल पानी में ढाई तोला चूना साफ पानी में मिलाकर रख दें। छः घण्टे बाद चूना नीचे जम जायगा और साफ पानी रह जायगा। इसे दिन रात में अवस्था के अनुसार दो तीन बार तीन माशा से एक तोला तक पिलाने से भूख बढ़ती है। खाई हुई चीजें

जल्द हजम होती हैं। बच्चों का खून और बल बढ़ता है। दस्त साफ आते हैं। काबुल का हरड़ जल में घिसकर दो तीन दिन के अन्तर से पिलाते रहने से कब्जियत दूर होती है।

डब्बा रोग —यह बच्चों को बहुत होता है। इस बीमारी में बच्चों की छाती में कफ जम जाता है और खाँसी आती रहती है। श्वास लेने में बड़ा कष्ट होता है। इस हालत में एक रत्ती उसारेरेवन्द, आधी रत्ती गोरोचन के साथ मिलाकर चटाने से उल्टी के साथ कफ निकल जाता है और बड़ा फायदा होता है। १ पोथी लहसुन को जलाकर उसकी भस्म ३ रत्ती की मात्रा में मधु के साथ चटाने से भी बड़ा लाभ होता है।

उल्टी-पतले दस्त-अजीर्ण — इसमें वैद्यनाथ अर्क पुदीना हरा तत्काल फायदा पहुंचाता है।

बच्चोंका कृमि रोग—बच्चोंके पेटमें छोटे-बड़े और पतले कीड़े पैदा हो जाते हैं जिससे बच्चोंका खून सूख जाता है और आँखें सफेद हो जाती हैं। टट्टी मट्टीके रंगकी होती है, पेट फूल जाता है। नाक और गुदामें खुजली चलती है। इसके लिए "वैद्यनाथ कृमिहर चूर्ण" बहुत ही लाभदायक है।

बच्चोंकी खाँसीमें—पुष्कर मूल, अतीस, काकड़ासिंगी, छोटी पीपल, जवासा इन सबको समान भाग लेकर कूटकर कपड़छान करलें। इसे ३ रत्तोकी मात्रासे बच्चों को दिनमें तीन-चार बार चटानेसे खाँसी अच्छी हो जाती है।

चेचक—यह बीमारी बच्चों के लिए बड़ी खतर-नाक है, इस बीमारीके मौसममें बच्चोंको रुद्राक्षकी माला धारण कराना चाहिये और रुद्राक्ष पीसकर आधा रत्ती या नीमकी पत्ती १ रत्ती चटानेसे चेचक होनेका भय नहीं रहता। टीका लगवानेसे भी बड़ी रक्षा होती है। यह छूतकी बीमारी है, इसलिये चेचकके रोगीके संसर्गसे बच्चोंको बचाना चाहिये।

मधुमेह (पेशावमें चीनी आना)

जब प्रमेह अति पुराना हो जाता है तब वह मधुमेहका रूप धारण करता है। मधुमेहमें चीनी जैसा मधुर पदार्थ निकलता है और पेशाब अधिक होता है। कभी कभी अधिक ठण्ढी वस्तुको खानेसे तथा ठण्ढी ऋतुमें पेशाब ज्यादा होता है। यह कोई रोग नहीं है। पेशाब अधिक होनेकी यह शिकायत स्वत: दो एक दिनमें ठीक हो जाती है।

मधुमेहके आरम्भमें रोगीको रातमें दो एक बार पेशाबके लिये उठना पड़ता है और धीरे धीरे ज्यादा पेशाब होनेकी शिकायत बढ़ती जाती है। अन्तमें रोगी को रात-दिनमें ४ सेरसे १० सेरतक पेशाब होने लगता है।

शिर दर्द, कब्जियत, भूखकी अधिकता, चमड़ेकी खुश्की और रूखापन, प्यास अधिक लगना आदि शिकायतें पहली अवस्थामें रहती हैं। दूसरी अवस्था में रोगी कमजोर हो जाता है, भूख और खून तथा दृष्टि-शक्तिकी कमी हो जाती है। पेशाबमें चीनी जैसी सफेद वस्तु ज्यादा मात्रामें जम जाती है, उस जगह पर चींटियाँ और मक्खियाँ बैठती हैं। इस बीमारीमें शरीरके किसी भी भागमें जरा सा भी घाव हो जानेसे फिर उसका अच्छा होना कठिन हो जाता है। क्योंकि मनुष्यके शरीरमें जरूरतसे ज्यादा चीनीकी मात्रा हो जानेपर घाव अच्छा होनेकी प्राकृतिक शक्ति नष्ट हो जाती है। अन्तमें रोगीका प्राणान्त हो जाता है। दिमागी काम करने एवं अधिक बैठे या लेटे रहनेसे यह रोग हो जाता है।

चिकित्सा—रोगीको दिमागी काम कम कर देना चाहिये। चीनी या जिन वस्तुओंमें चीनीकी मात्रा ज्यादा होती है, उनका खाना बिलकुल बन्द कर देना चाहिये। सुबह खुली हवामें २-३ मील टहलनेसे इस रोगमें आशाजनक लाभ होता है।

दूध और दही की लस्सी

वैद्य रामेश वेदी आयुर्वेदालङ्कार

शीतल पेयों का महत्त्व

शरीर में बढ़ी हुई गरमी को कम करने के लिये अनेक उपायों में शीतल पेयों का प्रयोग बहुत महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि शरीर के अन्दर अधिक मात्रा में पहुंचा हुआ पानी मूत्र की राशि और पसीने के परि-माण को बढ़ाता है और ये दोनों ही शरीर से ऊष्मा को निकालने में बहुत उपयोगी साधन हैं। शीतल पेयों में दूध, दही की लस्सी का प्रयोग करने में भार-तीयों का विशेष पक्षपात है, यह ठीक है और विज्ञान सम्मत है, यही मैं इस लेख में प्रतिपादित कर रहा हूं। किसी दूसरे लेख में पाठकों को गरमियाँ सुख पूर्वक बिताने के उपाय बताऊंगा।

दूध की लस्सी और दही की लस्सी में तुलना

शरीर को शीतलतत्व प्रदान करने का गुण दोनों में एक समान है। पोषण की दृष्टि से दोनों में यह अन्तर है कि छाछ में स्नेह नहीं होता और दूध वाली लस्सी (इसे कची लस्सी भी कहते हैं) में स्नेह विद्यमान रहता है। हां, दही को बिलोकर बिना मक्खन निकाली लस्सी या मट्ठा, दूध की लस्सी के समान ही शरीर को पुष्टि करते हैं। कची लस्सी की अपेक्षा छाछ या तक्र चाहे, यह स्नेह युक्त हो या स्नेह रहित हो, जल्दी हजम हो जाते हैं; क्योंकि इसमें अम्ल तथा एल्ब्यूमिन्स उपस्थित होते हैं, स्वयं तो तक्र जल्दी पचता ही है किन्तु उसके साथ भोजन को पचाने की भी इसमें क्षमता है। दूध या दही की लस्सी पचने के लिये आमाशयिक रसों की अपेक्षा रखती है। स्नेह का अंश हो जाने से दूध की अपेक्षा दूध की लस्सी अधिक सुपच है। सरदियों में पाचन-शक्ति तीव्र होती है। इसी लिये उन दिनों हम दूध का अधिक प्रयोग करते हैं। और गरमियों में लस्सी का, जिन्हें दूध नहीं पचता उन्हें हम रोग की अवस्थानुसार दही, मट्ठा, छाछ या छाछ का घनसत्व दिया करते हैं।

छाछ सुपच होने से बार-बार या अधिक मात्रा में ली जाने पर भी हानि नहीं करती। परन्तु स्वस्थ आदमी को भी दूध की लस्सी का अधिक प्रयोग मन्दाग्नि पैदा कर सकता है। अतिसार, प्रवाहिका, पेचिस, अपचन और विशेष कर जिगर के रोगों में छाछ विशेष रूप से उपयोगी है। ऐसे रोगियों को दूध की लस्सी शायद कुछ हानि पहुंचाये।

दही की लस्सी में गुण

मथने से जब दही का एक-एक कण टूट कर सूक्ष्म हो जाता है तो इसे नरहरि पंडित आदि आयु-र्वेदिक चिकित्सकों ने आह्लादजनक और वात-पित नष्ट करने वाला तथा कफ-पित्त नष्ट करने वाला बताया है। पंडित विष्णु शर्मा ने लिखा है कि कुएँ के पानी की तरह दही भी गरमियों में शीतल और सर्दियों में गरम होता है। "कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री तरुणं दधि, शीतकाले भवेदुष्णमुष्णं काले च शीतलं। 'पञ्चतन्त्र'।

गरमियों में प्यास बहुत लगने से शीतल पेय अधिक मात्रा में पिये जाते हैं, जिस से मन्दाग्नि होने की संभावना हो सकती है। बड़े शहरों में जो लोग बर्फ से ठण्डे किये हुए शीत पेयों का पग-पग

पर उपयोग करते हैं, वे अक्सर भूख न लगने की शिकायत करने लगते हैं।

अम्ल रस पाचक होने से दही की लस्सी इन दिनों के लिये आदर्श पेय बन जाती है। यह शीतल पेय प्यास को शान्त करता ही है, जरा अम्ल होने से दूसरे पेयों के प्रचुर प्रयोग में भूख मारे जाने की जो संभावनायें पैदा हो जाती हैं, उनसे भी आप को बचायेगा। नरहरि पण्डित ने लस्सी को भोजनों में रुचि पैदा करने वाली दीपक, वमन-नाशक, क्लम एवं थकान को दूर करने वाली और गर्मियों में भी बल प्रदान करने वाली, शीतल, तृषाशमक हल्का पेय बताया है। "छच्छिका शीतला लघ्वी पित्तश्रमतृषाहरी।"

पानी कितना मिलायें

शरीर के तन्तुओं की पानी की आवश्यकता को पूरा करने के उद्देश्य से लस्सी पतली करके पीना चाहिये। गाढ़ी लस्सी पोषण के लिये तो ठीक है, परन्तु देखा जाता है कि दही की लस्सी इन दिनों गाढ़ी पी जाय तो वह प्यास अधिक लगाती है, परन्तु उससे पतला करके पिया जाय तो बहुत अच्छे प्यास-शामक का कार्य करता है। गरमियों में शरीर को स्नेह की आवश्यकता बहुत कम होती है; यदि खाये भी जाय तो शरीर में अधिक ऊष्मा पैदा करने के कारण हानि करते हैं। छाछ में से स्नेह अलग कर लिया जाता है। इसलिये पतली छाछको इस ऋतु का आदर्श शीतल पेय बनाया जा सकता है। यह लघु पेय माना गया है।

पानी मत नितारिये

मथन के बाद मक्खन निकाल कर छाछ को भारतीय गाँवों में बाटी में रख छोड़ते हैं। कुछ देर बाद लस्सी की केजीन सफेद अंश नीचे बैठ जाती है। लस्सी अधिक खट्टी न हो जाय और गरम न हो इस उद्देश्य से ऊपर का स्वच्छ पानी नितार कर फेंक दिया जाता है, जब लस्सी पीनी होती है तो बाटी के तले में बैठे केजीन के गाढ़े मिश्रण को ताजे शीतल पानी में घोल कर और उस पर जरा सी बर्फ तरा कर दे देते हैं। खनिज, लवण खाद्योज तथा अन्य अनेक लाभदायक तत्त्व फेंके गये पानी में निकल जाने से लस्सी के पूरे लाभ प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि ऊपर का पानी मत नितारिये। हां लस्सी के स्वाद को मृदु बनाये रखने के लिये इसे शीतल स्थान पर पानी में रेफ्रिजरेटर में रखने से सावधानी बरती जा सकती है।

पीने का समय

छाछ के लिये तो मैं सामान्यतया कह सकता हूं कि जब भी आप का मन करें पी लीजिये, और जितनी मात्रा में चाहें पीजिये। आयुर्वेद के कुछ लेखकों ने देवों के पेय अमृत की तरह मनुष्यों के लिये लस्सी को उपयोगी बताया है। देवों के भी राजा इन्द्र जिस लस्सी के लिये तरसा करते थे—तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्। यह पेय सचमुच मनुष्यों के लिये वरदान रूप है। कच्ची लस्सी को भोजन के साथ पीने के लिये मैं सदा मना किया करता हूं; क्यों कि भोजन को पचाने की क्रिया को यह मन्द करती है, परन्तु भोजन के साथ पी गई छाछ विशेष लाभकारी है। खाये हुए को पचाने का गुण होने से भोजनों के साथ छाछ पीने वालों को चिकित्सक की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं रहती—भोजनांते पवेत्तक्रं किं वैद्यस्य प्रयोजनं।

मीठा मिलायें या नमक

मीठी लस्सी, नमकीन की अपेक्षा अधिक शीतल होती है और तृषा शामक भी। शरीर को ठंडक पहुंचाने की दृष्टि से इस में मीठा मिलाना ठीक होगा। यह ठीक है कि नमक वाली लस्सी मीठे वाली की तुलना में हलकी और सुपच है, परन्तु इसमें प्यास को शांत करने की क्षमता उतनी नहीं। एक बार पीने के बाद बार-बार पीने की इच्छा बनी रहती है। उन लोगों को इसका प्रयोग वांछनीय हो सकता है जिनको पसीना बहुत आता है और जल्दी-जल्दी आता है, जिससे उनके तन्तुओं में पानी के आवश्यक परिमाण को पूरा करने के लिये उसे पहुंचाने की जल्दी-जल्दी आवश्यकता बनी रहे। निर्बल पाचकाग्नि वालों को और पेट के रोगियों को नमकीन या फीकी लस्सी पीना श्रेयस्कर होगा।

रसायन या कायाकल्प

वैद्य रवीन्द्र शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

कायाकल्प क्या है ?

कायाकल्प—शरीर का कल्प वह संस्कार है, जिसके द्वारा शरीर के अवयवों में नये यौवन तथा नयी स्फूर्ति का निर्माण होता है। शरीर के संचित विकारों को नष्ट करके निर्बल या स्वस्थ शरीर में नया स्वास्थ्य और नवीन ओज पैदा करने वाली विधि कायाकल्प विधि है। साँप का कंचुकी-कल्प भी यही अर्थ रखता है। खुलासा के लिये यह कहा जा सकता है कि अस्वस्थ या स्वस्थ शरीर तथा दिमाग के संचित विकारों को नष्ट करके शरीर और दिमाग में नया जीवन प्रादुर्भाव करने वाला संस्कार कायाकल्प संस्कार है।

प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों का रसायन-कायाकल्प से भिन्न नहीं है। रसायनकी परिभाषा में चरक का कहना है—

स्वस्थस्यौजस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम्।

अर्थात्—स्वस्थ पुरुषोंके शरीर में ओज-जीवनतत्व-पैदा करने वाली विधि रसायनविधि है। यहाँ स्वस्थ शब्द का स्पष्ट उल्लेख होने से यह प्रकट होता है कि नीरोग पुरुषों के लिये ही रसायनविधि है, रोगियों के लिये नहीं। किन्तु—

सर्वोपघातशमनीयं रसायनं व्याख्यास्यामः।

भगवान् धन्वन्तरि का यह उपदेश यह स्पष्ट कर-देता है कि समस्त उपघातों—विकारों—को नष्ट करनेवाली रसायन का प्रयोग रोगियों के रोगों को दूर करने में भी उतना ही उपयोगी है, जितना स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्यरक्षण के लिये।

रसायन की परिभाषा में सुश्रुतके टीकाकार डह्लन की व्याख्या इसे और भी स्पष्ट कर देती है—

"रसादि धातूनामिदमाप्यायनं अथवा भेषजा-श्रितानां रसवीर्यविपाकप्रभावपरमायुर्बलवीर्याणां वयः-स्थैर्य- कराणां लाभोपायो रसायनम्।"

अर्थात्—रसरक्त आदि धातुओं को पुष्ट करने-वाला, भैषज्य के आश्रित रसवीर्य आदि गुणों तथा आयुका स्थापक उपाय रसायन, स्वस्थों की तरह ही रोगियों के लिये भी उपयोगी और शास्त्र-सम्मत है।

आधुनिक विज्ञान ने काया-कल्प के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त निश्चित किया है और उस सिद्धान्त के अनुसार जो परीक्षण हुए हैं, उनका दिग्दर्शन भी कम मनोरंजक नहीं है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० लाम्पेल की धारणा के अनुसार शरीर के परमाणु अमर हैं—मृत्यु होती है मस्तिष्क की। और यदि मस्तिष्क को जीवित रखने का प्रयत्न सफल हो जाय तो शरीर को सैकड़ों वर्षों तक जिन्दा रक्खा जा सकता है। अपनी धारणा के मुताबिक डा० लाम्पेल इस निश्चय पर पहुंचे कि यदि मस्तिष्क को पूर्ण-विश्राम मिल सके, तो शरीर के परमाणुओं का पुनस्संगठन किया जा सकता है—और यही नव-यौवन या काया-कल्प संस्कार है। डा० लाम्पेल ने भारतीय योगियों की समाधियों और समाधि-कालीन शारीरिक स्थिति पर भी शायद काफी विचार किया होगा, चूँकि भारतीय योगियों की समाधियों ने मृत्यु और उसकी अवधि को अपने हाथ में ही रक्खा था।

अब डा० लाम्पेल के एक प्रयोग की कथा भी सुन लीजिये। यह एक मोटा सिद्धान्त है कि मृत शरीर को बरफ में रख देने से वह कई दिनों तक विकृत नहीं होता।

डा० लाम्पेल ने उसका प्रयोग पहिले पशुओं के शरीर पर किया, और उनमें जब पर्याप्त सफलता मिल गई तो मिस अन्नाबुग नामक एक जीर्ण-शीर्ण शरीर वाली युवती पर प्रयोग किया गया। इस युवती का हृदय बहुत ही कमजोर हो गया था, आँतें निर्बल हो गई थीं, और एक फेफड़ा सड़ चुका था। जीवन से नितान्त निराश होके ही इस युवती (मिस) ने अपने शरीर को प्रयोग के लिये दिया था।

सबसे पहिले अन्नाबुग के शरीर में 'एमेस्थेटिक' और 'बिटाप्रोलेङ्गिन' के इंजेक्शन दिये गये, फिर उसके शरीर को खारी द्रव पदार्थ में डुबा के वैज्ञानिक विधि से निर्मित एक काँच की पेटीमें बन्द कर दिया गया। इसके बाद पेटी का तापमान इतना कम कर दिया गया, कि मिस अन्नाबुग निश्चेष्ट होके महानिद्रा में मग्न हो गई और उसका शरीर बर्फ जैसा सफेद हो गया। ठीक ६ सप्ताह तक वह इसी दशा में रक्खी गई, पश्चात् काँच की पेटी में उष्णता का संचार किया गया, जिसके फलस्वरूप थोड़ी देर में मिस के मुखमंडल पर लाली आने लगी और शरीर में स्पन्दन होने लगा। धीरे २ मिस को पेटी से बाहर निकाला गया। इस प्रयोग में न केवल वह जीवित ही निकली बल्कि उसके शरीर के सारे विकार नष्ट होके वह वास्तव में नवयुवती हो गई। अन्नाबुग ने बतलाया कि मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं थोड़ी देर पहिले ही सोई हूँ। फिर मृत्युकी कामना करने वाली अन्नाबुग को विवाह की कामना हुई।

इसी विधि से मिलती-जुलती हमारे आयुर्वेद में कायाकल्प की 'कुटी प्रवेशिका विधि' है जिसका विस्तृत विवरण हम आगे करेंगे। आपको यह देख कर आश्चर्य होगा कि इन प्राचीन और आधुनिक विधियों में कितना अधिक साम्य है। यह हमारे लिये एक गर्व की बात है कि हमारे पूज्य महर्षियों ने उसका अविष्कार हजारों वर्षों पहिले कर लिया था। महामना मालवीय जी महाराज के काया-कल्प की कथा तो नई ही है। मालवीयजी ने स्वयं अपने श्रीमुख से बतलाया था कि यद्यपि शास्त्रोक्त विधि का सर्वाङ्गपूर्ण 'कुटी प्रावेशिक' रसायन मैं सेवन नहीं कर सका, तथापि मेरे शरीर में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गये हैं। कल्प के बाद मैं बिना चश्मे के अच्छी तरह पढ़ लेता हूँ, सीधा बैठ के संध्या कर लेता हूँ।

क्या यह सम्भव है?

अब थोड़ा इस पर भी विचार कर लेना है कि रसायन या कल्प औषधियों के प्रभाव से शरीर में नया जीवन उत्पन्न होना संभव है या नहीं; च्यवन जैसे जराजीर्ण, शिथिलकाय ऋषिका च्यवनप्राश जैसी रसायन से नवयौवन प्राप्त करना वास्तविक था या यह कल्पना मात्र ही है।

प्राचीन और आधुनिक वैज्ञानिकों ने मृत्यु के रहस्य के सम्बन्ध में बराबर ही प्रयोग और अनुसन्धान किये हैं। प्राचीन आयुर्वेदशास्त्रियों ने गुणधर्म विश्लेषण और प्रयोग-परीक्षण के बाद ही रसायन या कल्प को इतना महत्त्व दिया था। उदाहरण के लिये एक ऐसे संग्रहणी के रोगी की कल्पना कर लीजिये, जो कंकाल मात्र अवशेष है, जरा सा दूध भी पीते ही दस्तके रास्ते निकल जाता है, चलने फिरने से लाचार होकर शय्या पर ही पड़ा रहता है, इच्छा करने पर भी किसी चीज को खा नहीं सकता और हरदम मृत्यु की ही कामना

करता रहता है। जब ऐसा रोगी सौभाग्य से किसी अच्छे आयुर्वेदिक चिकित्सक के पास पहुंच जाता है तो वह उसे पर्पटी कल्प शुरू करा देता है। पारद-गन्धक का यह रसायन कल्प इतनी तेजी से रोग का शमन और जीवन की नयी स्फूर्ति पैदा करता है कि एक ही सप्ताह में रोगी और उसके घरवाले आश्चर्यचकित हो जाते हैं। छटाँक भर दूध भी हजम नहीं कर सकने वाला रोगी सिर्फ २४ घंटे में अठगुना दूध हजम कर लेता है और सिर्फ सात दिन में ही ३ सेर दूध पचा के और दूध की मांग करता है। ४ सप्ताह के प्रयोग में दैनिक १०-१२ सेर दूध पी जाना और उस दूध का बाकायदा पोषण हो के नया रक्त बन जाना कम आश्चर्य की बात नहीं है।

होता यह है कि रसायन औषध के दिव्य प्रभाव से दूषित मल का शोधन हो के आमाशय और पक्वाशय में नया बल पैदा हो जाता है और पाचन यन्त्र के पुर्जों में इतना पेट्रोल पहुंच जाता है कि वहाँ गये हुये समस्त दूध का इतना अच्छा पाचन होता है कि तत्काल ही विशुद्ध रस बनता रहता है और हृदय के द्वारा रक्तशुद्धि का कार्य चलता रहता है। ज्यों ज्यों शरीर के रक्त में रक्ताणुओं की वृद्धि होती जायगी, त्यों-त्यों चेहरे पर लाली और शरीर में यौवन पैदा होता जायेगा। धीरे-धीरे समस्त विकार ही नष्ट नहीं हो जायगा, शरीर का ऐसा कायाकल्प संस्कार भी हो जायगा, जो वर्षों तक के लिये उत्साह, स्वास्थ्य और यौवन का आधार बना रहेगा।

कुटी-प्रावेशिक रसायन

शास्त्रोक्त विधि से निर्माण की हुई कुटी में रहकर जो रसायन सेवन किया जाता है, उसे कुटी-प्रावेशिक रसायन कहते हैं। कुटीर के निर्माण की विधि निम्नोक्त है।

कुटी का स्थान—जन-कोलाहल से दूर होना चाहिये। तपस्या करने वाले ऋषियों की पुण्यभूमि, वैदिक कर्मानुयायी ब्राह्मणों के आवास-स्थल और प्रजा-पालक राजा की निवासभूमि के समीप, भय-रहित, शान्त और उत्तम स्थान में कुटी बनवानी चाहिये। कुटी के स्थान के आस-पास काया-कल्प-सम्बन्धी सभी साधन होने चाहिये। उत्तर या पूर्व दिशा में पर्याप्त लम्बी-चौड़ी-ऊँची कुटी बनवानी चाहिये, जिसमें तीन परकोटे ऐसे हों, जो एक के अन्दर दूसरा और दूसरे के अन्दर तीसरा हो। वायु और प्रकाश के आने-जाने के लिये कुटी में रोशन-दान होने चाहिए। कुटी की दीवारें ऐसी हों जो प्रत्येक ऋतु में आराम-दायक हों। उत्तेजक, संयम से भ्रष्ट करनेवाली चीजें और कोलाहल कुटी से दूर रहने चाहिये; इसीलिये कुटी में स्त्री-छाया का भी निषेध किया गया है।

काया-कल्प संबन्धी सभी आवश्यक उपादान प्रवेश के पहिले ही कुटी में एकत्रित कर लेने चाहिये।

कुटीप्रवेश और रसायनसेवन

कुटीर का निर्माण होने पर कल्पसम्बन्धी सभी आवश्यक उपादानों के एकत्रित होने के बाद, सूर्य के उत्तरायण होने पर, शुक्ल पक्ष में, उत्तम-तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त, करण में, मुण्डन करा के, श्रद्धा और एकाग्र मन के साथ, रज, तम आदि मानसिक विकारों को दूर कर के, सब प्राणियों में मैत्री-भाव का चिन्तन करते हुए, शुद्ध हृदय से देव, ब्राह्मण और गौ की प्रदक्षिणा कर के कुटी में प्रवेश करना चाहिये। काम, क्रोध आदि विकार, घरेलू चिन्ता, रोजगार की झंझट आदि सभी दुनियावी बातों को कुटी के बाहर ही छोड़ देना चाहिये। कुटीप्रवेश के बाद सद्वैद्य के द्वारा, जो कल्प सेवी के पास ही रहता है, वमन, विरेचन आदि पंच कर्म द्वारा

शरीर का शोधन कर के, कुछ समय बाद च्यवन-प्राश आदि रसायन औषध का सेवन प्रारम्भ कर देना चाहिये। भोजन में अन्न-जल का परित्याग कर के केवल गाय का दूध लेना चाहिये। ६ महीने तक नियमित रूप से कल्पसेवन करने के बाद शरीर निर्विकार, शुद्ध, सर्वाङ्ग स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट हो जाता है। बालों की सफेदी, चमड़े की झुर्रियां, इन्द्रियों की क्षीणता, और मस्तिष्क की अशांति दूर हो के शरीर और मन में नई जवानी की लहरें उठने लगती हैं।

वातातपिक रसायन

कुटीप्रवेश रसायन का सेवन साधारण मनुष्यों के लिये संभव नहीं है। साधनसम्पन्न, मनस्वी और संयमी स्त्री-पुरुष ही इसका सेवन कर सकते हैं। साधारण लोगों के लिये वातातपिक रसायन विधि है। हरिद्वार, चित्रकूट जैसे जन-कोलाहल से दूर, शान्त स्थानों में रह कर इसका सेवन किया जाना उचित है; यों अपने गाँव में भी सेवन हो सकता है। शुद्ध-पवित्र स्थान हो, जहाँ मन को चंचल करने वाली चीजें न हों, शान्त वायुमण्डल हो, दिमाग को परेशान करने वाली चीजें न हों। ठीक स्थान में, ठीक मुहूर्त में, च्यवनप्राश, ब्राह्म रसायन आदि किसी भी रसायन का, जो सद्वैद्य द्वारा निर्दिष्ट किया गया हो, उचित मात्रा में सेवन करना चाहिए। शुद्ध, सात्त्विक भोजन हो, जिससे उत्तेजना न हो। सत्य-अहिंसा का नियम लेके ईश्वराराधन, सद्-ग्रन्थावलोकन, और प्राणीमात्र की शुभकामना करते रहना चाहिये।

एक-दो वर्ष तक संयम और नियम के साथ इस रसायन का सेवन करने से रस, रक्त, वीर्य आदि की विकृति दूर होके शरीर और इन्द्रियों का बल बढ़ जाता है, मन निर्मल हो जाता और मस्तिष्क की चेतनशक्ति जागृत हो जाती है।

रसायनसेवन का फल

कभी २ शरीरमें नये या पुराने ऐसे रोग हो जाते हैं, जो जिन्दगी के सारे रसका फीका करके मनुष्यको अकर्मण्य और हताश बना देते हैं, जैसे जीर्णज्वर, संग्रहणी आदि। ज्यादा भोगविलास से उत्पन्न हुई नामर्दी मनुष्य के मन में तो उमंग पैदा कर देती है, किन्तु उसकी कामशक्ति इतनी निर्बल हो जाती है कि उमंग और इच्छा के बावजूद भी वह संभोग में असमर्थ रहता है। ऐसे संभोग-असमर्थ मनुष्य की मानसिक स्थिति की कल्पना सहज ही में को जासकती है, और ऐसे मनुष्य यदि आत्महत्या भी कर लेते हैं, तो कोई असाधारण बात नहीं है। संग्रहणी और मन्दाग्नि का रोगी अच्छे २ भोज्य पदार्थों को देख देख कर ही कुढ़ता रहता है, और उसे ऐसी जिन्दगी से तो मौत ही अच्छी मालूम देती है।

ऐसे रोगों की भयानक दशामें वर्द्धमानपिप्पली, पर्पटी, मकरध्वज, च्यवनप्राश आदि रसायनों के प्रयोगसे शारीरिक विकार को नष्ट करके शरीर को स्वस्थ बनाया जाता है।

इसी तरह स्वस्थ-रोगरहित पुरुषों में भी ऐसे होते हैं, जो दीर्घायु चाहते हैं। अपनी मेधाशक्ति को प्रचण्ड करने की इच्छा रखते हैं और शरीर तथा मनको लम्बी-लम्बी तपस्याओं की कठिन साधना के उपयुक्त बनाना चाहते हैं। ऐसे पुरुषों की इच्छापूर्ति के लिये कुटीप्रावेशिक, वातातपिक आदि रसायनें प्राचीन कालमें व्यवहृत और सफल होनेके बाद आयुर्वेदिक ग्रन्थोंमें लिखी गई हैं।

प्राणकामा पुराजीर्णा च्यवनाद्या महर्षयः।
रसायनैः शिवैरेतैः बभूवुरमितायुषः॥

ज्ञानं तपो ब्रह्मचर्यं अध्यात्मं ध्यानमेव च।
दीर्घायुषो यथाकामं संभुज्य त्रिदिवं गताः॥

च्यवन आदि ऋषियों ने शरीर के जीर्ण-शिथिल होने पर जीवनदायिनी रसायनों का सेवन करके दीर्घायु प्राप्त की और तपस्या, आत्मज्ञान, ब्रह्मचर्य की साधना करके स्वर्गप्राप्त किया।

रसायनसेवन की आवश्यकता

आजकलके इस यन्त्रयुगमें, जो भौतिक विज्ञान के नये २ आविष्कारों के कारण मानवजाति और सभ्यता को उन्नति के शिखर पर बड़ी तेजी से ले जा रहा है, किसी भी चीज की आवश्यकता सिद्ध करने के लिये तर्कसंगत प्रमाणों की आवश्यकता होती है। खाली ऋषियोंके वाक्य कह देनेमात्र से लोगों का समाधान नहीं हो पाता। अतः रसायन-सेवन की आवश्यकता के विषय में युक्तिसंगत बातें कहना जरूरी है।

रसायन के विश्लेषण में यह कहा जा चुका है कि जरा—बुढ़ापे और व्याधि-विकार को नष्ट करने वाली विधि को रसायन कहते हैं। रसायन से ये दोनों बातें होती हैं, या नहीं इसपर भी पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। यह सिद्ध होना ही कि रसायनसेवन से विकारों का नाश और दीर्घायु की प्राप्ति होती है, रसायन सेवन की जरूरत को तर्कसंगत बना देता है। फिर भी महर्षि चरक के कुछ वचन यहां उद्धृत किये जाते हैं—

"सारे विकार ग्राम्य आहार, अर्थात् बेढङ्ग बेसमय, गैर जरूरत और हिताहित का विचार किये बिना किये जानेवाले भोजन से होते हैं। अत्यन्त खट्टे-नमकीन-कडुवे-क्षार सूखेशाक, उड़दकी दाल, तिल, पिट्ठी, आदि के बने हुये पदार्थोंको खानेवाले, नवीनशूक—शमीधान्य, रुचिविरुद्ध और परस्पर विरुद्ध चीजों के खानेवाले, अभिष्यन्दी-भारी-सड़े और बासी भोजन करनेवाले, दिनमें सोने और रातमें जगने वाले, अति मैथुन, गुद मैथुन करनेवाले, शराब जैसी नशीली चीजों का सेवन करनेवाले, बेढगे तरीके से कसरत करनेवाले, और काम-क्रोध आदि मानसिक विकारों से पीड़ित रहनेवाले मनुष्यों के शरीर में रहनेवाले दोष कुपित होके अनेक रोग उत्पन्न कर देते हैं। मांसपेशियां ढीली हो जातीं, संधियाँ अलग होने लगतीं, खून दूषित और कम हो जाता, चर्बी बढ़ जाती, हड्डियों से मज्जा अलग होने लगती, वीर्यनिर्माण में कमी हो जाती और ओज की उत्पत्ति रुक जाती है। इस दशा में मनुष्य हमेशा ग्लानि और चिन्तायुक्त रहता है। नींद-तन्द्रा-आलस्य उसके साथी हो जाते उत्साह और साहस दूर हो जाते, तथा स्मृति, बुद्धि और कांति दूर चली जाती है। शरीर रोगों का अड्डा बन जाता और मनुष्य को अपना जीवन भार-स्वरूप मालूम होने लगता है। ऐसे मनुष्य अकाल में ही मौत के मुंह में चले जाते हैं। इस तरह के विकार से युक्त रोगियों के लिये व्याधिनाशक रसायन औषध का सेवन आवश्यक है।"

चरक ऋषि के वचन सोलह आने पाव रत्ती सही हैं। मिथ्या आहार-विहारने रोगों की फौज खड़ी कर दी है, जीवनीय शक्ति बराबर नष्ट होती जाती और देशकी औसत आयु कम होती जा रही है। आज कलके सड़े-गले, कंट्रोल के अन्न ने रही सही कमी दूर कर दी है, बच्चों की मृत्युसंख्या बढ़ रही है, जवानों में उमंग नहीं रही, भरी जवानी में भी चश्मे और टानिकों की जरूरत होने लगी है। देश के स्त्री पुरुषों के स्वास्थ्य की ऐसी दयनीय दशामें रसायन औषध का सेवन जरूरी ही नहीं, अनिवार्य भी है।

श्री ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत

वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी आयुर्वेदशास्त्राचार्य

श्री ललित हरि आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना सन् १८६६ ई० में पीलीभीत के प्रतिष्ठित सेठ स्वर्गीय राजा लालता प्रसादजी व उनके लघु भ्राता रायबहादुर साहू हरिप्रसादजी ने प्राचीन संस्कृत साहित्य व चिकित्सा-विज्ञान की उन्नति के लिये की। उस समय देश स्वतन्त्र न था—चारों ओर दासता की मनोवृत्ति फैली हुई थी और संस्कृत साहित्य और आयुर्विज्ञान की शिक्षा का कोई भी सन्तोषजनक राजकीय प्रबन्ध न था। तत्कालीन सरकार को देशी चिकित्सा पद्धति से कोई भी प्रेम न था वलिक उसे नष्ट करने की सारी चेष्टायें होती जा रही थीं। देशवासी धर्म और विज्ञान की अवहेलना करते हुए अपनी श्रद्धा खो रहे थे देश के धनिक वर्ग का ध्यान भी (इधर उत्तरी भारत) आयुर्वेद की शिक्षा के सुप्रबन्ध की ओर न था। ऐसे समय में विद्यालय की स्थापना करके सेठ बन्धुओं ने देश की बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की और अपने देश प्रेम, धर्म प्रेम और संस्कृति-प्रेम का परिचय दिया।

शिक्षा प्रचार व प्रबन्ध

प्रारम्भ में इस शिक्षा संस्था में संस्कृत, व्याकरण व साहित्य तथा आयुर्वेद की शिक्षा के प्रबन्ध के लिये इसमें दो विभाग किये गये थे, संस्कृत विभाग तथा आयुर्वेद विभाग। संस्कृत विभाग में प्रारंभिक हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत की प्रथमा मध्यमा व शास्त्री की शिक्षा दी जाती थी। आयुर्वेद विभाग में प्रारम्भ में कलकत्ता व जयपुर की परीक्षायें दिलायी जाती थीं—किन्तु कुछ समय के बाद विद्यालय में वैद्यराज व वैद्यभूषण की क्रमशः पाँच व तीन वर्ष के कोर्स के रूप में उपाधियाँ देना प्रारम्भ हुआ। यह क्रम सन् १६३९ तक बराबर चलता रहा। सन् १६३६ ई० में प्रान्तीय सरकार की प्रेरणा से संस्थापकों ने विद्यालय में Board of Indian Medicine के पाठ्यक्रम को अपनाया और संस्कृत विभाग को बन्द करके सर्वाङ्गपूर्ण अष्टाङ्ग आयुर्वेद की शिक्षा के निमित्त आवश्यक साधन एकत्रित किए। वर्तमान काल में अधोलिखित विभाग संतोषजनक कार्य कर रहे हैं।

१ शिक्षा विभाग, २ चिकित्सा विभाग और ३ फार्मेसी विभाग

शिक्षा विभाग

यह विभाग संस्था का प्रधान अंग है। आयुर्वेद की उच्चतम शिक्षा के प्रबन्ध के लिये प्रत्येक साधन एकत्र किये गये हैं। उत्तरी भारत में इस आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना से आयुर्वेद की समुचित शिक्षा की सुव्यवस्था हुई है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। इसके समीप हिमालय पर्वत और इसकी उपत्यका है जो नैसर्गिक रूप से आयुर्वेदोद्यान की-सी समानता प्राप्त कर यहाँ के छात्रों को वनौषधि परिचय व द्रव्यगुणविज्ञान का प्राकृतिक साधन प्रदान करती है। यह सुविधा अन्य स्थानों

में दुर्लभ है। उत्तरी पाँचाल के इस प्रदेश में सदा से विद्यापीठ रहे हैं। उस ज्वलन्त परम्परा की एक कड़ी के रूप में आज भी यह महाविद्यालय वहाँ स्थित है।

इस समय इसमें बोर्ड आफ इन्डियन मेडिसीन यू० पी० का पंचवर्षीय पाठ्यक्रम अध्यापनार्थ स्वीकृत किया गया है। सरकार द्वारा इस विद्यालय को २१ हजार पाँच सौ रुपये की वार्षिक सहायता प्राप्त है। बोर्ड द्वारा स्वीकृत व सहायता प्राप्त विद्यालय में यह प्रथम श्रेणी का सर्वोच्च विद्यालय है। आयुर्वेदीय विषयों की सैद्धान्तिक और व्यवहारिक शिक्षा के लिये इस महाविद्यालय में प्रभूत साधन एकत्र किये गये हैं—लाखों रुपये व्यय करके महाविद्यालय में प्रयोगशाला, आतुरालय, शवच्छेदालय, वनस्पति उद्यान, तथा फार्मेसी खोली गयी हैं—जिनसे आयुर्वेद-शास्त्र के अध्येताओं को शास्त्र का सम्यक् ज्ञान होता है।

प्रयोग शालायें

व्यावहारिक ज्ञान के लिये कई प्रयोगशालायें महाविद्यालय में हैं—

१—कैमिस्ट्री व फिजिक्स की प्रयोगशाला
२—जीव-विज्ञान की प्रयोगशाला
३—शरीर-क्रिया-विज्ञान की प्रयोगशाला
४—रोग-विज्ञान की प्रयोगशाला
५—प्रत्यक्ष औषधि-निर्माण-विज्ञान की प्रयोगशाला
६—शवच्छेद भवन

रसायन विज्ञान व पदार्थ विज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा कैमिस्ट्री व फिजिक्स की प्रयोगशाला में, वनस्पति विज्ञान व प्राणी विज्ञान की प्रत्यक्ष शिक्षा जीव-विज्ञान की प्रयोगशाला में, अथवा शरीर-गत धातु दोष व मलों की परीक्षा शरीर-क्रिया-विज्ञान शाला में रोग-निर्णायक परीक्षायें रक्त, मूत्र, श्लेष्म व जीवाणु विज्ञानायें रोग-विज्ञान की परीक्षात्मक क्रियायें प्रयोगशाला में होती हैं। औषधियों के निर्माण की शिक्षा के लिये निर्माण प्रयोगशाला में जाकर विद्यार्थी स्वतः औषधि निर्माण करते हैं। शरीर की आभ्यन्तरिक रचना के ज्ञानार्थ छात्र स्वयं मनुष्य के मृत शरीर के प्रत्येक अंश का ज्ञान शवच्छेद क्रिया द्वारा मुर्दे की चीरफाड़ करके करते हैं।

शवच्छेद भवन

यह भवन विद्यालय की प्रधान इमारत से एक फर्लाङ्ग दूर प्रथक देव मूर्ति नदी के किनारे पर बना हुआ है। इसमें शरीर रचना के विषय की शिक्षा के लिये प्रधान भवन और लेक्चर रूम आदि हैं। सुश्रुत के उपदेशानुसार इसे नदी तट पर ही बनाया गया है।

संचालन

संस्थापकों की उदारता से विद्यालय के स्थाई प्रबन्ध के लिये कुछ गाँवों की जमीन्दारी, दूकान व मकान की रजिस्ट्री एक ट्रस्ट बोर्ड बनाकर कर दी गई है, जिससे कार्य सुचारु रूप से चले। इसके सुप्रबन्ध के लिये एक प्रबन्ध बोर्ड जिसके १३ सदस्य हैं, बना दिया गया है। विद्यालय का आन्तरिक प्रबन्ध प्रिंसिपल के अधीन एक अन्तरंग कमेटी द्वारा होता है।

अध्यापक वर्ग

इस विद्यालय के अध्यापक-मण्डल में बहुत से प्रौढ़ विद्वान् हैं। पं० विश्वनाथ द्विवेदी इसके प्रधान आचार्य हैं, जिन्हें आयुर्वेद-संसार अच्छी तरह जानता है, जिनकी लिखी पुस्तकें वैद्य संसार के लिये अमूल्य निधि हैं। यह विद्यालय अध्यापक-मण्डल में साधारण और नवीन स्नातकों को नहीं रख कर, सुपठित और सुयोग्य विद्वानों को ही रखता है, जो इसकी विशेषता कही जा सकती है। स्टाफ को साधारण व नये स्नातकों से न भर कर संस्कृत, आयुर्वेद अँग्रेजी व विज्ञान के पारंगत विद्वानों को रखकर अध्यापन की सुव्यवस्था करने में यह विद्यालय ख्याति लब्ध है।

आय-व्यय

विद्यालय का व्यय इस समय पचास हजार रुपया वार्षिक है। आतुरालय व फार्मेसी का व्यय मिलाकर ८० हजार है। आय के स्रोत संस्था की निधि, औषधि लाभ और सरकारी मदद है; जो सीमित है। व्यय में जो कमी पड़ती है उसे उदारचित्त संस्थापक पूरा करते हैं।

उच्च शिक्षा का प्रबन्ध (पोस्टाचार्य)

गत वर्ष से विद्यालय में पोस्ट ग्रेजुएट कोर्स की शिक्षा की भी व्यवस्था की गई है। इसमें आयुर्वेद के अष्टांग के एक-एक विषय की शिक्षा दी जाती है। गत वर्ष सरकार द्वारा पोस्ट-ग्रेजुएट-कोर्स को ६०) मासिक की दो छात्रवृत्तियाँ दी गई हैं। यह छात्रवृत्तियाँ केवल उन छात्रों को दी जाती हैं, जो कि बी० आई० एम० एस० की परीक्षा में सर्वोच्च अङ्क प्राप्त करते हैं। भगवान् धन्वन्तरि की कृपा से हमारे विद्यालय के कई छात्र वर्षों से यह स्थान प्राप्त कर रहे हैं और सर्व प्रथम स्थान प्राप्त करके स्कालर-शिप लेते हैं।

कार्य-शीलता

विद्यालय की शिक्षा की उत्तमता का प्रमाण इसी से लगाया जा सकता है कि बोर्ड द्वारा द्वितीय, तृतीय व पंचम वर्ष की परीक्षा में सर्व प्रथम अधिक अंक पाने वाले १५ छात्रों को २०) मासिक की छात्र-वृत्ति बोर्ड देता है। हमारे यहाँ प्रति-वर्ष आधी स्कालर-शिप प्राप्त होती है। शेष में बोर्ड के सब विद्यालय लाभ उठाते हैं।

अन्वेषण विभाग

अन्वेषण का कार्य विद्यालय में कई वर्षों से होता आया है। आसव-अरिष्ट व भस्मों पर अन्वेषण हुये हैं, जिनमें शीतज्वर के लिये मलेरिया संहार, गले के रोगों में धन्वन्तरि पेन्ट, घावों में धुस्तूर प्लास्टर इत्यादि पूर्ण लाभदायक अन्वेषण हुए हैं।

गत वर्ष से सरकार ने भी दो रिसर्च-स्कालर को १००) मासिक छात्रवृत्ति प्रदान किया है जो सफलता पूर्वक कार्य कर रहे हैं।

छात्र संख्या

कालेज कोर्स में शिक्षा पाने वाले २०७ छात्र हैं। पोस्ट ग्रेजुएट कोर्स में २ और रिसर्च में २ स्नातक हैं।

स्नातकों की संख्या

विद्यालय से अबतक सैकड़ों स्नातक निकले हैं, इनमें कई स्नातक वैद्य संसार में पूर्णख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

स्पेशल कोर्स

अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ की आयुर्वेदाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण वैद्योंके लिये बोर्ड आफ इण्डियन मेडिसिन, युक्त प्रान्त की ओर से एक वर्ष के लिये विशेष अध्ययन का प्रबन्ध किया गया है जिसको सुचारूरूप से चलाने का सर्व प्रथम सौभाग्य इस संस्था को ही प्राप्त हुआ है। इस समय २६ विद्यार्थी इस योजना के अन्तर्गत लाभ उठा रहे हैं। इस कोर्स में आधुनिक विज्ञान तथा पाश्चात्य चिकित्सा-सम्बन्धी सभी विषयों का यन्त्रादि सहित भली भाँति अध्ययन कराया जाता है तथा एक वर्ष के पश्चात बोर्ड द्वारा ही परीक्षा की व्यवस्था कर सार्टीफिकेट प्रदान किया जाता है।

अध्यापक मण्डल

आयुर्वेद विभाग—

१—पं विश्वनाथजी द्विवेदी, आयुर्वेद शास्त्राचार्य प्रिंसीपल।

(शेष पृष्ठ ६६ पर)

श्री धन्वन्तरि मन्दिर की उपयोगिता

भिषक्चूड़ामणि पं० मणिरामजी शर्मा आयुर्वेदाचार्य, सभापति नि० भा० आयुर्वेदविद्यापीठ

आज कल मन्दिर का जो अर्थ प्रचलित है वह मन्दिर के वास्तविक अर्थ से बहुत कुछ भिन्न है। भारतीय पौराणिक स्थापत्य-कला-विज्ञान में मन्दिर का अर्थ एक 'सुन्दर भव्यभवन' किया गया है, जिसका उत्कृष्ट कलाविदों द्वारा निर्माण किया जाता था। मन्दिर की निर्माण-कला ऐसी मनोहर चित्ताकर्षक तथा कौशल पूर्ण हुआ करती थी कि देखते ही बनती थी। उसके मध्य में ऊपर एक वर्तुलाकार स्तूप हुआ करता था तथा उसके ऊपरी हिस्से पर एक स्वर्ण-कलश रखा होता था जो पवित्रता का बोधक होता था। ऊपर वर्तुलाकर के चतुर्दिक छोटी-छोटी चन्द्रशालायें हुआ करती थीं, जिसके अन्दर एक विस्तृत प्रांगण होता था तथा उसके आस-पास छोटे छोटे तुलसी के पवित्र पेड़ लगे होते थे। मध्य में एक वट अथवा पीपल तो अवश्य ही होता था। प्रांगण के अनन्तर मन्दिर में एक मूर्ति स्थापित की जाती थी उसमें सजीवता प्रमाणित रखने के लिये वैदिक मन्त्रोच्चार से उसकी प्राण-प्रतिष्ठा की जाती थी प्रातः सायं धूप-दीपके पवित्र और सुगन्धित प्रधूम से वायु मण्डल स्वच्छ रहता था। स्वर्ण घण्टों का और मणिमुक्ता जटित शंखों का दूरश्रावी गगनव्यापी निनाद हुआ करता था जिसकी वैज्ञानिकता को हमारे ऋषियों ने बहुत पहले कीट विनाशक और स्वास्थ्य प्रद परिलक्षित कर लिया था। आज के भौतिक विज्ञानवादी भी कुछ अंशो में इसकी सत्यता स्वीकार करने लगे हैं।

प्राचीन काल में मन्दिर, विद्वानों, स्वतन्त्र-विचारकों, और धर्माचार्यों के परस्पर विचार विमर्श के लिये विशेष केन्द्रस्थल हुआ करते थे। समय क्रम से उनके मुख्य दो भेद हुए। एक वह जहां सदा जनता के शंकासमाधान अथवा विद्वानों के विचार विनमय के लिये एक प्रकाण्ड पण्डित धर्म-धुरीण धर्माचार्य का रहना आवश्यक समझा गया था जिसे मठ, पीठ आदि नामों से अभिहित किया गया। दूसरे प्रकार के मन्दिर ऐसे थे जहां किसी ग्राम, नगर अथवा स्थान विशेष के देवी, देवता अथवा महापुरुष की पुनीत स्मृति में केवल मूर्ति

(६८ वें पृष्ठ का शेष)

२—श्री हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ, आयुर्वेदाचार्य ए० एम० एस०

३—श्री राम कृपालु गुप्ता, ए० एम० एस०

४—श्री पं० हरि प्रसाद शर्मा, शास्त्री, वैद्यराज-आयुर्वेदाचार्य

५—पं० चन्द्रवल्लभ उप्रेती

६—श्री पं० कृष्णदत्त जोशी, डी० आई० एम० एस०

७—श्री पं गिरीशचन्द्र द्विवेदी B. I. M. S. आयुर्वेदाचार्य

८—श्री पं० रघुनन्दन प्रसाद उपमन्य B. I. M. S. आयुर्वेदाचार्य

९—श्री पं० जयदेव प्रसाद आयुर्वेदाचार्य

पाश्चात्य विज्ञान विभाग

१—डा० नन्दन प्रसाद शर्मा एम० वी० वी० एस० पाश्चात्य विज्ञान विभागाध्यक्ष।

२—डा० सूरज प्रसाद अग्रवाल एम० वी० वी० एस०

३—श्री० एस० एल० सक्सेना

४—श्रीसीताराम मीत्तल

स्थापित कर दी जाती थी। ऐसे मन्दिरों में सदा अथवा विशेष अवसर पर जनसमूह एकत्र होकर उनके सत्कर्मों का स्मरण करता, उन्हें आदर्श मानकर अपने जीवन को भी आदर्श बनाने का प्रयत्न करता था। इस दूसरे प्रकार के मन्दिरों पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं था। वह जनता की स्वतन्त्र सम्पत्ति होता था, जन प्रतिनिधि के रूप में पुजारी रहता था, वह नित्य कर्म के साथ-साथ मन्दिर की देखभाल तथा सम्हाल भी रखता था। ये दोनों ही प्रकार के मन्दिर आज तक चले आ रहे हैं—पर आज जो समयधर्म की प्रबलता है वह तो सर्व विदित ही है। वास्तविकता और सत्यता लुप्त होती जा रही है। लोगों की चित्तवृत्तियाँ और मनोभाव उत्तरोत्तर विकृत होते जा रहे हैं। दुःसंसर्ग जन्य दोष से अथवा असत्प्रचार के प्रभाव से ईश्वर पर अनास्था और सत्कर्मों का उपहास होता जा रहा है। फिर भी वर्त्तमान युग में जनता के हित साधन के लिये उपर्युक्त दूसरे प्रकार के मन्दिरों की ही अधिक मान्यता है।

हमारे आर्य ग्रन्थानुसार मन्दिरों में प्रधान रूप से भगवान् की ही मूर्तियों के संस्थापन का विधान है। भगवान् के २४ अवतार माने गये हैं। उनमें भगवान् धन्वन्तरि भी एक अवतार हैं जो हमारे इस प्रस्तुत लेख के विवेच्य विषय हैं। इन्हीं भगवान् धन्वन्तरि की पुण्यस्मृति को जनता के मनो-जगत में स्थायी बनाने के लिये एक 'धन्वन्तरि-मन्दिर' की योजना बनाई गई है। जिन धन्वन्तरि महाराज की पुनीत स्मृति में हम मन्दिर की योजना को कार्यान्वित करने जा रहे हैं—वे आयुर्वेद जगत के स्रष्टा आरोग्य-पंथ के प्रवर्तक तथा 'शरीरमाद्यंखलुधर्म साधनम्' के सिद्धान्त से संसार के दुःख दूर करने वाले थे। पौराणिक इतिहास और साहित्य में धन्वन्तरि नामोल्लेख दो स्थानों पर पृथक्-पृथक् मिलता है। एक सागर मन्थन के समय चौदह रत्नों में लोक कल्याणार्थ अमृतकलश लिये हुए और दूसरा काशी नरेश रूप में-जो आदि धन्वन्तरि के ही अंशावतार थे और सुश्रुत, भोज, वैतरिणी आदि प्रसिद्ध संहिताकारों के शिक्षक तथा सुविख्यात शल्य चिकित्सक थे।

आयुर्वेद को वर्तमान युग के अनुरूप वैज्ञानिक तरीकों से समुन्नत बनाने के लिये और धन्वन्तरि-भगवान् की पुनीत स्मृति का अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये एक मन्दिर की अतीव आवश्यकता है। इस धन्वन्तरि मन्दिर में आयुर्वेद की उन्नति के लिए निम्नलिखित प्रधान विषय होंगे।

१—अनुसन्धानशाला—औषधचित्रपरिचयादि।

२—आयुर्वेद के सत्यसिद्धान्तों का प्रचार, आयुर्वेदिक साहित्य संग्रह।

३—जनता के रोग निवारणार्थ एक औषधालय आदि।

मन्दिर में सर्वप्रथम भगवान् की पुनीत स्मृति में एक प्रतिमा स्थापित की जायगी। साथ ही इसमें जो अनुसन्धान-शाला होगी उसमें दूरस्थ अथवा निकटस्थ पण्डितों के गवेषणात्मक विचार मालूम किये जायेंगे। इस प्रकार यह विद्वानों और आयुर्वेद प्रेमी सज्जनों के विचारों का केन्द्रस्थल होगा। इतस्ततः विक्षिप्त अष्टांगायुर्वेद का पुनः संकलन किया जायगा। आध्यात्मिक विषय 'त्रिदोष' और आयुर्वेदीय अनन्त चिकित्सा वाङ्मय की 'पञ्चकर्म' पद्धति की आमूलभद्रता और पूर्ण प्रकृष्टता आदि विषयों पर मौलिक और प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे जायँगे, जिनका प्रकाशन समय-समय पर "श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के प्रकाशन विभाग" से होता रहेगा। इस प्रकार आयुर्वेदीय साहित्य की अभिवृद्धि होती रहेगी।

आयुर्वेद के पुनीत सार्वभौम सैद्धान्तिक सत्यों को जनता में सरल रूप से प्रचारित किया जायगा। जनता को जनार्दन का रूप इसीलिये दिया गया है कि वह सत्य की रक्षा करती है और असत को निकाल कर दूर करती है। भगवान् 'योगक्षेमं वहाम्यहं' की उक्ति से भक्त (कर्मपरायण) का योग-क्षेम वहन करते हैं ; ठीक यही जनता के विषय में है। जो वस्तु जनता की होती है वही अपनी होती है और स्वयं को अच्छी भी लगती है। जनता की शुभ कामनायें उसमें निहित रहती हैं। वह उसकी प्राणपण से रक्षा करती है। जब यह योजना पूज्य श्री यादवजी महाराज की है, तो इसकी सफलता में किसे संदेह हो सकता है।

राजस्थान प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के दसवें अधिवेशन में सीकर में इस सम्बन्ध का एक प्रस्ताव भी स्वीकृत किया गया है—'यह सम्मेलन उचित समझता है कि पूज्य श्री यादवजी महाराज की योजनात्मक आज्ञा एवं वर्तमान राजपुताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के सभापति श्री गुरांसा के भाषण में दिये गये सुझाव के अनुसार 'धन्वन्तरि-मन्दिर' रतनगढ़ को सार्वजनिक विशाल जनस्वास्थ्योपयोगी संस्था बनाने के लिये एक समितिका निर्माण किया जाय जिसके जिम्मे इस सर्वजनहितकारी कार्य को शीघ्र ही एक सुविस्तृत योजना बनाकर कार्यान्वित करने का भार सौंपा जाय।" इसका समागत वैद्य बन्धुओं ने सहर्ष समर्थन किया।

रा० पू० प्रा० वै० सम्मेलन सीकर के सभापति श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक चाणोद गुरांसा का मूल प्रस्ताव पर सुझाव यह है कि :—

"श्री स्वामीजी के पद चिह्नों का अनुसरण करने वाले आयुर्वेद मार्तण्ड पण्डित श्री मणिरामजी महाराज ने रतनगढ़ में धन्वन्तरि-मन्दिर की स्थापना की है। मेरी भी एक यही भावना है कि हम राजस्थान के वैद्य एक उदाहरण उपस्थित करें और सेवाग्राम की तरह एक 'आयुर्वेद सेवाग्राम' की स्थापना करें। उस सेवाग्राम की स्थापना एक ग्राम में हो जहाँ आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक प्रकार की सेवाओं द्वारा वह सेवाग्राम विश्व को विमल सन्देश दे।"

इसी प्रकार की अभिलाषा लाहौर वाले अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन के अध्यक्ष श्री जीवराम कालीदास शास्त्री गोंडल ने भी अपने भाषण में प्रकट की थी। उन्होंने यहाँ तक बताया था कि "स्वर्गीय बीकानेर नरेश श्री गंगासिंहजी उसकी स्थापना के लिये सब प्रकार की सुख सुविधायें देने को तैयार थे। उसी राजस्थान के सपूत की सद्भावना का प्रतिफल रतनगढ़ के श्री धन्वन्तरि मन्दिर को कहा जाय तो असंगत नहीं होगा क्योंकि बीकानेर की सीमासे इसका बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है और बीकानेर राजस्थान का एक जिला है। इस घटना से स्वयंसिद्ध है कि राजस्थान के पुनीत प्रांगण में यह बीज अन्तर्गर्भित है। अतः यह कार्य अवश्य सफल हो सकता है। यद्यपि मैंने रतनगढ़ के श्री धन्वन्तरि मन्दिर को नहीं देखा है, किन्तु श्री मणिरामजी महाराज के व्यक्तित्व से यह असंदिग्ध है कि यह मन्दिर राजस्थान का अनुपमेय स्थान होगा।

सेवाग्राम की भावना को मूर्त्त रूप देने के लिये मैं राजस्थान के समस्त वैद्य एवं प्रमुख नागरिकों से निवेदन करता हूँ कि इस ओर अग्रसर होकर पूर्ण सहयोग प्रदान करें। साथ ही यह भी प्रार्थना करूंगा कि यदि पण्डित मणिरामजी महाराज ही अपने रतनगढ़ के धन्वन्तरि मन्दिर को राजस्थान में आयुर्वेद की सेवाओं के लिये समर्पित कर दें तो वैद्य समाज पर उनका बड़ा अनुग्रह होगा। पण्डितजी महाराज के द्वारा यदि मेरी प्रार्थना

स्वीकृत कर ली जाती है तो हमें इस अधिवेशन में ही वहाँ के लिये एक रचनात्मक कार्यक्रम बना लेने का अवसर मिल जायगा। मेरा विश्वास है कि ऐसे स्थान से साहित्य-संशोधन व प्रकाशन, वनस्पति वाटिका, अनुसन्धान, स्वास्थ्य प्रचार आदि आदि सभी कार्य सम्पादित किये जा सकेंगे। क्योंकि पं० जी महाराज स्वयं त्यागमूर्ति हैं और प्रान्त भी धन जन विद्या से समृद्ध है।"

यह तो विदित ही है कि भगवान् श्री धन्वन्तरि महाराज के उपदेशामृत से ही मानव समाज स्वास्थ्य लाभ कर रहा है एवं वैद्य बन्धु धर्म, अर्थ, यश, आदि प्राप्त कर रहे हैं—किन्तु उनका देश में विशाल स्मृति मन्दिर का न होना हमारे लिये लज्जा की बात है। मैं चाहता हूँ कि एक ऐसा आदर्श मन्दिर बने जो केवल मूर्ति पूजा का ही स्थान न हो, वहाँ वैद्य वृन्द उपस्थित होकर भगवान श्री धन्वन्तरिजी के आदेशानुसार अपनी स्थिति एवं उन्नति का विचार कर सकें तथा आयुर्वेदिक अनुसन्धान-परिणामों को जनता के सम्मुख उपस्थित कर सकें एवं आतुरगण भी यहाँ से स्वास्थ्य लाभ कर सकें। मन्दिर रतनगढ़ (बीकानेर) में ही बनाया जाय यह निश्चित किया गया है। यह कार्य सबके सहयोग से ही सम्पन्न हो सकता है। अतः मैं समस्त आदरणीय वैद्य वृन्द,सम्माननीय धनी मानी एवं जन-साधारण विशेष कर श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद-भवन लि० और उसकी शाखा प्रशाखायें तथा उसके औषध-विक्रेता महानुभावों से अपील करता हूँ कि इस पुनीत कार्य में तन-मन-धन से योग दान दें। सरकार के भी सहयोग और समर्थन की अतीव आवश्यकता है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र गणतन्त्र राज्य काल में भगवान धन्वन्तरि की स्मृति-रक्षा की दिशा में मन्दिर-निर्माण की योजना को सफल बनाने के लिए आयुर्वेद प्रेमियों को जुट जाना चाहिए।

इस प्रकार मुख्यतः जनता और सरकार की शुभकामना और समर्थन प्राप्ति से ही यह धन्वन्तरि मन्दिर सफल होगा। आयुर्वेदोन्नति होने के साथ साथ इसका सत्प्रचार और प्रसार हो बस यही 'धन्वन्तरि-मन्दिर' की उपयोगिता का सारांश है।

राजपुताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलनके दशमाधिवेशन सीकरमें स्वीकृत श्री धन्वन्तरि-मन्दिर रतनगढ़ की समिति के सदस्य निम्नलिखित हैं—

१- सभापति—श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक चाँणोद गुरांसा, जोधपुर, सभापति रा० प्रा० वै० स० दशमाधिवेशन, सीकर।

२- मन्त्री—वै० मणिराम शर्मा, रतनगढ़, सभापति नि० भा० विद्यापीठ।

३- उपमन्त्री—व्याकरणायुर्वेदाचार्य श्रीपूर्णानन्दजी वैद्य, रतनगढ़।

४-कोषाध्यक्ष—भा० बी० काम विजयकुमार शर्मा बम्बई।

५- सदस्य—श्री यादव जी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई सभापति नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन ३७ वां अधिवेशन-देहली।

६- "—त्यागमूर्ति श्रीस्वामी मंगलदासजी महाराज जयपुर।

७- "—आचार्य श्रीस्वामी जयरामदासजी महाराज जयपुर।

८- "—वैद्य श्री रामनारायणजी शास्त्री-संचालक श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०।

९- "—श्री अमोलक चन्द्रजी शास्त्री—सञ्चालक राष्ट्रीय आयुर्वेदिक फार्मेसी, जयपुर।

१०- सदस्य—भा० डा० जयकुमार शर्मा कलकत्ता।

११- "—भिषङ्मणि मण्डल-कार्यालय, पिलानी

संयोजक, को ऐसा अधिकार दिया गया है कि वह अपनी सुविधाके अनुसार अधिक सदस्य भी ले सकता है। इस नियम के अनुसार तीन सदस्य और चुने गये।

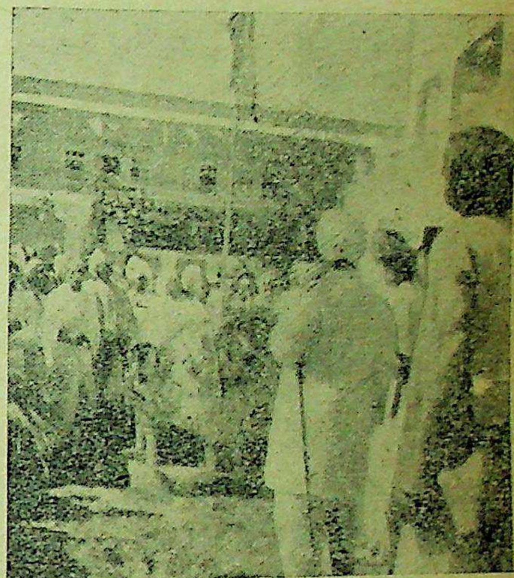
राजस्थान आ० स० का दशम-अधिवेशन

कविराज माधव प्रसाद शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

समय की गति विचित्र है। वर्तमान विषम परिस्थिति को देखते हुए किसी भी देश-जाति शास्त्र-एवं विज्ञान की उन्नति के लिये हमें संगठन की आवश्यकता पड़ती है। शास्त्रकारों ने इसी उद्देश्य को लेकर 'संघे शक्तिः कलौयुगे' सूत्र की रचना कर संसार के सम्मुख यह स्पष्ट रूपेण रखदिया कि अगर उन्नति पथ का अनुगामी बनना है तो संगठन की ओर प्रगतिपूर्ण कदम उठाइये। बिना संगठन-शक्तिके किसी भी-उद्देश्य-सिद्धिमें सफलता प्राप्त करना असम्भव है। इसी उद्देश्यको लेकर हमारे वैद्य समाज ने भी "राजस्थान आ० सम्मेलन" का दशम अधिवेशन राजस्थान के ऐतिहासिक एवं सुरम्य नगर सीकर में बड़ी धूम-धाम के साथ मनाया। सम्मेलन को सफल बनाने में वहाँ के ठाकुरों एवं प्रतिष्ठित धनी-मानी सज्जनों का सहयोग निश्चय आयुर्वेद की उज्ज्वल-कीर्ति का द्योतक था। उनका उत्साह पूर्ण कार्य आयुर्वेद की प्रखर तेजस्विता को प्रकट कर रहाथा। आयुर्वेद के प्रति उनका अनुराग होना एक भारतीयता के नाते उतनाही आवश्यक है जितना एक सभ्य अंग्रेज के हृदय में एलोपैथीविज्ञान के प्रति अनुराग का होना।

प्रथम दिवस

सम्मेलन के प्रथम दिन की कार्यवाही बाहर से पधारेहुए लग-भग २५० प्रतिनिधियों एवं अन्य स्थानीय प्रतिष्ठित महानुभावों के बीच आरम्भ हुई। सर्वप्रथम भारतके सुविख्यात वैद्यराज एवं नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के सभापति श्री-यादवजी त्रिकमजी आचार्य के कर कमलों द्वारा पताकोत्तोलन कार्य सम्पन्न हुआ।



आयुर्वेद मार्त्तण्ड श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य मध्य में झंडोत्तोलन कार्य सम्पन्न कर रहे हैं।

साथ ही सुमधुर संगीतमय ध्वजवन्दन कविता पाठ हुआ। उस समय का वह दृश्य आयुर्वेद के अतीत गौरव को स्मृतिपट पर ला रहा था। तत्पश्चात् सीकर के रावराजा श्री कल्याणसिंह जी ने प्रदर्शिनी का उद्घाटन किया। प्रदर्शनी में लग-भग २०० जड़ी-बूटियाँ रक्खी गई थीं। साथ ही माधव सेवा समिति एवं 'श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०' कलकत्ता की औषधियाँ एवं औषध पेटिका आदि प्रदर्शिनी के विशेष आकर्षक थे। समय को देखते हुए प्रदर्शिनी में कई त्रुटियाँ थीं; किन्तु आयुर्वेद प्रचार को ध्यान में रखते हुए कार्य सराहनीय ही था। प्रदर्शिनी में एक

"जलनीलम" का वैज्ञानिक परीक्षण था जो "पेनसिलीन" के बराबर कार्य करता है; इस सम्बन्ध में दो-तीन प्रत्यक्ष परीक्षण भी वहाँ किये गये। जिससे आशा की जाती है कि अगर आयुवद को भी



दांये से—सीकर के रावराजा ठाकुर कल्याणसिंहजी जिन्होंने प्रदर्शिनी का उद्घाटन किया।

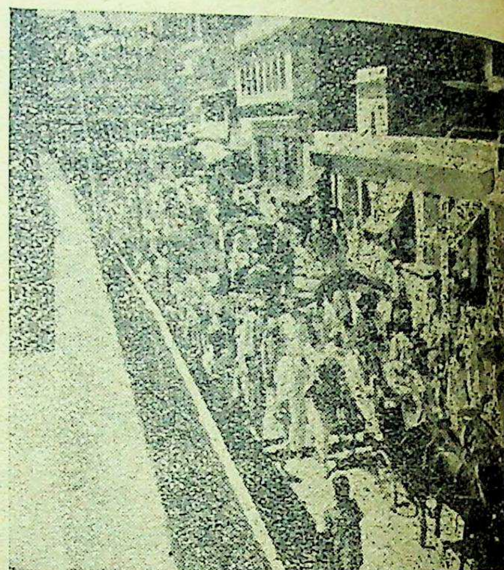
मध्य में—आयुर्वेदालंकार श्री प्रह्लादराय जी, स्वागत मंत्री, जिनके सतत प्रयत्न से सम्मेलन सफल हो सका।

राज्याश्रय मिले तो वह भी एलोपैथी के सदृश अनेक नवीन आविष्कार कर सकता है।

सभापति का जलूस

उद्घाटन कार्य के अनन्तर राजस्थान के सुविख्यात चिकित्सक आयुर्वेद मार्तण्ड राजवैद्य पं० उदयचन्द्र जी भट्टारक जो कि सम्मेलन के नव-निर्वाचित सभापति हैं; उनके नायकत्व में शहर में जुलूस निकाला गया। जगह-जगह पर आपका भव्य स्वागत हुआ। सबसे आगे धन्वन्तरि भगवान् का चित्र हाथी पर आयुर्वेद की दिव्य प्रतिभा को प्रकट कर रहा था। सीकर का सारा नगर 'जय आयुर्वेद' के गगन भेदी नारों से निनादित था।

मध्याह्न दो बजे से सभा की कार्यवाही पुनः प्रारम्भ हुई। आरम्भ में जोधपुर के तरुण वैद्य कविराज माधव प्रसाद शास्त्री ने "जयति धन्वन्तरि रूपकारी"-शीर्षक एक स्वागत गीत लगभग २५



सभापति के जुलूस का एक दृश्य।

मिनट तक गाया। तत्पश्चात् जोधपुर के ख्याति प्राप्त चिकित्सक रत्न पं० उदय चन्द्र भट्टारक सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए। तदनन्तर बाहर से आये शुभसंदेश पढ़े गये। सन्देश भेजने वाले महानुभावों में पं० जवाहर लाल नेहरू, राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद, स्वास्थ्य मंत्रिणी राजकुमारी अमृत कौर, जनरल करिअप्पा, डा० जानमथाई, पं० हीरालाल शास्त्री आदि प्रमुख थे। सन्देश भेजने वालों में पं० जवाहर लाल नेहरू को छोड़ अन्य सभी सज्जनों ने आयुर्वेदके प्रति अपनी शुभकामनायें प्रकट की थी तथा यथाशक्य सहयोग का आश्वासन भी दिया था। प्रधान मंत्रीजीने संदेश देनेमें समायाभाव प्रकट किया था।

स्वास्थ्य मंत्री का सन्देश

संदेश पाठ के कार्य-क्रम के अनन्तर स्वास्थ्य

मंत्री रावराजा हनुमन्त सिंह द्वारा सम्मेलन के उद्घाटन का कार्य क्रम था-किन्तु किसी विशेष कार्य-वश स्वास्थ्य मंत्रीजी के न पधारने के कारण उनका लिखित भाषण पढ़ागया। भाषण में उन्होंने बताया कि मुगल कालका आयुर्वेद पर किस प्रकार प्रभाव पड़ा और उससे आयुर्वेद साहित्य को कितना धक्का पहुँचा। किन्तु विभिन्न प्रकार के कुठाराघात सहते हुऐ आयुर्वेद आजभी जीवीत है, यही उसकी सत्यता एवं वास्तविकता का उदाहण है। हमें आयुर्वेद को अपनाना चाहिए। आयुर्वेद प्रचारको ध्यानमें रखकर ही राजस्थान सरकारने आयुर्वेदमण्डल की स्थापना की है-आशा है आप सभी सरकारी प्रश्रय योजनाओं में अपना योग दान देंगे। अन्तमें स्वास्थ्य मंत्रीजीने सम्मेलन की शुभकामना के साथ वैद्यों को रचनात्मक कार्य अपनाने की सलाह दी।



बायें से—श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक, आचार्य यादवजी, पूज्य जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल आदि महानुभाव प्रदर्शिनी का निरीक्षण कर बाहर पधार रहे हैं।

स्वास्थ्यमंत्रीजी के लिखित भाषण के अनन्तर स्वागताध्यक्ष पुरोहित स्वरूपनारायणजी ने अपना स्वागत भाषण पढ़ा। आपने वैद्यों को सम्बोधित करते हुए कहा कि आज जनतंत्रका युग है। जनता की भावना ही सरकार को किसी कार्य के लिये विवश कर सकती है। यह तो निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि भारत के ७ लाख गाँवोंमें ८५ प्रतिशत साधनहीन जनता की स्वास्थ्य-सेवा आयुर्वेद द्वारा ही देश की परिस्थितिके अनूकूल अत्यन्त प्राकृतिक ढंगसे न्यूनातिन्यून व्ययमें सम्पन्न की जा सकती है।

श्रीभट्टारकजी का भाषण

स्वागताध्यक्ष के भाषण के अनन्तर राजस्थानके नवनिर्वाचित सभापति पं० उदयचन्द्रजी भट्टारकने अपना भाषण आरम्भ किया। आपने आयुर्वेदके सिद्धान्तों की चर्चा न कर आयुर्वेदकी महत्तापर विशेष प्रकाश डालते हुए कहा कि आजके युग में अमेरिकाको समृद्ध राष्ट्र स्वीकार करने में कोई भी सजग प्राणी नहीं हिचकता। उसने अणुबम जैसी वैज्ञानिक शक्ति को प्राप्त कर विश्व को विस्मय में डालदिया है। वहीं के प्रसिद्ध चिकित्सा विशारद डॉक्टर क्लार्क ने आयुर्वेद की महत्ता इन शब्दों में बताई है—"आधुनिक चिकित्सक यदि अपनी वर्तमान चिकित्सा को छोड़ कर चरक के सिद्धान्तानुकूल चिकित्सा आरम्भ करदें तो चिकित्सकों के सामने चिकित्सा कार्य का भार संसार में बिलकुल कम हो जायगा और संसार में जीर्ण रोगभी बहुत कम मिलेंगे।"

[श्री भट्टारक जीके आयुर्वेद सम्बन्धी विचार "सचित्र आयुर्वेद" के जून के अंक में पृष्ठ १०२६ पर प्रकाशित हो चुके हैं। —स० सम्पादक]

सभापति के भाषण के अनन्तर आयुर्वेद मार्तण्ड श्रीयादवजी त्रिकमजी आचार्य ने अपना सारगर्भित भाषण लगभग आधा घण्टा तक दिया। आप का भाषण भी संगठन सम्बन्धी चर्चाओं से भरा

था। आपने सरकार की आलोचना करते हुए समन्वयात्मक पद्धति पर जोर दिया।

सार्वजनिक स्वास्थ्य सभा

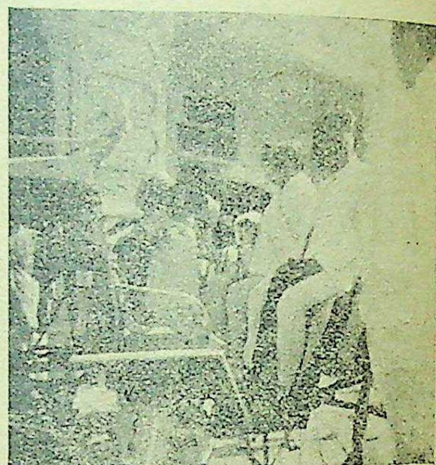
सायं ७ बजे सुभाष चौक में एक सार्वजनिक-स्वास्थ्य सभा का आयोजन किया गया, जिसमें आचार्य नित्यानन्द सारस्वत, कविराज नित्यानन्द वैद्य वाचस्पति, कविराज विष्णुदत्त पुरोहित, वैद्यअमर दास, एवं प्रसिद्ध कवि तथा चिकित्सक आयुर्वेदाचार्य मोहन लाल गोठेचा के कार्यक्रम विशेष आकर्षक थे। तत्पश्चात् रात्रि को विषय निर्वाचनी के अधिवेशन में कई महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार किया गया।

दूसरा दिन

दूसरे दिन के सम्मेलन की कार्यवाही में प्रातः-काल नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ के सभापति पं० मणिरामजी शर्मा, राजवैद्य नन्दकिशोरजी, आचार्य यादवजी त्रिकमजी, स्वामी जयराम दासजी, पं० देवेन्द्र चन्द्रजी मुनि आदि प्रसिद्ध चिकित्सकों ने रोगी-परीक्षण कार्य-क्रम में विशेषरूप से भाग लिया और सैकड़ों रोगियों के निदान एवं चिकित्सा की व्यवस्था की गई। इस अवसर पर आस-पास के गाँव के सैकड़ों रोगियों ने लाभ प्राप्त किया। रोगी परीक्षण कार्य के साथ ही अग्निकर्म चिकित्सा के प्रदर्शन का कार्य अधिक आकर्षक था। किन्तु बाल-कोंपर किये गये अग्निकर्म की चर्चा सम्पूर्ण वैद्य-समाज की समस्या बनी हुई थी क्योंकि शास्त्र ने बालक एवं वृद्धों के लिये अग्निकर्म चिकित्सा का विरोध किया है फिर भी उसका बालकों पर प्रदर्शन अन्तर्वेदना का द्योतक था।

मध्याह्न १ बजे जयपुर राज्य-वैद्य सम्मेलन की विशेष कार्यवाही कर सम्मेलन समाप्त किया गया और इसका सम्बन्ध राजस्थान वैद्य सम्मेलन से सम्बद्ध कर दिया गया।

पश्चात् ३ बजे स्वामी लक्ष्मीराम छात्र प्रतियोगिता का कार्यारम्भ हुआ। इस प्रतियोगिता में तीन आयुर्वेदिक कॉलेजों ने विशेष रूप से भाग लिया था। चर्चाका विषय था "क्या आयुर्वेद ही राष्ट्रिय चिकित्सा-पद्धति है ?" प्रतियोगिता में परशुरामपुरिया आयुर्वेद कॉलेज के छात्र सर्व-प्रथम रहे, जिन्होंने एक वर्ष के लिये धन्वन्तरि की मूर्त्ति प्राप्त की।



सभापतिजीका जुलूस में लिया गया चित्र। बांयी तरफ बग्घी में श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक और पास में श्री यादवजी महाराज बैठे हैं।

चिकित्सा परिषद्

द्वितीय दिन के कार्यक्रम के अन्तर्गत ही प्रातः ९ बजे महाराणा आयुर्वेद कॉलेजके वाइस प्रिन्सिपल पं० प्रेमशङ्करजी शर्मा भिषगाचार्य के सभापतित्व में चिकित्सा सम्भाषा परिषद् की कार्यवाही सम्पन्न हुई जिसमें राजस्थान के प्रसिद्ध वैद्योंने आयुर्वेदके गम्भीर तत्वों पर विचार किया।

विषय निर्वाचनी

रात्रि को ९ बजे विषय निर्वाचनी का अद्वितीय अधिवेशन हुआ-जिसमें नियमावली-संशोधन जिला वैद्य सभा, राजस्थान यूनिवर्सिटी में आयुर्वेद की स्थापना, सर्वाङ्ग पूर्ण आयुर्वेद कालेज एवं चिकित्सा-

लयों सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के प्रस्ताव पास हुए। प्रस्तावों की उलझन में स्वामी मंगलदासजी का धैर्यपूर्ण वक्तव्य द्वारा निर्देश अधिक प्रभावोत्पादक प्रतीत होता था।

तीसरा दिन

सम्मेलन का आज तीसरा दिन था। दूसरे दिन के कार्य क्रमानुसार प्रातः काल आज भी रोगी परीक्षण कार्य हुआ—जिसमें आचार्य नित्यानन्द सारस्वत एवं कविराज विष्णुदत्त पुरोहित तथा कविराज नित्यानन्द वैद्य वाचस्पति, स्वामी हरिदास बी० ए०, वैद्य मोतीराम आदि महानुभावों ने विशेष रूपसे भाग लिया।

सामयिक विचार परिषद्

तदनन्तर ६ बजे बूँदी आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष, प्रसिद्ध चिकित्सक श्रीनित्यानन्द वैद्य वाचस्पति की अध्यक्षता में "सामयिक परिस्थिति विचार परिषद्" का आयोजन किया गया। परिषद् में पूज्य श्रीयादवजी त्रिकमजी आचार्य ने सर्व प्रथम अपना वक्तव्य दिया, जिसमें द्रव्य-गुण की विशेषता पर आपने अधिक जोर दिया। तदनन्तर जोधपुर के प्रसिद्ध वैद्य यशराजजी शर्मा भिषगाचार्य, श्री वैद्य कल्याण प्रसादजी, पं० प्रेमशङ्करजी, आचार्य नित्यानन्दजी सारस्वत आदि वैद्य महानुभावों ने अपने अपने विचार सामयिक परिस्थिति पर विद्वत्तापूर्ण शब्दों में प्रकट किये। पश्चात् अध्यक्ष ने अपने गवेषणापूर्ण वक्तव्य में आयुर्वेद की मौलिकता और वैज्ञानिकता, पर प्रकाश डाला।

पत्रकार संघ की स्थापना

सामय-विचार परिषद् के अनन्तर लगभग ११ बजे नि० भा० आयुर्वेद महा सम्मेलन पत्रकार संघके महामन्त्री श्री आचार्य नित्यानन्द सारस्वत के विशेष प्रयत्नों के कारण राजस्थान आयुर्वेद पत्रकार संघ की स्थापना की गई। जिसका उद्घाटन झाँसी आयुर्वेद यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल ने किया। पश्चात् चुनाव कार्य सम्पन्न हुआ। जिसमें वैद्य नित्यानन्दजी वैद्य वाचस्पति एवं कविराज माधव प्रसाद शास्त्री क्रमशः पत्रकार संघ के प्रधानाध्यक्ष एवं प्रधान मन्त्री नियुक्त हुए।

मध्याह्न एक बजे से खुला अधिवेशन की कार्यवाही प्रारम्भ हुई, जिसमें विषय निर्वाचनी के स्वीकृत प्रस्तावों को पढ़कर सुनाया गया। पश्चात् सायंकाल ४ बजे सीकर आयुर्वेद कालेज के प्रोफेसर डॉ० त्रिलोकीनाथ का भाषण हुआ। तदनन्तर आगामी चुनावों का कार्य-भार सभापति को प्रदान कर सम्मेलन की कार्यवाही सधन्यवाद समाप्त की गई।

राजस्थान में आयुर्वेद का प्रचार

राजस्थान आयुर्वेद मंडल ने आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली की उन्नति व प्रचार के लिए निम्न लिखित ५ उप समितियों की स्थापना की है। १ रजिस्ट्रेशन उप समिति, २ अनुसन्धान उपसमिति, ३ औषध निर्माण उपसमिति, ४ शिक्षा उपसमिति और ५ विकास उपसमिति।

इस मंडल की स्थापना राजस्थान सरकार द्वारा उन दस मंडलों के साथ हुई है जो राज्य की सार्वजनिक उन्नति के लिये बनाये गये हैं।

इस मंडल द्वारा स्थापित रजिस्ट्रेशन उप समिति ने भारत के विभिन्न राज्य में भारतीय चिकित्सा के कानूनों का पर्यालोचन करके तथा जयपुर के रजिस्ट्रेशन एक्ट के मनन करनेके पश्चात् एक पान्डुलिपि तैयार की गई है, आयुर्वेद विभाग के एकीकरण तक इस उप समिति का कार्य स्थगित कर दिया गया है।

मंडल की अनुसन्धान उप समिति ने आयुर्वेद संबन्धी उपलब्ध साहित्य संग्रह करके राजस्थान की विभिन्न बनस्पतियों के संबन्ध में खोज कार्य शुरु कर दिया है, जिसके लिए लग-भग १५ हजार की रकम बजट में रखी गयी है। उप समिति के सम्मुख देहरादून के सरकारी वनस्पति विभाग में अनुभव प्राप्त करने के लिए एक आयुर्वेदाचार्य भेजे जाने की भी योजना विचाराधीन है, जिससे वैद्यों के वनस्पति सम्बन्धी ज्ञान समुचित रूप से मिल सकेगा। फिलहाल उपसमिति ने बनस्पति जानने वालों को प्रारम्भिक वर्ष का कार्य सौंप दिया है।

मंडल द्वारा स्थापित शिक्षा उपसमिति आयुर्वेद शिक्षालयों में प्रचलित पाठ्यक्रम में आवश्यक सुधार करने में संलग्न है। यह उप समिति एक विशेष जानकारी की देख रेख में कार्य करेगी और इसके लिए आनुमानिक व्यय १,२०० रुपये स्वीकार किये गये हैं। इसके अतिरिक्त यह उपसमिति गांवों में औषध वितरण के लिए अध्यापकों को प्राथमिक शिक्षा भी प्रदान करेगी जिसके लिए तीन मास का पाठ्यक्रम निश्चिय किया गया है।

विकास उपसमिति आयुर्वेद की सर्वाङ्गीण उन्नति करेगी जिसमें वनस्पति उद्यान स्थापित करने, म्युनिसिपल वैद्यों को सहायता दिलाने, क्षय की कई आरोग्य शालायें बनाने आदि कई उपयोगी कार्य सम्पन्न करेंगी।

वनस्पति उद्यान के लिये कोटा में जमीन प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। औषध मन्जूषा के लिये अमृतसर वाला नमूना पास करके टेन्डर मांगे गये हैं। एक पुस्तिका भी तैयार की गई है। जिसे पढ़कर अध्यापकगण इन औषधियों का उपयोग करने में सुविधा प्राप्त कर सकेंगे। मण्डल ने औषधालयों की सूची तैयार करवाई है।

इसके अतिरिक्त यह मण्डल जन-हित कार्य में कई अन्य महानुभावों से मिलकर धर्मार्थ औषधालय भी स्थापित कर रहा है। इससे राज्य का व्यय कम होगा और गाँव वालों को मुफ्त में औषधियाँ मिल सकेंगी।

मंडल का मुख्य उद्देश्य आयुर्वेद की उन्नति एवं समयोपयोगी औषधियों को ग्रामीण जनता को देकर उनकी रोग पीड़ा दूर करना तथा जन सेवा करना है।

यह मंडल राजस्थान सरकार द्वारा पिछले २५ दिसम्बर को राजस्थान स्वास्थ्य मंत्री श्रीहंणूत सिंह द्वारा उद्घाटित किया गया था। इसके कुल १६ सदस्य हैं और श्रीतनसुख व्यास इसके सेक्रेटरी हैं।

प्रार्थनापत्र भेजें

राजस्थान सरकार साठ हजार रुपये वार्षिक व्यय करके १०० वैद्यों को ऐसे गाँवों में बसाना चाहती है, जहाँ कोई अन्य चिकित्सा-व्यवस्था न हो। इसी प्रकार चालीस हजार रुपये की वार्षिक औषधियाँ गाँवों में वितरण करना चाहती है। इसके लिये उपयुक्त वैद्य प्रार्थनापत्र—"डायरेक्टर आयुर्वेद विभाग उदयपुर" के पते पर भेजें।

महाकुष्ठ

गत २० फरवरी को बम्बई की 'बाम्बे प्रसीडेन्सी वीमिन्स कांउसिल' के वार्षिक समारम्भ के अवसर पर भाषण करते हुए मद्रास के क्रिश्चियन मेडीकल कालेज में महाकुष्ठ के अध्यापक डॉ० आर० जी काकेन एम० डी० एफ० आर० सी० पी० ने कहा :—

महाकुष्ठ-पीड़ित रोगियों के प्रति सर्वत्र जो निष्ठुर तिरस्कार का व्यवहार देखा जाता है उसका कारण महाकुष्ठ के प्रसार-सम्बन्धी अज्ञान ही है। अब तक हुई शोधों से इस विषय में उपयोगी नीचे लिखी बातें ज्ञात हुई हैं—

१—प्रत्येक महाकुष्ठ संक्रामक नहीं होता। संभवतः, भारत के कुल रोगियों में केवल २० प्रतिशत रोगी स्वस्थ पुरुषों, विशेषतः बच्चों में रोग को संक्रान्त कर सकते हैं।

२—महाकुष्ठ वंशानुगत रोग नहीं है।

३—महाकुष्ठ का प्रसार अधिकतर केसों में बचपन में, संक्रामक किंवा व्रणित रोगियों के बार-बार संसर्ग से होता है[1]। वयस्क (प्रौढ़) व्यक्तियों में सामान्यतया इस रोग का संक्रमण नहीं होता। जीवन में इतर व्यक्ति से निकटतम सम्बन्ध विवाह के कारण होता है। परन्तु विवाहितों में भी ५ प्रतिशत उदाहरण ही ऐसे पाये जाते हैं जिनमें महाकुष्ठ-पीड़ित पति या पत्नी से स्वस्थ पत्नी या पति में रोग संक्रान्त होता है।

४—कितने ही महाकुष्ठ रोगी बच्चे बड़े होने तक औषध के बिना ही अच्छे हो जाते हैं। अर्थ यह है कि रोगियों की अमुक संख्या में ही रोग की अभिवृद्धि होती है।

५—इस रोग में प्रायः अङ्ग गलकर गिर जाते हैं, तथा अङ्गों में विकृति होती है। इसका अर्थ यह है कि, शरीर रोगपर विजय प्राप्त कर रहा है तथा रोग के साथ हुए गम्भीर युद्ध में नाड़ी[1]—सदृश प्राणायतन अवयवों में क्षति हो गयी है, तथा नाड़ियों के द्वारा मांसपेशियों में विकृति उत्पन्न हुई है।

विद्वान् व्याख्याता ने कहा कि रोग तथा रोगियों के प्रति समाज में जो तिरस्कार की भावना घर कर गयी है उसका परिणाम यह होता है कि, रोगी अपने रोग को छुपाते हैं। यहाँ तक कि उसका संक्रमण घर के अन्य व्यक्तियों में भी हो जाता है, तथा रोगियों में भी अङ्ग-भङ्ग तथा अङ्ग-वैरूप्य हो जाता है।

बम्बई के आरोग्य-मन्त्री डॉ० गिल्डर सभापति थे[2]।

—वैद्य रणजित राय

१—संक्रमण-सम्बन्धी सुश्रुत के प्रसिद्ध श्लोक "प्रसंगाद् गात्रसंस्पर्शात्..." (सु० नि० ५।३३-३४) में प्रदर्शित सब कारणों का विशेषण 'प्रसंगात्' है। इसका अर्थ बार-बार, पुनः-पुनः टीकाकारों ने दिया है। कई लोग टीकाओं के अनभ्यास के कारण 'प्रसंग' का अर्थ मैथुन करते हैं। वह अर्थ 'गात्रसंस्पर्श' से ही लभ्य है।

१—Nerves नर्व्स।

२—'पीपल्स राज' के १८ मई, ५० के अङ्क से संक्षेपित।

अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय —

विद्यालय ग्रीष्मावकाश के पश्चात् ८ जुलाई से खुल जायगा। छात्रों का प्रवेश जुलाई भर होगा, पर आवेदन कर गर्मी की छुट्टी में भी सीट सुरक्षित करायी जा सकती है।

इण्डियन मेडिसिन बोर्ड उत्तर प्रदेश से सम्बद्ध बी० आई० एम० एस० पाठ्यक्रम और मिडिल पास महिलाओं के लिये गृह स्वास्थ्य विशारदा पाठ्यक्रम का सुचारुरूप से संचालन होता है। राज्य द्वारा स्वीकृत विद्यालयीय पाठ्यक्रम में निःशुल्क शिक्षा दी जाती है।

विद्यालय का निजी शवच्छेद भवन, प्रयोगशाला औषधालय और रसायनशाला आदि है। नियमावली के लिये चार आना का टिकट भेजें।

ताराशंकर वैद्य (उपप्रधानाचार्य)

मुम्बई

—मुम्बई-सरकार ने चावल को यन्त्रों द्वारा पॉलिश करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। चावल को पॉलिश करने से (यन्त्र द्वारा खुरचकर साफ़ करने से) उनका जीवनीय बी० तथा प्रोटीन नष्ट हो जाता है, एवं आहार रूप में उनकी उपयोगिता कम हो जाती है।

महाकुष्ठ सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों में एक यह भी है कि लोग श्वित्र (सफेद कोढ़) को भी संक्रामक तथा उसके रोगी को तिरस्करणीय समझते हैं। रणजितराय

सारण जिला बोर्ड की देशीय चिकित्सा के प्रति उपेक्षा

सारण जिला बोर्ड में १६२६ के बाद नया आयुर्वेदिक औषधालय कोई भी नहीं खुला है—बल्कि तमाशा यह है कि जो भी औषधालय सम्प्रति चल रहे हैं, उनको बन्द किया जा रहा है और उनके स्थान पर एलोपैथिक अस्पताल खोले जा रहे हैं। यह कृत्य निश्चय ही सारण जिला बोर्ड के अधिकारियों की आयुर्वेद के प्रति उपेक्षा का द्योतन करता है। आज जहाँ सर्वत्र आयुर्वेदिक चिकित्सा की उन्नति हो रही है, वहाँ छपरा जिला बोर्ड में देशी चिकित्सा के मार्ग को बन्द किया जा रहा है, जो अवांछनीय है।

जिला के दो प्रसिद्ध औषधालयों को एलोपैथिक अस्पतालों के रूप में परिवर्त्तित करने का प्रस्ताव पास कर जिला बोर्ड ने सरकार के पास भेजा है—ऐसी मनोवृत्ति हर्गिज अच्छी नहीं कही जायगी। माझी आयुर्वेदिक औषधालय जो गत पचीस वर्षों से जनता की सेवा करता आ रहा है—के स्थान पर एलोपैथिक अस्पताल क्यों खुलने जा रहा है, जब उसके चारो तरफ तीन-चार एलोपैथिक अस्पताल पहले से ही मौजूद हैं। यह कार्य निश्चय ही अनुचित है। अतः सरकार और बोर्ड के अधिकारियों का ध्यान उस ओर जाना चाहिए और देशीय चिकित्सा-पद्धति की रक्षा की ओर उनके कदम उठने चाहिएँ।

विक उपयोग क्या है। यदि हम जान-बूझकर उनका सेवन करें तो हमें जितना लाभ होता है उससे भी अधिक लाभ हो। 'सचित्र-आयुर्वेद' हमारे खाद्य पदार्थों, फलों आदि की स्वास्थ्य वद्धन-शक्ति का विशेष ज्ञान कराता है।

'सचित्र-आयुर्वेद' के अनेक स्तम्भ हैं। इसमें न केवल अनेक प्रकार की औषधियों के गुणों का परिचय मिलता है, वरन् आबहवा का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है, विभिन्न प्रकार के व्यायाम, प्राणायाम, प्राकृतिक चिकित्सा और शरीर रचना आदि विषयों पर पर्याप्त सामग्री रहती है। हाल ही में मानसिक चिकित्सा का भी स्तम्भ इसमें जोड़ दिया गया है। यह पत्र न केवल उन लोगों के लिये उपयोगी है जो केवल जड़ी-बूटी का अपना परिचय बढ़ाना चाहते हैं, वरन् यह उनके भी काम का है जो स्वस्थ हैं और जो अपने स्वास्थ्य की रक्षा के सरल उपाय जानना चाहते हैं।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० अपनी औषधियों से भारतवर्ष के नागरिकों की अनेक प्रकार से सेवा कर रहा है। अब इसने जनता की सेवा विचार के द्वारा करने का जो शुभ संकल्प किया है वह बड़ा ही पुण्य एवं अनुकरणीय है। हमारा विश्वास है कि यह पत्र शीघ्र ही भारतवर्ष के कोने-कोने में पहुंच जायगा। देश के बड़े-से-बड़े नेताओं का इसे शुभाशीष प्राप्त हुआ है और आगे चलकर देश की साधारण जनता भी इसके प्रति अपनी शुभ कामनायें लिखित नहीं तो अपनी मूक वाणी से भेजेगी।

इसके सम्पादक अनुभवी वैद्य पं० रामनारायणजी शर्मा हैं जिन्होंने अपने अटूट परिश्रम से श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० को देश की मान्य संस्थाओं में से एक बना दिया है। उनके आदर्श ऊँचे हैं। वे गरीबों की सेवा निःशुल्क करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं। ऐसे व्यक्ति के निरीक्षण में संचालित यह पत्र अवश्य ही दिन प्रतिदिन उन्नति करेगा और दीर्घकाल तक देश की सेवा करेगा।

६।२५, सिद्धगिरि, कमच्छा, काशी | लालजीराम शुक्ल २३-६-५०

आयुर्वेद और सरकार अंक

इस अंक में आयुर्वेद की वर्तमान स्थिति, उस के सम्बन्ध में भारत की केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों द्वारा प्रयत्न, विभिन्न कमिटियों की रिपोर्ट आदि पर प्रसिद्ध आयुर्वेद-शास्त्रियों के लिखे विचारपूर्ण और ज्ञानवर्द्धक लेख हैं। इन लेखों में एक ओर आयुर्वेद की उन्नति और युगानुरूप उस के संशोधन के विषय में महत्त्व-पूर्ण विचार प्रकट किये गये हैं, तो दूसरी ओर सरकार की आयुर्वेद-सम्बन्धी नीति की आलोचना भी की गयी है और उपयोगी सुझाव दिये गये हैं। अंक सुपाठ्य और संग्रहणीय है।

—"स्वतन्त्र भारत", इलाहाबाद।

Regd. No. C

"पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः।"

शास्त्र में कहा है कि आसव, भस्में और रस पुराने होने से अधिक गुण करते हैं। तदनुसार वैद्यनाथ आसव-अरिष्ट और रस-भस्में पुरानी होने पर ही बिक्री की जाती हैं। रस-भस्मों के निर्माण के लिये हमारी एक अलग रसायनशाला है जहाँ १८ गजपुट और ६ कूपीपक्व रसायन की भट्ठियाँ बराबर चालू रहती हैं। मनों की तायदाद में तैयार होकर इस रसायनशाला की भस्में पुरानी होने पर ही बिक्री की जाती हैं। इस रसायनशाला में प्रति वर्ष लोह, मण्डूर और अभ्रक आदि भस्में ५-५, ७-७ मन से ज्यादा तैयार होती हैं। इसी प्रकार आसव-अरिष्टों का बृहद् स्टाक हमारी प्रत्येक शाखा में रहता है। हमारा यह नम्र दावा है कि जितना बड़ा स्टाक हमारी एक-एक शाखा में रहता है, उतना बड़ा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकता। यही कारण है कि वैद्यनाथ रस भस्में और आसव-अरिष्ट पुराने होने पर ही बिक्री किये जाते हैं जिसके फलस्वरूप वे इतने गुणकारी होते हैं और लोकप्रिय हैं।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, लिमिटेड

कलकत्ता : पटना : झाँसी : नागपुर।



सचित्र आयुर्वेद

[अंक २

अगस्त, १९



...उपवन ...) में उपवन- ...मन्त्री श्री ... (बाएँ ...) के साथ

'सचित्र आयुर्वेद' की 'उद्यानवृक्ष' लेख-माला के माननीय लेखक श्री भानु देसाई (बाएँ से द्वितीय)

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिः

कलकत्ता

सचित्र आयुर्वेद

निर्देशक

संदिग्धवनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद-महामहोपाध्याय, रसायनशास्त्री

श्री पं० भागीरथ स्वामी, *आयुर्वेदाचार्य, भिषक्-चूड़ामणि*

प्रधान सम्पादक

पं० रामनारायण शर्मा, *वैद्यशास्त्री*

सहायक सम्पादक

पं० सभाकान्त झा, *आयुर्वेदशास्त्री*

वार्षिक मूल्य	४)	साधारण अंक एक प्रति	।=)
यकृत्-अङ्क	१)	आयुर्वेद और सरकार अङ्क	२)

प्राप्ति-स्थान

भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

की

४ निर्माण-शालाएँ

४६ बिक्री-केन्द्र

और १४००० एजेन्सियाँ

वैद्यनाथ-प्रकाशन

आरोग्य-प्रकाश

(आरोग्य, स्वच्छता और चिकित्सापर सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ)

भारत प्रसिद्ध श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री ने ५-६ वर्ष में बड़ी मेहनत से स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। इसके सात संस्करणों में ५३००० प्रतियाँ छपकर बिक चुकी हैं, और आठवां संस्करण १५ हजार का अब समाप्त हो रहा है। इससे इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है।

मूल्य—१।।।), डाकखर्च ।।=)

सिद्धयोगसंग्रह

आयुर्वेदोद्धारक आयुर्वेद-मार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिकम जी द्वारा लिखित यह ग्रन्थरत्न है। इसमें जितने प्रयोग लिखे गये हैं, वे सब श्रीयुत आचार्य्य जी के अनेक बार के अनुभवसिद्ध हैं। इस पुस्तक में यह विशेषता है कि रोगाधिकार के अनुसार ही दवाओं के प्रयोग लिखे गये हैं, जिससे सर्वसाधारण जन भी इस पुस्तक के द्वारा सफलतापूर्वक चिकित्सा कार्य कर सकते हैं। वैद्यों के लिए तो बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है। इसके भी तीन संस्करण हो चुके हैं।

मूल्य सजिल्द—२।।।)

सचित्र वनौषधिशास्त्र

इस ग्रन्थ में वनोषधियों की उत्पत्ति का स्थान, समय, उनके मिलने का पता, लक्षण, स्वाद, गुण, मात्रा, सेवनविधि आदि का सविस्तार वर्णन दिया गया है। प्रत्येक वनौषधि का संस्कृत नाम देकर हिन्दी, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, लेटिन, अरबी, उड़िया, मारवाड़ी, मदरासी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के नाम दिए गये हैं। आयुर्वेद जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् आ० म० म० पं० भागीरथस्वामी रसायन शास्त्री आयुर्वेदाचार्य्य ने बहुत परिश्रम से इस पुस्तक का ११ भागों में सम्पादन किया है।

मूल्य—सजिल्द १५)

मानसरोग-विज्ञान

(ले० डा० बालकृष्ण जी अमर जी पाठक)

आज के युग में जब कि काम, क्रोध आदि तथा मिरगी (अपस्मार), उन्माद, न्यूरिस्थिनीया, मानसिक अस्थिरता आदि मानसिक रोग मनुष्य जाति को बुरी तरह से त्रस्त कर रहे हैं, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देती है। अनुभवी लेखक की मंजी हुई लेखनी और तीक्ष्ण तर्कों ने प्रस्तुत पुस्तक के विषयों पर उपयुक्त सामग्री का सुन्दर और अधिकारपूर्ण रूप से सम्पादन किया है। हमारा विश्वास है कि वैद्य समाज, आयुर्वेद के शिक्षक और विद्यार्थी तथा साथ ही साथ सर्वसाधारण जनता के लिए भी यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

मूल्य—५॥)

द्रव्यगुण-विज्ञान

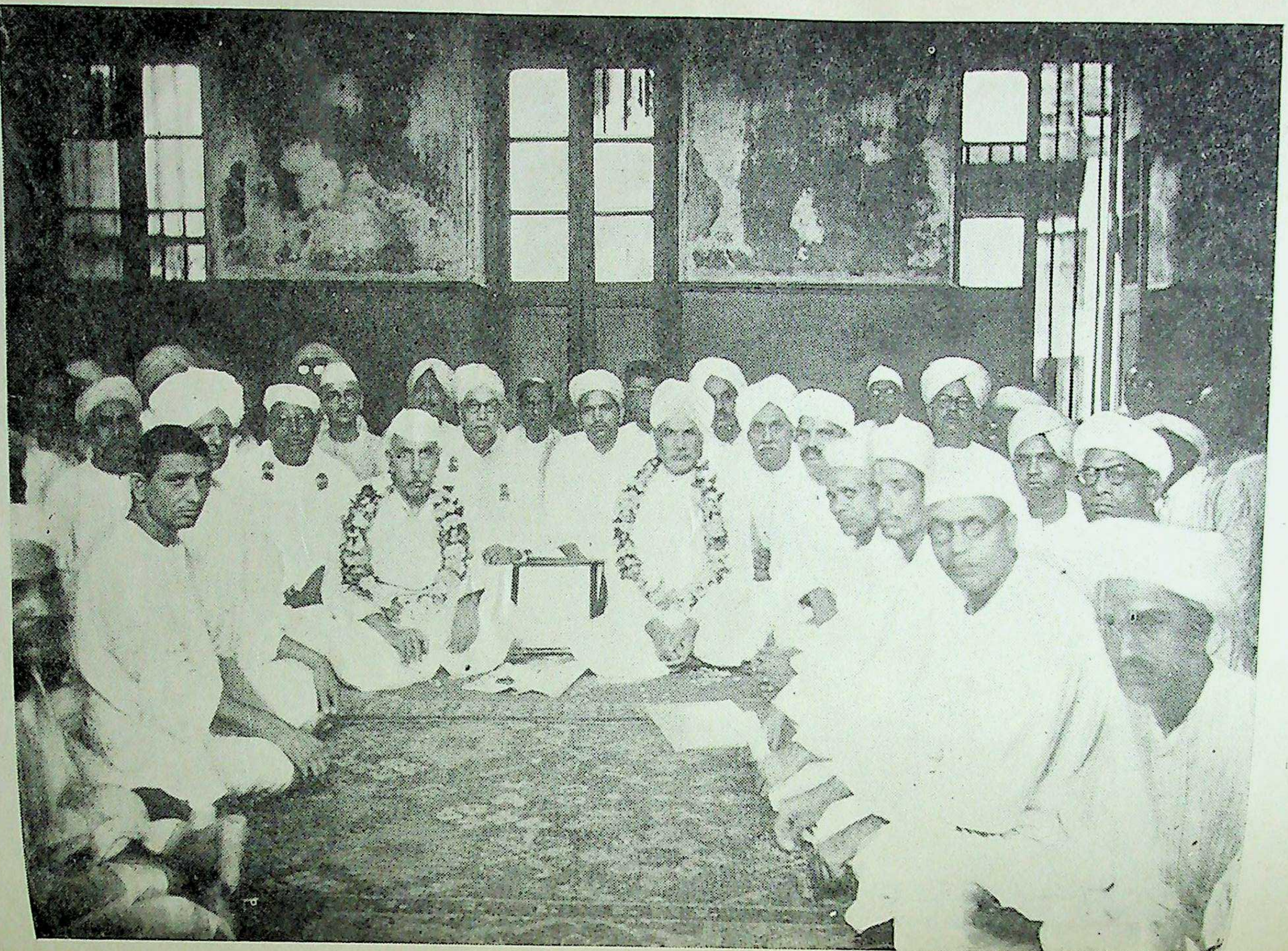
(परिभाषाखण्ड)

आयुर्वेद मार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य्य द्वारा लिखित तथा प्रकाशित। इस ग्रन्थ के बारे में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है।

मूल्य—३॥)

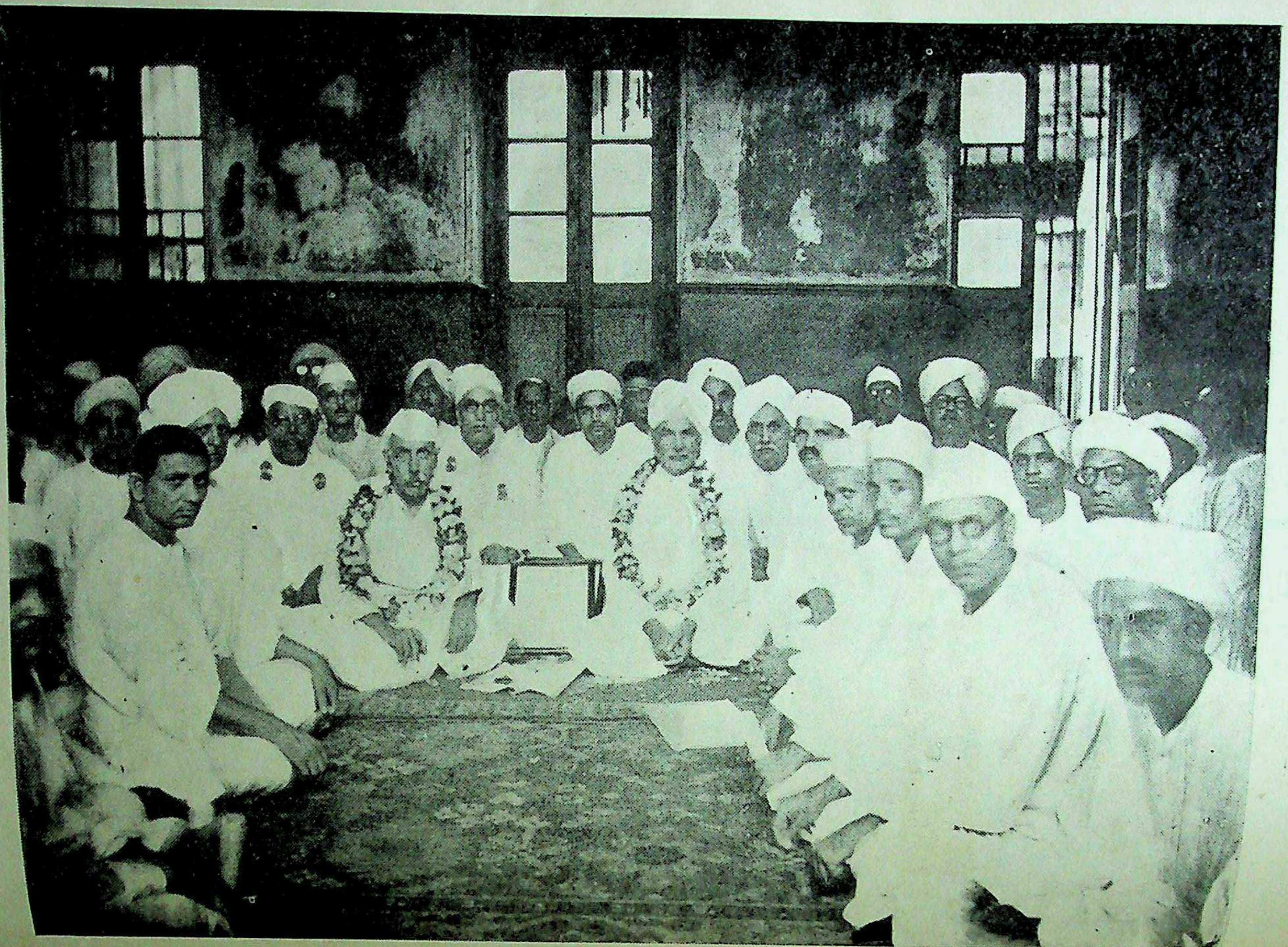
विषय-सूची

कलकत्ते में भिषक्चूड़ामणि पं० मणिरामजी शर्मा का अभिनन्दन समारोह



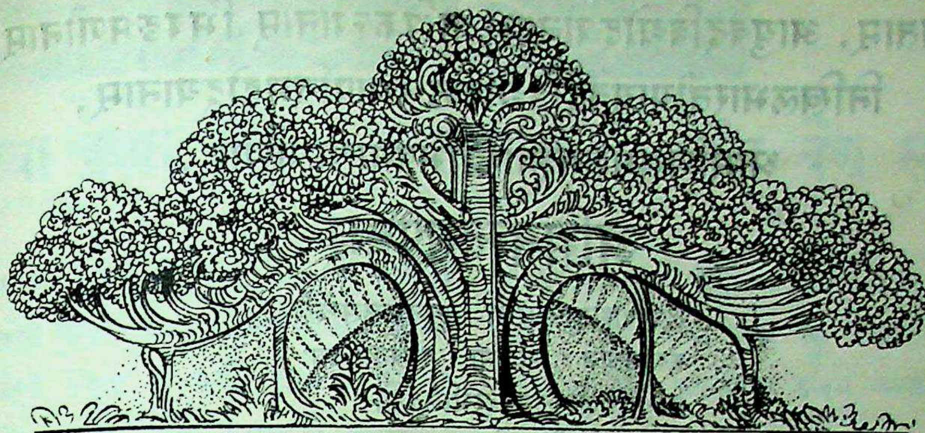
वैद्यों के मध्य में माला पहने बाएँ अभिनन्दन-समारोह के सभापति श्री झावरमलजी और दाएँ पूज्य वैद्यजी महाराज बैठे हैं।

कलकत्ते में भिषक्चूड़ामणि पं० मणिरामजी शर्मा का अभिनन्दन समारोह



वैद्यों के मध्य में माला पहने बाएँ अभिनन्दन-समारोह के सभापति श्री झाबरमलजी और दाएँ पूज्य वैद्यजी महाराज बैठे हैं।

* श्री धन्वन्तरये नमः *



आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ३	कलकत्ता, अगस्त, १९५०	अङ्क २

जमाये हुए तेल (वनस्पति घी) का विरोध कीजिए

मान्य नेताओं के ये स्मरणीय वाक्य

दिवंगत राष्ट्रपिता महात्मा गांधीः —

"जो जमाया हुआ वनस्पति तैल घी या मक्खन की शक्ल में या उन (घी या मक्खन) के नाम से बेचा जाता है, यह हिन्दुस्तान के साथ किया जाने वाला एक बहुत बड़ा धोखा है, दगा है। इस बारे में जो धोखा देता है और जो (उस धोखे को) दरगुजर करता है, वे दोनों हिन्दुस्तान के दुश्मन हैं।"

दिवंगत महर्षि पण्डित मदनमोहनजी मालवीयः—

"यह एक डरावनी चीज है—एक तरफ जमाये हुए वनस्पति तेल का फैलना और दूसरी तरफ गौओं का कटना। दोनों के बीच लोगों के जीवन की जड़ कट रही है।"

कांग्रेस-अध्यक्ष डा० पट्टाभिः —

"जिस तरह खोटे सिक्के चल जाने से खरे सिक्के बन्द हो जाते हैं, उसी तरह वनस्पति मिले घी की वजह से शुद्ध घी बाजार में टिक नहीं पाता। घी में यह मेल तब तक बन्द नहीं हो सकता, जब तक वनस्पति को तेल की तरह पतला न रखा जाय और उसे घी की तरह जमाने की कानूनी मनाही न कर दी जाय।"

मानव धर्म के नाम पर वनस्पति के निर्माता उसका निर्माण बन्द करें।

॥ श्रीधन्वन्तरिर्विजयतेतराम् ॥

श्रीमताम्, आयुर्वेदविद्योदर्शीनाम्, ऋषिकल्पानाम्, भिषङ्मणीनाम्, निखिलभारतीयायुर्वेदविद्यापीठसभापतिमहोदयानाम्, श्रीमणिरामशर्मशास्त्रिभिषगाचार्याणाम्,

अभिनन्दनपत्रम्

लक्ष्म्योह्यमानचरणो मुकुटोल्लसच्छ्री-
रुद्यत्फणेन फणिना रचितातपत्रः।
पाथोधिशीतलमरुद्दरमीलदक्षो-
लीलामयो विजयते भगवान् मुकुन्दः ॥१॥

आपाथोधि हिमाचलं सुरगवीज्ञज्ञानवारैधिताऽऽ-
युर्विज्ञानमहोदधेः सुविततं पारं परं पश्यतः।
लक्ष्मीरामभिषग्वरस्य परमः शिष्यः स्वशास्त्रध्वनि-
शङ्खं श्रीमणिरामशर्मभिषगाचार्योऽत्र दध्मीयताम् ॥२॥

आयुर्वेदविदां वरेण्य ? भवता सम्पाठिताः साग्रहं
शिष्याः सम्प्रति भारतावनितले प्राग्वैद्यविद्याऽमृतैः।
त्यक्ताशान् निजजीवितव्यविषये स्वःसौख्यभोगोद्यतान्
सेवाभाववशीकृतात्महृदयास्ते जीवयन्ते पुनः ॥३॥

आयुर्वेदविनाशनाय बहुधा वाग्जालकोलाहल-
क्षेत्रं नैजमहो ! वितत्य जगति द्राग् धोरणी दर्शिता।
नव्या नव्यचिकित्सकैरथ च तत्पाशाभपाणिद्वय-
सूर्मीभूत इवात्र नृत्यति हहा हा ! सर्वकारोऽधुना ॥४॥

केचिच्छास्त्रमिदं न सम्प्रति जनस्वास्थ्यं विधातुं क्षमं
केचिच्चापि चिकित्सिताङ्गरहितं नैतत् प्रसारोचितम्।
शाल्याक्येऽपि च शल्यतन्त्रविषये शून्यं च वैज्ञानिक-
म्मन्याः केचन हाऽऽमनन्ति कुटिला विज्ञानहीनं भुवि ॥५॥

शास्त्रस्यास्य महत्त्वनाशनविधासन्दर्शनार्थं विधे !
दासा आङ्गलसंस्कृतेः परिषदां मञ्चेषु चोकूर्दति।
इत्थं ज्ञानमिदं पुरातनपथादर्शं विलोमस्थिति-
झञ्झाघूर्णितमप्युपेक्ष्य सुतरां वैद्यो निदिद्रासति ॥६॥

एतादृशे कुसमयेऽपि दृढेन रक्षाऽऽ-
युर्वेदकल्पविटपस्य कृता त्वयैव।
सोऽयं द्रुमो द्रुततरं नवपत्रपुष्पै-
र्युक्तः पुनर्भवतु ते करुणाम्बुसिक्तः ॥७॥

वैद्य त्वदीयहृदयं शुचिवैद्यविद्या-
प्रोद्धारकर्मणि भवेन्निरतं विशेषात्।
"सत्या" भवन्तु च समस्तमनोरथास्ते
"नारायणस्य" चरणाब्जयुग-"प्रसादात्" ॥८॥

वयं स्मः, युष्मद्गुणानुरक्ताः—

कलकत्तास्थ—
श्री मारवाड़ी ब्राह्मणसभासदस्याः।

ता० २३-७-५०

कलकत्तास्थ—
श्रीधन्वन्तरिपरिषदः सभ्याः।

सम्पादकीय

जमाया हुआ तेल (वनस्पति घी) और वैद्य समाज

पिछले वर्ष ३१ जुलाई को सारे देश में 'जमाया तेल विरोध दिवस' मनाया गया था और भारत सरकार ने पहले कदम के बतौर ता० १ जून को खास गजट निकाल कर एक अगस्त से 'वनस्पति,' 'वेजीटेबिल' आदि भ्रम में डालनेवाले नामों पर रोक लगा दी थी। इससे पूर्व २२-५-'४६ को देहरादून की बैठक में कांग्रेस कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव इस विषय में पास किया था, जिसका महत्त्व का अंश नीचे दिया जाता है—

"(१) वनस्पति बनाने की यन्त्र सामग्री की आयात को प्रायोरिटी नियन्त्रण (श्रेणी रचना) के जरिये रोक दिया जाय।

"(२) भविष्य में नये लायसेन्स न दिये जायँ।

"(३) वनस्पति को रङ्ग देना तुरन्त शुरू किया जाय, इस बात का डर रखे बिना कि रंग बड़ा दिया जायेगा।*"

जहाँ तक वैज्ञानिक परीक्षण का सवाल है, सरकार द्वारा प्रकाशित की गयी इण्डियन कौन्सिल आफ ऐग्रीकलचरल रिसर्च (भारतीय कृषि संशोधन परिषद्) की १६४७-४८ की वार्षिक रिपोर्ट के २२ वें पृष्ठ पर लिखा है—

"वनस्पति : वनस्पति (जमाया हुआ तेल) और घी के विटेमिन 'ए' की पौष्टिकता निश्चित करने के सिलसिले में इण्डियन व्हेटनरी रिसर्च इन्स्टिट्यूट (भारतीय पशु-चिकित्सा संशोधन मन्दिर) के प्रयोग में पाया गया कि वनस्पति के साथ १५ से २५ प्रतिशत कम केरोटीन हजम होता है। दूसरे प्रयोग में यह पाया गया कि वनस्पति के साथ केलशियम और फास्फोरस हजम करने की ताकत घट जाती है।

"हिन्दुस्तान की कम पौष्टिक खुराक में वनस्पति खाने का क्या असर होता है, यह देखने के लिये बङ्गाली खुराक में—जैसे मेककेरीजन ने सिफारिश की है—५ प्रतिशत वनस्पति मिलाया गया। इस मिलावट से लोगों के बाल गिरने लगे, करीब दो महीने में वजन कम हुआ, कुछ लकवा भी हुआ, करीब चार महीने में पेशाब रुकने लगा और आँखें आ गयीं। लेकिन गाय का घी खानेवाले लोगों में ऐसे कोई लक्षण नहीं दिखायी दिये। वनस्पति की अलग-अलग जातियों की पौष्टिकता में कोई विशेष फर्क नहीं दिखायी दिया।"

इन्हीं सब परीक्षणों और उनके फलस्वरूप होने वाले वनस्पति-विरोधी आन्दोलनों का यह असर हुआ कि भारतीय संसद में श्री ठाकुरदास भार्गव ने वनस्पति प्रतिबन्धक विधेयक (बिल) पेश किया है। उस पर संसद ने जनमत जानना चाहा है। जनतन्त्र की इस कमजोरी (जनमत-संग्रह) से अनुचित फायदा उठाने के लिए वनस्पति-निर्माताओं ने अपने एजेन्ट-व्यापारियों के पास वनस्पति के पक्ष में लोगों की राय संग्रह करने के लिए एक फार्म भेजा है। उन्हें सूचना दी गयी है कि उस फार्म पर (दूकान के बड़प्पन के अनुसार २०० या उससे अधिक) एक निश्चित संख्या में लोगों के दस्तखत लेकर उसे वापस करना चाहिए, तभी उन्हें वनस्पति

* हरिजन-सेवक, १० जुलाई, १९४९।

का निश्चित कोटा (माल की मात्रा) दिया जायगा। "हरिजनसेवक" के सम्पादक श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला को एक भाई ने (जो ऐसी ही एक दूकान में काम करते हैं) पत्र लिखा है कि ग्राहकों से उस फार्म पर उनके परिवार के हर एक व्यक्ति—छह छह माह के बच्चे तक—का नाम लिख देने का आग्रह किया जाता है। एक दूसरे संवाददाता ने उन्हें लिखा है कि सड़क पर चलते राहगीरों तक से इस 'अर्जी' पर दस्तखत करनेकी प्रार्थना की जाती है। यह फार्म वनस्पति खाने वालों की ओर से की गयी एक प्रतिज्ञा है कि "हमने अपने अनुभव से वनस्पति को रसोई का एक सन्तोषप्रद, हितकर और कम खर्चीला साधन पाया है। उसे बन्द करने-का कोई उचित कारण नहीं है। सरकार को चाहिए कि वह उसका उत्पादन जारी रखे।"*

यह है विज्ञान की शक्ति का अकल्याण के लिए दुरुपयोग! जनता और वैद्य समाजको 'स्वराज्य' से बहुत आशाएँ थीं। उनमें एक प्रमुख आशा यह थी कि स्वराज्य होते ही वनस्पति निषिद्ध घोषित कर दिया जायगा।

इस "नकली घी" के निर्माता असली घी की ख्याति से अनुचित लाभ उठा रहे हैं और भविष्य में उठाते रहना चाहते हैं (ईश्वर उनकी यह इच्छा अपूर्ण रखे), जैसे मकरध्वज के स्थान पर हिंगुल या रससिन्दूर देकर कुछ अयोग्य कुवैद्य अनुचित लाभ उठाते हैं।

वैद्यों से और जनता से भी यह अविदित नहीं है कि जो भारतीय मांस नहीं खाते, उनके लिये घृत से अधिक पौष्टिक खाद्य दूसरा नहीं। आज स्थिति यह है कि विशुद्ध घी का मिलना असम्भव हो गया है। विशुद्ध घी के अभाव में लोग इस जमाये हुए तेल (वनस्पति) का प्रयोग करते हैं और फलस्वरूप अन्धत्व, स्नायु-दौर्बल्य, बुद्धिविभ्रंश आदि अनेक रोग दिन पर दिन फैलते जा रहे हैं। विशेषज्ञों का कहना है कि अन्य देशों के मुकाबले भारत में अन्धत्व सौ गुना अधिक है। और ये वनस्पति-निर्माता जनता को और भी अधिक अन्धा बनाकर उसे गुमराह करते जा रहे हैं। 'वनस्पति' (नकली घी) तो लोगों को अन्धा बनाता ही है, इन व्यापारियोंका धुआँधार प्रचार लोगों की बुद्धि पर भी पर्दा डाल रहा है। जनता को इससे सावधान करना हम वैद्यों का कर्तव्य है।

उस गान्धीवादी जन-सेवक, हरिजन-सेवक-सम्पादक ने—जिसमें कोई ऐसी प्रतिभा नहीं, परन्तु अपनी शक्तियों का जिसने समुचित उपयोग किया है—जनता को वनस्पति के इस कु-प्रचार के विरुद्ध जो चेतावनी दी है, उसको प्रत्येक वैद्य को ध्यान में रखना चाहिए।—

"यह सम्भव है कि जनता को आइन्दा वनस्पति का प्रचार अखबारों द्वारा तथा दूसरे ढंग से विविध रूपों में मिलेगा। पकाने के तरीकों की सूचनाओं, सिनेमा की फिल्मों, लेखों, छोटी-छोटी कहानियों, संवादों आदि के रूप में भी यह प्रचार हो सकता है। वनस्पति के उत्पादक वनस्पति का कलात्मक ढंगों से गुण-गान करेंगे ताकि यह पता न लग सके कि वे विज्ञापन मात्र हैं। इस कार्य के लिए डाक्टरों, विज्ञान के ग्रेजुएटों, कहानी-लेखकों, कवियों अध्यापकों, सम्पादकों तथा दूसरे लोगों की 'सेवाओं' का भी इस कु-प्रचार कार्य में दुरुपयोग किया जा सकता है। जनता इस बात से सावधान रहे कि इन लोगों की रायें निष्पक्ष व्यक्तियों की रायें नहीं हैं। यह तो वर्तमान व्यापारिक तरीकों का ही एक हिस्सा है।"

* हरिजन-सेवक २२ जुलाई १९५०

वनस्पति-व्यापारी-संघ द्वारा प्रकाशित एक पुस्तिका के आधार पर यदि हम यह मान भी लें कि इस उद्योग में लगभग २२½ करोड़ रुपयों की पूंजी लगी हुई है, इस उद्योग में पूरे देश में १५ हजार से ज्यादा मजदूर, ५० हजार से ज्यादा विचौनिये तथा दफ्तरों के एवं दूसरे सम्बद्ध व्यापारियों के कर्मचारियों की एक बड़ी संख्या काम कर रही है, तो भी हम बिना किसी हिचकिचाहट के कह सकते हैं कि वनस्पति का निर्माण और वितरण अविलम्ब बन्द होना चाहिए। यह खराब व्यापार जिस भयानक गति से बढ़ रहा है, वह चिन्तनीय है। अब तक इनके ४२ कारखाने चल रहे हैं, अब वे १६ नये खोल रहे हैं; १९४९ में इन्होंने डेढ़ लाख टन वनस्पति तैयार किया था, १९५० की समाप्ति तक ये ४ लाख टन बनाने की उम्मीद रखते हैं। क्या हुआ जो सरकार को एक वर्ष (सन् १९४८) में इस उद्योग से साढ़े चार करोड़ रुपयों से भी ज्यादा की आय हुई जब कि जनता का अमूल्य स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है?

सरकार पेनिसिलीन जैसी दवाओं के आयात पर और बी० सी० जी० के टीकों के इन्तजाम में करोड़ों रुपया खर्च कर रही है। फिर भी क्या वनस्पति से होनेवाली क्षति पूरी होती है? क्या वह क्षति इस तरह पूरी की जा सकेगी? यह प्रश्न हम वैद्यों के किए विशेष विचारणीय है।

निखिल भारतवर्षीय वैद्य सम्मेलन और चिकित्सक संघ ने स्पष्ट घोषित किया है कि वनस्पति 'घी' से तो विशुद्ध तैल स्वास्थ्य के लिए कहीं श्रेष्ठ हैं। परन्तु इन विशेषज्ञों के इस विरोध के बावजूद भी प्रति टन तैल को जमा कर घी का रूप देने में ६००) के हिसाब से अपव्यय हो रहा है। वनस्पति में जो गुण हैं, वे तो विशुद्ध तैलों के ही हैं और जो अवगुण हैं, वे जमाने की प्रक्रिया के हैं।

इस जमाये हुए तैल के कौन-कौन से अवगुण गिनाये जायँ? यह घी हमारे देश के नैतिक पतन का कारण बन रहा है। विशुद्ध घी की ख्याति का अनुचित लाभ उठा कर तो यह वेचा ही जाता है, विशुद्ध घी में मिलावट के भी काम में आता है। इस प्रकार यह विशुद्ध घी के व्यापार और उसके आधार-भूत गोप लन को धक्का पहुंचा रहा है जो कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए एक बहुत बड़ी क्षति है। इस प्रकार के कारणों का ही यह कुफल है कि जहाँ औसतन प्रत्येक भारतीय को १६ औंस दूध मिलना चाहिए, वहाँ आज ५ औंस ही मिल रहा है। यह वनस्पति शरीर में नित्य-प्रति पाचन-शक्ति पर अनुचित बोझ डाल कर शारीरिक शक्ति का अपव्यय कर रहा है, अधिक पैसा लेकर घटिया दर्जे की चीज दे रहा है, एवं गरीबों की गरीबी और धनिकों का धन बढ़ा रहा है।

इस वनस्पति को 'घी' कहना बिलकुल बन्द कर देना चाहिए। 'घी' के नाम का अनुचित लाभ इसे बिलकुल न मिलना चाहिए।

वनस्पति-निर्माताओं से हम यह विनम्र प्रार्थना करते हैं कि वे सात्त्विक व्यापार के नाम पर, इस विशाल भारत देश की जनता के नाम पर, यहाँ के जनस्वास्थ्य के नाम पर और मानवधर्म के नाम पर इस वनस्पति किंवा नकली घी का निर्माण अविलम्ब बन्द करके जनता-जनार्दन की सहानुभूति और आशीर्वाद प्राप्त करें।

वनस्पति विरोधी आन्दोलन को सफल बनाना आज प्रत्येक वैद्य और जन-सेवक का पवित्र कर्तव्य है। इसे सफल बनाने के लिए—

(१) वनस्पति खरीदना बन्द करके इसके विरुद्ध प्रचार कीजिये।

(२) शुद्ध घी का सेवन और प्रचार कीजिए।

(३) शुद्ध घी न मिले, तो विशुद्ध तैलों का सेवन कीजिए।

(४) वनस्पति के विरुद्ध विधेयक (बिल) को पास कराने में इसके विरुद्ध स्वयं अपना मत एवं अन्यों के मत संग्रह करके माननीय स्पीकर महोदय, भारतीय संसद, नयी दिल्ली के पते पर भेजिये।

राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी इस वनस्पतिके घोर विरोधी थे। उनके अनुयायी अनेक मान्य कांग्रेसी नेता आज इस के कट्टर विरोधी हैं। बहुत से ऐसे भी हैं जो कल तक इस के विरोधी थे, परन्तु आज—शायद लक्ष्मी ने उन पर जादू की छड़ी फेर दी है—वे वनस्पति के पक्ष में हो गये हैं। वनस्पति के उत्पादन-कर्ताओं ने अच्छे-अच्छे डाक्टरों और डाक्टर-स्वास्थ्य अधिकारियों से रुपये के बल पर अनुकूल सम्मतियाँ ले ली हैं। यह समय है जब कि राष्ट्रीय चिकित्सापद्धति आयुर्वेद के समर्थकों को अपने कर्तव्य का पालन करके जनता की सहानुभूति प्राप्त करनी है। वैद्यमात्र का यह कर्तव्य है कि वह वनस्पति के विरुद्ध लोकमत जागृत करें, अपने अपने नगर में इनके विरुद्ध सभाएँ करें और वनस्पति के विरुद्ध प्रस्ताव पास कर के उस पर अधिक से अधिक लोगों के हस्ताक्षर करवा कर उस की एक प्रति माननीय स्पीकर, भारतीय संसद, नई दिल्ली के पते पर भेजें। हस्ताक्षर-सहित प्रस्ताव की एक प्रति या उसकी पूरी सूचना 'सचित्र आयुर्वेद'-कार्यालय को भी कृपया भेजें, ताकि आन्दोलन को सफल बनाने में उस का उपयोग किया जा सके। इस विषय पर लेखों का भी हम विशेष स्वागत करेंगे।

पुराने तथा नवीन ग्राहकों से निवेदन

चन्दा भिजवाएं

यदि आप ने अभी तक अपना तीसरे वर्ष का चन्दा नहीं भेजा है, तो अब विलम्ब न करके शीघ्र भेजें और अपने मित्र-बन्धुओं को भी "सचित्र आयुर्वेद' के ग्राहक बनने के लिए प्रेरित करें तथा उनसे वार्षिक चन्दा ४) मनीआर्डर द्वारा भिजवाएँ। प्रति पाँच ग्राहक बनाने पर एक वर्ष तक "सचित्र आयुर्वेद" आपकी सेवा में निःशुल्क भेजा जायगा।

विशेषांक आधी कीमत में

नवीन ग्राहक अपने वार्षिक चन्दे के साथ १॥) और भेजकर दूसरे वर्ष के दोनों विशेषांक ("आयुर्वेद और सरकार अंक" तथा यकृत् अंक) प्राप्त कर सकते हैं। इन दोनों विशेषांकों का मूल्य ३) है, परन्तु नवीन ग्राहकों के लिए यह रिआयत है।

१० अंक तीन रुपये में

"सचित्र आयुर्वेद" के द्वितीय वर्ष के प्रथम और चतुर्थ अंक बिक चुके हैं। शेष १० अङ्कों की फाइल ३) तीन रुपये में आप प्राप्त कर सकते हैं, जिसमें "आयुर्वेद और सरकार अंक" तथा "यकृत अंक" ये दो विशेषांक भी सम्मिलित हैं।

त्रिदोष-सिद्धान्त में अनुसन्धान : एक योजना

मूल लेखक—डाक्टर ए० लक्ष्मीपति

[डा० लक्ष्मीपति ने मद्रास-सरकार को त्रिदोष सिद्धान्त के विषय में जो मेमोरेंडम दिया था, उसका यह हिन्दी-रूपान्तर हम क्रमशः प्रकाशित करेंगे। —स० सम्पादक]

विषय-प्रवेश

त्रिदोष सिद्धान्त आयुर्वेद का प्रायः सर्वसम्मत सिद्धान्त है। आयुर्वेद के अनुसार जीवित शरीर में देह के पोषक और धारक तीन तरल पदार्थ भ्रमण करते रहते हैं। इन तीनों की समावस्था स्वास्थ्य का हेतु है और विषमावस्था रोगों का प्रधान कारण है। अणुवीक्षण द्वारा ज्ञेय रोगाणु व्याधियों के बाह्य कारण स्वीकार किये जा सकते हैं किन्तु ये रोगाणु और इनके विष उस समय तक रोग उत्पन्न नहीं कर सकते जब तक देह धारक और पोषक त्रिदोष-त्रिधातु अहिताहार-विहार से विषम नहीं हो जाते। इस प्रकार त्रिदोष की विषमावस्था व्याधि उत्पादन में प्रमुख कारण सिद्ध होती है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के कोष परिवर्तन सिद्धान्त [विविध व्याधियों में कोषों (घटक सेल—cell) में होनेवाले नाना परिवर्तनों का सिद्धान्त] के आविष्कार होने तक किसी ने भी आयुर्वेद के इस सर्वसम्मत सिद्धान्त की सत्यता को चुनौती (चेलेन्ज) नहीं दी थी। यह आधुनिक सिद्धान्त शरीर के घटकों (कोषों—cells), धातुओं तथा अङ्गों में होनेवाले परिवर्तनों पर देह पोषक तरलों की अपेक्षा अधिक बल देता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनेकों सिद्धान्तों का आधार मृत शरीर तथा निष्क्रिय पदार्थों पर किये गये परीक्षण और निरीक्षण हैं जब कि त्रिदोष सिद्धान्त जीवित शरीर और उसके तरलों परप आधारित है। अतः त्रिदोष सिद्धान्त में अनुसन्धान, मृत शरीरों पर वा मृत धातुओं और घटकों पर न करके, आतुरालयों में जीवित शरीरों पर (रोगियों पर) चिकित्सा-प्रयोगों के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा किया जाना चाहिये।

(२) इस प्रकार से अनुसन्धान करने के लिये यह आवश्यक है कि हम आयुर्वेद के सिद्धान्तों के अनुसार आयुर्वेदीय शरीर रचना और क्रिया विज्ञान तथा विकृति विज्ञान (संप्राप्ति) को सुस्पष्ट रूपेण समझ लें। साथ ही साथ त्रिधातुओं (शरीरधारक) तथा त्रिदोषों (विषमावस्था में) की विशिष्टताओं को भी पूर्णतया हृदयंगम कर लें। इस बात को ध्यान में रखते हुये प्रथम चार प्रकरणों में इन सिद्धान्तों का वर्णन किया है। अर्थात दूसरे प्रकरण में देह की रचना में भाग लेनेवाले पदार्थों का, तीसरे प्रकरण में त्रिधातु परिभ्रमण की तीन दशाओं का, चतुर्थ प्रकरण में त्रिधातु तथा त्रिदोष के लक्षण या पहचानने की विधि का, पाँचवें प्रकरण में रस तथा दोषों के परस्पर संयोग और सम्बन्ध के अनुसन्धान का वर्णन किया है। रस तथा दोषों के परस्पर

संयोग का अध्ययन त्रिदोष सिद्धान्त के समझने के लिये आवश्यक है। आयुर्वेद तथा पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान का समन्वय हो हो जाये, इस दृष्टिकोण से किस प्रकार आयुर्वेद में अनुसन्धान किया जाये, इस पर एक विशेष प्रकरण आठवें प्रकरण के साथ जोड़ा गया है।

(३) प्राचीन तथा प्रामाणिक आयुर्वेदीय संहिताओं—चरक सुश्रुत वाग्भट्ट—के उद्धरण अनेकों स्थलों पर दिये गये हैं। विषय को सुस्पष्टतया समझने के लिये उनका ध्यानपूर्वक मनन करना आवश्यक है।

(४) इस योजना के लिखने में जिन महानुभावों से सहयोग मिला है उनका लेखक आभारी है। विविध सुझावों के लिये श्री बाबा साहेब डा० न० स० परांजपे, तथा श्री डाक्टर म० व० केशवराव, आन्ध्र प्रान्तीय मेडीकल कान्फ्रेन्स के भूतपूर्व सभापति, क्रिश्चियन कालेज थाम्ब्रम के प्राणिशास्त्र के प्रोफेसर श्री जॉन प० जोशुआ, गोपालपुरम् (मद्रास) के अवकाश प्राप्त डिपुटी कलेक्टर श्री के वीरस्बामियाह बी० ए० जिन्होंने इस लेखमाला को पढ़ा, समझा और इससे अपनी सहमति प्रकट की है, का भी आभारी हूँ।

प्रथम प्रकरण

तेरह देह धातुएँ

शरीर संघटनकारक तेरह पदार्थ

पोषक, धारक (धातु) तथा मल

आयुर्वेद के अनुसार शरीर की रचना में भाग लेने वाले तेरह पदार्थ हैं। इन्हें तेरह "देह धातु" नाम दिया गया है। इनकी तीन श्रेणियाँ हैं।

(१) तीन अन्तः संचारी पोषक धातुयें।

(२) स्थिर धातुयें। इन्हें अँग्रेजी में टिश्यु (Tissue) कहा जाता है। ये संख्या में ७ हैं।

(३) बहिर्गामी मल। ये तीन हैं।

ये तेरह शरीर धारक धातुएँ हैं।

(अ) शरीर के अन्दर संचार करने वाले तीन धातु वात-पित्त-कफ है।

(आ) स्थिर धातुएँ सात हैं :—

(१) रस—Lymph (लिम्फ);

(२) रक्त—Blood (ब्लड);

(३) मांस—Muscle (मस्सल);

(४) मेद—Fat (फैट);

(५) अस्थि—Bone (बोन);

(६) मज्जा—Marrow (मैरो);

(७) शुक्र—Sperm (स्पर्म)

(इ) बाहर निकलने वाले तीन मल :—

(१) मल या शौच;

(२) मूत्र;

(३) स्वेद

ये तीनों मल शरीर में होनेवाली पैत्तिक (पाचन सम्बन्धी) आदयं अग्नि और धात्वाग्नि दोनों होने वाली पाचक क्रिआयों के मलरूप परिणाम है जो देह से बाहर जाने चाहिये। इन्हें अँग्रेजी में मेटाबालिक वेस्ट (Metabolic waste) कहते हैं।

मानवदेह इन ही तेरह पदार्थों से बना है। इन के अतिरिक्त जितने भी पदार्थ शरीर में पाये जाते हैं, उन सब का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है।

देह धातुओं का उक्त प्रकार का विभाजन संक्षिप्त किन्तु अति युक्तियुक्त है। जीवित शरीर की इकाई की, और उसमें पाई जानेवाली प्रत्येक धातु की प्रतिनिधि रूप इन तेरह धातुओं का उक्त प्रकार का विभाजन पूर्णतः बुद्धिगम्य वर्णन है।

(१) शरीर में संचार करनेवाले पोषक तत्त्व या पदार्थ ;

(२) स्थिर तत्त्व या पदाथ;

(३) शरीर से बाहर निकलने वाले मल रूप पदार्थ।

शरीर, मन और आत्मा

समस्त जीवों में चेतना (आत्मा) पाई जाती है। मन स्थूल शरीर तथा चेतना का संयोजक पदार्थ है। चेतना ही प्राणी की सचेतन चेष्टाओं का आधार है। इसे ही आत्मा (Spirit) कहा जाता है। मनुष्य में यही (आत्मा ही) बुद्धिशाली (संज्ञामय), प्रकृति से भिन्न (मन, पंच महाभूत आदि के समान प्रकृति से अनुत्पन्न, स्वतन्त्र) तथा अविनाशी है। स्थूल देह पंच महाभूतों से बना है। ये पंचमहाभूत प्रकृति से उद्भूत हैं। चेतना पुरुष (जगद्व्यापि आत्मा) का भाग है। त्रिधातुएँ वात, पित्त, कफ पंचमहाभूत तथा चेतना (आत्मा) के संयोग से उद्भव होती हैं। अतः ये केवल जीवित शरीरसे ही सम्बन्ध रखती हैं।

आत्मा न केवल मनुष्यों में ही पाई जाती है। अपितु समस्त प्राणियों में पाई जाती है। वस्तुतः इस आत्माकी सत्ता प्रसुप्त अवस्था या सुषुप्त अवस्था में अक्रिय दीखने वाले पदार्थों में भी पाई जाती है। हाँ, इसका प्रत्यक्ष अधिष्ठान (आत्मा के रहने का स्थान) के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। आयुर्वेद में जीवन को "स्थूल, भौतिक, देह, इन्द्रियों, मन तथा आत्मा के संयोग" का परिणाम (फल) बताया गया है जैसा चरक ने कहा है "शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्" सूत्र स्थान।

चेतना की चार अवस्थायें

भारतीय दर्शन के अनुसार चेतना (जीवन) चार अवस्थाओं में पाई जाती है। (१) सुषुप्ति (२) स्वप्न (३) जागृत (४) तुरीय (देखिये लेखक की "प्रिन्सिपलस ऑफ ट्रीटमेन्ट" जिल्द पहली)

(१) निरिन्द्रिय या अचेतन द्रव्यों खनिजों में, चेतना सुषुप्ति (सोई हुई) अवस्था में रहती है। इसे परमाण्विक आत्मा (Atomic Soul-एटमिक सोल) कह सकते हैं। इस प्रकार के पदार्थों को "जड़" संज्ञा दी गई है।

(२) वनस्पतियों में यह स्वप्नावस्था में या निद्रित दशा में पायी जाती है। वे केवल खाते, जीते और उत्पादन करते हैं। उनमें इन्द्रियाँ तो हैं किन्तु प्राणियों के समान सोच विचार तथा गतियाँ नहीं कर सकते। अतः इन्हें "स्थावर" कहा गया है।

(३) जागृत अवस्था—यह प्राणियों में पाई जाती है इसमें चेतना जीती-जागती दीखती है और पहली दोनों दशाओं की अपेक्षा उच्च स्तर पर स्थित होती है।

प्राणी बाह्य तथा अन्तः प्रेरणाओं या उत्तेजनाओं के अनुसार गतियाँ करते हैं इसे "जंगमदशा" कहा गया है। मनुष्य में चेतना इससे भी उच्च अवस्था या स्तर पर पाई जाती है।

वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान् तथा स्वतन्त्र होता है। परिस्थिति के अनुकूल अपने में परिवर्त्तन कर सकता है।

४ तुरीयावस्थाः—योगी में चेतना साधारण प्राणियों की अपेक्षा भी अधिक सचेत होती है। वह इस

परिवर्त्तनशील संसार के पीछे कार्य करने वाली वास्तविक वस्तु का दर्शन कर लेता है। अतएव उसे "स्थितप्रज्ञ ब्रह्मभूत" कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि चेतन और अचेतन सभी पदार्थ पंचमहाभूत तथा चेतना के संयोग से बने हैं। यह चेतना अपने अधिष्ठान की रचना और दशा के अनुसार विभिन्न अवस्थाओं में प्रकट होती है।

त्रिधातु सेन्द्रिय (चेतन) पदार्थ हैं

द्रव्य उस पदार्थ की संज्ञा है जिसमें एक या अनेक गुण निवास करते हैं तथा जो किसी कर्म या किन्हीं कर्मों का कारण होता है। वात-पित्त-कफ इन तीनों में कुछ गुण रहते हैं और ये तीनों किन्ही विशेष कर्मों के आयुर्वेद में कारण भी बनते हैं। अतः इन्हें 'द्रव्य' संज्ञा दी गई है। ये चेतन पदार्थ हैं। ये वे द्रव्य हैं जो जीवन पर्यन्त शरीर में परिभ्रमण करते रहते हैं। मृत्यु के पश्चात् ये केवल पांच भौतिक पदार्थ हो जाते हैं। चेतनता उनमें से निकल जाती है।

वात का स्वरूप

(१) रूक्ष, (२) लघु, (३) शीत, (४) खर (५) सूक्ष्म (अदृश्य तथा व्यापी) (६) चल- (चंचल गतिशील)

तत्र रूक्षलघुशीतखरसूक्ष्मचलोऽनिलः—वाग्भट्ट। इसका रस कषाय, वर्ण अरुण है। वात को वायु भी कहा जाता है।

पित्त का स्वरूप

(१) स्नेह, (२) तीक्ष्ण (३) उष्ण, (४) लघु (५) विस्रव (६) सर (७) द्रव। पित्त उष्ण प्रकृति का, स्वल्प मात्रा में स्निग्ध या पिच्छिल तथा शीघ्रता से शरीर में प्रविष्ट होनेवाला पदार्थ है। इसका वर्ण कुछ अरुण तथा श्वेत से विपरीत है। इसका वर्ण अवस्था के अनुसार भिन्न हो सकता है। अपक्व वा आमावस्था में नील तथा परिपक्व अवस्था में पीतवर्ण। इसका रस तिक्त होता है।

"पित्तं सस्नेह तीक्ष्णोष्णं लघुविस्रं सरं द्रवम्।

कफ (श्लेष्मा) का स्वरूप

(१) स्निग्ध, (२) शीत (३) गुरु (४) मन्द (५) श्लक्ष्ण, (६) मृत्स्न (७) स्थिर। इसका रस मधुर है। अपक्वावस्था में या आमावस्था में लवण रस।

"स्निग्धशीतगुरुमन्दश्लक्ष्णमृत्स्नस्थिरः कफः।
वाग्भट्ट १-१-११

वात पित्त कफ की और उनके विविध संयोगों की सूक्ष्म दशा का स्वरूप ऊपर बताया गया है। इस दशा (सूक्ष्मतम दशा) में इनको पहचानना अति कठिन है। त्रिधातुओं को उनकी सूक्ष्मावस्था में 'पहचानना' या जानना "गालवेनो मीटर (Galvanometer बिजली तथा चुम्बक की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को मापनेवाला यन्त्र) में विद्युत् की प्रतिक्रियाओं के पहचानने से भी अधिक कठिन है। ये सूक्ष्म त्रिधातु प्राणि की परिस्थिति से पूर्णतया प्रभावित होते रहते हैं। अभी तक हमारे पास कोई ऐसा यन्त्र नहीं जिसके द्वारा इन्हें मापा जा सके। इनका ज्ञान केवल चिकित्सा कार्य के अति ध्यानपूर्वक निरीक्षण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

त्रिधातु अपनी गुणावस्था में

ये वात पित्त कफ स्थूल अवस्था में यन्त्रों के स्राव के रूप में पाये जाते हैं। आगे किये जानेवाले

आयुर्वेद किस ओर

वैद्यरत्न कविराज प्रताप सिंह रसायनाचार्य

आज संसार में सर्वत्र विज्ञानवाद का साम्राज्य है। हर बात विज्ञान की कसौटी पर कसने के बाद ही मान्य होती है। आयुर्वेद को भी आज का राज्य (सरकार) विज्ञान की कसौटी पर कसना चाहता है। और आवश्यक साधन-सामग्री जुटाने का प्रयत्न किये बिना ही चाहता यह है कि एलोपैथी के मुकाबले की रिसर्च कर के आयुर्वेद पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्रज्ञों के सामने पाञ्चभौतिक एवं त्रैदोषिक सिद्धान्तों को सिद्ध कर के आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में सम्मिलित हो जाय।

इधर प्राचीन प्रणाली के वैद्य अपने ही दकियानूसी विचारों में निमग्न हैं और अपनी त्रुटियों के संशोधन की ओर ध्यान न दे कर केवल आर्ष सत्य वाक्यों का आधार ले हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं, मुख से अपनी ज्ञानगरिमा का गान करते रहते हैं और किसी (राज के या जनता के) लोकव्यवहार की तरफ ध्यान ही नहीं देते।

परिणाम यह हो रहा है कि एक ओर तो प्राचीन पद्धति की भिषक्, विशारद, आचार्य, उपाध्याय, भिषग्वर आदि उपाधियां सामने रख कर पाठ्यक्रम बनाये जाते हैं और राजकीय (सरकारी) या वैयक्तिक (प्राइवेट) अनेक विद्यालय, पाठशालाएँ तथा विद्यापीठं (युनिवर्सिटियां) परीक्षाएँ लेकर प्राचीन पद्धति के वैद्यों की एक खासी संख्या पैदा कर रही हैं। दूसरी ओर आधुनिक चार्टर्ड युनिवर्सिटियें (राज्य द्वारा स्वीकृत विद्यापीठं) व भारतीय वैद्यक बोर्ड (बोर्ड्स आफ़ इण्डियन मेडिसिन) पौर्वात्य (पूर्वीय) व पाश्चात्य वैद्यकों का समन्वय (का प्रयत्न ?) कर एम० बी० बी० एस० (M.B.B.S.), ए० एम० एस०, डी० आई० एम० एस०, बी० आई० एम० एस०, एल० एम० ए० एस०, एम० डी० (आयुर्वेद में), डी० एस० सी० (आयुर्वेद में) आदि अनेक उपाधियाँ निर्मितकर चार, पाँच और छह वर्षों के पाठ्यक्रम के स्नातक तैयार कर सामने ला रहे हैं।

सरकार चाहती है कि आयुर्वेदीय वैद्य आधुनिक शस्त्रकर्म व कायचिकित्सा में भी समुचित योग्यता रखें, ताकि देश की वर्तमान की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए चिकित्सा-नैपुण्यका प्रदर्शन कर सकें और वैज्ञानिक ढंग से विज्ञ जनता के सामने आयुर्वेद की श्रेष्ठता सिद्ध कर सकें। साथ ही, आवश्यकता पड़ने पर सेना की युद्धकालीन आवश्यकता

(शेषांश ६४ वें पृष्ठ का)

वर्णन को समझने के लिये हम महास्रोतस् (मुख से गुदा पर्यन्त) को एक इकाई के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात् समस्त शरीर के मध्य में इसे एक नाली या गुहा समझ लेते हैं। यह महास्रोतस् यद्यपि शरीर के अन्दर स्थित है तथापि वह नाली (टनल) के समान शरीर से बाहर ही है और मुख तथा गुदा ये दो इसके बाह्य द्वार हैं। अतः इसमें होनेवाली क्रियायें नाली में होने वाली क्रियाओं के समान शरीर के बाहर ही होती हैं ऐसा समझना चाहिये।

(क्रमशः)

को पूरा कर सकें। आजके वैद्य समाज को निर्णय करना है—यह क्षमता कैसे पैदा हो ?

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ ने भी आयुर्वेदिक युनिवर्सिटी बनाने की एक योजना रखी है। परन्तु न उसके पाठ्यक्रम का अभी तक कुछ पता है, न विधान का, न विद्यालय का। केवल अपील है धन की और जमीन की, और कमेटियाँ हैं कागज पर काम करने वाली।

इधर झाँसी के एक कर्मठ वकील ने 'झाँसी आयुर्वेद विश्व-विद्यालय' कायम कर लाखों रुपये की बिल्डिंग खड़ी कर दी है। विभिन्न पाठ्य-क्रम निश्चित करके यह विश्व-विद्यालय प्रति वर्ष ५०० विद्यार्थियों को शिक्षित कर स्नातक बना रहा है। येन-केन प्रकारेण प्रति वर्ष लाखों रुपये अर्जित करके आयुर्वेद की अभिवृद्धि में सतत लगे हुए हैं। इस संस्था की आयुर्वेद समाज निन्दा करता है, करे, किन्तु इसने आयुर्वेद के कर्णधारों को 'आयुवद वृहस्पति', 'आयुर्वेद-वाचस्पति', आदि के साथ डी० एस० सी० और एम० एस० सी० की उपाधियाँ देकर चेला बना लिया है और वयोवृद्ध आयुर्वेद पंचानन पण्डित जगन्नाथ प्रसाद जी शुक्ल को वाइस-चांसलर नियुक्त कर वृद्ध वैद्य समाज के सामने एक नवीन आदर्श उपस्थित किया है।

अब वैद्य समाज के सामने प्रश्न है—हम क्या करें ? प्राचीन पद्धति का अनुसरण करें, एम० बी० बी० एस० (Ancient and modern) डिग्री का प्रचार करें, या किसी नवीन पद्धति को आविष्कृत कर उसका अवलम्बन करें ?

मैं आशा करता हूँ कि वैद्य बन्धु राग और विराग के द्वन्द्व युद्ध में भर्तृहरि के निम्नोक्त श्लोक को ध्यान में रख कर विचार करेंगे और अपने मत 'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित करेंगे।—

मात्सर्यमुत्सर्य विचार्य कार्य—
मार्याः समर्यादमिदं वदन्तु।
सेव्या नितम्बा उत भूधराणा—
मुत स्मरस्मेरनितम्बिनीनाम्॥
—शृङ्गार शतक

मत्सरता को छोड़ कर हम यह विचार करें कि हम प्राचीन पद्धति का अनुसरण करें या नवीन पद्धति का ?

सम्मति और सुझाव

सचित्र आयुर्वेद के विषय में आपकी सम्मति तथा उसमें सुधार करने के विषय में आप के सुझाव जानने के लिए हम उत्सुक हैं। आपकी सम्मति और सुझाव का हम स्वागत करेंगे और उनसे लाभ उठाएँगे। अतएव अपने अमूल्य समय में से कुछ क्षण निकाल कर अवश्य ही अपनी सम्मति तथा सुझाव हमें भेजने की कृपा करें।

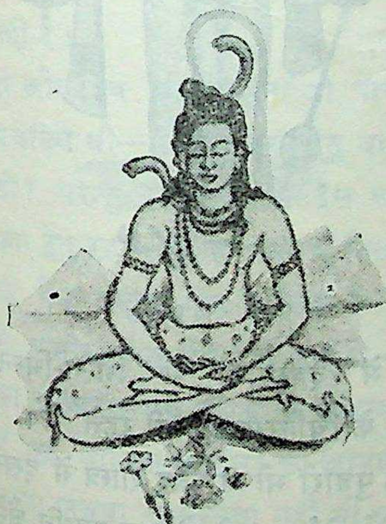
धार्मिक कृत्य और आयुर्वेद—२

प्रेषक वैद्य अम्बा प्रसाद खण्डेराव बारोट

[श्री बारोट जी इस बार बम्बई के आयुर्वेदीय बोर्ड में सरकार द्वारा नामजद किये गये हैं। उनके द्वारा प्रेषित प्रस्तुत लेख का पूर्वांश गतअंक में प्रकाशित हो चुका है। वे सूचित करते हैं कि इस लेख की मूल उद्भावना का श्रेय डा० सौ० काशीबाई अवसरे M. B. B. S. को है। मूल लेख (मराठी में) "आयुर्वेदाच्या दृष्टिकोनांतून देवतांच्या कल्पना" प्रथम अक्टूबर १९४८ के भिषग्विलास में प्रकाशितहुआ था। उस में प्रेरणा वैद्य बिन्दुमाधव जी पण्डित की थी। उसी का यह रूपान्तर है। आशा है पूर्वांश के समान यह उत्तरांश भी पाठकों को रुचिकर होगा। —स० सम्पादक]

महादेव

सृष्टि की उत्पत्ति तथा लय के गूढ़ रहस्य अभी तक भी मनुष्य को अज्ञात हैं। जन्म और मृत्यु के प्रश्न तत्त्वज्ञों को भी उलझन में डाल देते हैं। कवि कुलगुरु की विशालप्रतिभा भी संहार का ताण्डव नृत्य करने वाले भगवान रुद्र का वर्णन करती हुई "न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः" कह कर मौन हो गई।



सूक्ष्म दर्शकयंत्र (खुर्दबीन, MicroscoPe) के द्वारा किसी क्षुद्रकीटाणु का जीवन क्रम देखा जाय तो अनुभव होता है कि किंचितकाल जीवन व्यतीत करने के बाद उसकी सब शक्तियां सम्पुटित हो जाती हैं और उसी समय उसके शुष्क-सूक्ष्म शरीर के टुकड़े हो कर दो नये कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। प्राणिमात्र का जीवन प्रवाह अखण्ड रखने के लिए प्रकृति का ऐसा ही प्रयत्न मनुष्य प्राणियों में भी दिखाई पड़ता है। किसी आदमी के लिए जब कहा जाता है कि उसकी मृत्यु हो गयी तो अनेक मूलतत्त्वों में बिलीन होने वाला उसका शरीर हमारे कल्पना-चक्षुओं के सामने उपस्थित हो जाता है। परन्तु उसके शरीका एक भाग नवजीवन के मार्ग पर होता है और वह उसका शुक्राणु अथवा प्रजोत्पादन का कार्य करने वाला उसका एकमेव सूक्ष्म घटक होता है। उस व्यक्ति का सर्वस्त्र नाश नहीं होता, उसमें से किंचित मात्र अखण्ड जीवन के पथ पर युगानुयुग चलता रहता है। अविनाशी आत्मा की कल्पना इस में ही पायी गयी है। "आत्मा वै पुत्रनामाऽसि" इस विचारधारा को स्पष्ट करते हुए आयुर्वेद के आचार्यों ने व्यक्ति के प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले क्षणभङ्गुर जीवन-क्रम और समष्टि के अनादि तथा अविनाशी जीवन-क्रम का सुन्दर ऊहापोह किया है। जब किसी कारण से यह जीवन—धारा व्यक्ति के जीवन में रुक जाती है तो कहा जाता है कि उस व्यक्ति का विनाश हो गया। परन्तु वातरोग

गुह्यरोग, प्रमेह, विष इत्यादि से व्यक्ति की जननशक्ति का नष्ट हो जाना ही उसका वास्तविक विनाश है।

बेल, निर्गुण्डी, धतूरे के फूल आदि ही आखिर शंकर जी को क्यों प्रिय हैं? नन्दी, भगवान शंकर का बाहन क्यों है? यदि इन बातों की सूक्ष्म गवेषणा करनी हो तो गवेषक को इस सम्बन्ध में आयुर्वेद से बड़ी सहायता मिल सकती है। सायं प्रातः हिन्दू घरों में नित ही पूजन कार्य में बिल्वपत्र, दूर्वादल और तुलसी दल प्रयुक्त होते हैं—यह कौन नहीं जानता—और आयुर्वेदीय दृष्टि से ये तीनों ही वात, पित्त, कफ, की प्राथमिक चिकित्सा के उपचार हैं। बेल के मूल, फल, पत्ते—ये सब के सब आयुर्वेद में भिन्न-भिन्न रूप से अनेक रोगों के शमनार्थ उपयोग में लाए गए हैं। वात-व्याधि में तो सर्वश्रेष्ठ दशमूलों में बिल्व की उपयोगिता समझी गयी है। संग्रहणी, जैसे रोगों में बिल्वफल का मुरब्बा तो अत्यन्त लाभकारक होता है। वात-व्याधि के मासिक गुह्य रोग में भी बिल्वपत्र का उपयोग आयुर्वेद ने बतलाया है। "मेढ्र मध्ये सिरां विध्येत् उपदंशे नवोत्थिते।" बेल के पत्ते के समान त्रिदल होने के कारण ही निर्गुण्डी भी संहारकारी विष की प्रतियोगी सिद्धौषधी के नाम से विख्यात है। बहुत संभव है कि इसी कारण शिवजी की पूजा में इसका समावेश किया गया है। किन्तु, बिल्व या निर्गुन्डी के साथ कुछ भी सादृश्य न रखने वाला धतूरे का श्वेतपुष्प शंकर को प्रिय क्यों है—यह भी विचारणीय है। तात्पर्य यह है कि विष को हरनेवाली और विभिन्न रोगों में काम आनेवाली ऐसी अनेक औषधियाँ जो आसानी से प्राप्त हो सकें और स्मरण में बनी रहें—इसीको दृष्टि में रखकर शिवपूजा में इनका प्रयोग व्यापक रूप में अनिवार्यतः पाया जाता है।

नन्दी

शिवजी का बाहन वृषभ है—इस बात के मूल में भी आयुर्वेदीय दृष्टि है। गोमांस, गोमूत्र, पञ्चगव्य अथवा बैल के जीवित अथवा मृत शरीर से प्राप्त अनेक वस्तुओं के आयुर्वेदीय प्रयोग को ध्यान में लाने से यह बात सहज ही समझ में आ सकती है। प्राचीन मिश्र देश के अनुसार आर्यावर्त में भी देव मन्दिर में जीवित नन्दी रखने की प्रथा प्रचलित थी। परन्तु पूजा की दृष्टि से नहीं; औषधीय दृष्टि से ही वह उसे देखते थे। प्राचीन भारतीय



विष्णु

समाज में देवस्थानों में भिन्न-भिन्न वैद्यक शाखाओं के चिकित्सालय भी रहते थे। इन देव स्थानों के पुजारी भी आयुर्वेद शास्त्र में दखल रखते थे और कोई-कोई पुजारी तो वात-व्याधि जैसे रोगों का कुशल चिकित्सक भी होता था। मुद्रण कला के अभाव में ही चिकित्सा के इन विषयों को व्यावहारिक रूप से समझाने के लिये इन पूजा विधियों का निर्माण प्राचीन आर्यों ने किया होगा; इस प्रकार

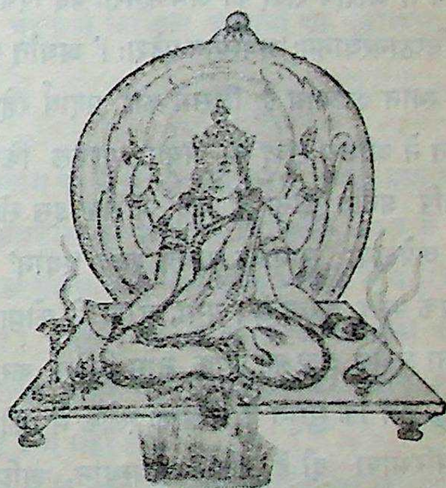
की कल्पना आयुर्वेद को पढ़ते समय मन में आती है।

वात रोग के लिये गोमांस का आहार (गव्यं केवल वातेषु पीनसे विषमज्वरे—चरक) प्रमेह के लिये गोमूत्र ; त्वचारोग, अस्थिरोग और मानसिक रोगों के लिये पञ्चगव्य (यत् त्वगस्थि गतं पापम् देहे तिष्ठति मामके। प्राशनात् पञ्चगव्यस्य दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥) बाजीकर औषधों में बैल के वृषणों का तैल रस, इन सब औषधों का अत्यन्त शास्त्रीय और विशद वर्णन आयुर्वेद में आया है। इन सब पर विचार करने से वृषभ को शंकरजी का वाहन होने में शास्त्र शुद्ध दृष्टि दिखायी देती है।

पंच ज्ञानेन्द्रियों के देवता और गरुड़गति से जानेवाला, नित्य लक्ष्मी के लिये प्रयत्नशील मानव जीवन का प्रतीक विष्णु, संहार के देवता शिव और उनका वाहन नन्दी— ये सब की सब कल्पनाएँ आयुर्वेदाचार्यों ने अनेक हेतुओं को दृष्टिगत करते हुए समाज में प्रचारित की हैं—इसे प्रमाणित करना कठिन नहीं है।

नन्दी और शिव की उपासना जो प्राचीन मिश्र देशमें प्रचलित थी—के पीछे क्या हेतु था, वह मुझे ज्ञात नहीं। परन्तु भारतवर्ष में इस उपासना के मूल में क्या हेतु रहा—इसका सम्यक् निरूपण करने का प्रयत्न मैंने प्रस्तुत लेख में किया है। आयुर्वेद शास्त्र के गंभीर अनुशीलन के बाद मैं जो धारणा बना सका उसका;आशय यह है कि हिन्दुओं के देवी देवताओं एवं धार्मिक त्यौहारों का आधार समाज की अज्ञानता अथवा धर्मान्धता नहीं थी प्रत्युत् उनके पीछे उस समय के धर्मधुरीणों की शास्त्रीय दृष्टि थी और इसी के बल पर कहा जा सकता है कि हिन्दुओं के समस्त धार्मिक कृत्य एवं उनकी उपासना पद्धति शास्त्र मर्यादित है।

बसन्तोत्सव और नवरात्र-उत्सव मनाने में भी एक ऐसी ही वैज्ञानिक कल्पना दृष्टि में रखी गयी है। वात-पित्त-कफ की अधिष्ठात्री देवी श्री महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती—ये तीन देवियां हैं। वसन्त और शरद काल में इन्ही (देवताओं) का पूजन-अर्चन होता है। ये दोनों ऋतुएँ रोगोत्पत्ति कारक हैं। कहा भी है—"वैद्यानां शारदी माता पिता च कुसुमाकरः"। इसी लिये, रोग-जन्तुओं के विनाश के लिये; शरीर की प्रतिरोधक शक्ति को अधिक शक्तिसाली बनाने के लिये, नवरात्रिमें घटस्थापन-विधि बतायी गयी है। घटस्थापन की सांगोपांग पूजा-विधि पर यदि गंभीर विचार किया जाय तो उससे एक हेतु प्रकट होता है। गाय के गोबर और मृत्तिका में जौ, तिल, सर्षप, ज्वार आदि जो बोये जाते हैं, उनमें से शरीरोपकारक, रोग जन्तु



दुर्गा

नाशक सूक्ष्माति सूक्ष्म जन्तु पैदा होते हैं—जो शरीर का स्वास्थ्यसंरक्षक बल बढ़ाते हैं। उस अवसरपर होम-हवन आदि कृत्यों के मूल में भी यही हेतु है। हवन की अग्नि और उसके धुएँ से वायुमण्डल में व्याप्त कीटाणुओं का नाश हो जाता है। पूजन-अर्चन में

(शेषांश १०१ पृष्ठपर)

आशय

आयुर्वेदभूषण डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी, एम० बी० (कलकत्ता), एम० डी० (बर्लिन);
प्रोफेसर पेथोलॉजी आर० जी० कार मेडीकल कॉलेज, कलकत्ता ।

[डॉ० डी० एन० बनर्जी को 'सचित्र आयुर्वेद'—जगत् के मध्य लाते हुए हम अपूर्व आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। डॉ० बनर्जी भारत के उन कराग्रगण्य डाक्टरों में हैं जो अपने वन्धुओं की उपेक्षा और तिरस्कार सहन करते हुए भी केवल कर्तव्य-बुद्धि से आयुर्वेद का पक्ष उपस्थित करने में सदा तत्पर रहते हैं। आपके आयुर्वेद-विषयक लेख अंग्रेजी की डॉक्टररी पत्रिकाओं में प्रायः प्रकाशित होते रहते हैं। 'सचित्र आयुर्वेद' को भी डाक्टर साहव ने भविष्य में लेख देते रहने का वचन दिया है। प्रस्तुत लेख में जहाँ वाचकों को डाक्टर साहव की परिश्रमशीलता का परिचय प्राप्त होगा, वहाँ अभिनव प्रकार से आयुर्वेद में संशोधन की दिशा का भी कुछ आभास मिलेगा। डॉक्टर बनर्जी वंगप्रान्तीय आयुर्वेद महासम्मेलन के सभापति रह चुके हैं। चोपड़ा-कमिटी की अङ्गभूत पूना में हुई 'साइण्टिफिक मेमोरेण्डा सब कमिटी, के भी आप सदस्य थे।

—स० सम्पादक

सु० शा० ४।४ की टीका में चक्रपाणि और डह्लन ने आशय शब्द का अर्थ क्रमशः यह दिया है— 'अधिष्ठानस्थानम्; अवस्थान प्रदेशः।' अर्थात् आशय उस स्थान का नाम है, जिसमें कोई पदार्थ रहे। यों सुश्रुत ने आशय शब्द का प्रयोग पुष्कल किया है, तथापि प्रतीत होता है. वह आशय' इस संज्ञा-पद की अपेक्षया सामान्य वाचक शब्द 'स्थान' को ही अधिक पसंद करता है। यथा, चरक ने कोष्ठाङ्गों की गणना प्रत्येक अङ्ग का पृथक् नाम-निर्देश करते हुए की है, जब कि सुश्रुत ने निम्नोक्त श्लोक में कोष्ठ की यह परिभाषा दी है कि—आमस्थान, अग्निस्थान, पक्वस्थान, मूत्रस्थान, रुधिरस्थान, हृदय, उण्डुक और फुफ्फुस ये मिलकर कोष्ठ कहाते हैं।

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकं फुफ्फुसं च कोष्ठमित्यभिधीयते ॥

सु० चि० २।९

स्थान, आशय, आधार, आधान इत्यादि पदों का प्रयोग पुष्कल तथा पर्याय रूप में हुआ प्रतीत होता है। जैसे, ऊपर धृत श्लोक में सुश्रुत ने आम-स्थान आदि शब्दों का व्यवहार किया है, परन्तु 'शा० ५।७' में आशयों की गणना करते हुए अमाशय, पित्ताशय (पित्त=अग्नि), पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय (रक्त=रुधिर) इत्यादि शब्द प्रयुक्त किये हैं। अन्य स्थलों में, पुरीषाधार या पुरीषाधान (आहार के मल का धारक अवयव), पक्वाधान, वायोराधारः, रक्ताधार इत्यादि शब्दों के रूप में 'आधार' या 'आधान' शब्दों का उपयोग पाया जाता है।

इन उदाहरणों से सिद्ध है कि, आशय आधार, आधान, स्थान आदि शब्द 'धारक अवयव' इस एकार्थ के ही वाचक हैं।

आशयों की उत्पत्ति के विषय में सुश्रुत कहता है—

आशय्याभ्यासयोगेन करोत्याशयसंभवम् ॥

सु० शा० ४।२९

आशयों की उत्पत्ति उनमें वायु की निरन्तर अवस्थिति के कारण होती है। सुश्रुत के इस वचन

को देखकर कि, वायु आशयों में सर्वदा रहता है, कई टीकाकार समझते हैं कि, आशय अवकाशयुक्त अवयव ही होने चाहिये। परन्तु यह यथार्थ नहीं। आशय अवकाशयुक्त (पोला) भी हो सकता है और घन (ठोस) भी। यकृत् तथा प्लीहा रक्ताशय एवं यकृत और वृक्क आमाशय कहे जाते हैं, इत्यादि। परन्तु ये अवयव कदापि पोले नहीं हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि, आशय एक थैले के समान पोला अवयव ही होना चाहिये, यह बात नहीं।

शा० ५।२८१ में वृद्ध वाग्भट ने—'सप्त आशयाः, असृक्······मूत्राधाराः, इन शब्दों में आशय और आधार शब्द स्पष्ट ही पर्याय रूप में प्रयुक्त किये हैं। शा० ३।११ में लघुवाग्भट ने भी इन्हीं शब्दों का व्यवहार किया है। उधर, कई लेखकों का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि, आशय पोले अवयव हैं। इसीसे वे आभ्यन्तर अङ्गों के लिए आशय और गुल्म (अर्बुद-सदृश अवयव) इन दो संज्ञापदों का व्यवहार करते हैं। तद्यथा, अपने योगेश्वर में श्यामदत्त लिखता है—'शरीर में सात आशय हैं और पाँच गुल्म।' गुल्म ये हैं—यकृत, प्लीहा, क्लोम, वृक्क और फुफ्फुस। कई विद्वान् 'आशय' शब्द को द्रव्य-विशेष का उत्पत्तिस्थान इस अर्थ में तथा 'आधार' शब्द को उसके धारण का स्थान इस अर्थ में मर्यादित रखना ठीक समझते हैं।

आशय के भेद

स्त्रियों में गर्भाशय को छोड़कर शेष कुल सात आशय होते हैं। इस विषय में यह एक विचित्र बात देखने में आती है कि, सभी संहिताकारों ने आशयों की संख्या तो सात ही रखी है, पर उनके अन्तर्गत अवयव भिन्न-भिन्न बताये हैं। तद्यथा—

चरक ने विभिन्न आशयों का विभिन्न स्थलों

शेषांश] धार्मिक कृत्य और आयुर्वेद [९९ वें पृष्ठ का

नैवेद्य में घी-दूध-की अनिवार्यता जो बतायी गयी है उसमें भी आयुर्वेदीय दृष्टि है। बंगाल के शीतज्वर (Malaria) पीड़ित भाग में दुर्गा पूजा का इसी कारण बहुत प्रचार है।

महादेव जी का अभिषेक

ब्लडप्रेसर (रक्त चाप) जो आयुर्वेदीय दृष्टि से पक्षाघात का पूर्व रूप है, के सम्बन्ध में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का कहना है कि मस्तिष्क की सूक्ष्म रक्तवाहिनी टूटने से आसपास के भाग में रक्त का जमाव होकर प्रेशर बढ़ जाता है। इसी कारण जब मनुष्य संज्ञाहीन हो जाता है, तब उसके मस्तिष्क पर वर्फ की कोथली अथवा वर्फ को ही रखकर शीत क्रिया की जाती है। अभिषेक की शीतल जलधारा में वही क्रिया सम्पादित होती है। महादेव जी के विषपान करने के पश्चात् उनकी चेतना हीन अवस्था में जलधारा का अभिषेक चिकित्सा के रूप में था—उनकी प्रसन्नता के लिये लोक व्यहार में वही रूढ़ हो गया। चन्दन का लेप लगाने और रुद्राक्ष की माला निरन्तर धारण करने से ब्लड प्रेसर और हृद् रोग जैसे रोग नहीं होते।

अपने यहाँ प्रचलित व्रत-नियम, त्यौहार, संस्कार इत्यादि सभी धार्मिक विधियां इसी आयुर्वेदीय ढंग से बनायी गयी हैं। प्रत्येक धार्मिक कृत्य का सूक्ष्म विवेचन करने से एक-एक पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है, जो इस लेख में संभव नहीं। प्रस्तुत लेख में तो सिर्फ धार्मिक विधि-विधानों का हेतु मात्र पाठकों के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

पर उल्लेख अवश्य किया है, परन्तु उसने कहीं भी उनका वर्गीकरण किंवा संख्या नहीं लिखी है। सुश्रुत कहता है—आशय ये हैं—वाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय, रक्ताशय, आमाशय पक्वाशय, मूत्राशय तथा स्त्रियों में आठवाँ गर्भाशय। देखिये—

आशयास्तु—वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशय, आमाशयः, पक्वाशयो, मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति ॥
सु० शा० ५।७

अन्यत्र सुश्रुत ने कोष्ठावयव ये गिनाये हैं—आमस्थान, अग्निस्थान, पक्वस्थान, मूत्रस्थान, रुधिरस्थान, हृत्, उण्डुक और फुफ्फुस। (देखिये—ऊपर धृत सु० चि० २।१६)।

कश्यप ने कहा है—कोष्ठ में नीचे लिखे आठ आशय होते हैं। विट्-आशय, मूत्राशय, कृमि-आशय, पक्वाशय, आमाशय, कफाशय, पित्ताशय तथा स्त्रियों में आठवाँ गर्भाशय। देखिये—

विण्मूत्रकृमिपक्वामकफपित्ताशयाः पृथक्।
सन्त्येते देहिनां कोष्ठे स्त्रिया गर्भाशयोऽष्टमः ॥
—काश्यप संहिता, गर्भावक्रान्तिशारीर

अन्यत्र कश्यप कहता है—शरीर में सात आशय ये हैं—

विण्मूत्रकृमिपक्वामकफपित्ताशयाः पृथक्।
सन्त्येते देहिनां कोष्ठे स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टमः ॥
—काश्यपसंहिता, खिलस्थान अ० ६।१६

अर्थात् विट्-आशय, मूत्राशय, कृम्याशय, पक्वाशय, आमाशय, कफाशय और वाताशय; एवं स्त्रियों में आठवाँ गर्भाशय। दोनों वचनों में भेद यह है कि, प्रथम गणना में पित्ताशय है तथा द्वितीय में वाताशय।

वृद्ध वाग्भट कहता है—

सप्ताशयाः क्रमादसृक्कफामपित्तपक्ववायुमूत्राधाराः।
स्त्रीणां पित्तपक्वाशयोर्मध्ये गर्भाशयोऽष्टमः ॥
अ० सं० शा० ५।२८१

आशय सात हैं। इनके नाम क्रमशः ये हैं—रक्ताधार, कफाधार, आमाधार, पित्ताधार, पक्वाधार, वाताधार मूत्राधार तथा स्त्रियों में आठवाँ पित्ताशय और पक्वाशय के मध्य में स्थित गर्भाशय। लघु वाग्भट कहता है—

सप्त चाधारा रक्तस्याद्यः क्रमात् परे।
कफामपित्तपक्वानां वायोर्मूत्रस्य च स्मृताः ॥
गर्भाशयोऽष्टमः स्त्रीणां पित्तपक्वाशयान्तरे ॥
अ० हृ० शा० ३।१०-११

—आशय सात हैं, जिनके नाम क्रमशः ये हैं—रक्त, कफ, आम, पित्त, पक्व, वायु, और मूत्राधार; तथा स्त्रियों में पित्ताशय और पक्वाशय के मध्य आठवाँ गर्भाशय। शार्ङ्गधर कहता है—

श्लेष्माशयः स्यादुरसि तस्मादामाशयस्त्वधः।
उर्ध्वमग्न्याशयो नाभेर्वामभागे व्यवस्थितः ॥
तस्योपरि तिलं ज्ञेयं तदधः पवनाशयः।
मलाशयस्त्वधस्तस्य बस्तिर्मूत्राशयः स्मृताः ॥
जीवरक्ताशयमुरो ज्ञेयाः सप्ताशयाः क्रमात्।
पुरुषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारीणामधिकास्त्रयः ॥
धरा गर्भाशयः प्रोक्तः स्तनौ स्तन्याशयौ मतौ ॥
—शार्ङ्गधर पू० ५।७—९

—उरस् (छाती) में श्लेष्माशय है। उसके नीचे आमाशय है। अग्न्याशय नाभि के ऊपर बायीं ओर है। उस पर तिल है। उसके नीचे पवनाशय है। उसके नीचे मलाशय तथा बस्ति, जिसे मूत्राशय भी कहते हैं, उरस् जीवरक्ताशय है। स्त्रियों में तीन अधिक आशय हैं; तद्यथा—एक गर्भाशय तथा दो स्तन या स्तन्याशय।

समस्त बचनों पर दृष्टिपात करने से एक बात ध्वनित है कि, संख्या तो सबने सात ही रखी है, पर नामों में किंचित् भिन्नता है। सबने कहा है कि, स्त्रियों में एक आशय, गर्भाशय, अधिक होता है।

केवल शार्ङ्गधर ने दो आशय—स्तन्याशाय—और अधिक बताये हैं। विभिन्न संहिताकारों के कहे नामों की भिन्नता निम्न कोष्ठक से अधिक विशद होगी—

आशयों के नामों का द्योतक कोष्ठक

	सु० शा० ५।७	सु० चि० २।७	कश्यप० शा० ६	कश्यप० खिल ६।१६	अ० सं० शा० ५१ २८१-२	अ० हृ० शा० ३।१०-११	शार्ङ्ग० पूर्व ५।७—६
१	वाताशय	टि० १	×	वही	वही	वही	वही
२	पित्ताशय	वही	वही	×	वही	वही	वही
३	श्लेष्माशय	टि० २	वही	वही	वही	वही	वही
४	रक्ताशय	वही	×	×	वही	वही	वही
५	आमाशय	वही	वही	वही	वही	वही	वही
६	पक्वाशय	वही	वही	वही	वही	वही	×
७	मूत्राशय	वही	वही	वही	वही	वही	वही
८	गर्भाशय	वही	वही;	वही;	वही	वही	वही;
			टि० ३	टि० ४			टि० ५

इस कोष्ठक में—'वही' का अर्थ पहले कालम के समान; × का अर्थ है कोई उल्लेख नहीं; टि० = देखो नीचे पाद-टिप्पणी—

टि० १—वही, यदि उण्डुकका अर्थ वाताशय हो; टि० २—फुफ्फुस; टि० ३—कृमि—आशय तथा विट्—आशय अधिक गिनाये हैं; टि० ४—कृमि तथा विट्—आशय अधिक गिनाये हैं; टि० ५—मलाशय तथा तिल की गणना की है और गर्भाशय के साथ स्त्रियों में दो स्तन अधिक लिखे हैं।

कोष्ठक का विवेचन करने से निम्न भेद दीख पड़ते हैं—

(१) वाताशय—निःसंशय सुश्रुत ने इसका उण्डुक नाम से निर्देश किया है। कश्यप ने एक स्थान पर उल्लेख किया है, अन्यत्र नहीं। अलवत्ता उसने विट्-आशय और वाताशय का उल्लेख पृथक-पृथक किया है।

(२) पित्ताशय—कश्यप ने इसका उल्लेख एक वचन में किया है, अन्यत्र नहीं।

(३) श्लेष्माशय—संभवतः सुश्रुत ने फुफ्फुस को श्लेष्माशय माना है।

(४) रक्ताशय—कश्यप और शार्ङ्गधर ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

(५) पक्वाशय—शार्ङ्गधर ने इसके स्थान पर मलाशय का ग्रहण किया है।

(६) गर्भाशय—शार्ङ्गधर ने दो स्तनों का भी समावेश किया है।

(७) कश्यप ने कृमि-आशय तथा विट्-आशय का निर्देश अधिक किया है[1]।

१—अन्य प्रान्तों की बात मालूम नहीं, हमारी ओर गुजरात में प्राचीन वैद्यों और जनता में यह मत प्रचलित है कि—कृमियों का कोष्ठमें पृथक ही स्थान स्वभावतः होता है। कृमि इसे छोड़कर ऊपर-नीचे जायँ तो ही कृमिविकार होते

आशयों का सामान्य विचार

आशय संबन्धी विचार दो विभागों में बांटा जा सकता है—(क) रचना की दृष्टि से तथा (ख) क्रिया की दृष्टि से।

(क) रचना की दृष्टि से विचार—स्थान, आधार आदि पर्यायों को देखने से विदित होता है कि, आशय नाम किसी वस्तु के रहने के स्थान का है। यह स्थान आधेय (स्थित वस्तु) की उत्पत्तिका भी हो सकता है, किंवा उसका केवल आधार (स्थिति-स्थान) भी हो सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि, आधेय द्रव्य कौनसे हैं? एवं, शरीर में इतने सारे द्रव्य होते हुए भी उनमें से केवल सातको ही अका विशेष आधार (अधिष्ठान) बताने के लिए क्यों पसन्द किया गया है? इन प्रश्नों के उत्तर की दिशा सुश्रुत में उपलब्ध होती है। उसका मन्तव्य है कि—ये सात आशय शरीर के प्रधान घटक-भूत दोषों, धातुओं और मलोंके ही आधार या अधिष्ठान हैं। वह कहता है—

तस्मिन् सर्वशरीरावयवदोषधातुमलाशयानुसारिणी रसे जिज्ञासा—किमयं सौम्यस्तैजस इति?

सु॰ सू॰ १४।४

—प्रश्न है कि, रस जो स्रुत होकर संपूर्ण शरीर अवयव तथा दोषों, धातुओं और मलों के धारणकर्ता आशयों में पहुंचता है, वह सौम्य है या आग्नेय?

निःसंदेह सुश्रुतने इस वचन में समस्त शरीर और उसकी घटकों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है—(१) संपूर्ण शरीर तथा अवयव (सर्वशरीरावयव); और (२) दोष, धातु तथा मल। आशय द्वितीय श्रेणी के द्रव्यों के अधिष्ठान हैं। आशयों का पृथक् वर्णन प्रारम्भ करने के पूर्व यह उचित प्रतीत होता है कि कश्यप और वाग्भटने इनकी शरीर में अवस्थिति क्रमानुसार जिस क्रमसे इनका उल्लेख किया है वह देख लिया जाय। विभिन्न आशयोंका स्वरूप समझने में ये क्रम पर्याप्त सहायक हो सकते हैं।

कश्यप और वाग्भट ने आशयों का उनकी स्थिति के क्रम से निम्नक्रमानुसार उल्लेख किया है।

(१) विट्—, मूत्र—, कृमि—, पक्व—, आम—, कफ—, पित्ताशय। काश्यप संहिता शा॰ ६

(२) विट्—, मूत्र—, कृमि—, पक्व—, आम—, कफ—, वाताशय। काश्यप संहिता ४ खिल॰, ६।१६

(३) रक्त—, कफ—, आम—, पित्त—, पक्व—, वात—, मूत्राशय। अ॰ शा॰ ५।२८१-२; अ॰ हृ॰ शा॰ ३।११-१२

इन क्रमों को देखने से विदित होता है कि कश्यप ने आशयों का निर्देश नीचे से ऊपर की ओर किया है। वाग्भटों ने इनका क्रम विपरीत रखा है। दोनों के क्रमों को अवस्थिति-क्रम से कोष्ठक के रूप में देख लें—

नाम	कश्यप	वाग्भट
१ वाताशय	एक वचन में सबसे ऊपर ; दूसरे में इसका निर्देश नहीं	मूत्राशय के ऊपर
२ पित्ताशय	एक बचन में सबसे ऊपर ; दूसरे में इसका निर्देश नहीं	चौथा स्थान

हैं। तब कृमियों को बाहर निकालना अभीष्ट होता है शास्त्रमें कश्यप के उक्त बचनों के सिवाय अन्यत्र इस बात का उल्लेख नहीं। —(अनुवादक)

नाम	कश्यप	वाग्भट
३ कफाशय	दूसरा स्थान	दूसरा स्थान
४ आमाशय	तीसरा स्थान	तीसरा स्थान
५ पक्वाशय	चौथा स्थान	पाँचवाँ स्थान
६ कृमि-आशय	पाँचवाँ स्थान	गणना नहीं
७ मूत्राशय	छठा स्थान	सबसे निचला स्थान
८ विट्-आशय	सातवाँ स्थान	गणना नहीं
९ रक्ताशय	गणना नहीं	सबसे ऊपर स्थान

कोष्ठक पर दृष्टि-निक्षेप से प्रतीत होगा कि, दोनों में वाग्भट् का विवरण अधिक उपयुक्त है। (१) उसने रक्ताशय को सबसे ऊपर स्थान दिया है। भाव प्रकाश ६० में कहा है – 'उरस् (छाती) रक्ताशय है। इस लेखानुसार तथा शार्ङ्गधर के ऊपर धृत वचन "उरस् जीव रक्ताशय है" के अनुसार हम रक्ताशय का अर्थ हृदय तथा दोनों फुफ्फुस करते हैं। सुश्रुत ने भी कहा है—'यकृत् यथा प्लीहा रक्त के स्थान हैं। यह रक्त अन्य रक्तस्थानों को अनुगृहीत करता है[1] ।'—सु० शा० २१।१०। हृदय तथा फुफ्फुस-द्वय इन अन्य रक्तस्थानों में समाविष्ट हैं। कश्यप ने रक्ताशय का नामोल्लेख ही नहीं किया।

निष्कर्ष—इस प्रकार, रक्ताशय का अर्थ हुआ हृदय, उभय फुफ्फुस और यकृत्-प्लीहा। कोष्ठाङ्गों में ये सबसे ऊपर स्थित हैं।

(२) कफाशय का स्थान दूसरा है। इसका अर्थ फुफ्फुस-द्वय कर सकते हैं। कारण, चरक ने कहा है कि, 'उरस् श्लेष्मा का विशेष स्थान है—शा० २०।६'। सु० शा० २१।६ की टीका में चक्रपाणि भी यही कहता है। शार्ङ्गधर ने भी उरस् को श्लेष्माशय कहा है। यद्यपि चरक तथा सुश्रुत ने आमाशय को कफस्थान कहा है; तथापि यदि फुफ्फुसों को आमाशयों में एक समझ लें तो कोई विरोध नहीं रहता। कारण, चरक ने "कोष्ठ को आमपक्वाशय" पर्याय दिया है; उधर, सुश्रुत ने कहा है, 'आमाशय में रहा हुआ कफ अन्य श्लेष्मस्थानों को उपकृत करता है (सू० २१।१८)'; तथा उरस इन श्लेष्मस्थानों में एक है। एक वचन में कश्यप ने वाताशय को सबसे ऊपर स्थित कहा है। वहाँ भी वाताशय का अर्थ फुफ्फुसद्वय ही लेना चाहिए। कारण, फुफ्फुसों में वायु रहता रहता है।

निष्कर्ष—इस प्रकार सर्वोपरि स्थित आशय ये हैं—(१) फुफ्फुसद्वय; ये रक्ताशय, कफाशय और वाताशय हैं; (२) हृदय; यह रक्ताशय है; (३) यकृत्-प्लीहा; ये भी रक्ताशय हैं। अपने प्रयोजन के लिए हम फुफ्फुसों को कफाशय तथा हृदय को रक्ताशय मानते हैं।

(३) वाग्भट ने तीसरा स्थान आमाशय को दिया है। हम इसका अर्थ प्रसिद्ध आमाशय (जिसे अंग्रेजी में 'स्टमक' कहते हैं वह) करते हैं।

(४) चौथा स्थान पित्ताशय को दिया गया है। इसका अर्थ हम क्षुद्रान्त्र करते हैं। कश्यप ने एक वचन में पित्ताशय को सर्वोच्च स्थान पर स्थित कहा

[1]—निर्णयसागरी मूल ग्रन्थ में दूसरे वाक्य में आयी वस्तु का निर्देश नहीं। संभव है, बगला प्रतियों में हो। तथापि इससे डॉ० बनर्जी की स्थापना में कोई क्षति नहीं पड़ती।
—स० सम्पादक

है। वहाँ हम पित्ताशय का अर्थ पित्तकोष (गॉल-ब्लैडर) लें तो भी इस स्थान-निर्देश का कुछ अर्थ समझ में नहीं आता।

(५) पक्वाशय को पाँचवाँ स्थान दिया गया है। इसका अर्थ हम स्थूलान्त्र का आदि भाग लेते हैं।

(६) वाताशय को छठा स्थान दिया गया है। इसका अर्थ हम स्थूलान्त्र का मध्य भाग करते हैं।

(७) क्रम में मूत्राशय का स्थान सबसे नीचे है। इससे यहाँ बस्ति अभिप्रेत है। कश्यप ने विट्-आशय तथा अन्य आचार्यों ने पुरीषाधान आदि की गणना की है। इनका अर्थ हम आधुनिकों का 'रेक्टम' लेते हैं। अपने दोनों वचनों में कश्यप ने कृमि-आशय का उल्लेख किया है। यदि हम इस आशय का नामकरण इसके कृमि-सदृश स्वरूप के आधार पर किया गया स्वीकार करें तो इसे हम आधुनिकों का 'एपेण्डिक्स' कह सकते हैं। इसका पूर्ण और शुद्ध नाम 'वर्मोफॉर्म एपेण्डिक्स' है। संस्कृत शब्द कृमि का जो अर्थ है वही लेटिन 'वर्म' शब्द का भी है। नव्य लेखक 'अन्त्रपुच्छ' शब्द का व्यवहार इस अवयव के लिए करते हैं।

(ख) आशयों का क्रिया की दृष्टि से विचार—गर्भाशयेतर सात आशयों का कर्म दोष, धातु और मल का धारण है, जैसा कि वाताशय, पित्ताशय, कफाशय, रक्ताशय और मूत्राशय इन संज्ञाओं से सूचित है। इन सभी दोष, धातु तथा मलों को आम या अपक्व तथा पक्व इन दो विभागों में विभक्त करके इन आशयों में आमाशय और पक्वाशय का भी समावेश किया गया है।

आशयों का यह कर्मानुसार वर्गीकरण सुश्रुत के अनुसार है। वह कहता है—आशय ये हैं—वाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय, रक्ताशय, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय तथा स्त्रियों में आठवाँ गर्भाशय (देखिये ऊपर धृत सु शा० ।७)। इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, रचनानुसार वर्गीकरण में कोष्ठ संज्ञा की व्याख्या करते हुए सुश्रुत ने आशय के स्थान पर 'स्थान' शब्द प्रयुक्त किया है। वहाँ सुश्रुत ने कहा है—आमस्थान, अग्निस्थान, पक्वस्थान, मूत्रस्थान, रुधिरस्थान, हृत्, उण्डुक और फुफ्फुस के समुदाय का नाम कोष्ठ है (देखिये—ऊपर धृत सु० चि० ।६)। इस वचन में वायु और कफ के स्थानों का निर्देश नहीं है। साथ ही, इस वचन से किसी को भ्रान्ति हो सकती है कि, हृत्, उण्डुक और फुफ्फुस किसी विशेष द्रव्य के स्थान नहीं हैं। परन्तु अन्य प्रकरणों में सुश्रुत ने हृदय को रस, प्राणवायु, साधक पित्त, अवलम्बक कफ आदि का स्थान कहा है।

इस प्रकार निम्न कारणों को लक्ष्य में रखते हुए हम स्थान शब्दको आशय का पर्याय नहीं मान सकते –(१) वात, पित्त और कफ इन दोषों के स्थान तीन प्रकार से बताये गये हैं—(क) सभी दोष समस्त शरीर में, उसके अणुतम भाग एवं सूक्ष्मतम स्रोत में भी, व्याप्त हैं। यही स्थिति रक्तकी भी है। चरक ने कहा है—

वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीर चराणां सर्वाणि स्रोतांसि अयनभूतानि ॥ च० वि० ५।३

—वात, पित्त और कफ सर्व शरीर में संचार करते हैं। शरीर के सभी स्रोत इनके स्रोत हैं। वही अन्यत्र कहता है—

सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः सर्वस्मिन् शरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति ॥ च० सू० २०।७

वात, पित्त, कफ समस्त शरीर में व्याप्त रहकर ही उसका हित या अहित करते हैं। इसके विपरीत,

आशय सबके सब कोष्ठाङ्ग अर्थात् उदर तथा वक्षस् के अन्दर विद्यमान अवयव हैं। परिणाम तया, दोषोंके सर्वशरीर व्यापी होनेसे सारे शरीरको आशय नहीं माना जा सकता।

(२) प्रत्येक दोषके पांच भेद किये गये हैं तथा प्रत्येक भेदका पृथक् स्थान कहा गया है। इस विषयमें चरक कहता है—

बस्तिः पुरीषाधानं कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि पक्वाशयश्च; तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम्। स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानम्; तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्। उरः शिरो ग्रीवा पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मस्थानानि, तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम्॥
च. सू. २०--६

वायुके स्थान ये हैं—बस्ति, पुरीषाधान (आधुनिकोंका रेक्टम), कटि, पैर, अस्थि और पक्वाशय; इनमें भी पक्वाशय वात का विशेष स्थान है। स्वेद, रस, लसीका, रुधिर और आमाशय ये पित्तके स्थान हैं। इनमें भी आमाशय पित्तका विशेष स्थान है। उरस, शिर, ग्रीवा, पर्व (सन्धि), आमाशय तथा मेद ये कफके स्थान हैं; इनमें भी उरस कफका विशेष स्थान[1] है। यह सत्य है कि, इन अवयवोंमें कई कोष्ठमें स्थित हैं; तथापि इनकी अच्छी संख्या कोष्ठके बाहर रहती है। अतः इन स्थानोंके भी तत्-तत् दोषका 'आशय' कहना योग्य नहीं।

(३) ऊपरके वचनमें प्रत्येक दोषका एक विशिष्ट स्थान निर्दिष्ट हुआ है; तद्यथा—वायुका पक्वाशय, पित्त का आमाशय और कफ का उरस्। परन्तु ये तीनों मिलकर कुछ ही आशय होते हैं; सभी आशयोंका इनमें समावेश नहीं होता। दोषोंके प्रधान आशय कतिपय आयों का ग्रहण अवश्य कराते हैं।

सब बातों का विचार करके हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि, आशय शब्द का अर्थ है - दोषों (वात-पित्त-कफ) धातु (केवल रक्त) तथा मल (केवल मूत्र) की उत्पत्ति का स्थान किंवा संचय का मुख्य स्थान। गर्भाशय को भी कोष्ठ (उरस् तथा उदर) में स्थित कहा है, यद्यपि इस की पन्द्रह कोष्ठाङ्गों में गणना नहीं की गयी है।

—अनुवादक-वैद्य रणजित राय

१—चक्रपाणिने स्पष्ट कहा है—इस प्रकरण में निर्दिष्ट स्थानोंका अर्थ है, इन स्थानों में तत्तद्दोष जन्य रोग विशेष तया होते हैं। दोषोंके पांच भेदों के ये स्थान नहीं, तथापि इससे डाक्टर साहबकी स्थापना में कोई दोष नहीं आता। पांच भेदोंके स्थान ग्रन्थसे उद्धृत किया जाना अधिक ठीक होता।
—स० सम्पादक

छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालंकार

[आयुर्वेद के पुनरुज्जीवन के लिए अवश्यकरणीय कार्यों में एक पाठ्य-ग्रन्थों का निर्माण है। पाठ्य-ग्रन्थों के अभाव में विद्यार्थियों को जिस कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है, वह किसे विदित नहीं? इस अङ्क से हम ऐसे ही एक अभाव को पूर्ति कर रहे हैं। सूरत के श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय के निदान-चिकित्सा के अध्यापक तथा सचित्र-आयुर्वेद-परिवार क सुपरिचित श्री वैद्य रणजितरायजो से विशेष अनुरोध करके हम निदान-चिकित्सा विषय पर विशेषतः विद्यार्थियों के लिए उपयोगी लेखमाला लिखवाकर प्रकाशित कर रहे हैं। स्वभावतः यह लेखमाला बम्बई-सरकार द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार होगी। अभी तो यह छात्रोपयोगी संक्षिप्त नोटों के रूप में है, परन्तु - वैद्य रणजितरायजी 'शरीर-क्रिया-विज्ञान' के नवीन संस्करण (आयुर्वेदीय क्रियाशारीर) में जिस शैली का अवलम्बन कर रहे हैं, उसे देखते हुए आशा को जा सकती है कि, 'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' का काम पूर्ण करके वैद्यजो 'निदान-चिकित्सा' विषय पर भी इसी प्रकार 'युगानुरूप' समन्वयात्मक ग्रन्थ लिखेंगे, जो विद्यार्थियों के अतिरिक्त अध्यापकों तथा जिज्ञासुओं के लिए भी उपयोगी होगा। भगवान् धन्वन्तरि इस कार्य के लिए वैद्यजी को दीर्घ और स्वस्थ जीवन प्रदान करें। —स० सम्पादक]

रोग का लक्षण

रोग अथवा व्याधि की परिभाषा आयुर्वेद में बहुत ही व्यापक है। इस शब्द से केवल संपूर्ण शरीर अथवा उसके एक वा अनेक अवयवों में होनेवाली व्यथा का ही बोध नहीं होता, प्रत्युत-जीवित शरीर के घटकभूत प्रत्येक अवयव को पृथक् किंवा समस्त शरीर को जिस भी कारण से दुःख या व्यथा हो, उसे व्याधि कहा जाता है[1]। यह जीवित शरीर आत्मा और पञ्च महाभूत के समवाय (मेल) से बना है। यहाँ पञ्च महाभूत का अर्थ मन सहित पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय पाँच सूक्ष्म कर्मेन्द्रिय तथा उनके अधिष्ठान या आश्रयभूत हाथ-पैर आदि शरीरावयव है। सो, इन अवयवोंमें किसी को भी जिस कारण से व्यथा (रुजा) हो उसे व्याधि या रोग कहते हैं। परिभाषा की इस व्यापकता के कारण ही, आयुर्वेद में क्षुधा-पिपासा आदि शारीर दुःखों को, काम-क्रोध आदि मानस दुःखों को, यहाँ तक कि दरिद्रता को और आत्मा के जन्म-मरण के चक्र को भी व्याधि कहा गया है। इसी कारण धन-लाभ तथा मोक्ष के उपायों का भी आयुर्वेद में विस्तृत वर्णन किया गया है।

'रुक् (ज्)' अर्थात् वेदना के जनक होने से दुःख-कारणों को रोग कहते हैं; तथा 'विविध दुःखों का आधान या उत्पादन' करने वाले होने से इन्हें व्याधि (वि+आ+धा) कहा जाता है। परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिये कि आयुर्वेद मुख्यतः शारीर और

1—सु. सू. १।२२-२३

मानस रोगों का ही कारण, लक्षण और चिकित्सा बताता है।

शरीर की परिभाषा में आत्मा के परिगणन का चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्व यह है कि कई रोग पूर्व कृत कर्म के परिणाम होते हैं तथा आत्मा द्वारा ही वर्तमान शरीर में संक्रान्त होते हैं।

रोगों का वर्गीकरण

आयुर्वेद में रोगों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण हुआ है। चिकित्सा में उपयोग की दृष्टि से इनका जानना आवश्यक है। ये वर्ग निम्न हैं।

(१) निज तथा आगन्तु[1]

रोगों के अधिष्ठान दो हैं—शरीर और मन। आत्मा के जो क्लेश शास्त्र में बताये गये हैं उनका भी अनुभव वास्तव में मन को ही होता है। अतः आत्मा के रोगों का अन्तर्भाव मन में ही होता है। इस प्रकार रोगों के दो भेद होते हैं—शारीर और मानस। आभ्यन्तर और बाह्य कारणों के भेद से शारीर और मानस रोगों के दो भेद होते हैं—निज और आगन्तु।

इनमें निज रोग वे हैं जो वात-पित्त-कफ की विषमता से उत्पन्न होते हैं। वात-पित्त-कफ विषम होकर रस आदि धातुओं और मल-मूत्रादि मलों को विषम करते हैं, तथा ऊरू (जांघ), उदर, योनि आदि अवयवों में स्थान संश्रय करते हैं। इसके अनुसार रोगों को रसज (रस दुष्टिजन्य), रक्तज आदि अथवा स्थान-भेद से ऊरुस्तम्भ, रक्तप्रदर, (गर्भाशय-पाक)[2], कामला आदि नाम दिये जाते हैं। वस्तुतः इन सब में मूल कारण दोषों की विषमता ही है। निज रोगों को ही शारीर भी कहते हैं।

आगन्तु रोग बाह्य कारणों से, तद्यथा, सविष या निर्विष प्राणियों के नख, दांत आदि लगना; गिरना, अभिचार (मन्त्र-कर्म), अभिशाप, भूताभिषङ्ग (भूतावेश), आघात, वेध, बन्धन, वेष्टन, पीडन (पिस जाना), दग्ध (दाह); शस्त्र, विद्युत विषयुक्त फल, मूल, वायु आदि का स्पर्श या सेवन इत्यादि से—होते हैं। मानसिक आघात उत्पन्न कर के मानस रोग उत्पन्न करनेवाले बाह्य कारण भी आगन्तु ही कहाते हैं।

आगन्तु रोगों में भी पीछे से दोषों की विषमता हो ही जाती है और तब उनकी चिकित्सा ही की जाती है।

(२) निज आदि चार भेद[1]

विस्तार की दृष्टिसे उक्त दो भेदों के ही निम्नचार भेद किये जाते हैं—आगन्तु, शारीर, मानस और स्वाभाविक। इनमें आगन्तु और शारीर का उल्लेख ऊपर किया गया है। मानस रोग रजोगुण और तमोगुण की अधिकता के कारण होते हैं। रज और तम वृद्धि को प्राप्त हो काम, क्रोध, मोह (अज्ञान या मिथ्याज्ञान), मान, मद, चिन्ता, उद्वेग (घबराहट), शोक, भय, हर्ष, विषाद (मनोभङ्ग, उत्साहभङ्ग), ईर्ष्या, असूया, दीनता (दब्बूपन[2]), मत्सर, लोभ आदि चित्तविकारों (मानस रोगों) को उत्पन्न करते हैं। मन और शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उत्तप्त गोले को किसी जलपात्र में डाला जाय तो जैसे जल और पात्र दोनों गरम हो जाते हैं, उस प्रकार

१—च. सू. १९।५-७ ; १८।४ ; २०।३-७।
२—पाक का अर्थ यहां मुखपाक, गुदपाक आदि शब्दों के समान, अंग्रेजी में जिसे **Inflammation** इन्फ्लेमेशन कहते हैं, वह है।

१—सु. सू. १।२४-२६ ; च० वि० ६।५
२—**Inferiority**—इन्फीरियाटी।

रुग्ण मन शरीर को रुग्ण कर देता है। दूसरी ओर उत्तप्त जल में शीत लोहगोलक डालें तो वैसे जल के संपर्क से गोला भी गरम हो जाता है, उस प्रकार शरीर रुग्ण हो तो मन भी रुग्ण हो जाता है[1]। यह अनुभव सिद्ध है। वर्तमान समय में इस विषय का अनुभव और ज्ञान बहुत बढ़ गया है। अनेक शारीर रोगों का मूल कारण मन ही माना जाने लगा है। समझा जाता है कि, कदाचित् जीवन योनि या स्वतन्त्र नाड़ीसंस्थान[2] शरीर और मन का सम्बन्ध करनेवाला है। आयुर्वेद में वायु को मन और इन्द्रियों का प्रेरक और नियामक माना है। उधर, काम, शोक और भय से वायु का प्रकोप होना माना गया है। अन्य दोषों में साधक पित्त तथा हृदयस्थ कफ का मन के साथ सम्बन्ध बताया है[3]।

अस्तु। शारीर रोगों के अतिरिक्त कामादि दोष पृथक् मानसिक लक्षणों अथवा उन्माद आदि मानस रोगों को उत्पन्न करते हैं।

काम, क्रोध आदि मानसिक विकारों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—इच्छा (या राग) और द्वेष।

क्षुधा, पिपासा, वृद्धत्व, मृत्यु, निद्रा आदि स्वभावतः दुःखोत्पादक कारणों को स्वाभाविक रोग कहते हैं।

(३) आदिबलप्रवृत्त आदि सात विभाग[4]

इन्हीं रोगों का और भी विस्तार से विभाजन नीचे लिखे सात विभागों में किया जाता है—आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त, दोषबलप्रवृत्त, संघातबलप्रवृत्त, कालबलप्रवृत्त, दैवबलप्रवृत्त और स्वभावबलप्रवृत्त। इनकी क्रमशः व्याख्या करते हैं।

(क) आदिबलप्रवृत्त—शुक्र और शोणित (पुरुष बीज और स्त्री बीज) शरीर के आदि कारणभूत हैं। इनके दोषदूषित होने से जो कुष्ठ, अर्श, प्रमेह, क्षय आदि रोग होते हैं, उन्हें आदिबलप्रवृत्त[1] (कुलज) कहते हैं। इनके स्वभावतः दो भेद होते हैं—शुक्रज अथवा पितृजन्य तथा शोणितज या मातृजन्य।

रोग परीक्षा में—इस भेद के ज्ञान का प्रयोजन यह है कि कुलज रोग असाध्य (याप्य अथवा प्रत्याख्येय) होते हैं[2]।

(ख) जन्मबलप्रवृत्त—गर्भावस्था में माता के दुष्ट आहार-विहार से जो बच्चे जन्म से पङ्गु[3], अन्ध, बधिर, मूक[4], मिन्मिन (अनुनासिक उच्चार करने वाले), वामन[5] इत्यादि होते हैं उनके इन विकारों

१—यह उपमा महाभारत से ली है।

२—Autonomic Nervous System—ऑटोनामिक नर्वस सिस्टम।

३—विस्तार के लिए देखिये—आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान।

४—सु. सू. २४।४-७।

१—H-reditary हेरेडिटरी। आधुनिकों का कहना है कि स्वयं रोग तो नहीं परन्तु उसके प्रति प्रवणता (झुकाव) गम्यता—Diathesis—डायेथिसिस माता-पिता से बच्चे को प्राप्त होती है। एवं महाकुष्ठ-पीड़ित शिशु को जन्मते ही माता-पिता से पृथक् कर दें तो उसे रोग नहीं होता। इसके सिवाय माता-पिता का रोगोत्पादक आहार-विहार भी बच्चे में वही रोग उत्पन्न करता है, जो माता-पिता को हों

२—स्मरण कीजिये—

ये चापि केचित् कुलजा विकाराः।
भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान्॥
च० चि० ६।२७

३—Rickety—रिकेटी।

४—शायद आधुनिकों के Cretin क्रेटिन।

५—Dwarf ड्वार्फ। क्रेटिन तथा ड्वार्फ निःस्रोत-ग्रन्थियों के विकार हैं। यहां इनका निर्देश इसलिये किया है

को जन्मबलप्रवृत्ति[1] कहते हैं। इनके भी दो भेद हैं—(अ) रसकृत—अर्थात् माता के दुष्ट आहार-विहार के कारण विकृत हुए रस-धातुसे उत्पन्न रोग; (आ) दौहृदयापचार कृत—अर्थात् गर्भिणी की इच्छा की पूर्ति न होने से हुए रोग।

(ग) दोषबलप्रवृत्त—जो रोग मिथ्या आहार-विहार के कारण दोषों का प्रकोप होने से होते हैं, किंवा अन्य रोगसे उत्पन्न होते हैं; यथा—प्रतिश्यायसे कास, कास से क्षय आदि, उन्हें दोष बल-प्रवृत्त कहते हैं। इनके दो भेद हैं (अ) आमाशय में उत्पन्न हुए अर्थात् कफ-पित्त जन्य रोग, तथा (आ) पक्वाशय में उत्पन्न हुए अर्थात् वातजन्य रोग। इन दो भेदों का प्रयोजन चिकित्सा-भेद है। कफपित्तजन्य रोगों में लङ्घन आदि रूक्ष चिकित्सा और वातजन्यों में संतर्पण[2] बृंहण आदि चिकित्सा करनी चाहिये। इन्हींके पुनः दो भेद किये गये हैं - शारीर और मानस। अन्यत्र इन्हें ही निज कहा है।

(घ) संघातबलप्रवृत्त —संघात अर्थात् आघात या प्रहार से जो रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें संघातबलप्रवृत्त कहते हैं। इनके दो भेद हैं—शस्त्रकृत तथा दुष्ट-प्राणिकृत। ये आगन्तु रोगों के भेद हैं।

(ङ) कालबलप्रवृत्त—काल अर्थात् छः ऋृतुओं के कारण—अर्थात् उनकी ठण्ढी, गरमो, वायु, वर्षा, धूप आदिके कारण जो जड़ता, स्तब्धता, दाह, व्रण, ज्वर अदि रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें काल बल प्रवृत्त कहते हैं। इनके भी दो भेद हैं—(अ) स्वाभाविक ऋृतुओं में होनेवाले रोग—अर्थात् तत्-तत् ऋृतु में दोषों के ऋतुस्वभावजसंचय, प्रकोप और प्रशम से होनेवाले रोग; (आ) ऋृतुओं में किसी प्रकार के अस्वाभाविक फेरफार (व्यापत्ति) हो जाने से हुए रोग।

(च) दैवबलप्रवृत्त—देव, गुरु, गौ, ब्राह्मण, सिद्ध आदि का अपमान करने से; शाप से, अथर्ववेद में कथित अभिचार क्रियाओं से हुए रोग; तथा उपसर्ग अर्थात् रोगी पुरुष के समीप रहनेसे जो ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं वे दैवबलप्रवृत्त कहाते हैं। इनके दो भेद हैं—(अ) विद्युत् से हुए रोग तथा (आ) पिशाच आदि के किये रोग। पुनः इनके दो भेद हैं—(अ) संसर्गज - अर्थात् पापीपुरुषोंके संसर्गसे हुए रोग; तथा (आ) आकस्मिक--अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मों से हुए रोग।

(छ) स्वभावबलप्रवृत्त—क्षुधा, पिपासा, वृद्धावस्था, मृत्यु, निद्रा आदि को स्वभाव बल प्रवृत्त कहते हैं। इनके दो भेद हैं--(अ) कालज—अर्थात् जो वृद्धावस्था आदि अपने स्वाभाविक समय पर होते हैं। इनका विशेष उपाय नहीं है। (आ अकालज—अर्थात् असमय में हुए वृद्धावस्था, पलित, क्षुधा आदि।

आदिबलप्रवृत्ति आदि तीन प्रकार के रोगों को आध्यात्मिक कहते हैं। कारण, ये आत्मा अर्थात् मनसहित शरीर में विद्यमान शरीर और मानस दोषों—वात-पित्त-कफ तथा रज-तम--के कारण उत्पन्न होते हैं। संघातबलप्रवृत्त रोगों को भूत अर्थात् इतर प्राणियोंसे हुए होने के कारण आधिभौतिक कहते हैं। कालबलप्रवृत्त आदि तीन रोगोंको आधिदैविक कहते हैं।

कि कदाचित् इन रोगों में सु. शा. १०-८-७० में कहे 'कुमाराणां वपुर्मेधाबल बुद्धि विवर्धनाः' योग कुछ काम कर सकें। इस बात की परीक्षा की जाय। युगानुसार इनमें से ब्राह्मी, वचा, कुष्ठ (या अकरकरा), शङ्खपुष्पी तथा उस्तखुद्दूस आदि अन्य द्रव्य ले, घृत और मधु के साथ प्रति मात्रा में दो-चार बार सोने की अंगुठी आदि घिसकर बच्चे को दे सकते हैं।

१—Congenital— कॉन्जेनीटल।

२—Nourishment—नरिशमेण्ट

(४) प्राकृत और वैकृत रोग[1]

दोषों के संचय और प्रकोप के नियमानुसार जिस ऋतु में जिस दोष का प्रकोप और तज्जन्य रोग होने चाहिये उस ऋतु में उसी दोष का प्रकोप और तज्जन्य रोग हो तो उस दोष और रोग को प्राकृत कहते हैं ; यथा, वसन्त में प्रकुपित कफ तथा कफज रोग, शरद् में प्रकुपित पित्त तथा पितज रोग, एवं प्रावृट् (चौमासे के प्रारम्भिक दो मास) में प्रकुपित वात तथा वातज रोग प्राकृत हैं। इसके विपरीत वसन्त में पित्त या वायु का, प्रावृट् में कफ या पित्त का तथा शरद् में कफ या वायु का प्रकोप हो तो वह वैकृत है। ज्वर आदि की सुखसाध्यता, कृच्छ्रसाध्यता देखने के लिए इन संज्ञाओं का प्रयोग होता है। यथा, वसन्त और शरद् में प्राकृत ज्वर (क्रमशः अति दौर्बल्य आदि एवं तीव्र ज्वरमान आदि उद्वेजक लक्षण होते हुए भी) हो तो वह सुखसाध्य होता है[2]। इसके विपरीत वर्षाकाल में हुआ वात का प्रकोप या वातिक रोग सुखसाध्य नहीं होता[3]।

(५) अनुबन्ध्य अनुबन्धक[4]

चिकित्सा की दृष्टि से यह भेद बहुत आवश्यक है। प्रधान और स्वतन्त्र रोग को अनुबन्ध्य कहते हैं। धान रोग के पश्चात् उत्पन्न हुआ रोग, जिसका अधिक प्रसिद्ध नाम उपद्रव[5] है, अनुबन्धक कहाता है। प्रधान रोग के लक्षण व्यक्त (स्पष्ट) होते हैं। शास्त्र में उसकी उत्पत्ति के जो कारण कहे हैं उन्हीं से वह उत्पन्न होता है तथा शास्त्रोक्त चिकित्सा से ही शान्त होता है।

स्वतन्त्र रोग की उत्पत्ति का जो कारण होता है, उपद्रव की उत्पत्ति का कारण भी वही होता है। इसके लक्षण इतने स्पष्ट नहीं होते। स्वतन्त्र रोग की चिकित्सा करने से उपद्रव भी प्रायः शान्त हो जाता है। 'प्रायः' इसलिए कहा कि, कभी-कभी उपद्रव की पृथक् चिकित्सा भी करनी पड़ती है। इसे औपसर्गिक भी कहते हैं।

प्रधान रोग के 'उप' अथात् समीप 'द्रवति' जाता है, अथवा 'सृजति' पहुँचता है, अतः इसे 'उपद्रव' या 'औपसर्गिक' कहते हैं।

प्रधान रोग और उपद्रव के एक ही कारण से उत्पन्न होने में हेतु यह है कि, दोषों के कई गुण परस्पर सदृश होते हैं। दोष-प्रकोप अहिताहार-विहार से जिन गुणों का प्रकोप होता है उनमें अधिकांश जिस दोष के गुण हों उसी का प्रधानतया प्रकोप होता है और उसी दोष से स्वतन्त्र रोग उत्पन्न होता है। प्रधान दोष के साथ किंचित् समान गुणवाला अन्य रोग भी अंशतः प्रकुपित होता है। उससे उपद्रव उत्पन्न होता है। यथा, शरद् ऋतु में प्रधानतः पित्त का प्रकोप और तज्जन्य रोग होते हैं। पित्त के प्रकोप का कारण वर्षा ऋतु में हुआ अन्नपान का अम्लपाक है। यह अम्लपाक कफ को भी कुछ-कुछ प्रकुपित करता ही है। उससे कफज उपद्रव उत्पन्न होते हैं। चिकित्सा में, तिक्त द्रव्यों का सेवन प्रधान-दोष पित्त तथा तज्जन्य रोगों को नष्ट करता है। तिक्त रस कफ-विरोधी होने के कारण उसके सेवन से साथ ही कफजन्य उपद्रव भी शान्त होता है। उपचार करते हुए सावधानी यह रखनी चाहिए कि

१—मा० नि० पञ्चनिदान, श्लो० ५ पर मधुकोष।

२—देखिये—च० चि० ३।४२।

३—देखिये—च० चि० ३।८-४९।

४—च० वि० ६।१०; च० सू० १९।७; सु० च० सू० ३५।१८; च० चि० ३।१४०; माधवनिदान, पञ्चनिदान श्लो० ५ पर मधुकोष।

५—उपद्रव का अंग्रेजी पर्याय 'Complication—कॉम्प्ली केशन' प्रसिद्ध है। परन्तु इसके और प्रधान रोग के कारण अभिन्न हों यह निश्चित नहीं। अतः इसे उपद्रव का ठीक पर्याय नहीं कहा जा सकता।

प्रधान रोग की चिकित्सा इस रीति से की जाय कि उपद्रव की वृद्धि न हो।

(६) मार्गानुसार और धातुगत[1]

रोगों की साध्यासाध्यता जानने के लिये तथा चिकित्सा में भिन्नता के लिए इन भेदों का जानना आवश्यक है। प्रकुपित हुए दोष प्रसृत होकर कभी कोष्ठ (छाती और पेट के अवयवों) में स्थानसंश्रय करते हैं ; कभी शाखाओं अर्थात् रक्तादि धातु तथा त्वचा में और कभी बस्ति, हृदय आदि मर्मों एवं स्नायुओं और कण्डराओं सहित अस्थिसंधियों में। इन स्थलों को आयुर्वेद में रोगमार्ग कहा जाता है। शाखा अर्थात् धातुओं और त्वचा को बाह्यरोगमार्ग कहते हैं ; मर्मों और अस्थिसंधियों को मध्यम रोग-मार्ग तथा कोष्ठ को आभ्यन्तर रोगमार्ग कहा जाता है।

फोड़े (गण्ड)[2], पिडका (फुन्सियाँ)[3], अलजी, अपची, चर्मकील (त्वचा के मस्से), मांसार्बुद, कुष्ठ (विभिन्न त्वग्रोग), व्यङ्ग आदि त्वचा में होने-वाले तथा बाह्य रोगमार्गमें हुए विसर्प, श्वयथु (शोथ), गुल्म, अर्शस्, विद्रधि[4] आदि शाखानुसारी या धातुगत रोग कहाते हैं।

पक्षाघात, ग्रह (शरीर जकड़ जाना), अपतानक[5], अर्दित, धातुशोष, राजयक्ष्मा, अस्थिसंधिशूल, गुद-भ्रंश आदि रोग एवं शिर, हृदय और बस्ति के रोग मध्यम मार्गगत रोग कहाते हैं।

ज्वर, अतिसार, वमन, अलसक, विसूचिका, कास, श्वास, हिक्का, आनाह, उदर, प्लीहा आदि तथा आभ्यन्तर रोगमार्ग में हुए विसर्प, श्वयथु, गुल्म, अर्शस्, विद्रधि आदि रोग कोष्ठानुसारी कहाते हैं।

पिछले दो प्रकारों को मार्गानुसारी तथा प्रथम को धातुगत कहते हैं।

ये भेद चिकित्सा की भिन्नता के लिये हैं। जैसे वात की चिकित्सा करते हुए रूक्ष उपचार विरुद्ध[1] होते हैं ; परन्तु वात यदि आमाशयगत हो तो आमाशय के कफस्थान होने के कारण प्रथम लङ्घनादि रूक्षण उपा-योंका आश्रय लेना चाहिये। एवं, कफ की चिकित्सा में स्नेहन विरुद्ध है ; परन्तु, उसका प्रकोप पक्वाशय में हुआ हो तो प्रथम स्नेहन कराना चाहिए। कारण, पक्वाशय वात का स्थान होने से वह भी प्रकुपित हुआ होता है ; प्रथम उसी की चिकित्सा करनी चाहिए। इसमें नियम यह है कि, रोग जिस स्थान में हो वह जिस दोष का उत्पत्ति-स्थान हो, प्रथम उसी दोष की चिकित्सा करनी चाहिए। परन्तु यह चिकित्सा ऐसी होनी चाहिये कि उस स्थान पर आया हुआ दोष कुपित न हो जाय—

१—च. सू. १।१४८-४९ ; च. सू. १७।११२ ; माधव-निदान, पंचनिदान, श्लोक ५, मधुकोश।

२—Boils-बॉयल्स।

३—Furuncles-फरन्कल्स।

४—Abscess-एब्सेस।

५—Hysteria-हिस्टीरिया ; ग्रीक शब्द Hustera हुस्टेरा—गर्भाशय से यह शब्द व्युत्पन्न है। पहले समझा जाता था कि, हिस्टीरिया स्त्रियों को ही होता है, तथा इस का मूल गर्भाशय में है, अतः इसे यह नाम दिया गया। नवीन भारतीय लेखकों ने भी इसी ख्याल से, साथ ही इस भ्रान्ति से कि यह सभ्यता-प्रदत्त नवीन रोग है, तथा आयुर्वेद में इसका उल्लेख नहीं, इसे 'योषापस्मार' नाम दिया। परन्तु, विदित हुआ है कि, यह रोग केवल स्त्रियों को नहीं होता, अपस्मार में और इसमें बहुत भेद है तथा प्राचीन तन्त्रों में अपतानक या अपतन्त्रक नाम से इसका विवरण प्राप्त भी है, अतः इसे योषापस्मार न कहकर अपतन्त्रक ही कहना समीचीन है।

१—Contraindicated-कॉण्ट्राइंडिकेटेड।

स्थान जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधतः ॥

च. सू. १४।९ पर चक्रपाणि धृत तन्त्रान्तर वचन

दूसरा उदाहरण—विषमज्वर जैसे-जैसे जीर्ण होता जाता है, वैसे-वैसे अगली २ धातु में प्रवेश करता जाता है। वह जिस धातु में पहुँचा हो उसके अनुसार विषम ज्वर की चिकित्सा भिन्न होती है।

तिमिर, पाण्डुरोग, गुल्म और उदर रोगों में कफ प्रकुपित हो तो भी रोगी को वमन नहीं कराना चाहिए।

तीसरा उदाहरण—स्नायु और मर्मों में व्रण हुआ हो तो अग्निकर्म[1] नहीं कराना चाहिए।

रोगमार्गों के ज्ञान का अन्य प्रयोजन यह है। आयुर्वेद में चिकित्सा दो प्रकार की कही है—शमन और संशोधन। इनमें वमनादि संशोधन उत्कृष्ट है[2]। यह संशोधन करने के पूर्व दोषों को अन्य मार्गों से कोष्ठगत अपने-अपने संचयस्थान में लाना होता है[3]। इस क्रम के लिए यह जानना प्रथमावश्यक है कि रोग संप्रति किस मार्ग में है?

रोगमार्ग के ज्ञान का अन्य प्रयोजन उनकी साध्यासाध्यता[4] का ज्ञान है। रोग यदि मर्मगत न हो, तथा एक ही मार्ग में स्थित हो तो वह सुखसाध्य होता है। अन्यथा, साधारण मर्मगत हो तो कष्टसाध्य, और हृदयादि प्राणहर मर्मों में हो तो असाध्य होता है। एवं, दो मार्गों में हो तो कष्टसाध्य और सर्व मार्गों में हो तो असाध्य होता है।

(७) सामान्यज और नानात्मज

ज्वर, अतिसार, उदर आदि रोग ऐसे हैं जिनकी उत्पत्ति का कारण वात, पित्त या कफ में किसीका भी प्रकोप हो सकता है, परन्तु, कई विकार ऐसे हैं जिनका कारण अमुक ही दोष हो सकता है। यथा, ऊष्मा की अधिकता, दाह, अम्लोद्गार, शरीर की पीतता, अत्यग्नि आदि रोग पित्त के ही कोप से होने संभव हैं। अतिनिद्रा, मुख-माधुर्य, श्लेष्मा का स्राव, गौरव आदि विकार कफ के ही प्रकोप से होते हैं। एवं, कम्प, संकोच, आक्षेप, आयाम, शूल आदि रोग वायु की ही वृद्धि से हो सकते हैं। इस प्रकार के रोगों को नानात्मज कहते हैं। ये रोग अत्यधिक होते हुए भी शास्त्र में उदाहरणत्वेन वातनानात्मज ८०, पित्तनानात्मज ४० और कफनानात्मज २० रोग गिनाये गये हैं[1]।

ज्वर, अतिसार आदि प्रथम प्रकार के रोग, जो किसी भी दोष के प्रकोपवश हो सकते हैं, सामान्यज कहलाते हैं।

(८) कर्मज और दोषज

प्रकारान्तर से भेद करते हुए रोगों के तीन भेद किये गये हैं—कर्मज, दोषज तथा कर्मदोषज। इनमें कर्मज रोग प्रसिद्ध चिकित्सा से शान्त नहीं होते। उनकी शान्ति पूर्वकृत कर्म के फलोपभोग द्वारा किंवा प्रायश्चित्त, जप, होम, उपहार आदि द्वारा क्षय होने पर होती है। दोषज रोगों की शान्ति दोषों का साम्य होने पर होती है। कर्म और दोष दोनों से उत्पन्न हुए रोगों का उत्पादक दोष अल्प होते हुए भी कष्ट अधिक होता है; अथवा, दोष अधिक हो तो भी वे मृदु (अल्पकष्टकारी) होते हैं। इन रोगों की

१—Cauterization—कॉटराइज़ेशन।

२—देखियें—च० सू० १६।२०-२१।

३—देखिये—च० नि० ८।३८-३९; अ० हृ० सू० १७।२९।

४—Prognosis—प्रॉग्नोसिस।

१—चरक की अपेक्षया शार्ङ्गधरके गिनाये नानात्मज रोग अधिक प्रत्यक्ष हैं, यद्यपि संख्या दोनोंमें तीनों प्रकारके रोगों की समान हो दो गयी है।

शान्ति कर्म और दोष दोनों का क्षय होने पर होती है[1]।

आयुर्वेद में आत्माके स्वीकारका कारण आत्मा-धिष्ठित लिङ्गशरीर द्वारा रोगोत्पादक कर्म इत्यादि का नवीन शरीर में अवतरण है।

(६) साम और निराम

यह भेद भी चिकित्साकी भिन्नताके लिए है। दोष आमयुक्त हो तो उसे तथा तज्जन्य रोगको साम (अपक्व) एवं आमरहित हो तो इन दोनोंको निराम या पक्व कहते हैं। प्रतिश्याय आदि रोगोंमें ये दोनों भेद लोक-विदित हैं। साम दोषोंके सामान्य लक्षण ये हैं—स्रोतोंका अवरोध, बलक्षय, गौरव, वायुकी मूढता (अप्रवृत्ति), आलस्य, अजीर्ण, प्रसेक (लाला तथा कफका स्राव), पुरीष की भिन्नता (मल फटा हुआ होना), अरुचि, क्लम (अनायास श्रम)। इनके विपरीत दोष निराम हों तो स्रोतोंका उद्घाटन, बल, उत्साह आदि लक्षण होते हैं[2]।

दोषोंका सामत्व-निरामत्व देखकर अपतर्पण (लङ्घन) या संतर्पण (बृंहण)[3] किस प्रकारकी चिकित्सा करना इसका निर्णय होता है।

दशविध परीक्षा

आयुर्वेदमें रोग-परीक्षा करते हुए नीचे लिखी दस वस्तुओंकी परीक्षा करनी होती है--प्रकृति, विकार, सार, संहनन, प्रमाण, सात्म्य, सत्त्व, आहार-शक्ति, व्यायामशक्ति और वय[1]। इनकी परीक्षासे निदान शुद्ध होता है, रोगीके बलका ज्ञान होता है तथा निदानकी शुद्धिसे चिकित्सा भी शुद्ध होती है। इनका पृथक् विचार करते हैं।

(१) प्रकृति[2]

प्रकृति की परीक्षा की आवश्यकता इसलिए है कि, किसी पुरुष की जो प्रकृति होती है उसका आरम्भक (कारणभूत) दोष अल्पमात्र कारण[3] पा कर विशेष कुपित होता है। परिणामतया, उस दोष के रोग ही उसे विशेष पीडित करते हैं। यथा, कास-श्वास का अधिष्ठान उरस् है। यह कफ और वात का स्थान है। अतः सामान्यतः कास-श्वास कफ-वात की वृद्धि से ही होते हैं और उष्ण आहारौषध, वमन, लङ्घन आदि से शान्त होते हैं। परन्तु ये यदि पित्त-प्रकृति पुरुष में हों तो उनमें कारण पित्त तो नहीं है, इस बात की गवेषणा करनी चाहिए। उरस् कफ का स्थान होने से इन पुरुषों में यत्किञ्चित् कफ का भी अनुबन्ध (साहचर्य) होता ही है[4]; अतः इतर

१—देखिये—सु० उ० ४०।१६३-१६६।

२—देखिये—अ० हृ० सू० १३।२३—२७ वहीं साम-निराम दोषोंके पृथक् लक्षण भी देखें। अथवा—माधवनिदान, पञ्चनिदान, श्लोक ५ पर मधुकोश देखें।

३—लङ्घन-बृंहण, रूक्षण-स्नेहन, स्वेदन-स्तम्भन चिकित्सा के ये छः भेद (देखिये—च० सू० २२।३-४) होते हुए भी संक्षेपमें इन्हींको दो भागोंमें बाँटा गया है—लङ्घन और बृंहण (देखिये—अ० हृ० सू० १४।१—४)।

१—देखिये सु० सू० ३५।३—४६; च० चि० ३०। २९१—३२६; च० सि० ३।६; च० सू० १५।५; च० वि० ८। ९२--१२३; अ० हृ० सू० १२।६७—६८।

२—देखिये—च० वि० ८।९५; सु० शा० ४।६२—९९॥

३—प्रकोपक कारण; Exciting cause—इक्साइटिंग कॉज़। आयुर्वेदीय तथा अंग्रेजी शब्दों में अर्थ-साम्य देखने योग्य है। डाक्टरी में इतर कारण को Predisposing cause—प्रीडिस्पोज़िङ्ग कॉज़ कहते हैं।

४—आधुनिक मतानुसार इसका अर्थ यह है कि, इस स्थान पर श्लेष्म-ग्रन्थियां (Mucous-glands—म्यूकस ग्लैण्ड्स होती हैं। रोग-निवृत्ति के लिए इस स्थान पर

रोगियों के समान[1] इन्हें भी उष्ण औषध दी जायगी तो क्षणिक लाभ करेगी; परन्तु स्थायी लाभ तो पित्त को लक्ष्य बना कर की गयी चिकित्सा से ही होगा। आहार में भी दूध आदि शीत द्रव्य ही ऐसे रोगियों को देने चाहिए[2]।

(२) विकृति अथवा रोग[3]

रोग की परीक्षा में इन बातों की परीक्षा करे—हेतु या कारण (निदान), दोष, दूष्य, धातु या मल, प्रकृति, देश, काल, बल रोग के लक्षण; रोग की साध्यता या असाध्यता या याप्यता; रोग स्वतन्त्र है, उपद्रव है या पूर्वरूप है। थोड़े में इनका विचार किया जाता है।

(क) हेतु, कारण या निदान—रोग की उत्पत्ति के प्रज्ञापराधादि विभिन्न कारणों का उल्लेख आगे करेंगे।

(ख) दोष[4]— आयुर्वेद में प्रत्येक निज रोग का कारण वात-पित्त-कफ को कहा है। एक, दो या तीनों दोष प्रकुपित होकर रोग की उत्पत्ति कर सकते हैं। रोगजनक दोष एक या दो हों तो भी अन्य दोष का अनुबन्ध रहता ही है। रोगपरीक्षा करते हुए दोष के विषय में देखना पड़ता है कि, कौन कुपित है, कौन क्षीण है, कौन सम है; एवं उनका अंशांश-विकल्प[1]—अर्थात् दोषों के विभिन्न गुणों में किस का प्रकोप है, कौन क्षीण है तथा कौन सम है; उनका स्थानसंश्रय अर्थात् वे शरीर के ऊर्ध्व भाग में हैं, अधोभाग में हैं या मध्य में हैं; तथा किस मार्ग में हैं शाखा (रक्तादि धातु और त्वचा) में हैं, कोष्ठ में हैं या मर्मास्थिसंधियों में हैं; काल, प्रकृति, दूष्य, देश और सात्म्य रोगारम्भक दोष के अनुकूल (उसका प्रकोपक) है या प्रतिकूल; दोष साम है या निराम—इन बातों का विचार करना चाहिए।

इन में अंशांश विकल्पका प्रयोजन यह है कि औषधोपचार में दोष के कुपित गुणों के ही साम्यकी योजना की जाय।

(ग) दूष्य—दोष अपने-अपने गुणों से स्रोतों, धातुओं और मलों को दूषित करके रोग उत्पन्न करते हैं। इस कारण धातुओं और मलों को दूष्य कहते हैं। बात उनमें (नव्यमतानुसार कहें तो स्रोतों और धातुओं के बनानेवाले कोषों में तथा मलों में) कृशता[2], सङ्कोच, स्तम्भ[3] आदि उत्पन्न करता है; पित्त अतिशय पाक, दाह आदि करके उन्हें क्षीण करता है, तथा कफ (अति पोषण द्वारा) मार्गों को अवरुद्ध करके उन्हें विकृत करता है[4]। दूष्य दोष के अनुकूल हो तो (यथा, पित्तदूषित रक्त में) रोग का बल अधिक होता है।

अधिक प्रमाण में रस-रक्त का आयात होता है तो प्रकृत्या ये ग्रन्थियाँ इस सामग्री का अधिक उपयोग करके अधिक कफोत्पत्ति करती हैं।

१—Stereotyped—स्टीरिओटाइप्ड।

२—प्रकृतियों के लक्षण जानने के लिए देखिये 'शरीर-क्रिया-विज्ञान'।

३—देखिये—च० वि० ८।१०१; सु० सू० ३५।१८; च० सू० १५।५

४—च० वि० ८।१०१; सु० सू० ३५।१९; माधव-निदान, पञ्चनिदान, श्लोक ५ मधुकोश।

१—अंश=गुण, विकल्प=विचारणा। दोषों के एक, दो, तीन अनेक अथवा सब ही गुण कुपित हो सकते हैं—इस विषय में प्रमाण देखिये—सु० सू० २१।३८।

२—Atrophy-एट्रॉफी। ३—Spasm-स्पैज्म (अनैच्छिक मांस में); Contraction-कॉण्ट्रेक्शन (ऐच्छिक पेशियों में)।

४—देखिये सु० सू० १५।३६ तथा उसपर डह्लन टीका।

(घ) प्रकृति—इसका निर्देश ऊपर किया है।

(ङ) देश[1]—देश के दो अर्थ हैं—भूमि तथा रोगी। भूमि का विचार रोग-परीक्षा में इसलिए किया जाता है कि, जिस भूमि में रोगी उत्पन्न हुआ, बड़ा हुआ किंवा रोग-पीडित हुआ वहाँ के निवासियों का आहार-विहार, बल, सत्त्व, सात्म्य, दोष, भक्ति (रुचि), रोग, वहाँ के हिताहित द्रव्यादिका स्मरण होने से रोग-परीक्षा तथा चिकित्सा में सुगमता होती है। भूमि के आनूप, जाङ्गल और साधारण इन तीन भेदों से भी मुख्य दोष की कल्पना में सहायता होती है। यथा, आनूप भूमि में कफ, वात और कृमि के रोग अधिक होते हैं तथा जाङ्गल में वात और पित्त के। साधारण भूमि में दोषों का साम्य रहता है; अतः वह भूमि स्वास्थ्य के लिए उत्तम है। भूमि यदि दोष के अनुकूल हो तो रोग का बल अधिक होता है। यथा, कफप्रधान श्वास या यक्ष्मा का रोगी आनूप देश में हो तो रोग का बल अधिक होता है। अतः उसे स्थानत्याग (जलवायु परिवर्तन)[2] की सलाह दी जाती है।

देश का दूसरा अर्थ रोगी है। उसकी परीक्षा में अन्य बातों के साथ यह विशेषतः देखना चाहिये कि वह किस कल्प के रूप में (चूर्ण, द्रव, गोली आदि) और कितने प्रमाण में औषध सहन कर सकता है, उसमें दोष का प्रमाण कितना है और उसके विचार से कितनी मात्रा में उसे औषध दी जाय ? साथ ही यह भी देखें कि वह स्थूल, कृश या मध्य कैसे शरीर वाला है। स्थूल पुरुषों को रोग अधिक पीडित करते हैं।

(च) काल[1]— कालके दो अर्थ हैं—(१) ऋतु आदि वर्षके विभाग तथा (२) रोगकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ। ऋतु या दिन-रातके विभाग जानने-का प्रयोजन दोषोंका कालसुलभ प्रकोप, क्षय या साम्य जाननेके लिए है। रोगकी सामता-निरामता तरुणता-जीर्णता आदि अमुक दिवसोंमें पूर्ण होती है। उनकी गणनासे रोगकी अवस्था जान सकते हैं। वय भी कालका ही भेद है। परन्तु उसका पृथक् विस्तार किया गया है।

ऋतु यदि रोगारम्भक दोष के अनुकूल हो तो रोगका बल अधिक होता है।

(छ) बल[2]—पुरुषके बलकी परीक्षा बहुत आवश्यक है। यथा, क्षय आदि रोगोंमें बल और मांस[3] अत्यन्त क्षीण हो गये हों तो रोगी के बचने की आशा नहीं रहती। बल हो तो रोगी रोगका प्रतीकार कर सकता है और औषधकी मात्रा और शक्तिको सहन कर सकता है।

यह बल तीन प्रकारका है—(१) सहज या जन्मजात; यह माता-पिताका बलवान् होना आदि कारणोंसे होता है। (२) कालज—हेमन्त आदिमें और यौवनमें बल उत्तम होता है। (३) युक्तिकृत या कृत्रिम उत्तम आहार, व्यायाम आदिसे होता है।

१—देखिये—च० वि० ८।९२-९४ ; च० क० १।८ ; सु० सू० ३५।३३-३४ ; ४२ ; देश=जन्मस्थान ; देखिये च० चि० ३०।३१५—३२०।

२—स्थानत्याग शब्द इस अर्थ में प्राचीन है। देखिये सु० सू० ६।२०।

१—देखिये च० वि० १।३ ; च० वि० ।१२५, १२८; च० सू० १५।५।

२—च० सू० १५।५; च० सू० ११।३४, ३६; सु० सू० ३५।३५; च० शा० ६।१३ (बलवृद्धिकर बातें); च० चि० ३। १६७ (बलके कारण रोगका प्रतीकार)।

३—मांसक्षय का विचार सम्प्रति भारकी न्यूनता के रूपमें किया जाता है।

बलका प्रधान कारण ओज है। (युक्तिकृत बलका कुछ साम्य आधुनिकों की कृत्रिम क्षमता[1] से किया जा सकता है। यह रोग-विशेषका प्रादुर्भाव होनेपर शरीरमें उस रोग के विरुद्ध स्वयं उत्पन्न होती है, किंवा रोग-विरोधी द्रव्यों की सूची बस्ति द्वारा प्रविष्ट की जा सकती है। सहजका कुछ साम्य जन्मजात क्षमता के साथ देखा जा सकता है।)

दुर्बलता कइयोंमें जन्मसे होती है, रोगादिसे धातुक्षीणतासे होती है तथा वृद्धावस्था आदिसे होती है।

रोग-संबन्धी अन्य बातें यथा, लक्षण, साध्यता आदि तथा उनके उपद्रवादिका विवरण आगे यथा-प्रकरण होगा।

(३) सार[२]

किसी धातु अथवा मन या अन्य धातुओं की अपेक्षया विशेष पोषण हुआ हो तो उसे उसका सार कहते हैं। इसकी परीक्षा से रोगादि का निर्णय होता है। यथा, रक्तसार पुरुषों में[3] रक्त तथा पित्तके प्रकोप से होनेवाले रोग---रक्तप्रदर, गर्भाशयपाक[4], 'कोठे रतवा,'[5] रक्तमेह आदि रोग अधिक पाये जाते हैं। बल तथा मांसको बहुत क्षय देखकर राजयक्ष्मा, वातरोगादिमें असाध्यता की कल्पना की जाती है। सत्त्वसारहीन[6] छोटे रोगमें भी घबरा जाते हैं, कभी अशुद्ध वृत्तान्त भी देते हैं। भूलसे उनके रोगको बड़ा न समझ लेना चाहिये। इसके विपरीत सत्त्वसार पुरुष गम्भीर रोगको भी शान्तिसे सहन करते हैं। इससे कभी-कभी उनके रोग की गम्भीरता का खयाल न आनेसे चिकित्सा शुद्ध नहीं होती।

१—Acquired immunity—एक्वायर्ड इम्युनिटी।

२—देखिये—च० वि० ८।१०२—११५; सु० सू० ३५।१६।

३—Plethoric—प्लेथोरिक। Plethora—प्लेथोरामें रक्तकणोंका प्रमाण जन्मतः सामान्यसे अधिक होता है।

४—Endometrititis—एण्डोमेट्राइटिस।

५—गुजराती शब्द है। इसका अर्थ गर्भाशयमें विसर्प या व्रणता है, जिसके कारण बार-बार गर्भस्राव, मृत बच्चे होना या विसर्पाक्रान्त और पीछे से मर जाने वाले बच्चे होना समझा जाता है।

६—देखिए—च० वि० ७।३।७।

(४) संहनन[1]

शरीरका घटन (गढ़न)[2] दृढ़ हो, सम (सुविभक्त,)[3] हो तथा सुबद्ध हो तो इसे संहनन कहते हैं। संहत शरीरवाले बलवान् होते हैं।

(५) प्रमाण[4]

शास्त्र में प्रत्येक अवयव तथा समस्त शरीर का योग्य प्रमाण बताया है। अवयवों की पुष्टि तदनुसार हुई हो तो शरीर बली और चिरायु होता है। यकृत, प्लीहा, हृदय आदि का प्रमाण परीक्षा में विशेष रूप से देखा जाता है। प्लीहा आदि की स्थानभ्रष्टता का भी विचार किया जाता है।

(६) सात्म्य[5]

पुरुष जिस आहार-विहार, देश आदि का सदा सेवन करता हो, अतः जो उसे अनुकूल हो गया हो उसे उसका सात्म्य (या ओक-सात्म्य[6]) कहते हैं। जो पुरुष घी, दूध, तैल, मांसरस एवं छहों रसों का सेवन करते हैं वे बलवान् होते हैं, रोग के वेग को भी सहन कर सकते हैं तथा चिरायु होते हैं। इसके

१—देखिये—च० वि० ८।११६; सु० सू० ३५।५-६।

२—गुजराती में—बांधो।

३—Symmetrical—सिमिट्रिकल।

४—देखिये—च० वि० ८।११७; सु० सू० ३५।१२।

५—देखिये—च० वि० ८।११८; च० वि० १।२३; सु० सू० ३५।३९-४०।

६—ओक=अभ्यास।

विपरीत जो रूखा-सूखा ही खाते हैं अथवा एक रस का ही सेवन करते हैं वे प्रायः हीन बल वाले होते तथा रोग के आक्रमण को सहने की शक्ति उनमें अल्प होती है। अतः सात्म्य-परीक्षा की जाती है।

(७) सत्त्व या मन[1]

सत्त्व गुण की अधिकता हो तो मन बली और सहिष्णु होता है। ऐसे मन वाले पुरुषों का शरीर दुर्बल हो तो भी विकराल रोगों में भी वे शान्त रहते हैं[2]। रजोगुणी अन्य लोगों द्वारा धीरज बँधाये जाने पर कष्ट सहन करते हैं। तमोगुण-प्रधान पुरुष सर्वथा सहनशीलता-रहित होते हैं। छोटे भी रोग को वे बड़ा भारी रूप दे देते हैं।

(८) आहारशक्ति या अग्नि[3]

आहार की मात्रा तथा पाचन शक्ति को देख कर अग्नि का अनुमान होता है। अग्नि चार प्रकार का है—(१) कफावृत या मन्द; यह आमाजीर्ण का कारण है। (२) पित्तावृत या तीक्ष्ण; यह अत्यग्नि का कारण है। (३) वातावृत या विषम यह विष्टब्धाजीर्ण का कारण है। (४) सम[4]। रुचि, अरुचि तथा अन्न पर प्रीति-अप्रीति का विचार विभिन्न रोगों का बल या साध्यासाध्यता देखने में होता है। इस विषय में यह सूत्र सदा ध्यान में रखना चाहिये—

अर्धरोगहरी निद्रा सर्वरोगहरी क्षुधा ॥

१—देखिये—च० वि० ८।११९ ; च० चि० ७३-७; सु० सू० ३५।३७-३८।

२—अंग्रेजी में इसी गुण को Stamina- स्टेमीना कहते हैं।

३—देखिये—च० वि० ८।१२० ; सु० सू० ३५।२४—२८

४—इन अग्नियों के लक्षण जानने के लिए 'क्रियाशारीर' आदि ग्रन्थ देखिये।

(९) व्यायाम शक्ति या कर्म शक्ति[1]

इससे तीन प्रकार के बल का अनुमान होता है।

(१०) वय[2]

युवा पुरुष रोग के आक्रमण तथा औषध के बल को बालक और वृद्ध की अपेक्षया अधिक सहन कर सकते हैं। वय की परीक्षा का एक कारण यह भी है कि, भिन्न-भिन्न वय में भिन्न-भिन्न दोष प्रबल होते हैं। राजयक्ष्मा, दुष्टार्बुद[3] आदि रोगों के लिए आधुनिकों ने अमुक-अमुक वय अनुकूलतम कही है।

औषध[4]

इन दस के सिवाय औषध की भी परीक्षा करनी चाहिये कि, वह परिपक्व रसवीर्यादि-युक्त है या नहीं; जो कार्य हम उससे लिया चाहते हैं वह करने की उसमें शक्ति है या नहीं; रोगी को उसका कौन-सा कल्प (उसकी रुचि को देखते हुए) देना उपयुक्त होगा; अन्य किन द्रव्यों का उसके साथ (उसकी गुण-वृद्धि के लिए किंवा अवगुण के परिहार के लिए) संयोग करना चाहिए? इत्यादि।

इन दस या ग्यारह वस्तुओं का संग्रह लघु वाग्भट ने निम्न पद्य में किया है—

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्त्वं सात्म्यं तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः॥
सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्॥

अ० हृ० सू० १२।६७-६८

(क्रमशः)

१—देखिये—च० वि० ८।१२१।

२—देखिये—च० वि० १२८ ; सु० सू० ३५।२९-३२।

३—Cancer-कैन्सर ; या Carcinoma-कार्सीनोमा।

४—देखिये—च० सू० १५।५।

हृदय की श्रवण-परीक्षा

(गत दिसम्बर-अङ्क से आगे)

वैद्य रामशिरोमणि द्विवेदी, आयुर्वेदाचार्य

हार्दिक शब्दों में परिवर्तन और वैशिष्ट्य

यद्यपि इस विषय का कुछ दिग्दर्शन पहिले कराया जा चुका है तथापि विषयकी गम्भीरता को देख कर विस्तृत वर्णन पाठकों की सुविधा के लिये किया जा रहा है।

हृदय-कोण—हृदय के कोण पर वाम मध्यस्थ कपाट का ही शब्द अधिक और स्पष्ट सुना जाता है। इस शब्द की उत्पत्ति को ध्यान में रखने से यह समझना कठिन नहीं कि हृत्कपाटों के विकृत होने से हृदय के संकोचीय शब्द में परिवर्तन हो जाता है। वाम मध्यस्थ कपाट के अधोनिर्दिष्ट परिवर्तन हृत्कोण पर सुने जाते हैं—

१—उच्च शब्द, २—द्वित्व शब्द, ३—मन्द अथवा लुप्त शब्द, ४—मर्मर शब्द।

१—उच्चशब्द—संकोचीय शब्द यदि अधिक उच्च सुनाई दे तो वाम मध्यस्थ कपाट का संकोच समझना चाहिये। ज्वर तथा श्रम आदि में संकोचीय शब्द अपेक्षाकृत कुछ उच्च सुना जाता है।

संकोचीय शब्द पहले की अपेक्षा लघु तथा तीव्र हो जाता है, कदाचित् इतना लघु हो जाता है कि विकासीय शब्द के समान भी सुना जाता है। यह अवस्था हृदय की मांसपेशियों के शोथ, दौर्बल्य, शनैः-शनैः क्षीण होने तथा अधोगति (Degeneration) के कारण होती है।

२—द्वित्व शब्द—वाम मध्यस्थ कपाट के दक्षिण की अपेक्षा पहले बन्द होने से उत्पन्न होते हैं। ये शब्द कदाचित् साधारण कारण से भी हो जाते हैं, और कदाचित् भयानक दशा उत्पन्न करते हैं।

३—मन्द अथवा लुप्त शब्द—हृदयधरा कला में जलसंचय, हृदय की क्षीणता, वक्ष की स्थूलता आदि कारणों से शब्द मन्द सुनाई देता है अथवा लुप्त हो जाता है।

४—मर्मर शब्द—वाम मध्यस्थ कपाट का पूर्ण बन्द न होना, संकोच, रक्ताल्पता, निलय का आयाम, हृदय की मांसपेशियों की दुर्बलता आदि कारणों से मर्मर शब्द सुना जाता है।

हृत्कोणपर विकासीय शब्द

विकासीय शब्द का परिवर्तन संकोचीय शब्द की अपेक्षा अस्पष्ट सुनाई देता है, कारण, यह शब्द वृहद्धमनी और फुफ्फुसाभिगाधमनी के कपाटों के बन्द होनेसे उत्पन्न होता है।

१—उच्च शब्द—धमनीप्रतिचय में सुनाई देते हैं।

२—द्वित्व शब्द—दोनों धमनियों के कपाटों के एक साथ न बन्द होने से द्वित्व शब्द सुने जाते हैं।

३—मर्मर शब्द—कदाचित् धमनी के कपाटों की विकृति अथवा वाम मध्यस्थ कपाटों की संकीर्णता से मर्मर शब्द भी सुने जाते हैं।

हृत्कोण पर शब्दों में वैषम्य—हृदय के शब्दों का अन्तर असमान हो जाता है। कदाचित् हृदय तीव्रता से, कदाचित् मन्द गति करता है। और कदाचित् शब्द बीच में ही लुप्त हो जाता है। यह

दशा किसी कारण-विशेष के बिना भी देखी जाती है, किन्तु अशुभ-सूचक ही है। यदि कदाचित् संकोचीय और विकासीय शब्दों का अन्तर समान हो जाय तो अरिष्ट समझें।

दक्षिण मध्यस्थ कपाट—दक्षिण मध्यस्थ कपाट के संकोचीय शब्द उर:फलक के अधोभाग में सुने जाते हैं। इसमें भी उच्च शब्द, द्वित्व शब्द, मन्द अथवा लुप्त शब्द और मर्मर शब्द उत्पन्न होते हैं। तथा कारण वे ही होते हैं जो वाम मध्यस्थ कपाट में लिखे जा चुके हैं।

बृहद्धमनी कपाट—बृहद्धमनी के कपाटस्थान पर विकासीय शब्द ही स्पष्ट सुनाई देते हैं, और इनमें १—उच्च शब्द, २—द्वित्व शब्द, ३—लुप्त शब्द, ४—मर्मर शब्द होते हैं।

१—उच्च शब्द—यह शब्द धमनी प्रतिचय में उत्पन्न होता है।

२—द्वित्व शब्द—द्वित्व शब्द बृहद्धमनी कपाट के पूर्व बन्द होने से उत्पन्न होता है। इस शब्द की उत्पत्ति धमनी-प्रतिचय में देखी जाती है।

३—लुप्तशब्द—बृहद्धमनी के कपाटों के नष्ट हो जाने अथवा बृहद्धमनी में शोथ होने के कारण कपाटों के बहुत ही शान्तिपूर्वक बन्द होने से शब्द लुप्त हो जाते हैं।

४—मर्मर शब्द—विकासीय शब्द के साथ तथा उसके अनन्तर भी मर्मर शब्द सुना जाता है।

बृहद्धमनी के कपाट स्थान पर संकोचीय शब्द में परिवर्तन वैसे ही होते हैं जैसे हृदय-कोण पर, किन्तु उतने स्पष्ट नहीं प्रतीत होते।

फुफ्फुसाभिगा धमनी कपाट—फुफ्फुसाभिगा धमनी के कपाट-स्थान पर विकासीय शब्द ही स्पष्ट सुने जाते हैं और वे भी फुफ्फुसाभिगा धमनी कपाट के। इनमें परिवर्तन भी होते हैं जिनका वर्णन बृहद्धमनी कपाट के प्रसंग में किया गया है।

१. उच्च शब्द—उच्चशब्द कदाचित् ही उत्पन्न होता है; यदि उत्पन्न हो तो फुफ्फुसाभिगा धमनी अथवा दक्षिण निलय का प्रतिचय समझें।

२. द्वित्व शब्द—द्वित्वशब्द फुफ्फुसाभिगा धमनी के कपाटों के पूर्व बन्द होने से उत्पन्न होता है।

३. लुप्त शब्द—फुफ्फुसाभिगा धमनी के कपाटों का दौर्बल्य अथवा उसके मूल भाग का आयाम होने से शब्द लुप्त हो जाता है।

४. मर्मर शब्द—मर्मर शब्द उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे बृहद्धमनी कपाट प्रकरण में लिखा गया है।

घर्षण शब्द

इन शब्दों के सिवाय हृदय-धरा कलाओं में शोथ उत्पन्न होने पर अवलम्बक श्लेष्मा के अभाव से कलायें खुरदरी होकर हृदय के संकोच-विकास-काल में परस्पर घर्षित होती हैं और उनसे घर्षणशब्द उत्पन्न होता है। तथा कदाचित् हृदय-धरा कला और फुफ्फुस-धरा-कलाओं के परस्पर घर्षित होने से भी घर्षण शब्द उत्पन्न होता है, जिसकी उत्पत्ति हृदय के संकोच-कालमें फुफ्फुस-धरा-कलाओं के हृदय के कोण पर लगने से होती है।

घर्षण शब्द हृद्गति चक्र (लुब्-डप्) में दो बार देखा जाता है। प्रथम शब्द हृदय की संकुचित अवस्था के आरम्भ में और द्वितीय शब्द हृदय की विकसित अवस्था के आरम्भ में सुना जाता है।

यदि यह शंका हो कि घर्षणशब्द हृदयधरा-कलाओं का है अथवा फुफ्फुस-धरा-कलाओं का; तो रोगी को श्वास बन्द करने को कहें। इस प्रकार श्वास बन्द करने से फुफ्फुसों का कार्य बन्द होने के कारण फुफ्फु-

सधरा कलाओं की विकृति से उत्पन्न घर्षण शब्द नहीं सुनाई देगा तथा हृदय का कार्य होते रहने से हृदय-धरा-कलाओं का शब्द श्वास बन्द करने पर भी सुनाई पड़ेगा।

हृदय के घर्षण तथा मर्मर शब्द लगभग मिलते-जुलते होते हैं अतः उनके कुछ व्यवच्छेदक लक्षण नीचे दिये जाते हैं।—

घर्षण शब्द

१. यह शब्द हृदय के एक चक्र में दो बार सुनाई देता है।

२. घर्षण शब्द हृदय प्रदेश में ही सुनाई देते हैं; इतस्ततः संचरित नहीं होते।

३. घर्षण शब्द में हृदयधरा तथा फुफ्फुस-धरा-कलाओं के परस्पर घर्षित होने से शूल होता रहता है।

मर्मर शब्द

१. यह शब्द हृदय के एक चक्र में एक ही बार सुना जाता है।

२. मर्मर शब्द हृदय से कुछ दूरी तक एक विशेष रेखा में सुनाई देते हैं और मर्मर के स्थान पर (जिस कपाट की विकृति हो) अधिक स्पष्ट होते हैं।

३. इसमें किसी प्रकार का शूल नहीं होता।

मर्मर शब्द

मर्मर शब्द एक विशेष प्रकार के शब्द का बोधक है, जो शुष्क पत्र अथवा वस्त्र[1] के हिलाने से तथा किसी द्रव पदार्थ के संकीर्ण मार्ग अथवा किसी खर-वस्तु के स्पर्श करने पर उत्पन्न शब्द के समान होता है।

मर्मर शब्द हृत्कपाटों की विकृति, अथवा रक्त के कम होने या हृदय की पेशियों के दौर्बल्य से उत्पन्न होते हैं।

मर्मर शब्द के भेद

संक्षेप में ऐन्द्रियक मर्मर और व्यापारिक मर्मर भेद से मर्मर के दो प्रकार किये जाते हैं।

ऐन्द्रियक मर्मर—जो मर्मर शब्द कपाटों में स्थायी विकृति होने के कारण उत्पन्न होते हैं उन्हें ऐन्द्रियक मर्मर कहा जाता है।

व्यापारिक मर्मर—जो ममर शब्द कपाटों की शिथिलता, मांस पेशियों का दौर्बल्य, रक्ताल्पता आदि कारणों से उत्पन्न होते हैं और इन रोगों के शान्त हो जाने पर ठीक हो जाते हैं उन्हें व्यापारिक मर्मर नाम दिया जाता है।

व्यापारिक और ऐन्द्रियक मर्मर के व्यवच्छेदक लक्षण

व्यापारिक मर्मर	ऐन्द्रियक मर्मर
१—हृदय के संकोच काल में ही इसकी उत्पति होती है।	१—इसकी उत्पत्ति हृदय के संकोच अथवा विकास किसी भी काल में हो सकती है।
२—यह मर्मर प्रायः वाम भागके ऊर्ध्व प्रदेश में फुफ्फुसाभिगाधमनी के कपाट स्थान पर अधिक स्पष्ट सुना जाता है, इससे कम हृत्कोणपर, इससे भी कम वक्ष के अधोखण्ड पर, सब से कम बृहद्धमनी के कपाट स्थान पर सुना जाता है।	२—जो कपाटविकृत होता है उसके स्थान पर यह शब्द अधिक स्पष्ट सुना जाता है। फुफ्फुसाभिगाधमनी के कपाट कदाचित् ही विकृत होते हैं।
३—यह केवल हृदय प्रदेशपरही सुना जाता है, दूर नहीं, हाँ, हृदय संलग्न धमनियोंमें कुछ दूर तक अवश्य सुना जाता है।	३—यह रुग्णस्थान से कुछ दूरी तक सुनाई देता है।

१—भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः। कालिदास। अथमर्मरः। स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्। अमरकोष।

४—विकारों के शान्त होने पर शान्त हो जाता है।

५—इसका स्वरूप मृदु, फूत्कारवत् होता है।

६—इस मर्मर से हृदय में कोई विशिष्ट परिवर्तन नहीं होता।

ऐन्द्रियक मर्मर

ऐन्द्रियक मर्मर संक्षेप में अवरोध और प्रत्यागमन दो कारणों से उत्पन्न होता है।

अवरोधज—मार्गके संकीर्ण होने से रसरक्तादि के निकलने में अवरोध होने के कारण अवरोधज मर्मर उत्पन्न होता है।

प्रत्यागमनज—रसरक्तादि के परावर्तित होने से प्रत्यागमनज मर्मर शब्द उत्पन्न होता है।

अवरोधज तथा प्रत्यागमनज मर्मर शब्द हृदय के कपाटों की ही विकृति के कारण उत्पन्न होते हैं, हृदय कपाट हृदय की रक्तधरा कला से ही बनते हैं। आमवात सदृश रोगों में हृदय की रक्तधरा कलामें शोथ उत्पन्न होकर व्रण बन जाते हैं, यह शोथ अधिकतर हृदय के कपाटों में ही होता है। परिणामतः कपाटों के टुकड़े झड़ जाते हैं और वह स्थान हृदय के संकोच और विकास दोनों काल में कपाटों के बराबर बन्द न होने से खुला ही रहता है। यदि कपाट बन्द भी होते हैं तो मध्यमें अवकाश होने से रक्त परावर्तित होता रहता है, इस तरह प्रत्यागमनज मर्मर शब्द उत्पन्न होता है।

कदाचित् आमवातादि रोगों में शोथ और व्रण के कारण कपाटों के किनारे मूल पर जुड़ जाते हैं और बराबर खुलते नहीं। इस प्रकार मार्गके संकुचित हो जाने से रक्त के निकलने में रुकावट उत्पन्न होती है और अवरोधज मर्मर शब्द उत्पन्न होने लगता है।

४—यह स्थायी होता है।

५—यह अनेक प्रकारका होता है; कदाचित् मृदु, कदाचित् फूत्कारवत्, कदाचित् खर, कदाचित् अवरोधज।

६—इसमें धमनियों में रक्त बराबर न जाने से हृदय को अधिक कार्य करना पड़ता है और हृदय के प्रतिचय अथवा आयाम के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस तरह की विकृति कदाचित् जन्म से भी होती है इसे सहज मर्मर नाम दिया जाता है। सहज मर्मर शब्द अवरोधज ही होता है।

मर्मर शब्दों की परीक्षा में ज्ञातव्य विषय

१—समय—मर्मर शब्द हृदयके संकोच अथवा विकास काल में उत्पन्न होता है। हृदय के संकोचन कालमें उत्पन्न होने वाले मर्मर शब्द को संकोचीय मर्मर और विकास काल में उत्पन्न होने वाले मर्मर को विकासीय मर्मर नाम दिया जाता है। यह भी देखना चाहिये कि मर्मर का संकोचीय अथवा विकासीय शब्दों के साथ सम्बन्ध क्या है? संकोचीय शब्द के साथ है या उसके पूर्व? अथवा विकासीय शब्द के साथ है या उसके पूर्व वा पश्चात्? इसका नाम भी इसके ही अनुसार रखा जाता है। यथा प्राक् संकोचीय-मर्मर, संकोचीय मर्मर, विकासीय मर्मर।

२—मर्मर शब्द किस स्थान पर स्पष्ट और उच्च सुना जाता है? जिस स्थान पर उच्च सुनाई दें वही कपाट रुग्ण समझें।

यदि मर्मर शब्द स्पष्ट न मालूम हो तो रोगी को साधरण श्रम करने को कहें, यदि श्रम करने पर हृदयकी गति अधिक होने के कारण रक्तानुधावन अधिक होने लगता है और मर्मर शब्द स्पष्ट हो जाता है। किन्तु इस प्रकार के मर्मर हृदयकी अल्प विकृति के सूचक हैं।

रोगीके अशक्त होने पर हृदयकी गति भी अशक्त होती है, अतः अशक्ति विशेष होने पर हृदयके भी

अशक्त होने से मर्मर शब्द स्पष्ट नहीं सुनाई देता। ज्यों-ज्यों रोगी के सशक्त होने से हृदय सशक्त होता जाता है; मर्मर शब्द भी स्पष्ट सुनाई देने लगता है। ऐन्द्रियक मर्मर में शब्द का स्पष्ट न सुनाई देना मर्मर का कम होना नहीं प्रत्युत् हृदय की दुर्बलता का द्योतक है।

३. कुछ मर्मर शब्द ऐसे भी होते हैं जो रोगी को लिटाकर देखने से स्पष्ट सुनाई देते हैं। यथा—वाम मध्यस्थ कपाट का प्रत्यागमनज मर्मर। कई ऐसे होते हैं जो रोगी को खड़ाकर अथवा सीधा बैठा कर देखने से स्पष्ट प्रतीत होते हैं। यथा-बृहद्धमनी प्रत्यागमनज मर्मर। अतः रोगी को लिटाकर और बैठाकर दोनों प्रकार से मर्मर शब्दों की परीक्षा करनी चाहिये।

४. यह देखें कि मर्मर शब्द जहाँ स्पष्ट सुना जाता है वहाँ से कितनी दूर और किस तरफ सुनाई देता है? इसे मर्मर शब्द का "परिचलन" कहा जाता है। यह परिचलन उस तरफ होता है जिस तरफ रुग्ण कपाट से रक्त का प्रवाह होता रहता है। यथा—वाम मध्यस्थ कपाट में रक्त का प्रवाह हृदय कोण की तरफ होता है, अतः इसकी विकृति में मर्मर शब्द हृदय-कोण पर ही स्पष्ट सुनाई देता है और वहाँ से मर्मर का परिचलन नीचे और बाहर की तरफ तथा अंस प्रदेश की तरफ होता है।

५. मर्मर का स्वरूप—मर्मर शब्द किस प्रकार का है। खर (अवरोधज) है अथवा फूत्कारवत् (प्रत्यागमनज)?

६. ऐन्द्रियक मर्मर उच्छ्वास के अन्त में अधिक स्पष्ट और निःश्वास के अन्त में कम सुनाई देता है।

ऐन्द्रियक मर्मर के भेद

ऐन्द्रियक मर्मर संक्षेप में सहज और जन्मोत्तर-कालज भेद से दो प्रकार के होते हैं।

जन्मोत्तर-कालज ऐन्द्रियक मर्मर—यह मर्मर शब्द वाम मध्यस्थ कपाट पर अधिक, और उससे कम बृहद्धमनी कपाट स्थानों पर सुना जाता है। दक्षिण मध्यस्थ कपाट स्थान पर कदाचित् तथा फुफ्फुसाभिगाधमनी के कपाट स्थान पर प्रायः जन्मोत्तर-कालज मर्मर नहीं ही उत्पन्न होते हैं।

अधोनिर्दिष्ट मर्मर व्यवहार में अधिक देखे जाते हैं:—

१. वाम मध्यस्थ कपाट अवरोधज, २. वाम मध्यस्थ कपाट प्रत्यागमनज, ३. बृहद्धमनी कपाट अवरोधज, ४. बृहद्धमनी कपाट प्रत्यागमनज।

संकोचीय मर्मर

हृदय के संकोच काल में उत्पन्न होनेवाले मर्मर शब्द को संकोचीय मर्मर नाम दिया जाता है। ये मर्मर नीचे लिखे जाते हैं—

१—वाम मध्यस्थ कपाट का प्रत्यागमनज मर्मर।
२—व्यापारिक मर्मर।
३—बृहद्धमनी कपाट का अवरोधज मर्मर।
४—बृहद्धमनी के मूल भाग की विस्तृति से उत्पन्न मर्मर।
५—दक्षिण मध्यस्थ कपाट का प्रत्यागमनज मर्मर
६—फुफ्फुसाभिगाधमनी के कपाट का अवरोधज मर्मर। यह मर्मर प्रायः जन्मोत्तरकालज नहीं होता, जब कभी होता है तो सहज ही होता है।
७—जन्म से पूर्व सगर्भावस्था में फुफ्फुसों का कार्य बन्द ही रहता है; इसलिये रक्त दक्षिण अलिन्द से शुक्ति छिद्र द्वारा वाम अलिन्द में और वहां से वामनिलय में जाकर बृहद्धमनो तथा उसकी शाखा-प्रशाखाओं द्वारा सम्पूर्ण शरीर का पोषण करता है। यदि किसी विशिष्ट परिस्थिति वश शुक्ति छिद्र बन्द न हो तो हृदय के संकोच काल में एक प्रकार का मर्मर शब्द उत्पन्न होता है।

(शेषांश १२७ वें पृष्ठ पर)

आर्यों की वैज्ञानिक श्रेष्ठता आयुर्वेद में भी

आयुर्वेद पंचानन, वैद्य गंगाधर शास्त्री गुणे

आधुनिक विज्ञान का विस्तार बहुत व्यापक और ठोस रूप में हुआ है। खासकर पदार्थ विज्ञान (Physics) में आत्यन्तिक प्रयत्न हो रहे हैं। अमेरिका में "ओक्सूरिज" में अणु-शक्ति को विभाजित करने और उसके साधन से परमाणु-स्फोटक बम (Atom Bomb) तैयार करने के लिये बहुत बड़ा कारखाना खोला गया है। उसमें अनेकानेक मजदूर, कारीगर, यंत्र शास्त्रज्ञ, और पदार्थ विज्ञानवेत्ता रात दिन कार्य कर रहे हैं। बड़ी बड़ी प्रयोग शालाओं, यंत्र शालाओं, और विशाल इमारतों का इस कार्य में उपयोग किया जा रहा है—और करोड़ों रुपये इनमें व्यय किये गये हैं। अणुओं-परमाणुओं में निहित शक्ति और उसका शास्त्र अणु-शास्त्र (Neuclear Physics) ये सब 'अणोरणीयान्' के ही आविष्कार हैं।

मौण्ट पारमोर में एक बड़ी "टेलिस्कोप" आधुनिक वैज्ञानिकों ने तैयार की है—जो आधुनिक विज्ञान का एक आश्चर्यजनक आविष्कार है। यह लगभग "सूक्ष्मदर्शक" यंत्र के समान ही है। इसका दर्शकमुख दो सौ इंच डायमीटर का है और उसकी परिधि सोलह फीट आठ इंच की है। इस सूक्ष्मदर्शक यंत्र के बनाने में आधुनिक वैज्ञानिकों ने निश्चय ही अपनी बुद्धि का उत्कर्ष दिखलाया है। इस टेलिस्कोप के द्वारा वैज्ञानिकों का प्रयत्न आकाश के अंतिम तत्वों की जानकारी प्राप्त करने का है। आकाश में भ्रमण करनेवाले अनेकानेक नक्षत्र, सूर्य, ग्रह आदि तथा आकाश-गंगा (Milk wuay) के ऊपर के आकाशीय तत्वों को जानने का प्रयत्न इस प्रकार चल रहा है।

आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि बहिर्मुख है—किन्तु आर्यों की वैज्ञानिक दृष्टि अन्तर्मुख थी। बहिर्मुखी दृष्टि जहाँ विस्तार में जाकर बहुत ही व्यापक रूपसे तत्वों को पकड़ती है, वहाँ अन्तर्मुखी दृष्टि ज्ञान की गहराई तक जाकर तत्वों को ग्रहण करती है। आर्यों ने अपनी श्रेष्ठ वैज्ञानिकता अपनी अन्तर्मुखी दृष्टि से ही पैदा की थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी—व्याकरण-शास्त्र की श्रेष्ठता और वैज्ञानिकता सिद्ध करती है। भगवान् पतञ्जलि ने व्याकरण, योग, वैद्यक आदि शास्त्रों में श्रेष्ठता प्रदर्शित की है। महामुनि कपिल ने सांख्य-दर्शन का निरूपण किया। सांख्य-तत्व प्रणाली से आज की वैज्ञानिक विचार-धारा भी आगे नहीं जा सकी है। आयुर्वेद अर्थात् जीवन-शास्त्र (Science of lifo) में भी आर्यों ने अपनी वैज्ञानिक श्रेष्ठता का परिचय दिया है। चरक महामुनि उसके द्रष्टा हैं।

आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र में रोग प्रति बन्धक और रोगनिवारक उपचार तथा उसकी औषधियां बहुत सी निकली हैं—उनका बड़ा भारी "इन्तजाम" प्रचलित है। नित्य प्रति यह इन्तजाम बढ़ रहा है। रोगों की जाँच और रोगियों की तकलीफ बढ़ रही है। "पेनिसिलीन" और "स्ट्रिप्टोमायसीन", "क्लोरिटोमायसिन", "आरोमायसिन" की इन दिनों बाढ़ आ गई है। ये औषधियाँ शरीर में किस प्रकार कार्य करती हैं, इसका पता वैज्ञानिकों को नहीं है, फिर भी

इन औषधियों का प्रयोग धड़ल्ले से चल रहा है। स्ट्रिप्टोमायसिन क्षय रोग में कार्य करता है किन्तु उससे क्षय रोग के जन्तु कई रोगियों में बढ़ ही जाते हैं। आशय यह है कि बहिर्मुखी दृष्टि से पैदा हुई औषधियाँ शरीर के बाहरी हिस्सों पर ही प्रभाव दिखाती हैं।

आयुर्वेद केवल रोग के बाह्य कारणों पर ही विचार नहीं करता—अपितु शरीर में पैदा होने वाले दोषों का भी विचार करके रोग की चिकित्सा करता है। (यह दृष्टि अन्य चिकित्सा-शास्त्रों के पास नहीं है; है तो केवल आयुर्वेद के ही पास)। क्षय रोग में केवल क्षयरोग का जन्तु (Tubercle Bacilli) ही क्षयरोग उत्पन्न नहीं करता किन्तु रोग जन्तु के साथ-साथ धातुक्षय, वेगरोध से प्रकुपित वायु, साहस से दुष्ट दोष और विषमाशन से पैदा होने वाले दोषों का भी सम्बन्ध देखता और रखता है।

क्षयरोग की चिकित्सा करते समय केवल टी० बी० मारक, हारक या प्रतिबन्धक स्ट्रिप्टो मायसीन को प्रयोग में लाना आयुर्वेद सम्मत नहीं है। रोग जन्तु नाशक और शरीर-दोष को नष्ट करके धातु सन्तान प्रवृत्ति पैदा करने वाली चिकित्सा ही आयुर्वेद को अभिप्रेत है। क्योंकि इस चिकित्सा से रोगहरण होता है—रोगी को ध्रुव आरोग्य का भी लाभ होता है। ध्रुव आरोग्य का आशय यहाँ स्वास्थ्य (धातु साम्य) से है; आयुर्वेद का यही प्रयोजन है।

क्षयरोग में आयुर्वेद सुवर्ण का विनियोग करता है। सुवर्ण के साथ साथ अभ्रक भस्म, मृगशृंगभस्म का विनियोग फेफड़े के क्षयरोग में यानी कफ स्थान के क्षय में, पर्पटी का विनियोग (सुवर्ण पर्पटी का) विशेषतः आन्त्रों के दोष में, वसन्त कल्प अर्थात सुवर्णमालिनी, बृहत् सुवर्णमालिनी, रत्नमालिनी का प्रयोग ग्रन्थि दोष में, सुवर्णघटित लोकनाथ का विनियोग अस्थि दोष से पैदा हुए क्षय में, और महालक्ष्मी विलास सर्व धातु दोष से पैदा हुए क्षय में, नवक्षय में चतुर्मुख, मांसक्षय में मधुमालिनी वसन्त और सुवर्ण भस्म, वात वाहिनियों के क्षय में बसन्त कुसुमाकर इत्यादि का विनियोग आयुर्वेद ने बतलाया है। इन औषधियों में सुवर्ण भस्म विशेष गुणकारी है।

मल्ल अर्थात् संखिया (Arsenic) का भी ऐसा ही है। हमलोग संखिया की शुद्धि करते हैं—और फिर उसके अनेकानेक संस्कार करके उसका विनियोग करते हैं। रस, उपरस, अनुरस, महारस आदि का विनियोग चरक-सुश्रुत, वाग्भट आदि ग्रन्थों में नहीं बतलाया। चरकादिकों की चिकित्सा अर्थात् द्रव्यभूत चिकित्सा प्रायः वनस्पति प्रचुर ही है। कई रोगों में काल लोह, शिलाजीत तथा रौप्यादि द्रव्यों की युक्ति बताई गयी है। किन्तु वनस्पतियों का ही विनियोग अधिक है। नागार्जुन आदि रससिद्धों ने रस चिकित्सा को प्रचार में अधिक लाया। रस सिद्धों में भी बहुत से विचारवान वैज्ञानिक हुए हैं, जिन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से रस-शास्त्र का विस्तार किया। प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तवाक्य, उपमान, अर्थापत्ति इत्यादि शास्त्र-प्रमाणों से वे लोग विमुख नहीं थे। प्रमाणों के साहाय्य से शास्त्र बनता और समृद्ध होता है– इस सिद्धान्त को वे भी मानते थे और इस सिद्धान्त के अनुसार ही शास्त्र या विज्ञान की रचना और समृद्धि के लये प्रयत्न करते थे। संखिया (White Arsenic) अत्यन्त ही प्रभावकारी विष है। प्राचीन भिषगों ने संखिया के विषदोष को निकालने के लिये ही उसकी शुद्धि बतलायी है। विज्ञानवादियों ने संखिया के विष-तत्व को निकालने और उसे गुणकारी बनाने के लिये उसके अनेक संस्कार किए हैं—वे संस्कार अवस्थाभेद और

गुण भेद से किये गये हैं। संखिया के परमाणु, पिण्ड और चूर्ण—इन अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न संस्कार करके, उसमें परिवर्त्तन लाकर उसकी भस्म-गोलियाँ, और मिश्रण से समीर पन्नग, मल्लसिन्दूर, अष्टमूर्त्ति -ऐसे कल्प बनाये गए हैं। गुण-भेद से संस्कार भिन्नता की है। संखिया लघु, रूक्ष, अणु, विशद, व्यवायी तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण और अनिर्देश्य रस, गुणयुक्त है। उपदंश यानी फिरंग रोग में संखिया का विनियोग तो आयुर्वेद ने ही पहले पहल किया है। फिरंग रोग और आयुर्वेद प्रतिपादित उपदंश भिन्न ही है। फिरंग रोग पण्यगणिका संसर्ग से प्राप्त होने वाला औपसर्गिक रोग है। उसके रोग जन्तु भिन्न होते हैं। उपदंश दोष-दुष्टि से और आगन्तु रोग के समान बाह्य कारणों से पैदा होता है। उपदंश स्थानिक रोग है अर्थात् शरीर के एक स्थान पर होने से यह रोग शरीर में अन्य हिस्सों में नहीं फैलता-किन्तु फिरंग रोग सर्वाङ्ग में फैल जाता है। इसी कारण, रस वैद्यों ने संखिया के समान दसगुण युक्त विष का विनियोग फिरंग रोग में किया है। संखिया के तीक्ष्ण, ऊष्म, गुण की शक्ति को संस्कारों से कम करके लघु, आशु, विशद, व्यवायी और विकासी सूक्ष्म गुणों का आविष्कार करने के लिये नीम्बूरस, कंटकारी रस, निम्बतरु का काष्ठ और लोहे के बर्तन का संस्कार किया गया है। उपदंश सूर्यरस इन्हीं संस्कारों के बाद बनाया गया है।

अष्ट मूर्ति या अष्ट धातु रसायन में पारद, सुवर्ण, रौप्य और संखिया का मिश्रण है। अष्टधातु रसायन जीर्ण फिरंग के विकार में बहुत ही अच्छा काम करने वाला संयोग कल्प है। समीर पन्नग और मल्लसिन्दूर-पंचसूत में तीक्ष्ण, उष्ण गुण का ही लाभांश लिया गया है। क्योंकि वह कफ स्थान पर कार्य करने वाला संखिया संयुक्त कल्प है। रससिद्धों ने मल्ल का विनियोग शीतज्वर में भी बताया है, नारायण ज्वरांकुश इसका उदाहरण है। संयोग संस्कार वशात् संखिया के समान तीव्र विष भी अमृतवत् कार्य करने वाला बनता है। अन्तर्दृष्टि के प्रभाव से प्राचीन आर्यों ने चिकित्सा के क्षेत्र में जिन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उनकी श्रेष्ठता और महनीयता अध्यावधि अक्षुण्ण है।

शेषांश] हृदय की श्रवण परीक्षा [१२४ वें पृष्ठ का

७—सगर्भावस्थामें फुफ्फुसाभिगाधमनी का बृहद्धमनी के साथ एक संयोजिका नलिका द्वारा सम्बन्ध रहता है, ताकि जो रक्त फुफ्फुसाभिगाधमनी में जाय वह भी बृहद्धमनी में वापस चला जाय। यह नलिका जन्मोत्तर फुफ्फुसों का कार्य आरम्भ होने पर बन्द हो जाती है। यदि बन्द न हो तो हृदय के संकोच-काल में मर्मर शब्द उत्पन्न होता है।

विकासीय मर्मर

हृदय के विकासकाल में होनेवाले मर्मर शब्द को विकासीय मर्मर कहा जाता है। और इनका वर्णन नीचे दिया जाता है।

१—बृहद्धमनी कपाट का अवरोधज मर्मर।

२—बृहद्धमनी कपाट का प्रत्यागमनज मर्मर।

३—बृहद्धमनी कपाट अथवा उसके मूल भाग के विस्तृत होनेपर प्रत्यागमनज मर्मर शब्द उत्पन्न होता है। यह मर्मर यदि कपाटों की अत्यधिक विस्तृति हो जाय तो विकासीय, अन्यथा संकोचीय होता है।

४—दक्षिण मध्यस्थ कपाट को अवरोधज मर्मर।

५—फुफ्फुसाभिगाधमनी के कपाट का प्रत्यागमनज मर्मर। यह कदाचित् ही सुना जाता है।

६—वाम मध्यस्थ कपाट के प्रत्यागमनज मर्मर का कुछ भाग कदाचित् संकोच काल से पूर्व सुनाई देता है। इसे पहिले प्राक् संकोचीय मर्मर नाम दिया गया है। (क्रमशः)

नेत्राभिष्यन्द

(Conjunctivitis)

कविराज पुरुषोत्तमदेव मुलतानी आयुर्वेदालंकार

नेत्रवर्त्म में जब शोथ हो जाता है तो इसे 'नेत्राभिष्यन्द' कहते हैं। यह शोथ तीन प्रकार का होता है।

(i) वातिक शोथ—इसमें नेत्रवर्त्म में छोटे-छोटे दाने हो जाते हैं इसे 'वर्त्मशर्करा' (कुकरे) कहते हैं। इसका वर्णन 'सचित्र आयुर्वेद' मई १९५० के अङ्क में हम कर चुके हैं।

(ii) श्लैष्मिक शोथ।

(iii) पैत्तिक या पूययुक्त शोथ (रक्ताभिष्यन्द)।

श्लैष्मिक शोथ

यह दो प्रकार का होता है। तीव्र और चिरस्थायी।

क. तीव्र श्लैष्मिकशोथ—यह शोथ सब ऋतुओं और प्रत्येक आयु में पाया जाता है। पर वसन्त और पतझड़ में अधिक होता है। वसन्त में क्योंकि फूलों के पराग उड़ते हैं और पतझड़ में कुछ कण से हवा में उड़ा करते हैं। मुख्य कारण निम्न हैं।

कारण—(i) स्वाभाविक—जैसे आँख पर चोट लग जाना, नेत्र में किसी कीट का गिर पड़ना, मकड़ी का जाला आँख में पड़ जाना, कोयले का कण आँख में जाना, तेज वायु में धूल या मिट्टी के कण का आँख में जाना आदि। इसके अतिरिक्त धुआं और तेज वायु या प्रकाश भी स्वतः कारण बन जाते हैं।

(iii) विष-संचार—शरीर में कोई व्यापी रोग हो जिसमें विष बनता हो तो यह विष रक्त द्वारा नेत्र में आकर दोषोत्पत्ति कर देता है, जैसे चेचक व मसूरिका ज्वर में।

(iii) कृमिसंक्रमण—या तो कृमि बाहर से नेत्र में प्रविष्ट हो अथवा गन्दा रूमाल या नेत्ररोगी का तौलिया आँख पर लगाने से अथवा धूल के साथ भी कृमि प्रविष्ट हो सकते हैं। आँख पर मक्खी बैठे या चिकित्सक ऐसे रोगी की परीक्षा करके वही अंगुली किसीकी आँख पर लगा दे। जिनको जुकाम या खाँसी हो वे यदि दूसरे के मुख के समीप बोलें या खाँसें तो भी कृमि प्रसार कर जाते हैं यथा अश्रुथैली शोथ, पलक शोथ या चेहरे की त्वचा के पामा (खुजली) रोग में। यही तीन विधियाँ कृमि प्रवेश की हैं। इनमें पूय जनक कृमि भी अन्दर जा सकते हैं।

(iv) जिन दिनों घास सूखती है तब उससे पराग उड़ता है और यह पराग नासा, मुख आदि किसी मार्ग द्वारा शरीर में प्रविष्ट होने से ज्वर हो जाता है। यही पराग नेत्र में शोथ पैदा करता है।

लक्षणः—

उष्णाभिनन्दा गुरुताऽक्षिशोथः कण्डूपदेहावति शीतता च।
स्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥
—माधवनिदान।

दो प्रकार के लक्षण होते हैं। (क) जो चिकित्सक स्वयं देखता है। (ख) जो रोगी वर्णन करता है।

(क) जो लक्षण चिकित्सक स्वयं देखता है उसमें नेत्रवर्त्म लाल और सूजा हुआ होता है। अग्रश्वेतपटल के रोगों में इसकी अपेक्षा कम लाली होती है। क्योंकि

नेत्रवर्त्म की रक्तवाहिनियाँ ऊपरी पृष्ठ पर हैं इसलिये यह लालिमा इतनी अधिक होती है जैसे पिसी हुई ईंट। रक्तवाहिनियों के विस्तार और जाल के कारण प्रारंभ में विस्तृत रक्तवाहिनियों का जाल दीखता है और अन्त में लालिमा इतनी बढ़ जाती है कि रक्त-वाहिनियाँ पृथक् नहीं दीखतीं और सारी लालिमा ही दिखाई देती है। यह लालिमा नेत्रवर्त्म की परिधि पर ही आरम्भ होती है (जब कि अग्रश्वेतपटल की लालिमा अग्रश्वेतपटल या तारापटल की सीध में होती है) और यह परिधि पर ही अधिक होती है। अग्रश्वेतपटल की ओर यह लालिमा फीकी पड़ती जाती है। कभी-कभी रक्तवाहिनी फट जाती है; तब नेत्रवर्त्म में रक्तस्राव हो जाता है।

दूसरा लक्षण है नेत्रवर्त्म में शोथ। कभी-कभी यह शोथ इतना हो जाता है कि अग्रश्वेत पटल के इर्दगिर्द का सारा नेत्रवर्त्म सूज जाता है; तब ऐसा लगता है कि मानो एक गड्ढे में पड़ा है।

तीसरे, इस शोथ के कारण शोथस्राव निकलता है। यद्यपि अश्रु भी अधिक निकलते हैं पर यह शोथस्राव इसके अतिरिक्त है। यह स्राव पहले पतला फिर धीरे-धीरे गाढ़ा और फिर पूय बन जाता है। तब यह पूययुक्त नेत्राभिष्यन्द की अवस्था में पहुंच जाता है। यह स्राव चिपचिपा होता है। रात को यह पलकों के किनारों पर जम जाता है जिससे सुबह पलकों का खुलना कठिन हो जाता है।

(ख) वह लक्षण जिन्हें रोगी स्वयं बयान करता है। नेत्र में जलन, खाज, प्रकाशासह्यता, पलक-भारी, नेत्र में शल्यपदार्थ की प्रतीति जिसे निका-लने के प्रयत्न में वह आँख को मलता है जिससे वह शोथ बढ़ जाता है। शोथस्राव धागों के रूपमें जम कर अग्रश्वेतपटल पर आ जाता है जिसे रोगी निकालता रहता है। सूजन से शोथ और शोथस्राव के कारण दृष्टिमन्द हो जाती है। इसमें रोगी को वेदना मालूम नहीं होती किन्तु जलन मालूम होती है (सभी श्लेष्मकलाओं के शोथ में जलन मालूम होती है, वेदना नहीं) और यदि वेदना हो तो किसी उपद्रव की आशंका करें, यथा अग्रश्वेत पटल का व्रण आदि।

चिकित्सा

पहले तो इस रोग को होने से ही रोकें। इसके लिये दूसरे का तौलिया या रूमाल आदि न बरतें। आँखों को अंगुलियाँ भी न लगावें और यदि कभी आंखों में खुजलाने की आवश्यकता हो तो निचली पलक पर नेत्रगोलक पर बाहर की ओर मल देने से खाज शान्त होती है। यदि संक्र-मण हो गया हो तो आंख में ताजा गोमूत्र डालें। इससे रोग रुक जाता है।

यदि हम कोई भी चिकित्सा न करें और केवल नेत्रको गन्दे हाथों से बचावें तो यह रोग स्वतः साध्य है। चिकित्सा का उद्देश्य रोग की अवधि को कम करना या रोग को चिरस्थायी होने से बचाना है। इस रोग की चिकित्सा के चार अङ्ग हैं।

(क) नेत्र प्रक्षालन, (ख) रजत-चिकित्सा, (ग) ग्राही और (घ) लाक्षणिक।

(क) नेत्र प्रक्षालन—कृमिहर औषधि से नेत्र को धोते हैं। कृमिहर औषधि जन्तुनाशक भी है इस-लिए कृमिहरण के लिए कोई तीव्र औषधि नहीं बरत सकते। इसके लिए सरल विधि यह है कि कृमिरहित जल से आंखों को धोवे ताकि कृमि नेत्र से ही निकल जावे अर्थात् नेत्र कृमिरहित हो जाँय। बहता हुआ पानी इस दृष्टि से सर्वो-त्तम है क्योंकि इससे धुला हुआ नेत्र स्वतः कृमिरहित हो जाता है। अन्यथा कृमिरहित शुद्ध जल या हलका

लवण घोल, ६% (साधारणतः ½ सेर पानी में १ ड्राम नमक डालते हैं) हल्का बोरिक लोशन या हल्का पारद द्राव बरतना चाहिए। नेत्र धोने की कई विधियां है।

(i) एक तो 'अनडाईन' (undine) से धोने की है। इससे धार डाल सकते हैं। साधारणतः रुई से भी धार डालते हैं या फिर 'ड्रश केन' से धो सकते हैं। पर इसे नेत्र से अधिक ऊँचा न रखें। कई लोग 'आई ग्लास' नामक विशेष प्रकार के गिलास से भी आँख धोते हैं पर इससे नहीं धोना चाहिए क्योंकि इसमें वही का वही पानी गिलास में रहकर विकार पैदा करता है। सबसे अच्छा तो रुई से धोना है और ड्रश केन से धोना उससे भी उत्तम है। इससे धार निरन्तर बहती है। रोगी को लिटा देना चाहिए। और तब आंख धोनी चाहिए पर दवा कान में न जावे एतदर्थ विशेष बर्तन रख देवे। बच्चों को टांगे अपनी टांग में दबाकर (धरती पर टांग न लगने दें और एक हाथ से उसके दोनों हाथ और दूसरे हाथ से सिर थामना चाहिए) आँखें ठीक धुल जाती हैं।

(ख) रजत चिकित्सा यदि शोथस्राव अधिक हो और इसमें पूय पड़ने की सम्भावना हो तो रजत के योगों का प्रयोग उत्तम है। इसके लिए रजत के अनेन्द्रियिक लवण (प्रोटागौल आदि) बरतें। रजतनत्रित बत्ती तथा शोधित रूप में मिलता है। नेत्र-बिन्दु लगाने के लिए स्फटिक काम में आते हैं। बच्चों के लिए ½% (१ औंस जल में २ ग्रेन) तथा बड़ों के लिए १ प्रतिशत (१ प्रतिशत से अधिक किसी की आँख में न डालें) दिन में २ बार बरतें। इसे अधिक दिनों तक न टपकाएँ, क्योंकि रजत से नेत्र नीले भूरे रंगे जाते हैं और अग्रश्वेतपटल में बार-बार इसके पड़ने से गंदलापन आने की सम्भावना रहती है। फोये (Swap—स्वैप) के रूप में भी इस औषधि को बरतते हैं। इसके लिए १ प्रतिशत से ४ प्रतिशत तक बरतें। सामान्यतः २ प्रतिशत बरतते हैं। फोया ऐसा बनाये कि बूंदें टपकें नहीं और पलक को इकहरा उलटा कर औषधि स्पर्श करें। यह ध्यान रखें कि औषधि की बूंद अग्रश्वेतपटल पर बिलकुल न पड़े। एतदर्थ पलकें उलटा कर दोनों परस्पर जोड़ दें। इससे अग्रश्वेतपटल बिलकुल सुरक्षित हो जाता है। औषधि स्पर्श करके नेत्र लवण-जल से धो डालें जिससे अधिकता निक्षेप रूप में निकल जावे। पोटागौल नेत्र-बिन्दु को ५ प्रतिशत से १० प्रतिशत तक बरत सकते हैं। यह औषधि शुद्ध व अशुद्ध दो रूपों में मिलती है। शुद्ध थोड़ी मात्रा में भी अधिक लाभदायक है।

(iii) ग्राही चिकित्सा—ग्राही औषधियां रक्तवाहिनियों को संकुचित करके रक्ताधिक्य करने के कारण नेत्र के लिए लाभप्रद होती हैं। इनमें से यशद और फिटकरी प्रसिद्ध हैं। दोनों का अलग-अलग ½ प्रतिशत का घोल बरतें। शोथ-स्राव कम होने की अवस्था में ही इसका प्रयोग करना चाहिए। शोथस्राविधिक्य में रजत का ही प्रयोग करें।

(iv) लाक्षणिक चिकित्सा—लक्षण कई प्रकार के हो सकते हैं। पलकों का आपस में जुड़ जाना, शोथस्राव अधिक होकर सूख जाना आदि लक्षणों के लिए रात को सोते समय ऐसी औषधि लगावें जिससे स्राव अधिक न निकले, यथा रजत-नत्रित इसके किनारे पर टंकण-प्रलेप या वैजलीन लगावें जिससे आंखों में चिकनाई रहे और वे चिपके नहीं। यदि नेत्र में जलन रह जावे तो प्रोटागौल के स्थान पर आरजीरोल ५ प्रतिशत लगावें या आंखों पर गरम टंकण-घोल से या गरम पोस्ते के जल से सेंक

करें या पलकों के बाहर अहिफेन का लेप करें या दूध में रेवन्द चीनी चूर्ण मिलाकर लेप करें।

प्रकाशासह्यता के लिए रोगी धूप में न निकले, अन्धेरे में रहे और यदि बाहिर आना हो तो भूरे शीशे का ऐनक लगावें। यह बात स्मरण रखें कि किसी भी अवस्था में आँख पर पट्टी न बांधें क्योंकि इससे शोथस्राव रुककर आंखों में एकत्रित हो जाता है। चौथे, इस बात का ध्यान रखें कि नेत्र भी शरीर का अङ्ग है जिस पर शरीरव्यापी अवस्था का प्रभाव पड़ता है, इसलिए मलबन्ध न होने दें, यदि यकृत् में पित्ताधिक्य हो तो क्षार दें। रोगी निर्बल हो तो लोह के योग दें।

(ख) चिरस्थायी श्लैष्मिक शोथ

कारण—इस रोग के कारण लगभग तीव्र श्लैष्मिक शोथ की तरह हैं।

(i) तीव्र शोथ चिरस्थायी शोथ में परिवर्तित हो जाता है।

(ii) रोग की स्थानिक अवस्था भी कारण होती है। यथा पलक शोथ, अश्रुथैली शोथ, पक्ष्म कोप आदि।

(iii) बाह्य पदार्थ नेत्र में प्रविष्ट होकर रोग बनाए रखते हैं, जैसे जो लोग गन्दे कमरे में रहें, धूएँ, धूल, धूप में अधिक रहें उन्हें यह रोग अधिक होता है।

(iv) शरीर व्यापी अवस्था का भी प्रभाव पड़ता है यथा कम नींद लेना, रात को देर में सोना, मदिरापान, अन्धेरे या थोड़े प्रकाश में पढ़ना या बारीक अक्षरों को पढ़ना, सिनेमा देखना इत्यादि। इसी प्रकार मलबन्ध, यकृत् रोग, शारीरिक निर्बलता का भी प्रभाव पड़ता है।

लक्षण—(i) जो चिकित्सक देखता है—तीव्र शोथ की ही तरह होते हैं किन्तु कुछ हल्का होते हैं। लालिमा अधिक नहीं होती। नेत्रवर्त्म में तनिक सी होती है। नेत्रवर्त्म भी बहुत सूजा हुआ नहीं होता यद्यपि इसमें क्षीणताजन्य शोथ वृद्धि हो जाती है जिससे गुलाबी, मृदु, मखमल सा अनुभव होता है जिसमें दाने अनुभव नहीं होते--यह एक भेदक लक्षण है। पूयस्राव भी थोड़ा पर चिपचिपा होता है जिससे रातको आँखें बहुत चिपकती हैं। यह पूयस्राव दिन में कई वार धागों के रूप में निकलता है या नेत्र के अन्दर परिधियें में जमा रहता है।

(ii) जो लक्षण रोगी स्वयं अनुभव करता है—वह बहुत स्पष्ट होते हैं रात के समय रोगी को पलकें भारी अनुभव होती हैं तथा उस समय कष्ट भी अधिक होता है। यहाँ तक कि रात को आँख खोलना कठिन हो जाता है, दूसरे को ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे यह सो रहा है। रोगी को नेत्र में शल्य-पदार्थ की प्रतीति होती है जिसे वह बार २ निकालने का प्रयत्न करता है। थोड़ा सा पूयस्राव होता है जो अग्रश्वेतपटलके आगे पतला सा स्तर बना देता है और इस स्तर के बीच में से रोगीकी दृष्टि अस्पष्ट सी हो जाती है। जब वह मोमबत्ती या लैम्प की ओर देखता है तो उसे इर्दगिर्द कई रंग दिखते हैं, आंखों में खाज व जलन होती है, काम करने से आंखें थकी प्रतीत होती हैं। रोगी आंखों को बार २ झपकता है जो दूसरे को बुरा मालूम होता है। पलक भारी होने से सुगमता पूर्वक आँखें नहीं खोली जाती इसलिए आंखें आधी मुंदी हुई मालूम पड़ती है। यह रोग चिरस्थायी है। वृद्धों में अधिक पाया जाता है। इस रोग में पर्याप्त उपद्रवों की संभावना रहती है, यथा—पलकशोथ, अश्रुथैलीशोथ, पक्ष्मकण्डु, अग्रश्वेतपटल व्रण आदि।

चिकित्सा

कारण की चिकित्सा करें। जब रोग तीव्ररूप

धारण करे तो तीव्रशोथ की तरह चिकित्सा करें। इस रोग की विशेष चिकित्सा ग्राही चिकित्सा है। इसकी औषधि रोगी आंख में स्वयं टपका सकता है। मुख्य औषधियां निम्न हैं।

(क) यशद गन्धित –१% से २% दिन में दो बार टपकायें। नेत्र के कोनों के शोथ में यह विशेष लाभ-प्रद है। कई लोग यशद ओषिद् (जिंक आक्साइड) बरतते हैं। उसकी विधि यह है कि बहुत बारीक पिसे जस्ते को मलमल में बाँध लें। पलक उलटा कर उस पर इस कपड़े की पोटली से छिड़कें, पर अग्रश्वेत-पटल पर न गिरने दें। कई लोग यशद द्राव में टंकणाम्ल मिलाते हैं। इसकी उत्तम विधि यह है कि निम्न योग बरतें।—यशद गन्धित १ ग्रेन, टंकणाम्ल ५ ग्रेन, शुद्ध गुलाब जल १ औंस। नेत्राभिष्यन्द की विशेष अवस्था में यशदद्राव में एड्रिनलीन (१००० में १ या १ औंस में ३० बूँद के हिसाब से) डाल दें।

(ख) फिटकरी घोल—फिटकरी को १ औंस जल में $\frac{1}{2}$ ग्रेन के हिसाब से डालें। कई लोग शुद्ध फिटकरी स्फटिक को पलक उलटी करके लगाते हैं। पर इस के अतिप्रयोग से अग्रश्वेत पटल में व्रण होने की सम्भावना रहती है।

(ग) टैनिक-एसिड—पलक उलटा कर ५% या १०% का घोल स्पर्श करें या यशद द्राव १ औंस में $\frac{1}{2}$ ग्रेन टैनिक एसिड डालकर लगावें। पलाश रस भी अच्छा है। पलाश की ताजी जड़ एक बर्तन में डालकर ऊपर गोल ढकना देकर नीचे आग देवें।

(घ) ताम्र-गन्धित—इसे भी द्राव (लोशन) या बत्ती के रूप में बरता जाता है। द्राव के लिये $\frac{1}{2}$ औंस जल में १ ग्रेन डालें। बत्ती के लिए नीले थोथे के बड़े से बड़े टुकड़े को पत्थर पर घिस लें जिस से नोक न रहे और उलटी पलक पर बत्ती को मलें। औषध लगाते ही वहाँ हरा-सा घोल बनेगा अतः बत्ती मलकर शीघ्र टंकणद्राव से धो लेना चाहिये। अन्यथा घोल के अग्रश्वेत पटल पर चले जाने से व्रण हो जाने का डर रहता है। भीमसेनी सुरमा तथा अन्य मशहूर सुरमों में ताम्रगन्धित अवश्य डाला जाता है।

थोड़ा सा नीलाथोथा लेकर उसमें समान भाग शोरा और फिटकरी मिलाकर तीनों को चीनी की प्याली में डालकर मन्द आंच पर पिघलाएँ। पिघलने पर इस में $\frac{1}{50}$ भाग कर्पूर मिला लें। इससे १ डली-सी बन जाएगी। जिसको २ से १० ग्रेन तक १ औंस जल में मिला नेत्रबिन्दु बनावें अथवा ताम्रगन्धित की तरह डली को ही पलक पर स्पर्श कर सकते हैं। यह बाजार में तैयार भी 'एल्यूमिनेटिड कापर' (Aluminated copper) नाम से बिकती है। बड़ी उपयोगी चीज है।

अगर शोथस्राव बहुत कम हो, पर नेत्रवर्त्म लाल रहे और शोथस्राव कम होने से आँखें कुछ सूजी हुई सी मालूम हों जैसे कि बूढ़ों में प्रायः होती हैं तो निम्न नेत्रबिन्दु बरतें—

अमोनियम हरिद्	५० भाग
यशद गंधित्	१२५ भाग
जल	२००० भाग
कर्पूर	४० भाग
केसर	२० या १० भाग

इन सब को मिला दें। केसर घोलने के लिए थोड़े-से अलकोहल में २४ घंटे तक रखें और छानकर मिलावें। यदि आँखों में खाज या जलन अधिक हो तो ६% अहिफेन द्राव आँख में टपका दें। इसमें थोड़ा-सा केसर का घोल भी मिला सकते हैं।

चिरस्थायी नेत्राभिष्यन्द की चिकित्सा बहुत लम्बी है, इसलिये एक ही औषध की आदत पड़ जाने से लाभ नहीं होता। इसके लिये औषधियाँ बदल-२ कर डालें। एक सप्ताह एक औषधि, दूसरे सप्ताह दूसरी औषधि डालनी चाहिए। बीच-बीच में यशद गन्धित भी स्पर्श करते रहें। यदि आँखें रात में जुड़ जावें तो चन्द्रोदयावर्ति, भीमसेनी सुरमा या टंकण-जल दें या वैज़लीन लगाकर सोना चाहिये।

शुक्ति-विन्दु

उपद्रव—इस रोग के उपद्रव स्वरूप निचले पलक के नेत्रवर्त्म में छोटे-छोटे अनेक श्वेत दाने हो जाते हैं। यह छूत का रोग है। प्रायः आश्रम, स्कूल, पाठशाला या जेलों में होता है। उन बच्चोंको भी अधिक होता है जो जल में अधिक समय बिताते हैं या जिनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता।

लक्षण—

श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो ये,
शुक्ताभाः सितनियताः स शुक्तिसंज्ञः।

निचली पलक के नेत्रवर्त्म में छोटे-छोटे सुई की नोक के बराबर श्वेत दाने पंक्तियों में होते हैं। नेत्र-गोलक के समीप इनकी संख्या अधिक होती है। ऊपर की पलक में भी कभी-कभी यह मिलते हैं। तब इन का कुकरों से भेद करना कठिन हो जाता है।

दानों के कारण रोगी को नेत्र में शल्यपदार्थ की प्रतीति होती है। ये दाने बड़े चिरस्थायी और बहुत वर्षों तक रहते हैं। यह रोग कुकरों के साथ मिलता-जुलता है, इसलिए निम्न लक्षण ध्यान में रखने चाहिये—श्वेत दाने प्रायः निचले पलक में और कुकरे उपरले पलकमें होते हैं। कुकरे साध्य होते हैं और पलकें बादमें स्वस्थ हो जाती हैं किन्तु श्वेत दानों के साध्य होनेपर भी उनके निशान रह जाते हैं जिससे पलकें बन्द-सी रह सकती हैं।

चिकित्सा—बच्चों के स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखें। इसकी मुख्य औषधि भीमसेनी सुरमा व पीली मरहम है। थोड़ी-सी मलहम पलक में रख कर आँख बन्द कर दें। वह थोड़ी-ही देर में सब दानों पर फैल जाएगी।

वैद्यनाथ नेत्रामृत सुरमा या ममीरे का सुरमा भी इस रोग में उपयोगी है।

अपने पैरों पर खड़े हों !

(स्वामी विवेकानन्द)

अपनी नाड़ियों को बलिष्ठ बनाओ। हमारी आज की आवश्यकताएँ हैं—लोहे की पेशियाँ और फौलाद की नाड़ियाँ। बहुत रो लिये। अब रोने का काम नहीं! बस अपने पैरों पर खड़े हो और मनुष्य बनो![1]

अनु० वैद्य रणजितराय

१. Make your nerves strong. What we want is muscles of iron and nerves of steel. We have wept long enough. No more weeping, but stand on your feet and be men.

मानसिक रोगों में इच्छा और कल्पना का सङ्घर्ष

प्रो० लालजी राम शुक्ल, एम० ए० बी० टी०

मनुष्य का मानसिक बल और स्वास्थ्य उसकी इच्छा और कल्पना की एकता पर निर्भर करता है। जिस व्यक्ति के मन में इन दो शक्तियों का जितना ही साम्य रहता है, उतना ही उसका जीवन आनन्दमय होता है। ऐसा व्यक्ति अपने संकल्पों को सफल बनाने में समर्थ होता है। जब कभी इच्छा और संकल्प का विरोध उत्पन्न हो जाता है, तो मनुष्य का मानसिक बल, उसका स्वास्थ्य, आनन्द तथा कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की सारी शक्ति अपने आप से लड़ने में ही खर्च हो जाती है। वह जिस विचार को मन से निकालने की चेष्टा करता है वही विचार उसके मन में बार-बार आता है। मानसिक रोगों की अवस्था में इच्छा और कल्पना का संघर्ष अत्यन्त तीव्र हो हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है, उसे भले विचार नहीं सूझते; अप्रिय विचार ही बाध्य विचार बन कर दुःख देते रहते हैं।

लेखक को ऐसे अनेक मानसिक रोगियों से परिचय होता रहता है जिन का जीवन इच्छा और कल्पना के संघर्ष के कारण दुःखमय बन गया है। वे यदि किसी रोगी को देखने जाते हैं अथवा किसी रोगी की करुण कहानी सुनते हैं, तो उस रोग की कल्पना वे अपने आप में करने लगते हैं, जिस के परिणामस्वरूप उन्हें भी वह रोग हो जाता है। किसी प्रकार की प्रबल कल्पना आचरण में तथा शारीरिक परिवर्त्तनों में फलित होती है। यदि किसी कल्पना को उसके विरोधी विचार के द्वारा रोका न जाय तो वह अवश्य ही अपने अनुरूप शरीर तथा आचरण में परिवर्त्तन कर डालती है। हमारे मनमें अनेक भली और बुरी कल्पनाएँ सदा उठा करती हैं। हम अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा बुरी कल्पनाओं को मन से सदा हटाते रहते हैं, इस कारण वे फलित नहीं होती हैं। किन्तु जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है तो कल्पनाओं का मन से हटाना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में बुरी कल्पनाएँ अपने अनुरूप वातावरण का निर्माण कर डालती हैं और शारीरिक या मानसिक रोग उत्पन्न कर देती हैं।

लेखक का एक मित्र अपने एक सम्बन्धी को कुशल पूछने एक अस्पताल में गया। उस मित्र को हृदय का रोग पहले से ही था और उसके सम्बन्धी को भी हृदय का रोग था। उस सम्बन्धी ने उससे कहा कि उसे कुछ दिन पहले से रीढ़ की हड्डी में दर्द हो गया है। इस बात को सुनने के पश्चात् उसी दिन उक्त मित्र को भी रीढ़ की हड्डी में भी दर्द होने लगा। उन्हें हृदय का रोग भी इसी प्रकार प्रारम्भ हुआ था। उन्होंने अपने एक मित्र की हृदय के रोग की खबर सुनी तो उन्हें भी हृदय के रोग की कल्पना हो गई। यह कल्पना वास्तविक रोग में परिणत हो गई। उन्होंने जितना ही इस कल्पना को मन से निकालने की चेष्टा की, वह कल्पना और भी प्रबल होती गई। जिस प्रकार हृदय के रोग बाध्य विचार के रूप में रोगी को पीड़ित करते रहते हैं उसी प्रकार क्षयरोग का विचार भी कितने ही व्यक्तियों को बाध्य विचार के रूपमें पीड़ा देता रहता है। जो व्यक्ति जितना ही इस विचार को मन से निकालने की चेष्टा करते हैं वह उतना ही प्रबल

होता जाता है। अकस्मात् मृत्यु का विचार भी अनेक लोगों को इसी प्रकार पीड़ा देता है। मानसिक रोगों की एक विशेषता यह है कि जो व्यक्ति जितना ही अधिक मानसिक रोगों से मुक्त होने के लिये उद्विग्नमन रहता है ये रोग उसको, उतना ही अधिक सताते हैं। लेखक को ऐसे अनेक रोगी मिलते हैं जिन्हें सांप का भय, गन्दगी छूनेका भय, गन्दे विचारों का भय पीड़ित करता रहता है। ऐसे सभी रोगियों के मन में इच्छा और कल्पना का संघर्ष रहता है। कितने ही लोगों को किसी साधारण-सी बात के लिये आत्मभर्त्सना होती रहती है। वे जितना ही अधिक इस आत्मभर्त्सना के विचार को मन से निकालने का प्रयत्न करते हैं वह उतनी ही प्रबल होती जाती है। जिन लोगों को हस्तमैथुन की आदत एक बार लग जाती है वे अपनी इस आदत के लिये आत्मभर्त्सना करते रहते हैं, परन्तु इस से यह आदत छूटने के बजाय बढ़ती ही जाती है। कभी कभी यह बुरी आदत छूट भी जाती है और आत्मभर्त्सना का प्रधान कारण विस्मृत हो जाता है। किसी साधारण सी भूल के लिये ही मनुष्य को आत्मभर्त्सना होने लगती है और इस विचार को निकालने के प्रयत्न करते रहने से वह विचार और भी प्रबल हो जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान की एक खोज यह है कि जब कभी इच्छा और कल्पना में संघर्ष उत्पन्न होता है तो विजय प्रायः कल्पना की ही होती है। फ्रान्स के मानसिक चिकित्सक श्री इमील कूए महाशय अपनी पुस्तक 'सैल्फ मास्टरी थ्रू औटोसजेशन' में लिखते हैं कि जब कभी इच्छा और कल्पना का संघर्ष उत्पन्न हो तो हमें कल्पना को दबाने का प्रयत्न न करना चाहिये क्योंकि इस प्रकार का प्रयत्न सदा व्यर्थ जाता है। हम जितना ही इच्छा-शक्ति का बल बढ़ाते हैं, कल्पना का बल उस के उस बल के वर्ग के बराबर अपने आप बढ़ जाता है। मान लीजिये प्रारम्भ में इच्छा-शक्ति का बल दो माप के और कल्पना का तीन माप के बराबर है। अब यदि इच्छा-शक्ति के बल को बढ़ाने के लिये उस में दो माप बल और बढ़ा दिया जाय तो अपने आप ही कल्पना का बल उस के वर्ग के बराबर बढ़ जायगा अर्थात् अब इच्छा-शक्ति का बल २+२=४ माप हुआ तो कल्पना का बल ३+४=७ हो जायगा। इसी प्रकार यदि तीन माप इच्छा-शक्ति का बल बढ़ाया गया तो कल्पना का बल ३×३=६ माप बढ़ जायगा अर्थात् जहां इच्छा शक्ति का बल कुल २+३=५ माप ही होगा वहां कल्पना का बल ३+६=१२ माप हो जायगा। इस से यह स्पष्ट है कि अपनी कल्पना से लड़ना निजी मूर्खता है। इस युद्ध में इच्छा-शक्ति की निश्चय ही हार होती है।

जब इच्छा और कल्पना में संघर्ष की अवस्था रहती है तो मनुष्य के शुभ विचार व्यर्थ हो जाते हैं और अशुभ विचार ही फलित होने लगते हैं। मनुष्य के मन को दुःख देनेवाली कल्पनायें ही उस समय मन में आती हैं। मनुष्य का मन उसके लिये नरक बन जाता है। यदि किसी व्यक्ति के विषय में कोई अभद्र विचार मनमें आ गया तो वह उस विचार से मुक्ति नहीं पाता। इस प्रकार की मानसिक अवस्था के कारण उस के घर के लोग भी उसे शत्रु के रूप में दिखाई देने लगते हैं। ऐसा व्यक्ति बहुत कम लोगों को अपना मित्र बना पाता है। वह सभी के प्रति सतर्क और संदिग्धमन रहता है।

इच्छा और कल्पना में संघर्ष का कारण मनुष्य का अवांछनीय अभ्यास होता है। जब कोई भावना मनुष्य मन में लाता है तो वह उसके स्वभाव का अंग बन जाती है। फिर किसी संस्कार को एकाएक

मन से निकाल देने की चेष्टा अत्यन्त हानिकारक होती है। जिस प्रकार कोई संस्कार धीरे-धीरे मन में दृढ़ होता है, उसी प्रकार वह धीरे-धीरे मन से जाता भी है। पुराना संस्कार अनेक प्रकार की कल्पनाओं के रूप में मानस पटल पर आता है। यदि वह संस्कार भला हुआ तो कल्पनायें भली होती हैं और यदि वह बुरा हुआ तो कल्पनायें भी बुरी होती हैं। क्रोध, ईर्ष्या, कामुकता, लोभ आदि के संस्कार जब मनुष्य के आन्तरिक मन में घर कर लेते हैं तो वे अभद्र कल्पनाओं के कारण बन जाते हैं। मनुष्य का चेतन मन इन संस्कारों को नहीं जानता है। उसे केवल उन के परिणाम का ही ज्ञान होता है अर्थात् अभद्र कल्पनाओं का ही उसे ज्ञान होता है। वह इन अभद्र कल्पनाओं से लड़ता है परन्तु इन से लड़ने में लाभ ही क्या ? क्योंकि जब तक अभद्र कल्पनाओं का मूल कारण वर्तमान है तब तक ये कल्पनायें मन में आती ही रहेंगी।

विशेष-विशेष प्रकार का संस्कार विशेष प्रकार की कल्पनाओं को मन में उठाता है। क्रोध भयजनक कल्पना को मन में लाता है। ईर्ष्या रोग की कल्पना को मन में लाती है। लोभ मृत्यु की कल्पना लाता है और काम वासना आत्मभर्त्सना की कल्पना को मन में उत्पन्न करती है। पुराने संस्कारों को विस्मृत करने की जितनी ही चेष्टा की जाती है उतनी ही कल्पना प्रबल होती है। ये कल्पनायें मानो बरबस यह स्वीकार कराती हैं कि हम जैसे अपने आप को भले समझ बैठे हैं वैसे नहीं हैं। हम अपने से बाहर दोष को ढूंढते हैं परन्तु दोष तो हम में ही हैं। जो व्यक्ति जितना ही शीघ्र इस बात को स्वीकार कर लेता है वह उतने ही शीघ्र मानसिक संघर्ष की स्थिति से मुक्त भी हो जाता है।

इच्छा और कल्पना में एक बार संघर्ष होने के बाद उसे अन्त करने का उपाय जानना आवश्यक है। इस संघर्ष का अन्त हठधर्मी के द्वारा नहीं हो सकता। इस से तो मनुष्य अपना आत्म-विनाश कर डालता है। अंग्रेजी में कहावत है कि प्रकृति के नियमों को मान कर ही प्रकृति पर विजय की जा सकती है (Nature can be conquered only through its ownlaws.) मन पर विजय प्राप्त करने की एक विशेष विधि है। इस विधि को समझना मानसिक संघर्ष का अन्त करने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। कल्पना और इच्छा के संघर्ष का अन्त करने का पहला उपाय यह है कि मनुष्य अपनी कल्पना को छूट दे दे कि वह चाहे जिस भी प्रकार के चित्र मानस-पटल पर लाना चाहे, ले आये। इस तरह वह अपने मानस-पटल पर अभद्र से अभद्र कल्पना को अनियन्त्रित रूप से आने दे। यदि किसी व्यक्ति को कामवासना के विचार त्रास देते हैं तो वह उन विचारों को प्रतिदिन कुछ समय के लिये खूब आने दे। इसी तरह यदि किसी रोग के अथवा मृत्यु के विचार मनुष्य को त्रास देते हैं तो वह उन विचारों का स्वागत करे और यह मन में लाये कि उस के मानस पटल पर उन विचारों का आना ही अच्छा है। किसी भी गन्दे विचार को मन से निकालने की चेष्टा न करे। इस प्रकार नित्य प्रति अभ्यास करते रहने से बहुत से अवाञ्छनीय मानसिक संस्कारों का रेचन हो जाता है। प्रत्येक प्रकार की मानसिक शक्ति प्रकाशन से क्षीण होती है और दमन से बढ़ती है। वस्तुतः जब किसी मानसिक संस्कार को प्रकाशन की स्वतन्त्रता दे दी जाती है तो उसका बल नष्ट हो जाता है। इस प्रकार के मानसिक रेचन का एक लाभ यह होता है कि मनुष्य की इच्छा-शक्ति किसी प्रकार के व्यर्थ प्रयास में नष्ट नहीं होती, प्रत्युत वह संचित हो जाती है। फिर



श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड——पटना निर्माण केन्द्र में आसवारिष्टों के बृहद् संग्रहालय का एक दृश्य।

यही संचित शक्ति नये रचनात्मक कार्यों में लगायी जाती है। इच्छा और कल्पना के संघर्ष को रोकने का दूसरा उपाय प्राणायाम का अभ्यास है। इस अभ्यास के द्वारा सभी प्रकार के विचार स्थगित हो जाते हैं। इस अभ्यास के करते करते जब मनुष्य को नींद आ जाती है तो बहुत से अवाञ्छनीय संस्कार, जो अप्रिय कल्पनाओं के कारण होते हैं, अपने आप नष्ट हो जाते हैं।

सोते समय भले विचारों को लेकर सोना इच्छा और कल्पना के संघर्ष को अन्त करने का तीसरा उपाय है। इसके लिये सभी समय कुछ भले विचारों का अभ्यास करना आवश्यक होता है। धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने से भले विचार मन में आते हैं और पुराने अशुभ संस्कारों को नष्ट करते हैं। इच्छा और कल्पना के संघर्ष को अन्त करने का चौथा उपाय प्रतिभावना का अभ्यास है। क्रोध और ईर्ष्या के भावों का अन्त मैत्री-भावना के अभ्यास से होता है, लोभ का अन्त बार-बार संसार की अनित्यता पर विचार करने से होता है और कामवासना के संस्कारों का अन्त सुन्दरता में असुन्दरता की कल्पना करने से, शरीर की गन्दगी पर ध्यान करने से और मृत शरीर की बीभत्सता पर विचार करने से होता है।

परन्तु किसी प्रकार का अभ्यास तभी सम्भव है जब मनुष्य मानसिक उपराम की अवस्था को प्राप्त करले। यह उपराम पहले पहल कल्पना को मन में स्वतन्त्र रूप से आने देने से प्राप्त होता है। अपने आप में साक्षीवत् होकर कल्पना के सभी चित्रों को देखते रहना और मन में आये सभी भले-बुरे चित्रों को आने जाने देना मानसिक शान्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक होता है। यह अभ्यास मानसिक शिथिलीकरण का अभ्यास कहा जाता है। पहले पहल मनुष्य को अपने मन को मनमानी करने की छूट देनी पड़ती है। वह पीछे ही मन को जिस ओर ले जाना चाहता है, ले जा सकता है। मन का हठ बालक के हठ के समान है। यदि बालक किसी बात के लिये हठ करने लगे और उसके हठ को न मान कर हम उसका दमन करें तो इससे बालक को कोई लाभ नहीं होता। बालक इससे हमारे वश में न होकर हमारा शत्रु बन जाता है। उसका उत्साह भंग हो जाता है। या तो वह उद्दण्ड बन जाता है या वह निकम्मा बन जाता है। यह दोनों ही स्थिति बुरी है। जो सावधानी सुयोग्य अभिभावक बालक को वश में लाने के लिये करता है वही सावधानी अपने मन को वश में लाने के लिये आवश्यक है।

मनः-समाधि

अध्यात्मवादियों में प्रसिद्ध एक श्लोक है, जिस का आशय है—करोड़ों ग्रन्थों द्वारा जो बात कही गयी है, वही केवल आधे श्लोक से कहता हूँ—'ब्रह्म सत्य है, और जगत् मिथ्या; जीव ब्रह्म ही है, तदितर नहीं।' इसी की अनुकृति में कहा जा सकता है—मानस-शास्त्र और मानस-रोगविज्ञान के सहस्रों ग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, वह एक ही श्लोक से कहता हूँ।—

इस लोक तथा परलोक में, इतना ही नहीं, मोक्ष में भी प्राणि-मात्र का जो और जितना कल्याण है, उस सब का आधार केवल मनः-समाधि (चित्त की शान्ति) है।

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत्परम्।
मनःसमाधौ तत्सर्वम् आयत्तं सर्वदेहिनाम्॥ —च० चि० २४।५२

—वैद्य रणजितराय

सिन्दूरकल्प

वैद्यराज पु० वि० धामणकर, आयुर्वेदभूषण

वैद्यक शास्त्र प्रत्यक्ष शास्त्र है। इसमें प्रत्येक बात प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध करनी पड़ती है; इसके बिना शंकाओं का समाधान नहीं होता— 'दृष्टकर्मता निःसंशयकराणाम्" (चरक)। आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान आयुर्वेद के लिए उपकारक सिद्ध होगा या मारक, इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिए सिन्दूर कल्पविधि का हमें विशेष अध्ययन करना होगा।

आयुर्वेदीय औषधकल्पों की रचना की ओर ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि इनका रचनाकाल पृथक्-पृथक् है। इस आधार पर इन के पृथक्-पृथक् कालखण्ड निश्चित किये जा सकते हैं।

प्रथम कालखण्ड चरक सम्प्रदाय का है। इस काल की चिकित्सा में अहार-विहार को प्रधानता दी जाती थी। चरक सम्प्रदाय की चिकित्सा में खाद्य, लेह्य, पेय आदि आहार द्रव्यों के अधिकाधिक प्रयोग वर्णित हैं। इस काल में माँस और मद्य का भी सेवन होता था, अतएव प्राणिज द्रव्यों का समावेश चिकित्सा में हुआ था। अल्पांश में खनिज द्रव्यों का भी समावेश हुआ। स्व० डा० भडकमकरजी इसी काल की चिकित्सा पद्धति को शुद्ध आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति कहा करते थे। आज के शुद्ध आयुर्वेदाभिमानी रसवैद्यक, विषवैद्यक सहित शुद्ध आयुर्वेद को मानते हैं।

दूसरा सम्प्रदाय नागार्जुन का है जिसने पारद को प्रधान मानकर अपने कल्पों की रचना की है। इसने पारद को कहीं आधार माना है, कहीं साधक माना है। नागार्जुन सम्प्रदाय का मत है कि काष्ठौषध व प्राणिज औषधें अबल हैं, नाशवन्त हैं; इनसे देहदृढ़ता सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु पारद स्वयं दृढ़ है, अमर है, काष्ठ व प्राणिज द्रव्यों से अधिक चपल व सूक्ष्म स्रोतोगामी है। यह शरीर में स्थिर हो जाय, तो शरीर अविनाशी हो सकता है। इसका उपयोग भी सरल है, अल्पमात्रा में ही आशुगुणकारी है तथा विशेष पथ्यापथ्य का बन्धन भी नहीं होता।

इसके विपरीत चरक सम्प्रदाय का कथन है कि रसवैद्यों की औषधें तीव्र होने के कारण शरीर के लिए अपायकारक सिद्ध हो सकती हैं, रसकल्पों से प्राप्त स्वास्थ्य स्थिर नहीं होगा; परन्तु हमारी (चरक सम्प्रदाय की) (काष्ठ) औषधें बालक वृद्ध एवं सुकुमारों तक को लाभप्रद सिद्ध हो सकती हैं तथा इनका प्रभाव धीरे-धीरे अवश्य होगा, परन्तु वह स्थिर होगा एवं शरीर को कोई अपाय नहीं करेगा।

रसकाल के पूर्व उद्भिज्ज और प्राणिज औषधों का ही प्रभाव था। जब तक अपनी विशेषता प्रत्यक्ष नहीं कर दिखायी जाय, तब तक किसी भी नवीन पद्धति की ओर आकर्षण कैसे होगा? अतः जब नये-नये कल्पों की रचना हुई, तो इनके सौलभ्य, कार्यक्षमता इत्यादि गुणों को प्रत्यक्ष सिद्ध करना ही पड़ा होगा।

सूक्ष्मस्रोतोगामी व स्थिर कल्पों में चरकानुयायी घृत व तैल का ही प्रयोग करते रहे हैं। स्नेह-

साधन-विधि में आधार-द्रव्य स्नेह है। इस मत के वैद्यों का कथन है कि घृत सहस्रवीर्य है, संस्कार-क्षम है। विष के समान तैल व्यवायी है—"विषस्य तैलस्य न किंचिदन्तरम्"। इस की तुलना ही में सिन्दूर कल्पों का निर्माण किया गया है। रसवैद्यों ने संस्कारक्षम व व्यवायी पारद को लेकर अपने कल्पों की रचना की है।

सिन्दूरकल्प—सिन्दूरकल्पों के निर्माण में कूपी की आवश्यकता होती है जिस में वे पकाये जाते हैं। इन के सभी प्रकारों में कुछ न कुछ सिन्दूर कूपी के कण्ठ में मिलता है। इसी आधार पर इन्हें रँग-निदर्शक नाम (सिन्दूर) दिया है।

रंगप्रकार—कण्ठगत सभी प्रकार ताम्रकृष्णाभ दिखायी देते हैं। उन को खरल करने पर कृष्णाभ सिन्दूर वत् नाना घटाएँ दिखायी देती हैं। उनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—"जपाकुसुम संकाशम्। माणिक्यनिभम्।" या "सिन्दूराभम्। पक्वबिम्बीफलच्छायम्।"

तलस्थ समीर पन्नग रंग में काला, काँच सदृश चमकीला होता है। खरल करने पर हल्दी के समान ताम्राभ तेजस्वी पीला या केसरिया रंग का होता है। बंगेश्वर का रँग तो सुपरिचित ही है। निर्गुंडीरस, तैल, तक्र, गोमूत्र में शुद्ध किये हुए वंग से निर्मित बंगेश्वर इन शोधनद्रव्यों के रंग को पकड़ता है, यह अनुभवसिद्ध है। इस प्रकार शुद्ध किये हुए वंग और सोरे को मिला कर निर्मित बंगेश्वर तप्त कांचन जैसे रंग का तैयार होता है।

वर्गीकरण—१ तलस्थ, २ कण्ठस्थ, ३ उभयस्थ। कूपी के कण्ठ में लगने वाला कण्ठस्थ। इसमें सिन्दूरों का समावेश होता है। इस विधि में कूपी के तल में कुछ भी शेष नहीं रहता। दूसरा प्रकार है तलस्थ। इसमें समीरपन्नग, स्वर्ण-भूपति इत्यादि का समावेश होता है। तीसरा प्रकार उभयस्थ है। इसमें कण्ठ में सिन्दूर व तली में कुछ द्रव्य मिलते हैं। इस (उभयस्थ) में एक प्रकार उपयुक्त है। दूसरा अनुपयुक्त है। मकरध्वज में स्वर्ण की भस्म तली में मिलती है ; वह उपयुक्त है। परन्तु माणिक्य रस में सीसा तली में मिलता है, जो कि बिलकुल निर्जीव सा होने से अनुपयुक्त है। स्वर्णराज वंगेश्वर की उपयुक्तता तो सर्वश्रुत ही है।

विधि-प्रकार—१ अन्तर्धूम, २ बहिर्धूम विपाचन।

१. अन्तर्धूम—इसमें आरम्भ से ही कूपी का मुख बन्द रखा जाता है पच्यमानावस्था में जो धूम्रादि बनता है, उसका पाचन अन्दर ही अन्दर किया जाता है। इस प्रकार में गन्धक की मात्रा अत्यल्प होती है।

(२) बहिर्धूम—इसमें कूपी का मुख खुला रखते हैं जिससे अधिकाधिक गन्धक जल जाय।

(३) सिन्दूर सिद्धि के लिए बालुका यन्त्र की आवश्यकता होती है। कूपी को इसी यन्त्र में रखा जाता है।

विधिहेतु—मल्ल, हरताल, स्वर्ण, वंग, नाग, वच-नाग, कुचला, हरड़ द्रव्यों के गुणधर्म पारद पर आव-रण रूप में लाना।

विधि समावेश—विधियाँ सात हैं – मर्दन, साधन, बन्धन, भावन, सन्धान व निष्कासन। आयुर्वेदीय औषधीकरण साधनों में स्नेह व रसायन का भी समावेश होता है।

घटकावयव—सिन्दूर कल्पों में तीन मुख्य घटक हैं—१ आधार, २ आधेय, ३ साधक।

आधार—अति जड़ (भारी) व चपल होने से अच्छावस्था में पारद का शोषण नहीं होता है। अतः पारद के छह बन्धों का आविष्कार किया गया है। बन्ध छह हैं, परन्तु बन्धक एक ही है—गन्धक।

गन्धक से बद्ध पारद कायक्षम होता है। प्रथम पारद को निज व संसर्गजन्य दोषों से रहित कर के शुद्ध कर लेते हैं। पश्चात् कूपीपाचन विधि से उस पर दूसरे द्रव्यों के गुण आधारित किये जाते हैं।

आधेय—अपेक्षित गुणों वाले द्रव्य लेकर उन के गुणधर्म आधार (आधार्य, आधेय) पर आधारित किये जाते हैं। इन में हरताल, मैनसिल, मल्ल, नवसार, फिटकरी इत्यादि हैं।

साधक—इन में प्रधानता गन्धक की है। कारण, पारद की गति का रोधन वही करता है। गन्धक के द्रव में ही अन्य द्रव्य पारद के साथ पकते हैं और उस (पारद) पर अपना गुण स्थापित करते हैं। इन दो हेतुओं से गन्धक की योजना की गयी है। इसमें बन्धन के लिए आवश्यक भाग गन्धक का रह कर शेष भाग जल जाता या उड़ जाता है।

दूसरा उपक्रम अग्नि का है। पाचनकार्यार्थ इस की योजना की जाती है। अग्नि के उपक्रम पाँच प्रकार के हैं और प्रत्येक (प्रकार) का साध्य हेतु स्वतन्त्र है:—

अग्निप्रकार	साध्य हेतु
(१) दीप	(१) यन्त्र गरम करने के लिए
(२) मन्द	(२) कज्जली द्रव करने के लिए
(३) मध्य	(३) पाचन और कोण बनाने के लिए
(४) तीक्ष्ण	(४) रवा बनाने के लिए
(५) स्वांगशीत	(५) रवा पूर्ण पक्क होने के लिए

अग्निप्रकार कोई भी क्यों न हो, उसे देने का समय निश्चित होता है, इसलिए साधकवर्ग ही में कालगणना का समावेश होता है।

अग्नि (पांचो प्रकार) अखण्डक्रम से देनी चाहिए। रस-साधन अति ध्यान से करना पड़ता है। इस के लिए सतत भट्टी के पास बैठना आवश्यक होता है। कूपीपक रससिद्धि के लिए इसी कारण शीत ऋतु श्रेष्ठ मानी जाती है। शीतऋतु में अग्निसान्निध्य सुखावह होता है।

रात्रिमें (कूपीपक्व रस) साधन करने का हेतु यह है कि रात्रि में एकाग्रता होने से स्थैर्य लाभ होता है तथा रात्रि को कूपी से निकलने वाली ज्वालाओं के रंग भी स्पष्टतः देखे जा सकते हैं और जानकार ज्वाला के रंग को देख कर ही पहिचान लेते हैं कि कौन सी कूपी में कौन से रस का निर्माण हो रहा है। अतएव काल को महत्त्व है।

अग्निउपक्रम के समान औषधपाक के भी पांच प्रकार हैं—लघु, मृदु, मध्य, खर व दग्ध। इन में खरपाक श्रेष्ठ है। दग्ध त्याज्य है। तैयार पदार्थों को पहिचानने के चिन्ह भी वर्णित हैं।

सिन्दूर कल्पों की रचना व हेतुपर लिखा गया अनेक प्रकार से इस में निश्चितता आनी चाहिये। वह संशोधन से ही प्राप्त होगी। इस में हम आधुनिक रसायन-शास्त्र से सहायता ले सकते हैं। हमारी प्रस्तावित संशोधन की रूपरेखा यह है—

(१) बालुकायन्त्र के आकार व प्रकार
(२) कूपी की जातियाँ व आकृति
(३) बालुका का प्रकार व आकार
(४) बालुकायन्त्र में छिद्र रखने से क्या हानि होती है ?
(५) अग्निप्रकार—ईन्धन, लकड़ी, कोयला, विद्युत्, गैस इत्यादि।
(६) अग्नि का तापमान, उसका क्रम, काल व ऋतुमान और उस का प्रयोजन।
(७) कूपी के अन्दर पोलापन व कज्जली भरने का प्रमाण
(८) अवस्थातन्तर के लक्षण—उदाहरण तापमान, धूम्र, ज्वाला, रंग इत्यादि।

(शेषांश १४३ पृष्ठपर)

सिद्ध रसौषध-निर्माण

वैद्य श्री भानुदत्त शर्मा, आयुर्वेदाचार्य

हमारे दिव्य द्रष्टा महर्षियों ने मानव-जगत् के कल्याणार्थ त्रिसूत्र एवं शाश्वत आयुर्वेद के अथाह समुद्र को आठ अंगों में विभाजित कर एक-एक अंग पर अलग-अलग ग्रन्थों की रचना की। जिस प्रकार इन ऋषियों ने वनस्पति तथा प्राणी-जगत् की औषधियों पर अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया उसी भांति कुछ समय पश्चात् एक नवीन प्रकार के अत्यन्त देदीप्यमान् औषधि-विज्ञान का उदय हुआ जिसे हम धातुवाद के नाम से भी कह सकते हैं। उस समय एक सम्प्रदाय (जिसे आज सिद्ध-सम्प्रदाय के नाम से पुकारा जाता है) के सिद्धों ने खनिज पदार्थों पर अपने विश्लेषण कर अलौकिक औषधि-विज्ञान का आविष्कार किया।

प्राचीन रस-शास्त्रों में इन पारदादि खनिज पदार्थों के दो प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

(१) लौह सिद्धि के निमित्त तथा (२) देह-सिद्धि के निमित्त।

शायद लौह सिद्धि के निमित्त किये गये विश्लेषणों के फलस्वरूप ही देहसिद्धि के इन चमत्कृत प्रयोगों का जन्म हुआ हो। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि इन दिव्यौषधियों ने उस समय के चिकित्सा-जगत् में एक महानतम क्रान्ति उत्पन्न की। ऐसी क्रान्ति जिसने चिकित्सा जगत के धीमे प्रकाश को सूर्य जैसे अलौकिक तीव्र प्रकाश में परिवर्तित कर दिया। अब जरा हमारे उन पूर्वजों पर भी सूक्ष्म विचार कीजिए। जिस समय यह "नवीन विज्ञान" उनके सामने आया होगा उस समय उन्होंने अपने "प्राचीन विज्ञान" के गौरव पर गर्व रखते हुए भी इस "नवीन विज्ञान" को स्वीकार करने में संकुचित मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया।

विज्ञान एक ऐसा विषय है कि जिस पर हर समय अनुसन्धान करने की गुंजाइश रहती है।

इसी विचार से प्रेरित होकर वैद्य समाज की सेवा में अपने कुछ अनुभव रखने की चेष्टा कर रहा हूं।

कुछ समय पूर्व "नवायस लौह" निर्माण करते हुए विचार हुआ कि शायद इस योग में काष्ठौषधियों की मात्रा लोह की अपेक्षा न्यून तो नहीं है; क्योंकि इस योग में समस्त काष्ठौषधियों के समान भाग लौह भस्म है और वैद्य बन्धु ४ रत्ती से ३ माशे तक की मात्रा में इसे प्रयुक्त करते हैं। परिणामतः ४ रत्ती नवायस लौह में कष्ठौषधि १॥ माशे को मात्रा में रहती है, जो मात्रा में बहुत अधिक प्रतीत होती है। अतः ४ रत्ती की मात्रा में काष्ठौषधियों की न्यूनता के कारण सत्वर लाभ में जिस प्रकार सन्देह है, उसी प्रकार ३ माशे की मात्रा में १॥ माशा लौह भस्म का शरीर में सात्म्य होना भी कम सन्देहास्पद नहीं है और इसीलिये केवल जल से ये औषधियां भी उतना लाभ नहीं दिखा पातीं जितना क्वाथ अवलेहादि काष्ठौषधियों के अनुपान से दिखाती है। यही कारण है कि अनुपान-विशेष के साथ ही इन्हें प्रयुक्त करने की प्रथा प्रचलित है।

यह निर्विवाद है कि रस-भस्मादि शरीर के

विविध अंगों पर अपना विशेष प्रभाव रखती हुई भी काष्ठौधियों की पूर्ण मात्रा के अनुपान के साथ ही विशेष प्रभावोत्पादक होती हैं, इसीलिये हमारे पूर्वजों ने रस-भस्मादिकों के साथ काष्ठौषधियों के मिश्रण से असंख्यों सिद्ध प्रयोगों का निर्माण किया। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि इतनी न्यून मात्रा में उन्हों ने काष्ठौषधियों का मिश्रण क्यों किया जिससे कि इन्हें किसी अनुपान विशेष की अपेक्षा रह गई। इसके उत्तर में निम्न श्लोक उचित स्थान प्राप्त कर सकता है।

यथा—अल्पमात्रोपयोगित्वा दरूचेर प्रसंगतः।

क्षिप्रमारोग्यदायित्वा दौषधिभ्योऽधिको रसः॥

किन्तु जब इन प्रयोगों को क्वाथावलेहादि अरुचिकर प्रयोगों के साथ प्रयुक्त करने से ही अधिक लाभ प्राप्त होता है तब उपर्युक्त प्रतिज्ञा सर्वांश में पूर्ण होती हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी हेतु मैंने "नवायस लौह" एक को ४ रत्ती मात्रा में दिया, दूसरे को २ माशा तथा तीसरे को २ से ४ रत्ती लौह और १॥ से ३ माशा चूर्ण मिलाकर सेवन कराया। परिणामतः तीसरे रोगी को प्रथम दो वार दो की अपेक्षा सत्वर लाभ हुआ। अनुपान में तीनों को केवल जल रखा गया था। तब तो मेरा विचार और भी दृढ़ हो गया कि कुछ प्रयोगों में काष्ठौषधियों की मात्रा न्यून होने से बिना किसी अनुपान-विशेष के सत्वर लाभ नहीं होता और कुछ प्रयोगों में काष्ठौषधि की न्यून मात्रा के साथ भस्मों की मात्रा भी इतनी न्यून रहती है कि बहुत काल सेवन से ही लाभ होना सम्भव हो सकता है। उदाहरण के लिये निम्नाङ्कित प्रयोग आपके समक्ष रखना उचित प्रतीत होता है।

न्यून काष्ठौषधि वाले प्रयोग :

१—नवायस लौह
२—चन्दनादि लौह
३—सर्व ज्वरहर लौह
४—निशालौह
५—विडंगादि लौह
६—अष्टादशांग लौह
७—विडंगाद्य लौह

नोट :—इनमें लौह भस्म आदि की अधिकता के उदाहरण ऊपर दिया जा चुके हैं।

न्यून रसभस्मादि वाले प्रयोग

१—चन्द्रप्रभावटी

इस योग में मिश्री सहित समस्त औषधियां ३३॥ भाग, लौह भस्म २ भाग और माक्षिक भस्म $\frac{3}{4}$ भाग हैं; पाँच-पाँच रत्ती की गोली बनाई जाती हैं। इसमें १७ वाँ भाग लौह है, अतः १ गोली में २$\frac{3}{4}$ चावल इसकी मात्रा है और माक्षिक ·३६ वाँ भाग होने से ३$\frac{1}{2}$ खसखस के बराबर १ गोली में इसकी मात्रा रहती है तथा काष्ठौषधियों की मात्रा करीब ४$\frac{1}{2}$ रत्ती रहती है—अतः निश्चित है कि यह मात्रा अत्यन्त न्यून है।

उपर्युक्त उदाहरणों से मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि प्रयोगों की योजना अत्यन्त सुन्दर होते हुए भी मात्रा के अनुपात पर फिर से निश्चय करना सामयिक होगा। किन्तु यह प्रश्न सामने आया कि भस्मों के साथ यदि काष्ठौषधियों की पूर्ण मात्रा (अर्थात ३ माशे) मिला दी जाय तो वह चूर्ण का रूप धारण कर लेगी, फिर "अल्पमात्रोपयोगित्वात्" वाली रस चिकित्सा की अलौकिकता नष्ट होने में सन्देह ही क्या रहा? अतः रस चिकित्सा की अलौकिक "अल्पमात्रोपयोगित्वात्" आदि उपरोक्त प्रतिज्ञाओं को पूर्णतः निभाने के लिये मैं अपने कुछ सुझाव निवेदन करना चाहता हूँ।

१—रसों में प्रयुक्त होनेवाली काष्ठौषधियों का यदि घन सत्व बनाकर प्रयोग किया जाय तो यह अल्पमात्रा में ही बिना किसी अनुपान-विशेष के भी सत्वर लाभ कर सकेंगे।

२—यदि संभव हो तो प्रयोग-निर्माण के समय भस्मों की मात्रा भी पुनः निर्धारित की जा सकती है।

३—जिन रसौषधियों में विषोपविष पड़ते हैं उनकी प्रति मात्रा में "विषोपविष" किस परिमाण में हैं यह भी ज्ञान वैद्यों को अवश्य होना चाहिये, क्योंकि मात्रा की न्यूनता से जहां पूरा लाभ नहीं होगा वहां अधिक मात्रा से रोगी को कष्ट उठाना पड़ेगा। अतः पाश्चात्य चिकित्सक ऐसी विषैली औषधियों की गोली १०० अथवा १००० की संख्या में निर्माण करते हैं ताकि प्रयोग के समय विषों की मात्रा उनके मन में रह सकें।

४—रसौषधियों में स्वरसों की भावनाओं से गोलियाँ इतनी कठिन हो जाती हैं कि गोली के रूप में उन्हें प्रयुक्त करने पर उदर में उनका घुलना नितान्त दुष्कर होता है। अतः इस प्रकार की गोलियाँ बनाई जाने पर गोली के रूप में भी पूर्ण लाभ हो सकेगा।

५—समयानुकूल नये-नये योगों का निर्माण भी इन्हीं आधारों पर किया जा सकता है।

६—इस प्रकार के नये परीक्षणादि दातव्य औषधालयों में किये जायँ और उनका परिणाम "सचित्र आयुर्वेद" में प्रकाशित होता रहे तो वैद्यसमाज का बड़ा उपकार हो सकता है।

ये मेरे विचार कहाँ तक उचित हैं इसका निश्चय विद्वान लोग करें इस हेतु मैंने अपने विचार विनम्र भाव से उनकी सेवा में रखे हैं।

शेषांश **सिन्दूरकल्प** १४० वें पृष्ठ का

(९) सलाई का प्रयोजन और उससे हानि-लाभ
(१०) विकृति-संभव, उससे रक्षा व दूरीकरण का उपाय
(११) एकही औषध के तलस्थ व कंठस्थ प्रकार में अन्तर
(१२) कई गुना गंधक एक बार मिलाने और सम-भाग लेकर बार-बार जारण करने में क्या भेद है ?
(१३) अन्तर्धूम व बहिर्धूम सिद्धौषधियों में क्या भेद है ?
(१४) समान रंग, रूप की औषधियों की पहिचान
(१५) एक-द्वि-त्रि-चतु-पंच-षड्-दशवा शतगुण बलि जारित सिद्धौषधियों में क्या भेद है ?

उपरोक्त संशोधन की रूपरेखा से आयुर्वेदीय औषधि संशोधन में आधुनिक विज्ञान का स्थान कहां है, यह स्पष्ट हो जाता है। विधि सभी शास्त्रीय हैं, उनका आधार गलत नहीं हैं यह वैज्ञानिक परीक्षणों से सिद्ध हो चुका है। फिर भी उच्च श्रेणी के वैज्ञानिक इस कार्य को अपनाकर अपना मत प्रकट करेंगे, तो नवीनता का समावेश मूलशास्त्र में करना सरल हो जायगा।

अनुवादक—आत्रेय काशीनाथ
(आयुर्मीमांसा से साभार)

बकुल और आरग्वध

श्री भानु देसाई

बकुल

संसारमें ऐसे महापुरुष प्रायः मिलते हैं जो बालपन में ही असाधारण भावी जीवनकी सूचना अपने असामान्य कर्मों द्वारा दे देते हैं। परन्तु ऐसे उदाहरण भी कम नहीं, जिनमें आगे जाकर महान् हुए व्यक्ति बचपन में किसी प्रकार की असाधारणता नहीं दिखाते, एवं बहुधा माता-पिता आदि द्वारा उपेक्षित रहते हैं। ऐसे ही पुरुषों को लक्ष्य करके पण्डितराज जगन्नाथ ने यह बकुलान्योक्ति लिखी है।

> निसर्गादारामे तरुकुलसमारोपसुकृनी
> कृती मालाकारो बकुलमिह कुत्रापि निदधे
> इदं को जानीते यदयमिह कोणान्तरगतो
> जगज्जालं कर्ता कुसुमभरसौरभ्यभरितम् ॥

यों अपने व्यवसायमें मालाकारकी निपुणता सुप्रसिद्ध थी। असंख्य वृक्ष कौशलपूर्वक आरोपित करके वह इस लोकमें उज्ज्वल कीर्ति तथा परलोक में अक्षय पुण्य लाभ कर चुका था पर, बकुल बेचारे के प्रति न जाने क्यों, उसकी अक्षम्य उपेक्षा ही रही। संभवतः उसके अनाकर्षक बाह्य देखाव के कारण उसने उसे उपवन के एक कोने में जहाँ किसी की दृष्टि न पड़े, लगा दिया। परन्तु, कौन जानता था, एक दिन यही बकुल इसी कोने में रहा रहा सारे विश्व को अपने फूलों की महक से भर देगा।

यह अन्योक्ति अपने लक्ष्यभूत उक्त प्रकारके महापुरुषोंपर तो चरितार्थ होती ही है, बकुल का स्वभावोल्लेख भी इसमें यथास्थित हो गया है। वस्तुतः बकुल के फूलों के सौरभकी बात जाने दें तो आकार-प्रकार को देखते हुए शेष बकुल किसीको उपेक्षणीय प्रतीत हो इसमें कोई विस्मय नहीं। लाटानुप्रासका अलङ्कार-शास्त्र-प्रसिद्ध निम्न उदाहरण भी बकुल के फूलों के सौरभका उत्तम निदर्शक है।—

> आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान्।
> अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः ॥

छोटे तारकों-सरीखे, मधुर सुगन्धवाले बकुल या मौलसिरीके फूलोंसे भारतमें कोई ही अपरिचित होगा। इसके वृक्ष देवालयों, उपाश्रयें तथा कईवार नगरें में मार्गोंपर लगाये देखे जाते हैं। जिस नैसर्गिक वर्ग में महुआ, चीकू, खिरनी आदिका समावेश है उसीमें मौलसिरी की भी गणना है। संस्कृतमें इसे "मधूकादि वर्ग" कहते हैं। हमारी ओर गुजरात में मौलसिरी अपने संस्कृत नाम बकुल किम्वा बोरसली नाम से प्रसिद्ध है। यह वृक्ष भारत में सामान्यतया भी उग सकता है। इसका उगने का वेग मन्द होता है, जिससे इसकी वृक्षावली मार्गोंपर लगायी हो तो उसके बड़े होने में समय लगता है।

बकुल बारहों मास हरा रहता है। पत्तों का रङ्ग सुन्दर हरा होता है। काण्ड सीधा, किंचित् खुरदरा और गहरे कत्थई रंग की त्वचावाला होता है। इसकी औसतन ऊँचाई बीस से पच्चीस फीट होती है। बहुत बार यह इससे भी अधिक बढ़ता है। इसकी शाखाएँ तिर्यक् फैलकर फिर सीधी ऊपर को जाती हैं। इससे इसकी सघन तथा गोल छतरी बनती है। शाखाओं पर पत्ते भी सघन तथा पृथक्-पृथक् छोटी प्रशाखाओं पर लगे होते हैं।

बकुल के धूसर वर्ण, उत्तम सुगन्ध वाले छोटे फूल अकेले (विविक्त) अथवा पत्तों की डण्डी के पास गुच्छों के रूप में लगे होते हैं। प्रत्येक फूल में छोटी-छोटी अनेक पंखड़ियाँ होती हैं। पंखड़ियों के नीचे अनेक पत्तियों वाला पुष्पकोश भी होता है। पंखड़ियाँ आदि फूल के सभी अङ्ग बाहर की ओर गोलाकार में सीधे मुड़े होने के कारण इसका स्वरूप छोटे तारे जैसा प्रतीत होता है।

बकुल के फल बड़े अजमेरी बेर के आकार के होते हैं। ये कच्चे हों तो हरे, और पकने पर नारंगी हो जाते हैं। पके फल वृक्ष पर पर्याप्त संख्या में देखे जाते हैं। तोड़ने पर इनमें से एक ही गुठली निकलती है।

इस ओर मौलसिरी के वृक्ष बीज से ही तैयार किये जाते हैं। लोग इसे शोभा, फूलों के सौरभ तथा चिकित्सा में उपयोगार्थ आँगन, उपवन, वाटिका तथा शहरों में रास्तों पर पंक्तिबद्ध लगाते हैं।

मौलसिरी के फूलों का पूजा में व्यवहार होता है। इन्हें धागे में पिरोकर सुखा छोड़ें तो चिरकाल बाद भी इन पर पानी के छींटे दे हरा और सुगन्धित करके इन्हें काम में ला सकते हैं। काठियावाड़ की ओर मौलसिरी के शुष्कीकृत हारों का उपयोग प्रभूत होता है। अन्यत्र भी माली लोग यदि फूलों की ऋतु में उनका संचय कर, हार बना सुखाकर रख छोड़ें तो यह आय का उत्तम साधन बन सकता है। कोई-कोई सूखे फूलों को तकियों में भरते हैं। इनकी मधुर गन्ध देर तक बनी रहती है। फूलों से सुगन्धित अर्क भी निकाला जाता है।

मौलसिरी के फल मधुर होने से लोग इन्हें खाते हैं, यद्यपि उनमें स्वाद बहुत नहीं होता। इनका मुरब्बा भी बनता है। इसके बीजों से तेल निकलता है, जो रंगों के मिश्रण के काम में चित्रकारों के उपयोग में आता है। दिये में तथा तलने के काम में भी इस तेल का व्यवहार कर सकते हैं।

मौलसिरी के काण्ड की त्वचा चमड़े रँगने और कपड़ों पर नसवारी रंग चढ़ाने के काम में आती है। इसका काष्ठ सुदृढ़ होने से घर के चौखट आदि एवं गाड़े, फर्नीचर तथा जहाजों या छोटी नौकाओं के निर्माण में काम आता है।

वैद्यक में इसके अनेक उपयोग हैं। इनमें सब से प्रसिद्ध और प्रयुक्त दन्तस्थिरीकरणार्थ इसका उपयोग है। अन्य ग्रन्थों के अन्य श्लोकों की अपेक्षया वैद्यजीवन (लोलिम्बराजकृत) का निम्न श्लोक विदग्ध वैद्यों में बहुत प्रसिद्ध है।

> सोऽयं सुगन्धि मुकुलो बकुलो विभाति,
> वृक्षाग्रणीः प्रियतमे मदनैक बन्धुः।
> यस्य त्वचैव चिरचर्वितया नितान्तं,
> दन्ता भवन्ति चपला अपि वज्रतुल्याः॥

त्वचा का उपयोग अनेक वैद्य दन्तमञ्जनों में करते हैं। त्वचा का इतने प्रमाण में असुलभ होने से फलों का भी उपयोग किया जा सकता है, जो उतना ही गुणकारी शास्त्रोक्त तथा वैद्यों में प्रचलित है। त्वचा का उपयोग मुख में रखने के रूप में करने के अतिरिक्त क्वाथ के गण्डूष के रूप में भी किया जाता है। कृमिदन्त, दाँतों से रक्त निकल आदि में भी यह काम करता है। त्वचा के क्वाथ का उपयोग जीर्णज्वर में तथा पुष्ट्यर्थ भी होता है। फूलों का अर्क ज्वर में तथा अङ्गशोधनार्थ प्रयुक्त होता है। स्तम्भन होने से त्वचा, फल आदि का प्रयोग कई उदरविकारों तथा व्रणों में होता है। सुखाये फूलों की नसवार सूँघने से नासा-स्रोत विशुद्ध होकर प्रतिश्याय (जुकाम) तथा शिरोवेदना शान्त होते हैं। सुनते हैं, बकुल के पत्तों से सर्पदंशज मूर्च्छा भी दूर होती है।

बकुल के फूल सम्पूर्ण पुष्प होते हैं। ये मार्च से जुलाई तक लगते हैं। परन्तु कलकत्ता में दो वृक्ष ऐसे देखे गये हैं, जिन पर शीतकाल में, अन्य बकुलों पर फूल न हों ऐसे समय, फूल आते हैं। दोनों वृक्ष एक साथ लगाये गये थे। परन्तु इनमें जो अधिक उत्तम और बड़ा है, उसपर फूल तो खूब आते हैं, पर फल एक बार भी नहीं आये। दूसरे वृक्ष पर फल नियमित परन्तु अनार्तव (भिन्न ऋतु में लगने वाले) होते हैं। दोनों वृक्षों की ऊँचाई संप्रति कोई बीस फुट होगी। साधारण मौलसिरी के वृक्षों से इनके पत्ते भी कुछ भिन्न हैं।

यों मौलसिरी भारत में प्रसिद्ध तथा विदित वृक्ष है, तथापि यह भी सत्य है कि इसका यथेष्ट प्रचार होने की अभी और आवश्यकता है।

अमलतास

इस ओर गुजरात में अमलतास का नाम जितना वैद्यों में विदित है उतना आम जनता में नहीं। कारण, भारत के अन्य प्रदेशों में जिस बहुतायत से जङ्गलों में अमलतास पाया जाता है उतना गुजरात में नहीं। कच्छ-काठियावाड़ में भी औषध के रूप में अमलतास के प्रायः सभी अङ्गों का प्रयोग होता है, पर पेड़ तो इसके कहीं ही देखने को मिलते हैं।

मध्यम ऊँचाई का सुन्दर पुष्पमाला सरीखे पीले पुष्पगुच्छों से व्याप्त, पत्रहीन अमलतास का पेड़ एक बार किसी बाग-बगीचे में देखने में आय तो फिर मन पर इसकी आकर्षक छाप वज्रलेप-सी हो जाती है। संस्कृत साहित्य तथा आयुर्वेद में इसे 'आरग्वध' अथवा 'कर्णिकार' कहते हैं। इसके अन्य भी अनेक नाम हैं। हमारी ओर गुजराती में सामान्यतः 'गरमाको' कहते हैं, पर कोई-कोई अमलतास भी कहते हैं। 'गरमाको' संस्कृत नाम 'कृतमाल (क)' का अपभ्रंश है।

अमलतास के वृक्ष दक्षिण में एवं बंगाल में बड़ी संख्या में देखे जाते हैं। जनता में प्रचलित मतानुसार इसकी एक नहीं तीन-चार जातें होती हैं। इनमें विशेष भेद तो फूलों के रङ्ग और परिमाण में ही होता है। और सब बातों तथा गुणों में ये अमलतास के तुल्य ही होती हैं। सौन्दर्य की दृष्टि से विकास के पश्चात् पीले तथा स्थिर रङ्ग के फूलोंवाली जात विशेष पसन्द करने योग्य है। अन्य भेदों में फूल खिलने के बाद उनका पीला रङ्ग फीका पड़ता जाता है, जिससे वृक्ष की शोभा में हानि होती है।

कइयों का मन्तव्य है कि, अमलतास के पेड़ की वृद्धि एक-सी न हो तो उसका एक ही, उमदा और स्पष्ट काण्ड (तना) नहीं बनता। परन्तु उगाने के बाद से ही सावधान रह कर यदि चारों ओर निकालनेवाली शाखाओं को काटते रहें तथा बीचवाली तनीको दस फुट बढ़ने देकर उसके बाद काटछाँट की जाय तो वृक्ष सुन्दर, सुकोमल हरी छाल का बनता है। छाल आगे जाकर धूसर अथवा नसवारी रङ्ग पकड़ लेती है; पहले-सी मुलायम नहीं रहती।

अमलतास के पत्ते चौड़े और लम्बे होते हैं। इनकी छोटी पत्तियाँ पत्र-दण्ड पर दो पंक्तियों में विभक्त होकर फूटती हैं। पत्ते नोकदार और चमकीले पीले रङ्ग के होते हैं। साधारणतया पत्ते शीत ऋतु में कुम्हलाने लगते हैं; ग्रीष्मकाल तक नई कोंपलें नहीं फूटतीं। अप्रैल के आसपास जब सभी पत्ते झड़ जाते हैं तो प्रत्येक शाखा पर बड़े-बड़े पीले फूलों के गुच्छे दिखाई पड़ने लगते हैं। फूलों में पाँच बड़ी पंखड़ियाँ और दस परागकेशर होते हैं।

इनमें तीन बीजकोश की लम्बी डन्डी के साथ बाहर की ओर बहुत ही आकर्षक रूप में मुड़े होते हैं। शेष चार के परागकोष बड़े होते हैं। अन्य तीन में पराग होता ही नहीं।

फूल निकलने के साथ ही अमलतास में ताजे हरे पत्ते भी फूटने लगते हैं। धीमे-धीमे सारा पेड़ पत्तों से भर जाता है। कभी-कभी पिछली ऋतु की लम्बी सोटी-से आकार की एक से दो फुट लम्बी फलियाँ भी ठेठ ग्रीष्मऋतु तक लटकती दीख पड़ती हैं। फलियाँ मुलायम, पतली और गाढ़े कत्थई रङ्ग की होती हैं। फली को तोड़ने पर अन्दर से गूदे में दबे चपटे बीज निकलते हैं। प्रत्येक बीज का खाना पृथक् होता है। ये खाने पतले तन्तुओं की दीवाल से बने होते हैं।

नये ताम्रवर्ण पत्ते और पीले फूल निकलने के पूर्व अमलतास में कोई वर्णनीय शोभा नहीं होती। परन्तु इस दशा में भी इस पर थोड़ी-बहुत फलियाँ लगी हों तो इसका देखाव अपूर्व होता है।

अमलतास की लकड़ी कठिन होने से इमारत के काम आती है। परन्तु यह छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में ही उपलब्ध होने से इस काम में इसका जैसा चाहिए वैसा उपयोग नहीं हो सकता। अमलतास की लकड़ी औजारों की मूठ, खंभे और खेती के साधन बनाने के काम आती है। इसकी छाल कभी-कभी चमड़ा रंगने में प्रयुक्त होती है। इससे हल्का लाल रङ्ग निकलता है। फलियों में मृदु, पिच्छिल गूदा होता है। यह मीठा होने से बङ्गाल की ओर इसे तमाखू में मिलाते हैं। फूल और पत्ते कभी-कभी कोई लोग खाते हैं; परन्तु बकरी या अन्य प्राणी इन्हें नहीं खाते। इसके विपरीत फलियों के खाने से साधारण विरेचन होता है, तो भी बन्दर, गीदड़ आदि वन्य प्राणी इन्हें खाते हैं। जङ्गलों में अमलतास का नैसर्गिक प्रसार इन प्राणियों द्वारा ही होता है। कारण, बीज पर पाचन क्रिया का कोई प्रभाव न होने से वे पूरे के पूरे बाहर निकल जाते हैं। फलियाँ पेड़ पर ही लगी रहें तो चिरकाल पश्चात् सड़ जाती हैं।

अमलतास का उपयोग वैद्य लोग अनेक रोगों में करते हैं। इसका प्रधान उपयोगी अङ्ग फलमज्जा (फलियों के भीतर का गूदा) है। मूलत्वक् का भी प्राचीन ग्रन्थों में विधान है। रक्त में उष्णता बढ़ गयी हो, मलों का संचय होने से वात रक्त (गठिया) आदि रोग हो गये हों अथवा पित्त की वृद्धि हो गयी हो तो इसका उपयोग होता है। इन रोगों में फलियों का गूदा इमली के गूदे के साथ दिया जाता है। ज्वरों में तथा उनके बिना भी मलशुद्धि के लिए मज्जा का उपयोग होता है। गला आ गया हो, गाँठें बढ़ गयी हों तथा पानी भी न उतरता हो ऐसी स्थिति में अमलतास की छाल पानी में उबाल कर यह पानी थोड़ा-थोड़ा देते रहने से वेदना और शोथ शान्त होते हैं। फलियों का गूदा कुष्ठ (त्वग्रोग, रक्तविकार), हृदय के विकारों तथा पेट के शूल में भी उपयोगी है। अमलतास के मूल में त्वचा के रोग दूर करने का विशेष गुण है। मूल की छाल न मिले तो काण्ड-त्वक्, पत्र किंवा फलमज्जा का उपयोग किया जाता है। इनमें भी पर्याप्त मात्रा में यह गुण होता है। कई लोग मृदु-विरेचनार्थ अमलतास के सेंके हुए पत्ते भोजन के साथ खाते हैं। इन्हें कूट कर दद्रु पर लगाने से वह मिट जाती है। मूल में रेचन गुण अधिक होने से उसका स्वतन्त्र उपयोग नहीं किया जाता। फूलों का गुलकन्द बनाते हैं। वह भी साधारण विरेचन के लिए दिया जाता है।

प्राचीनों ने आरग्वध में कुष्ठहर (त्वग्रोग-नाशक) गुण का दर्शन तथा तदनुसार इसका उप-

योग विशेष रूप से किया था। चरक ने सूत्रस्थान के तृतीय अध्याय में चूर्णादि के रूप में उपयोगार्थ छोटे-छोटे कल्प दिये हैं। इनमें प्रथम कल्प में प्रथम नाम 'आरग्वध' का ही दिया है, जिससे सम्पूर्ण अध्याय को ही 'आरग्वधीय अध्याय' संज्ञा मिली है। । 'आयुर्वेद-प्रकाश' आदि प्राचीन ग्रन्थों में लिखित तथा अनेक विदग्ध वैद्यों में प्रचलित निम्न बहुशो दृष्ट गुण योग सर्वथा अपनाने योग्य है।

गन्धको मारिचैस्तुल्यः षडगुणत्रिफलान्वितः।
शम्पाकमूलजद्रावैर्मर्दितोऽखिलरोगहा ॥

—गन्धक तथा मरीच सम भाग, त्रिफला मिलित ६ भाग ; आरग्वध के मूल के रस या क्वाथ की भावना। यह योग अन्तः प्रयोग में हितकारी है। आयुर्वेद-प्रकाश में आगे आरग्वधमूल स्वरस भावित गन्धक का कण्डू, कुष्ठ, पामा आदिमें लेप विहित है। इन पद्यों में शम्पाक या शम्याक शब्द आरग्वध के लिए आये हैं। प्रथम प्रयोगमें मूल सुलभ न होने पर कोई वैद्य द्राक्षाकी भावना देते हैं। द्राक्षा के स्थान पर आरग्वध फलमज्जाका प्रयोग अधिक उत्तम है। वह भी उत्तम त्वच्य है।

इस प्रकार अमलतास या आरग्वध सुन्दर होने के अतिरिक्त अन्य अनेक दृष्टियोंसे भी उपयोगी होने से वन-उपवन तथा आङ्गनमें लगाने योग्य एक उत्तम वृक्ष है। फलियाँ पकनेपर उन्हें तोड़कर बीजों को गूदेसे अलग कर लेना चाहिए। अमलतास के कई बीज एकाध वर्ष बाद और कई दो-तीन मासमें ही उग जाते हैं। स्थिति यह होनेसे, दो-चार पौधोंकी आवश्यकता हो तो बीज अधिकाधिक संख्यामें बोने चाहिये। शक्य हो तो गमलोंका उपयोग करना चाहिये। बीजोंको शीघ्र अंकुरित करनेके लिये उनपर उबलता पानी छोड़ कर दो दिन भींगने देते हैं। इसके बाद उन्हें बोया जाता है। इनमें जो बीज फूले हुए दिखाई दें, उन्हें अलग कर सूखनेके पूर्व बो देना चाहिए। ये बीज जल्दी उगते हैं। जमीनमें बढ़े हुए पौधेको उखाड़कर स्थायी जगहपर बोनेपर कई बार उसकी वृद्धि रुक जाती है; परन्तु कुछ काल बाद पौधा प्रतिदिन आध इञ्चके हिसाबसे भी बढ़ने लगता है। दो-तीन फुट बढ़नेके बाद उसकी वृद्धि पुनः रुक जाती है। अतः जहाँतक संभव हो गमलोंमें उगाकर ही अलतासके पौधोंको स्थायी जगहपर लगाना ठीक होता है। पौधा लगाने के पांच छः वर्षोंमें ही इसपर फूल आने लगते हैं।

अमलतास के खराबमें खराब शत्रु कीड़े हैं। ये बड़ी संख्यामें आकर सारे पत्तोंको खा जाते तथा वृक्षकी रमणीयता नष्ट कर देते हैं। कीड़े दिखाई देते ही उन्हें बीन-बीन कर मार देने की खास सावधानी रखनी चाहिये।

अमलतासका पौधा भारतमें सर्वत्र सुगमतासे लगाया जा सकता है।

पर्णक्रम

कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य्य बी० ए०

काण्ड पर पत्ते किस प्रकार लगे रहते हैं, यह बात 'पर्णक्रम' से जानी जाती है। पर्णक्रम का प्रयोजन समस्त पर्णों को सूर्य प्रकाश के वितरण की समुचित व्यवस्था करना है। इसके निम्न मुख्य भेद हैं।

(१) कुण्डलिन वा वेल्लतिक

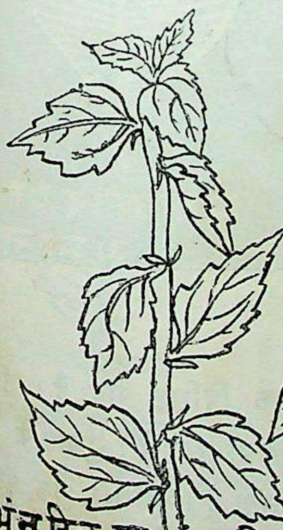
साधारण भाषा में इस क्रम को घुमावदार या पेचदार भी कह दिया जाता है। इस प्रकार में पूर्व ग्रन्थि से एक ही पत्र निकलता है। कुछ अन्तर पर पहली स्थिति से भिन्न दिशा में दूसरा पत्र निकलता है। यदि पहले पत्रोद्गम से दूसरे पत्रोद्गम तक एक रेखा खींची जाये तो यह सांप के कुण्डल के समान या लता जैसी घूमती हुई होगी। यथा चित्र संख्या ५८ में।

जपा, राई, सूर्यमुखी आदि में यह प्रकार देखा जाता है। चित्र में जपा दिखाई गई है।

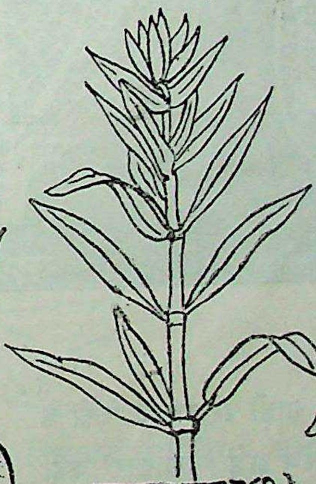
(२) साम्मुखीन वा अभिमुख

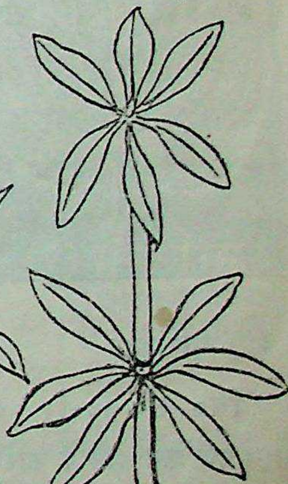
इस प्रकार में पत्र एक दूसरे के सम्मुख उत्पन्न होते हैं और पत्रों का एक जोड़ा दूसरे पत्र से विरुद्ध दिशा में उत्पन्न होता है तथा समकोण पर अवस्थित रहता है। अर्क आदि में यह प्रकार देखा जाता है। यदि एक जोड़े से दूसरे जोड़े तक रेखा खींचें तो यह भी 'वेल्लतिक' का ही अवान्तर भेद सिद्ध होगा। यथा—चित्र संख्या ५९ में।

पर्णक्रमके भेद.







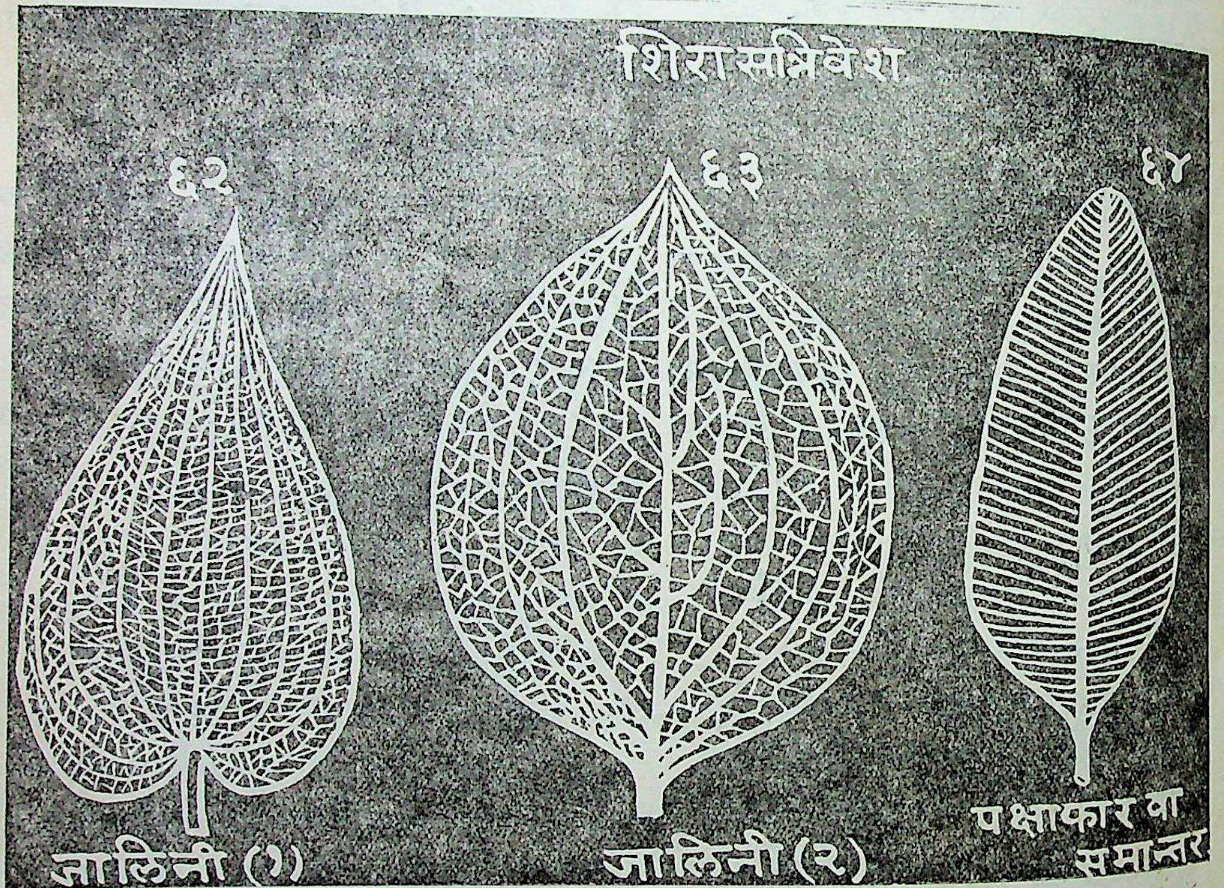


इसीका एक अवान्तर भेद "स्वस्तिकाकार" पाया जाता है। यदि चित्रसंख्या ५६ के पत्रयुगलों को और भी समीप लाया जाये तो वे समकोण पर एक दूसरे को काटते हुये प्रतीत होंगे। ईसाईयों के क्रॉस या हिन्दुओं के स्वस्तिक जैसी आकृति स्पष्ट प्रतीत होगी।

सप्तपर्ण आदि में यह क्रम देखा जाता है? इसे 'आवर्तीय' भी कहा जाता है।

(४) द्विरावर्त्तीय या द्विचक्रीय

जब एक के स्थान पर दो चक्र हो तो उन्हें यह संज्ञा दी जाती है। यथा चित्र संख्या ६१ में।



(३) चक्राकार

(चि० सं० ६०-६१) गाड़ी पर रथ के चक्रों के समान पर्ण क्रम होने के कारण इन्हें 'चक्राकार' कहा जाता है। जिस प्रकार पहिये (चक्र) के मध्य-नाभि होती है और आरायें चारों ओर से आकर उसमें प्रविष्ट हो जाती हैं, इसी प्रकार काण्डरूपीनाभि पर चक्र बनाकर पत्ते उत्पन्न होते हैं। इसकी उपमा "रथनाभाविवाराः" कह कर दी जा सकती है।

(५) पर्ण व्यूह

यह पर्णक्रम का एक विशिष्ट भेद है। जिसे चित्र संख्या ४७ में दिखाया गया है। गुलाब के फूल में यह क्रम देखने में आता है। चांगेरी, चुक, कंटकी चम्पक आदि में यह क्रम देखने में आता है।

सिरा-सन्निवेश—

पत्र फलक में शिरायें फैली रहती हैं। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ये शिरायें जिस

प्रकार से फैली रहती हैं, उसका नाम "शिरा-सन्निवेश" है। शिरा जाल के मध्य में हरीतिमा (हरेकण) भरी रहती है। सूखे पत्तों में यह हरीतिमा नष्ट हो जाती है और शिराजाल स्पष्ट हो जाता है। शिराओं के कार्य इस प्रकार हैं।

(१) ये पर्णफलक का ढाँचा बनाती है; जिससे पत्र, स्वरूप धारण करते हैं तथा वर्षा-आंधी आदि में टूटते नहीं।

(२) फलक को चपटा रखती हैं ताकि उस पर पूर्ण रूप से सूर्यप्रकाश पहुँचता रहे।

(३) ये शिरायें मूल द्वारा अचूषित जल और खनिजों को पत्रों तक एवं पत्रों में निर्मित आहार को मूल तक ले जाती है। इस प्रकार आहार संवहन का कार्य भी करती हैं।

है। यह पत्र के मध्य में पाई जाती है। (देखिये चित्र संख्या ४४) इसी के आधार पर शिरागठन के भेद किये जाते हैं। इसके प्रधानतः दो भेद हैं।

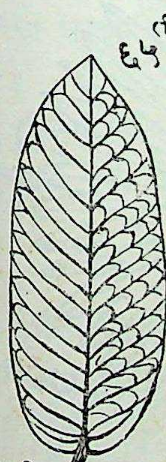
(१) जालिनी शिरास्थिति।

(२) समानान्तर शिरास्थिति वा पक्षाकार।

प्रथम प्रकार में शिरायें जाल के समान बिछी रहती हैं। द्विबीज पत्रक, विदारी, एरण्ड, हरीतकी आदि में यह प्रकार पाया जाता है। दूसरे प्रकार में शिरायें समानान्तर चलती हैं। यह प्रकार प्रायः एकबीज पत्रकों में पाया जाता है। यह साधारण नियम है।

इसके अपवाद भी देखने में आते हैं। यथा—एक बीजपत्रकोंमें आलू, उशवा आदि (सारसा—

शिरासन्निवेश







शिरास्थिति वा शिराघटक

किसी भी पत्र के अधर भाग को देखने से शिराओं की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। विशेष कर कोमल तथा मृदु पत्रों में शिरा स्थिति का ज्ञान इन उभरी हुई शिराओं के द्वारा ही होता है।

मांढि

यह पत्र की सबसे उभरी एवं प्रधान शिरा होती

विलायती सारिवा) यथा—चित्र संख्या ७१ में और द्विबीज पत्रकों में मुलतान चम्पा या क्षीरचम्पा में जालिनी शिराएँ न होकर समानान्तर पाई जाती हैं।

जालनी शिरा स्थिति के भेद

जालिनी शिरायें दो प्रकार की होती है। (१) पक्षाकार या एक मांढि। (२) करतलाकार या बहुमांढि। (१) प्रथम प्रकार में शिरस्थिति पक्षियों

के पंख के समान होती है। अर्थात् मध्य में एक मांढि प्रमुख होती है और शिरायें उसी से निकलकर सारे पत्रफलक में जाल-सा बनाती हैं। आम्र, जामुन अमरूद आदि के पत्तों में यही प्रकार पाया जाता है। यथा चित्र संख्या ६५ में।

दूसरे करतलाकार प्रकार में हाथ में जिस प्रकार अंगुलियाँ विभक्त हैं; उसी प्रकार पत्रफलक में शिराएँ विभक्त होती हैं। उनमें कोई एक शिरा प्रधान नहीं होती; जिसे "मांढि" कहा जा सके। अनेक शिरायें मांढि (मध्यसिरा) का कार्य करती हैं और उनसे शिराजाल फैल जाता है। यथा—

जाता है। यथा—चित्र संख्या ६२, ६३ तथा ६७ में। तेजपत्र, कर्पूर, दालचीनी, विषमुष्टि आदि में यही प्रकार पाया जाता है।

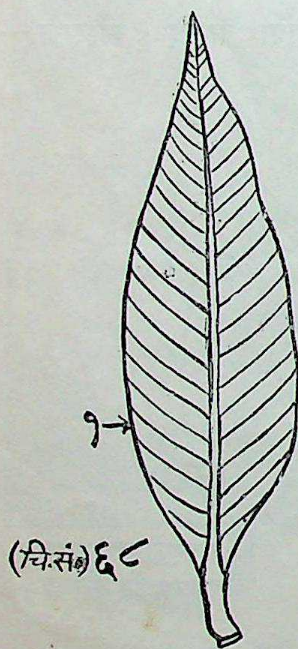
समानान्तर शिरा स्थिति भेद

इसमें भी उक्त दोनों प्रकार ही पाये जाते हैं। (१) पक्षाकार वा एकमांढि (२) करतलाकार या बहुमांढि।"

पक्षाकार—एक प्रधान मध्यसिरा (मांढि) से गौण सिरायें निकलकर समानान्तर चलती हैं। इनकी गमन दिशा पत्राग्र या पत्र शिखर होती है। पूर्वोक्त 'जालिनी पक्षाकार' के समान इनमें जाल नहीं बनते।

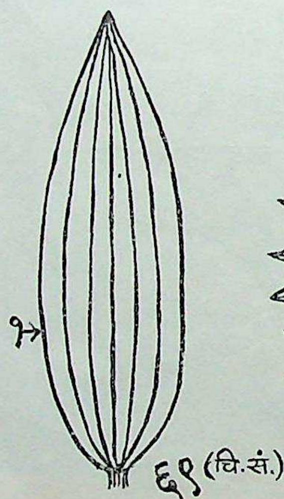
समानान्तर शिरास्थिति.

पक्षाकार



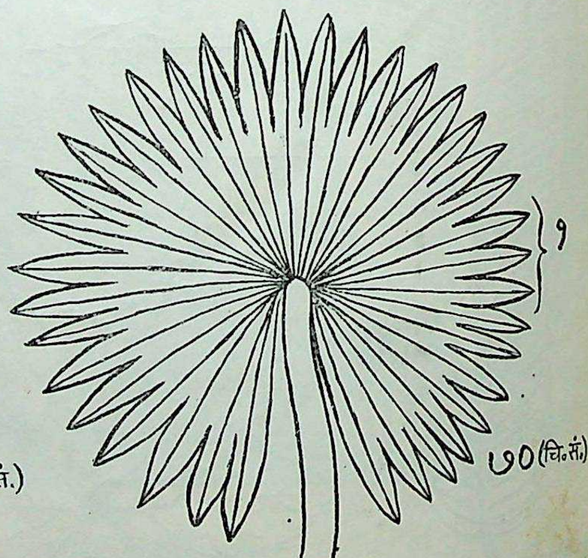
(चि.सं.) ६८

करतलाकार (१)



६९ (चि.सं.)

करतलाकार (२)



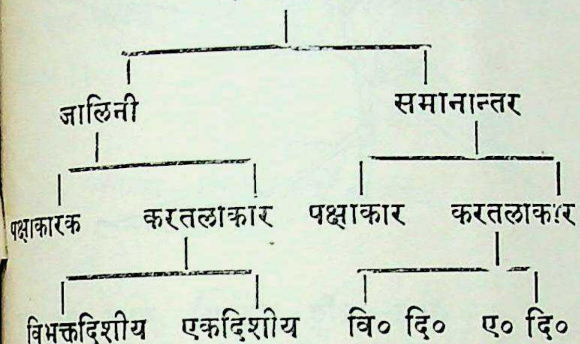
७० (चि.सं.)

एरण्ड, विदारीकन्द, जपा, पपीता आदि। यथा चित्रसंख्या ६६ में। इनमें शिराएँ विभिन्न दिशाओं में चलती हैं अतः इन्हें "विभक्त दिशीय" कहा जाता है। किन्तु बेर आदि में विभिन्न शिरायें एक ही दिशा में समानान्तर प्रकार से चलती हैं और अन्त में उनका झुकाव एक दूसरे से मिलने की ओर रहता है। अतः इन्हें "एक दिशीय" या 'एक बिन्दुधावी' भी कहा

जैसे केला, आर्द्रक, हरिद्रा आदि में। यथा -चित्र संख्या ४६ तथा ६८ में।

(२) करतलाकार—जालिनी करतलाकार के समान यहाँ भी दो भेद पाये जाते हैं। विभक्त दिशीय समानान्तर रूप में पत्राग्र की ओर न जा कर विभिन्न दिशाओं में शिरायें फैल जाती हैं। जैसे ताड़, नारियल, आदि में। यथा–चित्र संख्या ७० में।

एकदिशीय वा एकबिन्दुधावीः—इस प्रकार सारी शिरायें समानान्तर पर पत्राग्र की ओर जाती हैं और वहाँ मिल जाती हैं। यथा बाँस, गेहूं, जौ, धान्य आदि एवं अन्य तृण जातियों में। यथा संख्या ६९ में। अधोलिखित रेखा चित्र इसे स्पष्ट करता है।

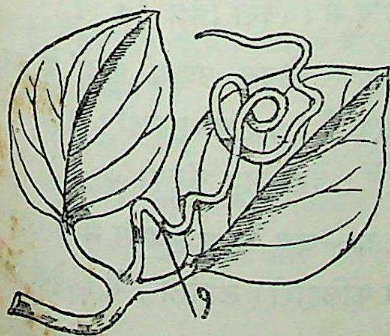


पत्र धारा या पर्णप्रान्त

पत्तों के किनारे (प्रान्त-धारातट) अनेक प्रकार के होते हैं, जैसा कि चित्रों से स्पष्ट है। सभी पत्र-धाराओं का अन्तर्भाव निम्नलिखित प्रकारों में हो जाता है।

१. अखण्ड वा पूर्ण—समान एवं नियमित, यथा — आम, कटहल, वट, उशवा आदि। देखें चित्र संख्या ७१।

(चि॰सं॰ ७१)



२. क्रकचाकारः—आरी के दांतों के समान कटे हुए और ऊर्ध्वाभिमुख, यथा—निम्ब, गुलाबादि। चित्र संख्या ७२।



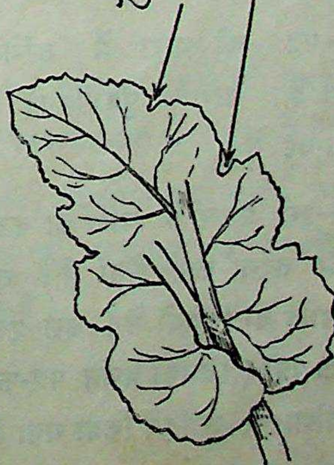
३. दन्तुरित—दांतों के समान कटे हुए और समकोणपर बाहरकी ओर निकले हुए, यथा तरबूजमें।

ईषत् खंडित (चि॰सं॰ ७३)



४. दात्राकार—किसानों की गेहूं आदि काटने की दात्री वा दरांती की भांति के कटाव वाली

(चि॰सं॰ ७४)



किन्तु ये दाँत गोल होते हैं, तीक्ष्ण नहीं यथा पर्ण-बीज वा पाषाणभेद में। देखें चित्र संख्या ४३।

५. कंटकित—पत्र की धारा काँटेदार होती है। यथा स्वर्ण-क्षीरी, केतकी आदि में। यथा चित्र संख्या ७५ में।

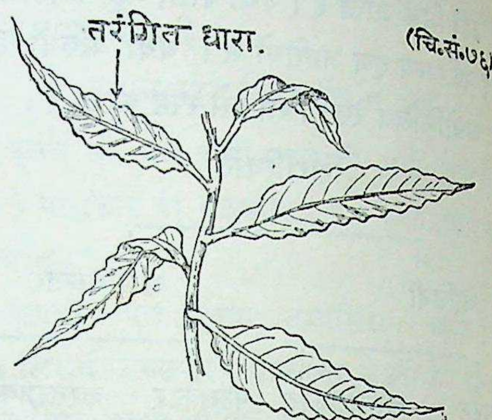
(चि.सं.७५)



सुवर्ण क्षीरी पत्र की कंटकित धार.

६. तरंगित—पत्र की धारा में तरंगे-सी उठती प्रतीत होती हैं। अशोक, पुत्रजीवादि में। यथा—चित्र संख्या ७६ में।

७. महातरंगित—इस प्रकार में धारा का कटाव बहुत गहरा और तरंगा कार होता है। यथा वनभाँटन, ओक आदि वनस्पतियों में। इस प्रकार की धारा खण्ड युक्त पत्रों (जिनका वर्णन पत्र-फलकों के कटावों में वीणाकार आदिमें किया गया है) में पाई जाती है। यथा चित्र संख्या ७७ तथा ७६ में।



(चि.सं.७६)

८. रोमश—यदि पत्र की धारा पर मृदु रोम हों।

पत्राग्र या पर्णशिखर

पत्रों की नोकों के निम्न लिखित भेद हैं।

१. तीक्ष्णाग्र—पत्राग्र तीक्ष्ण किन्तु कोमल हो यथा जपा में (देखें चित्र ७२ तथा ५८)।

२. लम्बाग्र—जब पत्रफलक से बहुत आगे निकला हुआ हो। यथा—अशोक एवं पीपल के पत्ते। देखें चित्र संख्या ७६।

३. कुण्ठिताग्र—अग्रभाग गोल हो यथा—वट, पाठा आदि में। (देख चित्र ६७)।

(४) कंटकिताग्रः—केवल पत्राग्र काँटों के रूप में परिणत हो जाता है। पत्र धारा नहीं। यथा खजूर आनानासादिमें। देखें चित्र संख्या ७०।

(५)सौत्रिकाग्रः—जब पत्राग्र सूत्ररूप में परिणत हो जाता है, यथा कलिहारी (लागंली) में। देखें चित्र-संख्या २३।

(६) रोमशः—पत्राग्र छोटा, मृदु किन्तु तीक्ष्ण हों, यथा आरग्वध और कृष्ण कासमर्द आदि।

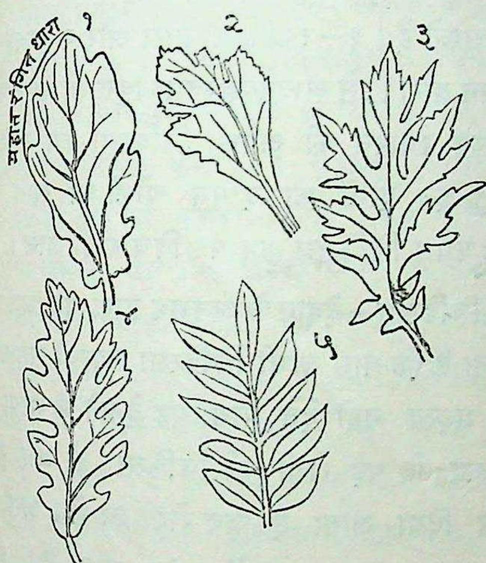
पत्र पृष्ठ वा पर्णतल

(१) स्निग्धः—चिकनी और रोम कंटकादि से रहित पत्रपृष्ठ हो यथा जामुन में।

(२) खरः—स्पर्श में खुरदरी और कंटकादि रहित हो, यथा पलाश (ढाक) पत्र वा शेफालिका (हर-सिंगार)।

(चि॰सं॰७७)

पत्राकार - पत्र धारा के कटाव.



(३) रोमशः—जब पत्रपृष्ठ पर छोटे-छोटे घने या छिटके हुए रोम पाये जायँ। यथा—माष, वृश्चिकाली (बिच्छूबूटी) आदि।

(४) चिक्कणः—जब पत्रपृष्ठपर निर्यास निकल कर उसे चिपचिपा कर दे, यथा-तम्बाखू के पत्तों में।

(५) श्लक्ष्णः—पत्रपृष्ठहरा और चमकदार होता है यथा पीपलका।

(६) कटंकितः—जब पत्रपृष्ठपर कांटे हों, यथा—कंटकारी।

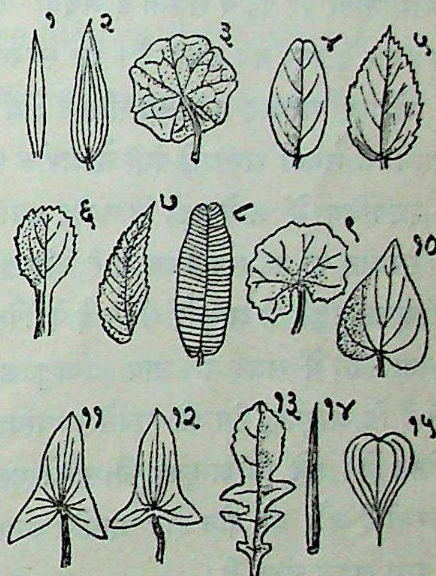
पर्णाकृत

पत्तों के स्वरूप वा आकार का ज्ञान वनस्पतियों के पहचानने में अत्यन्त सहायक है, अतः उनके भेदों को ध्यान पूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

(१) रेखारूपः—पत्र लम्बा और गोल, पतला हो। यथा—घासों में।

(चि॰सं॰७८)

पर्णाकृति



(२) भालाकारः—भाले के समान फलक चौड़ा और पत्रदण्ड लम्बा यथा बांस में।

(३) ढालाकारः—पत्र फलक गोल और पत्रदण्ड फलक की अधरपृष्ठ पर मध्यमें लगा हो। यथा कमलमें।

(क्रमशः)

ग्राम पंचायत और स्वास्थ्य सुधार

कविराज ज्ञानचन्द वशिष्ठ

आज अयुर्वेद जगत में नव निर्माण के आन्दोलन की उथल-पुथल मची हुई है और आयुर्वेद जितना उठना चाहता है ; उसके विरोधी उसे उतना ही दबाने की भरसक चेष्टा कर रहे हैं। इस उथल-पुथल में हमारे देश के योग्य वैद्य इस चेष्टा में संलग्न हैं कि आयुवद किन साधनों द्वारा ऐलोपैथी के समानस्तर पर पहुँच सकता है अथवा एक वैद्य किस प्रकार डाक्टर बन सकता है। इस सम्बन्ध में उत्तर प्रदेशीय सरकार भी क्रियाशील है ; और उसने प्रान्त के समस्त सरकारी वैद्यों से अपील की है कि वे शल्यक्रिया में आगे बढ़ें, निःसन्देह हमारी प्रान्तीय सरकार का यह सफल प्रयास है; और इस दिशा में सफलता हुई तो आयुर्वेद संभव है ऐलोपैथी की समानता करने में समर्थ हो जाय। किन्तु हम तो चाहते हैं कि आयुर्वेद, संसारमें सबसे उच्चस्थान पर प्रतिष्ठित हो। हमें तो आयुर्वेद की सर्वतोन्मुखी उन्नति करनी है और वह दीन हीन ग्रामीण जनता की सेवा द्वारा सहज्ञ संभव है।

उत्तर प्रदेशीय सरकार को चाहिये कि वह अपने सरकारी वैद्यों से ग्राम पंचायत द्वारा स्वास्थ्य सुधार का कार्य कराकर इस दिशा में आयुर्वेद की उन्नति करे हमारी इस प्रेरणा का यह तात्पर्य नहीं है कि हम इस सम्बन्ध में आयुर्वेद पर कुछ व्यय कराना चाहते हैं। सरकार उचित समझे तो इस योजना द्वारा सरकारी वैद्यों को कुछ अधिकार और सुप्रबन्ध देकर अपने पंचायत राज्य को पूज्य बापू का मूल मन्त्र "राम राज्य" का कलेवर पहना सकती है। राम राज्य की स्थापना के हेतु हम कुछ संक्षिप्त योजना लिख रहे हैं, प्रान्तीय सरकार चाहे तो इस सम्बन्ध में एक समिती स्थापित कर सकती है जिसके द्वारा इससे भी कहीं सुन्दर योजनाएं निर्मित हो सकेगी।

स्वास्थ्य सुधार कार्य को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। १—चिकित्सा द्वारा और २—स्वास्थ्य स्थापन द्वारा। इसे आयुर्वेदज्ञ स्वास्थ्यवृत्त भी कहते हैं। स्वास्थ्य स्थापन की अपेक्षा चिकित्सा-क्रम गौण है किन्तु इन दोनों का दामन चोली का साथ है। अत: प्रथम चिकित्सा क्रम पर विचार हो जाय।

चिकित्सा—देहात के अनुभव द्वारा यह कहा जा सकता है कि ग्राम वासी चिकित्सा संबन्धी सहायता को महत्त्व नहीं देते, प्रायः यह देखने में आया है कि घर में पड़े रोगी की चिकित्सा की ओर तब ध्यान दिया जाता है जब रोगी का रोग असाध्य अथवा याप्य अवस्था में पहुंच जाता है। इस प्रकार के कई उदाहरण पाये जाते हैं। इस विनाशकारी कुटेव को दूर करने के लिये सरकार द्वारा कोई धारा लगाई जाय जिसके प्रभाव से देहाती लोग मेडीकल एड द्वारा लाभ उठाने के अभ्यस्त हो जांय। क्योंकि जिस प्रकार आत्महत्या करना अपराध समझा जाता है उसी प्रकार चिकित्सा न कराना भी अपराध समझा जाय। प्रायः यह देखने में आया कि दोनों का अन्तिम परिणाम एक ही होता है।

चिकित्सक तथा उसके सहायक कर्मचारियों के रहने आदि का प्रबन्ध

देहाती क्षेत्र में इसका विशेष प्रभाव पड़ता है,

वह चिकित्सक जिसे रहनसहन तथा इसी प्रकार के अन्य साधनों का कठिनाई है, उससे कभी भी जनता को सच्ची सेवा न हो सकेगी। अतः यह परमावश्यक है कि ग्राम पंचायतें अपने यहाँ के चिकित्सालयों के सभी कर्मचारियों के लिये निवास स्थान की सुव्यवस्था करें और प्रान्तीय सरकार को चाहिये कि प्रत्येक ग्राम पंचायत के पास जहाँ कि चिकित्सालय खुले हुये हैं,एक मानचित्र बनाकर भेजे यदि प्रारम्भ में यह संभव न हो तो कुछ हिदायतें जो निम्न प्रकार हों, चिकित्सालय खोलने के पूर्व ही पूरी करा ली जांय। यथा चिकित्सालय में ४ कमरे हों, १ चिकित्साधिकारी के बैठने का कमरा, २ दवाइयाँ वितरण करने का कमरा, ३ दवाइयाँ तथा अन्य सामान रखने का कमरा, ४ दो रोगियों के रहने योग्य कमरा—इसके अतिरिक्त कम्पाउन्डर तथा तीन नौकर व चिकित्साधिकारी का निवास स्थान भी चिकित्सालय के साथ ही हो। इससे कम स्थानवाले मकान में चिकित्सालय खोलने की आज्ञा न दी जाय। अब तक सरकार ने इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया है। प्रान्तीय सरकार यदि गांव में खुले चिकित्सालयों के चिकित्साधिकारियों से वैसा ही काम लेना चाहती है, जैसा कि शहरी चिकित्साधिकारियों से लेती है, तो उन्हें भी शहर की भाँति रहन-सहन की सहायता प्रदान करे। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये किसी विशेष धन राशि की आवश्यकता न होगी एवं सुप्रबन्ध और सुनिरीक्षण द्वारा ही सब ठीक हो जायगा।

उग्र प्रभावकारी औषध

प्रायः देखा जाता है कि राजकीय आयुर्वेदिक तथा यूनानी चिकित्सालयों को जो औषधियाँ दी जाती हैं वे इतनी साधारण होती हैं कि कभी-कभी रोग की साध्यावस्था में भी विफल हो जाती हैं। तब हमारे वैद्य या तो रोगियों को अपने पास से औषध देकर उनका यथोचित मूल्य ले लेते हैं अथवा कुछ लोक निन्दा के भय से उग्र प्रभावोत्पादक औषधियों का नाम लिखकर दे देते हैं। इस प्रकार के व्यवहार से देहाती जनता में असन्तोष तथा अविश्वास घर कर जाता है और जनता निराश हो इस सहायता से वञ्चित रह जाती है। यह स्वाभाविक है कि जनता को मूल्य देकर औषधियाँ लेनी पड़ती हैं तो जनता निजी वैद्यों या डाक्टरों के पास जाना चाहेंगी ही, अतः रोग की हीनावस्था में पूर्ण काम कर सकने योग्य औषधियाँ इन चिकित्सालयों को मिलनी चाहिये।

स्वास्थ्य स्थापन अथवा स्वस्थवृत्त

इसकी ओर देहातों में तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता। ग्राम पंचायत राज की १५ वीं धारा में इसके सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला गया है जो संकेत मात्र है। जिस पर सब ही एक सूत्र होकर नहीं चल सकते अतः उन सब बातों पर क्रमशः विचार करें तो हमें प्रारम्भ से ही चलना होगा। इससे प्रथम ग्राम पंचायतें ग्राम्य जनता के वैवाहिक कार्यों में सुधार करें।

विवाह

(अ) उन नवयुवकों और नवयुवतियों का पाणिग्रहण संस्कार न होने दिया जाय जिनकी आयु प्रायः क्रमशः १६ व १५ वर्ष से न्यून हो।

(ब) उनमें किसी ऐसे रोग का समावेश न हो गया हो जिसका प्रभाव सन्तान पर बुरा पड़े।

(स) उनमें किसी ऐसे मादक द्रव्य के सेवन करने का व्यसन न हो जिसका प्रभाव भावी संतान पर पड़े।

सन्तान—खोज करने पर पता चला कि संसार

में बच्चा, जच्चा की सबसे अधिक मृत्यु हमारे देश में होती है। दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि हमें आज कस्बों और ग्रामों में जिन दाइयों से वास्ता पड़ता है, वे अशिक्षित, गन्दी, मूढ़ और बेसमझ हैं। उनको न तो शुद्धता का ज्ञान है और न उन्हें इसका पता है कि शुद्धता के नियमों व उपायों को पालन न करने से जच्चा व बच्चा को कौन-कौन हानी हो सकती है। इससे भी दुःख की बात यह है कि प्रसव कार्य को हिन्दू जाति के उच्च घराने की स्त्रियाँ घृणित व अपवित्र समझती जाती हैं। यही कारण है कि धातृ विद्या नीच जाति की अनपढ़ स्त्रियों के भाग्य में चली गई है। इस दिशा में मौलिक परिवर्तन करने के हेतु पंचायतें उच्च जाति के घराने की शिक्षित और स्वच्छ देवियों को अपने चिकित्सालय के वैद्य, डाक्टर, अथवा लेडी डाक्टर द्वारा शिक्षित करावें और बच्चा जनने के काम में आनेवाले यंत्रों तथा औषधियों का प्रबन्ध करें। मेरा तो विचार है कि प्रत्येक गाँव में एक महिला सभा बनाई जाय जिसमें महीने में एक बार इसका ज्ञान व्याख्यान द्वारा कराया जाय।

सार्वजनिक स्वास्थ्य

इसको हम मुख्यतया ६ भागों में विभक्त कर रहे हैं।

(१) ग्राम निर्माण—नया गाँव बसाते समय हमें निम्न बातों पर ध्यान रखना होगा और प्राचीन ग्रामों में पुराने मकान गिर जाने पर नव-निर्माण के समय इस योजना को कार्यान्वित करना श्रेयस्कर होगा।

(अ) गाँव के मकान प्रायः एक ही सीध में हों और उनकी समानान्तर रेखा की दूरी कम से कम १२ फीट हो। (ब) मकानों में रहने का समुचित प्रबन्ध हो। (स) गन्दे पानी की नाली मकान के पीछे होकर चलाई जाय अथवा पानी के गड्ढे बना कर उनका गन्दा पानी खाद के गड्ढों में डाल दिया जाय। (द) मकानों का धरातल बाहरी धरातल से ऊँचा हो। (क) मुर्दाघर (श्मशान) गाँव से ५०० गज की दूरी पर हो और यदि गाँव नदी के किनारे स्थित हो तो मुर्दाघर गाँव से उस दिशा में बनाया जाय जिस ओर नदी का प्रवाह हो। (ख) बसे हुए गाँवों के नीरव और दूषित खंडहरों को उन के मालिक द्वारा बसाने या समतल और शुद्ध कराने का प्रबन्ध कराया जाय। मालिक यदि असमर्थ हो तो ग्राम-पंचायतें उन्हें अपने अधिकार में लेकर उन की समुचित व्यवस्था करें।

(२) पशुशाला—यह बस्ती से कम से कम ५०० गज की दूरी पर बनाई जाय और उनकी जमीन इस प्रकार ढालू हो कि बरसाती पानी गाँव की ओर न जा सके, इनकी शुद्धता में यह विशेषतः ध्यान रक्खा जाय कि पशुओं का मल-मूत्र खाद के गड्ढे के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर न फेंका जाय।

(३) मल-मूत्र त्यागने का स्थान—गांव के प्रायः सब ही स्त्री-पुरुष गांव के बाहर ही मल-मूत्र त्यागने जाते हैं, परन्तु उनका यह तरीका इतना गलत और दूषित है कि इससे स्वयं ग्रामवासियों को बड़ी २ भयंकर बीमारियों और महामारियोंका सामना करना पड़ता है और लाखों काल के गाल में चलेजाते हैं। इसके लिए ग्राम पंचायत जन संख्या के आधार पर एक खेत निश्चित कर और उसमें खाइयां खोद कर मल-मूत्र, त्यागने का समुचित प्रबन्ध करदें ऐसा करने से दो लाभ होंगे, १—गन्दी हवा से गांव दूषित न हो पायेगा। २—मल मूत्र का खाद के रूप में सदुपयोग भी हो जायगा। इसी प्रकार खेत को बदला जा सकता है।

४. मल-मूत्र तथा कूड़ा एकत्रित करना—यह स्वास्थ्य

के साथ ही साथ कृषि के लिये भी उपयोगी है। यदि इसका व्यापक प्रचार हो जाय तो अन्न की उपज की कमी अपने देश में जो इस समय है वह थोड़े समय में पूरी हो जायगी। गांव पंचायत इसका विशेष ध्यान रक्खे कि कोई भी गन्दी, सड़ी, गली वस्तु गांव के मकानों अथवा गलियों में न पड़ी रहे, बल्कि वह इन्हीं गढ्ढों में डाल दी जाय जो पंचायत ने खाद के लिये बनाये हैं। इसका और भी समुचित प्रबन्ध करने के लिये ग्राम पंचायतें, कुछ मेहतर नौकरी पर रक्खें तथा उनके कार्य की देखरेख करने के लिये एक जमादार रक्खें जो वहां के चिकित्साधिकारी के अधिकार में रहे।

(५) संक्रामक रोगों की रोक थाम—यह जानते हुए भी कि सहस्रों स्त्री, पुरुष और बच्चे इन महामारियों के शिकार होते हैं, हमारे भोले देहातियों की आँखें नहीं खुलती। यह संक्रामक रोग तथा, प्लेग, हैजा, चेचक आदि बड़े शहरों में अधिक फैला करते थे परन्तु वहां के शिक्षित वर्ग ने आधुनिक विज्ञान द्वारा इससे बचने के साधन उपलब्ध कर लिये और आज पूर्वापेक्षा बड़े नगरों में इनका प्रकोप कम होता जा रहा है। गांव में इस समय इन रोगों का बाहुल्य है। यहां तक कि गांव के गांव उजड़ जाते हैं। इससे बचने के लिये चिकित्सा प्रबन्ध इतना आवश्यक भी नहीं जितना इन रोगों को पैदा ही न होने देना आवश्यक है। इसके लिये हमारी प्रान्तीय सरकार अथक चेष्टा कर रही है पर देहातियों के कानों पर कब जूँ रेंगती हैं? जब कभी बक्सीनेटर चेचक का टीका लगाने गांव में चला जाता है तो एक तूफान सा आ जाता है, स्त्रियां अपने बच्चोंको इस प्रकार छिपा देती हैं कि मानो कोई आदमी खोर इस गांव में घुस आया। इस बुरी कुटेव को तोड़ने के हेतु पंचायतों की ऐसी व्यवस्था अनिवार्य है कि जिसके प्रभावसे प्रत्येक व्यक्ति टीका लगवाने को विवश हो जाय। इसके लिये भी ग्राम पंचायतों के तत्त्वावधान में चिकित्सालयों के चिकित्साधिकारी द्वारा एक सभा स्थापित की जाय जिससे प्रत्येक ग्रामवासी प्रतिमास किसी निश्चित तिथि पर एकत्रित होकर व्याख्यान द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकें।

(६) अनिवार्य स्वास्थ्य लाभ:—हमारे देहातों में इसकी विशेष आवश्यकता है। शिक्षा का अभाव और सत्संग की कमी के कारण ग्राम वासी इसे बिना प्रतिबन्ध अपनाने को उद्यत न होंगे। अस्तु, इसको उन्नत बनाने के लिये हमारी प्रान्तीय सरकार को चाहिये कि जिस प्रकार जिले भर का स्वास्थ्य सम्बन्धी अधिकार जिला स्वास्थ्य अधिकारी को दिया गया है उसी प्रकार अदालती पंचायत के क्षेत्र के अन्तर्गत खुले चिकित्सालयों के चिकित्साधिकारी को उस पूरे क्षेत्र का अधिकार दे दिया जाय जो उस अदालती पंचायत में है। ऐसी व्यवस्था होने पर स्वास्थ्य का कार्य सरलता और सफलता पूर्वक आगे बढ़ सकेगा क्योंकि इस क्षेत्र की जनसंख्या लग-भग १००० से १०००० तक होगी जो किसी एक नाटिफाइड एरिया अथवा म्युनिसिपिल एरिया के समकक्ष हो जाती है। यह योजना सरकार द्वारा चालू की जा सकती है एवं स्वास्थ्य सुधार के कार्य को और भी समुन्नत बनाने के लिये हमारीजन प्रिय सरकार प्रत्येक अदालती पंचायत के क्षेत्रमें एक पंचायत किसान संघ की स्थापना करे जिसे जिला विकास संघ के समानाधिकार प्राप्त हों। इसके निम्न सदस्य रक्खें जाँय-१ अदालती पंचायतका सरपंच। २ प्रत्येक ग्राम पंचायतकाप्रधान। ३ चिकित्साधिकारी। ४ और बीज गोदाम का सुपरवाइजर। इस प्रकार इन सदस्यों की संख्या ६ से ८ तक हो सकती है। प्रारम्भ में जब तक सरकारी चिकित्सालयों तथा बीज गोदामों की संख्या अदालती पंचायतों की अपेक्षा न्यून है तब तक एक से अधिक पंचायत विकास संघ की सदस्यता दोनों सरकारी कर्मचारी करें।

ऋतुधर्म

कविराज अत्रि देव गुप्त आयुर्वेदालंकार

ऋतु का अर्थ वपन का समय है। इस वपन काल में क्षेत्रीकरण—खेत को गर्भ धारण करने के योग्य बनाने के लिये कुछ बातें करनी जरूरी होती हैं। इन्हीं बातों का नाम 'ऋतु-धर्म' (ऋतुकाल में पालने योग्य कर्त्तव्य) है।

धर्म-शब्द इस देश और संस्कृति का विशेष शब्द है। यूरोप या पाश्चात्य देशों में धर्म जैसी कोई वस्तु नहीं। धर्म का अर्थ (धारणात् धर्मः) अंग्रेजी के 'रिलीजन' शब्द में ठीक-ठीक नहीं आता। इसलिये धर्म का विचार इस देश के लिये ही है। इस देश के लोग धर्मभीरु, धर्म के प्रति श्रद्धा, भक्ति रखने वाले अन्धविश्वासी अधिक हैं; इसलिये यहां के आचार्यों ने इस मानव निर्बलता का पूरा-पूरा लाभ लिया है; उन्होंने सब वस्तुओं को धर्म के साथ बांधा, और धर्म को ब्राह्मणों के साथ सनातन रूप में जोड़ दिया। दूसरे वर्णों को इतनी छूट नहीं दी। अस्तु।

इसीलिये ऋतुकाल में बरती जानेवाली बातों को भी धर्म का नाम देकर उनको स्मृतियों में भी लिख दिया है। अर्थात् ऋतु काल में औरत इन कर्त्तव्यों का जरूरी पालन करे। ये नियम कुछ तो शरीर के स्वास्थ्य के लिये हैं, कुछ ब्रह्मचर्य रखने में सहायक हैं और शेष कुछ नियम सद्वृत्त के हैं। जिस प्रकार सभास्थल में छींक आते समय मुख या नाक को ढांप लेना चाहिये, या जम्भाई के समय मुख पर हाथ रख लेना चाहिये—ये बातें केवल सद्वृत्त की हैं, उसी प्रकार ऋतु-धर्म में भी कुछ बातें केवल सभ्यता के रूप में ही हैं, ऐसी मेरी मान्यता है। जैसे कि हाथ में लेकर भोजन करना, यह बात केवल 'अस्पृश्य' बताने के लिये है। यह उस काल की सभ्यता थी। ब्राह्मण काल ने जहाँ बहुत काम अच्छा किया, वहां औरतों के लिये कुछ बुरा भी किया। उनको वेदादि के अध्ययन से तो अलग किया ही। ऋतुमती और प्रसूता स्त्रियों की हालत तो चाण्डालसे भी बदतर कर दी है। इसीका फल है, कि ऋतुमती के लिये हाथ में लेकर भोजन करने तथा जमीन पर सोने का विधान धर्म के नाम पर किया गया।

फिर भी इनमें कुछ सत्य निहित है। सब बातें व्यर्थ नहीं हैं, इस समय ऋतुमास में सभी प्रकार के अलङ्कार, वेश, भूषा, वेणी का बांधना, अंजन लगाना, अङ्गराग, सुन्दर वस्त्र धारण करना मना है। जिससे कि स्त्री ब्रह्मचारिणी रह सके, उसमें कामवासना न आये। उसके पीछे इसका यही अर्थ होगा—ऐसा मैं मानता हूं।

अब आप आत्रेय मुनि के मुख से ऋतु-धर्म सुनिये—

ततः पुष्पात्प्रभृति त्रिरात्रमासीत् ब्रह्मचारिणी, अधः शायिनीं पाणिभ्यामन्नमजर्जर भुञ्जाना न च केचिन्मृजामापद्येत्। चरक

रजोदर्शन होने पर तीन रात तक स्त्री (रजोधर्म के दिनों में) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे। जमीन पर सोये, हाथों में या मिट्टी के पात्र में भोजन करे, किसी भी प्रकार की सफाई (स्नान आदि) न करे।

चरक ने तो कुछ थोड़ी उदारता भी दिखाई, परन्तु (ब्राह्मण काल के बने, ब्राह्मणों के लिये ब्रह्म-भोज का विधान बताने वाले) सुश्रुत ने तो (इसको इतना सरल न रखकर अच्छी प्रकार से) स्त्रियों की अच्छी खबर ली है। देखिये —

ऋतौ प्रथम दिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपात स्नानानुलेपनाभ्यंग नखच्छेदन प्रधावन हसन कुथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिहरेत् ॥ दर्भ संस्तर शायिनीं करतल शराव पर्णान्यतम भोजिनीं हविष्यं त्र्यहं च भर्त्तुः संरक्षेत् ॥

ऋतु के प्रथम दिन से ही लेकर स्त्री ब्रह्मचारिणी (अष्टांग मैथुन से रहित-रेडियो के भी सुरीले गाने न सुने) रहे। दिन में न सोये, आंख में अंजन या सुरमा या दाँतों में मसी भी न लगाये। आंसू भी न निकाले ; स्नान भी न करे। लेप-कोलन या लिपस्टीक, फेस पाउडर, क्रीम कुछ भी न मले। शरीर में तेल की मालिश भी न करे। नख भी न कटाये, उन पर क्युटेक्स भी न लगाये ;—दौड़े भी नहीं ; ज्यादे हँसे भी नहीं; जोर से खुर्राटे भरना या ऊँचा हँसना, अट्टहास भी न करे ; खुली वायु में घूमने भी न जाये, और किसी भी प्रकार की मेहनत न करे।

साथ ही जमीन पर दाभ (कुश की चटाई) बिछाकर सोये, हाथ में, पत्ते पर या मिट्टी के पात्र में भोजन करे ; तीन दिन तक पति का मुख भी न देखे—उससे अलग रहे।

इन बातों में भी ऋषियों ने कुछ सत्य देखा है—ये सब बातें उसकी कामवासना को दबाने और मन को नियमित तथा सात्त्विक बनाने के लिये हैं। उपवास एवं नियमित जीवन मन को स्वस्थ बनाते हैं। गर्भिणी का मन पवित्र बना रहे, इसलिये ये सब उसकी पूर्व भूमिका है। गर्भ का जीवन मुख्यतः माता के ऊपर निर्भर है, मन भी माता के मन और आहार से बनता है। इसलिये अधिक उत्तरदायित्व माता के ऊपर है यही कारण है कि मनु ने कहा है कि—

उपाध्याय से आचार्य की इज्जत दस गुनी, आचार्य से पिता की एक सौ गुनी और पिता से माता की इज्जत हजार गुनी अधिक है।

इसलिये हजार गुणी कीमत पाने के लिये माता को थोड़ा कष्ट भी उठाना पड़े तो क्या हानि। इन तीन दिनों की कठिनाई की कमी को दौहृद होने पर वह पूरी कर लेती है ; उस समय तो इसकी इच्छायें पूर्ण ही की जाती हैं*। इसलिये इन तीनों दिनों का कष्ट उठा लेना चाहिये।

इसका लाभ

दिन में सोने से लड़का निद्रालु होता है। अंजन करने से अन्धा, रोने से विकृत दृष्टि, स्नान और अनुलेप से दुःखी स्वभाव का, तैल की मालिश से कुष्ठी, नख के कटाने से दूषित नख का, भागने से चंचल ; ज्यादा हँसने से श्यावदन्तक बहुत बोलने से प्रलापी, सिर खुजाने से गंजा, खुली वायु सेवन और परिश्रम करने से पागल होता है।

ये बातें कहाँ तक ठीक हैं, यह मुझे पता नहीं। मैं तो इतना समझता हूं कि यह एक भय सामने खड़ा किया हुआ है, जिससे ऋतुमती स्त्री इन कार्यों से बचे, उसके बचने का एक ही उद्देश्य है —जितेन्द्रियता संयमी बनी रहे, जिससे ब्रह्मचारिणी रहे। ब्रह्मचर्य ही इस अवस्था में महत्त्व की वस्तु है।

---

* इसी कारण राजा दिलीप अपनी पत्नी सुदक्षिणा की इच्छाओं को जानने के लिये उसकी सखियों से बार-बार पूछते थे, कि कहीं शर्म या लज्जा के कारण वह अपनी इच्छाओं का प्रकाश न कर सके और उसकी कोई इच्छा न रह जाये। —रघुवंश

इस समय मन, शरीर दोनों से ही ब्रह्मचारी रहना जरूरी है। शरीर से ब्रह्म चर्य्य पालन करना सरल हो सकता है। परन्तु मन से भी ब्रह्मचारी रहे, इसीलिये इतना कठिन शुष्क जीवन व्यतीत करने को कहा है। इससे मन भी पवित्र होता है। मन की पवित्रता, नियमित जीवन, संयम और ब्रह्मचर्य के प्रभाव से संतान अवश्य ही धार्मिक, सात्त्विक होती है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

आहार तथा रहन सहन का विषयों के साथ बहुत सम्बन्ध है; इसीसे भगवान ने कहा है कि—

"विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ॥"

आहार का त्याग करने से मनुष्य का मन विषय से हट जाता है। इस प्रकार ये तीन दिन कठिनाई के व्यतीत करने से उसमें सात्त्विक भाव उदय होकर मन के लिये उत्तम क्षेत्रीकरण होता है; यह एक विशेष लाभ है।

दूसरा लाभ—गर्भ रह जाये,इसलिये स्त्री को कृश बनाना जरूरी है। अतएव उसे खानेके लिये भी यवान्न (जौ का आटा) दिया है। जौ का भोजन चर्बी को कम करता है; साथ ही दिन में न सोना, दाभ या नीचे भूमि पर सोना (गद्दों के बिना) ये सब बातें मेद को कम करती हैं। मेद के कम होने से और शरीर कृश होने से गर्भ अवश्य रह जायेगा।

इस प्रकार आचरण करने से शरीर के कृश हो... पर गर्भ अवश्य रहजाता है। पशु आदि में... जिनमें गर्भधृति की चाह हम नहीं देखते, इनके ऋतु... काल आने पर उनकी खुराक कम कर देते हैं... सूखी घास देते हैं, जिससे चर्बी कम हो। देखा भी जाता है कि अति मेदस्वी औरत गर्भधारण नहीं करती।

यह केवल सूत्र है, इसको आँख मीचकर नहीं पालन करना चाहिये। इसका उद्देश्य, शरीर का गर्भधारण के योग्य-बनना, शरीर का क्षेत्रीकरण, मन का सात्त्विक बनना है। बस, इन दो उद्देश्यों को देखकर आचार्यों ने उस समय के लिये नियम बनाये थे, अब आप इन नियमों को शुद्धकरके-उनका नया संस्करण करके इनको नया रूप दे दीजिये। जैसे-

ऋतुकाल में कोई स्त्री साईकिलपर न चढ़े, सिंगरमशीन न चलाये; औफिस में पैर लटकाकर न बैठे, कमर में कोई तंग बस्त्र न बांधे। नाच में न जाये आदि। समय और अवस्था के अनुसार नियम बनाने की छूट है—

"वृत्तं तदपि चात्रेयः सर्वदैवानुमन्यते"

इसलिये ऋषियों की भावना और उनके उद्देश्य को ध्यान में रखकर ऋतुधर्म का पालन करना चाहिए। यही इस प्रकरण का उद्देश्य है।

भारतीय शास्त्र में रजस्वला को प्रथम दिवस में चाण्डाली, द्वितीय में ब्रह्मघातिनी और तृतीय में रजकी के समान अशुद्ध बता कर कहा है कि वह चौथे दिवस में शुद्ध होती है। पाश्चात्य चिकित्सक भी अब इस सिद्धान्त की सत्यता को मानने लगे हैं। भारतीय मेडिकल एसोसियेशन की नवम्बर की पत्रिका में डाक्टर रेड्डी और डाक्टर गुप्त ने एक लेख लिखा है। उनका कहना है कि रजस्वला-अवस्था में स्त्रियों में विषकीटाणु होते हैं। वैज्ञानिकों के अनुभव हैं कि रजस्वला स्त्री के हाथ में कोई खिला हुआ फूल दिजिए, तो वह मलीन हो जाता है, मेढ़क दीजिए तो मेढक की पाचनशक्ति नष्ट हो जाती है और उसके हृदय की गति या तो क्षीण हो जाती है या रुक जाती है। रजस्वला यदि खमीरा बनावे तो वह अच्छा नहीं बनता। यूरोप और अमेरिका के ये डाक्टर भी अब इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि रजस्वला के शरीर से तीसरे दिन तक विषाक्त कीटाणु निकलते रहते हैं और चौथे दिन वह शुद्ध हो जाती है।

—'सुधानिधि' में 'संस्कृतम्' से उद्धृत

षष्ठ महाराष्ट्र प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन सोलापुर
के
अध्यक्ष वैद्यराज पु० वि० धामणकर आयुर्वेदभूषण का

संक्षिप्त भाषण

गत २८-५-१९५० को सोलापुर में महाराष्ट्र प्रांतीय वैद्य सम्मेलन का छठा अधिवेशन हुआ। अध्यक्ष पद से वैद्यराज धामणकरजी ने निम्नाशय का भाषण दिया—

१५० वर्षों तक भारत पर एकछत्र राज्य करके अंग्रेज यहां से चले गये, अतएव ब्रिटिश राज्य-कालीन शुभाशुभ बातों की समालोचना करने मात्र ही में अब अपना समय नष्ट नहीं करना चाहिये; आज तो हमें आयुर्वेद का भविष्य निश्चित कर प्रत्यक्ष कार्य ही करना चाहिये। आयुर्वेद का भविष्य निश्चित करने के लिये उसके इतिहास का परिशीलन करना पड़ेगा।

आयुर्वेदीय काल

वैदिककाल, महाभारत काल, वनौषधि काल, रसौषधि काल, संग्रह काल, ह्रास काल इस प्रकार इसका विभाजन माना जाता है। वेद में गृहवाचक 'क्षय' शब्द आया है, क्षय का अर्थ वेद ने दिया है घर और नाश, अर्थात् जब से घर बनाकर मानव उसमें रहने लगा तभी से व्याधियों का आरम्भ हुआ। इस व्याधि से मुक्त कराने के लिये वैद्य के अतिरिक्त दूसरा कौन सहायक मिलेगा। वेद में आथर्वणी, आंगीरसी, मानुषी, दैवी, आसुरी इत्यादि अनेक चिकित्सा पद्धतियों का वर्णन है। प्राण को स्वतन्त्र आध्यात्मिक शास्त्र माना है, जो कि जीवन का आधार है। थर्व का अर्थ चंचलता व अथर्व यानी मनःस्थैर्य—चित्तवृत्तिनिरोध है, इसकी सम्यक् साधना ही अथर्वणीय चिकित्सा है। अथर्ववेद का ध्येय धातुसाम्य को स्थिर रखना है इसलिये इस चिकित्सा को आथर्वणी चिकित्सा कहते हैं।

आंगीरसी—धातुसाम्य बनाकर रखने की ओर ही इसकी भी प्रधानता है, इसीलिये धातुक्षय और वृद्धि की ओर ध्यान देकर चिकित्सा की जाती है। दैवी चिकित्सा - इस पद्धति में पंचमहाभूतों को रोग का कारण व रोगहारक साधन मानकर चिकित्सा करने को कहते हैं। मृत्तिकाउद्यन, मृत्तिकाभक्षण इत्यादि उपचार इसी के अन्तर्गत आते हैं।

महाभारत काल—यह आयुर्वेद का वैभवकाल था। समाज का कोई भी क्षेत्र आयुर्वेद से अछूता नहीं था। रोमहर्षण, सूत जैसे विद्वान पुराणों द्वारा वैद्यक ज्ञान का प्रसार किया करते थे। भीम जैसा महान बलशाली सरल हृदय का योद्धा भी शारीर और मानस तत्त्व का विवेचन करता है। वात-पित्त, कफ, सत्व रज, तम की उत्पत्ति का वर्णन करता है। यह एक ध्यान देनेयोग्य बात है। पुराणों में रोगोत्पत्ति का उपक्रम पथ्यापथ्य, रिष्टारिष्ट, लक्षण, आहार-विहार औषधियों के गुणदोषों का भी वर्णन है--इससे स्पष्ट है कि उस काल में वैद्यक प्रसार कितना था और किस प्रकार किया जाता था। वैद्यक ज्ञान

की ओर संकेत करने वाली कुछ दैनिक कहावतें देखिये, बिल्वफल से बिल्वफल फोड़ना, कांटे से कांटा निकालना, ताम्ररंग के फूलों वाली औषधियां बहुधा कंटक युक्त और कड़वी होती हैं, कटंक रहित वृक्षों के फल बहुधा श्वेत होते हैं इत्यादि।

वनौषधि काल—आयुर्वेद की प्रथम संहिता अग्निवेश संहिता मानी जाती है। हारीत, भेल आदि ने भी अपनी पृथक्-पृथक् संहिताओं की रचना की—उसके पश्चात् चरकाचार्य ने अग्निवेश संहिता का प्रतिसंस्करण किया और तभी से चरक सम्प्रदाय का आरम्भ हुआ। सुश्रुत का समावेश धन्वन्तरि सम्प्रदाय में हुआ। इस प्रकार कायचिकित्सा और शल्य चिकित्सा दो भेद हो गये, परन्तु दोनों का औषधि वर्ग एक ही होने से वनौषधि काल में दोनों का समावेश हो जाता है। इस काल में उद्भिज्ज व प्राणिज पदार्थों की प्रधानता रही फिर भी विष द्रव्यों का समावेश चिकित्सा में होने लगा था।

रसौषधि काल—सातवीं शताब्दी में नागार्जुन का जन्म हुआ। वनौषधियों से रसौषधियों को श्रेष्ठ सिद्ध करने का इनका यत्न रहा। पारद द्रव्य को प्रधानता देकर अनेक कल्पों का निर्माण हुआ—रसवैद्य अधिक लोकप्रिय बन गये।

संग्रह काल— यह ग्रन्थ लेखन की दृष्टि से महत्त्व का रहा परन्तु इस काल में संकलन कार्य ही अधिक होने से मूल ग्रन्थों से संपर्क हटने लगा और वे ग्रन्थ अप्राप्य होने लगे। एक-एक विषय का स्वतन्त्र अभ्यास करने की परंपरा नष्ट होने लगी। यहीं से ह्रास काल का आरम्भ होता है।

ह्रास काल—इसमें गति स्थिर हो गई। प्रथम यूनानी फिर पाश्चात्य—आंग्ल वैद्यक का जोर बढ़ा। राज्य अंग्रेजों का था इसलिए राजाश्रय भी उन्हीं को मिला।

आयुर्वेद की शिक्षा महा विद्यालयों में दी जाने लगी तभी से मिश्रपद्धति की ओर विचार ही नहीं प्रत्यक्ष में लाने के प्रयत्न होने लगे। मिश्र शिक्षित विद्यार्थियों का झुकाव अलोपैथी की ओर होने लगा और आज हम देख भी रहे हैं, परन्तु समाज इन्हें न वैद्य मानता है और न डाक्टर। इसलिये यह वर्ग भी असन्तोषी है। इस प्रथा को शीघ्र बन्द करना होगा।

अभ्यास क्रम

ब्रिटिश राज्यकाल में आयुर्वेद को यद्यपि प्रोत्साहन नहीं मिला परन्तु उसका तिरस्कार भी नहीं किया गया। ब्रिटिश चले गये परन्तु उस मनोवृत्ति में अभी परिवर्तन नहीं हुआ है, जो कुछ हुआ भी है वह आयुर्वेद के पक्ष में नहीं है। इस प्रयत्न में बाधा डालनेवाला एक वर्ग है जो सुसंघटित है और शासन में उसका प्रभाव भी है। सरकार में श्रेष्ठ व्यक्ति-विद्वान व स्वतन्त्र विचार करनेवाले हैं, फिर भी सरकार का रुख आयुर्वेद की ओर विशेष नहीं है, इसमें अनेक कारण हैं, उनमें से कुछ कारण यह भी हो सकते हैं (१) सरकार के सामने (समझौते के लिये) वैद्य लोग आयुर्वेद शिक्षणक्रम में दूसरे वैद्यक का मिश्रण करने की इच्छा प्रदर्शित करते हैं, (२) शुद्ध आयुर्वेद के लिये वस्तुतः जैसा सक्रिय प्रयत्न चाहिये वैसा यत्न नहीं हो रहा है। व्यक्ति-व्यक्ति के संबध उत्तम नहीं हैं, इसका परिणाम यह होता है कि प्रतिपक्षी यह समझने लगे हैं कि शुद्ध आयुर्वेद में वैद्यों का आत्म-विश्वास ही नहीं है। अब सरकार हमारे प्रतिकूल है या यह केवल आभासमात्र है इसका हमें शान्त होकर विचार करना चाहिये और उसके लिये कार्य करना चाहिये।

अलोपैथी या होमियोपैथी के उपासक अपने शिक्षणक्रम में जब वैद्यक पद्धतियों का समावेश

करने को तैयार नहीं हैं तो, फिर आयुर्वेदपर यह बाक्ष क्यों, और जब आयुर्वेद वाले ऐसा कहते हैं तो इसका बुरा क्यों माना जाता है, परन्तु वैद्य लोग संगठित होकर इसका प्रतिपादन नहीं करते हैं, केवल मनोरञ्जन के लिये तो अलौपैथी का समावेश हमें नहीं करना है। शुद्ध आयुर्वेद के विरोधी क्या समझे हैं यह तो ठीक से नहीं कहा जा सकता है परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहूंगा कि इस विरोधी वर्ग ने अधिक गहराई में जाकर इस पर कभी नहीं सोचा है। एक भय का भूत इन लोगों पर सवार हो गया है कि शुद्ध आयुर्वेद का अभ्यास शुरू होने पर आज जो मेडिकल कॉलेज चल रहे हैं वे बन्द हो जायंगे और डाक्टरों को भारत छोड़ना पड़ेगा, ऐसा तो नहीं होगा। इस भारत में आज तक सैकड़ों ही धर्म-पन्थ उत्पन्न हुए, उनमें आपस में झगड़े भी हुए, परन्तु कौन से पन्थ को भारत छोड़ना पड़ा है। यह भारत की सहिष्णुता है, यह क्या आयुर्वेद के विषय में गलत सिद्ध होगी? सत्य तो यह है कि हमारा प्रयत्न ही बलवान और संगठित नहीं है। केवल कालेज शिक्षण तक ही इसे नहीं रखना है ग्रामीण जनता, स्त्रियां शिक्षकवर्ग, आरोग्य विभाग के कार्यकर्ता सभी के लिये छोटे-बड़े अभ्यास क्रम बनाकर इसका अधिकाधिक प्रचार करना है। अभ्यास क्रम के पश्चात् इसके लिये दूसरा साधन है औषध।

औषधि व्यवसाय—इसमें दो विभाग हैं एक औषध निर्माता दूसरा विक्रेता। विक्रेता में कच्ची औषधियां खनिज पदार्थ का व्यवसाय करने वाले वर्ग को उपयोगी निघण्टु चाहिये, जिसमें उत्पत्ति-स्थान, संग्रह प्रकार, शुद्धाशुद्ध की पहिचान, मिश्रण की पहिचान सरलसाध्य वर्णित की गई हो—इसके साथ 'औषध पाठ चिन्तामणि' (Pharmacopeia) का संकलन होना अति आवश्यक है। हमारे औषध पाठ चिन्तामणि में द्रव्य निर्णय, द्रव्य शोधन, औषधि प्रक्रिया, सिद्धी प्रमाण, परिगणन, आदि का समावेश होना चाहिये।

औषधि प्रामाण्य (Standardization) यह कार्य कोई कठिन नहीं है और इसके लिये सरकारी सहायता की भी आवश्यकता नहीं है। औषध प्रमाण निश्चित के लिये मूल द्रव्य का निश्चय, उसके मिश्रण, रासायनिक रूपान्तर इत्यादि पर अवश्य ध्यान देना होगा। यह प्रमाण स्थापित करते समय आधुनिक रसायन शास्त्र की आवश्यकतानुसार अवश्य सहायता लेनी चाहिये परन्तु उस पर निर्भर रह कर ही अपने कार्य शिथिल नहीं करना है, क्योंकि आयुर्वेदीय औषधकरण की गूढ़ता का स्पष्टीकरण पूर्णतः करने में आजका रसायनशास्त्र परिपूर्ण नहीं है। उससे जितना लाभ लिया जा सकता है ले लेना चाहिये। मैं ऐसा क्यों कहता हूं इसके प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद हैं। आयुर्वेद हीरक भस्म बनाता है, नाग का उपयोग वर्षों से हो रहा है, संखिया के अनेक कल्प हमारे यहां हैं; परन्तु इन औषधियों ने किसके गले में व्रण उत्पन्न किये, किसके उदर में नाग ने शूल किया, आधुनिक रसशास्त्र इस गूढ़ता को नहीं स्पष्ट कर सका है—इसलिये हम अपने बहुमूल्य पद्धतिको त्याग दें यह उचित नहीं औषधकरण विज्ञान सिखाने का पृथक् अभ्यासक्रम होना चाहिये तभी हमारे औषधपाठ चिन्तामणि का महत्त्व बढ़ेगा, आजके अभ्यास क्रमसे इसका अभ्यास विशेष रूप से नहीं होता है, इसीके साथ 'मध्य औषधि संशोधन मन्दिर' (Central Drug Research Institute) जैसी संस्था की शीघ्र स्थापना होनी चाहिये जहां औषधियों की शुद्धता अथवा अशुद्धता

(शेषांश १६८ पृष्ठ पर)

कलकत्ता महानगरी में निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ के सभापति, भिषक् चूड़ामणि पण्डित मणिरामजी शर्मा का विराट्

अभिनन्दन

इधर गत २३ जुलाई को स्थानीय माहेश्वरी भवन में श्री धन्वन्तरि परिषद् एवं श्री मारवाड़ी ब्राह्मण सभा द्वारा निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ के सभापति भिषक् चूड़ामणि पण्डित मणिराम जी शर्मा के अभिनन्दनार्थ आयोजित समारोह कलकत्ते के सुप्रसिद्ध समाजसेवी विद्यावयोवृद्ध पण्डित झावरमल्ल जी शर्मा के सभापतित्व में सानन्द सम्पन्न हुआ।

समारोह में कलकत्ता महानगरी के प्रायः सभी कविराज एवं सुप्रसिद्ध व्यवसायी उपस्थित थे। सभा की कार्यवाही वैदिक मन्त्रों से स्वस्तिवाचन, स्वामी प्रमोदानन्द द्वारा राष्ट्रीय गायन एवं पण्डित हेमचन्द्र शास्त्री द्वारा मांगलिक श्लोकपाठ के साथ प्रारम्भ हुई।

कविराज पण्डित हरिवक्ष जोशी के प्रस्ताव एवं पण्डित हनुमानदत्त जोशी के समर्थन पर पण्डित झावरमल्ल जी ने सभापति का आसन ग्रहण किया।

वैद्य पं० श्रीनारायण शर्मा एवं वैद्य पं० कन्हैया लाल शर्मा ने पूज्य पण्डित मणिराम जी शर्मा का तथा उन के द्वारा प्रतिष्ठित होने वाले श्रीधन्वन्तरि-मन्दिर का परिचय कराया। आपने बताया कि श्रीधन्वन्तरि मन्दिर की स्थापना के लिए पूज्य वैद्य जी को अब तक करीब २५०००) रु० प्राप्त हो चुके हैं, जिसमें ५०००) रु० श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के मैनेजिंग डायरेक्टर वैद्यराज पण्डित रामनारायण जी शर्मा वैद्यशास्त्री ने दिये हैं।

पश्चात् पं० भगवानदत्त जोशी साहित्याचार्य एवं पं० सत्यनारायण शर्मा साहित्यरत्न ने अभिनन्दन-पत्र पढ़े। पश्चात् रायबहादुर श्री रामदेव चोखानी का भाषण हुआ। इस तरह की वेद मुखर सभा एवं श्री वैद्य जी महाराज के दर्शन के लिए अत्यन्त आनन्द प्रकट करते हुए आप ने कहा कि राष्ट्रीय सरकार भी यदि आयुर्वेद की उपेक्षा करे, तो इस से ज्यादा और क्या अशोभन बात हो सकती है? आपने कहा कि जब कभी किसी सरकार को कोई काम नहीं करना होता है या उस में विलम्ब करना होता है, तब वह कमेटी बठा देती है। हमारी सरकार भी आयुर्वेद के विषय में इस की अपवाद नहीं है।

कविराज केशवदेव शास्त्रीने वैद्यजीकी गुरु परम्पराकी प्राचीन परिपाटीको बतलाते हुए कहा कि राजस्थान और बंगाल की ज्ञानधारा के संगमरूप ऐसे विशिष्ट विद्वान का परिषदके मन्त्रीकी हैसियत से अभिनन्दन करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष होता है।

कविराज हरिवक्ष जोशीने अपने भाषणोंमें कहा कि आज तक हम इस निधिको गोदमें रखते हुए इस आशा से रक्षा करते रहे की जब हमारी सरकार

होगी तब वह पूवजों की इस सम्पत्तिकी रक्षा करेगी। आपने कहा कि हजारों वर्षों पहिले के आयुर्वेदके सूत्र आज भी उसी तरह सफल एवं निर्दोष हैं जब कि आज निकलनेवाली विज्ञानकी करामात स्टैप्टोमाईसीन आदि दवायें चुपके से नरसंहारका काम करती हैं। किन्तु हमें यह याद रखना चाहिए कि हमारी संस्कृति हमेशाके लिये इस तरह अरक्षित नहीं रह सकती।

०म० म. कविराज रामचन्द्र मल्लिकने कहा कि देशरत्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद जैसे आयुर्वेद प्रेमोके राष्ट्रपति रहते हुए आयुर्वेद पददलित रहे। यह अत्यन्त चिन्ता की बात है। पं० राधाकृष्ण मिश्र राव एवं पं० वेदनिधि शास्त्रीके भी भाषण हुये।

तत्पश्चात् सभापति पं० झाबरमल्ल शर्माने चांदी को थाली में ग्यारह सौ इक्कीस रुपयेकी थैली वैद्यजी महाराजको अर्पित करते हुए कहा कि यह महाराजके लिये यहांके वैद्य समाजकी तरफ से सुदामाके तण्डुल हैं। आपने कहा कि महाराज द्वारा प्रतिष्ठित होनेवाले आयुर्वेद मन्दिर के लिए कलकत्ता तन मन धनसे तैयार है।

अभिनन्दन का उत्तर देते हुए पूज्य पं० मणिराम जी शर्माने कहा कि "मेरे इस पूज्यनीय समाज द्वारा भेंट की गई यह थैली कोई छोटी चीज नहीं यह वह वस्तु है जिसका बहुत बड़ा फल होगा। हमारे लिए आज बड़ा संकटका समय है। अंग्रेजोंके चलेजानेपर भी उनकी संस्कृति यहांसे गई नहीं है। आजके हमारे राज्य मन्त्री यह सोचनेमें व्यस्त हैं कि जब सारी दुनियांमें एलोपैथिक चिकित्सा का प्रसार है तब हम आयुर्वेदके लिये कैसे क्या करें। किन्तु उनके इस ऊहापोह में मानसिक दासता अधिकांशमें है। यदि आयुर्वेदको राज्यका रक्षण प्राप्त हो तो यह कुछ ही समयमें विश्वकी किसी भी चिकित्सा पद्धतिसे टक्कर ले सकेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि आयुर्वेदमें रिसर्चका क्षेत्र नहीं है। किन्तु असलियत ऐसी नहीं है। रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभावके आधार से हम आज भी किसी भी अज्ञात द्रव्यका पूरा विश्लेषण कर सकते हैं। हां, इसमें कुछ दोष अवश्य आ गये हैं। उन्हें हमें हटाना होगा। आपने कहा कि शीघ्र ही पटना में निखल भारतवर्षीय आयुर्वेद शास्त्र सम्भाषा परिषद होने जा रही है। इस कान्फ्रेंसका सम्पूर्ण खर्च वहन करना स्वीकार करने के लिए आपने श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के मैने-जिंग डायरेक्टरर्स पण्डित रामनारायण रामदयाल जोशी को धन्यवाद दिया। आगे आप ने कहा कि इस परिषद् में हम आयुर्वेद का स्वरूप निश्चय करेंगे। फिर वह सरकारके सामने पेश करेंगे। हमें यह दृढ़ विश्वास है कि सरकार हमारी आवाज अवश्य सुनेगी और आयुर्वेद को प्रोत्साहन देगी।" आपने भाषण के अन्तमें किये गये अभिनन्दन के लिए कृतज्ञता प्रकट की। वैद्य पं० सुन्दरलाल शर्मा के धन्यवाद देनेपर सभाकी कार्यवाही समाप्त हुई।

राजस्थान में आयुर्वेदकी प्रगति

राजस्थान आयुर्वेद मंडल का प्रशंसनीय कार्य

राजस्थान सरकार द्वारा आयुवद चिकित्सा पद्धति की उन्नति तथा विस्तार के लिये स्थापित आयुर्वेद मंडल के सुयोग्य सेक्रेट्री ने आयुर्वेदिक पत्र विशेष प्रतिनिधि को एक भेंट में बताया कि प्रांत में स्वास्थ्य केन्द्रों, शिक्षण केन्द्रों, चल चिकित्सालयों, नगर स्वास्थ्य केन्द्रों, वनौषध अणुवीक्षण केन्द्रों, शिक्षण केन्द्रों, स्नायु रोग निवारण वितरणार्थ औषध मंजुषाओं आदि के सब प्रारम्भिक कार्यों की पूर्ति कर ली गई है।

शिक्षण केन्द्रों की १५० औषध पेटिकायें बनकर तैयार हो गई हैं। जो औषधियाँ वितरण होगीं उनके गुण, धर्म, प्रयोग सूची, व्यवहार संबन्धित एक हस्तलिखित पुस्तक का लेखन पूर्ण हो चुका है। उनके प्रयोग करने वालों की औषध वितरण शिक्षा का कार्यक्रम तयार कर लिया गया है। ५०) रुपये मासिक, ४० ग्रामीण वैद्यों को सहायता प्रदान का कार्यक्रम भी तैयार है।

राजस्थान वैद्यों की मान्यता के लिये कानून का मसौदा तैयार हो चुका है। अन्वेषण कार्य के लिये एक योग्य वैद्य को देहरादून भेजने की योजना बनाई गई है। राजस्थान में होने वाले रोग विशेष यथा मोतीझरा आदि की चिकित्सा व्यवस्था तथा सर्व-साधारण स्वास्थ्य, लोक शिक्षण सम्बन्धी छोटी-छोटी पुस्तकों के लेखन व प्रकाशन का प्रबन्ध चालू है।

यू० पी० रिकोग्नाइजेशन कमेटी रिपोर्ट १६४८ के आधार पर प्रान्त में जहां आयुर्वेद विभाग से अधिक संख्या में औषधालय खाले नहीं जा सकते वहां आयुर्वेद मंडल द्वारा चल चिकित्सालय खोले जायेंगे जो मोटर पर नहीं बल्कि बैलगाड़ियों, ऊँटों पर जब किसी भी प्रकार की चिकित्सा संभव नहीं होगी चलेंगे। यह नया अनुभव होगा जो आगे सफल होने पर आयुर्वेद विभाग के लिये अनुकरणीय होगा।

जाना गया है कि व्यय के लिये सरकार द्वारा बजट स्वीकृत हो चुका है। सूचना आयुर्वेद मंडल से अभी प्राप्त नहीं हुई है। चिकित्सालयों, विभिन्न केन्द्रों को स्थापना एवं वैद्यों की नियुक्ति का कार्य बजट की स्वीकृत की सूचना कार्यालय में प्राप्त होते ही दो सप्ताह के भीतर प्रारम्भ हो जायेगा। आयुर्वेद मंडल में सब से कम व्यय हुआ है। मंडल का पांचवा अधिवेशन निकट भविष्य में होने जा रहा है। माननीय स्वास्थ्य मंत्री महोदय का प्रयत्न निःसन्देह स्तुत्य है। आयुर्वेद मंडल के सेक्रेट्री राय साहिब भी तनसुख व्यास वैद्य जी का लगन व परिश्रम सराहनीय है।

(आ० समाचार स० जयपुर)

शेषांश] भाषण [१६५ वें पृष्ठ का

का निर्णय हो सके। आयुर्वेद संशोधन की ओर भी हमारा कोई विशेष कदम नहीं बढ़ा है। पाश्चात्य संशोधनों को ओर देखकर हमसे प्रश्न किया जाता है कि पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमायसिन, क्लोरो मायसिन जैसा संशोधन वैद्य कर सकते हैं? परन्तु प्रश्न करनेवाला वर्ग यह भूल जाता है कि यह अर्थ भी हमारे भारतीय डाक्टरों ने किये हैं? संशोधित करने वाला वर्ग हो दूसरा होता है, चिकित्सा व्यवसाय से यह भिन्न है—पाश्चात्यों का अन्धानुकरण ही नहीं करना है, हमें अपने ढंग से संशोधन करना है।

कार्य हमारे सामने बहुत पड़ा है, विश्वास, सहयोग और समता का अभाव है—इसका पूर्ति करने पर यह विशाल कार्य अतिशीघ्र होगा, व्यर्थ के निन्दकों की हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये। वितंडावाद करके अपना समय भी नष्ट नहीं करना चाहिये, हमें तो प्रत्यक्ष कार्य करना है, यदि हम संघटित होकर प्रयत्न करें तो आयुर्वेद का उत्कर्ष निश्चित है।

अनु० आत्रेय काशीनाथ

दो अभिनव वैद्यनाथ प्रकाशन

१—मानसरोग-विज्ञान
(ले० स्व० डा० बालकृष्ण अमर जी पाठक)

२—आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान
(ले० वैद्य रणजितराय देसाई)

भूतपूर्व सभापति निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन, राजवैद्य श्री जीवराम कालिदास जी, शास्त्री (गोंडल) की शुभ सम्मति :—

आपकी ओर से भेंटस्वरूप भेजी हुई दो पुस्तकें प्राप्त हुईं—१ मानसरोग-विज्ञान, २ आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान। ये दोनों पुस्तकें प्रकाशित करके आपने आयुर्वेदीय क्षेत्र में काम करने वाले वैद्य भाइयों, विद्यार्थियों और उपचारकों का बहुत ही उपकार किया है।

संहिताग्रन्थों के इस ज्ञान को आधुनिक ढँग से पढ़ कर हृदय में उतारने के लिए और इस प्रकार अपने शास्त्र के प्रति अधिक सम्मान भावना उत्पन्न करने के लिए ये पुस्तकें बहुत ही उपकारक होंगी। वर्तमान राजतन्त्रों के नियमानुसार 'आयुर्वेदीय महाविद्यालयों' के नाम से प्रचलित संस्थाओं में आजकल हो रही पढ़ाई अधिकांश में एलोपैथिक दृष्टिकोण से ही है। ऐसी संस्थाओं में आयुर्वेद को केवल २० प्रतिशत ही स्थान दिया गया दिखायी देता है। कारण, स्वयं पढ़ानेवालों को संहिताग्रन्थों की रचना और विषय-विभाग क्लिष्ट लगने से छात्रों को ये ग्रन्थ विधिवत् पढ़ाये नहीं जाते। फलस्वरूप संहिताग्रन्थों के प्रति छात्रों की उदासीनता बनी रहती है और परीक्षोत्तीर्ण होने के बाद वे न तो डाक्टर ही बनते हैं, न वैद्य ही ; एवं बहुधा एलोपैथिक पद्धति से ही अपना योगक्षेम चलाये चलते हैं। ऐसी (वर्तमान) स्थिति में 'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान' और 'मानसरोग-विज्ञान' जैसे ग्रन्थों की उद्भावना और प्रकाशन आयुर्वेद के अध्यापकों और अध्ययनकर्ताओं के लिए विशेष उपकारक होगा। इन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए आपको धन्यवाद देता हूँ।

Regd. No. C. 3147

"पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः ।"

शास्त्र में कहा है कि आसव, भस्में और रस पुराने होने से अधिक गुण करते हैं। तदनुसार बैद्यनाथ आसव-अरिष्ट और रस-भस्में पुरानी होने पर ही बिक्री की जाती हैं। रस-भस्मों के निर्माण के लिये हमारी एक अलग रसायनशाला है जहाँ १८ गजपुट और ६ कूपीपक्व रसायन की भाट्टियाँ बराबर चालू रहती हैं। मनों की तायदाद में तैयार होकर इस रसायनशाला की भस्में पुरानी होने पर ही बिक्री की जाती हैं। इस रसायनशाला में प्रति वर्ष लोह, मण्डूर और अभ्रक आदि भस्में ५-५, ७-७ मन से ज्यादा तैयार होती हैं। इसी प्रकार आसव-अरिष्टों का बृहद् स्टाक हमारी प्रत्येक शाखा में रहता है। हमारा यह नम्र दावा है कि जितना बड़ा स्टाक हमारी एक-एक शाखा में रहता है, उतना बड़ा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकता। यही कारण है कि बैद्यनाथ रस-भस्में और आसव-अरिष्ट पुराने होने पर ही बिक्री किये जाते हैं जिसके फलस्वरूप वे इतने गुणकारी होते हैं और लोकप्रिय हैं।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, लिमिटेड

कलकत्ता : पटना : झाँसी : नागपुर।

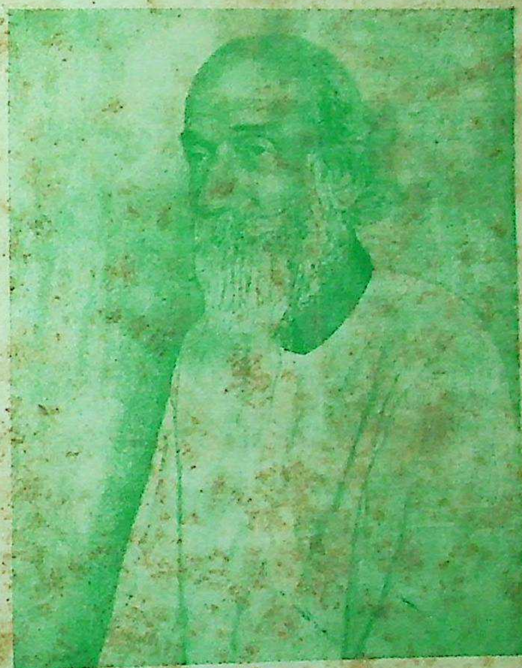


सचित्र आयुर्वेद

कलकत्ता, अक्टूबर १९५० [अङ्क ४

...नजी इंजेक्शनों द्वारा इलाज के घोर ...रोधी हैं। एक बार तीव्र हृदयरोग की अवस्था ... डाक्टरों द्वारा इंजेक्शन लेना अनिवार्य घोषित कर ...ये जाने पर भी उन्होंने अपना मत नहीं बदला। ... यह उल्लेखनीय है कि टण्डनजी ने अपने ...र्घकालीन संसदीय जीवन में जो पहला प्रश्न पूछा, ... यह था कि "क्या वर्तमान जनव्यापी अस्वास्थ्य ... कारण चेचक के टीके हैं?"

आशा करनी चाहिए कि नये कांग्रेस-अध्यक्ष ...मारे स्वास्थ्य-अधिकारियों के चित्त से विदेशी चिकित्सा-पद्धति का मिथ्या मोह दूर करने का ...यास करेंगे।



नवनिर्वाचित कांग्रेस-अध्यक्ष राजर्षि टण्डनजी

बैद्यनाथ पुरस्कार के विजेता

१३ नवम्बर १९४६ को बिहार प्रान्तीय वैद्य-सम्मेलन द्वारा आयोजित बाबा साहब डाक्टर परांजपे के स्वागत-समारोह के अवसर पर दो बैद्यनाथ-पुरस्कारों की घोषणा हुई थी। विषय था—आयुर्वेद के श्रेष्ठ तत्त्वों का स्पष्टीकरण। २५०) का एक पुरस्कार सन् १९४९ में उक्त विषय पर प्रकाशित "सचित्र आयुर्वेद" के सर्वश्रेष्ठ लेख पर तथा २५०) का दूसरा पुरस्कार उसी अवधि में, उसी विषय पर प्रकाशित 'जर्नल आफ आयुर्वेद' के सर्वश्रेष्ठ लेख पर देने का निश्चय हुआ था।

दोनों पत्रों की निर्णायक-समितियों के निर्णय अब हमें प्राप्त हो गये हैं। सचित्र आयुर्वेद के लेखकों में यह गौरव सूरत के श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय के प्रिन्सिपल श्री बापालाल भाई को उनकी "आयुर्वेद" शीर्षक लेखमाला पर तथा 'जर्नल आफ आयुर्वेद' के लेखकों में सतारा के डा० एन० आर० आप्टे को उनकी "पैथोलॉजी इन आयुर्वेद" लेखमाला पर प्राप्त हुआ है। दोनों ही विद्वानों को हम श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड की सभी शाखा-प्रशाखाओं तथा "सचित्र आयुर्वेद" परिवार की ओर से हार्दिक बधाई देते हैं!

—



श्री बापालाल भाई
'सचित्र आयुर्वेद' के लेखकों में
बैद्यनाथ पुरस्कार के विजेता

विद्वत्ता और लेखनकला की दृष्टि से बापालाल भाई भारतवर्ष के प्रथम कोटि के वैद्यों में से एक हैं। आपकी पुरस्कृत लेखमाला "आयुर्वेद" से कुछ महत्त्वपूर्ण अंश नीचे दिये जाते हैं।

"मैं आयुर्वेद को इसलिए नहीं चाहता कि वह भारत का प्राचीन शास्त्र है, न इसलिए कि वह संस्कृत भाषा में है, न इसलिए कि वह वेद का अंग है।

"जगत् को नयी दृष्टि देने की शक्ति आयुर्वेद में है; इसलिए मैं उसे चाहता हूं, उसकी उपासना करता हूं। आयुर्वेद केवल औषधों का शास्त्र नहीं है, न ही वह केवल चिकित्सा-शास्त्र है; परन्तु जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिए आवश्यक जीवन-शास्त्र (Science of life) आयुर्वेद है।"

—सचित्र आयुर्वेद, मार्च १९४८

सचित्र आयुर्वेद

निर्देशक

संदिग्धवनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद-महामहोपाध्याय, रसायनशास्त्री

श्री पं० भागीरथ स्वामी, *आयुर्वेदाचार्य, भिषक्-चूडामणि*

प्रधान सम्पादक

पं० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री

सहायक सम्पादक

पं० सभाकान्त झा, *आयुर्वेदशास्त्री*

वार्षिक मूल्य	४)	साधारण अंक एक प्रति	।≈)
यकृत्-अङ्क	१)	आयुर्वेद और सरकार अङ्क	२)

प्राप्ति-स्थान

भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

की

४ निर्माण-शालाएँ

४६ बिक्री-केन्द्र

और १४००० एजेन्सियाँ

अभिनव वैद्यनाथ प्रकाशन

त्रिदोषतत्त्व-विमर्श

लेखक----वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य

वर्तमानकालिक विभिन्न आयुर्वेदीय पाठ्यक्रमों तथा पाठनशैलियों के कारण एवं आयुर्वेद के इस मूलभूत सिद्धान्त—त्रिदोष के अध्यापनार्थ उपयुक्त ग्रन्थ के अभाव के कारण आयुर्वेद के विद्यार्थियों की मनोवृत्ति को आयुर्वेद के स्तम्भभूत त्रिधातु-सिद्धान्त से विचलित होते देख यह आवश्यकता प्रतीत हो रही थी कि इस विषय पर समुचित प्रकाश डाला जाय। इस 'त्रिदोषतत्त्व-विमर्श' का प्रणयन करके आयुर्वेद-संसार के सुप्रसिद्ध विद्वान्, शिक्षक, ग्रन्थकार और कर्मठ कार्यकर्ता वैद्यराज पं० रामरक्ष जी पाठक, आयुर्वेदाचार्य, प्रिन्सिपल, श्री अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय, ने उस महती आवश्यकता की पूर्त्ति की है। आयुर्वेद के विद्यार्थियों और विद्वत्समाज के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं—"इस ग्रन्थ में वात–पित्त–कफ—ये मनुष्य शरीरस्थ अनेक द्रव्यों के तीन वर्ग हैं—इस तथ्य को ध्यान में रख कर वात-पित्त-कफ का सामान्य स्वरूप, इनके प्राचीन ग्रन्थोक्त भेद, प्रत्येक भेद का प्रधान स्थान (कार्यक्षेत्र) और उनकी क्रियाओं का सविस्तर वर्णन किया गया है। साथ-साथ में विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए आधुनिक शरीर-क्रिया-विज्ञान (फिजियोलोजी) के साथ तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है। वात-पित्त-कफ के प्राचीन ग्रन्थों में जो भेद वर्णित हैं, वे उस समय में विशेष रूप से आविष्कृत (ज्ञात) हुए भेद हैं। आधुनिक क्रिया-शारीर में इनके अतिरिक्त दूसरे अनेक द्रव्यों का वर्णन पाया जाता है। प्राचीन ग्रन्थोक्त भेदों में कुछ दोषों के भेद स्वतन्त्र नहीं, परन्तु अनेक अवान्तर भेदों के वर्ग हैं। जैसे—पाचक पित्त, दोषों के स्थान और कर्मों के विषय में संहिता ग्रन्थों में जो वर्णन मिलता है, उसमें कहीं-कहीं विभिन्नता पायी जाती है। इन सब विषयों का भी इस ग्रन्थ में विचार किया गया है। पाठक जी का यह ग्रन्थ त्रिदोषतत्त्व के जिज्ञासु वैद्यों, आयुर्वेदाध्यापकों और आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त होगा, ऐसी आशा है।"

सुख और स्वास्थ्य की कुंजी

आरोग्य-प्रकाश

— प्रत्येक घर में रहना ही चाहिए —

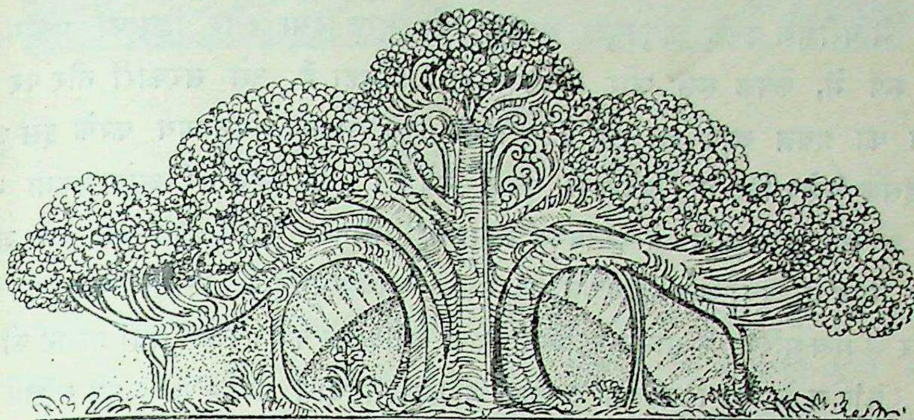
भारत-प्रसिद्ध श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री ने ५–६ वर्षों में बड़े परिश्रम से स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। व्यायाम, ब्रह्मचर्य ,भोजन, सदाचार, उत्तम विचार आदि पूर्वार्द्ध के विषयों को पढ़ कर और तदनुसार चल कर सदा बीमार रहने वाला रोगी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों की उत्पत्ति. कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि बड़ी सरल भाषा में लिखे हैं, जिन्हें पढ़ कर विद्वान् से लेकर साधारण पढ़े-लिखे तक सभी समान भाव से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे हैं, वे बहुत वार के परीक्षित, कभी भी फेल न होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात, सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुंचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है ; क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके सात संस्करणों में ५३ हजार प्रतियाँ छप कर बिक चुकी हैं और यह आठवाँ संस्करण १५ हजार का अब समाप्त हो रहा है। इससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है, यह कहा जाय, तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ५१५ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य सिर्फ—१।।।), डाक खर्च ।।=), हमारे ४ निर्माण केन्द्रों, ५० बिक्री-केन्द्रों तथा १४ हजार एजेन्सियों से प्रत्यक्ष खरीदने पर या एक साथ तीन प्रति लेने से डाकखर्च नहीं लगेगा।

विषय-सूची

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०——पटना-निर्माण केन्द्र में भट्ठी घर का एक दृश्य



※ श्री धन्वन्तरये नमः ※



सचित्र आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ३ | कलकत्ता, अक्टूबर १९५० | अङ्क ४

एक विहगावलोकन

वैद्य रणजितराय

केन्द्र और राज्यों के स्वास्थ्य-मन्त्रियों की परिषद् समाप्त हो गयी। इसे आयुर्वेद के पृष्ठ-पोषकों के पूर्वजन्म-कृत पुण्यों का परिपाक कहिये, अथवा भारतीय जनता का भाग्योदय समझिये कि हमारे लिये 'स्नान' के समाचार नहीं आये। राज्यों के स्वास्थ्य-मन्त्रियों ने डा० राजा की सलाह से संचालित केन्द्रीय स्वास्थ्य-सचिवालय के संकेत पर 'नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेतालाः' का अभिनय करना स्वीकार नहीं किया। इसके लिए राज्यों के मन्त्री आयुर्वेद-जगत् के अभिनन्दन के पात्र हैं।

इन्ही दिनों आयुर्वेद-जगत के लिए एक और हर्ष का समाचार प्राप्त हुआ है। आयुर्वेद के प्रति हमारे प्रधान मन्त्री की पराङ्मुखता सुप्रसिद्ध है। दिल्ली में हुए वैद्य-महासम्मेलन के लिए संदेश देने का भी समय उन्हें नहीं मिल सका था, यह बात वैद्य-समाज प्रयत्न करके भी न भूल पायगा। प्रधान मन्त्रीजी राजनीति में प्रायः ब्रिटेन और अमेरिका के साथ रहना पसन्द करते हैं, पर एक बात में उन्होंने रूस का अनुकरण किया। वह यह कि, जिस बी० सी० जी० के टीके को इन तथा

अन्य देशों ने परीक्षण करके अनुपयुक्त समझा और छोड़ दिया और जिसका प्रयोग, वह भी परीक्षण के रूप में, केवल रूस ओर स्केण्डेनेविया में हो रहा है, उसे सरकारी तौर पर भारत में प्रसृत करने का प्रयत्न आप कर रहे हैं। इसके लिए अनल्प वित्तव्यय करके इस औषध के अतिरिक्त इसके विशेष-वित् भी विदेश से बुलाये गये हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि, राजयक्ष्मा औषधों और औषधज्ञों का विषय उतना नहीं जितना राजकर्ताओं का, जो जनता को उत्तम और प्रभूत घी, दूध, अन्नादि प्रदान करें, उसकी अर्थकष्टादि से उत्पन्न चिन्ता दूर करें तथा अन्य प्रकार से सुख-सुविधा के साधन उपस्थित करें तो राजयक्ष्मा की उत्पत्ति तथा प्रसार को अटका सकते हैं। कांग्रेस के नव निर्वाचित अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने अपने संक्षिप्त घोषणा-पत्र में प्रधान-मन्त्री का ध्यान इसी बात की ओर खींचा था। प्रधान-मन्त्री से अपने मत-भेदों में से दृष्टान्त के रूप में एक मतभेद प्रस्तुत करते हुए उन्होंने चिकित्सा के क्षेत्र को ही पसन्द किया था। आपने कहा था कि, "प्रधान मन्त्री इञ्जेक्शनों द्वारा जनता के स्वास्थ्य में सुधार मानते हैं और मैं निसर्गोपचार का पक्षपाती हूँ।" आयुर्वेद सब पद्धतियों में निसर्गोपचार के अधिक निकट है। अतः आशा करनी चाहिये कि नये कांग्रेस अध्यक्ष प्रधान मन्त्री के चित्त से विदेशी चिकित्सा-पद्धतिका मिथ्या मोह दूर करने का प्रयास करेंगे।

परन्तु मुख्य प्रश्न और है। राज्यों के स्वास्थ्य मन्त्री, कांग्रेस-अध्यक्ष अथवा आयुर्वेद के पक्षपाती अन्य छोटे-बड़े राज्यकर्ताओं के सिर से जिम्मेदारी हटकर एकमात्र वैद्यों पर अब विशेष रूप से आ गयी है। मुंबई के 'फ्री प्रेस जर्नल' ने तो स्पष्ट लिखा है—"वैद्यों ने सरकारी सहायता पाने के लिये आन्दोलन किया, इसीका परिणाम है कि सरकार ने उन्हें अपने को योग्य लगा उस रूप में हस्तावलम्ब दिया।" जो हो, तीर अब हाथ से छूट चुका है। सरकारें अपने ढङ्ग से काम करेंगी। यह निश्चित है कि इच्छा होते हुए भी आयुर्वेद के लिए किस ढंग से क्या किया जाय इसकी योजना सरकारों के पास नहीं है। भविष्य में पाठ्यक्रमादि में कितना भाग आयुर्वेद का रहे इसका निर्णय वैद्यों के हाथ में है। आयुर्वेद के उत्तम रत्नों को वैद्य-समाज जनता और सरकारों के समक्ष रखे तो उसकी उपेक्षा करने की शक्ति किसी के हाथ में नहीं। आनन्द की बात है कि हमारे नेताओं ने इस दिशा में मार्ग-दर्शन कराना शुरू कर दिया है। सितम्बर के "सचित्र आयुर्वेद" में विद्यापीठ-मन्त्री श्री उपेन्द्रनाथदासजी तथा राजस्थान-सरकार के आयुर्वेद-विभाग के डायरेक्टर वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंहजी ने अपने लेखों द्वारा "उद्धरेदात्मनात्मानम्" का जो संदेश दिया है, वह अभिनन्दनीय और अनुसरणीय है।

सम्पादकीय

आयुर्वेद की विजय

❀

हमारे राष्ट्रपति देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद बहुत समय से श्वास रोग से पीड़ित हैं। इसकी चिकित्सा के सिलसिले में आपने एलोपैथिक तथा आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति का काफी अनुभव किया है। एलोपैथी के विषय में आप का अनुभव है कि उस के द्वारा चिकित्सा करने पर रोग कुछ समय के लिए दब जाता है, परन्तु चिकित्सा काल में तथा उस के बाद भी शारीरिक निर्बलता बहुत होती है। इस के विपरीत आयुर्वेदीय चिकित्सा के विषय में, आपका अनुभव है कि इस के द्वारा लाभ होने में देर अवश्य लगती है, परन्तु चिकित्सा काल में या उसके बाद शारीरिक निर्बलता नहीं होने पाती; वरन वे अपने दैनिक कार्य भली भांति करते रहते हैं।

राष्ट्रपति होने के बाद उन की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रणालय द्वारा एलोपैथी के विशेषज्ञ डाक्टरों का एक दल नियुक्त किया गया। परन्तु केन्द्रीय स्वास्थ्य विभाग में वैद्यों का अभाव देख कर उन्हें कष्ट हुआ। फलतः अपनी स्वास्थ्य-रक्षा के लिए उन्होंने केन्द्रीय मंत्रणालय से वैद्यों की मांग की। उन की इस मांग के विपरीत प्रधान मंत्री पंडित नेहरू तथा स्वास्थ्य मंत्रिणी माननीय अमृत कौर ने उन्हें समझाने की बहुत कोशिश की, परन्तु उन्हें आयुर्वेद के पक्ष में दृढ़ देख इन्हें हार माननी पड़ी। अब विवश हो कर केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रणालय राष्ट्रपति के लिए वैद्यों की व्यवस्था कर रहा है। इस के लिए सभी राज्यों (प्रान्तों) से कहा गया है कि वे अपने-अपने क्षेत्र से सुयोग्य वैद्य दें। ये वैद्यगण 'राजवैद्य' कहलाएँगे। यह आयुर्वेद की एक महती विजय है।

इस प्रकार अनुभव बराबर दोनों हाथ उठा कर चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा है कि 'आयुर्वेद श्रेष्ठ है, आयुर्वेद श्रेष्ठ है।' परन्तु हमारे हृदय-सम्राट् पण्डित नेहरू तथा माननीया स्वास्थ्य मंत्रिणी राज-कुमारी अमृतकौर का मापदण्ड कुछ और ही प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि वे प्रत्येक वस्तु को विदेशी चश्मा लगा कर देखते हैं। उन की देशभक्ति प्रशंसनीय होते हुए भी, ऐसा मालूम होता है कि विदेशी संस्कार (संस्कृति उन पर जम कर बैठ गये हैं जो टस से मस होने का नाम नहीं लेते। तभी न उन्होंने गत ३१ अगस्त से २ सितम्बर तक हुए स्वास्थ्यमंत्रियों के सम्मेलन में आयुर्वेद को अवैज्ञानिक करार दे दिया।

स्वास्थ्यमंत्रियों का यह तीसरा सम्मेलन था। वर्तमान केन्द्रीय हेल्थ डायरेक्टर डा॰ राजा के पूर्व वर्ती हेल्थ डायरेक्टर डा॰ महता (वर्तमान में सौ-राष्ट्र के मुख्य मंत्री) के समय से ही यह प्रयत्न चालू है कि देशी चिकित्सा पद्धति को एकदम समाप्त कर के एलोपैथी का एकच्छत्र राज्य कायम किया जाय। परन्तु, क्योंकि सभी राज्य (प्रान्त) स्वास्थ्य रक्षा के विषय में स्वतन्त्र हैं, केन्द्रीय सरकार अपनी स्वास्थ्य विषयक नीति मानने के लिए उन्हें

बाध्य नहीं कर सकती, अतः प्रान्तीय स्वास्थ्यमंत्रियों को एलोपैथी के पक्ष में राजी करने के लिए ही स्वास्थ्यमंत्रियों के इस तीसरे सम्मेलन का नाटक रचा गया था।

परन्तु, विजय आयुर्वेद की हुई। धन्यवाद है उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त को, विहार के स्वास्थ्यमंत्री माननीय पण्डित विनोदानन्द झा को, मध्यप्रदेश के स्वास्थ्यमंत्री डा० बारलिङ्गे को तथा अन्यान्य स्वास्थ्यमंत्रियों को, कि बहुमत देशी चिकित्सा पद्धति को मान्यता देने के पक्ष में रहा, देशी चिकित्सा पद्धति को मान्यता देना स्वीकार किया गया। एक समिति बनायी गयी, जिसने आयुर्वेद-यूनानी आदि के साङ्गोपाङ्ग विद्यालय खोलकर सुयोग्य स्नातक निकालने की योजना सामने रखी, जो स्वीकृत हुई। देशी चिकित्सापद्धति के प्रति आगाध श्रद्धा प्रकट करके इन माननीय स्वस्थ्यमंत्रियों ने सिद्ध कर दिया कि जैसे इन के शरीर भारतीय हैं, वैसे ही इन के संस्कार (संस्कृति) भी भारतीय हैं।

देशी औषधों का उपयोग स्वीकार करके इन माननीय स्वास्थ्यमंत्रियों ने जहाँ एक ओर राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी द्वारा निरूपित स्वदेशी-धर्म का पालन किया है, वहां दूसरी ओर आयुर्वेद की वैज्ञानिकता को स्वीकार कर के अपनी स्वतन्त्र चेतना का भी परिचय दिया है।। जैसे प्राचीन काल में 'धार्मिक अन्धविश्वास' चलता था जिसमें धर्म के नाम पर जनता से सब कुछ मनवा लिया जाता था, वैसे ही आज के युग में 'वैज्ञानिक अन्धविश्वास' का बोल बाला है, जिस में विज्ञान के नाम पर जनतासे सब कुछ मनवा लिया जाता है। परन्तु हमारे प्रान्तीय स्वास्थ्यमंत्रियों ने अपने प्रज्ञाचक्षु दूसरों के हाथ बेच नहीं दिये हैं। वे विज्ञान के नाम पर किसी का अंधानुकरण करने को तैयार नहीं हुए। यह भारतीय बुद्धिवाद की विजय है, देशी चिकित्सापद्धति की विजय है।

राष्ट्र के जिस विशाल वर्ग ने राष्ट्र के विपत्तिकाल में सब तरह के कष्ट सहकर भी जनता की स्वास्थ्यरक्षा की, उसकी तपस्या सफल होगी, इसमें सन्देह ही क्या है? जिन वैद्यों ने आजतक राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति की रक्षा विदेशियों के प्रहारों से की है, वे कल राजकीय चिकित्सा पद्धति के आसन पर उसका अभिषेक भी करेंगे, यह उनका दृढ़संकल्प है। आयुर्वेद की विजय अवश्यम्भावी है।

विजय का श्रेय

आयुर्वेद की इस विजय का श्रेय समष्टिरूप में समस्त वैद्य समाज को तथा उनकी प्रतिनिधि संस्था निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन को ही है। सर्वप्रथम महासम्मेलन के अध्यक्ष पूज्य आचार्यचरण श्रीयादवजी, त्रिकमजी महाराज धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने सभी प्रान्तों के विद्वान् वैद्यों को पत्रों द्वारा यह सत्यप्रेरणा दी कि वे अपने-अपने प्रान्तों के स्वास्थ्य-मन्त्रियों को आयुर्वेद की उपयोगिता और विशेषता सम्यक्तया समझावें, और धन्यवाद के पात्र हैं महासम्मेलन के प्रधानमंत्री वैद्यराज गुरुदत्तजी जिन्होंने समस्त वैद्यसमाज को सर्वत्र सभाएँ करके आयुर्वेद के पक्ष में जनमत पुष्ट करने की सत्यप्रेरणा दी। देशभर में वैद्यबन्धुओं और आयुर्वेद प्रेमियों ने सभाएँ की और आयुर्वेद के अभ्युत्थान के लिये अपने-आपको न्योछावर करने का पवित्र व्रत लिया। इस महायज्ञ का ही यह सुफल हुआ है। हमारा यह यज्ञ सतत चालू है जबतक कि हम अपने लक्ष्य तक पहुंच नहीं जाते।

आयुर्वेद के भाग्य-विधाता

वैद्यरत्न क० प्रताप सिंह रसायनाचार्य

❀

भारतवर्ष की राजधानी देहली में ता. ३१-८-५० से ता० २-६-५० तक सारे देशके स्वास्थ्य मंत्रियों और उनके सलाहकारों का एक सम्मेलन हुआ। इस समुदाय की नामावली जो नीचे दी जाती है; इसमें आयुर्वेद के तत्त्वों को समझनेवाले कितने अंशों में मौजूद हैं, देखें। * चिह्नवाले वैद्य हैं ; अवशिष्ट सभी डाक्टर व हेल्थ मिनिस्टर हैं।

मद्रास

आनरेबुल डा० डी० टी० एस० एस० राजन, हेल्थ मिनिस्टर

श्री टी० एम० एस० मानी, सेक्रेटरी हेल्थ डिपार्टमेंट

बम्बई

आनरेबुल डा० एम० डी० डी० गिल्डर, हेल्थ मिनिस्टर

आनरेबुल डा० जीवराज मेहता

एफ० जी० डी० सोज़ा, सर्जन जनरल

ई० बेञ्जमीन, डाइरेक्टर आफ पब्लिक हेल्थ

एस० टीम्योर, पार्लियामेंट सेक्रेटरी

श्री डी० ए० बरूचा P. A. H. M., पर्सनल असिस्टेण्ट हेल्थ मिनिस्टर

पश्चिम बंगाल

बी० सी० दास गुप्ता, सेक्रेटरी और डायरेक्टर पब्लिक हेल्थ डिपार्टमेंट

उत्तर प्रदेश

श्री सी० बी० गुप्ता, हेल्थ मिनिस्टर

एस० पी० पाण्डे, सेक्रेटरी हेल्थ डिपार्टमेंट

डाक्टर ए० पी० वाजपेयी, डायरेक्टर मेडिकल एण्ड हेल्थ सर्विसिज़

मध्यप्रदेश

आनरेबुल डॉ० वी० डब्ल्यू० एस० वारलिंगे, हेल्थ मिनिस्टर

एस० डी० शर्मा, डायरेक्टर हेल्थ सर्विसेज

डाक्टर के० एल० दफ्तरी

वैद्य हिर्लेकर शास्त्री

कर्नल प्रेवल

पञ्जाब

आनरेबुल डाक्टर लेहनासिंह सेठी, हेल्थमिनिस्टर

श्री आई० एन० चिप, डिपुटी सेक्रेटरी लोकल एण्ड हेल्थ डिपार्टमेंट

लेफ्टिनेंट कर्नल पी० सी० दत्ता, डाइरेक्टर ऑफ हेल्थ सर्विसिज

डॉ० डी० आर० मेहता, डिपुटी डाइरेक्टर पब्लिक हेल्थ

बिहार

आनरेबुल पण्डित विनोदानन्द झा, हेल्थ मिनिस्टर

श्री यदुनन्दन प्रसाद, अण्डर सेक्रेटरी

लेफ्टिनेंट कर्नल डी० पी० नाथ, आई० जी० सी० एच०

* पण्डित हरनारायण चतुर्वेदी, सुपरिण्टेण्डेन्ट इण्डिजिनिस मेडिसिन बिहार

उड़ीसा

ऑनरेबुल पंडित लिंगराज मिश्रा, हेल्थ मिनिस्टर

आसाम

कर्नल ए० एन० चोपरा

हैदराबाद

मेजर जनरल एस० एल० भाटिया, सेक्रेटरी मेडिकल डिपार्टमेंट

जम्मू एण्ड काश्मीर

ऑनरेबुल श्रीश्यामलाल शराफ, हेल्थ मिनिस्टर

कर्नल रामनाथ चोपड़ा, डाइरेक्टर पब्लिक एण्ड मेडिकल हेल्थ सर्विसिज

मध्यभारत

ऑनरेबुल डॉ० प्रेमसिंह राठौर, हेल्थ मिनिस्टर

कर्नल शंकरलाल गर्ग, डाइरेक्टर मेडिकल एण्ड पब्लिक सर्विसिज

मैसोर

श्री टी० चन्द्रशेखरैय्या, डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक हेल्थ

सीनियर सर्जन एण्ड प्रिंसिपल, आयुवदिक कालेज

पैप्सू

ऑनरेबुल सरदार जी० एस० राड़ेवाला, हेल्थ मिनिस्टर

कर्नल आर० एस० मेरिया, डाइरेक्टर मेडिकल एण्ड पब्लिक हेल्थ सर्विसिज

हिमाचल प्रदेश

डा० घेसलाल, डाइरेक्टर हेल्थ सर्विसेज

कच्छ

डॉ० टी० सी० तासकर, चीफ मेडिकल आफिसर

भूपाल

कर्नल आर० के० मिश्रा, डाइरेक्टर मेडिकल एण्ड हेल्थ डिपार्टमेंट

विन्ध्य प्रदेश

लेफ्टिनेंट कर्नल एल० ओसवाल, डाइरेक्टर मेडिकल सर्विसिज

राजस्थान

ऑनरेबुल ब्रिगेडियर रावराजा हनुमंतसिंह, हेल्थ मिनिस्टर

डा० आर० एम० कासलीवाल, डाइरेक्टर मेडिकल एण्ड हेल्थ सर्विसिज

* वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह, डाइरेक्टर आयुर्वेद डिपार्टमेंट।

सौराष्ट्र

ऑनरेबुल श्री डी० टी० दवे, हेल्थ मिनिस्टर

कर्नल कुलवन्तराय, डाइरेक्टर आफ हेल्थ सर्विसिज

डा० प्राणजीवन मेहता

दिल्ली

लैफ्टिनेंट कर्नल बरकतनारायण, डाइरेक्टर हेल्थ सर्विसिज

अजमेर

श्री ए० एस० धावन, सेक्रेटरी चीफ कमिश्नर

डा० सूरजनारायण, सिविल सर्जन

यह सम्मेलन तृतीय हेल्थ मिनिस्टर कान्फ्रेंस के नाम से केवल भारतीय चिकित्सा पद्धति (आयुर्वेद, यूनानी) व होम्योपैथी पर विचार करने के लिये ही बुलाया गया था।

यह सम्मेलन प्रथम दिन माननीय प्रधान-मन्त्री श्री जवाहरलालजी के भाषण से प्रारम्भ हुआ और श्रीमती ऑनरेबुल राजकुमारी अमृतकौर हेल्थ मिनिस्टर ने अध्यक्ष-पद से तेरह पृष्ठ का लिखित भाषण पढ़ा। इसके बाद एक सब-कमेटी आनरेबुल डा०टी०एस० एस० राजन, हेल्थ मिनिस्टर मद्रासकी

अध्यक्षतामें संगठित की गई। इस समिति ने जो प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत किये, उनका सार नीचे दिया जाता है।

१ इस कान्फ्रेंस का यह निश्चय है कि नीचे लिखे कार्यों के लिये पर्याप्त सहायता केन्द्र और प्रांतों को देनी चाहिये।

(क) रिसर्च और अनुसन्धान (इन्वेष्टिगेशन) इण्डिजीनस सिस्टम (आयुर्वेद एण्ड यूनानी) के लिये किया जाय, विशेषकर जनता की स्वास्थ्य-रक्षा, रोगों के अवरोध तथा निवारण के लिये विशेष परीक्षण किये जायँ।

(ख) डिप्लोमा और डिग्री कोर्स के लिये आयुर्वेदिक और यूनानी स्कूल व कालेज खोले जाएँ।

(ग) पाश्चात्य की शिक्षा चिकित्सा के डाक्टरों के लिये पोस्ट ग्रेजुएट कोर्स की व्यवस्था की जावे।

(२) नेशनल प्लानिङ्ग कमेटी के संख्या १३ के प्रस्ताव के अनुसार यूनानी और आयुर्वेद के शिक्षित चिकित्सकों को हेल्थ सर्विस में ले लिया जावे।

(३) आयुर्वेदिक कालेज व स्कूलों के लिये दो तरह की प्रवेश की व्यवस्था की जावे।

(४ डिग्री कालेज के लिए आई० एस० सी० अर्थात् इण्टर मिडियेट फिजिक्स, केमेस्ट्री एण्ड बायोलोजी वाले विद्यार्थी लिये जावें।

(५) डिप्लोमा कोर्स के लिये मैट्रीकूलेशन वाले छात्र जो फिजिक्स केमिष्ट्री और बायोलोजी का ज्ञान रखते हों, वे ही लिये जावें।

(६) डिग्री कालेज के लिये ५ वर्ष का और डिप्लोमा कालेज के लिये ४ वर्ष का पाठ्यक्रम रहेगा।

(७ आयुर्वेद के लिये जो विद्यार्थी लिये जावें उनको संस्कृत का भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिये।

(८) यूनानी वालों के लिये अरबी और परशियन का ज्ञान आवश्यक है।

नॉन क्लीनिकल सब्जेक्ट्स

डिग्री व डिप्लोमा कोर्स के लिये अनाटोमी-फिजियालोजी, पैथोलोजी, हाइजीन, रेडियोलोजी मेडिकल जूरिसप्रूडेन्स एण्ड टोक्सिकोलोजी माडर्न मेडिसिन के आधार पर ही पढ़ाया जायगा। इसका स्टेन्डर्ड इण्डियन मेडिकल कौंसिल के निर्णयानुसार होगा और स्कूल वालों के लिये लाइसेंसियेट कोर्स के अनुसार किया जायगा। इसके साथ आयुर्वेद की फिजियोलोजी और पैथोलोजी पढ़ाने का भी विशेष प्रबन्ध किया जायगा।

क्लीनिकल सब्जक्ट्स

सर्जरी, आफथोलमोलाजी एण्ड ओटोरोयलो लेर्जिगोलोजी आट् स्ट्रेक्टिक्स, गायनोकोलोजी के विषयों का स्टेन्डर्ड डिग्रीकालेज के लिये यूनिवर्सिटी का व स्कूल के लिये लाइसेन्सियेट कोर्स का स्टेण्डर्ड रहेगा।

आयुर्वेदिक फार्मोकोलोजी, मेटेरिया मेडिका, थीराप्युटिक्स और क्लीनिकल मेडिसिन आयुर्वेदिक यूनानी और माडर्न पद्धति के अनुसार पढ़ाई जानी चाहिये। इसका स्टेण्डर्ड भी दोनों कोर्सों का यथापूर्व रहेगा।

ट्रेनिङ्ग का समय

डिग्री के लिये ५ वर्ष और डिप्लोमा के लिये ४ वर्ष।

दस वर्ष के बाद डिप्लोमा कोर्स बन्द कर दिया जाना चाहिये।

डाक्टरों के लिये एक वर्ष का पोस्ट ग्रेजुएट कोर्स रक्खा जावे।

अध्यापन की व्यवस्था

यदि व्यवस्था हो सके तो आयुर्वेद और यूनानीके विद्यार्थियों को साथ-साथ क्लीनिकल विषयों को पढ़ाने के लिये स्वतन्त्र रूपेण आयुर्वेद व यूनानी पढ़ाने का प्रबन्ध किया जाय और उसके लिये अस्पताल भी खोले जायँगें तथा उनके अध्यापकों को पर्याप्त वेतन दिया जाय।

शास्त्रीय चर्चा-परिषद् में विचार्य विषय

आयुर्वेद मार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

❀

गत नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के ३७ वें वार्षिक अधिवेशन के समय मैंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि—

"पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति में सृष्टि के मूल कारण विषयक पञ्चभूत सिद्धांत के स्थान पर ३२ तत्त्वों (ऐलीमेंटस) का सिद्धांत तथा रोगोत्पत्ति के कारणों में अहित आहार-विहार के उपरान्त कीटाणुओं को भी कारण मानने का सिद्धान्त इस समय प्रचलित है। पाश्चात्य चिकित्सकों की ओर से आयुर्वेद का माना हुआ पंचभूत सिद्धान्त और त्रिदोष सिद्धान्त ये आधुनिक विज्ञान की परीक्षा में न उतरने वाले काल्पनिक सिद्धान्त हैं, ये आक्षेप किये जाते हैं।

इस समय वैद्यों का प्रथम कर्तव्य है कि वे अपने मूलभूत सिद्धान्तों पर फिर से विचार करें। उनका आधुनिक विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र के साथ समन्वय कैसे और कहाँ तक हो सकता है, इसका विचारपूर्वक निर्णय करें और उन सिद्धान्तों की यथार्थता और उपयोगिता जगत् के सामने प्रमाणित करें। इस तरह का प्रयत्न एक बार बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित हुई पंचभूत-त्रिदोष-चर्चा परिषद् में हुआ भी था। उस समय और उसके पीछे पंच-महाभूत और त्रिदोष-सिद्धांत पर कुछ ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। परन्तु ऐसी एकाध परिषद् से ऐसे विषयों का निर्णय और आक्षेपों का परिहार होना सम्भव नहीं है। ऐसी कई परिषदें होनी चाहिये, जिनमें कुछ चुने हुए विद्वान्, वैद्य, डाक्टर, दार्शनिक और वैज्ञानिक एकत्र सम्मिलित होकर पूर्वग्रहरहित मन से केवल सत्यान्वेषण की बुद्धि से चर्चा एवं विचार विनिमय करें, तब ही हो सकता है। इस समय जो अखिल भारतवर्षीय और प्रांतीय वैद्यसम्मेलन हो रहे हैं, वे प्रायः शास्त्रीय नहीं, परन्तु राजकीय स्वरूप के हैं। ऐसे सम्मेलन भले ही प्रतिवर्ष होते रहें, परन्तु विद्वत्परिषद् भी वर्ष में एक दो बार अवश्य होनी चाहिये, जिसमें विद्वान् लोग एकत्रित होकर केवल शास्त्रीय विषयों की ही चर्चा करें।"

मेरे इस कथन की ओर वैद्य-समाज का ध्यान आकर्षित हुआ है। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन की स्थायी-समिति के ता० ७-४-५० के अधिवेशन में इस वर्ष पटना में शास्त्रीय चर्चा परिषद् करने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ है। इस परिषद् में कुछ चुने हुए विद्वान् वैद्य, डाक्टर, दर्शनिक और वैज्ञानिक एकत्र होकर आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धांतों (पंच-महाभूत, त्रिदोष आदि) पर चर्चा और विचार विनिमय करके निश्चित मत स्थापित करें और उस मत को नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के आगामी वार्षिक अधिवेशन पर सर्व-सम्मति के लिये उपस्थित किया जावे यह मुझे उचित मालूम होता है। इस परिषद् में मुख्यतः नीचे लिखे हुए विषयों पर विचार होना चाहिये, ऐसा मेरा मत है। आशा है कि अन्य विद्वान् भी इस विषय में अपना मत द्वारा प्रकाशित करेंगे।

१—वैदिक साहित्य, दर्शनों और आयुर्वेद में प्रतिपादित पंच-महाभूतों का वास्तविक यथार्थ स्वरूप क्या है ?

२—आधुनिक विज्ञान संमत ३२ तत्त्वों (एलिमेंट्स) के साथ पंच-महाभूतों का समन्वय कहां तक और किस प्रकार शक्य है ?

३—पंच-महाभूतों के सम्बन्ध में इस समय तीन मत प्रचलित हैं—(१) पंचमहाभूत स्वतन्त्र द्रव्य हैं; (२) पंचमहाभूत जड़ द्रव्यों की पांच अवस्था विशेष हैं, (३) पंचमहाभूत आधुनिक विज्ञान संमत ३२ तत्त्वों के प्राचीनों के माने हुए ५ वर्ग हैं। अर्थात् आधुनिक विज्ञान संमत ३२ तत्त्वों का पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य और तामस इन पांच वर्गों में समावेश हो सकता है। इन तीन मतों में से आयुर्वेद प्रवर्तक आचार्यों को कौनसा मत अभिप्रेत था ? यदि ३२ तत्त्वों का पार्थिवादि पाँच तत्त्वों में समावेश हो सकता है, तो कौन से तत्त्व का किस वर्ग में अन्तर्भाव हो सकता है ?

४—पंच-महाभूतों की स्वीकृति का चिकित्सा-शास्त्र में प्रयोजन और उपादेयता क्या है ?

५—आयुर्वेद में वर्णित वात-पित्त-कफ इन तीन दोषों का वास्तविक स्वरूप क्या है ? त्रिदोष में स्वतन्त्र (एकाकी) द्रव्य हैं या प्राणि शरीरस्थ आधुनिक क्रिया-शरीर (फिजियालोजी) में वर्णित अनेक पदार्थों के तीन वर्ग हैं ? यदि त्रिदोष में वर्ग हैं ऐसा मान लिया जावे तो आधुनिक क्रिया-शरीर में वर्णित किस पदार्थ का किस दोष में अन्तर्भाव हो सकता है ?

६—आयुर्वेद में मस्तिष्क, हृदय, फुफ्फुस, यकृत, प्लीहा, आमाशय, अन्त्र, बस्ति आदि शरीरावयवों की क्रियाओं का वर्णन प्रायः त्रिदोष की क्रियाओं के नाम से किया गया है। उनकी क्रियाओं का स्वतन्त्र वर्णन प्रायः नहीं पाया जाता। आधुनिक क्रिया-शरीर में प्रत्येक शरीरावयव की क्रियायें स्वतन्त्र रूप से वर्णित हैं। इन दोनों का समन्वय करके त्रिदोषानुसार शरीर-क्रियाओं का वर्णन जिसमें हो ऐसे पाठ्य-ग्रंथ का निर्माण करना उचित है या नहीं।

७—आयुर्वेद में वर्णित ज्वर, प्रमेह, कुष्ठ, शोथ, विसर्प आदि स्वतन्त्र रोग हैं या भिन्न-भिन्न अनेक रोगों के वर्ग हैं ? यदि वे अनेक रोगों के वर्ग हैं तो वर्गान्तर्गत रोगों को स्वतन्त्र रोग मानकर अवयव-विकृति के अनुसार उनका स्वतन्त्र निदान और चिकित्सा लिखना आवश्यक है या नहीं ? अवयव-विकृति के वर्णन के साथ उन रोगों के दोष लक्षणानुसार वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, द्वन्द्वज और सान्निपातिक भेद तथा तदनुसार चिकित्सा लिखने की आवश्यकता है या नहीं ? यदि आवश्यकता स्वीकृत की जाय तो उसकी उपादेयता क्या है ? नवाविष्कृत रोगों के निदान और चिकित्सा का आयुर्वेद में समावेश किस प्रकार करना चाहिये ?

८—शरीरावयव-वाचक कुछ संज्ञाओं का प्राचीन ग्रन्थों में अनेकार्थ में प्रयोग देखा जाता है और कुछ संज्ञाओं के अर्थ में विद्वानों का मतभेद देखा जाता है ; उनके निश्चित अर्थ का निर्णय करना।

९—आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र में जीवाणुओं को रोग-कारण माना जाता है। आयुर्वेद-मतानुसार उनका रोगकारणत्व किस प्रकार हो सकता है ? यदि जीवाणुओं को रोग का कारण माना जाय तो उनके भी वातप्रकोपक, पित्तप्रकोपक, और कफप्रकोपक ऐसे तीन वर्ग माने जावें या नहीं ?

१०—रस-वीर्य-विपाक का वास्तविक स्वरूप क्या है ? नवीन द्रव्य के गुणकर्मों का निर्णय रस-विपाक-वीर्य द्वारा किस प्रकार करना चाहिये ! आधुनिक द्रव्यगुण-विज्ञान में औषध-द्रव्यों का शरीर के अवयवों पर होनेवाली उनकी क्रियाओं के अनुसार औषध द्रव्यों का वर्गीकरण किया गया है। उनका आयुर्वेदीय द्रव्यगुण विज्ञान में समावेश करना चाहिए या नहीं ?

"आयुर्वेद की विजय अवश्यम्भावी"

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के कलकत्ता कार्यालय में

आयुर्वेद पंचानन श्री शुक्लजी के उद्गार



"आयुर्वेद में स्वयं ऐसी शक्ति है कि कोई भी इसे विजयी होने से रोक नहीं सकता। फिर भी, आयुर्वेद प्रेमी जनता और वैद्यों को इसके प्रति अपने कर्त्तव्य का तो पालन करना ही है और वर्तमान समय में जिन भीषण संघर्षों से हमारी यह राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति गुजर रही है, उनमें हर प्रकार से इसके पक्ष को प्रबल बनाना है।"

ये उद्गार निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन के भूतपूर्व सभापति तथा वैद्यों के कर्मठ नेता आयुर्वेद पंचानन पण्डित जगन्नाथ प्रसादजी शुक्ल ने श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के कलकत्ता-कार्यालय में गान्धी जयन्तीके शुभ अवसर पर आयुर्वेदप्रेमियों और वैद्यों की एक महती सभा में प्रकट किये। सभा का आयोजन श्री शुक्लजी तथा निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ के भूतपूर्व सभापति पण्डित दुर्गादत्तजी शास्त्री के स्वागत में किया गया था। सभापति स्वर्गीय महामहोपाध्याय गणनाथजी सेन के सुपुत्र कविराज सुशील कुमारजी सेन थे।

कार्यक्रम आरम्भ होने पर सर्वप्रथम "सचित्र-आयुर्वेद" के सहकारी सम्पादक वैद्य सभाकान्त झा आयुर्वेद शास्त्री ने श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की ओर से दोनों प्रधान अतिथियों का अभिनन्दन किया। तदुपरान्त निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान-मंत्री कविराज विजय कालीजी भट्टाचार्य ने अतिथिद्वय का बंगाल के कविराजों की ओरसे अभिनन्दन करते हुए अभिनन्दन-समारोह के आयोजन के लिये श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० कलकत्ता के संचालकों को धन्यवाद दिया।

"सचित्र आयुर्वेद" के निर्देशक आयुर्वेद महामहोपाध्याय पण्डित भागीरथजी स्वामी ने अपने भाषण में विस्तार से श्री शुक्ल जी तथा पण्डित दुर्गादत्तजी के कर्मठ जीवन पर प्रकाश डाला। आपने बताया कि किस प्रकार स्वर्गीय प्रातः स्मरणीय श्री शंकर दास जी शास्त्री पदे के बाद वैद्यसंगठन का कार्य श्री शुक्ल जी ने अपने हाथ में लिया और आज तक वे आयुर्वेद के अभ्युत्थान के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। आयुर्वेद की उन्नति के लिए आपने नकली दवाएँ बेचने पर राजकीय प्रतिबन्ध लगने को अत्यावश्यक बताया।

सभापति कविराज सुशील कुमार जी सेन ने अपने भाषण में बताया कि उन्होंने सर्वप्रथम श्री-शुक्ल जी के दर्शन सन् १९११ में इलाहाबाद में किये थे जब कि वे अपने पिता स्वर्गीय महामहोपाध्याय गणनाथ जी सेन के साथ महासम्मेलन के अधिवेशन में गये थे। आप ने बताया कि स्व० म० म० सेन जी आयुर्वेद के प्रमुख विद्वानों में आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिक्रम जी, आयुर्वेदमार्तण्ड वद्य लक्ष्मीराम जी स्वामी तथा आयुर्वेद महामहोपाध्याय भागीरथ जी स्वामी के साथ आयुर्वेदपंचानन पण्डित जगन्नाथप्रसाद जी शुक्ल का नाम अक्सर लिया

करते थे। आगे आपने कहा—"श्री शुक्ल जी तथा पण्डित दुर्गादत्त जी आयुर्वेद के सूर्य और चन्द्र के रूप में आज एक साथ हमारे सामने उदित हुए हैं। यह हमारे लिए परम सौभाग्य की बात है।" बंगाल के समस्त कविराजों की ओर से, अतिथिद्वय का अभिनन्दन करते हुए, आपने अभिनन्दन-समारोह के आयोजन के लिए श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के सेक्रेटरी श्री हजारी लाल जी शर्मा को धन्यवाद दिया।

तदुपरान्त आयुर्वेदपंचानन पं० जगन्नाथप्रसाद जी शुक्ल ने अपना भाषण आरम्भ करते हुए कहा—'कलकत्ते में मैं श्री बालमुकुन्द गुप्त स्मारक उत्सव के लिए आया था, परन्तु यहाँ के कविराजों से कुछ बातें करने की मेरी बड़ी इच्छा थी। चि० हजारी-लाल के उद्योग से मेरी यह इच्छा पूर्ण हो गयी।" आगे आप ने कहा—"नयी पीढ़ी के वैद्यों में बहुत से यह समझते हैं कि आयुर्वेद के लिए आज संकट का ऐसा समय उपस्थित हो गया है, जैसा पहले कभी नहीं था।" "परन्तु", आपने कहा, "वास्तव में यह बात नहीं। अब से ५०-६० वर्ष पूर्व जब हम लोगों ने आयुर्वेद महासम्मेलन का कार्यारम्भ किया था, उस समय तो आज से भी बुरी अवस्था थी। परन्तु आयुर्वेद में स्वयं ऐसी शक्ति है कि वह निरन्तर ऊपर ही उठता जा रहा है और हमें आशा रखनी चाहिए कि यह निरन्तर विजयी होता जायगा।" "आयुर्वेदके प्रचार के लिए" आपने कहा "वैद्यों को गाँव गाँव में जाकर जनता में प्रवेश करना चाहिए। हमारी पूरी कोशिश होनी चाहिए कि अगले चुनाव में आयुर्वेद के समर्थकों को ही वोट मिलें।"

"साथ ही", श्री शुक्लजी ने कहा, "आयुर्वेद की वैज्ञानिक उन्नति के लिए भी हमें सतत सचेष्ट रहना चाहिए। इसके लिये विद्वत्परिषदें होती रहनी चाहिए। हमें खुशी है कि इस प्रकार की एक 'शास्त्रचर्चा परिषद्' शीघ्र ही पटना में होनेवाली है, जिसके लिए पण्डित रामनारायणजी से मुझे भी आमंत्रण मिला है।"

काशी के प्रसिद्ध वैद्य पण्डित दुर्गादत्तजी ने अपने भाषण में गत स्वास्थ्यमन्त्री सम्मेलन में आयुर्वेद की महती विजय की चर्चा की और सम्मेलन में आयुर्वेद का समर्थन करनेवाले उत्तर प्रदेश बिहार, मध्यप्रदेश, राजपूताना, आसाम, उड़ीसा, बम्बई, मद्रास आदि प्रान्तों के स्वास्थ्यमन्त्रियों को वैद्य-समाज की ओर से धन्यवाद दिया।

अन्त में श्री हजारीलालजी तथा कलकत्ते के सुप्रसिद्ध साहित्यिक और समाज-सेवक पण्डित झाबरमलजी शर्मा ने प्रधान अतिथियों से समागत वैद्यों और आयुर्वेद प्रेमियों का परिचय कराया।

पञ्चमहाभूत और त्रिदोष

आयुर्वेदमार्त्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य



भारतीय दार्शनिकों और वैद्यों का मत है कि समग्र चराचर सृष्टि के मूलकारण आकाश (नभस्), वायु, तेज (अग्नि), अप् (जल) और पृथ्वी ये पञ्चभूत हैं[1]। इन पञ्चभूतों के न्यूनाधिक भावों से विशिष्ट संयोग तथा प्रकृति सम-समवाय (Physical mixture) या विकृति विषम समवाय (Chemical composition) से संसार के सब विविध पदार्थों की उत्पत्ति और उनके विविध व्यापार होते हैं। यद्यपि सब द्रव्य पञ्चभूतों से उत्पन्न हुए हैं तथापि 'व्यप देशस्तु भूयसा' इस न्याय के अनुसार जिन द्रव्यों में आकाश के गुण-कर्म अधिक थे उनका 'आकाशीय' (नाभस्) जिन द्रव्यों में वायु के गुण-कर्म अधिक थे उनका 'वायव्य', जिनमें तेज (अग्नि) के गुण-कर्म अधिक थे उनका 'तैजस' (आग्नेय), जिनमें अप् के गुण-कर्म अधिक थे उनका 'आप्य' तथा जिनमें पृथिवी के गुण-कर्म अधिक थे उनका 'पार्थिव' नाम रखकर व्यवहार सौकर्य के लिये समस्त कार्य द्रव्यों का उन्होंने पार्थिव, आप्य, तैजस्, वायव्य और नाभस्-इन पाँच वर्गों में वर्गीकरण किया है। तत्तत् वर्ग के द्रव्यों में तत्तत् महाभूत को अधिकता का निर्णय तत्तत् महाभूत के गुण-कर्मों की अधिकतानुसार किया गया है। जैसे सृष्टि के सब पदार्थ पाञ्चभौतिक हैं वैसे मनुष्यादि सब प्राणियों के शरीर भी पञ्चभौतिक हैं; तथापि व्यवहार सौकर्य के लिये शरीर की प्राकृत क्रियायें, शरीरावयवों की विकृति (रोग) और रोग निवारण की दृष्टि से शरीरस्थ सब पदार्थों का वात (वात वर्ग), पित्त (पित्त वर्ग), और कफ (कफ वर्ग) इन तीन वर्गों में वर्गीकरण किया है। प्राणि शरीर में वात-वायु (और आकाश) महाभूत का, पित्त अग्नि महाभूत का और कफ-जल (और पृथ्वी) महाभूत का प्रतीक (स्थानापन्न—प्रतिनिधि) है। बाह्य जगत् में जो क्रियायें वायु महाभूत द्वारा होती हैं प्राणि शरीर में वे सब क्रियायें वात धातु द्वारा होती हैं, बाह्य जगत् में जो क्रियायें तेज महाभूत द्वारा होती हैं प्राणि शरीर में वे सब क्रियायें पित्त धातु द्वारा होती हैं तथा बाह्य जगत् में जो क्रियायें जल महाभूत द्वारा होती हैं प्राणि शरीर में वे सब क्रियायें कफ धातु द्वारा होती हैं। जैसे पाञ्चभौतिक वर्गीकरण में सृष्टि के सब पदार्थ[1] पाञ्च भौतिक होने पर भी एक-एक महाभूत के गुणकर्मों की अधिकतानुसार पार्थिव-आदि पाँच वर्गों में उनका वर्गीकरण किया गया है, वैसे ही त्रिधातु वर्गीकरण में प्राणि शरीरस्थ सब पदार्थ त्रिधात्वात्मक होने पर भी एक-एक धातु के गुण-कर्मों की अधिकतानुसार उनका वातवर्ग, पित्तवर्ग और कफ वर्ग—इन तीन वर्गों में वर्गीकरण किया गया है। सारांश यह कि प्राचीन भारतीय वैद्यों ने सृष्टि के समग्र पदार्थों को पार्थिव, आप्य, तैजस्,

१—चर—सजीव सृष्टि की उत्पत्ति में आत्मा भी उपादान कारण है।

१—अनेक पदार्थों को संक्षेप में और सरलता से समझने-समझाने के लिये समान धर्म (गुण-कर्मों) वाले उनके थोड़े से वर्ग बनाये जाते हैं। एक जातीय द्रव्यों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न प्रकार का वर्गीकरण किया जाता है। उदाहरणतः—वनस्पतियों का उद्भिज्जशास्त्री (BOTANIST) उनकी रचनानुसार वर्गीकरण करता है, तो चिकित्सक उनके गुण-कर्मानुसार उनका वर्गीकरण करता है। भारतीय दार्शनिकों ने सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों का पञ्चमहाभूतों में और वैद्यों ने प्राणिदेहस्थ समस्त द्रव्यों का त्रिधातु में वर्गीकरण किया है।

वायव्य तथा नाभस्—इन पाँच वर्गों में और प्राणि शरीरस्थ सम्पूर्ण पदार्थों को वात, पित्त और कफ—इन तीन वर्गों में विभक्त करके इन दोनों वर्गीकरणों की आधारशिला (नींव) पर अपने चिकित्सा शास्त्र का प्रासाद खड़ा किया है। भारतीय चिकित्सा शास्त्र के शरीर-क्रिया-विज्ञान, द्रव्य-गुण-विज्ञान, रोग-विज्ञान और चिकित्सा—ये विषय इन दोनों वर्गीकरणों के आधार पर लिखे गये हैं—इस तथ्य को ध्यान में रखकर पञ्चमहाभूत और त्रिधातु (त्रिदोष) का विचार करने से ही उनका वास्तविक स्वरूप ध्यान में आ सकता है। प्राचीन ग्रन्थों में वात-पित्त-कफ के जो भेद वर्णित हैं, वे उस समय में आविष्कृत (ज्ञात हुए) भेद हैं। प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित कुछ दोषों के भेद भी स्वतन्त्र नहीं परन्तु अनेक अवान्तर भेदों के वर्ग हैं; जैसे पाचक पित्त। आधुनिक क्रिया शारीर (फिजियोलोजी) में आयुर्वेदोक्त दोष भेदों के अतिरिक्त दूसरे अनेक द्रव्यों का वर्णन पाया जाता है। उनका भी उनके गुण-कर्मानुसार त्रिधातु वर्गीकरण में समावेश कर के त्रिधातु विज्ञान के नवीन ग्रन्थ के निर्माण की इस समय आवश्यकता है। त्रिधातु वर्गीकरण को शारीर क्रिया विज्ञान, रोग विज्ञान और चिकित्सा में क्या उपयुक्तता है और दोषलक्षणानुसार निदान और चिकित्सा करने में कितना सौकर्य है—इस विषय का प्रतिपादन (विवेचन) करना और आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त की उपयोगिता संसार के सामने रखना इस समय परमावश्यक है।

कैसे खाँसे ?

आधुनिकों ने स्वस्थवृत्त के दो विभाग—वैयक्तिक और सामाजिक—करके दोनों का पृथक् निरूपण किया है। परन्तु आयुर्वेद और धर्म के प्राचीन आचार्यों ने दोनों प्रकार के स्वस्थवृत्त के बहुत-से नियमों का उपदेश आचार के अन्तर्गत ही कर दिया है। तद्यथा, सद्वृत्त-प्रकरण में कहा गया है—

नासंवृतमुखः सदसि जृम्भोद्गार कासश्वासक्षवथूनुद्गिरेत् ॥ सु० चि० २४।९४

नानावृतमुखो जृम्भां क्षवथुं हास्यं वा प्रवर्तयेत् ॥ च० सू० ८।१९

अर्थात् कदापि, विशेषतः जन-समाज में, मुख को हाथ आदि से ढके बिना खाँसे नहीं ? श्वास, जँभाई, डकार, छींक या हास्य के वेगों में भी मुख को आवृत कर ले।

यक्ष्मा के प्रसार का नव्यमतानुसार जिन्होंने अनुशीलन किया है वे जान सकते हैं कि यह आदेश कितना युक्तियुक्त है। रोगी मुख को ढके बिना खाँसी आदि करे तो उसके वेग से सहस्रों जीवाणुओं से आक्रान्त कफ बाहर निकलता है। इस वेग के कारण ही यह अत्यन्त सूक्ष्म कणिकाओं में विच्छिन्न हो जाता है। ये कणिकाएँ वातावरण में उड़नेवाले धूलि-कणों से ससक्त होकर वायुवेगवश इधर-उधर उड़ती रहती हैं। संयोग से ये इतर पुरुषों द्वारा श्वास में गृहीत होकर उनके फुप्फुसों में जाती हैं; और उनमें क्षमता (रोगहारकशक्ति) न्यून हुई तो रोगोत्पत्ति करती हैं[1]। कोई व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं, जिनमें कफादि में रोगजनक जीवाणु हों परन्तु उन्हें स्वयं रोग न हो। ऐसे पुरुषों को रोग का वाहक कहते हैं। भविष्य में कदाचित् रोगाक्रान्त होकर पुरुष उसके संक्रमण का अपराध न कर बैठे अतः उसे पहले से ही खाँसी आदि के आचार का अभ्यास कराने के लिए यह सामान्य पद्धति प्रवर्तित की गयी।

सद्वृत्त के अन्य नियमों की भी इसी प्रकार व्याख्या की जा सकती है।

—वैद्य रणजितराय

१—संक्रमण के इस प्रकार को Drop-let infection—ड्रॉप-लेट इन्फेक्शन कहते हैं।

छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक-३

वैद्य रणजितराय

उपशय-अनुपशय

जिस आहार या विहार (चेष्टा, कर्म) या औषध-द्रव्य के सेवन से अनुबन्ध में (उत्तर काल में)[१] आरोग्य की प्राप्ति हो उसे उपशय या सात्म्य कहते हैं।[२]

आहार या विहार या औषध द्रव्य इन में प्रत्येक छः प्रकार से रोग को शान्त करता है।

१—निदान अर्थात् रोग के हेतु के विपरीत होने से ;

२—रोग के विपरीत होने से ;

३—निदान और रोग दोनों के विपरीत होने से ;

४—ऊपर से देखने में निदान (रोग-कारण) की वृद्धि करनेवाला प्रतीत हो, परन्तु निदान के विपरीत कार्य (परिणामोत्पत्ति) करने से ;

५—आपाततः (ऊपर से देखने से, प्रथम दर्शन में) रोग की वृद्धि करनेवाला प्रतीत हो, तथापि रोग के विपरीत परिणाम उत्पन्न करने से ;

६—निदान और रोग दोनों का वर्धक प्रतीत हो, तथापि उभय-विपरीत कार्य करने से।

औषध, आहार तथा विहार तीनों के सम्बन्ध में छहों प्रकार से रोगोपशमन के उदाहरण निम्न लिखित हैं। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि औषधादि तो उपलक्षण (उदाहरण) मात्र हैं, देश और काल भी उपशय या अनुपशय होते हैं।

---

१ In the long run.

२—देखिये च० सू० ११।१०। यही वचन निम्नरूप में पद्यबद्ध अष्टाङ्ग, हृदय में (नि० १) और वहाँ से माधव निदान में उद्धृत होकर वैद्यों में प्रसिद्ध हो गया है।

> हेतुव्याधिविपर्यस्त विपर्यस्तार्थकारिणाम्।
> औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखा वहम् ॥
> विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ॥

विपर्यस्त=विपरीत ; अर्थ=कार्य।

१—हेतु विपरीत औषधादि के उदाहरण

क—शीतगुण कफज्वर में शुगठी आदि उष्ण औषध ;

ख—श्रमजन्य वायु से उत्पन्न ज्वर में मांसरस और भात ;

ग—दिवास्वप्नजन्य कफ में रात्रिजागरण।

२—व्याधि विपरीत औषधादि के उदाहरण

क—अतिसार में स्तम्भन पाठा आदि औषध, विष में शिरीष, कुष्ठ में खदिर, प्रमेह में हरिद्रा। ये किसी दोष को शान्त करके रोग को नष्ट नहीं करते ; अपने प्रभाव से सीधे रोग पर क्रिया करते हैं। इन्हें 'व्याधि प्रत्यनीक'[१] तथा ऊपर सं०१ में कहे औषधादिक को 'दोष-प्रत्यनीक'[२] कहने का प्रचार है।

ख—अतिसार में स्तम्भन मसूर की दाल इत्यादि ;

ग—उदावर्तजन्य (वेगावरोधजन्य मलों की विपरीत गति) में प्रवाहण (कांखना)।

३—हेतु-व्याधि विपरीत औषधादि के उदाहरण

क—वातिक शोथ में दशमूल ; यह कारणभूत वात और व्याधि शोथ दोनों का नाशक है ;

ख—वात-कफजन्य ग्रहणी रोग में तक्र ; अथवा शीत-वातोत्थ ज्वर में पेया ; यह उष्ण होने से वात को और प्रभाव से ज्वर को दूर करती है ;

ग—स्निग्धगुण दिवास्वप्न से उत्पन्न तन्द्रा में रूक्ष-गुण तथा तन्द्रा-विपरीत रात्रि जागरण।

४—हेतु के विपरीत कार्य करनेवाले औषधि के उदाहरण

क—पित्त प्रधान व्रणशोथ में पित्तकर उष्ण उपनाह ;

१—Empirical—एम्पीरिकल।

२—Rational—रेशनल। इन शब्दों का अर्थ जानने के लिए देखिये—'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' पृ० ९६-९७।

ख—पच्यमान व्रणशोथ में विदाही अन्न ; (आम प्रतिश्याय में कहीं-कहीं प्रचलित दही, केला) ;

ग—वातोन्माद में त्रासन ; ('काम-शोक-भयाद् वायुः' इस नियम से त्रासन—भयोत्पादन-वायु का प्रकोपक प्रतीत होता है, पर वह उन्माद को शान्त करता है यह अनुभव-सिद्ध है) ।

५—व्याधि विपरीतार्थकारी औषधादि के उदाहरण

क—वमन में वामक मदनफलादि ; (आमातिसार तथा प्रवाहिका में रेचक हरीतकी, एरण्डतैल, ईसबगुल आदि) ;

ख—पैत्तिक अतिसार में विरेचक दूध ;

ग—वमन में वमन कराने के लिए प्रवाहण (वमन का वेग उत्पन्न करने के लिए जोर लगाना, गले में अंगुली डालना आदि) ।

६—हेतु-व्याधि दोनों के विपरीत कार्यकारी औषधादि के उदाहरण

क—अग्निदग्ध में उष्णगुण अगुरु आदि का लेप ; अथवा विष में विष ;

ख—मद्यपान जनित मदात्यय में मदकारक मद्य ;

ग—व्यायाम से हुए मूढवात (ऊरुस्तम्भ) में तैरना आदि व्यायाम[१] ।

उपशय के लक्षण के विरुद्ध, औषधादि का ऐसा उपयोग जो व्याधिजनक हो उसे अनुपशय या असात्म्य कहा जाता है ।

यद्यपि अनुपशय (अहित आहार, विहार तथा औषध) का रोग के कारणों में तथा उपशय (हितकर आहार, विहार या औषध) का चिकित्सा में ही अन्तर्भाव है, तथापि ये दोनों रोग-परीक्षा में उपयुक्त होने से इनका पञ्च-निदान में परिगणन किया है । कहा गया है—

उपशयानुपशयाभ्यां गूढ लिङ्गं व्याधिं परीक्षेत ॥
च० वि० ४८

—जिस रोग के लक्षण बहुत स्पष्ट न हों, अनेक रोगों की सम्भावना हो तो निश्चित कौन-से रोग से रोगी पीड़ित है, इसका निर्णय न होता हो तब, उपशयानुपशय द्वारा रोग-विनिश्चय करे । अर्थात्—जिन रोगों की सम्भावना हो उनके नाशक औषध, आहार तथा विहार का क्रमशः सेवन कराके देखे । जिस रोग के नाशक औषधादि से रोग शान्त हो, उसी रोग से रोगी पीडित है ऐसा निर्णय करे। कभी-कभी स्वयं रोगी अथवा उसके स्वजन-परिजन बता देते हैं कि उसे यह अनुकूल है और यह प्रतिकूल। कभी-कभी पहले कभी चिकित्सा करायी थी या नहीं ? करायी थी तो क्या औषधादि दिये गये थे, उनका क्या परिणाम हुआ था,

---

१—होमियोपैथी आयुर्वेद का ही विस्तार है, यह बताने के लिए बहुधा 'विपरीतार्थकारी' चिकित्सा का उदाहरण दिया जाता है । इस पद्धति का मूल सिद्धान्त है कि, कोई द्रव्य अधिक प्रमाण में लेने से जो अवगुण उत्पन्न होते हैं वे ही अवगुण रोग-रूप में देखने में आवें तो वही द्रव्य अल्प प्रमाण में देने से उस रोग में लाभ होता है । यथा, लाल मिर्च अति मात्रा में दाहकारक है और सिनकोना अति मात्रा में शीत तथा कम्पपूर्वक ज्वरकारक है । इन्हें दाह रोग या शीत और कम्प सहित हुए ज्वर (मैलेरिया) में अल्प प्रमाण में दिया जाता है । ये द्रव्य विपरीत कार्य करेंगे ऐसा उनके अति प्रमाण में देने से हुए अनुभव से प्रतीति होती है, पर प्रभाव व्याधिनाशक होता है, यह सिद्ध है ।

इस पद्धति का दूसरा मूल सिद्धान्त है—मात्रा जितनी अल्प करते जायेंगे द्रव्य-शक्ति (Potency—पोटेन्सी) उतनी ही बढ़ती जायगी । इसे आयुर्वेद का 'मर्दनं गुण वर्धनम्' माना जाता है । सत्य यह है कि, मात्रा अल्प करने के लिए मर्दन किया जाता है, पर गुण उसका नहीं, मात्राल्पत्व का होता है । इसके लिए १ ग्रेन (आधी रत्ती) या एक बून्द द्रव्य ले उसमें १० गुणित मुग्ध-शर्करा (Milk-Sugar—मिल्क-शुगर) डाल मर्दन करते हैं । प्राप्त द्रव्य से पुनः १ ग्रेन ले १० गुणित दुग्ध-शर्करा डाल मर्दन करते हैं । इस प्रकार कम-से-कम ६ बार प्राप्त द्रव्य का एक-एक ग्रेन ले उसमें दुग्ध-शर्करा मिश्रित कर मर्दन करते हैं । प्राप्त द्रव्य की शक्ति सूचित करने को ६ X (सिक्स एक्स) शब्दों का व्यवहार करते हैं (x=१०) । इस प्रकार लाख या अधिक वार भी शर्करा डालकर मर्दन किया जाता है । प्रति वार मात्रा अल्पतर तथा शक्ति अधिकतर होती जाती है । होमियोपैथी का मात्राल्पत्व का यह सिद्धान्त आयुर्वेद और ऐलोपैथी दोनों से विरुद्ध है । इन दोनों में अधिक गुण प्राप्ति के लिए अधिक मात्रा आवश्यक मानी जाती है ।

होमियोपैथी के ये दो मूल सिद्धान्त हैं ।

वह जानकर रोग-निर्णय किया जा सकता है। पाश्चात्य चिकित्सा में इस प्रकार निदान का एक उदाहरण प्रसिद्ध है। संतत (अविसर्गी—न उतरनेवाले) ज्वर से पीडित रोगी को टायफॉयड है या मैलेरिया—यह जानने के लिए पूर्ण मात्रा में क्वीनाइन दी जाती है। मैलेरिया हो तो एक बार तो अवश्य उतर जाता है। न उतरा तो टायफॉयड या अन्य ज्वर की सम्भावना निश्चित हो जाती है[1]।

संप्राप्ति

यथादुष्टेनदोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ, संप्राप्तिर्जातिरागतिः ॥

अ० हृ० नि० १।८

रोगजनक दोष या दोषों का प्रकोप किस प्रकार का है अर्थात् वह प्राकृत है, वैकृत है, साम है, निराम है, अनुबन्ध्य है कि अनुबन्धक; उसके सम्पूर्ण गुणों और कर्मों का प्रकोप हुआ है कि कुछ ही का और किनका; प्रकुपित हुए दोष का अपने किस स्थान में संचय और वृद्धि हुई, वहाँ से किन स्रोतों द्वारा उसका प्रसर हुआ; तत्-तत् स्रोत, आशय या अवयव में पहुंचकर उसने किस-किस विक्रिया (लक्षण) को उत्पन्न कर अन्त में प्रधान रोग को उत्पन्न किया इस बात के विवरण को संप्राप्ति कहते हैं। जाति और आगति उसके पर्याय हैं।

भिन्न-भिन्न रोगों की संप्राप्ति भिन्न-भिन्न होती है। सामान्यतः संख्या, प्राधान्य विधि, विकल्प, बल और काल इन छः की भिन्नता के कारण संप्राप्ति में भिन्नता होती है। इनमें संख्या का अर्थ स्पष्ट है; जैसे ज्वर आठ प्रकार का होता है; गुल्म पाँच प्रकार का, कुष्ठ सात प्रकार का इत्यादि।

प्राधान्य का अर्थ यह है। कुपित दोष यदि एक से अधिक—दो या तीन—हैं तो किसका कोप सबसे अधिक है, किसका उससे न्यून, और किसका सबसे न्यून। अथवा प्राधान्य का अर्थ यह भी है कि रोग प्रधान अर्थात् स्वतन्त्र है या अप्रधान अर्थात् उपद्रव-रूप।

१—इसे Tentative diagnosis—टेण्टेटिव डायेग्नोसिस कहते हैं। विशेष जानने के लिए देखिये—आयुर्वेदीय-क्रियाशारीर पृ० ११२-१२; आयुर्वेदीय-पदार्थ-विज्ञान पृ० ४३७-३८।

विधि का अर्थ है—रोग के निज, आगन्तु, वातज आदि प्रकार से दोषज, साध्य आदि प्रकार।

विकल्प-दोषों में स्वरूपतः अनेक गुणकर्म होते हैं। प्रकुपित होकर ये दोष जब रोग उत्पन्न करते हैं तो सर्वदा उनके सब गुण कुपित या बली नहीं हुए होते। कभी कोई और कभी कोई गुण बली हुआ होता है। यथा, वात के कुपित होनेपर कभी उसका रूक्ष गुण बली होता है, कभी लघु और कभी लघु-रूक्ष दोनों। बली (प्रकुपित) गुण या गुणों के अनुसार ही उनके द्वारा उत्पादित विकारोंमें भिन्नता होती है। दोषों के प्रकोपक द्रव्य (आहारौषध) या विहार भी सभी सब गुण-कर्मों की वृद्धि नहीं करते। किन्तु—कोई सब गुणोंको और कोई अमुक विशिष्ट गुणों को बढ़ाता है। यथा, वात में रूक्षत्वादि गुण हैं। कषाय-रस (कषाय-रस द्रव्य) तथा खेसारी (कलाय)[1] इन सब गुणों की वृद्धि करते हैं; तण्डुलीयक (चौलाई) उसके रौक्ष्य, शैत्य और लाघव को बढ़ाता है; काण्डेक्षु (पौंडा, गन्ना) रौक्ष्य और शैत्य को तथा सीधु (इक्षुरस-कृत मद्य) रौक्ष्य की ही वृद्धि करता है। कटुरस (कटुरस द्रव्य) तथा मद्य पित्त के सभी गुणों की वृद्धि करते हैं, हिंगु, कटु उष्ण तथा तीक्ष्ण गुण की; यवानी (अजवायन) तीक्ष्ण और उष्ण की और तिल उष्णत्व की वृद्धि करता है। मधुर रस और भैंस का दूध कफ के सर्व गुणों की वृद्धि करते हैं; खिरनी (राजादन)[2] स्निग्धता, मधुरता और गुरुता को; कसेरू शैत्य और गुरुत्व की एवं क्षीरी वृक्षों के फल शीत गुण की वृद्धि करते हैं; इस प्रकार विभिन्न द्रव्य तथा विहार अपने-अपने विशिष्ट गुणों से दोषों के अमुकामुक गुणों की वृद्धि करते हैं।

प्रकोपक द्रव्यों के सेवन से रोग जनक दोष के कौन-कौन से वृद्धि गुणों की वृद्धि हुई है यह देखना रोग-परीक्षा में आवश्यक है। इससे उसके विरोधी गुणवाले द्रव्य का चिकित्सा में उपयोग करने का खयाल आता है। दोषों के गुणों की इस परीक्षा को विकल्प या अंशांशकल्पना कहते हैं। 'अंश का अर्थ यहाँ' 'दोषों के पृथक् गुण' है[3]।

१—गुजराती में लाँग।
२—गुजराती-रायण।
३—इस प्रसंग में 'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' पृष्ठ ३९ भी देखिये।

बल हेतु, पूर्वरूप, रूप इनकी संख्या जितनी ही अधिक होगी रोग का बल उतना ही अधिक होगा। तदनुसार उसकी साध्यासाध्यता भी न्यूनाधिक होगी।

काल—रोग का वेग किस ऋतु, दिन या रात्रि के किस काल; आहार के तत्काल पीछे, कुछ काल पीछे या पर्याप्त समय पीछे कब है, इसका विचार काल शब्द से होता है। इन कालों में भिन्न-भिन्न दोषों का प्रकोप[1] होता है। व्याधि के उदय या तीव्रता का काल जानकर उसके कारणभूत दोष का अनुमान होता है। यथा, वसन्त, पूर्वाह्न, प्रदोष (रात्रि का आरम्भ) या भोजन खाने के तत्काल पीछे ज्वरादि हो तो वह कफ प्रधान है अथवा उसका स्थान कफ-स्थान है यह अनुमित होता है। दोष और स्थान के निर्णय से चिकित्सा का मार्ग स्वच्छ हो जाता है।

प्रत्येक रोग के प्रकरण में उसके निदान, पूर्वरूपादि पंच-निदानों का उल्लेख किया जायगा। कहीं-कहीं उपशय का पृथक् कथन न करेंगे। वहाँ उसके निदान से ही अनुपशय समझ लेना चाहिए—अर्थात् निदानोक्त अनुपशय है और तद्विपरीत उपशय ऐसा जान लेना चाहिये।

सामान्य चिकित्सा-क्रम

आयुर्वेद[2] में शारीर रोगों की उत्पत्ति प्रसृत हुए दोषों से मानी गयी है। मन का भी शरीर तथा शारीर दोषों से निकट सम्बन्ध होने से मानस रोगों की उत्पत्ति में भी प्रायः शारीर दोष कारण होते हैं[3]। अतः आयुर्वेद में शारीर दोषों की चिकित्सा पर मुख्य ध्यान दिया जाता है।

१—प्राचीन कालमें दोषों की अंशांशकल्पना करके प्रकुपित गुणों के विरोधी मधुरादि रस वाले एक या अनेक द्रव्य देकर चिकित्सा करने की एक पृथक् ही पद्धति थी। विस्तार के लिये देखिये—'सचित्र आयुर्वेद' जुलाई १९४९ के अङ्क में 'प्रथम वर्षगाँठ' शीर्षक लेख।

२—ऊपर के शीर्षक से वर्णित विषय आयुर्वेद का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय एवं परीक्षा की दृष्टि से भी अत्यन्तोपयोगी होने पर भी उसका संकेतमात्र किया है। कारण, इधर मुंबई के पाठ्यक्रम में यह विषय तृतीय वर्ष में अष्टाङ्ग हृदय प्रथम भाग के अन्तर्गत सुबद्ध रूप में आ चुका होता है। अतः अभी इस विषय का विस्तार न करके अन्य विषय पहले लिये हैं। चरक-सुश्रुत में यह विषय अनेक स्थानों में व्याप्त है।

३—विस्तार के लिये देखिए—आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान।

दोषों को दृष्टि में रखते हुए आयुर्वेद में चिकित्सा के तीन अथवा प्रथम को छोड़कर दो मार्ग हैं—

१—निदान-परिवर्जन—अर्थात् जिस अहिताहार-विहार आदि से दोष का प्रकोप किंवा क्षय हुआ हो, उसका त्याग;

२—संशोधन—रोग प्रायः दोषों के प्रकोप से होते हैं, और प्रकोप के पूर्व प्रत्येक दोष अपने-अपने स्थान में संचित होता है; यहीं से प्रकोपक कारण[1] के प्रभाव से प्रसृत होकर तत्-तत् स्थान में स्थित होकर रोग उत्पन्न करता है; दोष बलवान् हो और रोगी भी बली हो तो इन दोषों को शिथिल करके कोष्ठान्तर्गत अपने स्थान में लाना चाहिए; पश्चात् वमनादि उचित उपाय द्वारा उन्हें शरीर के बाहर करना चाहिये;

३—शमन—दोष अल्प हो, रोगी भी निर्बल या सुकुमार हो तो दोष को विरोधी गुणों के सेवन द्वारा अपने आश्रय-स्थान में ही निर्वीर्य कर देना चाहिये; जैसे अम्ल द्रव्य सोडा के सेवन से हतवीर्य कर दिया जाता है; इस उपाय को (सं)शमन कहते हैं।

दोषों और रोगों की अनेक अवस्थाओं में विशेष ध्यान देने योग्य उनकी सामता है। दोष साम हों तबतक औषध विशेष गुण नहीं करता। उलटे अग्नि की मन्दता के कारण अपक्व रहकर आमांश की परिणामतया रोग की, सुतरां वृद्धि ही करता है। अतः आयुर्वेद का सिद्धान्त है—

> निरामदेहस्य हि भेषजानि
> भवन्ति युक्तान्यमृतोपमानि॥
>
> —वररुचिकृत योगशतक

उक्त पद्धति के अनुसार दोषों की पृथक् चिकित्सा के लिये देखिये अ० हृ० सू० अ० १३।

शमन-चिकित्सा का ही विस्तार करके उसके छः भेद किये गये हैं—लङ्घन-बृंहण, रूक्षण-स्नेहन, स्वेदन और स्तम्भन। इस षड्विध परीक्षा को ही कोई लङ्घन और बृंहण दो ही में विभक्त करते हैं। कारण रोगोत्पत्ति दोषों से होती है और दोष दो स्थितियों में ही रोग उत्पन्न करते हैं—क्षीण होकर या प्रकुपित (वृद्ध) होकर। इन दो अवस्थाओं में बुद्धिगम्य[2] चिकित्सा यही है कि सर्व उपायों

१—Exciting cause—इक्साइटिङ्ग कॉज़।

२—Rational—रेशनल।

से क्षीण दोषों की (धातुओं और मलों की भी) वृद्धि या बृंहण किया जाय तथा वृद्ध दोषों, धातुओं और मलों का क्षपण (ह्रासन) किया जाय ; इसीका दूसरा नाम लङ्घन है[१]।

द्विविध अथवा षड्विध चिकित्सा विस्तार से जानने के लिए देखिए—अ० हृ० सू० १४।

शोधन चिकित्सा दोषभेद से तीन प्रकार की है—वमन, विरेचन और बस्ति। संशोधन के पूर्व दोषों को शिथिल (स्थानभ्रष्ट) करना पड़ता है। साथ ही संशोधन से रोगी के शरीर का क्षोभ होकर वातप्रकोपजनित विकार न उत्पन्न हों यह भी देखना होता है। दोनों प्रयोजनों के लिए स्नेहन और स्वेदन कराया जाता है। स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन और बस्ति इन पाँच को पञ्चकर्म कहा जाता है। इनके विस्तार से वर्णन के लिये देखिये अ० हृ० सू० अ० १५—१९।

संशोधन का प्राधान्य

संशोधन दोष के मूल का ही उच्छेद कर देता है, जिससे रोग के भविष्य में पुनरुत्पन्न होने की सम्भावना ही रह नहीं जाती। संशमन में यह स्थिति नहीं होती।

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः॥
च० सू० १६।२०

इसी कारण संग्रहकार ने सू० अ० १२ में संशोधन को नाम ही 'अपुनर्भवकर' दिया है। वर्तमान में उपेक्षित, परन्तु आयुर्वेद में सुगीत पञ्चकर्म का महत्त्व उसके अपुनर्भवकरत्व के कारण ही है। रक्तमोक्षण भी संशोधन का ही एक प्रकार है।

समवेत दोषों की चिकित्सा में क्रम

समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्॥
सु० उ० ४०।१६१

वातस्यानु जयेत् पित्तं पित्तस्यानु जयेत् कफम्।
त्रयाणां वा जयेत् पूर्वं यो भवेद् बलवत्तमः॥
च० चि० १९।१२६

रोग दो अथवा अधिक दोषों के संयोग से उत्पन्न हुआ हो तो, रोग यदि ज्वर या अतिसार हो तो प्रथम पित्त को सम करे, शेष सर्व रोगों में प्रथम वायु का उपचार करे, पश्चात् पित्त का और अनन्तर कफ का। कभी कोई दोष असाधारण कुपित हो तो यह नियम छोड़कर उसीकी चिकित्सा करे।

१—लङ्घन शब्द—आयुर्वेद में उपवास के अतिरिक्त इस व्यापक अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। उपवास इस लङ्घन का एक अङ्ग मात्र है।

त्रिदोषसिद्धान्त-अनुसन्धान योजना-३

डॉ० ए० लक्ष्मीपति

रस परिभ्रमण

आधुनिक शरीर-क्रिया-वैज्ञानिक रक्त भ्रमण को बड़ा महत्त्व देते हैं क्योंकि यह पैत्तिक क्रियाओं के लिये आवश्यक प्राणवायु का वाहक है और शरीर में शक्ति उत्पादन का कारण है। यद्यपि आयुर्वेदज्ञ भी रक्त परिभ्रमण से परिचित थे किन्तु उन्होंने रस भ्रमण को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। क्योंकि यह पोषक पदार्थों का वाहक है तथा षड्रस अन्न के परिपाक से समृद्ध त्रिधातु का भी वाहक है। ग्रैवेयक शिरा द्वारा हृदय में प्रविष्ट होने पर तथा यकृत् और प्लीहा में रञ्जक पित्त के साथ सम्पर्क होने पर यह लाल वर्ण का हो जाता है। सारे शरीर में रक्तवाहिनियाँ, शिराकाओं तथा लसीका वाहिनियों द्वारा भ्रमण करता हुआ रस सारे अङ्गों, घटकों, और धातुओं को पोषक पदार्थ देता रहता है। "सन्तत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तुचक्रवत्"। इस प्रकार सारे शरीर में भ्रमण करता हुआ रस तर्पण का कार्य करता रहता है। साथ ही साथ वर्धन (वृद्धि) धारण, और यापन का कार्य भी करता रहता है।

रसको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) पोषक रस—सारे शरीर की पुष्टि करनेवाला।

(२) पोष्य रस—पुष्ट होनेवाला रस-धातु।

पोषक रस तो अन्य घटकों तथा धातुओं का पोषण करता रहता है और पोष्य रस विकसित होकर उच्च श्रेणी की धातुओं में परिणत होता रहता है इस पोष्य रस से रक्त, माँस, मेदा, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र बनते रहते हैं। अन्त में जाकर यह रस "ओज" के रूप में परिणत हो जाता है। यह देहस्थ शक्ति, बल, ऊर्जा, कान्ति तथा जीवन के लिये उत्तरदायी है। अतएव कहा गया है कि चक्रवत् रस (अहरहः) परिभ्रमण करता ही रहता है।

उपसंहार

जब त्रिधातुएँ स्वाभाविक अवस्था में हों, तथा उनका भ्रमण अबाधगति से हो रहा हो और समस्त अग्नियाँ (Bio-chemical agents) धातुयें—मल, इन्द्रियाँ तथा मन अपना-अपना कार्य यथोचित रूप में करते रहते हों तो इस दशा को "स्वस्थावस्था" कहा जाता है। "स्वास्थ्यमिति विद्यात्—सुश्रुत।

जब त्रिधातु कुपित होती है तथा उनके परिभ्रमण में बाधा आ जाये और स्रोतों में वे निर्बाध रूप से भ्रमण न कर सकें तो बाधा के स्थान पर से व्याधि का प्रारम्भ हो जाता है।

"कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संग स्ववैगुण्यात् रोगस्तत्रोपजायते॥

सु० सू० ६।१६

क्षिप्यमाणः स्ववैगुण्यात् रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षामिव तोयदः।
दोषाणामपि चैवं स्यात् तत्र देशे प्रकोपणम्।

चरक-चिकित्सा १५, ३५।३७

हम यह तो पहले ही कह चुके हैं कि परिभ्रमण में त्रिधातु को 'अन्तः प्रवेशी समृद्ध प्रसयुक्त पोषक पदार्थ समझना चाहिये। यह पोषक पदार्थ देह के स्थावर घटकों, अङ्गों और तन्तुओं का पोषण करता है। कोई भी ऐसा जीवित घटक या तन्तु नहीं है जिसमें त्रिधातु उपस्थित न हो।

"वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांसि अयनभूतानि"। —चरक विमान ५

वातपित्तकफ शरीर के समस्त स्रोतों में भ्रमण करते रहते हैं तथा शरीर के प्रत्येक जीवित भाग में वे उपस्थित रहते हैं।

इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद में प्रतिपादित त्रिधातु भ्रमण रक्त वा लसीका के परिभ्रमण से अधिक व्याप्त—विस्तृत है। एलोपेथी में जिस लक्ष्य को ध्यान में रखकर रक्तभ्रमण का महत्त्व बताया जाता है, उसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर आयुर्वेद 'त्रिधातु भ्रमण' को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह अज्ञान का परिचायक नहीं है अपि तु शारीर, शरीर-क्रिया के उच्च श्रेणी के ज्ञान का प्रतिपादक है। यह ज्ञान जीवित शरीर पर स्वस्थ तथा रुग्ण अवस्था में किए गए सुदीर्घ और महान परीक्षणों का परिणाम है। सर्व-प्रथम शरीर के अन्दर से अन्न द्वारा और बाहर से परि-स्थितियों (विहार) द्वारा त्रिधातु प्रभावित किये जाते हैं। दूषित या स्वस्थ, ये दूषित अथवा स्वस्थ त्रिधातु शरीर तथा मन पर क्रमानुसार अहितकर वा हितकर प्रभाव डालते हैं।

क्रमशः

वात संशमन वर्ग

वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी आयुर्वेद शास्त्राचार्य

गत सितम्बर के "सचित्र आयुर्वेद" में आक्षेपघ्न व वात दोषघ्न औषधों का वर्णन किया गया है। इस अंक में "उदर वातघ्न" या आध्मानहर औषधों का विवरण दिया जा रहा है।

उदर वातघ्न (Carminatives)

उन औषधियों का समूह है जो पाचक-संस्थान की क्रिया की कमजोरी से उत्पन्न आध्मान आटोप, आन्त्रकूजन, आनाह, उदरशूल, मरोड़ आदि को नाश कर देती है। पाचन में शारीरिक कई अंग कार्य करते हैं। उनमें प्रधान- लालाग्रन्थियाँ, आमाशय, ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र हैं। इन सब स्थानों से पाचन काल में कुछ न कुछ पाचक रस निकलता है। यह पाचकरस विभिन्न नामों से—जैसे बोधक श्लेष्मा या लाला रस, आमाशयिक रस, पक्वाशय में पित्त व अग्निरस तथा आन्त्र रस आदि नाम से प्रसिद्ध हैं।

जब इनकी स्थिति ठीक होती है, तो अपना पाचन-कार्य ठीक-ठीक करते रहते हैं। यदि यह कम बने, हीनगुण, अर्थात् अधिक द्रव प्रधान रस बनायें तो आहार द्रव्यों में प्रोटीन, वसा, कार्वोज का पाचन अधूरा होता जाता है, और पाचन की कमी के कारण पेट में बहुत देर तक आहार अपचित रहने से सड़न आरम्भ होकर इण्डोल, इण्डस्पेन आदि दुर्गन्धित गैस बनते हैं और आध्मान, आटोप तथा आनाह पैदा करते हैं। पेट में वायु अधिक बनने से आँतों में कूजन (शब्द) होने लगता है। साथ ही पेट में दर्द, आक्षेप आदि भयङ्कर उपद्रव उत्पन्न हा जाते हैं।

इन स्थानों की नियन्त्रण करनेवाली वातनाड़ियाँ दुर्वल हो या अन्य किसी कारणवश अपनी संवेदन क्रिया छोड़ दें, तो फिर यह पाचक रस अपूण गुणयुक्त बनते हैं; इनकी शक्ति को पुनः ला देना और क्रिया हानि को पूर्ण कर देना उदर वातघ्न औषधों का कार्य है। इन पाचक रसों का उद्रेचन अधोलिखित वातनाड़ियों द्वारा होती है।

बोधक श्लेष्म या लालारस—यह छः ग्रन्थियों से बनकर भोजन काल में चबाते समय बनकर निकलनेवाला रस है। ये ग्रन्थियाँ तीन वायें और तीन दायें होती हैं। इनका नाम कर्णाग्रवर्ती लालाग्रन्थी, कर्णाधोवर्त्ति लालाग्रन्थि और जिह्वाधोवर्त्ति लालाग्रन्थि है। इनके कार्य को नियन्त्रित करने के लिये मस्तिष्क की सातवीं नाड़ी या मौखिकी नाड़ी (Seventh cerebral Nerve) के तार और दो प्रकारके सांवेदनिक (Sympathetic & parasympathetic) नाड़ियों के तार आते हैं। जिनको (The chorda tympani) कहते हैं। द्वितीय सांवेदनिक नाड़ी मौखिका धमनी के पास के नाड़ी गुच्छ (plexus) से निकल कर आती है और इसके कार्य का नियन्त्रण करती है।

आमाशयस्थ पाचक-रस के निर्माण में अर्धेन्दु नाड़ी गण्ड (Semi lunar ganglia) तथा सौरचक्र (Solar plexus) की नाड़ियों के तार जो आमाशय में आते हैं—भाग लेते हैं। पक्वाशयस्थ आन्त्र की क्रियाओं के नियन्त्रण के लिए उपर्युक्त

चक्रों से ही नाड़ी सम्बन्ध है। ये सब समान वायु के अन्दर समझी जाती हैं और अधिकतर इडा नाड़ी से सम्बन्ध रखती हैं।

जब ये नाड़ियाँ किसी कारणवश रुग्ण हो जाती हैं, तो कार्य कम होता या नहीं भी होता है। जब पाचन पूर्ण न हो, तो फिर पाचन में कमी होती है और आध्मानाटोप, आनाह आदि की उत्पत्ति होती है।

आमाशय स्थानीय हार्दिक द्वार—ग्रहणीद्वार की पेशियों में स्तम्भ होता है, आँतों की पुरःसरण क्रिया में कमी हो जाती है और छोटी व बड़ी आँत तथा मलाशय की पेशियाँ स्तम्भित हो जाती हैं। फिर जो गैस बनती है ; वह निकल नहीं पाती। अतः आध्मान और आनाह उत्पन्न होते हैं। उदर वातघ्न औषधें पेशियों के अवरोध को दूर करतीं और पुरः-सरण की क्रिया बढ़ाती हैं, अतः वायुओं का निर्गमन सरलतापूर्वक होता है। कुछ औषधें आमाशयिक रस की वृद्धि कर के पाचन का कार्य सुधारती हैं और आध्मान को भी नष्ट करती हैं।

औषधें

इस वर्ग में प्रयुक्त होनेवाली औषधें दो प्रकार की होती हैं, एक तो दीपन-पाचन करानेवाली, दूसरी सुगन्धित मसालेदार द्रव्यों (Aromatics) से युक्त होने के कारण वायु निःसारक व स्तम्भ को नाश करनेवाली होती है। दीपन-पाचन ओषधियों का सविस्तर वर्णन (सचित्र आयुर्वेद के विशेषांक यकृत-अंक-पृष्ठ १५६ पर)हो चुका है। विशेष कर संखिया, ताम्र, गन्धक, शंख, कपर्द (कौड़ी) नमक व क्षार अजवायन, अदरख, चित्रक, कुचला, हींग, त्रिकटु, मेथी, कस्तूरी, इलायची, दालचीनी, जीरा, अजमोद, गजपीपल, लहसुन इत्यादि मिश्रित ओषधियाँ अधिकतर दीपन-पाचन होती हैं।

इनमें अन्य तीव्र व बल्य ओषधियोंके साथ साथ मिलाकर बनी हुई रसौषधियाँ विशेष लाभप्रद होती हैं। सुगन्धित द्रव्यों में एक प्रकार का उड़नशील तैल (Volatileoil) रहता है, जो इसकी क्रिया में विशेष सहायक होता है।

योग

योग			
१. हिंग्वादि चूर्ण	(भै० र०)	आमवाताधिकार	३-६ माशे
२. बैश्वानर चूर्ण	,,	,,	३-६ माशे
३. अग्निमान्द्य चूर्ण	,,	,,	४ माशे
४. यमान्यादि चूर्ण	,,	शूल	२-४ माशे
५. हिंग्वादि चूर्ण	,,	शूल	३-६ माशे
६. चतुः समचूर्ण	,,	,,	६ माशे
७. शंख चूर्ण	,,	,,	२ से ६ माशे
८. रसोन पिण्ड	,,	आमवात	१ तोला
९. महा रसोनपिण्ड	,,	,,	६ माशा से १ तोला
१०. शिवागुग्गुलु	,,	वातानुलोमन	२ से ६ रत्ती
११. वात गजेन्द्र सिंह रस	,,	नाड़ीबल्य, आध्मानहर	२ रत्ती
१२. पंचांग रस लौह	,,	,,	२ से ६ रत्ती
१३—शम्बूक भस्म	,,	शूल प्रकरण (दीपन पाचन, आध्मानहर)	रत्ती

१४. शम्बूकादिगुटिका	(भै० र०)	शूल प्रकरण	२ से ६ रत्ती
१५. शंखरस गुटिका	,,	,,	२ से ४ रत्ती
१६. तारा मण्डूर	,,	,,	३ रत्ती
१७. भीमवटक	,,	,,	२ रत्ती से १ माशा
१८. शूलगज केसरी	,,	ताम्र प्रधान	२ रत्ती
१९. शूलवर्जिनी वटी	,,	,,	४ से ८ रत्ती
२०. सूक्ष्मैलारिष्ट	,,	तीव्र दीपन पाचन,	३० बूँद
२१. नाराच रस	,,	आनाह (रेचन प्रधान)	२ रत्ती
२२. बड़वानल रस	,,	गुल्म (तुत्थ योग)	२ रत्ती
२३. पंचानन रस	,,	,, (ताम्र प्रधान-रेचक योग)	२ रत्ती
२४. शिखिवाडव रस	(र० र० स०)	,, ताम्र प्रधान	३ रत्ती
२५. अग्निकुमार रस	,,	रेचक	१-२ रत्ती
२६. अग्निमुख रस	,,	शूल (ताम्र प्रधान)	३ रत्ती
२७. त्रिनेत्र रस	,,	ताम्र शृङ्ग प्रधान	१-२ रत्ती
२८. मृतोत्थापन रस	,,	वर्द्धमान क्रम से	१-८ रत्ती
२९. ताम्राष्टक	,,		२-४ रत्ती
३०. बड़वानल रस	,,	संखिया मिश्रित योग	१-२ रत्ती
३१. क्षार वटी	,,		१-२ रत्ती
३२. शूल वज्रिणी वटी	(र० सा० सं०)	गुल्म	१ माशा
३३. महानारायण रस	,,	रेचक (ताम्रयोग)	२ रत्ती
३४. कांकायन गुटिका	,,	,,	१-४वटी

उपर्युक्त औषधें हिंगु, जीरक, शुण्ठी, लवण क्षार आदि के सम्मिश्रण से बने हुए हैं। सामान्य तया ये नाड़ी को बल देनेवाली तथा उत्तेजक होती हैं। दीपन व तीव्र पाचक होकर आमाशय से रसोद्रेचन अधिक कराती हैं। ताम्र, गन्धक और तुत्थ मिश्रित औषधें पित्त तथा अग्निरस की उद्रेचन क्रिया बढ़ाकर पाचक हो जाती हैं। अन्न पाचन होने पर आध्मान और आनाह दूर हो जाते हैं।

जिन रोगियों में यह दोष चिरकारी होता है, उन के लिये रेचक योगों का, जो दीपन, पाचन और तीव्र रेचक होकर पेट का मल साफ करके पाचक रस बढ़ाती हैं, वे औषधियाँ विशेष लाभदायक हैं। जैसे नारायण रस, महानाराच रस, पंचानन रस इत्यादि।

जो रोगी केवल नाड़ी द्रौर्बल्य के कारण पाचक रस कम बनने से आनाह या आध्मान रोगके शिकार बनते हैं, उन्हें शिवागुग्गुलु, रसोनपिण्ड, रसोनवटी आदि का प्रयोग कराना उत्तम है।

आँतों की पुरस्सरण की कमजोरी से इस रोगकी उत्पत्तिमें इन योगों के साथ नाड़ी बल्य (वात दोषघ्न) या वातक्षेपहर ओषधियों का सम्मिश्रण और कर देने पर आध्मान नष्ट हो जाता है। तीव्र सुगन्धित मसालों से सुगन्धित औषधियाँ—उत्तेजक, क्षोभक और आन्त्र की पुरःसरण क्रिया को बढ़ाकर वातानुलोमक क्रिया करती हैं, डकार लातीं और दुर्गन्धित वायु गुदमार्ग से निकालतीं और आध्मान को नष्ट करती हैं। इन प्रयोगों से नाड़ियाँ चैतन्य हो कार्य करती हैं। जहाँ नाड़ी शोष, द्रौर्बल्य के कारण हो, वहाँ पूर्व-वर्णित नडीबल्य औषधें लाभदायक होती हैं।

क्रमशः

कोष्ठ परीक्षा

वैद्य रामशिरोमणि द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य

(गतांक से आगे)

कोष्ठ का सामान्य परिचय

मुख से लेकर गुदापर्यन्त सुषिर नलिकाकार भाग को कोष्ठ नाम दिया जाता है, इसमें आमाशय और पक्वाशय ये अवयव होते हैं—

कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीर मध्यम् महानिम्नम्
आम पक्वाशय पर्य्याय शब्दैस्तन्त्रे। च० सू० अ० ११

यहाँ आमाशय शब्द मुख से लघ्वन्त्र के अन्तिम भाग तक अधिष्ठित अवयवों का वाचक है। आम शब्द आहार की उस अवस्था का सूचक है जब कि आहार का पाचन (पोषण योग्य रूपान्तर परिणमन) होता रहता है। आहार का पाचन मुख से आरम्भ होकर लघ्वन्त्र के अन्त तक कुछ न्यूनाधिक प्रमाण में होता है, अतः आमाशय शब्द से मुख, गला, अन्नवह स्रोत, आमाशय, लघ्वन्त्र ये अवयव समझने चाहियें।

पक्व शब्द आहार की उस अवस्था को दर्शाता है जब आहार से पोषण योग्य भाग पृथक् हो चुका होता है, इस प्रकार का आहार बृहदन्त्र में होता है, इसलिये ही इसे पक्वाशय नाम दिया जाता है।

मुख परीक्षा

मुख परीक्षा के अन्तर्गत ओष्ठ, दन्त, दन्तवेष्ट, जिह्वा, गला, कण्ठ, अन्नवह स्रोत की परीक्षाओं का समावेश होता है, क्योंकि ये अवयव मुख कुहर के अन्दर ही अधिष्ठित हैं।

ओष्ठ परीक्षा—ओष्ठों की आकृति, वर्ण आदि से रोग ज्ञान में सहायता मिलती है। यथा—कामला में ओष्ठों की अन्तर त्वचा श्याव और पीतवर्ण की होती है। पाण्डु रोग में श्वेत और पीत रंग की होती है। हृद्रोग तथा श्लेष्म प्रधान ज्वर (जिनमें श्लेष्मा द्वारा मार्गावरोध होने से प्राणवायु निःश्वास द्वारा सम्यक् अन्तः प्रविष्ट नहीं हो पाता) सन्निबन्ध अजीर्ण आदि रोगों में ओष्ठ प्रायः नीलाभ होते हैं। अधरोष्ठका छोटा और मोटा होना राजयक्ष्मा की प्रवृत्ति को दर्शाता है, तथा इसका छोटा पतलापन और कम्पायमान होना मृदु प्रकृति अथवा विक्षिप्तता का सूचक है। फिरंगोपदंश की आभ्यन्तरिक अवस्था में ओष्ठों के किनारों पर व्रण अथवा चीरे देखे जाते हैं ओष्ठों के कोनों पर व्रण वस्तुओं (व्रणचिह्नों) की उपस्थिति सहज फिरङ्गोपदंश में देखी जाती है।

पित्त प्रधान ज्वरों की पच्यमानावस्था कदाचित ज्वर मुक्ति के अनन्तर एवं पित्तश्लेष्मप्रधान ज्वरों की पच्यमान अथवा पक्वावस्था में ओष्ठों पर तथा ओष्ठों के आसपास छोटी-छोटी पिडिकायें देखी जाती हैं। अरुचि और अजीर्ण आदि रोगों में ओष्ठ शुष्क हो जाते हैं। उदर्द तथा शीतपित्त में ओष्ठ सशोथ होते हैं। ओष्ठों को बार-बार चाटने और चूसने से तथा सर्दी के दिनों में रूक्ष एवं शीतल पवन के स्पर्श से ओष्ठों की त्वचा फट जाती है।

दन्तपरीक्षा—दाँतों का संगठन अस्थि सम पदार्थों से होता है अतएव आयुर्वेद में दाँतोंकी गणना अस्थि के साथ की जाती है। इतना ही नहीं, ये अस्थियों के ही एक भेद माने जाते हैं—

एतानि खलु पञ्चविधानि भवन्ति तद्यथा कपाल रुचक तरुण वलय नलक संज्ञानि××× दशनास्तु रुचकानि। सु०शा०अ०५

यद्यपि दाँतों की अस्थियों के साथ गणना प्रतीच्य वैज्ञानिकों को मान्य नहीं, तथापि प्राच्य वैज्ञानिकों की यह एक सूक्ष्म चिकित्सा के विषय में अपना महत्त्व पूर्ण स्थान रखती है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है कि दाँत और अस्थियों के लिये सुधा (Calcium) और जीवनीय द्रव्य डी० की आवश्यकता होती है। आहारके अंदर इन दोनों की उपस्थिति से दाँत और अस्थि प्राकृतिक अवस्था में रहते हैं। एक या दोनों की न्यूनता से फक्करोग (Rickets) तथा कृमिदन्त (Dental-caries) आदि रोग उत्पन्न होते हैं। फक्क यह बच्चों का रोग है जो सुधांश अथवा जीवनीय डी०की न्यूनता तथा इनका बराबर पाचन न होने से उत्पन्न होता है, इन कारणों से अस्थियाँ और दाँत बराबर नहीं बनते। फलतः अस्थियाँ मृदु हो जाती हैं तथा दाँत देरी से और विकृत निकलते हैं।

दांतों की उत्पत्ति दन्तबीजों से होती है अतएव बच्चों में दाँतों के टूटने पर पुनर्दन्तों की उत्पत्ति होती है किन्तु वृद्धावस्था अथवा किसी अन्य कारण विशेष से जब दाँत गिर जाते हैं अर्थात् दाँतों के साथ-साथ दन्तबीज नष्ट हो जाते हैं, उस समय दन्तबीजोंके नष्ट हो जाने से पुनः दन्तोत्पत्ति नहीं होती —

न पुनः दन्तोत्पत्तिः वलान्निपतितानां तदधिष्ठान गत धातुवीजनाशात्। अ० सं०, उ० तं०, अ० २

तदधिष्ठाने — दन्ताधिष्ठाने गतो यो धातुपोषको धातुः तदेव बीजम् तस्यनाशात्। —इन्दु

ये दन्त-बीज प्रत्येक जबड़े में प्रथम (सकृज्जन्मा) दन्तों के लिये दस और पुनर्दन्तों के लिये सोलह होते हैं। प्रथम दन्तों के बीज आगे और पुनर्दन्तों के पीछे होते हैं।

इन बीजों से दन्त यथा समय उत्पन्न होकर मसूढ़ों को विदीर्णकर जबड़े से बाहर आते हैं, इसे ही दन्तोद्भेद कहा जाता है। इस समय यदि बच्चों का स्वास्थ्य ठीक रहा तो दन्त सरलता पूर्वक बिना किसी कष्ट के निकल आते हैं, यदि स्वास्थ्य ठीक न रहा तो दन्तोद्भेद काल में बालकों को ज्वर, स्वभाव में चिड़चिड़ापन, बार-बार रोना, नीले-पीले-हरे और छिछ्लेदार द्रव मलोंकी प्रवृत्ति, निद्रानाश, कास, बार-बार आक्षेप का होना आदि उपद्रव होते हैं—

दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगाणामायातनम्
पृष्ठ भंगे विडालानां बर्हिणांच शिखोद्गमे।
दन्तोद्भेदे च बालानां नहि किंचिन्न दूयते॥
अ० सं०, उ०, अ० २

इसका प्रमुख कारण यह है कि ये अवस्थायें स्वास्थ्य ठीक न रहने से स्वास्थ्य को और भी हानि पहुंचाती हैं। अनेक बच्चों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण से विकृत रहता ही है, अतः दन्तोद्भेद काल को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

दाँत जब बाहर आने लगते हैं, उस समय मसूढ़ों में कुछ कण्डू उत्पन्न होती है तथा मसूढ़े कुछ उत्सेध युक्त हो जाते हैं। इस समय बालक जो भी द्रव्य पाता है उसे काटने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा प्राकृतिक नियमानुसार होती है। जिस दन्तवेष्टों पर दबाव पड़ने के कारण उनकी त्वचा सरलतापूर्वक फट जाय और दाँत बाहर निकल आवें और उनमें दृढ़ता उत्पन्न हो—

तौ तु धातू कालक्रमेण पच्यमानौ यदा दन्ताशयम् अनुप्रपद्येते तदास्य किंचिदुत्सेधनोर्ध्वाधोदन्त मांस संघट्टनात् अंगहर्षौ जायते, तद्गतेन च श्लेष्मणा कण्डूः तया चूचकम् दृश्यते यद्यदा लभते तत्तदास्य मानयति मारुतश्च दन्तमूलेषु मूर्छति, ततः सः कफानु विद्धोऽस्थिमज्जास्थितः सर्वतो विसरन् सह पित्तेन

धातून् मलांश्च दूषयन् विविधान् यथोदितान् उपद्रवानभिनिर्वर्तयति ।

मनुष्यों में दाँत दो बार आते हैं, जो दाँत पहली बार आते हैं उन्हें दूध के दांत (Temporary milk Teeth) नाम दिया जाता है। ये दांत ६ से ७ मास की अवस्था में निकलने लगते हैं तथा ३ वर्ष की अवस्था तक निकल आते हैं। उसके बाद ६ वर्ष की अवस्था से इनका टूट कर गिरना आरम्भ हो जाता है और इनके स्थान पर दूसरे दांत आते जाते हैं इस तरह २५ वर्ष की अवस्था तक पूरे दांत निकल आते हैं—

दन्तोद्भेदश्च दीर्घायुषोऽष्टमान्मासात् परतोवा प्रवर्तते इतरेषांतु चतुर्थात्, तत्रास्थिमज्जानौ दन्तोत्पत्ति हेतू, तदा च तयोरसम्पूर्ण वीर्यत्वात् कालान्तरेण दन्तानाम् पतनम् आपूर्यमाण धातुत्वाच्च पुनरुत्थानम् ।

दाँत कुल संख्या में ३२ होते हैं। इनमें दूध के दातों की द्विज तथा अन्य दांतों की सकृज्जात संज्ञा होती है। सकृज्जात दांतों की संख्या १२ और पुनर्जात (द्विज) दांतों की संख्या २० देखी जाती है—

इह खलु नृणां द्वात्रिंशद्दन्ताः, तत्राष्टौसकृज्जाताः स्वरूढदन्ताः भवन्ति । अतः शेषाः द्विजाः । का० सं०

यहां काश्यपसंहिता[1] में सकृज्जात दांतोंकी संख्या प्रत्यक्ष विरुद्ध प्रतीत होती है। इसमें अष्टौ शब्द के स्थान में द्वादश होना चाहिये।

ये बारह सकृज्जात दाढ़े (Motars) हैं। मुख मध्य के पास के दो दाँत कर्तन (Tnci tors) उसके पासके भेदक (Canine), उसके पास-पासके दो दाँत चर्वणक (premolars) कहे जाते हैं। इस प्रकार हनु के प्रत्येक पक्ष में पांच करके कुल २० दूध के दांत होते हैं और इन्हें ही द्विज संज्ञा दी जाती है। इनके अलावा हनु के प्रत्येक पक्ष में तीन-तीन और चर्वणक दांत होते हैं जिन्हें दाढ नाम दिया जाता है। इस तरह १२ सकृज्जात और २० द्विज सबको मिलाकर दांतों की कुल संख्या ३२ होती है।

दांतों की उत्पति—संक्षेप में एक वर्ष के बालक को ६ दांत, डेढ़ वर्ष के बालक को १२ दांत, दो वर्ष के बालक को १६ दांत, ढाई वर्ष के बालक को २० दाँत होने चाहिये। इसक्रम के अनुसार दाँतो का नहीं जमना बालक का अस्वस्थता का सूचक है। छठें वर्ष में ४ दाढ़े निकल आती हैं जिससे दांतों की संख्या कुल २४ हो जाती है। साधारण तया नीचे के जबड़ेके दाँत पूर्व और ऊपर के पश्चात् निकलते देखे जाते हैं।

दन्त परीक्षा द्वारा ज्ञेय विषय—दांतों की परीक्षा करते समय देखें दांत पूर्ण हैं अथवा अपूर्ण ? यदि अपूर्ण हैं तो उनकी उत्पत्ति ही अभी नहीं हुई अथवा गिर गये ? यदि गिर गये तो गिरने का कारण क्या ? दाँत प्राकृत दशा में हैं अथवा अप्राकृत ? सहज फिरङ्गोपदंश में कर्तनक दांत नोकीले तथा कंगूरे दार होते हैं।

१—कृमि दन्त में दांत काले रंग के सच्छिद्र होते हैं तथा दन्त मूल सशोथ होता है और बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के ही दांतों में वेदना होने लगती है—

कृष्णछिद्रः चलः स्रावो ससंरम्भो महारुजः ।
अनिमित्त रुजो वातात् स ज्ञेयः कृमिदन्तकः ॥

२—दन्त शर्करा में दांतों पर पथरी के समान मल जम जाता है, जिससे दांतों का काठिन्य नष्ट हो जाता है—

[1]—काश्यप संहिता को अभी थोड़े ही दिन पूर्व नेपाल के राज गुरु पं० श्रीहेम राज शर्मा जी ने प्रकाशित कराया है इसके पूर्व वह ताड़ पत्रों पर ही थी। कहीं-कहीं ताड़ पत्र नष्ट हो चुके थे सम्भव है यहाँ भी गलती हुई हो ?

शर्करेवस्थिरी भूतो मलोदन्तेषु यस्य वै।

सा दन्तानां गुणघ्नो तु विज्ञेया दन्त शर्करा ॥

३—भंजनक में दांत फटे होते हैं तथा मुख में कुछ टेढ़ापन आजाता है और दांतों में तीव्र वेदना होती है—

वक्त्रम् वक्रम् भवेद्यस्मिन् दन्त भंगश्च तीव्र रुक्।

कफ बातकृतो व्याधिः स भंजनक संज्ञितः ॥

४—कपालिका में शर्करा के साथ दांतों के छिलके उतरने लगते हैं जिससे शीघ्र ही दांत कमजोर होकर नष्ट हो जाते हैं—

दलन्तिदन्त वल्कानि यदा शर्करया सह।

ज्ञेया कपालिका सैव दन्तानां विनाशिनी॥ सु०नि०अ०१६

दन्त वेष्ट परीक्षा--

स्वस्थावस्था में दन्तवेष्ट दृढ़ और सुसंगठित होते हैं। इनका मृदु सशोथ एवं रक्तमय होना विकृति का द्योतक है।

१—शीताद रोग में अकस्मात् सहज भी ओष्ठों की हलचल से रक्तस्राव होने लगता है, तथा दन्तवेष्ट मृदु, प्रक्लिन्न, काले और दुर्गन्धि युक्त हो जाते हैं। कुछ कालके अन्तर दन्तवेष्टों में पाक होकर दन्त मांस सड़कर गिरने लग जाते हैं—

शोणितंदन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्तते।

दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च ॥

दन्त मांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्।

शीतादोनाम स व्याधिः कफशोणित सम्भवः॥

सु० नि० अ० १६

२—कदाचित् दो या तीन दन्तवेष्टों में शोथ हो जाता है उसे दन्तपुप्पुटक रोग कहा जाता है।

दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयथुः सरुजोमहान्।

दन्त पुप्पुटको ज्ञेयः कफ रक्तनिमित्तजः॥ सु० नि अ०१६

३--दन्तवेष्ट रोग में मसूढ़ों में कोथ होने से दाँत हिलने लगते हैं और मसूड़ों से रक्त तथा पूय का स्राव होता है---

स्रवन्ति पूयरुधिरम् चला दन्ताः भवन्ति च।

दन्तवेष्टः सविज्ञयः दुष्ट शोणित सम्भवः ॥ सु०नि०अ०१६

४--सौषिर नामक रोग में दन्तवेष्टों में वेदना और शोथ होते हैं तथा कदाचित् कण्डू भी होती है और लाला स्राव से मुख पूर्ण रहता है---

श्वयथुर्दन्त मूलेषु रुजावान् कफ रक्तजः।

लाला स्रावी स विज्ञेयः कण्डूमान् सौषिरोगदः ॥

सु० सू० अ० १६

उपकुश नामक रोग में दन्तवेष्टों में दाह (शोथ) और पाक होता है तथा दाँत हिलने लगते हैं, दाँतों को सामान्य भी घर्षित करने से रक्तस्राव होने लगता है एवम् रक्तस्राव होने पर मुख में दुर्गन्धि आती है—

वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च।

अघट्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितम् मन्दवेदनाः ॥

आध्मान्ते स्रुते रक्त मुखम् पूति च जायते।

यस्मिन्नुपकुशः सः स्यात् पित्त रक्त कृतोगदः ॥

सु० सू० अ० १६

६—पाण्डु रोग में मसूढ़े एक वर्ण के होते हैं। नागविष में मसूढ़ों में नीली रेखायें प्रतीत होती हैं। पारद-विष से दन्तवेष्ट रक्त वर्ण के हो जाते हैं तथा साथ-साथ दन्तवेष्टों में शोथ और कदाचित रक्तस्राव भी होता है।

जिह्वा परीक्षा

कोष्ठगत आमाशयादि अवयवों के कार्य में अंतर पड़ते ही जिह्वा के आकार, प्रकार, आस्वादन आदि में अन्तर पड़ जाता है, अतः जिह्वा को यदि कोष्ठ स्थित अवयवों का दर्पण कहा जाय तो अनुचित न होगा।

जिह्वा परीक्षा द्वारा ज्ञेय विषय—रोगी की जिह्वा को निकलवाकर देखें कि उसका आकार और वर्ण आदि कैसे हैं? जिह्वा रूक्ष है अथवा स्निग्ध? जिह्वा पर मल तो नहीं? यदि है तो उसका रंग क्या है? जिह्वा में व्रण तो नहीं? यदि है तो मध्य में या किनारे पर

उसका आकार क्या है ? स्पर्श में मृदु है या कठिन ? जिह्वा सामान्य है अथवा रक्तवर्ण ? यदि रक्तवर्ण है तो सम्पूर्ण या केवल किनारे से ? आकार छोटा है या प्राकृत ? बाहर निकालते समय जिह्वा में कम्प तो नहीं होता ? आदि विषय जिह्वा परीक्षा से जाने जाते हैं।

वायु की प्रधानता होने पर किसी भी रोग में जिह्वा फटी हुई रूक्ष और स्पर्श में शाक-पत्र सदृश खरदरी मालूम होती है। पित्त की प्रधानता होने पर जिह्वा लाल या काले रंग की होती है। कफ की प्रधानता होने पर जिह्वा आर्द्र तथा श्वेत मल से आवृत होती है।

सान्निपातिक ज्वरों में जिह्वा पर श्वेत मल होता है तथा मध्य भाग का मल जला-सा काला प्रतीत होता है एवं जिह्वा का किनारा रक्तवर्ण होता है। कफ और पित्त प्रधान ज्वर में जिह्वा श्वेत-पीत मल से युक्त रूक्ष तथा फटी हुई-सी प्रतीत होती है, कदाचित किनारे रक्त वर्ण के होते हैं, कभी-कभी सारी जिह्वा ही लाल रंग की मालूम होती है। वात और कफ प्रधान ज्वर में जिह्वा श्वेत मलयुक्त और रूक्ष होती है।

अग्नि के मन्द होने पर बार-बार जिह्वा पर श्वेत और चिपचिपा मल जमता रहता है, कारण यह है कि आहार का पूर्ण पाचन न होने से जो भी कुछ आहार रस विवेचित हो शारीरिक धातुओं के पोषणार्थ शरीर में अनुधावन करता है वह भी अपरिपक्व ही होता है, अतः प्राकृतिक नियमानुसार रसगत किट्ट भाग शरीर के लिये हानिकारक होने से प्रकृति उसे उच्छ्वास द्वारा बाहर निकालती रहती है और वही थोड़ा-थोड़ा कर जिह्वा पर स्तर रूप से जमता जाता है।

ज्वर-अतिसार आदि रोग जो आहार का सम्यक् पाचन न होने से प्रायः उत्पन्न होते हैं अथवा जिनमें पाचन विकृत हो जाता है, उन सभी रोगों में जब तक आम का पाचन न हो जाय कुछ मलीनता लिये श्वेत चिपचिपा मल जिह्वा पर देखा जाता है। यह मल तब तक पाया जाता है; जब तक पूर्ण पाचन न हो जाय, पाचन बराबर होते ही जिह्वा निराम अर्थात् आर्द्र मल रहित हो जाती है।

विबन्ध आदि रोगों में जिनमें मल पक्वाशय में उचित काल से अधिक समय तक पड़ा रहता है, मल-द्रव अति मात्रामें पक्वाशय गत मूत्रवह स्रोतों द्वारा विवेचित होकर सारे शरीर में अनुधावन करता है। उसका भी किट्ट-भाग उच्छ्वास द्वारा बाहर आकर जिह्वा पर स्तर रूप से जमता रहता है और जिह्वा मैली प्रतीत होती है।

अम्लपित्त, पैत्तिक पाण्डु, पित्तातिसार, पैत्तिक ग्रहणी, पित्त और रक्तज प्रवाहिका आदि रोगों में पित्त की उत्पत्ति प्रकृत अवस्था से अधिक होती है, जिह्वा रक्तवर्ण होती है और लवण आदि के उपयोग से रोगी को कष्ट होता है।

संग्रहणी, स्वतन्त्र पाण्डु रोग आदि में जिह्वा का आकार छोटा हो जाता है तथा जिह्वा चमकदार और पीताभ होती है।

अजीर्ण, विबन्ध, फिरङ्गोपदंश आदि रोग में जिह्वा पर व्रण उत्पन्न होते हैं। फिरङ्गोपदंशज व्रण प्रायः कीरे के सदृश अथवा गर्ताकार वृत्त जिह्वा के किनारे पर होते हैं।

तीव्र ज्वर, जिह्वागत वात वाहिनियों का अवसाद तीव्रशिरःशूल आदि में जिह्वा प्रायः बाहर नहीं निकलती, यदि निकलती है तो कम्पयुक्त होती है।

कण्ठ तालु परीक्षा

किसी चम्मच अथवा अन्तर्गलेक्षण द्वारा जिह्वा को दबाकर प्राकृतिक सूर्य प्रकाश अथवा कृत्रिम

विद्युत् आदि प्रकाश द्वारा गला, कण्ठ, तालु आदि का परीक्षण करना चाहिये। इस परीक्षा से गले के अन्दर स्थित अवयवों की प्राकृत और अप्राकृत अवस्था का ज्ञान होता है।

तुण्डिकेरी रोग में गले के एक अथवा दोनों भाग की हनुमूलस्थित ग्रन्थियां बढ़कर छोटे आमला या कपास के फल के सदृश कठिन और पिच्छिल हो जाती हैं और इनमें कदाचित् पाक होकर पूय और व्रण भी देखे जाते हैं तथा मन्द-मन्द वेदना होती है—

हनु सन्ध्याश्रितः कण्ठे कार्पासी फल सन्निभः।
पिच्छिलो मन्दरुक् शोफः कठिनस्तुण्डिकेरिका ॥ अष्टांगसंग्रह

रोहिणी में गले के अन्दर श्वेत झिल्ली सी उत्पन्न होती है जो यत्न करने पर भी कठिनता से निकलती है, तथा उसके निकलने पर अन्दर की त्वचा रक्त वर्ण की प्रतीत होती है। यह झिल्ली कण्ठ, गल-ग्रन्थि और नासा के पश्चिम भाग तक फैलकर श्वासा-वरोध उत्पन्न करती है जिससे अधिकांश रोगी मर जाते हैं—

गलेऽनिलः पित्त कफौ च मूर्च्छितौ-
पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रदूष्य मांसम् गलरोधिनोऽङ्कुरान्-
सृजन्ति यान् साऽसुहरा हि रोहिणी ॥

मसूरिका; रोमन्तिका आदि रोगों में अन्य स्थानों के सदृश गले में भी इनकी पिडिकायें उत्पन्न होती हैं, जिनमें वेदना के कारण रोगी कठिनता से बोल अथवा कोई वस्तु खा सकता है।

असुक प्रकार के ज्वरों में गले के अन्दर की श्लैष्मिक कला में रूक्षता विशेष होने से संकुचित हो जाती हैं तथा इन कलाओं के संकोच से शूक सदृश अङ्कुर उत्पन्न होकर किसीभी वस्तु के निगलने में वेदना के कारण अवरोध उत्पन्न करते हैं; यहां तक कि रोगी पानी और दूध सदृश पदार्थ को भी कठिनता से निगल पाता है। इन अङ्कुरों के उत्पन्न होने पर ये कलायें रक्तवर्ण की प्रतीत होती हैं।

गल विद्रधि में गले के अन्दर शोथ होता है और गले की श्लैष्मिक कला रक्तवर्ण की हो जाती है।

अम्लपित्त, संग्रहग्रहणी, तीव्रविबन्ध आदि कारणों से मुख के सदृश गले में भी पाक होता है।

फिरङ्गोपदंश तथा कुष्ठ की अन्तिम अवस्था में नासास्थियों के नष्ट होने के कारण नासा में छिद्र हो जाते हैं, जिनसे रोगी के स्वर में परिवर्तन हो जाता है।

गलशुण्डिका रोग में तालु मूल स्थित कण्ठशुण्डी बढ़कर जिह्वामूल पर लटकती रहती है जिसके कारण रोगी को श्वासमार्ग में अवरोध होने से बार-बार शुष्क कास चलती है तथा खाँसते-खाँसते कभी-कभी वमन भी हो जाता है।

अन्नवह स्रोतस् परीक्षा

अन्नवह स्रोत लगभग बारह अंगुल लम्बी प्रणाली है, जो ऊपर गला और नीचे आमाशय से सम्बद्ध होती है। अन्नवह स्रोत के सामने प्राणवह स्रोत होता है। इन दोनों प्रणालियों के मुख ऊपर की ओर गल प्रदेश में खुलते हैं।

प्राणवह श्रोत के ऊपर अधिजिह्विका नामक तरुणास्थिमयी कपाटिका होती है जो श्वास लेना, बोलना आदि के समय खुली रहती है तथा भोजन आदि किसी भी वस्तु के निगलते समय प्राणवह स्रोत को ऊपर से आवृत कर लेती है जिससे वह पदार्थ प्राणवह स्रोत में न जाकर इस कपाटिका के ऊपर होकर अन्नवह स्रोत में पहुँच जाता है। कदाचित् ऐसा भी देखा जाता है कि यदि भोजन करनेवाला व्यक्ति अस्वस्थ मन हो तो अधिजिह्विका के सम्यक् बन्द न होने से भुक्त पदार्थ अन्नवह स्रोत में न जाकर प्राणवह स्रोत में चला जाता है, जिससे क्षोभ होने के कारण उसे निकालने के लिये तत्काल खाँसी चलने लगती है। अतएव आयुर्वेद स्वस्थ मन से भोजन करने का आदेश देता है—

अजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत। च० वि० अ० १

परीक्षार्थ अन्नवह स्रोत का कोई भी भाग सरलतापूर्वक देखा नहीं जाता, सम्भव है विशेष यन्त्रों की सहायता से उसका ऊर्ध्व भाग देखा जा सके।

क्रमशः

हृदयरोग और उसकी चिकित्सा-२

प्रो० लालजीराम शुक्ल, एम० ए० बी० टी०



दोनों प्रकार के मलों का परिणाम एक-सा ही होता है। एक से मानसिक रोग की उत्पत्ति होती है और दूसरे से शारीरिक रोग की। उदारता के भावों को मन में लाने से एक ओर मानसिक मल का त्याग होता है और दूसरी ओर शारीरिक मल का। इससे प्रेम और विचार प्रबल होते हैं और फिर न केवल पेट के रोग वरन् हृदय के रोग भी अच्छे हो जाते हैं। प्रेम के प्रवाह से मनुष्य की मानसिक नपुंसकता भी दूर हो जाती है। यह एक ऐसी आध्यात्मिक औषधि है जिससे सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग नष्ट होते हैं। धन का सञ्चय करना स्वयं एक व्याधि है। यह अपने आप में आत्महीनता की भावना का परिणाम है। जिस मनुष्य का मन सच्ची महानता से वंचित रहता है, वह झूठी महानता की खोज करता है। सच्ची महानता मनुष्य में प्रेम की वृद्धि से आती है और झूठी महानता धन की वृद्धि से। धन का त्याग मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि और मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक है। जब मनुष्य उदार मनोवृत्ति का हो जाता है तो अनेक प्रकार के रोगों का स्वभावतः अन्त हो जाता है।

हृदय के रोग का विशेष सम्बन्ध मनुष्य की प्रेम भावना से ही होता है। जिस व्यक्ति में पहले से ही भावों का संघर्ष रहता है, जिसके अचेतन मन में कामवासना सम्बन्धी मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं वही दूसरे लोगों के हृदय के रोग की कहानी सुनकर अपने-आप में भी उस रोग की अनुभूति करने लगता है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति तादात्म्यकता का भाव अकारण स्थापित नहीं होता है। जिस व्यक्ति का किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति तादात्म्य भाव स्थापित हो जाता है उसमें और दूसरे व्यक्ति में स्वभाव की समानता होती है। किन्तु यह स्वभाव की समानता ऊपरी दृष्टि से देखे जाने पर उसके व्यवहारों से ज्ञात नहीं होती। ऊपर के दृष्टान्त में अपने मित्र के द्वारा जिस व्यक्ति के हृदय की गति अवरोध से मृत्यु का वृत्तान्त रोगी ने सुना था और जिसके कारण स्वयं उसे हृदय की गति बन्द हो जाने का भय हो गया था, वह एक कृपण मनुष्य था। उसने बहुत-सा पैसा इकट्ठा किया था। उसके कोई सन्तान नहीं थी। प्रस्तुत रोगी को संतान तो थी, पर उसका खर्चा करानेवाली संतान नहीं थी। उसमें भी धन का लोभ उतना ही था जितना मर जानेवाले व्यक्ति में था। इसीलिए उसके अचेतन मन का उक्त पुरुष से तादात्म्य हो गया और इसके परिणामस्वरूप उसे मृत्यु के दुःख की अनुभूति हुई।

जब मनुष्य की काम-वासना का दमन होता है और उसकी मूलकाम शक्ति का शोध प्रेम के भावों की वृद्धि में नहीं होता तो उसमें अपने आपको किसी मूल्य पर महान बनाने की इच्छा प्रबल हो जाती है। प्रेम का भाव मनुष्य के मनमें साम्य भाव और प्रेम का अभाव विषय की स्थिति उत्पन्न करता है। प्रेम से वञ्चित हृदय दुःखी रहता है। इस दुःख को भुलाने

के लिए वह धन का सञ्चय करने लगता है। पर इससे उसकी मानसिक व्याधि और बढ़ जाती है। उसके आस-पास के लोग अब उसके प्रति ईर्ष्यालु हो जाते हैं। वे उसका हित न चाहकर उसका अहित चाहने लगते हैं। इस कारण अनेक प्रकार के अभद्र विचार उसमें आने लगते हैं। वह इन अभद्र विचारों का आना रोक नहीं सकता। धन अधिक सञ्चय करने के पीछे अपने आपको दूसरों से बड़ा सिद्ध करने की चेष्टा छिपी होती है। इस प्रयत्न से दूसरों के मन में अमैत्री भावना के विचार उठना स्वाभाविक है। इसके प्रतिक्रियास्वरूप स्वयं धन सञ्चय कर्त्ता के मन में अनेक प्रकार के द्वेषपूर्ण विचार आते हैं। ये विचार ही उसके मानसिक रोग की जड़ हैं। इससे शारीरिक रोगों की भी उत्पत्ति होती है। स्वयं धन संचय करने की मनोवृत्ति कोष्ठबद्धता का रोग उत्पन्न करती है और अमैत्री भावना का अभ्यास हृदय और पेट के अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करता है। हृदय का रोग उसी व्यक्ति को होता है जो एक ओर अपने पारिवारिक प्रेम से वंचित हैं और दूसरी ओर जिसे सदा अपने सम्बन्धी परेशान करते रहते हैं।

हृदय के रोग का दूसरा उदाहरण लेखक के एक विद्यार्थी का है। इस विद्यार्थी की उम्र इस समय २५ वर्ष की है। इसे पिछले आठ वर्षों से कुछ न कुछ मानसिक बीमारी रहती आई है। एक बार यह अपनी बीमारी के कारण चारपाई से उठ भी नहीं सकता था। शारीरिक अशक्तता इतनी थी कि उसे इधर उधर इनभेलिडचेयर पर ले जाना पड़ता था। किन्तु इसका शरीर उस समय भी मोटा ताजा था और डाक्टर लोग इसके शरीर में किसी प्रकार के रोग का पता नहीं चला पाते थे। इस रोग के विषय में अध्ययन करने पर पीछे पता चला कि यह आत्म निर्देश (Auto-sujjestion) से उत्पन्न हुआ। यह व्यक्ति अपनी किशोरावस्था में हस्तमैथुन किया करता था। इसके दुष्परिणाम को उसने एक प्रतिष्ठित व्यक्ति की पुस्तक में पढ़ा। उसमें लिखा था कि जो व्यक्ति यह क्रिया करता है उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है, वह पढ़ना लिखना ठीक से नहीं कर सकता, उसे नपुंसकता आ जाती है, भोजन ठीक से नहीं पचता, उसके सारे अंग निकम्मे हो जाते हैं। इन बातों का इस व्यक्ति के ऊपर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। यदि किसी भावात्मक विचार का प्रकाशन कोई बालक दूसरे लोगों से नहीं कर सकता, तो वह विचार उसके अव्यक्त मन (अचेतन मन) में चला जाता है और वह आत्म निर्देश का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य का अचेतन मन ही मनुष्य की सभी शारीरिक क्रियाओं का संचालन करता है। मनुष्य के अचेतन मन में जिस प्रकार की धारणा अपने स्वास्थ्य के विषय में बन जाती है मनुष्य का स्वास्थ्य उसी प्रकार का हो जाता है।

अस्तु, यह व्यक्ति अपने जीवन में उन बातों को चरितार्थ करने लगा था जो उक्त पुस्तक में लिखी हुई थी। पहले उसकी स्मृति कम होने लगी, फिर उसका पढ़ना लिखना छूट गया। उसका मन अस्थिर रहने लगा, वह उत्साहहीन हो गया। फिर उसके मन में बार-बार विचार आने लगे कि वह नपुंसक हो गया है। इसका भोजन ठीक से ही पचता था, पर उसको इसके विषय में अनेक प्रकार के संदेह होने लगे। वह अब प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्तों को मानकर कच्चा फल खाने का आदी बन गया, वह दूध भी कच्चा पीता था, परन्तु इससे उसके स्वास्थ्य में सुधार होने के बदले खराबी ही आई। वह फिर विस्तर पर ही पड़ गया—वह उठ बैठ भी नहीं पाता था। दूसरे लोग उसके रोग को

बहाना मात्र समझते थे। अतएव वे उसके ऊपर हँसते थे। उसके मन में दूसरों के प्रति अमैत्री भावना के ही विचार आते थे। इन विचारों के परिणामस्वरूप उसे हृदय रोग की अनुभूति होने लगी। अतः विद्यार्थी के आत्म-निर्देश द्वारा उत्पन्न रोग का उपचार मनोविश्लेषण विधि के द्वारा किया गया। उसे ऐसा आश्वासन दिया गया कि हस्त-मैथुन वे सब खराबियाँ नहीं करता जिसकी उसने कल्पना कर रक्खी है। कुछ दिनों में उसके पेट का रोग और दूसरे प्रकार के मानसिक रोग जाते रहे। वह कीड़े-मकोड़े आदि से भयभीत रहा करता था। किन्तु वह भय भी जाता रहा, फिर भी उसे हृदय का रोग बना रहा। उसे कभी भ्रम होता था कि उसे क्षय रोग हो जायगा और कभी ऐसा विचार आता था कि हृदय रोग के कारण उसकी मृत्यु हो जावेगी। वह इन रोगों को तब भूल जाता था जब अपने किसी मित्र के साथ रहता था।

हृदय के रोग के कारण ढूँढ़ने पर पता चला कि इस युवक को अभी तक किसी भी व्यक्ति का प्रेम नहीं मिला था। उसके माता-पिता इस भय से कि कहीं उसकी बीमारी बढ़ नहीं जाय। उसका विवाह २५ वर्ष की अवस्था तक नहीं कर पाये थे। इसके दो व्यक्ति मित्र हैं। वह उन्हें बहुत ही प्यार करता है। वे उसके पास रहते हैं तो उसे हृदय का रोग नहीं सताता। वह असाधारण परिश्रम भी कर लेता है। जो व्यक्ति पहले कठिनाई से घर की सीढ़ियों पर चढ़ता था वही मोटर साइकिल से बीसों मील जाने लगा किन्तु जब मित्र का अभाव होता था तो उसे अपना पुराना रोग फिर याद आ जाता था।

हृदयके रोग का दूसरा कारण उसका अपने बड़े भाई के प्रति द्वेष था। यह भाई घर का सबसे अधिक मान्य व्यक्ति है। विद्यार्थी घर का मझला बालक है। बड़ा भाई उसकी सारी बीमारी को बहाना मात्र मानता रहा। वह अपने सभी भाइयों के ऊपर प्रभुता जमाना चाहता था। बीमारी की अवस्था में वह रोगी के प्रति कटु व्यवहार भी करता था। इसके परिणाम स्वरूप रोगी के मन में उसके प्रति द्वेष की भावना ग्रन्थि बन गई। इसका निराकरण करना बड़ा ही कठिन था। रोगी अपने भाई के कार्यों को कभी भी क्षमा नहीं कर सकता था। उसे अपनी माँ से प्रेम है। अतएव माँ के द्वारा भाई के प्रति उसके विचारों में परिवर्तन करने की चेष्टा की गई। जिस व्यक्ति के प्रति रोगी के मन में दुर्भावना है, उसका व्यवहार यदि रोगी के प्रति प्रेमपूर्ण हो जाय तो रोगी की मानसिक ग्रन्थि जल्दी से दूर हो जाय। पर ऐसा बहुत कम होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको ठीक मानता है। अपनी भूल स्वीकार करने से मनुष्य समझता है कि उसके आत्म-सम्मान को ठेस लगेगी। अतएव, जिस व्यक्ति के प्रति रोगी का द्वेष भाव रहता है वह भी रोगी के प्रति वैसा ही भाव रखने लगता है। इसका अर्थ यह है कि रोगी अपने रोग को दूसरे व्यक्ति तक पहुंचा सका। मानसिक रोग शारीरिक रोग के कारण संक्रामक होते हैं। मानसिक रोगी के विचार कुछ दूर तक सामान्य और स्वस्थ व्यक्ति के मन में भी पहुंच जाते हैं। यदि पहले से ही मानसिक कमजोरी किसी व्यक्ति के मन में हुई तो ये विचार और भी जल्दी दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करते हैं।

किसी मानसिक रोगी के साथ व्यवहार करते समय चिकित्सक को उसके विचारों के प्रति साक्षी भाव मात्र रखना पहले पहल आवश्यक है। रोगी की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उसकी सभी बातों को धैर्य-पूर्वक सुनना पड़ता है और उसकी कठिनाई के प्रति अपनी ओर से सहानुभूति दर्शाना पड़ता है।

मानसिक रोगी के मन में विशेष प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं। इन ग्रन्थियों के कारण उसके विचार विशेष प्रकार के हो जाते हैं। जो व्यक्ति पहले से ही उसके विकृत विचारों का बिरोध करने लगता है, वह रोगी की सहानुभूति खो देता है। फिर जो कुछ वह रोगी को कहता है उसका उलटा ही प्रभाव उसके मन पर पड़ता है। इस कारण रोगी का रोग घटने के बदले और भी बढ़ जाता है। किसी भी रोगी का सफल उपचार न केवल रोगी को स्वास्थ्य प्रदान करता है वरन् चिकित्सक को भी आध्यात्मिक आरोग्य प्रदान करता है। हमें अपनी सहानुभूति ऐसे व्यक्ति के प्रति देनी पड़ती है जो सहानुभूति का माप नहीं है, जिसका जीवन स्वार्थमय है और जो अपनी कलुषित भावनाओं के कारण ही मानसिक अथवा शारीरिक क्लेश भोग रहा है। जिस व्यक्ति में संसार के गिरे हुए लोगों के प्रति सहानुभूति दर्शाने की योग्यता नहीं है, वह मानसिक व्याधियों को जानकर या चिकित्सा के कार्य में हाथ डालकर न तो अपने को और न दूसरे को ही लाभ पहुँचाता है।

साधारणतः क्रोध का विचार मन में लाने से व्यक्ति को हानि होती है क्योंकि क्रोध के विचार विनाशकारी होते हैं। जब ये विचार प्रकाशित हो जाते हैं तो वे दूसरे व्यक्ति का विनाश करते हैं। इसके परिणामस्वरूप अपने आपको भी पीछे दुःख उठाना पड़ता है। पर जब ये विचार नैतिक भावनाओं की प्रबलता के कारण अथवा वाह्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण प्रकाशित नहीं हो पाते तो वे मानसिक अथवा शारीरिक रोग उत्पत्ति करते हैं अर्थात् जब विनाशकारी विचार एक बार उत्पन्न हो जाते हैं तो वे किसी न किसीका विनाश करके ही दम लेते हैं। अवरुद्ध क्रोध के विचार, हृदय का रोग, फेफड़ों का रोग, आँख का रोग उत्पन्न करते हैं। इनसे अनिद्रा, मेलेनकोलिया (Melancholia), अकारण भय आदि मानसिक रोग भी उत्पन्न होते हैं। क्रोध को मन में न आने देना ही श्रेयस्कर है। इसके लिए हर समय मैत्री भाव का अभ्यास करना आवश्यक है।

हृद्रोग की चिकित्सा

मुग्ध व्रजाङ्गनाओं और व्रजविहारी की लीलाओं का वर्णन कर, उसके कीर्तन और श्रवण की फलश्रुति बताते हुए भागवतकार कहते हैं—

> विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
> श्रद्धां परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वप हिनोत्यचिरेण घोरम्॥

—जो पुरुष भगवान् में परम श्रद्धा रखकर उनकी और व्रजवनिताओं की क्रीड़ाओं का निष्ठा सहित पाठ करता है या औरों को सुनाता है, वह अति शीघ्र, घोर भी हृद्रोगसे मुक्ति पाता है।

'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित होने वाली हृदय-रोग विषयक लेखमाला से विदित होगा कि सांसारिक चिन्ताएँ आधियां हृदय-रोगों का तथा तत्द्वारा इतर शारीर रोगों का परम कारण हैं। भगवत्स्मरण इन चिन्ताओं से छुड़ाकर मानसिक स्वास्थ्य की आप्ति और परम्परया हृदय-रोगों से मुक्ति का अप्रतिम साधन है। इस विषय में सितम्बर, १९४८ के 'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित वैद्य रामनारायण जी शर्मा अध्यक्ष श्री वैद्यनाथ अयुर्वेद-भवन लि० का लेख भी मननीय है।

—वैद्य रणजितराय

१—उल्लिखित श्लोक मुझे आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत के आचार्य श्री बापालाल भाई से प्राप्त हुआ है। इसके लिए उनका कृतज्ञ हूँ—लेखक।

नेत्राभिष्यन्द

[Conjunctivitis]

कविराज पुरुषोत्तमदेव मुलतानी आयुर्वेदालंकार



पैत्तिक नेत्राभिष्यन्द[1]

इस रोग के दो भेद हैं। (१) पूयमेह[2]जन्य नेत्राभिष्यन्द (२) शिशुसुलभ[3]नेत्राभिष्यन्द।

(१) पूयमेह जन्य नेत्राभिष्यन्द—इस रोग का कारण पूयमेहज[4] कृमि है। यह कृमि नेत्र वर्त्म के कोष्ठकों (सैलों) में और शोथस्राव में भी पाए जाते हैं और जोड़ों के रूप में भी मिलते हैं। नेत्र-वर्त्म के जो कोष्ठक झड़ जाते हैं उनमें भी पाए जाते हैं। पूयमेह वास्तव में गुप्त या उत्पादक अंगों का रोग है और उसके कृमि गुप्ताङ्गों में ही निवास करते हैं। इन अंगों से नेत्र तक कृमि कई विधियों द्वारा पहुंच सकते हैं। इस रोग का रोगी अपने गुप्तांगों को छूकर वही हाथ नेत्रों में लगालेता है उसके तौलिए आदि से हाथ-मुख पोंछने पर यह रोग हो जाता है। नेत्रों को धोते समय उनकी धोवन और पस से स्वस्थ मनुष्य में भी इसका प्रसार सम्भव है। इसलिए इससे बचना आवश्यक है। यह रोग प्रायः दोनों आंखों में ही होता है कुछ तो इसलिए कि हाथ दोनों आंखों से स्पर्श कर जाते हैं और दूसरा कृमि रक्त द्वारा दोनों आंखों में प्रसार कर जाते हैं।

लक्षणों की उत्पत्ति संक्रमण के कुछ समय के बाद होती है अर्थात् इस रोग का संक्रमणकाल २ घंटे से लेकर ३ दिन तक होता है। इनके बाद लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं। लक्षण की दृष्टि से इस रोग की तीन अवस्थाएँ हैं।

प्रथमावस्था कोष्ठक[1] वृद्धि—इस अवस्था में नेत्र सूजे हुए लाल होते हैं। इतने सूजे हुए कि आंखें खुल नहीं सकती और जब चिकित्सक नेत्र खोलने का यत्न करता है तो अन्दर भरी हुई पूय धारा के रूप में बाहिर निकलती है। जब हम पलक खोलकर देखते हैं, तो अन्दर का नेत्रवर्त्म भी सूजा हुआ और लाल होता है। यह सूजन वर्त्मकोण[2] तक पहुँच जाती है। इस सूजन का वास्तविक कारण नेत्रवर्त्म के कोष्ठकों की वृद्धि है। इस वृद्धि के कारण नेत्र-वर्त्म तन कर कठोर हो जाता है और और इसकी पृष्ठ मखमल जैसी मृदु न होकर कठोर, विषम और मोटाई वाली होती है। इसका चिरस्थायी नेत्राभिष्यन्द से भेद किया जा सकता है। नेत्रगोलक या नेत्रवर्त्म सूजने से अग्रश्वेत पटल के इर्द गिर्द नेत्र-वर्त्म के सूज जाने से गोलक छिप-सा जाता है। नेत्रवर्त्म से पहिले तो पतला शोथ स्राव निकलता है, फिर रक्त मिश्रित और अन्त में पूय बन जाती है। इस शोथ स्राव का रङ्ग मांस के रंग की तरह का होता है। नेत्र में बहुत स्पर्शासह्यता और रोगी की आंखें

१. Purulent conjunctivitis पुरुलेन्ट कञ्जक्टि वाइटिस
२. Gonorrhal opthalmia गोनोरियल आप्थैलमिआ
३. Opthalmia neonatorum आप्थैलमिआन्यूओनटोरम
४. Gonococus गोनोकॉकस

१. Infiltration इन्ल्फेट्रेशन
२. Fornix फ़ारनिक्स

गर्म रहती हैं। आंखों में तीव्र वेदना जिससे माथे और आँख में भी हल्की-सी वेदना का अनुभव होता है कान के आगे की लसिकाग्रन्थि बड़ी हो जाती है। रोगी को ज्वर हो जाता है। यह अवस्था २ से ६ दिन तक रहती है।

पूयावस्था-द्वितीयवस्था—में पलक और नेत्रवर्त्म की सूजन कम, नेत्रगोलक का छिपना भी कम और स्पर्श क्षमता भी घट जाती है। पलक जो बाहर से सूजे हुए दिखते थे अब उनमें झुर्रियां पड़ जाती हैं; पर इस सूजन की कमी के साथ-साथ पूय-वृद्धि और पूय नेत्रों में से टपकती रहती है अर्थात् पूयस्राव होता रहता है। नेत्रवर्त्म की सूजन भी घटती जाती है और चार-छः सप्ताह में शोथ शान्त हो जाती है।

तीसरी अवस्था—के दो भेद हैं। एक में तो बिल्कुल शान्त और २-३ सप्ताह में नेत्रवर्त्म स्वस्थ हो जाता है। दूसरा जब कि शोथ चिरस्थायी रूप धारण करती है और नेत्रवर्त्म में उभार उत्पन्न हो जाते हैं। इन उभारों के कारण नेत्रवर्त्म भी लाल रहते हैं और थोड़े से सूजे हुए नजर आते हैं परन्तु यह सूजन रक्ताधिक्य के कारण न थी अपितु कोष्ठकों की वृद्धि के कारण थी। उभारों की पृष्ठ खुरदरी होती है, चिकनी नहीं। विकृति-विज्ञान की दृष्टि से यह क्षीणता जन्य वृद्धि है जिस के पूर्ण होने में कई मास लग जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप बड़े-बड़े स्थिर निशान रह जाते हैं।

यह रोग चिरस्थायी है। लक्षण शान्त हो जाने पर भी थोड़ी पूय निकलती रहती है। स्वतंत्र तो नहीं होती पर इतनी पर्याप्त होती है कि इसमें पलक चिपक जाती हैं और कीचड़ पर्याप्त आती है। यह रोग प्रारम्भिक अवस्था में अत्यन्त छूतदार है अन्तिम अवस्था में नहीं। कभी २ शोथ स्राव जमकर झिल्ली-सी भी बना देता है।

उपद्रव

इस रोग में उपद्रव बहुत अधिक होते हैं। अग्र श्वेतपटल में व्रण भी हो जाते हैं। यह व्रण कभी-कभी भर जाते हैं किन्तु अपार दर्शकता रह जाती है। पर इस रोग का भयंकर उपद्रव यह है, कि इस व्रण द्वारा शोथ नेत्र के अन्दर पहुँच कर सर्वाक्षिशोथ आरम्भ कर देती है।

चिकित्सा

इस रोग की चिकित्सा दो प्रकार की है। (१) प्रतिरोधक और (२) वास्तविक।

क. प्रतिरोधक-चिकित्सा—इसका उद्देश्य यह है कि यह रोग होने ही न पावे। पूयमेह के रोगी को सिखावें कि वह आंख को न छुए, जनता में प्रचार करें कि एक दूसरे के रूमाल या तौलिए आदि न बरतें। चिकित्सक अपनी रक्षार्थ ऐसे रोगी की चिकित्सा करते समय अपनी आँखों पर विशेष प्रकार के ऐनक[1] लगा ले। यदि संक्रमण प्रतीत हो तो अपनी आंख को एक्रीफलेवीन द्राव $\frac{1}{8}$% में धोकर कास्टिक १% ऊपर से टपकावें।

ख. वास्तविक चिकित्सा—प्रथमावस्था में नेत्र पर ठण्डे जल या बर्फ से कपड़ा भिंगोकर रखें। आँख को अच्छी तरह धोकर शोथस्राव निकाल दें। धोने की क्रिया हर पन्द्रहवें मिनिट या $\frac{1}{2}$ घण्टा पीछे करें। जब शोथस्राव कम हो जावे तब यह अन्तर बढ़ा सकते हैं। तब दिन में ३-४ बार धोना भी पर्याप्त है। धोने के लिए टंकणद्राव भी अच्छा है। धोने के बाद पलक दबाकर द्राव भी बाहर निकाल दें, लालिमा या सूजन कम हो जावे तो ठण्डक लगानी कम करें अन्यथा अग्रश्वेतपटल के पोषण में बाधा उत्पन्न हो जायगी अर्थात् यदि अग्रश्वेतपटल

1. **Buller's watch Glass.** बुलर के शीशे का ऐनक

आक्रान्त हो तो ठण्डक बहुत देर तक न पहुंचावें। जब शोथस्राव कम हो जावे तब तन्तुओं को उत्तेजित करने के लिए गर्म सेक करें और तब आंख में पारद-द्राव (२००० में १) या हलका हाईड्रोजन पैराक्सा-ईड या पोटाशियम परमैंगनेट द्राव (५०० में १) डालें। यदि नेत्र में शोथ बहुत अधिक हो, अन्दर से आंख बहुत सूजी हुई हो तो तनाव को कम करने करने के लिए पलक के कोने को जरा काट दें जिससे दबाव कम हो जावे। यह प्रथमावस्था की चिकित्सा है।

शेष अवस्थाओं की चिकित्सा प्रायः एक जैसी है। जब सूजन कम हो जावे और पूय बन रही हो तो आँख में पलकों पर कास्टिक २% स्पर्श करें। जब तक पूय बन्द न हो तब तक स्पर्श करें। जब कॉस्टिक लगाते हुए कुछ दिन हो जावे तो कभी-कभी ताम्रगन्धित या टैनिकग्लिसरीन १% या फिट-करी के स्फटिक लगावें।

(२) शिशुसुलभ नेत्राभिष्यन्द—नवजात-शिशु की आंख में कृमि भ्रूणोत्पत्ति के समय योनि की दीवार से प्रविष्ट होते हैं। कभी-कभी उत्पत्ति के पीछे शिशु का चेहरा आक्रान्त कपड़ों से पोंछा जावे तब भी रोग हो जाता है। कईयों का विचार है कि पूयमेहज कृमि गर्भाशय में ही शिशु के नेत्र में पहुंच जाते हैं परन्तु यह सन्देहास्पद है।

लक्षण

लक्षण बड़ों के पूययुक्त रोग जैसे हैं। जन्म से २-३ दिन पीछे शुरू होते हैं। बड़ों की अपेक्षा हलके लक्षण होते हैं। यदि ठीक समय पर चिकित्सा करें तब नेत्र बच जाते हैं अन्यथा बच्चा जन्म से ही अन्धा हो जाता है।

चिकित्सा

इस रोग की चिकित्सा भी प्रतिरोधक तथा वास्तविक दो प्रकार की होती है। प्रतिरोधक चिकित्सा का नियम यह है कि बच्चा पैदा होते ही उसके नेत्रों में ½% या १% कास्टिक टपका दें। इससे चाहे किसी प्रकार के कृमि हों मर जाते हैं और नेत्रशोथ नहीं होती।

वास्तविक चिकित्सा में ठण्डक नहीं पहुंचनी चाहिए क्योंकि बच्चे के कोमल नेत्रों को ठण्डक से हानि पहुंचती है। बच्चों के नेत्रों को हलके जल से धोवें या पोटाशियम हरिद् द्राव (१ औंस जल में १० गुने) से धोवें। धोने से पहले नेत्र में थोड़ी सी शुद्ध वैजलीन लगा दें। यह वैजलीन अग्रश्वेत-पटल पर एक स्तर बना देगी जिससे नेत्र धोने पर अग्रश्वेतपटल सुरक्षित रहेगा। नेत्र धोने के पीछे यदि शोथस्राव पूय का रूप धारण कर चुका हो और सूजन-लालिमा घट चुकी हो तो दिन में एक बार कास्टिक लगावें। अग्रश्वेतपटल को देखते रहना चाहिए, यदि इसमें व्रण आरम्भ हो जाएँ तो इसकी एट्रोपीन द्वारा चिकित्सा करें।

अनुभव की पुकार

यम सत्यप्रतिज्ञेयं यूयं श्रृणुत पण्डिताः।
पथ्यायाः सदृशं किंचित् कुत्रचिन्नैव विद्यते॥

वैद्यमनोरमा के रसायन-वाजीकरणाधिकार में वैद्य कालिदास घोषणा करते हैं—

शास्त्र और कर्म में निष्णात वैद्यवरो, मेरी यह सत्य—अनुभवपूत—स्थापना सुनो। इस सृष्टि में पथ्या (हरीतकी) के सदृश गुणकारी कोई द्रव्य नहीं। अनुभव करके स्वयं जान लो।

—वैद्य रणजितराय

क्षयरोग से बचने का उपाय

कविराज उपेन्द्रनाथ दास काव्य-व्याकरण-सांख्य तीर्थ, उपाध्यक्ष नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ

❀

अति प्राचीन काल से यह रोग मनुष्य समाज का ध्वंस कर रहा है। यह रोग रोगों का राजा है इसलिये इसको राजयक्ष्मा कहते हैं। जिस अभागे मनुष्य को यह रोग पकड़ लेता है उसकी मृत्यु तो शीघ्र नहीं होती है. किन्तु वह बदनसीब शारीरिक, आर्थिक और पारिवारिक क्षय का कारण बनकर चरम दुःख भोगता रहता है। उसका धनोपार्जन बन्द हो जाता है, चिकित्सा और पथ्य में धनका नाश होता है तथा परिवार के प्राणी एक के बाद एक इस पाप रोग का शिकार होकर मरते रहते हैं। जिससे अन्त में सर्वनाश हो जाता है। इस रोग से पीड़ित होने पर गरीब-अमीर सबही अपनी शक्ति के अनुसार चिकित्सा कराते हैं किन्तु कदाचित् एक दो भाग्यवान व्यक्ति ही इस भयानक रोग से मुक्त होते हैं, अन्यथा प्रायः सभी यक्ष्मा के रोगियों का प्राणान्त हो ही जाता है। एकबार रोग मुक्त होने के बाद भी पुनराक्रमण की सम्भावना बनी रहती है। अतएव इस रोग की भयंकरता को देखते हुए प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य को इस रोग से बचने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। एकबार की साधारण भूल भी इस भयङ्कर रोग का कारण बन सकती है, अतएव प्रत्येक मनुष्य को सर्वदा विशेष सावधान रहना चाहिये।

किसी रोग से बचने के लिये उस रोग के कारण को भली भांति जानना चाहिये और उस कारण से अपने को बचाते रहना चाहिये। जैसे पानी में उतरने से कपड़ा गीला होता है, अग्नि में हाथ डालने से हाथ जलता है, उसी प्रकार रोग का निदान (कारण) सेवन करने से रोग उत्पन्न होता है। जबतक रोग निदान से मनुष्य बचता रहता है तबतक रोग का होना भी असम्भव है। अतएव क्षय रोग के निदान को जानकर उससे दूर रहना ही क्षय रोग से बचने का एकमात्र उपाय है।

क्षय रोग के कारण

आयुर्वेद मतानुसार इस रोग के चार कारण हैं—१ वेग रोध, २ क्षय, ३ साहस और ४ विषमाशन।

(१) स्वास्थ्य रक्षा के लिये पुष्टिकर भोजन की जितनी आवश्यकता होती है मलों का यथा समय निःसरण होना भी उतना ही आवश्यक है, पुष्टिकर आहार पानीय आदि जितने भी द्रव्य मनुष्य सेवन करता है, उनके कुछ अंश तो शरीर के पोषण के लिये शरीर में शोषित होते हैं, बाकी अंश मल बनकर शरीर से बाहर निकल आते हैं। भोज्य पेय में जितना जल रहता है वह भी शरीर में शोषित होकर शरीर को तृप्त करता हुआ बहुत सारी त्याज्य वस्तुओं को अपने अन्दर घुलाकर मूत्रादि रूप से निकल जाता है। मलमूत्र अधोवायु आदि त्याज्य वस्तु जब अपने २ आशय में सञ्चित होकर आशय की उत्तेजना करती हैं तब मलमूत्रादि वेग उत्पन्न होकर चेतावनी देता है कि इन मलों को बाहर जाने दो। उस समय मनुष्य यदि कार्यवश अथवा अनवधानतावश उस वेग का दमन करता है

तो केवल मलाशय में ही विकृति नहीं आती किन्तु उन मल पदार्थों के विघटन से नानाविध हानिकारक पदार्थ उत्पन्न होकर शरीर यन्त्रादि को दुर्बल कर देता है। इस समय यदि उस शरीर में क्षयरोग के बीज (कीटाणु) किसी प्रकार से आ जावें तो क्षय-रोग उत्पन्न हो सकता है।

(२) जब मनुष्य अपरिपुष्ट अथवा परिपुष्ट शुक्र धातु को अस्वाभाविक या स्वाभाविक तरीकोंसे अत्यधिक मात्रा में निकाल देते हैं तो साधारणतः उसकी काम वासना कम हो जाती है, जननेन्द्रिय में शैथिल्य आजाता है और मनुष्य नपुंसकता का शिकार हो जाता है, किन्तु जिस मनुष्य में अत्यधिक शुक्र क्षीण होने पर भी, कामोत्तेजक परिस्थितिमें रहने या कामोत्तेजक औषधादि के सेवन से कामोत्तेजना अत्यधिक रहती है, उसका शरीर अधिक से अधिक शुक्र बनाना चाहता है। जिससे शुक्र का उपादान मज्जा धातु क्षीण हो जाता है—उस मज्जा को बचाने के लिये अस्थिधातु क्षीण होता है। इस प्रकार पूर्व धातु का क्षय तो हो जाता है किन्तु उत्तेजना की शान्ति नहीं होती। जिस प्रकार भ्रष्टाचारी पुरुष मद्यादिमें अत्यधिक खर्च करके घर का नाश करना आरंभ करता है और घर का सर्वस्व स्वाहा करके भी उसकी इच्छा की पूर्ति नहीं होती है उस प्रकार कामोन्मत्त पुरुष की सब धातुओं का क्षय होने पर भी काम वासना शान्त नहीं होती इस परिस्थिति में उस शरीर में क्षय रोग के कीटाणु प्रविष्ट हो जावें तो रोग उत्पन्न होना प्रायशः निश्चित ही है।

(३) साहस का संक्षिप्त अर्थ है अवैध शारीरिक चेष्टा-जब मनुष्य शक्ति से अधिक परिश्रम करता है, अधिक भार वहन करता है अर्थात् सिर पर या पीठ पर अधिक बोझ लेकर चलता है, ठेला में अधिक बोझलाद कर खींचता है, साईकिल पर अधिक बोझ रख कर चलाता है, फुटबाल आदि खेलों में या मल्ल-युद्ध में छाती पर चोट लगा लेता है, चलती हुई ट्राम गाड़ी से उतरता है, उच्चस्थान से जल में या भूमि-पर कूदता है या और कुछ अधिक दौड़ना, भागना चिल्लाना आदि कठोर परिश्रम करता है तो फेफड़ों में चोट लगकर जख्म होकर रक्त निकलता है—फुप्फुस के उस क्षतस्थान में यक्ष्मा रोग का कीटाणु पहुंच सके तो यक्ष्मा रोग हो जाता है। एक बलिष्ठ युवक दो व्यक्तियों को साईकल पर बिठाकर ३ मील तक गया, वहाँ पहुँचने पर उसको रक्तवमन हुआ। औषधादि द्वारा रक्त वमन कुछ कम हुआ किन्तु यक्ष्मा रोग से आक्रान्त होकर १ वर्ष तक दुःख पाकर वह मर गया, इसी लिये लिखा गया है कि साधारण सी गलती भी इस रोग का कारण बन जाती है।

(४) विषमाशन का संक्षिप्त अर्थ यह है "बहु स्तोकमकाले च विज्ञेयं विषमाशनम्" अर्थात् आवश्यकता से अधिक खाना या आवश्यकता से अल्प खाना, असमय में भोजन करना-ये सब विषमाशन कहलाते हैं। इस प्रकार विषमाशन से पाचक-संस्थान विकृत होता है, शारीर धातु में वैषम्य उत्पन्न होकर जीवनीशक्ति को कमजोर बना देता है। शरीर की इस प्रकार की परिस्थिति में यदि शरीर के अन्दर यक्ष्माकीटाणु प्रविष्ट हो जावे तो राज-यक्ष्मा रोग उत्पन्न हो जाता है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्री क्षय रोग के होने का कारण एक विशिष्ट प्रकार के कीटाणु को मानते हैं। क्षय रोगी के फुप्फुस से निकले हुए कफ में इन कीटाणुओं को अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देख भी सकते हैं। फिर भी यह निश्चित है कि यह कीटाणु तब तक क्षय रोग को उत्पन्न नहीं कर सकता; जब

तक पूर्वोक्त कारणों से शरीर में कीटाणुओं की वृद्धि के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती है। जिस शरीर की परिस्थिति कीटाणुओं की बृद्धि के लिये अनुकूल नहीं है उस शरीर में कीटाणु प्रविष्ट होकर भी रोग उत्पन्न नहीं कर सकता है। यह कीटाणु प्रायः सभी स्थान के वायुमण्डल में रहते हैं विशेषकर शहरों के वायुमण्डल में अत्यधिक मात्रा में रहते हैं, इनसे बिलकुल अलग रहना तो मनुष्यों के लिये असम्भव ही है, किन्तु पूर्वोक्त कारणों से बचकर शरीर की परिस्थितिको कीटाणु की वृद्धि के अनुकूल बनने न देना मनुष्यों के अपने अधीन है।

इस रोग की अत्यधिक वृद्धि क्यों हो रही है

परिस्थिति से विवश होकर मनुष्य नगर में ही अधिक संख्या में बसने लगे। इन नगरों के एक-एक मकान में जितने मनुष्य रहते हैं; उनके लिये पर्याप्त संख्या में पाखाने नहीं होते। बहुत लोगों को एक ही पाखाने में जाना पड़ता है। सुबह के वक्त पाखाने के सामने प्रवेशार्थियों की कतार खड़ी रहती है। अतः स्थानाभाव के कारण वाध्य होकर मल-मूत्र के वेग को दबाना पड़ता है। जब घर में ही ऐसी दुर्दशा है तो बाहर बाजार की दुर्दशा का क्या कहना। कारण, बाजार में शौचालय के अभाव के कारण दुकानदार को या बाजार में घूमने वालों को मलमूत्र के वेग दबाना ही पड़ता है। बाजार, स्कूल, कालेज, कचहरी, दफ्तर, सिनेमा, सभा-समिति कहीं भी जाओ ट्राम, मोटर, बस तांगा, रेल आदि किसी भी सवारी से चलो वेग को दबाना ही पड़ता है। इन कारणों से ग्रामीणों की अपेक्षा नगरवासी आसानी से क्षयरोग के ग्रास में पड़ जाते हैं। ग्रामवासी को वेगरोध करने को आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यदि कोई अपनी बुरी आदत के कारण वेगरोध करे तो उसका ही दोष है—किन्तु नगरवासी बाध्य होकर वेगरोध करते हैं, जिससे उनकी रोग प्रतिरोध शक्ति कम हो जाती है और वह शीघ्र ही क्षय रोग का शिकार हो जाता है। यक्ष्मा रोग का दूसरा कारण अत्यधिक शुक्रक्षय है। आयुर्वेद में शरीर के लिये तीन उपस्तम्भ बताये हैं, आहार निद्रा और ब्रह्मचर्य। जैसे तीन खम्भो पर एक बरामदा खड़ा रहता है. ठीक वैसे ही आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य के द्वारा ही शरीर का ठीक-ठीक धारण होता है। भारत की प्राचीन सभ्यता में ब्रह्मचर्य को बहुत उच्चस्थान मिला था। चाहे राजपुत्र हो या गरीब, प्रत्येक के लिये ब्रह्मचारी बनकर गुरुगृह में रहकर विद्याध्यन करना अनिवार्य था। विलासिता का नाम-निशान तक नहीं था। प्राचीन आर्य-संस्कृति वर्णाश्रम धर्मपर आश्रित थी। ब्रह्मचर्याश्रम से समावर्तन के बाद ही गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर विवाह करने का अधिकार मिलता था। साथ ही गृहस्थ के लिये नियम था कि 'ऋतौ भार्यामुपेयात्, गृहस्थ के लिये भी केवल स्त्री के ऋतुकाल में ही सम्भोग का आदेश था। वह भी "पुत्रार्थे क्रियते भार्या" पुत्रोत्पत्ति के लिये भार्या से मिलना था न कि कामवासना की पूर्ति के लिये।

केवल स्त्री सम्भोग न करना ही ब्रह्मचर्य नहीं कहलाता। शास्त्रों में लिखा है कि—

> स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्य भाषणम्।
> सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निवृत्तिरेव च॥
> एतन्मैथुनमष्टाङ्ग प्रवदन्ति मनीषिणः।
> विपरीतं ब्रह्मचर्य मेत देवाष्ट लक्षणम्॥

स्त्री का स्मरण, कीर्तन, स्त्री से हँसी-मजाक या खेल, लालसाभरी दृष्टि से स्त्री को देखना, एकान्त में स्त्री से बातें करना, स्त्री सम्भोग का सङ्कल्प, अध्यवसाय (सम्भोगार्थ ऐकान्तिक प्रयत्न) तथा स्त्री सम्भोग ये आठ प्रकार का मैथुन हैं और इन आठों

प्रकार के मैथुन से दूर रहना प्रकृत ब्रह्मचर्य कहलाता है। योगदर्शन में भी ब्रह्मचर्य की बहुत प्रशंसा मिलती है। ब्रह्मचर्य से केवल शुक्र धातु की ही रक्षा नहीं होती है, इससे तो शरीर के प्रत्येक कण-कण में शक्ति भरी भी रहती है जिसके द्वारा शरीर सभी विरोधी तत्वों से लड़कर विजयी रहता है। शास्त्रानुकूल स्त्री सम्भोग से शरीर का क्षय नहीं होता, न शरीर में दुर्वलता ही आ सकती है—किन्तु आधुनिक सभ्यता ने ब्रह्मचर्य का समूलोत्पाटन कर दिया है।

प्राचीन भारत में पाठ्य जीवन में सब ही को गुरु-गृह में ब्रह्मचारी होकर रहना पड़ता था, अब पाठ्यजीवन में स्कूल कालेज में विशेषकर छात्रावास में ब्रह्मचर्य का शिरश्छेद हो जाता है। नाटक, उपन्यास, सिनेमा तो ब्रह्मचर्य के दुश्मन ही हैं। बाजार में घूमता हुआ सिनेमा का चित्र तथा रेडियो द्वारा प्रसारित सिनेमा का गाना आदि ब्रह्मचर्य का शत्रु है। सिनेमा के अश्लील चित्र और गाने लोगों को अनैतिक बनाते हैं—यह किससे छिपा है? नगरों में यह पाप अधिक है अतः नगरवासी नव-युवक और नवयुवती ब्रह्मचर्य के अभाव से हीनवीर्य होकर भी मानसिक वासना की ताड़ना से कामोन्मत्त हो शरीर का नाश करते रहते हैं। कुछ पथभ्रष्ट युवक वीर्य हीनता के कारण निस्तेज होकर उत्तेजक औषधादि का सेवन करके और भी शीघ्र मृत्यु का बुला लेता है। इस प्रकार क्षीणवीर्य पुरुष के शारीरिक धातुक्षीण हो जाते है, जीवनी शक्ति कम हो जाती है, रोग निरोध की क्षमता नहीं रहती है इस परिस्थिति में यदि शरीर में किसी प्रकार से यक्ष्मकीटाणु का सङ्क्रमण हो जावे तो मनुष्य शीघ्र ही यक्ष्मारोगाक्रान्त हो और अशेष यातना झेलकर मरते हैं। बालक और वृद्ध की अपेक्षा युवावस्था में राजयक्ष्मा रोग अधिक होने का प्रधान कारण भी ब्रह्मचर्य का अभाव ही है—शास्त्रकारों ने इसको स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है।

"मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्"

राजयक्ष्मा का तीसरा कारण है साहस अर्थात् शक्ति से अधिक परिश्रम करना। यह भी नगरों में अत्यधिक रूप में पाया जाता है। मिलों में काम करने वाले लाखों मजदूर दूषित वायुमण्डल में रह-कर सरतोड़ परिश्रम करते रहते हैं - फिर उनके घरों में भी शुद्ध वायु तथा पुष्टिकर भोजन नहीं मिलता है। दफ्तर के बाबू लोग भी अपनी मर्यादा बनाये रखने के लिये वस्त्र, जूते आदि बाहरी तड़क-भड़क में ही वेतन का अधिक अंश खर्च कर देते हैं। स्टाइल को कायम रखने के लिये घर और बाहर अधिक खर्च करते हैं—अतः पैसा की कमीके कारण दूध का काम चाय से, घी का काम वनस्पति तैल से लेते हैं। सुबह भूख लगने से पहिले ही जल्दी-जल्दी कुछ खाकर साइकिल पर भागते हैं—फिर सारा दिन परिश्रम और मध्याह्नोत्तर की भूख से कातर होकर साइकिल दौड़ाकर सायंकाल घर लौटने पर भी पौष्टिक खाद्य और दूध के अभाव को चाय से पूरा करते हैं। बहुत सारे भ्रान्त युवक तो भूख को कम करने के लिये अत्यधिक मात्रा में चाय पीते हैं इस प्रकार पोषक खाद्यों के अभाव से यौवन काल में ही कर्मशक्ति कम हो जाती है। अथच जीविका निर्वाह के लिये केवल दफ्तर और स्कूल-कालेज की नौकरी ही नहीं इसके उपरान्त ट्यूशन आदि करना पड़ता है। बहुत से लोग साईकिल पर दो-तीन मन बोझ लादकर १०-१२ मील दूर तक ले जाते हैं—झल्ली ढोने वाले, ठेला खींचने वाले, आदि का तो कहना ही क्या है, संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि परिस्थिति से विवश होकर लक्ष-लक्ष मनुष्य शक्ति से अधिक परिश्रम कर

के युवावस्था में ही शरीर का नाश कर देते हैं उनके शरीर में उपचय और बल का अभाव होने से शीत ग्रीष्म को सहन करने की शक्ति कम हो जाती है। रोगनिरोधक क्षमता लुप्त हो जाती हैं। इस परिस्थिति में शीघ्र ही मनुष्य राजयक्ष्मा रोगसे आक्रान्त हो सकते हैं।

राजयक्ष्मा का चतुर्थ कारण विषमाशन है— यह भी नगर में ही अत्यधिक है। धनवान मनुष्य को खाने-पीने का तो अभाव होता नहीं। इसलिये सारे दिन तथा रात्रि के भी कुछ समय तक खाते ही रहते हैं मानो वे खाने के लिये ही जीवित रहते हैं। जीवित रहने के लिये खाना चाहिये इस चरम सत्य को भूलकर खाने के लिये जीवित रहना है—ऐसा सिद्धान्त वह बना लेते हैं। ऐसे खानेवाले लोगों की पाचन शक्ति ठीक रहे तो अतिस्थूल हो जाते हैं किन्तु जिनकी पाचनशक्ति विकृत हो जाती है वे मनुष्य प्रथम तो अजीर्ण, अतिसार आदि से पीड़ित होते रहते हैं और संग्रहणी राजयक्ष्मा आदि भयङ्कर रोग से पीड़ित होकर मरते हैं।

भारत में सम्पन्नों की संख्या बहुत कम है गरीब ही यहाँ अधिक हैं। इन गरीबों को आवश्यकमात्रा में पुष्टिकर भोजन नहीं मिलने के कारण अखाद्य-कुखाद्य से उन बेचारों को पेट भरना पड़ता है। सब दिन ठीक समय पर अन्न भी नहीं मिलता है किसी दिन तो अन्न के अभाव में भूखे ही रहते हैं। किसी दिन मौका पाकर अधिक खा जाते हैं। असमय भोजन करना तो इनके लिये एक साधारण बात हो जाती है।

स्कूल, कालेज, कचहरी, दफ्तर, मिल आदि का कार्य काल ऐसे समय में रखा गया है कि इनमें जानेवालों को असमय में ही भोजन करना पड़ता है। शास्त्रकारों का कहना है—"याममध्येऽन भोक्तव्यं याम युग्मं न लङ्घयेत्। याम मध्ये रसोत्पत्तिर्याम युग्माद्-बलक्षयः ॥"

अर्थात् सूर्योदय से तीन घण्टे के अन्दर नहीं खाना चाहिये। कारण, पाचक संस्थान को इतने समय विश्राम नहीं देने से रस का अपरिपचन से आमोत्पत्ति होकर मन्दाग्नि आदि रोग होते हैं। सूर्योदय से दो याम अर्थात् दिन के अर्धभाग का अतिक्रम करके भी नहीं खाना चाहिये क्योंकि इतनी देर करके खाने से शरीर के ताप और बल की रक्षा के लिये सञ्चित द्रव्य का व्यय होकर बलक्षय होता है। अंग्रेजों के द्वारा बनाया हुआ समय विभाग के अनुसार कार्य करनेवाले अधिकांश व्यक्ति को इस शास्त्र-नियम का लंघन करके असमयमें भोजन करना पड़ता है। नियमों को बनानेवाले अंग्रेज ने इस समय विभाग से हिन्दुस्तानी को कमजोर बना दिया किन्तु उनके स्वास्थ्य पर कुछ दुष्प्रभाव नहीं पड़ा। कारण वह खाना-पीना ठीक समय पर ही करते रहे।

घर में स्त्रियाँ भी अनियमित भोजन करती हैं; कारण गृहस्थ घर में जिस दिन अधिक खाना बच जाता है, उसको नष्ट नहीं किया जाता, दूसरे दिन उसका उपयोग किया जाता है। किसी दिन कम रह गया तो कम खाकर गुजारा किया जाता है। यह तो नित्य-प्रति का नियम है ही। खाना बन जाने के बाद अतिथि आये तो उनको खिलाकर स्वयं उपवास भी करना पड़ जाता है। राजयक्ष्मा के मूलभूत इन चारों कारण का सेवन स्त्रियों को ही अधिक करना पड़ता है, इसलिये पुरुष से स्त्री ही इस रोग से अधिक आक्रान्त होती है। पुरुषों में भी युवक, इच्छा से या अनिच्छा से इन कारणों का अधिक सेवन करते हैं। अतएव बालक और वृद्ध की अपेक्षा युवक ही इस रोग द्वारा अधिक आक्रान्त

(शेषांश ३१२ पृष्ठ पर)

आयुर्वेद में संशोधन और संवर्धन-३

वैद्य ब० स० येरकुँटवार

आयुर्वेद में परम्परया शास्त्र द्रष्टता तथा प्रत्यक्ष-द्रष्टता का पारस्परिक व्यवहार कैसा है और आयुर्वेद उभय कूलावलंवी है तो कैसे—आदि बातों पर अब विचार करना है। ऐसी विवेचनाओं से आयुर्वेद के संशोधन की बहुत सी दिशाएँ ज्ञात होंगी। लेख के पिछले हिस्से में हमने देखा कि विज्ञानों की मूलभूत कल्पनाएँ किसी एक विशिष्ट तात्त्विक भूमिका से ही उद्‌भूत होती हैं। आधुनिक पदार्थ विज्ञान तथा प्राणी विज्ञान के समान आधुनिक वैद्यक-शास्त्र के सम्बन्ध में भी यह सत्य किस प्रकार चरितार्थ होता है, इस विषय को ऑथनी फिडलर ने अपने "Whither medicine : From dogma to science" नामक ग्रन्थ में अच्छी तरह से बताया है।

इस तात्त्विक भूमिका के विषय में ही शास्त्र-द्रष्टता यथार्थतः प्रतीत होती है। वैद्यक शास्त्र के मूलभूत सिद्धांत (Fundamental concepts) और वैद्यक क्षेत्र में तदनुरूप होनेवाला व्यवहार प्रत्यक्षद्रष्टता प्रधान ही होता है। इसी कारण आयुर्वेद के अन्तर्गत शरीरादि क्षेत्र में सांख्य, योग, वेदान्त इत्यादि शास्त्र एक-दूसरे के साथ सुगुम्फित दिखायी देते हैं। साथ हो साथ निदान चिकित्सा के क्षेत्र में भी प्रयोग, निरीक्षण, अनुगमन आदि का साम्राज्य फैला दिखायी देता है। चोपड़ा समिति ने "two methods of approach" जो बताया है, वह इस दृष्टि से कैसा है, यह देखना है। चोपड़ा समिति ने यह कहा है:—

Some may wonder as to what special approach to Research other than that of observation and experimentation there can be, yet, research can not be based on these methods of approach alone. It is being realised, more and more, that there is another and we may say, an even higher method of approch than that of observation and of experimentation in the laboratory. This is the approach through the meditational or Institutional methods.

अर्थात् किसी को ऐसा भी आश्चर्य होगा कि निरीक्षण और प्रयोग के अतिरिक्त संशोधन की दूसरी कौन सी विशेष पद्धति हो सकती है। परन्तु इन दोनों पर ही सभी संशोधन की इमारत आधारित रह सकती है, ऐसा कहना कठिन है। वैज्ञानिक जगत में निरीक्षण और प्रयोग (observation & experiment) के अलावा एक तीसरे प्रकार की संशोधन पद्धति दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। यह तीसरी पद्धति इन दोनों पद्धतियों से भी ऊँची है—ऐसी मान्यता भी इधर हो चली है। इस पद्धति को स्फूर्तिरूपात्मक पद्धति ऐसा नाम दिया गया है। इस प्रकार विधान करके उसी का कुछ स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न चोपड़ा समिति ने किया है। किन्तु समिति को किस संभ्रम का शिकार इसमें होना पड़ा है, वह हम आगे देखेंगे। यहाँ तो सिर्फ यह देखना

है कि जिस तीसरी पद्धति की चर्चा ऊपर आयी है और जो आगे चतुर्दिक् प्रशंसित होती दीख रही है, वह शास्त्रदृष्टता के विषय में कैसे अन्तर्भूत होती है।

वस्तुतः शास्त्रदृष्टता शब्द का प्रयोग एक तरह से सापेक्ष ही है। शास्त्रकारों को समस्त ज्ञान प्रत्यक्षदृष्ट ही रहता है। निरीक्षण और प्रयोग ही शास्त्रकारों का प्रमाण होता है। परन्तु विधिपूर्वक निरीक्षण और प्रयोग करने की पात्रता जिनमें नहीं रहती, उनको शास्त्र नामक प्रमाण मानना ही पड़ता है शास्त्रकार तो अल्प संख्या में और अलौकिक पुरुष होते हैं उनके अनुभव भी असाधारण ही होते हैं।

शास्त्रों के निर्माण में शास्त्रज्ञों की अपार विद्या-बुद्धि और अनुभव बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। शास्त्रज्ञों के अनुभवों से सिद्धान्तात्मक सर्व मान्य-नियम जो एकत्र किए जाते हैं, उससे ही शास्त्र की रचना होती है। ऐसे शास्त्र उनलोगों के लिए, जो शास्त्र रचना की क्षमता अथवा पात्रता नहीं रखते; मार्ग-प्रदर्शक के काम करते हैं। चरकाचार्य ने पंच न्द्रियों के वर्णन में ऐसा लिखा है कि सारी दुनियां को ज्ञान की रश्मि से आलोकित करते हैं, किन्तु स्वयं ही वह ज्ञान उनके लिए प्रत्यक्ष नहीं है ("यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुप लभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्र त्यक्षाणि" सू० स्था० अ० ११, ७) आत्म विषयक अज्ञान का निरास करते हुए वे खुद को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। शास्त्र व्यतिरिक्त अन्य जनों की ऐसी अवस्था रहती है। अतः उनके लिए ही शास्त्र प्रामाण्य का दृढ़ बल और व्यापक आधार आवश्यक होता है।

परन्तु शास्त्रकारों का प्रामाण्य सन्त तुकाराम महाराज के कथनानुसार (डाचा डोला पाहों गेला) निजी निरीक्षण और प्रयोग ही होते हैं। शास्त्रकारों को सब कुछ प्रत्यक्ष दृष्ट होता है परन्तु दूसरों के लिए वही शास्त्र-दृष्ट है।

आयुर्वेद में दिखने वाली शास्त्र-दृष्टता उपर्युक्त कारणों से आयी है। "श्रुति प्रत्यक्षहेतवः" (मनु) होनेवाले ऋषियों के अनुभव और तद्घटित सिद्धान्त का नाम ही वेद है। आयुर्वेद, इस वेद का एक उपांग है। इसी कारण उसमें शास्त्र दृष्टता का दिखलाई देना स्वाभाविक है। आयुर्वेद के संशोधन सम्बन्धी कार्यों में शास्त्र दृष्टता सहायक सिद्ध हो सकेगी; इस दृष्टि से चोपड़ा समिति द्वारा प्रस्तावित तीसरी पद्धति का अवलम्बन अपरिहार्य हो जाता है। इसी कारण अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अर्थात् शास्त्र प्रत्यक्ष और इन्द्रिय प्रत्यक्ष अर्थात् लोक प्रत्यक्ष—इन दोनों पद्धतियों का समाहार करना इस विवेचन में आवश्यक है।

प्रथमतः हमें प्रत्यक्ष दृष्टतापर विचारना है। इस विषय में आधुनिक शास्त्र और प्राचीन भारतीय शास्त्र इन दोनों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। क्योंकि निरीक्षण, प्रयोग, अनुगमन इत्यादि विषय में दोनों की समानता है। कालानुसार जो कुछ भिन्नता देखने में आती है, वह तात्त्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं। किन्तु मात्र इतना कहना योग्य होगा कि वर्तमान युग में मौलिक दृष्टिकोण की छानबीन तथा जांच-पड़ताल की जो परिपाटी प्रचलित है, वह प्राचीन युग में नहीं दिखाई देती। इसीलिये वर्तमान युग को 'formulation' का युग कह सकते हैं। यही कारण है कि इस युग में शास्त्रों की बहुलता है। शास्त्रों की संख्या बढ़ रही है। प्राचीन काल में formulation होते भी वह उतना स्पष्ट नहीं था—अनुस्यूत रूप से ही उसका अस्तित्व था।

प्रायोगिक पद्धति और उसके तर्क शास्त्र (Experimental method and its logic) का

अस्तित्व तो प्राचीन काल से ही मिलता है, किन्तु उनकी सहायता से सर्वमान्य सिद्धान्तों को निरूपित कर बोधगम्य बनाने की विशेषता इस युग की ही कही जायगी। प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय प्रयोग पद्धतियों में जो बड़ा भेद है, उसका विचार आगे होगा। परन्तु, इसे अलग रखकर भी ऐसा कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान में दैनं दिन होने वाली विशेष-विशेष शास्त्रों की खोज समाज को ध्वंस की ओर ही ले जा रहा है—इससे लाभ कम हानियाँ अधिक हुई हैं। इसी कारण विशेषीकरण (specialization) के विरुद्ध स्वयं ही शास्त्रज्ञ ही आवाज उठा रहे हैं।

पदार्थ विज्ञान और रसायन विज्ञान के क्षेत्र में, विभिन्न शास्त्र शाखा दीख पड़ती है। इन शास्त्र शाखाओं के सिद्धान्त परस्पर पूरक होने के बदले परस्पर विसंबादी कैसे हैं—यह सत्य अनेकानेक उदाहरणों से सिद्ध करना कठिन नहीं। ऐसी अव्यवस्था न रहने पावे, इस उद्देश्य से शास्त्रज्ञ लोग मूल तात्त्विक अधिष्ठान निश्चित करने के यत्न में कष्ट उठा रहे हैं। मानसशास्त्र, समाजशास्त्र, प्राणी-शास्त्र, भाषाशास्त्र, मानवशास्त्र, पुराणशास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्रों में हर घड़ी सिद्धान्तों की वर्षा दिखायी देती है।

पहले कहा गया है कि प्रायोगिक पद्धति और उससे सम्बद्ध तर्कशास्त्र प्राचीन काल से दीख पड़ता है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अवलोकन से इस बात का प्रमाण मिलेगा। वर्त्तमान समय में जिसे Test experiments' और 'Controlled experiments' कहते हैं—ये प्राचीन काल में न दिखायी देंगे—फिर भी निरीक्षण, प्रयोग, अनुगमन आदि बातें अवश्य ही दीख पड़ेंगी। सुश्रुत ने औषधियों की जानकारी गोपाल, तापस, व्याध, कन्दमूलाहारी, वनचर इत्यादि से कर लेने की जो सूचनाएँ दी हैं (सू० स्था अ० ३७) उनमें निरीक्षण का महत्त्व और निरीक्षकों का उपयोग करने का बल सहज ही ध्यान में आवेगा। इन तत्त्वों का अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण किया हुआ प्रतीत होगा। चरक ने 'अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि नात्युपभुञ्जीताधिकमन्येभ्यो द्रव्येभ्यः' (विमानस्थान अ० १, १७) यह कथन करते हुए भिन्न-भिन्न देशों के दैनंदिन जीवन का जो सूक्ष्म निरीक्षण किया है, वह उल्लेखनीय है। तत्कालीन जगत का एक भी स्थावर-जंगम पदार्थ जिसका परिणाम मानव-शरीर होता है, वह आयुर्वेदीय ग्रन्थों में स्वल्पाधिक रूप से वर्णित है।

क्रमशः

शेषांश]

क्षय रोग से बचने का उपाय

[३०१ वें पृष्ठ का

होते हैं। ग्राम-वासी से शहर-वासी यक्ष्मा-निदान का अधिक सेवन करने को बाध्य होते हैं, फलतः शहर में इस रोगका प्रसार अत्यधिक है। जिस जाति में या जिस जिस सम्प्रदाय में इन कारणों का सेवन अधिक है, उस जाति और सम्प्रदाय में भी इस रोग की अधिकता देखने में आती है। इससे सिद्ध होता है कि राजयक्ष्मा के प्रसार को कम करने के लिये उसके चार कारणों से बचाने का प्रबन्ध करना पड़ेगा। किन्तु आधुनिक विज्ञान का मत है कि एक विशेष प्रकार के कीटाणु द्वारा ही राजयक्ष्मा रोग उत्पन्न होता है, ये कीटाणु रोगी के थूक आदि में मिलते हैं—अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा उन कीटाणुओं को देखा जा सकता है।

क्रमशः

सिन्दूरकल्प-३

वैद्यराज. पु. वि. धामणकर शास्त्री, आयुर्वेदभूषण
अनुवादक—आत्रेय-काशीनाथ, इन्दौर.

❀

प्रकार दूसरा-तलस्थ (समीरपन्नग)

इस सिन्दूरकल्प लेख माला का यह तीसरा और अन्तिम लेख है। इस के पूर्व लेखों में की गई विधि विवेचना जहां तक बन सकी निःसंदिग्ध और सम्यक् रूपेण ही की गई है। इन्हीं तीन लेखों में यह विषय पूर्ण हो गया, यह तो नहीं माना जा सकता है, अपितु तज्ज्ञ पाठकों के सामने रखने का यह एक प्रयास मात्र है।

समीरपन्नग में समीर=वायु और पन्नग=नाग, वायुभक्षक नाग (सर्पराज) यह सरल अर्थ है। यह नाम उपमात्मक है। समीरपन्नग का कार्य वातनाशक होने से यह उपमात्मक नाम प्रदान किया गया है। सर्पविष का संक्रमण या सर्प के चंक्रमण के समान ही वात का शरीर में शीघ्र गति से संचार होता रहता है। शरीरस्थ दूषित वात का शीघ्र ही यह प्रशमन करता है, इसलिये इसका उपमात्मक नाम भी योग्य ही प्रतीत होता है।

समीरपन्नग के दो पाठ मिलते हैं। एक खल्वी दूसरा कूपिस्थ। कूपीपक्व प्रकार को वातपन्नग भी कहा है, इसी प्रकार के द्रव्य समूह का एक दूसरा पाठ भी है परन्तु इसमें मल्ल है और औषधी भी लालरंग की तैयार होती है, इसलिये उसे मल्ल-सिन्दूर कहते हैं।

ग्रन्थोक्त पाठ मात्र दो हैं। वृद्धवैद्यों ने उसकी कृति में अन्तर करके समीरपन्नग के चार प्रकार कर दिये हैं। जिस प्रकार द्रव्यों में परिवर्तन करने से गुण दोषों में भी अन्तर हो जाता है, उसी तरह प्रक्रिया में अन्तर करने से भी होता है। गलस्थ समीरपन्नगको तलस्थ करना या संपुटितस्थको कूपीस्थ करना यह कृति भिन्नत्व के कारण, सिद्धौषधि के घटक द्रव्य रासायनिक परिभवन व औषधि कार्य इत्यादि में भी परिवर्तन हो जाता है, उदाहरण मल्लसिन्दूर यह कंठगत प्रकार है, परन्तु इसे तलस्थ भी बनाते हैं, इसमें उक्त द्रव्य होते हुए भी मल्लसिन्दूर का कार्य सन्निपात अवस्था में होता है और समीरपन्नग (तलस्थ) सन्निपात विकारों के साथ ही सन्धिबंध, उन्माद और कफज रोगमें भी कार्य करता है। यह जो गुणान्तर होता है वह केवल प्रक्रिया भेद मात्र से ही उत्पन्न होता है।

सामान्य पाठ

	औषधि नाम	ग्रन्थाधार	पारद-	गंधक,	हरताल,	मनसिल	मल्ल	गुणधर्म
१	मल्लसिन्दूर	र० यो० सा० ५४१	१	१	१	१	१	सन्निपात, वातदोष
२	समीरपन्नग	औ० गु० ध० शा०	१	१	१	१	१	सन्निपात, उन्माद, कफरोग

औषधि नाम	ग्रन्थाधार	पारद,	गन्धक,	हरताल,	मनसिल,	मल्ल	गुणधर्म
३ समीरपन्नग	र० यो० सा० ३०३	१	१	१	—	१	वातदोष
४ समीरपन्नग	वै० पं० हरिप्रपन्न	१	१	१	—	१	वातदोष
५ गोरक्षसिन्दूर	वृध्दवैद्य	२५	१५	२।	२॥	४॥	वातदोष

कृति.	भावना	विशेष	यंत्र	अग्निप्रकार	अग्निकाल (प्रहर)	लग्नस्थान	मुद्रा	रंग
१	अर्कक्षीर	स्वर्णग्रासी पारा,	कूपी	क्रमाग्नि	३२	कंठ	४ घटीपश्चात	लाल
२	,,	,,	,,	मंदाग्नि	३	तलस्थ	,,	केशरिया
३	तुलसीरस	अभ्रपत्र बेष्टन	,,	दीपाग्नि	४	,,	,,	,,
४	अर्कक्षीर	,, ,,	कूपी	क्रमाग्नि	४	कंठ	,,	लाल
५	,,	,, ,,	,,	,,	१६	,,	,,	,,

कृति नं० १—मल्लसिन्दूर–हरताल, मनसिल, मल्ल समभाग को अर्कदुग्ध में तीन दिन खरल कर गोला बनावें। तीन दिन के बाद इस गोले को छाया शुष्क करके, शुष्क गोलकको पुन: अर्कदुग्ध में भिगोकर छाया शुष्क करे, यह क्रम गोलकपर दो अगुंल मोटी अर्कदुग्ध की परत जम जाने तक करना चाहिये, पश्चात् इस गोलक पर कपड़मिट्टी करके एक मास तक इसे जमीन में दबादे। इस से जमीन की स्वाभाविक उष्णता के कारण कुछ रासायनिक परिभवन-पाचन-होगा। एक मास के पश्चात् इस गोलक को निकाल कर, कपड़मिट्टी अलगकर, गोलक के समभाग स्वणग्रासीपारा तथा दोनों के समानभाग गंधक मिलाकर उत्तम खरल करे। पश्चात् इसे कपडमिट्टी की हुई कांचकूपी में भरकर वालुकायंत्र की सहायता से सिन्दूर विधि से अग्नि देवें। प्रथम चार घटिका तक कूपी का मुख खुला रहने दे पश्चात् मुद्रा देकर तीन चार दिन सतत क्रमाग्नि दे। रसायन कूपी के गले में लगेगी (रसायनसार)।

कृति नं० २—समीरपन्नग-पारा, गंधक, हरताल, मल्ल की कज्जली कर कपडमिट्टी की हुई कांच कूपी में भरकर वालुकायंत्र की सहायता से दो तीन प्रहर अग्नि दे, यह तलस्थ होगा।

कृति नं० ३-समीरपन्नग-पारा, गन्धक, मल्ल हरताल की कज्जली को तुलसी के रस की भावना देकर गोला बनावे, शुष्क होने पर अभ्रक पत्र चारों ओर से लपेटकर इस गोलक को शराव संपुट में रखे, शराव संपुट की सन्धि को बन्द करे। इस संपुट को वालुकायन्त्र के मध्य भाग में रखकर चार प्रहर दीपाग्नि देवे, इससे औषधि का पाचन व मिश्रण होगा।

कृति नं० ४—समीरपन्नग—द्रव्य संग्रह कृति नं० ३ के अनुसार परन्तु अर्क दुग्ध की तीन भावना भी देना और यह भावना सतत करते हुए सात दिन में शुष्क करना चाहिये, शेष विधि यथा क्रमानुसार। यह गले में लगा मिलेगा।

उपरोक्त कृतियां चार प्रकार की अवश्य हैं, परन्तु मूल पाठ दो ही हैं, इसलिये रसायन भी दो प्रकार की ही तैयार होगी। कृति न० १ तथा ४ में अन्तर्धूम व बहिर्धूम, विपाचन और भावना विधिमें अन्तर अवश्य है, परन्तु रसायन लाल रङ्ग की ही तैयार होती है।

कूपीकण्ठलग्न होनेपर इसमें अग्नि सहायता से रासायनिक परिवर्त्तन व उत्थापन होते हैं। कृति न० २ में द्रव्य, भावना, अन्तर वा बहिर्धूम विपाचन का भेद है, परन्तु पाचन विधि समान ही है, मन्दाग्नि पर इन द्रव्य समूहों का एक मिश्रण तैयार होता है, इसमें रासायनिक परिवर्त्तन या उत्थापन संस्कार नहीं होते हैं। कृति न० १ व ४ सिन्दूर वर्ग में व कृति न० २ व ३ पर्पटी वर्ग में आते हैं।

यन्त्र, उपयन्त्र, विधि आदि की विवेचना पहले लेखों में कर चुके हैं। अतएव अब यहाँ पाचन, शलाका संचारण, औषधि प्रामाण्य, गणन परीक्षण आदि की जानकारी का वर्णन करेंगे।

पाचन—समीरपन्नग में अन्तर्धूम व बहिर्धूम यह दो प्रकार है। इसी तरह गन्धक जारण भी १ से ६० बार तक करते हैं। सिन्दूर के पाठ में इन पाचनों का उल्लेख है। प्रत्येक बार का पाचन, औषधि गुण, वीर्य, कार्य, गतिवान व उच्चश्रेणी वृद्धि का कारण होता है, ऐसा माना गया है। कृति १ व ४ में क्रमाग्नि है और २ व ३ में मन्द व दीपाग्नि है, अर्थात् क्रम विवर्धित व स्थिर-अग्नि यह पाचन के दो प्रकार होते हैं।

शलाका संचारण—नं० २ व ३ में शलाका का कोई प्रयोजन नहीं है। न० २ में शलाका का प्रयोजन केवल द्रव्य के नीचे की स्थिति को देखने मात्र के लिये है। शलाका काष्ठकी ही उत्तम होती है, कारण तप्तशलाका का उपयोग करने से भीतरी द्रव्य आग पकड़ लेते हैं। नं० ४ में प्रथम व द्वितीय अग्नि के लिये काष्ठ व लोह की शीत शलाका का उपयोग करना चाहिये। इस स्थिति के बाद तप्तलोहशलाका का उपयोग किया जा सकता है, परन्तु इसमें नवसादर जैसे पदार्थ न होने से अग्निक्रम अगर व्यवस्थित दिया गया तो शलाका की आवश्यकता भी नहीं होती है।

औषधि प्रमाण गणन—नं० १ व नं० ४ में गन्धक-मल्ल का अधिकांश भाग उड़ जाने के कारण सिद्धौषधि में उसके अस्तित्व का प्रायः लोप तो हो जाता है, परन्तु संस्कारित गुण रहते हैं। वजन में वे अपना अस्तित्व नहीं बताते हैं। इसलिये नं० १में ५० ताले कज्जली से १३ तोले कण्ठलग्न रसायन तैयार होता है, नं० २ व ३ में घटने का प्रश्न ही नहीं है।

औषधि प्रामाण्य परीक्षण—नं० १ व ४ में रससिन्दूर जैसा कण्ठगत होता है और उसको पीसने पर लाल रङ्ग का भी वह होता है, परन्तु उसकी कठिनता व रूप में अन्तर होता है। माणिक्य रस से इसका साम्य है। नं० २ व ३ वजन में भारी और कड़े होते हैं, हथौड़ो के जोरदार घन से ही वे तोड़े जा सकते हैं, तोड़नेपर उसके कण बिखरजाते हैं, इसलिये वस्त्र में लपेट कर ही उसे तोड़ना चाहिये। इसका दर्शनी रङ्ग काला-नीला, स्पर्श में चिकना, शालिग्राम जैसा होता है। समीरपन्नग बनाते समय यह रङ्ग परिवर्तन होते रहते हैं। नं० २ में हम इन रंगों को देख सकते हैं, जब देखते-देखते रङ्ग केशरिया हो जाय तब अग्नि कुछ कम कर देना चाहिये और कूपी को मुद्रा लगा देना चाहिये, इससे इसका पाचन उत्तम होगा। नं० २ के अनुसार नं० ३ में औषधपाक के परीक्षण करने का मार्ग नहीं है, कारण रस बन्द स्थिति ही में तैयार होता है, इसलिये उसका परिणाम तो अन्त ही में देखा जा सकता है। नं० २ व ४ यह रसायन पक्व तैयार होती है, परन्तु नं० २ व ३ अगर अपक्व रह जाय तो कालान्तर में खराब हो जाती है, उनका रङ्ग परिवर्तन हो जाता है, रङ्ग ताम्राभ व प्रभाहीन हो जाता है,गोलक दरारे युक्त व कृष्णलवण जैसी गन्ध वाला होता है। इस प्रकार

के अपक्व समीर पन्नग का उपयोग नहीं करना चाहिये। इस प्रकार के अपक्व समीरपन्नग में सम भाग और गन्धक मिलाकर उसका कण्ठस्थ समीर पन्नग बना लेना चाहिये। समीर पन्नग का काठिन्य, रङ्ग, रूप, गन्ध, पैलू (कोण) यह इसकी कसौटी है, उसी प्रकार वह वजन में भी घन होना चाहिये यह भी परीक्षण की एक कसौटी है।

प्रकार तीसरा (उभयस्थ औषधियाँ)

त्रिपुरभैरव, स्वर्णसिंदूर, माणिक्य रस, स्वर्णराज वंगेश्वर।

एक प्रयोग में दो वस्तुओं की प्राप्ति होनेवाले कल्प इस वर्ग में गिने जाते हैं। प्रथम वर्णित तीन कल्पों में मुख्य औषधियां काँच कूपी के गले में लगी मिलती हैं व वंगेश्वर ताल में लगा मिलता है, त्रिपुर भैरव, स्वर्णसिंदूर, माणिक्य रस व वंगेश्वर के अन्य पदार्थ युक्तायुक्तता की दृष्टि से भिन्न होते हैं। त्रिपुर भैरव की तली में फिटकरी रहती है जो कि फूली हुई मिलती है। योग्य अग्नि दिया जाय तो स्वर्ण-भस्म रूप में मिलती है, कारण अधिक अग्नि देने पर स्वर्ण पुनः अपने रूप ही में मिलता है। माणिक्य रस में सीसा होता है जो कि गला हुआ मिलता है, कारण, सीसे का द्रावण व ज्वलनविन्दू से अधिक उष्णता माणिक्य रस को दी जाती है, यह सीसा सुरमें जैसा वजनदार, कठिन परन्तु भंगुर होता है, इसका क्या उपयोग किया जाय यह विचारणीय प्रश्न है। वंगेश्वर में कूपीकंठलग्न रससिंदूर मिलता है, यह पतली परत वाला और अल्प होता है, परन्तु इसे महालक्ष्मी विलास में डाला जा सकता है। फिटकरी, स्वर्ण, सीसा, सिंदूर इन पदार्थों को प्रोत्फुल्ल, सजीव, निर्जीव और भस्म नाम भी दे सकते हैं।

त्रिपुरभैरव, स्वर्ण सिंदूर और माणिक्यरस ये तीनों रसायन कूपी के गले में लगे मिलते हैं। इन सिंदूरों का रूप पृथक् पृथक् है, इनके काठिन्य, पैलूओं में तो अन्तर होता है परन्तु घिसने या खरल करने पर (घषर्णाद्रक्त वर्णम्) सब लाल रंग ही देते हैं, परन्तु इस लालिमा में भी सूक्ष्म अंतर दिखाई देता है और इसी अंतर से इनकी रंग भेद दर्शक संज्ञाएं निश्चित की गई हैं। ये संज्ञाएँ ५ प्रकार की हैं, प्राणिज, उद्भिज, खनिज, पार्थिव, और ग्रह।

प्राणिज	उद्भिज	खनिज	पर्थिव	ग्रह
इन्द्रजौ	केशर	हिंगुल	माणिक्य	अरुणा (तरुणारुण)
पतंग	केशर	हंसपाक		आदित्य
माक्षिक	पुष्प			(दीप्तादित्य)
मयूर पंख	वन्धूक पुष्प			

अरुण व आदित्य के पीछे विशेषता होती है। उदाहरण—तरुणारुणाभम्, दीप्यादित्य सन्निभम्।

यह विभिन्न रङ्ग की छटाएँ रासायनिक घटक द्रव्योंके कारण बनती हैं। उदाहरण फिटकरीके कारण त्रिपुरभैरवका भैरवके समान सिन्दूर व लाल उज्ज्वल रंग दिखाई देता है, नवसार के कारण लाल रङ्ग में कुछ कृष्णाभ छटा आ जाती है। रङ्ग भी यह औषधि की उत्तमता की उत्कृष्ट कसौटी है।

पाठ—त्रिपुर भैरव—वै. सा. सं. १६ प्रहर। ५फिटकरी, १ नवसार, १० हिंगूल, १० पारा, ० गन्धक, १० रस कर्पूर।

स्वर्ण सिन्दूर—र० यो० सा० ४ प्रहर, पारा, स्वर्ण, गन्धक समभाग निम्बू रस।

माणिक्य रस—र० यो० सा० १६ प्रहर, गन्धक १०, १० पारा, १० हरताल, १० मनसिल, १ सीसा।

फिटकरी की विशेषता—सर्वश्रुत है फिर भी बहुत कुछ भिन्न कार्य यह करती है। वस्त्र को पक्का रंग देना, चमकीला बनाने के हेतु, रंगनेवाले इसका उपयोग करते हैं। आर्यों का रसायनशास्त्र भी कल्पों का रंग उज्ज्वल व दृढ़ करने के लिये इसका उपयोग

करते हैं। वंगेश्वर का रंग भी इसी के कारण तेजस्वी बनता है। इसीलिये फिटकरी को पारदरंजनी, रंजना दृढ़रंगदा और दीप्ता कहा गया है। फिटकरी फूलती है इसलिये इसे फुल्लरी भी कहते हैं, यह कार्य वंगेश्वर में देखा जाता है।

ज्वाला दर्शन—फिटकरी जलते समय रंगीनज्वाला निकलती है, यह त्रिपुरभैरव तैयार होते समय दिखाई देती है सामान्यतः तीसरी अग्नि के समय यह ज्वाला स्पष्ट दिखाई देती है, यह दृश्य अंधेरी रात में बहुत ही सुन्दर दिखाई देतो है। स्वर्ण-सिन्दूर में स्वर्ण होता है इसलिये उसकी ज्वाला अंजीरी रङ्ग की दिखाई देती है, माणिक्य रस में मल्ल होने से ज्वाला नीले रङ्ग की दिखाई देती है।

शीघ्र जलकर उड़ने वाले और गले से लगने वाले नवसादर जैसा पदार्थ इसमें न होने से अगर क्रमशः अग्नि दी जाय तो शलाका की आवश्यकता नहीं होती है, फिर भी तप्तशलाका तैयार रखना चाहिये। सिन्दूर पूर्णतः कंठ में लगने पर कूपी की नली साफ लाल रङ्ग की दिखाई देती है, परन्तु यह स्थिति इन कल्पों में नहीं दिखाई देती है, कारण इसकी तली में पदार्थ रहते हो हैं। ग्रन्थानुसार तथा गुरु आज्ञानुसार अग्नि देने पर औषधि निर्विघ्न तैयार होती है।

औषधि प्रमाणानुसार कज्जली

त्रिपुरभैरव-कज्जली	४६ तोले	शेष तैयार	३५ तोले
स्वर्णसिन्दूर ”	४५ तोले	” ”	१० तोले
माणिक्यरस-”	५० तोले	” ”	१५ तोले

औषधि प्रामाण्य

१औषधि-	२ रूप	३ रंग	४ काठिन्य	५ गुरुत्व
त्रिपुरभैरव-	लाल	गहरालाल	कठिन	बजनदार
स्वर्णसिन्दूर-	कृष्ण पिंजर		सामान्य	”
माणिक्यरस-	मोरपंखी	माणिकवत्	कठिन	”

गुणधर्म

त्रिपुरभैरव—उपदंश व पक्षाघातादिवात विकार, विशेषतः वातविकार उपदंश जन्य हो तो उत्तम कार्य करता है।

स्वर्णसिन्दूर—उत्कृष्ट बल्य, वृष्य, वाजीकर है, उत्तेजक औषधियों में इसका आधार लिया जाता है।

माणिक्यरस—प्रमेह, शुक्रमेह, राजयक्ष्मा, कुष्ठ इत्यादि रोगों में स्तम्भक, बलदायक है, प्रथम १० दिन तक ही इसे देना चाहिये, अगर इसका कार्य-दृष्टीगोचर हुआ तो देते रहना चाहिये, अन्यथा बंद कर देना चाहिये।

प्रकार चौथा (उभयस्थ वंगेश्वर)

नामः—काचवर्ग सिन्दूर—इसे सिन्दूर न कहकर केवल वंगेश्वर ही कहा गया है, कारण वंग से यह तैयार किया जाता है, वंग यह प्रादेशिक नाम है, आज वंग यह चीन, तिब्बत से आता है, परन्तु पहिले इसकी उत्पत्ति या व्यापार वंग देश में होता होगा, आज का बंगाल ही पूर्व का वंग देश है, औत्तम्य दर्शन के लिये या श्रेष्ठत्व प्रतिपादनार्थ ईश्वर शब्दका प्रयोग किया जाता है, वंग के सभी कल्प प्रकारों में यह अत्युत्तम या श्रेष्ठ कल्प है, इसलिये इसे वंगेश्वर कहा गया है, वंगेश्वर के पहिले स्वर्ण यह उपपद भी लगाया जाता है, यह उसके रंगबोधक होने के नाते ही, सुनहरे रंग के समान अन्यरंग के वंगेश्वर को तत्तद्रंग बोधक नाम दिये जाते हैं। उदाहरण—कृष्णराज वंगेश्वर इत्यादि।

हेतु—यह धर्म अधिकाधिक साध्य करने के लिये विविध वंग कल्पों की रचना की गई है। श्रेष्ठ प्रकार के वंगेश्वर विधि के मूल-पाठ में सोरे जैसे पदार्थ का मूलभूत हेतुविरोधी पदार्थ का उल्लेख नहीं किया गया है। सोरा डालने को प्रथा बाद में लाई गई है। यह प्रथा उत्तम नहीं है।

वंगेश्वर के पाठ

क्रम	ग्रन्थाधार		अग्निप्रहर	पारा	वंग	गंधक	नवसार	ताल	सैंधव
१	र० यो० सा०	३३४	...	१	१	०	०	०	०
२	वंगेश्वर	३४४	१२	१	१	१	०	१	०
३	मृगांक	६१०	१६	१	१	१	१	०	१
४	प्रमेहसेतु	२७२	...	१	२	६	०	०	०
५	पीत मृगांक	१७३	४	१	१	१	१	०	०
६	भा० भै० र०	६९१९	....	१	१	१	०	०	०
७	भा० र० शास्त्र		...	६	१२	७	६	०	०
८	रस तरंगिणी		...	३	६	४	३	(सोरा १ तो०)	०
९	रस तरंगिणी		...	३	३	३	३	(सोरा ||| तो०)	०

द्रव्यशोधन—पाठ द्रव्यों की सामान्यशुद्धी करना यह तो रूढ़ भाग हुआ, परन्तु हेतु के ओर लक्ष्यकर शोधन गणों में वृद्धि भी की जा सकती है, शोधन से पदार्थ पर संस्कार होते हैं, कुछ गुणांतर भी होता है व कुछ औषधियों की शाररिक रचना में भी परिवर्तन होता है। उदाहरण—वंग शुद्धी।

शोधन गण

शोधन पदार्थ	रोगाधिकार	वंगधातु में होनेवाला परिवर्तन	तैयार वंगेश्वर का रंग
१ तैल	,, ,,	मुलायम व अनुलोमक होता है	तैलीय
२ तक्र	,, ,,	रुक्ष व स्तंभक होता है	निष्प्रभ व श्वेताभ
३ गौमूत्र	,, ,,	भंगुर व क्षरण होता है	आरक्त
४ निर्गुण्डीरस, हलदी	उपदंश व गलग्रन्थि	रुक्ष व लेखन होता है	हरा-पीला(दूर्वादल-श्याम)
५ भल्लातक	कुष्ठ, अर्श	मृदुवत्वप्रोगघ्न बनता है	काला (कृष्णराज)
६ धत्तूरबीज तैल	वाजीकरण	मृदु,शुक्रस्तम्भक बनता है	सुनहरी (स्वर्णराज)

प्रक्रिया—प्रथम पारद को द्रव वंग में मिश्रण करे। पश्चात इसे सैंधव युक्त जल से मलकर धोना चाहिये। जब मैल धुल जाय तब शुद्ध गंधक मिला कर कज्जली बनावे, अंतमें नवसार, सोरा, फिटकरी इत्यादि पदार्थ मिलाना हो तो मिलावे। कज्जली पुरानी बनी हुई खराब रहती है, वंगेश्वर के लिये कज्जली ताजी ही बनानी चाहिये। कूपी के एक तृतीयांश (कूपी के उदर के $\frac{1}{3}$ भागतक) भागतक ही कज्जली भरे, जिससे वंग को फूलने के लिये पर्याप्त स्थान मिले।

शलाका—इसमें नवसार होने से कूपी का मुख बंद होजाता है, इसलिये तप्तशलाकासे इसे खोलते रहना चाहिये, परन्तु शलाका चलाते समय कुछ बातों की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

(१) तप्तशलाका वंगेश्वर में न लगने पावे

(२) शलाका से छुड़ाया हुआ नवसादर वंगेश्वर में न गिरने देवे, (३) रससिन्दूर न जलने देवे, इसलिये कूपी के गले में गंधक या नवसादर लगने पर खडी कलछी से खरोच कर निकाल लेना चाहिये। इससे शलाका का काम भी कम होगा, छत्री (छत्ता) के तार से वंगेश्वर के परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

ज्वलन—अधिक अग्नि की आवश्यकता इसे नहीं होती है, मंद या मध्य अग्निपर यह तैयार हो जाता है, अर्थात अग्नि का ताप मान अधिक से अधिक ४७५ तक पर्याप्त होता है। तीक्ष्णाग्नि देने पर वंगेश्वर जलने लगता है, साधारण ८-९ घंटे में वगेश्वर तैयार हो जाता है।

औषधि प्रमाण गणन :—बहुधा वंग के वजन का ही वंगेश्वर तैयार होता है।

औषधि प्रामाण्य साधनः—वंगेश्वर में दुर्गन्ध आती हो तो वह अपक्व समझना चाहिये। अधिक अग्नि पर बना वंगेश्वर मैला-सा कड़े रंग का हो जाता है। वंगेश्वर का असली रंग आरक्त कांति युक्त-सुनहरा, तेजस्वी होना चाहिये। इसी रंग की प्राप्ति के लिये बहुत से इसमें सोरा डालते हैं, जिससे वह स्वाद में चरपरा लगता है। इसलिये इस प्रकार के स्वादवाले वंगेश्वर को १ प्रहर तक गुनगुने जल में डाल देना चाहिये, जिससे सोरा पानी में गलकर निकल जायगा, फिटकिरी के लिये भी यही धावन क्रिया काम में लाना चाहिये। बंगेश्वर उत्तम फूला हुआ हलका होना चाहिये, उसके कण सूक्ष्म होना चाहिये।

वंगेश्वर के पाठों में से ८ प्रकार लेकर उनपर प्रयोग किये। उसके कुछ अनुभव यहाँ दे रहा हूँ।

प्रकार नं० १-में केवल पारद और वंग ही हैं। तापमान २३५ के ऊपर जाते ही कूपीस्थ वंग द्रव होकर खदकने लगा, ४॥ घंटे अग्निदेने पर, स्वांगशीत होने पर पूर्ववत् मिला। पारद और वंग में अंतर प्रतीत नहीं हुआ, परन्तु पारद कुछ कम अवश्य हो गया था।

नं०२-पारा-वंग-सोरे से बनाया गया। पारा और वंग अलग-अलग मिला।

नं०३-पारा-वंग-गन्धक से तैयार किया गया। रंग में पीला बना पर फूला नहीं।

नं०४-पारा-वंग-गंधक-नवसादर से तैयार किया गया, रंग में पीला बन कर फूला भी अच्छा।

नं०५-पारा-वंग-गन्धक तथा नवसादर की जगह अमोनियम कार्बोनेट से बनाया। वंगेश्वर श्वेताभ बना, फूला भी नहीं अपितु कुछ सिकुड़ा अवश्य।

नं०६-क्रमांक ८ का पाठ उत्तम रहा। इसमें सोरा ।० तोला है, इसका प्रमाण ॥।० करने पर भी रंग में अंतर नहीं होता है। इसलिये सोरे का ।० यही प्रमाण रखा गया।

सभी प्रयोगों का निष्कर्ष

(१) पारद—वंग के कणों को सूक्ष्म करता है।

(२) गन्धक—पारद बन्धन, पीला रंग, वंगमारण का काम करता है।

(३) नवसादर—वंग को फुलाना, रससिंदूर को जल्दी उड़ाना व उष्णता मान नियंत्रित करता है।

(४) सोरा—पाचनगति बढ़ाता है, ताम्राभ घटा देता है।

(५) फिटकरी—वंगको फुलाती है, रंग की छटा उत्तम देती है, वंगेश्वर को हलका बनाकर फुलाती है।

(६) सैंधव—पारद वंग को निर्मल कर, वंगेश्वर में रक्तिमा लाता है।

(७) अमोनियम कार्बोनेट—वंग के फुलान को रोकता है।

(८) हायड्रोक्लोरिक एसिड—शुद्ध पारद लिया गया, गंधक व नवसादर अशुद्ध ही लिया गया, सोरा व फिटकरी न मिलाकर वंगेश्वर बनाया गया, रंगदार, हलका, फूला हुआ तेजस्वी बना परन्तु गुण के अन्तर की ओर भी ध्यान देना होगा।

हमारे अनुभव में गुण, खर्च, परिश्रम की दृष्टि से नं० ८ का पाठ प्रयोगसिद्ध श्रेष्ठ रहा। रसतंत्र विशारदों का सिंदूर कल्पों पर मेरे कुछ अनुभव व प्रयोगों को कार्य में लेकर तथा आवश्यकतानुसार संशोधन कर अपने संशोधन व प्रत्यक्ष प्रयोग सिद्ध अनुभव भी अवश्य प्रकाशित करना चाहिये।

(आ० मी० से०)

आसव और अरिष्ट

वैद्य गंगाधर शास्त्री गुणे आयुर्वेदपंचानन

❀

पुराने जमाने से आसव और अरिष्ट बनाने की प्रथा आजतक बराबर चली आ रही है। आसव और अरिष्ट के कई प्रकार हैं। चरक संहिता में इनके पुष्पासव, फलासव, सारासव आदि कई प्रकार दिये हैं। कषाय, पानी या रस इनमें कुछ समय तक मधुर द्रव्य और धातकी पुष्प मिश्रित करके रखने से मधुयुक्त द्रव्य तैयार होता है। उसे आसवारिष्ट संज्ञा दी गयी है। "आसुतत्वादासवः"। जो आसुत पद्धति से तैयार होता है, उसे आसव कहते हैं। यह रीति आगे दे रहे हैं।

आसवारिष्टके--(१) आसव, (२) अरिष्ट, (३) सीधू, (४) वारुणी, (५)सुरा, (६) मैरेय या शार्कर ऐसे भिन्न भिन्न प्रकार हैं।

(१) आसव—अपक्व ओषधि, मधुर द्रव्य और धातकी पुष्प पानी में मिलाकर कुछ समय तक ढककर रखने से जो द्रव्य सिद्ध होता है, उसे आसव कहते हैं।

(२) अरिष्टः--दवाइयों का कषाय करके उसमें मधुर द्रव्य और धातकी पुष्प मिला करके कुछ समय तक ढककर रखने से जो द्रव्य सिद्ध होता है, उसे अरिष्ट कहते हैं।

(३) सीधू—गन्ने का रस कुछ समय तक ढककर रखने से जो द्रव्य सिद्ध होता है, उसे सीधू कहते हैं।

(४) ताड़, माड़, खजूर, इन वृक्षों का रस मिट्टी के बरतन में संचित करते हैं। यह रस कुछ समय तक अम्ल होता रहा तो उसमें मद्योत्पत्ति होती है; इसे वारुणी कहते हैं। चावल के आटा के मद्य को भी वारुणी कहते हैं।

(५) सुरा—पके हुए अनाज से उत्पन्न हुए मद्य को सुरा कहते हैं। सुरा के चार प्रकार हैं। (१) गौड़ी, (२) माध्वी, (३) पैष्टी, (४) निर्यास। पैष्टि सुरा अनाज से तैयार होती है। गौडी सुरा गुड़ से, माध्वी शहद से, निर्यास फलरस से बनती है।

(६) मैरेय या शार्कर—आसव द्रव्य और सुरा द्रव्य मिश्र करके पानी और मधुर द्रव्य एक बरतन में कुछ दिन तक ढककर रखने से जो द्रव्य सिद्ध होता है, उसे "मैरेय" कहते हैं।

बबूल की त्वचा, बेर की त्वचा, पानी और मधुर द्रव्य मिश्र करके पूर्वोक्त विधि से ढककर तैयार किये हुए द्रव्य को "मैरेय" कहते हैं।

मद्य और आसवारिष्ट की जाति एक ही है। मद्य में केवल मद्यार्क (Absolute alcohol) और पानी रहता है। उसकी मात्रा अलग रहती है। आसवारिष्ट में औषधि द्रव्य, मद्यार्क और पानी रहता है। मद्यार्क का प्रमाण बहुत ही कम रहता है, मद्य मादक है, इसलिये लोग अधिक मात्रा में नहींपीते हैं। आसवारिष्ट के मादक गुण की अपेक्षा उसके औषधि गुण का उपयोग करना अधिक हितकर है।

इसलिये उसका सेवन मात्रा में ही करना चाहिये। आसवारिष्ट ज्यादा दिन तक रह सकते हैं। वे खराब नहीं होते क्योंकि उसमें मद्यार्क रहता है। मद्यार्क तैयार होते समय जो संयोग मूर्च्छा उत्पन्न होती है उसे "आसुत प्रक्रिया" कहते हैं। आसुत-प्रक्रिया किण्व से (yeast) पिष्ट और शर्करा में होती है। सुरा* और आसवादिक में इसी प्रक्रिया से मद्यार्क तैयार होता है। सुरा ऊर्ध्व नलिका (distillator) यन्त्र से वर्णहीन और साफ की जा सकती है। आसवारिष्ट को वैसे ही रखते हैं। उसे ऊर्ध्व नलिका यन्त्र से साफ नहीं करते। इसलिये वह साफ पानी की तरह स्वच्छ नहीं होता। गन्दा, विविध रंग का (वर्ण के) और अलग-अलग गन्ध का होता है।

आसवारिष्ट ज्यादा दिन तक अच्छे रह सकते हैं। क्योंकि उसमें मद्यार्क रहता है। मद्यार्क आसुत-प्रक्रिया से बनता है। आसुत-प्रकिया का ज्ञान मानव जाति को बिल्कुल आदिम युग में भी था। जंगली (पहाड़ी) जाति को भी पिष्ट से, शर्करा से, गुड़ से मद्य तैयार करने की प्रक्रिया मालूम रहती है। किन्तु उन्हें यह प्रक्रिया कैसी होती है, इसका शास्त्र मालूम नहीं है। आज तक कई अन्वेषक हो गये हैं जिन्होंने मधुर-मिष्टमय द्रव्य में मद्य संधान कैसा होता है इसके बारे में शास्त्रीय दृष्टि से विविध प्रकार का अन्वेषण किया है। किन्तु निश्चित रूप से यह इसी तरह बनता है यह कहना आज भी मुश्किल है।

आसुत-क्रिया का अर्थ है मधुर पिष्टमय द्रव्यों का मद्ययुक्त द्रव्य में परिवर्तित होना। आसुतक्रिया अम्लत्व को या द्रव्य परिवर्तन क्रिया को कहते हैं। यह क्रिया सेंद्रिय द्रव्यों में ही होती है। मधुर-पिष्टमय द्रव्य में अम्लत्व क्रिया एक विशेष प्रकार के जीवाणु से होती है। जिसे "यीस्ट" (yeast) कहते हैं। यीस्ट लम्बगोल और सूक्ष्माकार रहते हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता से ये दीखते हैं। विविध प्रकार के फूल, वृक्ष का मोहोर आदि में अधिक रहते हैं। ताड़ी के वृक्ष में ये अधिक हैं, इसलिये उसमें अम्लत्व पैदा होता है। ये नहीं हों तो ताड़ी अम्ल न रहेगी, किन्तु वह मधुर रहेगी। धातकीपुष्प में ये अधिक रहते हैं। गन्ने के रस के साथ ये खूब मिले होते हैं। "यीस्ट" को शेष वनस्पति की तरह खाद्य द्रव्य की आवश्यकता रहती है। इनका शर्करा भूयिष्ट और पिष्टमय द्रव्य खाद्यरूप है। कर्बाद्रमाणिक वायु की इनको जरूरत नहीं रहती।

शर्करा के ग्ल्यूकोज, फरक्टोज, मैनोज, और गैलेक्टोज ये चार प्रकार हैं। इनसे अम्लत्व आता है और इनकी अम्लत्व क्रिया से मद्यार्क और आसवारिष्ट तैयार होते हैं। सब में ग्ल्यूकोज शर्करा यीस्ट को अधिक भाती है। इसलिये पहले इसी पर यीस्ट का आक्रमण होता है।

अम्लत्व-क्रिया विशिष्ट उष्णतापमान में ही सम्यक् चलती है। सिर्फ ३०°-३५° उष्णता में यह क्रिया अच्छी चलती है। इससे यदि उष्णतापमान अधिकाधिक बढ़ता गया तो अम्लत्वकी क्रिया स्थगित होती है। अम्लत्व की क्रिया पहले तेज रहती है। आगे चलकर जैसे-जैसे मद्यार्क अधिकाधिक तैयार होता है, वैसे-वैसे यहक्रिया मन्द होती है। पन्द्रह से अधिक प्रमाण अलकोहलका होते ही उस द्रव्य

---

*दिनानि कतिचित्त्वं गुडादौ रक्षापयेद् भिषक्।
ततो विक्लित्तिमापन्नं यन्त्रैर्वानाडिकादिभिः।
विधि वत्स्रावयेदस्मादन्य पात्रे स्त्रुतं रसम्।
गृण्हीयात्सा सुराख्याता। वृद्ध शौनक संहिता॥

में कीटाणु जिन्दे नहीं रह सकते। इसीलिये अम्लत्व की क्रिया मन्द होती है, रुक जाती है। मधुर मिष्ट मय द्रव्य के विशिष्ट प्रमाण में पानी मिश्रित किया हो तो वह अच्छा अम्ल होता है। उससे अधिक प्रमाण में शर्करा या पिष्टमय द्रव्य पानी में मिश्रित किया जाय तो अम्लत्व क्रिया मन्द होती है और आखिर में रुक जाती है। इसलिये आसव और अरिष्ट तैयार करते समय शर्करा, गुड़, शहद आदि द्रव्य निश्चित मात्रा में लेने चाहिये। विषम मात्रा में द्रव्यों के होने पर आसव अच्छा नहीं होता।

अभी तक बहुत शास्त्रज्ञ हो गये, जिन्होंने आसुत प्रक्रिया रसायन शास्त्र के अनुसार कैसी होती है इसका संशोधन करने के लिये बहुत कोशिश की। किन्तु उनको अभी तक पूरा यश नहीं मिला। प्रत्येक शास्त्रज्ञों ने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। उन का सारांश यह है।

शर्करा पर यीस्ट क्रिया होती है। शर्करा परमाणु वियुक्त होती है। उसमें ग्लीसरल्डिहाइड और डाय हायड्रोक्सि असिटोन ये दो द्रव्य तैयार होते हैं। डाय हायड्रोक्सि अॅसिटोन पर फास्फेटस् की प्रक्रिया होकर संयोग मूर्च्छता से उसकी फिरसे वियुक्त होती है और ग्लिसरल्डि हाइड यह द्रव्य बनता है। इस द्रव्य से ग्लिसरीक अॅसिड फिर पायसन्हिक अॅसिड और उससे अॅसिटल्डिहाइड और कार्बन डायऑक्साइड ये तैयार होते है। असिटल्डि-हाइडसे मद्यार्क तैयार होता है। शर्करा वियोजन क्रियामें पायरुव्हिक असिड तैयार होने की एक अवस्था रहती है। यह सब शास्त्रज्ञ मंजूर करते हैं। किन्तु यह प्रथमावस्था में कैसा बनता है यह अभी तक अज्ञात है। परन्तु इसके आगे की प्रक्रियायें बहुधा शास्त्रज्ञों के मतानुसार हैं। कुछ शास्त्रज्ञों की राय से अॅसि-टल्डि हाइड और कॉर्बन डायअॅसिटल् हाइड और मिथाईल—ग्लायोक्सल ये द्रव्य बनते हैं और मिथाईल-ग्लायोक्सल से मद्यार्क बनता है। इसमें मिथाईल सेल नामक द्रव्य बनता है।

कुछ साक्षीभूत (catalytic reagents) द्रव्यों की सहायता से शर्करा वियोजन में असिटल्डि हाईड और फॉर्मिक असिड तैयार होते हैं और इन दोनों से आगे मद्यार्क और कर्बाम्ल प्राणिल तैयार होते हैं। आसुत प्रक्रिया में असिटल्डि हाईड और कर्बद्विप्राणिल ये तैयार होकर उनके संयोग मूर्च्छा से मद्यार्क बनता है। वह आसव और अरिष्ट में धीरे-धीरे मिल जाता है और आसव बन जाता है।

मद्यार्क जब आसव में मिलते हैं तो उस समय उसमें दवाइयों के प्रभावी द्रव्य धीरे-धीरे विद्रुत होते हैं औषधि के प्रभावी द्रव्य और शेष द्रव्य के आसव प्रक्रिया से आसवमें मिल जाने से वनस्पतिके अत्यन्त उपयुक्त और ज्यादा दिन रहने वाले कल्प बन जाते हैं। आसव में आसुत प्रक्रिया से कुछ रस ज्यादा प्रमाण में नष्ट हो जाते हैं। तिक्त रस बहुत ही कम होता है। वैसे ही कटु रस, मधुर कषाय ये रसअधिक प्रमाण में कम होता है। लवण रस और आसुत प्रक्रिया इनका मेल नहीं होता है। लवण द्रव्य में यीष्ट नहीं बढ़ते।

आसुत प्रक्रिया द्वारा अच्छे आसव बनने के लिये आसवारिष्ट तैयार करने के वक्त कुछ व्यवहारिक प्रक्रियात्मक बातों की तरफ अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से ध्यान देना चाहिये। उसके लिये नीचे दी हुई बातों की तरफ ध्यान रहे।

१—आसव के लिये पानी अत्यन्त स्वच्छ लें। पानी स्वच्छ न हो तो उसे उबाल कर, फिल्टरकर, वाष्पोदक लें। पानी में गंदगी हो तो आसुत क्रिया अच्छी नहीं होती।

२—अरिष्ट के लिये कषाय करना पड़ता है। इसके लिये मधुर पानी लें, लवणजल न लें।

३—क्वाथ के लिये आसव में मिलाने के लिये दवाइयाँ चूर्ण रूप में लें। चूर्ण मोटा हो, किन्तु महीन न हो। आसुत प्रक्रिया में घनता एक बड़ी रुकावट है। दवाइयों का (मोटा) चूर्ण क्वाथ करने के पहले एक दिन भिगोकर रखें। फिर क्वाथ के लिये आसव में मिलाने के लिये उसका उपयोग करें।

४—क्वाथ मंदाग्नि पर या बाष्प पर करें। उसे गरम रहते ही कपड़े से छान लें। क्वाथ अच्छा छान लें। फिर शेष द्रव्य अच्छा पीसकर लें। क्योंकि शेष द्रव्य में औषधि का बहुत अंश रहता है। क्वाथ शीत होने के बाद फिर उसमें मधुर द्रव्य मिलायें। प्रथमतः मधुर द्रव्य मिलायें। फिर शेष चूर्णादि मिश्रण करें।

५—गुड़ और शहद पुराना लें। धातकीपुष्प नये और ताजे लें। गुड़ काला, आम्ल, लवण या चिकीका न लें। पिष्टमय शर्करा की अपेक्षा स्वच्छ शर्करा लें। ताजे बाष्प को धोकर कूटकर लें।

६—सब का अच्छा मिश्रण होने तक मंथन करें।

७—आसव के लिये मिट्टी के, लाख के लोटे या घी से लपेटा हुआ मिट्टी का कोई बरतन लें। इन दिनों चीनी मिट्टी के बरतन या लकड़ी के पीपों का उपयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। बरतन को अच्छी तरह माँजकर उसमें जटामांसी, मिरच, चन्दन, अगरु, शर्करा आदि दवाइयों का धूम दें। इससे दूसरे जीवाणु होते हैं।

८—स्वच्छ बरतन में सर्वोषधि का मिश्रण करें। तुरन्त ही बरतन का मुँह ढांक दें। आसुत प्रक्रिया के दौरान में बरतन को धक्का न लगे। इसलिये बरतन की ३/४ जगह खुली रखें।

९—आसवारिष्ट तैयार होने के बाद प्रथमतः सब को अच्छा मिलाकर कपड़े से छान लें। उस पर थोड़ी देर से साय आती है। वह अलग छान लें। आसव चीनी मिट्टी के बरतन में रखें। आसव तैयार होने के बाद उसमें मद्यार्क का प्रमाण कितना है वह निश्चित करें। वह खराब नहीं होता। उसे अम्लत्व नहीं आता। आसव को गन्दगी आने लगी तो या अम्लत्व आया तो वह आसव अच्छा नहीं हुआ ऐसा समझें। इसमें आगे चलकर अम्लत्व क्रिया शुरु होने की संभावना रहती है। इस से आसवारिष्ट की बन्द की हुई बोतल के फूटने की आशंका होती है। इसलिये आसव उत्तम वर्णयुक्त और जिसका विशिष्ट गंध और विशिष्ट गुरुत्व होगा उसका ही उपयोग करें।

१०—आसवारिष्ट की विशिष्ट प्रक्रिया अच्छी होने के लिये ज्वरोष्मा विशिष्ट अंश तक चाहिये। इसलिये एक स्वतन्त्र जगह तैयार करनी पड़ती है। अनाज की राशि में रखने का कारण भी यही है। वर्षा ऋतु में आसवारिष्ट न करें। चीनी मिट्टी के बरतन या पीपे को सर्द हवा में या ठण्ड हवा में न रखें। क्योंकि उसमें आसुत प्रक्रिया अच्छी नहीं होती। हमेशा २४° ३४° से. ग्रे. ज्वरोष्मा आसव द्रव्य में रहना चाहिये।

११—शहद और गुड़ या शक्कर आसव में कितनी डालनी चाहिये इसके बारे में प्रत्येक विधि में कहा है। किन्तु जहाँ इस तरह का प्रमाण नहीं कहा होगा वहाँ—

अनुक्तमानारिष्टेषु द्रव द्रोणे तुलागुडम्।
क्षौद्रं क्षिपेद् गुडादर्धं प्रक्षेपं दशमांशकम्॥

इस श्लोक के अनुसार १०२४ तोला पानी में ४०० तोला गुड़ डालें। गुड़ का आधा शहद डालें। शेष द्रव्य दशांश मात्रा में लें।

अलग-अलग आसव में मद्यार्क का प्रमाण

आसवारिष्ट	में मद्यार्क का शतप्रमाण
(१) अभयारिष्ट	६
(२) अमृतारिष्ट	३.८
(३) अरविन्दासव	७
(४) अश्वगन्धारिष्ट	७
(५) अशोकारिष्ट	७.४
(६) उशीरासव	८ १
(७) कनकासव	४.८
(८) कुटजारिष्ट	८.१
(९) कुमारी आसव नं० १	६ ७
(१०) " " " २	५.३
(११) " " " ३	८ ८
(१२) " " " ४	८ ७
(१३) पर्पटाद्यरिष्ट	६ ८
(१४) पार्थाद्यरिष्ट	७.६
(१५) पिप्पल्यासव	७ २
(१६) पुनर्नवासव	६ ४
(१७) बब्बुलारिष्ट	४.६
(१८) भृङ्गराजासव	८.४
(१९) मधूकारिष्ट	७ ४
(२०) रोहितकारिष्ट	७.४
(२१) लोहरसासव	५.५
(२२) लोहासव	६.७
(२३) विडंगारिष्ट	७ ६
(२४) सारस्वतारिष्ट	४
(२५) खदिरारिष्ट	६.७
(२६) चविकासव	४.६
(२७) जम्बवासव	८.८
(२८) दशमूलारिष्ट	८ ७
(२९) द्राक्षारिष्ट	८.३
(३०) द्राक्षासव नं० १	७.२
(३१) " " २	८.३
(३२) सारिवासव	६.२
(३३) रक्तदोषांतक	४.७
(३४) शक्तिवर्धक	७.६
(३५) चन्दनासव	८.७
(३६) देवदार्व्यरिष्ट	८.६
(३७) दशमूलारिष्ट	७.७
(३७) पलाशपुष्पासव	८.१

आसव से अरिष्ट ज्यादा तेज रहते हैं। ये सेंद्रिय और बढ़ने वाले होते हैं। इसलिये सजीव शरीर में इनका शोषण जल्दी होता है और असर भी फौरन दीख पड़ता है। इसका काम भी भस्म और रसायन की तरह पुराने रोगों पर ज्यादा हाता है। आसव, अरिष्ट सिर्फ नये और तेज बिकारों में अचूक असर करते हैं। ये जितने पुराने होंगे उतना कम नुकसान करने वाले, गुण और वीर्य संपन्न होते हैं। इनकी गंध अच्छी रहती है। इनके बनाने की रीति में फर्क पड़ने से इन पर साड़ी जमती है और उनसे धुएं की सड़ी दुर्गन्ध आने लगती है। ऐसी दबाईयां बिलकुल नहीं लेनी चाहिये। इनके लेने से तन्दुरुस्त की जगह मरीज (बीमार) ही बनना पड़ता है। दवाइयां देखने में साफ, शुद्ध, चमकदार और पारदर्श होती हैं। दवा खरीदते वक्त इन सब बातों की तरफ जरूर ध्यान देना चाहिये। आसव, अरिष्ट मामूली तौर से दीपक, पाचक, मंदाग्निनाशक, भूख बढ़ानेवाले, मल शोधक और बीर्यबर्द्धक होते हैं।

रक्तार्श-चिकित्सा

वैद्य रणजितराय



चरक-संहिता में कहा है—

नवनीततिलाभ्यासात्, केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्।
दधिसरमथिताभ्यासात् अर्शांस्यपयान्ति रक्तानि ॥

च० चि० १४।२१०

—(१) मक्खन और तिल (२) नागकेशर, मक्खन और सितोपला (मिसरी) तथा (३) दही की मलाई का मथित (विलोकर बनाया द्रव्य)—इनके निरन्तर चिरकाल-सेवन से रक्तार्श नष्ट होता है।

राजमार्तण्ड में भोज ने भी ऐसे ही दो योग लिखे हैं—

यः संततं बिल्वशलाटुभोजी,
रक्तार्शसां नाशमसौ करोति।
कृष्णैस्तिलैर्मिश्रितमत्ति यो वा,
हैयङ्गवीनं सततामियुक्तः ॥

—पुरुष (१) निरन्तर चिरकाल कच्चे बिल्वों का, अथवा (२) कृष्णतिलसहित मक्खन का सेवन करे तो उसका रक्तार्श दूर होता है।

प्रथम पद्य में कहे नागकेशर के रूप में चिरकाल से वैद्य गोल बीज-विशेषका सफल उपयोग करते आये हैं। इन दिनों कई पण्डित वैद्यों का निर्णय हुआ है कि, यह नागकेशर यथार्थ नहीं है। वे केशराकार (सूत्रमय), पीतवर्ण, सुगन्धित द्रव्य-विशेष को नागकेशर कहते और व्यवहार में लाते हैं। प्रथम द्रव्य का उपयोग भी बुरा नहीं।

अर्श में रक्त-प्रवृत्ति विबद्ध मल से हुए घर्षण के कारण किंवा उष्ण द्रव्यों के सेवन से केशिकाओं के विदीर्ण होने से होती है। दोनों कारणों से हुई रक्त-प्रवृत्ति में उक्त सभी स्निग्ध योग उत्तम हैं। तिल स्निग्ध, मलवातानुलोमन, मलवर्द्धक तथा रक्त-संग्राहक है। मक्खन में इन गुणों के अतिरिक्त विदीर्ण केशिकाओं के सन्धान का गुण विशेष होता है। इसमें संप्राप्ति (रोगोत्पत्ति का स्वरूप) यह होती है। केशिकाएँ एक ही स्तर से बनी होती हैं। इनके घटक कोष अन्य कोषों के समान सीमेण्ट-तुल्य सन्धान-द्रव्य (अणु-श्लेष्मा)[1] से संयुक्त होते हैं। आयुर्वेद में जिन्हें उष्ण और रक्तप्रवर्तक कहा है, ऐसे द्रव्य इस श्लेष्मा को खा जाते हैं—विघटित कर देते हैं। परिणामतया, कोषों के मध्य द्वार हो जाने से रक्त इन मार्गों से प्रवृत्त होने लगता है। त्वचा की केशिकाएँ इस प्रकार विदीर्ण हों तो छोटी-छोटी सु-दृष्ट पिडकाएँ (फुन्सियाँ) हो जाती हैं। मक्खन आदि स्निग्ध द्रव्य अणु-श्लेष्मा को पुनः उत्पन्न करनेवाली सामग्री प्रदान कर केशिकाओं का सन्धान और परम्परा रक्त का स्तम्भन करते हैं।

गन्धक इसी प्रकार का उष्ण द्रव्य है। स्वादिष्ट विरेचन (पलव ग्लिसराइजा को०), जिसमें गन्धक भी डालता है, चिरकाल लेने से गुद से रक्त प्रवृत्ति होती है। गन्धक की शुद्धि में घृत और दुग्ध के

(शेषांश ३२८ पृष्ठपर)

१—Inter cellular material इन्टरसेल्युलर मैटीरिअल।

वीर्य रक्षा

वैद्य रवीन्द्र शास्त्री



स्वास्थ्य के साधनों में एक वीर्य रक्षा या ब्रह्मचर्य है। बल-तेज साहस पौरूष और शौर्य-वीर्य के ही नाम हैं तथा वीर्य रक्षा का मतलव है तेज और बल की रक्षा। समझदार व्यापारी अपने कोष को कभी खाली नहीं करता,—जिस गवर्मेण्ट का खजाना खाली हो जाता है उसकी धाक नहीं रहती और वह फेल हो जाती है। शरीर रूपी व्यापार के कोष को सुरक्षित रखने के लिये वीर्य रक्षा आवश्यक है—और इसी के ऊपर स्वास्थ्य और जीवन का दायित्व है।

जीवन संग्राम में विजयी होने के लिये दिल और दिमाग में बल होना चाहिये-भुजाओं में ताकत होनी चाहिये तथा मास्तिष्क में प्रतिभा होनी चाहिये। जिस मनुष्य के पास वीर्य रूपी धन है वह हमेशा सफल होता है - विजयलक्ष्मी उसका आलिङ्गन करती है। जीवन की सभी दिशाओं में पौरूष की आवश्यकता है। विना साहस के व्यक्तिगत जीवन में कोई आनन्द नहीं—बिना बल के दाम्पत्य जीवन में कोई मजा नहीं-और बिना तेज के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवनका श्रीगणेश ही नहीं हो सकता। छात्रों के लिये तो ब्रह्मचर्य अनिवार्य चीज है—बुद्धि और स्मृतिका स्रोत वीर्य रक्षा में ही तो है।

मानव जीवन की सभी सुखद कल्पनाएँ वीर्य हीन प्राणी के लिये व्यर्थ हैं—भौतिक और आध्यात्मिक जीवन की समस्त सुख शान्ति बल हीन के लिये आकाश कुसुम है। जिसके तन में बल नहीं - मन में साहस नहीं—और दिमाग में स्फूर्ति नहीं—उसकी जिन्दगी क्या कोई जिन्दगी है—वह समाज के लिये —और खुद अपने लिये भी असह्य भार है जिस का नष्ट हो जाना ही श्रेयस्कर है। धर्म और राष्ट्र का अभ्युदय—वीर्य शाली पुरुषों पर ही निर्भर रहता है जिस देश के मनुष्यों में वीर्य है—ताकत है वही देश वीरों का देश है, और संसार में रहने लायक है। वीर्य हीन राष्ट्र —संसार का विलास क्षेत्र बनता है; —उसके युवक पददलित और परास्त होकर, विजेता राष्ट्र की गुलामी करते हैं। निर्बल देश —केवल विजेता राष्ट्र का उपभोग साधन मात्र होता है:—उसका कोई धर्म नहीं होता,—कोई कर्तव्य नहीं होता, और उसमें कोई पौरूष का उत्साह नहीं होता।

शरीरशास्त्र की दृष्टि से वीर्य शरीर का प्रधान तत्व है —राजा है। वीर्य सृष्टि का उत्पादक, शक्ति का स्रोत और साहस का उत्पादक स्थल है। वीर्यके बिना गर्भकी रचना नहीं हो सकती, शक्तिऔर साहस का उद्भव नहीं हो सकता—और न वीर्य के अभाव में किसी कार्य की प्रेरणा ही होती है। हमारे जीवन की सबसे कीमती वस्तु वीर्य है—कीमती ही नहीं अमूल्य भी है। वस्तुतः शरीर और जीवन का अस्तित्व ही वीर्य के ऊपर है—शरीर में से यदि वीर्य निकाल लिया जाय तो वह निर्जीव वस्तु है।

'बलेन पृथ्वी तिष्ठति-बलेनान्तरिक्षम् वीर्यमेव

बलम् बलमेव वीर्यम्' बल से पृथ्वी ठहरी है--आकाश भी बल से ही ठहरा हुआ है, वीर्य ही बल है, और बल ही वीर्य है।

इस शक्ति स्रोत-साहस स्वरूप-तेजपुञ्ज के निर्माण का इतिहास भी विचारणीय है। भोजन से वीर्य बनता है, और प्रति दिन ही बनता है! १ दिसम्बर को हम जो खाना खाते हैं—उसका वीर्य ३ दिसम्बर को तैयार होता है। खाया हुआ भोजन पहिले आमाशयमें पहुंचता है, वहाँ उसकी पचन क्रिया प्रारम्भ होती है पच्यमान पदार्थ फिर पक्वाशयमें जाता है, जहाँ उसका सम्पूर्ण शोधन होता है। भोजन का शुद्ध अंश रस बन जाता-और विजातीय द्रव्य मल-और मूत्र के रूपमें-मलाशय और मूत्राशय में पहुंच-जाता है—जहां से गुदा और गुप्तेन्द्रिय के रास्ते बाहर निकलता है। शुद्ध अंश रस भी जठराग्नि में पकता है, और रक्त बन जाता है। इस तरह रक्त से मांस, मांस से मेदा,मेदासे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जा से वीर्य बनता है।

रसाद् रक्तं ततो मांसम्—मांसान्मेदः प्रजायते
मेदसोऽस्थि ततो मज्जाम यज्जायाः शुक्र संभवः।

रस बनने के बाद उसका रक्त बनने में पूरे पांच दिन १३ घड़ी का समय लगता है इसी तरह रक्त से मांस और मांस से मेद बनने में—अगला क्रम भी यही रहता है

धातौ रसादौ मज्जान्ते प्रत्येके क्रमतो रसः
अहो रात्रास्त्वयं पंच सार्ध दण्ड च तिष्ठति।

वैज्ञानिकों की धारणा है कि ४० सेर अन्न से एक सेर रक्त बनता है, और एक सेर अन्न से २ तो० वीर्य। हमारे आजकल के नौजवानों के लिये १ सेर अन्न खाना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। आध सेर अन्न रोज खाने से २ महीने २० दिन में २ तो० वीर्य बनता है,। २ मास ३ सप्ताह के भोजन का यह तात्विक अंश २ तो० वीर्य कितनी कीमती चीज है यह सहज ही समझ में आने की बात है।

हिन्दू धर्म ने ब्रह्मचर्य के महत्व को अच्छी तरह समझा था,—समझ सोचके ही एक मास के बाद स्त्री सहवास का विधान बनाया गया था। एक मास में वीर्य तैयार होता है और प्रतिमास स्त्री रजस्वला होके शुद्ध हो जाती है। वीर्यशाली पुरुष,--और ऋतुस्नात स्त्री के सहवास से गर्भ की रचना होती है,—फिर जबतक गर्भ की सन्तान दूध पीती है, और स्त्री फिर से रजस्वला नहीं होजाती पुरुष के लिये स्त्री सहवास करना निषिद्ध रहता है। इस तरह कहीं दो साल बाद स्त्री सहवास का समय मिलता है।

संसार में तीन बल हैं—शरीर बल—ज्ञानबल और मनोबल। ज्ञान तथा मनोबल का आधार है शरीरबल। शरीर में बल-वीर्य होने से ही प्रतिभा का विकास होता है, और तभी मनोबल की वृद्धि होती है। बलहीन छात्र क्या तो पढ़ सकता है और क्या उन्नति कर सकता है? वीर्य शरीर का राजा है और यही सारे शरीर में यौवन का संचार करता है। वीर्यवान पुरुष हमेशा जवान रहते हैं—उनकी ज्ञानेन्द्रियां उनके अधीन रहती हैं और भीष्मपितामह की तरह वे मृत्यु के ऊपर भी शासन कर सकते हैं। जिस शरीर में वीर्य का संयम नहीं है वह रोगों का क्रीड़ास्थल बना रहता है, यौवन तो उसमें मानो आता ही नहीं—जवानी में ही बुढ़ापा आ जाता—चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती और आँखें खड्डे में घुस जाती हैं। विना ब्रह्मचर्य के स्वास्थ्य नहीं रह सकता और जो ऐसा समझते हैं वे जड़ काट के पत्तों में पानी देना चाहते हैं। मक्खन निकाले हुए दूध

या रज निकाले हुए जनों में जो तत्व रहता है वही वीर्य से खाली शरीर में है।

राष्ट्र—देश में शासन और व्यवस्था के लिये राजा की आवश्यकता हैं,—विना राजा का राज्य उच्छृङ्खल और पददलित होता है--इसी तरह निर्बल--निर्वीय राजा का राज्य भी सुसंस्कृत और सबल नहीं हो पाता,—राजा की कमजोरी की वजह से राज्य में कई प्रकार के उपद्रव होते और कोई भी बलवान् राजा उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर देता है। ठीक यही दशा हमारे शरीर की है,—शरीर देश हैं और वीर्य उसका राजा। वीर्य रूपी राजा के होने पर शरीर स्वस्थ और तगड़ा होता है,—किन्तु जब वीर्यराजा--रोगाक्रान्त हो जाता या उसका अभाव हो जाता है, तो शरीर रूपी देश पर रोगों का आक्रमण होता और मौत उस पर अधिकार कर लेती है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षतिः

ब्रह्मचर्य के बल से राजा राष्ट्र की रक्षा करता हैं—और वीर्य रक्षा से शरीर-राष्ट्र व्यवस्थिति और स्वस्थ रहता है—उसके ऊपर कायरता-और रोगों का आक्रमण नहीं हो पाता।

शेषांश] रक्तार्श-चिकित्सा [३२५ वें पृष्ठ का

प्रयोग का तथा अनुपान में भी इन्हीं द्रव्यों के सेवन का अर्थ इस व्याख्या से समझा जा सकता है। शुद्धि का सामान्य अभिप्राय भी इसीसे व्यक्त हो सकता है कि आयुर्वेद में शुद्धि द्वारा केवल भौतिक मलिनता का ही नहीं, किन्तु द्रव्यों के अवगुणों का भी परिहार किया जाता है।

शर्करा को शीत कहा गया है। इनकी नव्यमतानुसार कुछ व्याख्या की जा सकती है। स्नेह द्रव्यों का शरीर द्वारा पूर्ण उपयोग हो सके इसके लिए शर्कराओं की आवश्यकता अनिवार्य है। शर्कराओं की विद्यमानता में स्नेहों का परिपाक धातुओं में पूर्णतया होता है। अन्यथा, विशेष अम्ल द्रव्य बनते हैं[1]। कहा नहीं जा सकता ये अम्ल द्रव्य अन्य उष्ण द्रव्यों के समान रक्तप्रवर्तक हैं या नहीं? यह भी कहने के लिए नव्यमत से कोई आधार नहीं कि इन अम्ल द्रव्यों के सिवाय अन्य उष्ण द्रव्यों को पक्व कर मल रूप में परिणत कर शरीर से बाहर कर देने में शर्कराएँ कारणभूत हैं या नहीं। यह विदित हो जाय तो आयुर्वेद में शर्कराओं को शीत कहा है उसका अर्थ कुछ अधिक अवगत हो सके।

उष्ण, अतएव अर्शस् में रक्तप्रवर्तक, अन्य द्रव्य क्वीनाइन, गुड, मिर्च आदि हैं, जिनका अनुभव चिकित्सक, रोगी आदि को होगा।

स्नेहों तथा तिलों का इस रोग में अन्य प्रकार से भी प्रभाव होता है। ये अन्त्रों की कला को उपलिप्त कर देते हैं, जिससे परिपाक की क्रिया में उत्पन्न विकारी द्रव्यों का सम्बन्ध कला तथा उसकी केशिकाओं से नहीं होने पाता। परिणामतया, उनकी क्षति नहीं होती। प्रवाहिका में ईसबगोल आदि की यही क्रिया होती है।

१—इस स्थिति को Acidosis—एसीडोसिस, Acidaemia—एसीडीमिया, या इन अम्लों का नाम 'कीटोन' होने से Ketosis—कीटोसीस कहते हैं।

कचनार, चम्पा और कनक चम्पा

श्री भानु देसाई



कचनार

इस ओर गुजरात-महाराष्ट्र में घरों में जिसके पत्तों की बीड़ी बनायी जाती है तथा जिसके हिन्दी में सरहटा आदि, मराठी में आपटा आदि, गुजराती में असिंदरो, आशेत्री आदि तथा संस्कृत में कदाचित् अश्मंतक नाम हैं, उसीकी[1] जातिका एक वृक्ष कचनार या कोविदार भी है। नवीन उद्भिद विद्या के अनुसार इस जाति में कोई १५० उप-जातियाँ हैं। इनमें बड़े वृक्ष, छोटे क्षुप (पौधे) और लताओं का समावेश है। पलाश (ढाक) के समान कोविदार का भी एक लताकार भेद होता है, जिसे वल्ली-कोविदार कहते हैं। उक्त जातियों के सब उद्भिद द्विपर्ण और पाँच पंखड़ियों के फूलों वाले होते हैं। पराग-दण्ड एक से दस होते हैं। यथार्थतः संख्या इनकी दस ही होती है, परन्तु कई दण्ड अपरिपुष्ट होने से संख्या न्यूनाधिक दृष्टिगत होती है। सभी जातियों में शिम्बी (फली) लम्बी और चपटी होती है, जिसमें चपटे बीज होते हैं। इन डेढ़ सौ जातियों में भारत में कम से कम बीस जातियां होती हैं। इसके सिवाय सुन्दर फलों की कई जातियाँ विदेशों से लाकर उद्यानों में लगाई गयी हैं।

आधुनिक उद्भिद् वेत्ताओं ने गवेषणा करके इतनी जातियों का पता लगाकर प्रत्येक का विशद वर्णन किया है, परन्तु हमारे पण्डित या वैद्य अब तक इस जाति के परिगणित भारतीय वृक्षों के विषय में भी एकमत नहीं हो पाये हैं। परिणामतया, काञ्चनार कोविदार, अश्मन्तक, यमलपत्रक, सिरहटा आदि नाम अब भी संदिग्धावस्था में पड़े हैं। कारण, प्राचीनों के दिये वर्णन स्पष्ट हैं तथा आयुर्वेद में इनके जो गुण दिये हैं वे भी उस नाम से प्रसिद्ध वृक्षों में प्रत्यक्षोपलब्ध नहीं होते।

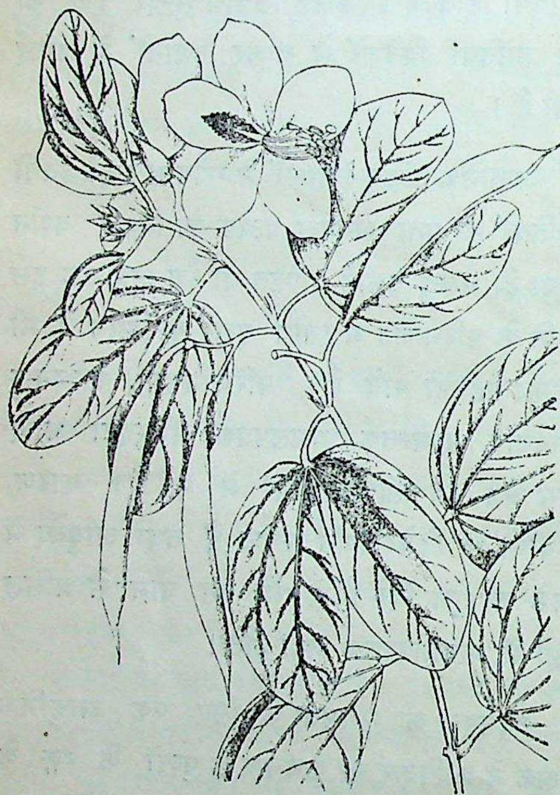
व्यवहार की सुगमता के लिए एक आधुनिक लेखक ने कोविदार या कचनार के पुष्पों के रङ्ग के भेदानुसार श्वेतपुष्प कोविदार, रक्तपुष्प कोविदार, पीतपुष्प कोविदार आदि भेद किये हैं जो अभिनन्दनीय और सर्वत्र प्रचलित करने योग्य हैं। यों, एक ने अपने यहां चम्पा नाम से प्रसिद्ध पौधा होते हुए भी श्वेत फूल का चम्पा, पीले फूल का चम्पा आदि संशय-वर्धक संज्ञाएँ प्रस्तुत की हैं, जो ठीक नहीं।

कचनार की अनेक जातियों में मुख्य दो का वर्णन इस लेख में करेंगे।

---

[1]—स्मरण रहे, इधर बाजारों में जिन पत्तों की बीड़ी बनाई जाती है वे 'टिम्बरू' के होते हैं। इसे संस्कृत में कालस्कन्ध (तना काला होने से) या तिन्दुक तथा हिन्दी में तेन्दु कहते हैं। इसके, तुलसी के तथा एक अन्य उद्भिद के पत्तों की राख इधर निम्न श्रेणी के कई लोग बच्चों के वास (डब्बा) में देते हैं। संभवतः इनमें कफघ्न गुण हो और इसीसे बीड़ी में भी इनका उपयोग किया जाता हो।

जामुनी कचनार का उद्भिद् विद्या में "नाम बोहीनिया पटपुरिया" है। यह मध्यम ऊँचाई का, घनी शाखाओंवाला और लगभग बारहों मास हरा रहनेवाला वृक्ष है। इसकी त्वचा मोटी, कुछ मुलायम और धूसर या कत्थई रङ्ग की होती है। पत्ते दो-दो संयुक्त उपपत्रोंवाले और सिरे पर अणीदार होते हैं। इनकी आकृति ऊँट के पैर से खूब मिलती है।



कचनार (लाल)

इस कचनार के जामुनी सुगन्धि फूलों के छोटे गुच्छ शाखाओं के सिरे पर लगते हैं। इनका पुष्पावरण छोटे परन्तु मोटे दो दलों से बना होता है। फूलों में श्वेत या जामुनी रंग की पाँच पंखड़ियाँ होती हैं। कई जातियों में चार पंखड़ियाँ श्वेत और एक जामुनी चित्तियोंवाली होती है और उसमें तीन या चार पराग-दण्डिकाएँ होती हैं। शिम्बियाँ छः से दस इञ्च लम्बी होती हैं। उन्हें वृक्ष पर ही सूखने दें तो वे फट जाती हैं और बीज बहुत दूर तक उड़ जाते हैं। अतः बीज संग्रह करने के लिये फलियाँ सूखने लगे इसके पूर्व ही वृक्षों से उतार लेनी चाहिये।

इस वृक्ष पर सुन्दर फूल सितम्बर से नवंबर तक लगते हैं। फलियाँ जनवरी से मार्च तक पकती हैं। ये फूल अति सुगन्धित होने से मधुमक्षिकाओं की भनकार सर्वदा उनके आसपास सुनाई देती है। पत्ते मार्च-अप्रैल में झड़ जाते हैं और कुछ काल को वृक्ष पत्र-हीन रहता है।

इस वृक्ष की त्वचा से रङ्ग निकलता है, जो चमड़ा रङ्गने के काम में भी आता है। त्वचा से रेशे निकाल कर रस्सी आदि बनायी जाती हैं। फूलों की कलियों के अचार, चटनी आदि बनाये जाते हैं। पत्ते पशुओं को चारे के रूप में खिलाये जाते हैं।

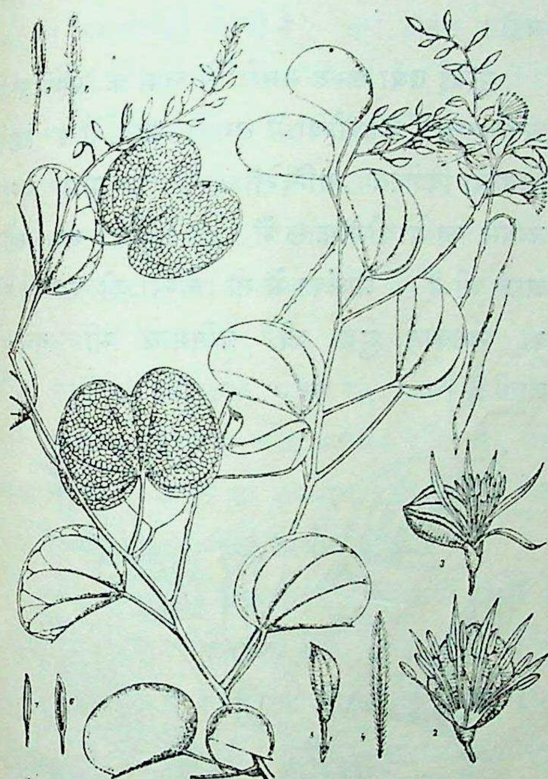
जामुनी कचनार की लकड़ी साधारण कठिन होने से उपकरण बनाने तथा इमारती काम में व्यवहृत होती है।

प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में इस जाति के कचनार की छाल का रस त्वचा के व्रण धोने में उपयोगी कहा गया है। फूल विरेचनार्थ तथा छाल और फूलों का स्वरस फोड़ोंपर प्रयुक्त होता है। त्वचा का व्यवहार अतिसार में भी होता है। सुनते हैं, इसकी मूलत्वक् अति विष होने से उसका भूल से भी औषध रूप में व्यवहार न करना चाहिये।

जामुनी कचनार किसी भी देश में सुगमता से उग सकता है। इसका रोपण बीज से पौधा तैयार करके किया जाता है। शोभा के अन्य वृक्षों की अपेक्षया इस जाति में फूल बहुत शीघ्र आते हैं।

रंग-विरंगी कचनार का उद्भिद्-विद्या में नाम बोहीनिया वेरीगेटा है। इसमें फूल श्वेत या जामुनी

रंग के आते हैं। परन्तु पत्तों के स्वरूप से ही दोनों कचनारों का भेद स्पष्ट देखा जा सकता है। शीत ऋतु में इस जाति के कचनार के पत्ते झड़ जाते हैं। अन्य जाति के कचनारों की अपेक्षया इसके पत्तों-पर ९ से ११ शिराएँ उभरी होती हैं। इसके सिवाय जामुनी कचनार में जब बीज की कुप्पियाँ लगी होती हैं तब इसे फूल आने लगते हैं। इस कचनार में



कचनार (सफेद)

फूल की पंखड़ियाँ चौड़ी होती हैं और उनका रङ्ग श्वेत या जामुनी होता है। कईबार चार पंखड़ियाँ हलके जामुनी रंग की और एक गाढ़े जामुनी रंग की होती है। कईबार इसके गुलाबी रंग के पौधे भी पाये जाते हैं। जब फूल आते हैं, उस काल वृक्ष के समस्त पत्ते झड़ गये होने से सारा वृक्ष बहुत ही रमणीय लगता है। जनवरी के अन्त से कोई मार्च तक इस वृक्ष के शोभा बहुत मनोहर होती है। मधुमक्षिकाओं को इसकी गन्ध बहुत आकृष्ट करती है।

इसकी त्वचा आदि का उपयोग भी जामुनी कचनार के सदृश ही होता है। विशेषतया त्वचा विकारों में अथवा व्रणों में रोपणार्थ होता है। कण्ठ-माला में तथा जीर्ण रक्तविकारों में इसका योग 'काञ्चनार-गुग्गुलु' वैद्यों में सुप्रसिद्ध है। छाल का चूर्ण तण्डुलोदक में घिसकर २ से ४ तोला, किंवा छाल केक्वाथ में शुण्ठी चूर्ण मिलाकर देने का भी गण्डमाला में विधान है। अजीर्ण रोगों में भी इसके अंगों का व्यवहार होता है। इसे अधिक मात्रा में देने से अतिसार और वमन भी हो सकता है।

इस सुन्दर वृक्ष का आरोपण सर्व भूमियों में हो सकता है। विशेषतया पर्वतीय और शुष्क प्रदेशों में इसकी लाग बहुत अच्छी होती है। इसकी फलियाँ वृक्षपर लगी-लगी ही सूख जानेपर फट जाती हैं और बीज बिखर जाते हैं। इसलिए बीजों के संचयार्थ पकी हुई फलियाँ सूखने के पहले ही उतार कर टोकरी अथवा ऐसे ही किसी ऊँची किनारीवाले बर्तन में सुखा लेनी चाहिये।

इस गुलाबी, श्वेत और फीके जामुनी रंगों के फूलोंवाले कोविदार का तथा उसकी अन्य जातियों का भारत में यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ है। यह वृक्ष कहीं भी उग सकता है तथा इसमें फूल भी जल्दी फूटते हैं अतः उपवनों के लिए यह विशेषतः उप-योगी है।

चम्पा

फूलों की मादक गन्ध के कारण सुविदित एवं 'असली चम्पा' तथा संस्कृत में 'चम्पक' नाम से प्रख्यात इस पौधे को कौन नहीं जानता होगा?

संस्कृत कवियों में प्रसिद्ध है कि भौंरा चम्पा के फूल के पास नहीं जाता। इस विषय के अन्य सुभाषितों के अतिरिक्त यह पद्य पण्डितों में बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें चम्पा को आश्वासन दिया गया है —

यन्नादृतस्त्वमलिना मलिनाशयेन
किं तेन चम्पक विषादमुरीकरोषि।
विश्वाभिराम नवनीरदनील वेशाः
केशाः कुशेशयदृशः कुशलीभवन्तु॥

—मन्दबुद्धि भ्रमर तेरा आदर नहीं करता, इससे खिन्न होना उचित नहीं चम्पक! इस कमलनयनियों के लिए सौभाग्य की ही बात मान नव जलधर से श्यामल केशपाश की शोभा बढ़ाने के हेतु वे तुझे गूँथेंगी तो भ्रमर उनके पास जायगा नहीं, उन्हें त्रास देगा नहीं।

चम्पा के पौधे मध्यम ऊँचाई से लेकर खूब ऊँचाई तक बढ़ते हैं। समुद्र की तलहटी के नम वायुमण्डल से आबू जैसे पर्वतों के शुष्क और शीत वायुमण्डल में भी यह सुगमता से होता है। कई स्थानों पर तो चम्पा के वृक्ष सौ फुट ऊँचे भी पाये गये हैं।

चम्पा का पौधा सर्वदा हरा रहता है। इसकी छाल मुलायम और धूसर वर्ण की होती है। पत्ते चिकने और आकार में आम के पत्तों से मिलते-जुलते होते हैं। उगते हुए पत्तों की फुनगियों पर आवरण-सरीखे छोटे छोटे पत्ते होते हैं। फुनगियाँ ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती हैं त्यों-त्यों ये पत्ते झड़ते जाते हैं। चम्पा के तीव्र सुगन्धवाले, पकने पर सुनहरे फूल, पत्तों और शाखा के सन्धिस्थल से अलग-अलग निकलते हैं। फूल गहरे पीले अथवा फीके पीले होते हैं। परन्तु इसके एक उपभेद में फूलों का रंग श्वेत भी होता है। श्वेत चम्पा का पौधा कलकत्ता में है।

चम्पा के फल देखाव में एक सुतली में गोल बड़े मनके एक ही स्थान पर लटकाये हों ऐसे प्रतीत होते हैं। ये फल एक ही फूल से निकलते हैं। उनमें लाल अथवा नसबारी रंग के बीज तन्तुओं पर लटके होते हैं। कई चम्पाओं में फूल गिरने के बाद इतनी बड़ी संख्या में फल आते हैं कि उन्हें पुष्ट करने में हुए श्रम के कारण वर्षों तक फिर फूल आते ही नहीं।

मुम्बई तथा अन्य नगरों में चंपा के पौधे प्रायः प्रत्येक बङ्गले के बगीचों में लगाये जाते हैं। इसके सिवाय, विशेषतः मन्दिरों के आस-पास चम्पा लगाने का प्राचीन काल में बहुत महत्व था, और आज भी है। श्रीलंका में तो चम्पा की लकड़ी की की भगवान् बुद्ध की प्रतिमायें भी बनायी जाती हैं।



चम्पा Michelia Nilagirica

चम्पा को अप्रैल में फूल आने लगते हैं। इसके बाद प्रति ग्रीष्म ऋतु में फूल आते हैं तथा वर्षा के

अन्त तक फूलों की बहार आती ही रहती है। पीले अथवा सोनचम्पा में मार्च महीने में नये पत्ते फूटने लगते हैं। परन्तु इसके श्वेद भेद में ग्रीष्म ऋतु में पत्ते निकलते हैं।

चम्पा की लकड़ी ऊपर से श्वेत तथा अन्दर से कत्थई (नसवारी) रङ्ग की होती है। घड़ने में यह नरम लगती है, पर बहुत टिकाऊ होती है। पॉलिश भी इस पर अच्छी बैठती है। इस कारण फर्नीचर बनाने एवं नौका तथा ढोल बनाने में, इमारतों में, फट्टे उपयोग होता है। जिन देशों में वहमों पर बहुत विश्वास किया जाता है उनमें चम्पा की लकड़ी राजा-रईसों के व्यवहार में आती है अथवा पवित्र होने से इसका सर्वथा उपयोग नहीं किया जाता।

चम्पा के फूल और फल, कहते हैं, खाये जाते हैं। फूलों को उबालकर पीला रङ्ग निकाला जाता है। सुगन्ध, सौन्दर्य और आर्थिक दृष्टि से जैसे चम्पा के सभी अङ्गों का उपयोग होता है वैसे वैद्य-कर्म में भी उनका पुष्कल उपयोग होता है।

चम्पा की छाल विषमज्वर तथा 'पर्वतीयज्वर में प्रयुक्त होती है। उपदंश, व्रण, गण्डमाला, योनि-दौर्गन्ध्य आदि में भी इसकी छाल का प्रयोग होता है। छाल का रस कटु (तीखा , कषाय तथा कुछ तिक्त (कड़ुआ) है। इसमें सुगन्धित, उड़नेवाला तेल होने के कारण वैद्य इसका क्वाथ बनाने के स्थान पर चूर्ण रूपमें ही उपयोग करते हैं। बल्य (शक्ति-वर्धक) औषध के रूप में भी इसका प्रयोग होता है।

सुनते हैं, चम्पा के मूल की छाल से वन्ध्यात्व नष्ट होता है। वैद्यजन चम्पाके फूलों का उपयोग आमवात (रुमेटिज़्म) तथा कफज रोगों में करते हैं। चम्पा से निकलने वाले सुगन्धित तेल से संधिवात नष्ट होता है। फल और बीज तलुओं पर घिसने से विपादिका (बिवाई) में लाभ होता है।

चम्पा हिमालय की उपत्यका (तराई) से श्रीलंका पर्यन्त सब प्रकार के वायुमण्डल में होता है। इसकी अभिवृद्धि बीज बोकर की जाती है। बीज यथा-शक्य ताजे ही लेने चाहिये। श्वेत चम्पा के बीज ही नहीं होते। अतः इसकी अण्टा-कलम (गुटी) लगायी जाती है।

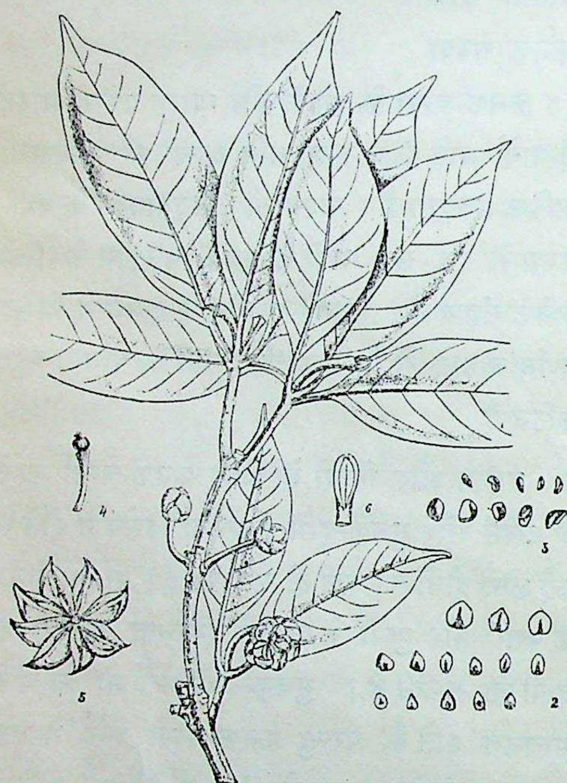
कनक-चम्पा

कनक-चम्पा के वर्ग के कोई ग्यारह प्रकार भारत में पाये जाते हैं। इनमें तीन अन्यों की अपेक्षया अधिक प्रख्यात हैं। पाश्चात्य उद्भिद्वेताओं के वर्गी-करण में इन सब भेदों के पृथक् परिज्ञान के लिये अनेक संज्ञायें हैं। हमारे प्राचीन वाङ्मय में विशद वर्णन न होने से विभिन्न उद्भिदों का पहचानना बहुत कठिन है।

वङ्गला और हिन्दी में जिसे कनक-चम्पा कहते हैं उसमें और मुचकुन्द में भिन्नता विशेष न होने से कई लोग दोनों को एक ही समझते हैं। परन्तु दोनों के पत्तों और पुष्पों में पर्याप्त भिन्नता सरलता से देखी जा सकती है। मुचकुन्द के पत्ते भी नीचे से मुलायम होते हैं, परन्तु कनक-चम्पा जैसे झालर-दार नहीं होते। फूल दोनों के ही बड़े-बड़े होते हैं, पर कनक-चम्पा के फूल कोई पाँच इञ्च लम्बे होते हैं। सामान्यतः, पुष्पयुक्त बड़े वृक्षों में सबसे बड़े फूल कनक-चम्पा के होते हैं यह कहना असत्य नहीं कहा जा सकता।

दोनों के फूलों में गन्ध भी समान ही होती है, परन्तु पंखड़ियों में भेद होता है। मुचकुन्द के फूलों की पंखड़ियाँ चौड़ी होती हैं, कनकचम्पाकी पाँचों पंखड़ियाँ सकरी होती हैं, मुचकुन्द के फूल कुछ पीलापन लिए होते हैं, कनकचम्पाके श्वेत। दोनों के फूल मुलायम और नसवारी रंग की रोमावली वाले होते हैं।

कनकचम्पाकी ऊँचाई मध्यम होती है। कभी-कभी वह अधिक ऊँचा भी होता है और तना पतला रहता है। पत्ते बारहों मास हरे रहते हैं। पेड़की छाल तथा पत्तों पर नसटी रंग की रोमावली होती है। कनकचम्पाके फूलों में जो सौन्दय और सौरभ होता है वही इस के पत्तोंमें भी होता है।



कनक चम्पा

विशेषतः, चौमासे के वाद और शीतकाल में जब वायु वश पत्ते हिलते हैं तब नीचे की रोमावली के कारण इस की रुप हली छवि अनूठी होती है। इस के कारण अन्य. वृक्षों के झुण्ड में से कनकचम्पा आसानी से पहिचान लिया जा सकता है।

कनकचम्पा के फरवरी, माच और अप्रैल में फूल आते हैं। ये ऊपर लिखे अनुसार श्वेत पाँच पंखड़ियों वाले और सुगन्धित होते हैं। फूल रात को खिलकर प्रभातमें झड़ जाते हैं। इनमें चिरकालतक सुगंध बनी रहती है, परन्तु कई स्थानों में यह बात नहीं भी होती। फूल जब खिलते हैं तो पुष्प कोष की पांचों पंखड़ियाँ पृथक् होकर, धनुष के समान पीछे की ओर बक्र हो जाती हैं, एवं मध्यवर्ती श्वेत पंखड़ियाँ तथा अन्दर स्थित श्वेत और सुनहले पुंकेशरों के तन्तु स्वतन्त्र हो जाते हैं।

कनकचम्पा के फल भो पांच उठी किनारियों वाले होते हैं। इन पर नसवारी रंग की परतें (छिलके) होती हैं। फल पकने में कोई एक वर्ष लगता है। पकने पर वे फट जाते हैं तथा उनमें से बड़े, मटियाले, पतले पंखों वाले बीज बाहर आ जाते हैं।

पत्तों के निचले पृष्ठ की रोमावली ताजे व्रणों पर लगाने से रक्त निकलना बन्द हो जाता है। जंगल में रहने वाले लोग इसका प्रचुर उपयोग करते हैं। पत्ते पत्तल बनाने एवं तमाखू की गठरी बाँधने के काम आते हैं। इसके सिवाय, गरीब लोग छप्पर छाते समय सबसे नीचे की तह कनकचम्पा के पत्तों की लगाकर उसपर छप्पर डालते हैं।

फूल बल्य औषधों, शोथ, व्रण, कोढ तथा गांठों के लिए प्रयुक्त होते हैं। छालकी राख मसूरिका (चेचक) के व्रणों के रोपण (रूक्ष) के लिए प्रयुक्त होती है। कहा जाता है, सूखे फूल कपड़ों में रखने से वे (कपड़े) बिगड़ते नहीं।

कनकचम्पा की लड़की कभी-कभी फट्टे बनाने के काम आती है। इससे भिन्न इसका कोई उपयोग नहीं।

समुद्र के पृष्ठ से हिमालय की उपत्यका और पहाड़ियों में लगभग चार हजार फुट की ऊँचाई तक कनकचम्पा के पेड़ उगते हैं। रेतीली जमीन से काली चिकनी मिट्टी में ये भली-भांति उगते हैं। सुन्दर फूलों के कारण अग्रपदवाले वृक्षों में कनकचम्पा की भी गणना होने से सभी वाटिकाओं में इसका एक तो वृक्ष अवश्य होना चाहिए। इसकी उत्पत्ति बीज से होती है। इसे बढ़ाने में कोई क्लेश नहीं होता।

स्वास्थ्य सम्मेलन का निश्चय

आयुर्वेद का विलीनीकरण

वैद्य मङ्गलदास स्वामी आयुर्वेदाचार्य

❀

ता० ३१ अगस्त व १ सितम्बर को भारत की राजधानी देहली में स्वास्थ्य मन्त्री सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन हुआ। भारत में स्वास्थ्य व चिकित्सा की व्यवस्था आधुनिक पद्धति के आधार पर की जाय या देशी चिकित्सा पद्धतियों को भी उस क्षेत्र में आने दिया जाय, यह प्रश्न था। जो नई सरकार बनने के समय से या भारत के स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही विचार कोटि में चल रहा था।

वैद्य समुदाय की प्रबल मांग थी कि आयुर्वेद को देश की चिकित्सा पद्धति घोषित किया जाय। होमियोपैथीवाले भी अपने दावे पर बल दे रहे थे। प्रचलित पद्धति तो देश की स्वास्थ्य व चिकित्सा की बागडोर अपने हाथ में लिये हुए है ही। अंग्रेजी शासन काल में माडर्न सिस्टम वा एलोपैथी का आधिपत्य स्वास्थ्य व चिकित्सा विभाग पर किया गया था। वह आज भी उसी तरह स्थित है।

भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के मेडिकल विभाग सब एलोपैथिक चिकित्सकों के अधीन हैं। वैद्यों की मांग का वे सर्वथा विरोध कर रहे थे। उनकी प्रमुख संस्था मेडिकल कान्फ्रेंस ने आयुर्वेद के विरुद्ध जितना जैसा यत्न करना चाहिए था, किया था, और अब भी उसी यत्न में संलग्न है। मेडिकल विभाग पर उनका आधिपत्य है ही।

पिछले बीस वर्षों में कुछ प्रान्तों में आयुर्वेद को भी नाम मात्रका आश्रय सा दिया गया था। स्वतन्त्रता के पश्चात् कुछ प्रान्तों में स्वास्थ्य मन्त्रियों का ध्यान देशी चिकित्सा प्रणाली की ओर भी आकर्षित हुआ। उन्होंने कुछ ऐसे कदम उठाने आरम्भ किये जिनसे आयुर्वेद को कुछ आश्रय प्राप्त होने का सिलसिला चल सकता था। यह ढङ्ग आयुर्वेद के विरोधियों को कैसे सह्य होता उन्होंने प्रयास किया कि केन्द्र इधर विशेष ध्यान दे। परिणामतः गत वर्ष से यह भूमिका तैयार की जाने लगी थी कि देशी चिकित्सा प्रणाली के कांटे को शीघ्र निकाल देना चाहिए। विगत वर्ष प्रान्तीय सरकारों को सावधान किया गया था कि कहीं गफलत में ऐसी भूल न कर जाय जिससे देशी चिकित्सा प्रणाली को अनावश्यक प्रोत्साहन मिले। चोपड़ा कमेटी की रिपोर्ट का भी प्रबल विरोध इसी भावना से किया गया था। सरकार ने भी चोपड़ा कमेटी के सुझावों को अपनाना नापसन्द किया। इसीलिए एक नई पण्डित कमेटी का निर्माण किया गया।

सन् ४६ में कांग्रेस तथा लीगी संयुक्त मन्त्रीमण्डल के समय स्वास्थ्य मन्त्रियों की पहली कान्फ्रेंस हुई थी, उसमें कुछ प्रान्तीय स्वास्थ्य मन्त्रियों ने देशी चिकित्सा प्रणालियों को बिना समझे या उनकी परिस्थिति व परिणामों को बिना जांचे

अमान्य या अवैज्ञानिक ठहराना संगत नहीं समझा। उसीका परिणाम था कि चोपड़ा कमेटी देशी चिकित्सा पद्धति की प्रणाली की स्थिति को समझने के लिए नियुक्त की गई।

एक कमेटी होमियोपैथी के बारे में भी बनाई गई थी। सन् ४६ की प्रथम स्वास्थ्य मन्त्री कान्फ्रेंस में देशी चिकित्सा प्रणाली सम्बन्धी कुछ प्रस्ताव भी स्वीकृत किये गये थे। स्वास्थ्य मन्त्रियों के इस तीसरे सम्मेलन में उन प्रस्तावों तथा उन कमेटियों के सुझावों पर विचार कर जो कुछ निश्चय किया गया वे निश्चय पत्रिका के इसी अङ्क में अन्यत्र प्रकाशित हैं।

उन निश्चयों का परिणाम क्या होगा यह इस लेख के शीर्षक में दे दिया गया है। केवल शीर्षक में लिख देने ही से ऐसा परिणाम हो जाय यह सङ्गत नहीं। अतः हमें इस तृतीय स्वास्थ्य मन्त्रियों के सम्मेलन की कार्यवाही तथा उसके निश्चयों का युक्त ढङ्ग से विश्लेषण करने की परमावश्यकता है। मैं अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार उसका विश्लेषण कर रहा हूं। विश्लेषण के आधार दो भागों में विभक्त हैं। हमारे कर्णधार शासकों की भावना तथा मन्त्री सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव। हमारे प्रधान मन्त्री तथा स्वास्थ्य मन्त्री इस विषय में क्या विचार रखते हैं ये उनके भाषणों में व्यक्त किये गये भावों से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। सम्मेलन का उद्घाटन माननीय पं० नेहरूजी ने किया था, उनने अपने भाषण में व्यक्तिगत चिकित्सा की अपेक्षा सार्वजनिक स्वास्थ्य रक्षा को अधिक महत्वपूर्ण बतलाया।

देश में प्रचलित देशी चिकित्सा प्रणालियों तथा अन्य चिकित्सा प्रणालियों का जिक्र करते हुए उनने इस बात पर अधिक बल दिया कि प्रत्येक प्रणाली के चिकित्सक को बुनियादी बातों की पर्याप्त शिक्षा दी जानी चाहिए। बुनियादी बातों से उनका अभिप्राय है, आधुनिक प्रचलित वैज्ञानिक पद्धति के वे तथ्य जिनका स्वास्थ्य व चिकित्सा में उपयोग होता है। नेहरूजी कहते हैं—

"जहां तक सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई और रोग निवारण का ताल्लुक है पुरानी प्रणालियों ने ज्यादा ध्यान नहीं दिया है, उन्हें अपनी इस कमी को दूर करने के लिये आधुनिक तरीकों का आश्रय लेना होगा"।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हुये उनने कहा 'हम को ऐसी हर चीज अपनाने को तैयार रहना चाहिये जो वास्तविक हो अथवा सिद्धान्त रूप से ठीक हो। सिद्धान्ततः आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। पश्चिम ने उसके विकास में बड़ा हिस्सा लिया है। फिर भी उसे पश्चिमी कहना ठीक नही है। यह प्रणाली भारत अरब और दूसरे देशों की अनेक पीढ़ियों के अनुभव का परिणाम है।"

देशी चिकित्सा पद्धति के सम्बन्ध में पंडितजी ने कहा—

'आयुर्वेद और यूनानी प्रणालियों के पास कुछ अच्छे इलाज हैं। किन्तु मुश्किल ज्यादा बुनियादी सिद्धान्तों की है। एक वैद्य वात पित्त कफ की बात करता है। पर आधुनिक चिकित्सा प्रणाली इसे नहीं मानती। मध्य युगमें यूरोप में भी ऐसा ही ख्याल किया जाता था, किन्तु धीरे-धीरे प्रयोग करके उन्हों ने विभिन्न निष्कर्ष निकाले।"

प्रधान मन्त्री का अपना दृष्टिकोण क्या है इसके बारे में से वे निजी विचार व्यक्त करते हैं।

"विभिन्न चिकित्सा प्रणालियों की अच्छाइयों का एकीकरण जरूरी है। किन्तु हमको आधुनिक चिकित्सा के कुछ पहलुओं को कायम रखना होगा। हमको हरेक प्रणालीको वैज्ञानिक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। किन्तु जहाँ बुनियादी सिद्धान्तों के एकीकरण का सवाल है, आधुनिक और पुरानी प्रणालियों को कैसे मिलाया जाकता है यह मैं नहीं समझता। मैं पुरानी प्रणालियों के विरोधमें आना नहीं चाहता, किन्तु मैं कहूँगा कि हर आदमी को यानी हर चिकित्सक को आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की पर्याप्त शिक्षा दी जाय। वैद्य, हकीम, होमियोपैथ सभी को यह शिक्षा लेना लाजमी है। केवल देशी प्रणाली सस्ती है, यह कहने से काम नहीं चल सकता।"

प्रधान मन्त्री महोदय के भाषण के इन उद्धरणों से ये बातें स्पष्टतया सामने आती हैं कि आयुर्वेदमें स्वास्थ्यरक्षा, स्वच्छता तथा रोगावरोधक विषय बहुत न्यून है। उनके विचार से आयुर्वेद का त्रिदोष सिद्धान्त वैज्ञानिक नहीं है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से वे आधुनिक प्रणाली को ही उपयुक्त मानते हैं। आयुर्वेद और आधुनिक प्रणाली के बुनियादीतथ्यों का एकीकरण संभव नहीं है। स्वास्थ्य और चिकित्साके क्षेत्रमें आधुनिक प्रणाली की प्रधानता अनिवाय है। प्रत्येक चिकित्सक के लिये आधुनिक प्रणाली से अध्ययन करनाभी अनिवार्य है।

अब स्वास्थ्य मन्त्री के विचार भी सुन लीजिए। उन्होंने अपने अध्यक्षपदीय भाषण में व्यक्त किया कि देशीचिकित्सा-प्रणालियों, होमियोपैथी, तथा अन्य ऐसी चिकित्सा-पद्धतियों के आधार पर जो कि हाल में देश के कुछ भागोंमें विकसित हुई है समानान्तर स्वास्थ्य सेवाओं का संगठन "निश्चित रूप से पीछे को ले जाने वाला एक कदम है।"

माननीय अमृतकौर ने कहा

"ये चिकित्सा प्रणालियाँ उन आवश्यक तत्त्वों में से कुछ से बिलकुल विहीन हैं जो कि लोगों की स्वास्थ्य सम्बन्धी सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक है। उदाहरणार्थ देशी चिकित्सा में सर्जरी, रोगप्रतिबन्धक भेषज, प्रसव विज्ञान तथा अन्य भी वे आधुनिक विषय नहीं हैं, जो कि रोगों के निदान, उपचार तथा बीमारियों की रोक-थाम के लिये बहुत महत्त्वपूण है। इस परिस्थिति में यह सोचा ही नहीं जा सकता कि भारत आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के उचित दावों की उपेक्षाकर अपनी राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवाओं को जान बूझकर देशी चिकित्सा प्रणाली पर आधारित करेगा।"

स्वास्थ्य मन्त्राणीजी ने आगे कहा

"जब तक इस मामले में केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारें समान निर्णयों पर नहीं पहुंचती और एक आधार पर उन्हें कार्यान्वित नहीं करती, तब तक स्वास्थ्य व चिकित्सा के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को उचित रूप से हल नहीं किया जा सकता।"

आपने सुझाव रखा कि एतदर्थ एक केन्द्रीय 'स्वास्थ्य परिषद्' तथा एक 'अखिलभारतीय सेवा संगठन' का निर्माण किया जाय ताकि केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच सहयोग की वृद्धि हो। उन्होंने व्यक्त किया कि यह स्वास्थ्य परिषद, केन्द्र तथा प्रान्तों में एक कड़ी का काम करेगी ताकि स्वास्थ्य व चिकित्सा का कार्य केन्द्र तथा प्रान्तों में समान स्तर पर संचालित हा सके।

स्वास्थ्य सेवा सङ्गठन की स्थापना का उल्लेख करते हुए उन्होंने आधुनिक चिकित्सकों को आश्वासन दिया कि वैसा संगठन करते समय इन दो बातों

का विशेष संरक्षण रखा जायगा कि प्रान्तीय सरकारें स्वास्थ्य व चिकित्सा क्षेत्र में अनुशासनात्मक नियम रख सकें। तथा राज्य के वर्तमान चिकित्सक अफसरों को ऊँची नौकरियाँ प्राप्त करने का पूरा मौका दें।

नि० भा० आ० महासम्मेलन ने स्वास्थ्य मन्त्रियों को एक चायपार्टी दी थी; उस चायपार्टी में माननीया अमृतकौर ने जो भाषण दिया वह उपरोक्त भाषण से भी और अधिक स्पष्ट है उक्त भाषण को आरम्भ करते हुए उन्होंने कहा—

"आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली का दावा केवल इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वह तीन हजार वर्ष पुरानी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आयुर्वेदिक चिकित्सा जब से चली है तभी से एक जगह पर रुकी हुई है। उसने आगे किसी दशा में प्रगति नहीं दिखाई। यही कारण है कि आयुर्वेदिक चिकित्सकों में ही उन बुनियादी योग्यताओं का अभाव है जो आधुनिक चिकित्सकों में हो चाहिए। आज का वैज्ञानिक युग ऐसी चिकित्सा-पद्धति को कभी स्वीकार नहीं करेगा।"

श्रीमती अमृतकौर ने निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन द्वारा समर्पित मेमोरेण्डम के उस आक्षेप को निराधार बताया कि भारत सरकार का स्वास्थ्य मंत्रालय आयुर्वेद विरोधी और जान-बूझकर भारत पर एलोपैथी चिकित्सा प्रणाली छोड़ना चाहता है।'

आप ने कहा—"अहिंसा में पूर्ण विश्वास रखने के कारण वे कह सकती हैं कि आयुर्वेद कांग्रेस यानी निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन की ओर से जो आवेदन पत्र स्वास्थ्य मन्त्रालय के पास भेजा गया है, वही हिंसा से परिपूर्ण है। उसमें सिवाय कटु आक्षेपों के और कोई क्रियात्मक सुझाव नहीं है। उसमें उनका स्वास्थ्य विभाग पर निरा अविश्वास झलकता है।"

उन्होंने वैद्यों को लक्ष्य करके कहा—"चिकित्सा-विज्ञान पर किसी एक देश या एक जाति की मुहर नहीं लग जाती। वह देश, जाति की सीमा से बांधा नहीं जा सकता। भारत उसी चिकित्सा-प्रणाली को अपनायेगा जो सबसे अधिक वैज्ञानिक व उपयोगी समझी जायेगी। भारत तीन हजार वर्ष पीछे नहीं जाना चाहता, वह आगे बढ़ना चाहता है। इस युग में एलोपैथी ने क्रान्तिकारी आविष्कार किये हैं। उनसे आयुर्वेद चिकित्सक बिल्कुल अनभिज्ञ हैं।"

स्वास्थ्य विभाग की अध्यक्षता के दोनों भाषणों का स्तर यही है कि आयुर्वेद में न सर्जरी है, न रोग निश्चयके उचित साधन और न रोग अवरोधक भेषज है, न प्रसूता सम्बन्धी विषय है, न एक्सरे आदि उपकरणों द्वारा आज जो चमत्कार दिखाये जाते हैं, उनकी व्यवस्था है। अतः आयुर्वेद राष्ट्र की चिकित्सपद्धति नहीं बनाई जा सकती। उनकी राय में वैज्ञानिक पद्धति ही यानी एलोपैथी ही राष्ट्र की चिकित्सा पद्धति होने की अधिकारिणी है।

प्रधानमन्त्री व स्वास्थ्यमन्त्री के भाव स्पष्ट हैं वे आधुनिक विज्ञान के कायल हैं। क्योंकि उनका शिशुकाल से अब तक की आयु का भाग उसी वातावरण में व्यतीत हुआ है। दोनों के भाषण से यह स्पष्ट सिद्ध है कि उन्होंने अभी आयुर्वेद को छुआ तक नहीं है। आयुर्वेद में क्या है क्य नहीं है, इसका किसी ने भी अनुशीलन किया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता।

अपने विचार व्यक्त करने का सब को अधिकार है, पर इस अधिकार का उपयोग इन जिम्मेवार व्यक्तियों को करने के समय यह ध्यान रखना

चाहिये कि उनके पद सम्बन्ध से व्यक्तिगत विचारों का भी कैसा परिणाम हो सकता है।

हमें यह देखकर अत्यन्त खेद होता है कि हमारे प्रधान-मन्त्री कहते हैं, देशी चिकित्सा प्रणाली में स्वास्थ्य और स्वच्छता का वैसा विचार नहीं, जैसा आधुनिक पद्धति में है, हमारी स्वास्थ्य विभागाध्यक्षा कहती हैं कि, आयुर्वेद सर्जरी से शून्य है। अच्छा होता कि यह आरोप नहीं किया जाता। आयुर्वेद का स्वास्थ्य विवेचन कैसा है, एक बार इसका अवलोकन तो किया जाय, जिनमें आयुर्वेद के दिनचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत्त, सात्म्य, असात्म्य, अम्लवर्ग, फलवर्ग, शाकवर्ग, इक्षुवर्ग, दधि, जल, पय, मांस, मधु, तक्रवर्ग, कृतान्नवर्ग, अन्नपानरक्षा विधि के विषयों का विवेचन पढ़ा हो, और फिर कहा जाता है, कि आयुर्वेद में स्वास्थ्य प्रकरण नहीं है, तो कोई बात भी थी। यह बिलकुल दावे से कहा जा सकता है कि आयुर्वेद का स्वास्थ्य संरक्षण विषय बहुत उत्तम व व्यवस्थित है। साथ ही वह सामाजिक रचना का एक विशेष अङ्ग है। स्वच्छता तो भारतीय पद्धति का प्राण है, पता नहीं यह आरोप आयुर्वेद पर क्यों लगाया गया।

प्रधान मन्त्री की तरह माननीया अमृतकौर ने भी तपाक में आकर आयुर्वेद में सर्जरीके अभाव की जो घोषणा की, वह आयुर्वेद से सर्वथा अपरिचित होने का सबल प्रमाण है।

सुश्रुत में सर्जरी का समुचित व व्यवस्थित विवेचन है। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में बहुत अधिक अंश इसका आत्मसात कर अपना निर्माण किया है।

यदि यह आक्षेप वैद्यों पर होता तो ठीक ही था क्योंकि वैद्यों को राज्य ने न तो शिक्षण दिया न अवसर ही। पर आरोप तो है आयुर्वेद पर। सुश्रुत की पुस्तक तो अभी है ही, उसमें शल्य-शालाक्य का जो निरूपण है, वह एकबार देख या सुनकर पश्चात् विचार किया जाय कि आयुर्वेद में सर्जरी है या नहीं। मैंने इन दो उदाहरणों को इसलिए पहिले लिया कि हमारे प्रमुख अधिकारी किस ज्ञान के आधारपर आयुर्वेद और नवीन चिकित्सा प्रणाली का सन्तुलन करते हैं। आयुर्वेद का दावा सस्तापन या तीन हजार वर्ष की प्राचीनता के हेतुओं पर मान्य नहीं हो सकता, तो आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का दावा भी कुछ साधन सामग्री की चाकचिक्यता के कारण ही मान्य नहीं किया जा सकता। आयुर्वेद के दावे के येही कारण नहीं हैं, जिनका उल्लेख किया गया है। उसके जो वास्तविक दावे हैं, उनपर ध्यान ही कौन देता है। यदि आयुर्वेद के वास्तविक दावों पर ही कोई विचार किया जाता तो खेद ही किस बात का था।

हमारे शासक उभय प्रणालियों के सन्तुलनात्मक तथ्यों को जानकारी के लिए तो कोई कदम उठाना ही नहीं चाहते। वे तो बिना जाँचपड़तालके ही अपना निर्णय मनवाने के लिए उद्यत हैं। जैसा कि माननीया अमृतकौर ने व्यक्त किया है, कि नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन का मेमोरेण्डम केवल एक आक्षेपात्मक व हिंसात्मक भावना का प्रतीक है, उसमें क्रियात्मक सुझाव कुछ नहीं हैं। क्या महामान्या अमृतकौर कृपाकर यह बतलाने का कष्ट करेंगी कि नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन का बड़ौदा प्रस्ताव तथा देहली का प्रस्ताव उनकी सेवा में उपस्थित किया गया था क्या? उसमें क्रियात्मक सुझाव कोई नहीं थे। दो डेपुटेशन उनसे पूर्व

भी मिले थे और उनमें भी अपने मेमोरेण्डम में अनेक सुझाव उपस्थित किये थे। सरकार द्वारा नियुक्त चोपड़ा कमेटी ने भी अनेक सुझाव उपस्थित किये थे। पिछली त्रयोदश कमेटियों ने भी, जो प्रान्तीय सरकारों द्वारा स्थापित की गई थी, कई सुझाव उपस्थित किये थे। उन सुझावों में से एक-दो पर भी तो आपकी कृपादृष्टि नहीं हुई।

प्रधानमन्त्री महोदय ने देशी चिकित्सा प्रणालियों के आड़े न आने का निर्देश कर अपनी भावना आधुनिक प्रणाली की ओर व्यक्त की। माननीया अमृतकौर ने स्वयं को अहिंसा अनुगामिनी घोषित कर वैद्यों को हिंसा के अपराधी ठहराये। पर वे शायद महात्माजी के अनवरत के अहिंसा के विवेचन को अब ध्यान में न रख सकी हों, क्योंकि हिंसा मानसिक और वाचिक भी होती है। उनका चायपार्टी का भाषण उस हिंसा से बरी नहीं है, उसमें स्पष्ट उत्तेजना झलकती है वे खिसियाकर आयुर्वेदका इसलिये विरोध करती-सी प्रतीत होती हैं कि उसके समर्थन करनेवालों ने उनपर दोषारोपण किया अतः उसका बदला आयुर्वेद की अवहेलना या उपेक्षा से पूरा किया जाय।

वैद्य आयुर्वेद की उपादेयता केवल देश की प्राचीन प्रणाली के नाते या सस्ती होने के नाते ही सिद्ध नहीं करते, वे आयुर्वेद की उपादेयता में बुनियादी हेतुओं को प्रमुखता देते हैं।

किसी भी ज्ञान का सिद्धान्त और साधन दोनों भिन्न होते हैं। साधन में विवर्धन और परिवर्धन होना अनिवार्य है, पर सत्य ज्ञान में हेरफेर की गुञ्जायश नहीं होती। देशी चिकित्सा प्रणाली के बुनियादी तथ्य इसी रूप में हैं, वे तीन हजार वर्ष से अब तक नहीं बदले इसलिये आयुर्वेद की अमान्यता कोई मानी नहीं रखती। नित्य बदलनेवाला सिद्धान्त ही सिद्धान्त हो यह तो कोई सिद्धान्त की परिभाषा नहीं। आधुनिक विज्ञान का कोई सिद्धान्त अभी तक स्थिर नहीं हो पाया है। यदि विज्ञान प्रगतिशील है और परिवर्तन ही उसका जीवन है तो इस प्रकार की स्थिर थ्योरी पर संसार के स्वास्थ्य और जीवन को आश्रित करना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती।

जिस विज्ञान पर हमारे शासक आग्रहपूर्वक इतना बल देते हैं, क्या उन्होंने कभी इस तथ्य पर विचार किया है कि आधुनिक विज्ञान की खोजों के अस्थिर परिणामों ने संसार के मानव प्राणी पर क्या-क्या प्रभाव किया है ?

यहाँ उभय थ्योरियों के गुणधर्मों के विवेचन करने का लम्बा क्षेत्र नहीं है और यह इस तरह की चर्चा का विषय भी नहीं। इसकी बाबत तो इतना कहना आवश्यक है कि पिछले बीस वर्षों में स्वास्थ्य और चिकित्सा के क्षेत्र में आधुनिक विज्ञान ने तीव्र भेषजों को जन्म दिया और उनका जिस व्यापक गति से प्रयोग किया गया उनका परिणाम मानव जीवन के लिये हितावह नहीं हो रहा है। यह उसी विज्ञान के जनक व समर्थक व्यक्त करते हैं।

माननीय प्रधान मन्त्री व स्वास्थ्य मन्त्री दोनों ने ही बुनियादी स्थिति को महत्वप्रद घोषित किया है। पर यह अभी सामने नहीं आया कि आधुनिक पद्धति के बुनियादी तथ्य क्या है और कब देशी-चिकित्सा प्रणाली तथा आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के बुनियादी तथ्यों का मुकाबला किया गया, कब उनके संतुलित परिणाम देखे तथा जाँचे गये।

नूतन प्रणाली के रोगहेतु सिद्धान्त का तो अभी कोई निश्चय है नहीं, रोगों के पैदा होने के कई कारण स्वीकार किये गये हैं। मुख्यतः कीटाणुवाद उनका रोगोत्पत्ति का प्रमुख हेतु है। उसपर कईबार लिखा

जा चुका है कि कीटाणुवाद को सैद्धान्तिक रोगहेतु रूप नहीं दिया जा सकता जब तक कि उसमें अनैकान्तिकता तथा अव्याप्त दोष मौजूद है।

स्वयं आधुनिक चिकित्सक भी अभी इस बारे में निःसंशय नहीं है कि जिन-जिन कीटाणुओं से जो २ रोग पैदा होते हैं, वस्तुतः वे रोग कीटाणुओं से पैदा होते हैं या और भी कोई कारण है, जिनका सम्बन्ध रोगोत्पत्ति से है।

रोगोत्पत्ति के हेतुओं में विटामिन की कमी भी अब कुछ समय से सम्मिलित हो गई है। बहुत समय तक इस थ्योरी के चिकित्सक रोगहेतु को केवल बाह्य कारण ही मानते थे, अब आभ्यन्तर कारण की ओर ध्यान जाने लगा है। शरीर की स्वाभाविक शक्ति की न्यूनता व विटामिनों की कमी आभ्यन्तर हेतु है। आयुर्वेद ने आरंभ ही से बाह्य आभ्यन्तर तथा आगन्तुक त्रिविध रोग कारणों की पर्याप्त समीक्षा की है। आधुनिक विज्ञान अभी और आगे बढ़ेगा तो वह आयुर्वेद के उपरोक्त सिद्धान्त के और समीप आयेगा इसमें सन्देह नहीं है।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के औषध आविष्कार में भी यही सिलसिला चल रहा है, उन्होंने जिन-जिन भेषजों के अविष्कार किये हैं उनमें अनेक भेषजों के आरम्भ में उनका जैसा फल माना गया या घोषित किया गया था अब उससे भिन्न परिणाम सामने आने लगे हैं। उदाहरणतः कृमि के लिये संटोनिन, मधुमेह के लिए इनशुलीन सल्फा के विविध परिवर्तित रूप पेनसीलीन, क्षय के लिए स्ट्रेप्टोमायसीन, टाइफाइड के लिए पलोरोमाइसीन, क्षय पर नवीन शोध ओरोमायसटीन का इतिहास पर्याप्त है। उपरोक्त सभी औषधियां आरम्भ में अपने क्षेत्र में अव्यर्थ भेषज के रूप में घोषित की गई थी, पर पीछे उनके विभिन्न परिणाम सामने आये और वे परिणाम हुए रोगियों पर उनका प्रयोग करने से। तब उनकी अव्यर्थ गुणगरिमा सीमित होने लगी और धीरे-धीरे अब ये सभी भेषज रोग की अवस्था विशेष की सीमा तक संकुचित हो गई हैं।

इन भेषजों के रोग की विभिन्न स्थिति में अहित कर परिणाम प्रकट हुये। उनका प्रतिफल न मालूम कितने रोगियों को भोगना पड़ रहा है। ये सब भेषज आधुनिक विज्ञान के पूरे परीक्षण के बाद ही काम में लाई जाने लगी थी, पर उनके वे परिणाम जो रोगियों पर प्रयोग करने से प्रकट हुए पहिले परीक्षण में सामने नहीं आये। आधुनिक थ्योरी में अच्छाइयां हैं, तो उस में दोष भी है। अब पता नहीं बुनियादी सिद्धांतों में आयुर्वेद अनुपादेय और इस प्रणाली की उपादेयता किन सिद्धान्तों के आधार से संस्थापित की जा रही है।

वैद्यों की मांग है कि आयुर्वेद का व्यावहारिक परीक्षण किया जाय। उसके सिद्धान्तों को परिणाम की कसौटी पर कसा जाय। उसके सिद्धान्तों को केवल यंत्रों की कसौटी पर ही कसने की वस्तु नहीं है। जब कि उनके स्वकीय सिद्धान्त ही यन्त्रों की कसौटी पर कसे जाने के बाद प्रयोग कालमें विभिन्न परिणाम व्यक्त करते नजर आते हैं। अतः यन्त्र परीक्षण ही या केवल प्रत्यक्ष ही सब कुछ जानने का साधन नहीं है, अनुमान और अनुभव भी ज्ञान प्राप्ति के वैसे ही साधन हैं। शरीर में मन एक वस्तु है, उसका न तो यान्त्रिक प्रत्यक्ष हो सकता है, न इन्द्रिय प्रत्यक्ष, पर मन की अनन्त क्रियायें मन के अस्तित्व को अनुमान से स्पष्ट सिद्ध करती हैं।

हमारे अधिनायक देश के स्वास्थ्य और चिकित्सा के प्रश्न को धैर्य से हल करें—वे प्रवाह या अपने विभागीय निवेदनों या सुझावों पर ही आश्रित होकर अपना दृष्टिकोण एक पक्षीय न बनावें।

माननीया अमृत कौर ने अपनी धारणा को स्पष्ट व्यक्त कर आयुर्वेद की अमान्यता घोषित कर फिर शासक को भाषा का प्रयोग किया है। शासक किसी भी न करने वाले काम के लिये भी गोलमाल कहते रहने के आदि होते हैं या आदि बनाये जाते हैं। "आयुर्वेद देश की राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति नहीं हो सकती यह उद्घोष होने के बाद भी सरकार सब प्रणालियों को विकसित होने का अवसर देगी इस कथन में क्या तथ्य है ? यह बहुतकुछ सोचने के बाद भी समझ में नहीं आया। अन्त में यही समझ में आया कि यह शासक की भाषा है जो बोली जाने में प्रयुक्त की जाती है—इसका स्पष्ट अर्थ है केवल कहने की बात, करने की बात नहीं।

वैद्यों को यह भी आश्वासन दिया गया या विश्वास दिलाया गया है कि सरकार का रुख आयुर्वेद के विरुद्ध नहीं है। पर इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो अभी तक कोई सामने आया नहीं। सामने जो बातें आयीं या आ रही हैं वे विश्वास को विकल करने वाली हैं। हमें अच्छी तरह स्मरण है कि आयुर्वेद सम्बन्धी प्रश्न पर जब भी माननीय स्वास्थ्य मन्त्रिणी महोदयाने चर्चा की जब वे खिन्न या खिंची हुई ही प्रतीत हुईं। वे वैद्यों से पूरी बात सुनने का कष्ट भी तो नहीं उठाना चाहतीं। उन्होंने आयुर्वेद को समझने के लिये अपना स्वास्थ्य विभाग या आधुनिक प्रणाली के चिकित्सकों को ही आधार बना रखा है। जो सज्जन आयुर्वेद को अवैज्ञानिक घोषित करते हैं वे ही आयुर्वेद को समझाने वाले हों तो स्वतः सिद्ध है कि उनका समझाना किस रूप का होगा। सरकार न तो आयुर्वेद को उचित सहायता देने के लिए उद्यत है न सरकार आयुर्वेद को अपना औचित्य सिद्ध करने का अवसर देने को उद्यत है, वह तो आधुनिक चिकित्सकों की राय तथा वैद्यों के वर्तमानरूप से ही आयुर्वेदका निष्कर्ष निकालने को उद्यत है, और निष्कर्ष निकाल भी लिया गया कि आयुर्वेद में न सर्जरी है, न स्वास्थ्य और स्वच्छता का निरूपण है, न रोगनिदान की समुचित व्यवस्था है, न रोग चिकित्सा का उचित कार्यक्रम है।

हमारे पास कोई ऐसा उपाय है नहीं कि हम उपरोक्त निष्कर्ष को व्यर्थ सिद्ध कर सकें कारण, उक्त निष्कर्ष की व्यर्थता आयुर्वेद के समझने तथा परीक्षण करने ही से सिद्ध हो सकती है, उसकी व्यवस्था के लिए सरकार प्रस्तुत नहीं है।

सरकार की यह नीति चाहे अपने भ्रान्त ज्ञान जन्य हो चाहे पक्षपात पूर्ण दृष्टि हो, स्वास्थ्य विभाग इस आरोप को मिथ्या सिद्ध नहीं कर सकता कि वह आयुर्वेद का पोषक है। प्रत्युत स्वास्थ्य मन्त्री सम्मेलन के सुझावों से भी यही तथ्य सामने आता है।

पक्षपात के आरोप को समझने के लिए थोड़ा प्रकरणान्तर पर भी ध्यान देना होगा। मेडिकल कान्फ्रेस, आयुर्वेद को मान्यता नहीं दी जाय इसके लिए पूरा प्रयास कर रही है। उसके वार्षिक अधिवेशनों में इस तरह की स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है। मेडिकल कान्फ्रेस की माँग थी कि आयुर्वेद में कुछ योग हैं तथा आयुर्वेद की एक दो पुस्तक हैं, तदर्थ मेडिकल कालेजों में दो प्रश्नपत्र और बढ़ादिये जांय, बस, आयुर्वेद का प्रश्न हल हो जाता है। इसीकी प्रतिक्रिया मन्त्री सम्मेलन के उस सुझाव से व्यक्त होती है, जिस में नवीन चिकित्सकों के लिए पोस्ट ग्रेजुएट क्लास की सिफारिश की गई हैं।

इस बार लखनऊ में होनेवाली मेडिकल कान्फ्रेन्सके सभापति ने बहुत तीव्र शब्दों में देशीचिकित्सा प्रणाली की सहायता देने की कटु आलोचना की थी और कहा कि स्वास्थ्य व चिकित्सा का विषय प्रान्तीय

सरकारोंके अधिकारसे निकाल केन्द्रीय सरकार अपने अधिकार में ले ले। क्योंकि कुछ प्रान्तीय सरकारें देशी चिकित्सा प्रणालियों को प्रोत्साहित करने के लिये प्रयत्नशील है।

सम्भव है उनकी इस माँग की पूर्ति के लिये ही माननीया अमृतकौर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में एक "स्वास्थ्य रक्षा परिषद्" के संगठन का सुझाव उपस्थित किया है। उसके विश्लेषण में यह व्यक्त किया गया कि इस परिषद् से केन्द्र और प्रान्तीय सरकारें निकट सम्पर्क में आयेगी तथा स्वास्थ्य व चिकित्सा के क्षेत्र में उभय सहयोग से अधिक उचित नीति का पालन किया जा सकेगा।

इसका निगूढार्थ यह भी हो सकता है कि सरकार इस परिषद् की राय के नाम पर प्रान्तीय सरकारों के स्वास्थ्य विभागों पर अपना इच्छित नियतन्त्रण रख सके।

स्वास्थ्य मन्त्री सम्मेलन द्वारा आयुर्वेद शिक्षण-के लिये जो सिफारिशें की गई हैं, वे भी स्पष्टतया यह व्यक्त करती हैं कि आयुर्वेद का विषय गौण तथा आधुनिक प्रणाली का विषय प्रमुख रक्खा जाय। इसका सबसे प्रमुख और सबल प्रमाण है ; प्रवेश योग्यता का निर्णय।

आयुर्वेद की डिग्री संस्थाओं में प्रवेश होने वाले छात्र आई० ए० सी० हों तथा डिप्लोमा स्कूलों में प्रवेश होने वाले मैट्रिक। साथ में संस्कृत और अरबी के ज्ञान का भी उल्लेख किया गया है, पर हमसभी समझते हैं कि जिस ज्ञान का कोई निर्धारित स्वरूप व्यक्त नहीं किया गया हो उस अनुबन्धी ज्ञान की पूर्तिका प्रयत्न कौन करता है।

अब देखिये शिक्षण विषय-शिक्षण के विषयों में एल० एम० पी० तथा एम० बी० का कोर्स गृहीत कर लिया गया है। बिना रोगी के आश्रयवाले तथा रोगी के आश्रय वाले विषय सब आधुनिक प्रणाली से तो पढ़ाये ही जाने चाहिये। एक तिहाई विषय ऐसे भी हैं जिनका शिक्षण देशी चिकित्सा प्रणाली सिद्धान्तानुसार हो। शिक्षाके विषय जिनमें रोगी का आश्रय आवश्यक नहीं जैसे—एनोटोमी (शारीर शास्त्र) शरीर क्रिया विज्ञान, रोग-निदान, स्वास्थ्य, स्वच्छता, एक्सरे विज्ञान, विष-विज्ञान, तथा व्यवहारायुर्वेद का शिक्षण मेडिकल कालेजों में ही हो। शेष विषय जिनका अधिक सम्बन्ध रोगी से है वे आतुरालय में तथा शायद आयुर्वेद के कालेज या स्कूलों में पढ़ाये जांय।

आयुर्वेद की शिक्षा पानेवाले छात्र की योग्यता संस्कृत मध्यमा अनिवार्य होनी चाहिए क्योंकि आयुर्वेद का प्राप्त साहित्य इस समय संस्कृत वाङ्मय में है। इसके प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद नहीं है, आयुर्वेद का शास्त्रीय विवेचन संस्कृत भाषा में होने से उसको समझने के लिये संस्कृत का सम्यक ज्ञान आवश्यक है। वैसा न कर प्रवेशयोग्यता आई० ए० सी. और मैट्रिक रखना अस्पष्ट बतलाता है कि छात्रों को प्रधानतया आयुर्वेद नहीं पढ़ना है, उन्हें पढ़ना है आधुनिक चिकित्सा शास्त्र उसके साथ ही वह आयुर्वेद भी देखलें।

प्रवेश योग्यता, शिक्षणक्रम, पाठ्य विषय तीनों से यही सिद्ध होता है कि आयुर्वेद को प्रमुख स्थान न देकर सहायक या अनुबन्धी स्थान दिया गया है।

पाठ्य विषयों के निर्णय के बारे में मेडिकल कौंसिल को सर्वाधिकार दिया गया है। समझ में नहीं आता कि आयुर्वेद कॉलेज के पाठ्यक्रमका निर्णय मेडिकल कौंसिल को किस दृष्टि से दिया गया। आयुर्वेद सम्बन्धी पाठ्यक्रम का मेडिकल कौन्सिल किस हैसियत से निर्णय करेगी---मेडिकल कौन्सिल आयुर्वेद को विशेषज्ञ संख्या तो है नहीं। विशेषज्ञता

तो दूर रही आयुर्वेद का सामान्य ज्ञान भी जिनको नहीं वे व्यक्ति ही उस विषय के पाठ्यक्रम के भाग्य विधाता हो इसका क्या अर्थ है, सरकार स्वयं ही समझ ले।

ये सब सुझाव और प्रधान-मन्त्री महोदय तथा माननीया अमृतकौर के भाषणा को हम एक साथ सामने रखकर विचार करें तो यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि आयुर्वेद के विलीनीकरण की ही यह रूपरेखा है।

दोनों मन्त्रियों ने यह स्पष्ट घोषित कर ही दिया है कि चाहे जिस प्रणाली का चिकित्सक हो उसको चिकित्सा के बुनियादी तथ्यों का अध्ययन करना अनिवार्य है, और वे बुनियादी तथ्य हैं, आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के विषय।

स्वास्थ्य मन्त्री सम्मेलन में अनेकों प्रान्तों के मन्त्रियों ने देशी चिकित्सा प्रणाली के औचित्य का उचित समर्थन किया। उसी का प्रतिफल है कि ये कुछ सुझाव चाहे तथ्यहीन या अर्धतथ्यमय ही स्वीकृत किये गये।

वैद्य समुदाय का यह आग्रह कतई नहीं है कि वह उन विषयों को जानना नहीं चाहता जो आज के चिकित्साशास्त्र में आविष्कृत हुए हैं। न वैद्य समुदाय का यही आग्रह है कि वह अपने अव्यहृत या अपूर्ण विषयों को त्यागना चाहता है। वैद्य समुदाय अपने अपूर्ण विषयों को पूरा करने के लिए तथा अव्यहृत प्रणालियों को काम में लाने तथा नवाविष्कृत विषयों को गृहीत करने को सर्वथा उद्यत है।

वह चाहता है कि जो कुछ उचित और पर्याप्त विषय जिनसे स्वास्थ्य व चिकित्सा के जिन-जिन अङ्गों की पूर्ति आयुर्वेद से सचमुच हो जाती है, वे विषय आयुर्वेद ही के प्रमुख रखे जांय। सर्जरी चिकित्सा का एक क्रियात्मक कर्म है, यन्त्रादि सब साधन सामग्री है, साधनों के उपयोग तथा शल्य-कर्म को अपनाना अनिवार्य है। उनका विरोध यही है कि जो विषय आयुर्वेद के ठीक है या थोड़े समय में ठीक हो सकते हैं, उनकी जगह आधुनिक पद्धति के विषय क्यों अनिवार्य किये जांय ? चिकित्सा का औषध साध्य विषय यानी मेडिशन विभाग आयुर्वेद से चलाया जा सकता है। उसके लिये थोड़ा समय व थोड़ी संरक्षकता की आवश्यकता है सरकार तदर्थ क्यों नहीं सहयोग देने को उद्यत है?

बिना उचित परीक्षण के सरकार का एकपक्षीय निर्णय पक्षपात विहीन नहीं कहा जा सकता। सरकार का यह निश्चय देश के लिये उचित हित-साधन नहीं कर सकेगा।

सब कुछ वर्तमान विज्ञान में ही है या वर्तमान विज्ञान के निष्कर्ष ही उन्नति के साधन हैं यह दृष्टिकोण विशद ज्ञान का द्योतक नहीं है।

हमें उसके परिणामों को समाज, देश, अर्थ, तथा व्यक्तिगत चरित्र-निर्माणको हिताहिता से नापना होगा। सरकार जिन तरीकों से आयुर्वेद को अपदस्थ करने में संलग्न है, वैद्य समुदाय उसमें भागीदार नहीं हो सकता। वह जन-समुदाय के समक्ष अपनी मांग पेश करेगा।

वह सरकार को अपनी भूल सुधार करने का निवेदन करेगा। वह यत्न करेगा कि देश में आयुर्वेद का औचित्य स्वीकार किया जाय और उसको उचित स्थान प्राप्त हो।

आविष्कारों को या नवीनता के नाम पर वैद्य समुदाय तथा आयुर्वेद की बली चढ़ाई जाय यह कहां का न्याय है।

सरकार आयुर्वेद के लिए वस्तुतः कुछ करना चाहती है तो वह सहीतरीके से किया जाना

(शेषांश ३४६ वें पृष्ठ पर)

देश व्यापी "आयुर्वेद दिवस" की धूम

राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति के रूप में आयुर्वेद को मान्यता दी जाय

आयुर्वेद-प्रेमी जनता की सरकार से मांग

गत २९ अगस्त को निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद सम्मेलन के आदेशानुसार देश भर में 'आयुर्वेद-दिवस' मनाया गया और उस अवसर पर आयोजित सार्वजनिक सभाओं में जगह-जगह निम्न प्रस्ताव स्वीकृत करके केन्द्र तथा राज्य की सरकारों से माँग की गयी कि वह आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति घोषित करे।

प्रस्ताव

—"यह सार्वजनिक सभा दिन प्रतिदिन देश की स्वास्थ्य सम्बन्धी अधोगति तथा तीव्रता से बढ़ रहे रोगों पर नितान्त दुःख का अनुभव करती है। साधारण लोग स्वास्थ्य और सत्वहीन बन रहे हैं, नवीन अप्राकृतिक रोग बढ़ रहे हैं। मृत्युसंख्या बढ़ रही है, जीवनकाल कम हो रहा है, इतने पर भी सरकार पश्चिमीय चिकित्सा पद्धति पर ही अन्धाधुन्ध करोड़ों रुपये व्यय करती चली जा रही है, जिस पर कि यह सभा खेद प्रकट करती है क्योंकि इस देश की अधिकांश जनता की श्रद्धा आयुर्वेद पर है और क्योंकि सरकार द्वारा नियुक्त १३ कमेटियों के समक्ष आयुर्वेद की वैज्ञानिकता एवं उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है—अतएव यह सभा सरकार से यह मांग करती है कि भारतवासियों के हित को दृष्टि में रखते हुए आयुर्वेद को ही भारत की राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति घोषित किया जावे, आयुर्वेद के पुनरुत्थानार्थ सरकार अधिकाधिक संख्या में आयुर्वेद विद्यालय, आतुरालय, आदि स्थापित करे, एवं आयुर्वेद के प्रौढ़ विद्वानों के आधीन केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों में आयुर्वेद अनुसन्धान व अन्वेषक विभाग खोले।"

निम्नलिखित स्थानों से 'आयुर्वेद दिवस' मनाने की सूचना प्राप्त हुई है—

रायपुर

गत २९-८-५०को रायपुर वैद्य सभा और छत्तीसगढ़ वैद्य सम्मेलन के तत्वावधान में 'आयुर्वेद दिवस' समारोहपूर्वक मनाया गया।

प्रातः ८ बजे श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि॰के बिक्री केन्द्र रायपुर में वैद्यों द्वारा भगवान धन्वन्तरि का पूजन किया गया। तदुपरान्त सायंकाल सात बजे कांग्रेस भवन में श्री यतियतनलालजी के सभापतित्व में सार्वजनिक सभा हुई—जिसमें आयुर्वेद की उपयोगिता पर सर्व श्री स्वराज्य प्रसादजी त्रिवेदी, बाबूरामजी शर्मा, ब्रह्मचारी नारायणदासजी आदि सज्जनों के सारगर्भित व्याख्यान हुए। अध्यक्षीय भाषण भी सारगर्भित हुआ।

हमीरपुर

निखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के आदेशानुसार गत ता० २९-८-५० को हमीरपुर जिला वैद्य सम्मेलन के तत्वावधान में 'आयुर्वेद दिवस' मनाया गया। धन्वन्तरि पूजन के बाद एक विशाल सार्वजनिक सभा में बड़े-बड़े विद्वानों के आयुर्वेदोपयोगी भाषण हुए, जिसका जनता पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

दलसिंगसराय

गत २६ अगस्त को दलसिंगसराय (दरभंगा) में 'आयुर्वेद दिवस' के अवसर पर प्रातःकाल नगर वैद्य सम्मेलन कार्यालय में धन्वन्तरि पूजन किया गया, जिसमें शहर के विशिष्ट व्यक्ति उपस्थित थे। सायंकाल ५ बजे स्थानीय राष्ट्रीय विद्यालय में जनता की एक सार्वजनिक सभा दरभंगा जिला के कांग्रेस कर्मी श्री रामदेव सिंह की अध्यक्षता में हुई। उपस्थिति लगभग ५०० की थी। इस अवसर पर आयुर्वेदाचार्य स्वर्णपदक प्राप्त पं० हरिशंकर मिश्र, दरभंगा जिला वैद्य सम्मेलन के सभापति आयुर्वेदाचार्य पं० सुरेन्द्रमोहन भट्ट प्रभृति विद्वानों के भाषण हुए। अन्त में सभापति महोदय ने लगभग एक घण्टे के भाषण में बड़े ही जोरदार शब्दों में कहा कि आयुर्वेद सर्वगुणसम्पन्न है—अतएव भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल प्रतीक आयुर्वेद राष्ट्रीय चिकित्सा के पद पर अविलम्ब आसीन हो—इस बात पर जोर दिया।

भागलपुर

गत २६ अगस्त को आयुर्वेदिक कालेज भागलपुर में श्री महेन्द्रप्रसादजी के सभापतित्व में 'आयुर्वेद दिवस' मनाया गया। कविराज नरेन्द्र प्रसादजी गुप्त द्वारा प्रस्तावित तथा श्री नारायण शर्माजी द्वारा समर्पित एक प्रस्ताव आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति घोषित करने के सम्बन्ध में स्वीकृत हुआ। तदुपरान्त विहार प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के संगठन मन्त्री कविराज विद्यानारायण सिंहजी ने राष्ट्रीय चिकित्सा के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला।

राठ

२६ अगस्त को यहाँ तहसील वैद्य सभा की ओर से एक सार्वजनिक सभा 'आयुर्वेद-दिवस' मनाने के लिए की गयी—जिसमें आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा घोषित करने के सम्बन्ध में प्रस्तावस्वीकृत हुए।

काशी

काशी में भी 'आयुर्वेद दिवस' समारोह पूर्वक मनाया गया।

(शेषांश ३४४ वें पृष्ठ का)

चाहिये। आयुर्वेद को समझने के लिए आयुर्वेदज्ञों ही से राय ली जानी चाहिये।

वह सब जगह वैद्यों को अयोग्य मानकर तथा आधुनिक चिकित्सकों को विज्ञ मानकर चलती हैं।

आयुर्वेद का पाठ्यक्रम, आयुर्वेद के विषय विशेष आयुर्वेद पाठ्य ग्रन्थों के निर्माण आदि का कार्य योग्य वैद्यों से सम्पन्न कराया जाय। चादर में लपेटकर जूता देने की कहावत को सार्थक न किया जाय।

नाम आयुर्वेद का लेकर काम आयुर्वेद के विरुद्ध किया जाय तो शोभा नहीं है।

हम तो यह मानते हैं कि सरकार के समक्ष और अनेक कठिनाइयाँ मुँहबाये खड़ी हैं, अतः वह शायद उन उलझनों के सामने इस ओर उचित ध्यान न दे सकती हो, पर स्वास्थ्य विभाग का तो केवल इसी विषय से सम्बन्ध है, इस विभाग के तो मन्त्री अन्य उलझनों में उलझे हुए नहीं हैं। वे तो अपने को इस प्रश्न का हल उत्तम से उत्तम निकाल तदर्थ उपयोगी सिद्ध करें।

वे स्वयं भ्रान्त होकर औरों को भी भ्रान्त करने का प्रयास न करें। वैद्य समुदाय का उपरोक्त परिस्थिति को देखते हुए यह कर्तव्य स्पष्ट है कि वह इस तरह आयुर्वेद को ग्रसित न होने दें। देश के यह उपयोगी विज्ञान हमारी उपेक्षा, या दुर्बलता से अपना उचित स्थान पाने से वञ्चित न हो जाय।

आशा है वैद्यवर्ग इस स्थिति को देखते हुए अपने-अपने प्रान्तोकों सुधारने के लिये उचित प्रयत्न करने में कोई त्रुटि न रखेगा।

बम्बई

आयुर्वेद चिकित्सक मण्डल, बम्बई की ओर से आयुर्वेद दिवस मनाने के लिए आयोजित एक सार्वजनिक सभा गत २६ अगस्त को सेठ श्री चिरञ्जीलालजी लायलका के सभापतित्व में हुई। सभा की कार्यवाही मंगलाचरण से प्रारम्भ हुई। इसके बाद आयुर्वेद चिकित्सक मण्डल के सभापति वैद्यराज पं० सीताराम मिश्र आयुर्वेदाचार्य ने आयुर्वेद महामण्डल एवं विद्यापीठ की तरफ से आया हुआ मूल प्रस्ताव पढ़कर सुनाया जिसका अनुमोदन चंचल बहन देशाई ने किया। फिर आयुर्वेद की उपयोगिता एवं आयुर्वेद के प्रति केन्द्रीय सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों के कर्त्तव्य पर सर्व श्री वैद्यराज पं० रामशिरोमणिजी द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य, पं० निरंजनजी शर्मा, अजित पत्रकार, वैद्यराज कन्हैयालालजी मिश्र आदि विद्वानों के बहुत ही सारगर्भित भाषण हुए।

अध्यक्ष पद से मनोनीत अध्यक्ष ने भाषण देते हुए आयुर्वेद की सर्वांगीण उपयोगिता पर प्रकाश डाला और जनता से जोरदार शब्दों में अपील की कि जनता आयुर्वेद के उद्धार के लिए सचेष्ट रहे।

स्वास्थ्य मन्त्री सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्ताव

३१ अगस्त १९५० से २ सितम्बर १९५० तक दिल्ली में भारत के स्वास्थ्य-मन्त्रियों का जो सम्मेलन हुआ था, उसमें आयुर्वेद के सम्बन्ध में निम्नाक्त प्रस्ताव स्वीकृत हुए—

जो वैद्य या हकीम रजिस्टर्ड नहीं हैं उन्हें चिकित्सा-कार्य करने का निषेध कर दिया जाय। स्नातक-परीक्षा के लिये भौतिक विज्ञान, कैमिस्ट्री तथा प्राणिविज्ञान के प्रारम्भिक ज्ञान के साथ-साथ आई० एस-सी० पास होना जरूरी है। उपाधि-परीक्षा (Diploma course) के लिये दसवीं कक्षा (Matriculation) तक पास होना आवश्यक है। शिक्षा के दौरान में भौतिक विज्ञान, रसशास्त्र तथा प्राणिविज्ञान की भी पर्याप्त शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये।

पाँच वर्ष के अन्दर प्रारम्भिक शिक्षा का स्तर आई० एस-सी० कर दिया जाय।

स्नातक तथा उपाधि दोनों ही प्रकार की परीक्षाओं के लिये आयुर्वेद के विद्यार्थी को संस्कृत का तथा यूनानी के विद्यार्थी को अरबी अथवा फारसी का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिये।

दोनों ही प्रकार की परीक्षाओं के लिये शरीर-रचना-विज्ञान (Anatomy), शरीरक्रिया-विज्ञान (Physiology), विकृति-विज्ञान (Pathology), स्वस्थवृत्त (Hygiene), क्ष-किरण-विज्ञान (Radiology), व्यवहारायुर्वेद (Medicaljurisprudence), अगदतन्त्र (Taxicology) की शिक्षा आधुनिक चिकित्सापद्धति के आधार पर होगी।

स्नातक-परीक्षा के प्रत्येक विषय की शिक्षा का मापदण्ड इण्डियन मेडिकल काउन्सिल द्वारा नियत शिक्षा के मापदण्ड के समान हो तथा उपाधि-परीक्षा का मेडिकल लाइसेंसियेट परीक्षा (Medical licentiate course) के समान हो। देशी चिकित्सा-पद्धतियों के शरीर-क्रिया-विज्ञान (physiology) तथा विकृति-विज्ञान (Pathology) की शिक्षा का भी प्रबन्ध हो।

स्नातक तथा उपाधि-परीक्षाओं से सम्बन्धित शल्यतन्त्र (Surgery) तथा नेत्र-विज्ञान (Opthalmology), शालाक्यतन्त्र (Otorhynolaryngology), प्रसूतितन्त्र (Obstretrics) स्त्रीरोग (Gynaecology) की शिक्षा आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के अनुसार हो तथा स्नातक-परीक्षा की शिक्षा विश्वविद्यालय के स्तर पर

और उपाधि-परीक्षा की शिक्षा लाइसेंसियेट स्तर पर होगी।

पदार्थ-विज्ञान (Pharmacology) द्रव्य गुणविज्ञान (Materia medica) रोग-निदान (Therapeutics) तथा चिकित्सा-विज्ञान (Clinical medicine) की शिक्षा आधुनिक तथा देशी दोनों ही पद्धतियों के अनुसार हो। यहाँ भी प्रत्येक विषय में शिक्षा का स्तर स्नातक कोर्स के लिये इंडियन मेडिकल कउन्सिल द्वारा नियत शिक्षा के माप-दण्ड के अनुसार तथा उपाधि-परीक्षा के लिए मेडिकल लाइसेंसियेट के शिक्षा के मापदण्ड के अनुसार हागा।

पाठ्यक्रम के सन्बन्ध में विस्तार से विचार करने का भार स्वास्थ्य-सचिवों की केन्द्रीय सभा पर छोड़ा गया।

शिक्षण-काल

स्नातक-परीक्षा के लिये शिक्षा का समय ५ वर्ष तथा उपाधि-परीक्षा के लिये ४ वर्ष होगा।

उपाधि-परीक्षाओं की समस्त शिक्षण-संस्थाओं को १० वर्ष के अन्दर स्नातक परीक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं के स्तर पर कर दिया जाय।

आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के चिकित्सकों के लिये आयुर्वेद तथा यूनानी में स्नातकोत्तर शिक्षण का काल १ वर्ष होगा।

चिकित्साके अतिरिक्त अन्य विषयोंमें यह उचित जान पड़ता है कि देशी चिकित्सा-पद्धतियों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थीयों को यदि सम्भव हो तो आधुनिक चिकित्सा-पद्धति में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थीयों जैसी शिक्षा दी जाय।

देशी प्रणालियों के शिक्षार्थियों के लिये चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा का पृथक प्रबन्ध होना आवश्यक होगा। इन चिकित्सा-प्रणालियों की शिक्षा के लिये सम्पूण साधन-सम्पन्न हस्पताल जिस में रोगी शय्याओं का उचित प्रवन्ध हो तथा आवश्यक साधनों से युक्त शिक्षा-विभाग की व्यवस्था होनी चाहिये। इन संस्थाओं के शिक्षकों को उचित वेतन मिले।

यह भी निश्चय हुआ कि प्रत्येक प्रान्त में उपर्युक्त शिक्षा प्रदान करने वाला एक कॉलेज या तो सरकार द्वारा चलाया जावे या सरकारी सहायता प्राप्त हो।

चोपड़ा-समिति की सिफारिसशों के अनुसार देशी चिकित्सा-पद्धतियों के औषध, सिद्धान्त तथा चिकित्सा सम्बन्धी प्रत्येक अङ्ग पर विस्तृत अनुसन्धान किया जावे।

भारत सरकार को चाहिये कि यह अनुसन्धान का कार्य जितनी तीव्र गति और विस्तार से हो सके करे, क्योंकि इस प्रकार के अनुसन्धान के परिणामों द्वारा ही अनेक विवादग्रस्त विषयों का निपटारा संभव होगा।

सरकार द्वारा स्थापित आयुर्वेदिक अनुसन्धान संस्था का निर्देशक आयुर्वेदोन्नति विषयक समस्त मामलों पर सरकार का सलाहकार भी होगा।

देशी प्रणालियों की शिक्षा के लिये पाठ्यग्रन्थों के प्रकाशन तथा निर्माण का उचित प्रबन्ध किया जावे।

आयुर्वेद-यूनानी और होमियोपैथिक उपाधियाँ एक दूसरे से भिन्न होनी चाहिये। वे आधुनिक चिकित्सा-पद्धति की उपाधियाँ अथवा एक दूसरे की उपाधियों की नकल न हो।

राजकीय स्वास्थ्य-सेवा के काय करनेवाले देशी चिकित्सकों व आधुनिक चिकित्सा के डाक्टरों का वेतन एक समान होगा यदि उनकी शिक्षा का काल तथा स्तर एक-सा रहा हो।

प्रान्तीय बार्ड वैद्यों और हकीमों के रजिस्ट्रेशन

और प्रेक्टिस पर नियंत्रण के लिये बनाये जाएँ। नई संस्था चलाने और उनका प्रबन्ध करने कई प्रांतों में बोर्डों को जो अधिकार दिया गया है वह छीन लिया जावे और इसके लिये पृथक् प्रबन्ध किया जावे। जिन्होंने ४ या ५ वर्ष का कोर्स पास किया है उन्हें ही रजिस्टर्ड किया जावे, इससे कम पढ़े हुए रजिस्ट्रेशन के अधिकारी न होंगे। प्रान्तीय बोर्डों के सदस्य देशी चिकित्सा-पद्धतियों के रजिस्टर्ड चिकित्सक और आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के रजिस्टर्ड चिकित्सक हो सकेंगे।

देशी चिकित्सा-पद्धति के चिकित्सकों के लिये प्रामाणिक और विशुद्ध औषधियां मिलने का प्रबन्ध सरकार करे। (वै० स० पत्रिका से)

आयुर्वेद अमर है

गत २६ अगस्त को आयुर्वेद के डिप्टीडायरेक्टर श्री डी० ए० कुलकर्णी सीतापुर पधारे और गांवो में जाकर आयुर्वेदिक औषधालयों का निरीक्षण किया। जिला वैद्य सभा द्वारा आयोजित एक सार्वजनिक सभा में श्री कुलकर्णी महोदय ने भाग लिया। सभा में श्री कुलकर्णी को कई संस्थाओं की ओर से मान पत्र भी दिए गए। अपने सम्मान में दिए गए मान पत्रों के उत्तर में श्री कुलकर्णी महोदय ने आयुर्वेद के सम्बन्ध में जो मननीय बिचार व्यक्त किए "सचित्र आयुर्वेद" के पाठकों की जानकारी के लिये यहां दिये जा रहे हैं।

वक्तव्य प्रारम्भ करते हुए डायरेक्टर महोदय ने कहा कि "इस समय राष्ट्रीय सरकार के होते हुए भी आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है, एलोपैथिक अस्पताल खोलते समय सरकार ३५ हजार की इमारत बनवाने की बात पहले ही सोच लेती है—किन्तु देशी चिकित्सा पद्धति के औषधालय झोपड़ों में खोल दिए जाते हैं। अनेक ऐसे सरकारी वैद्य हैं, जिन वेचारों को बरसात में छाता लगाकर अपने-अपने औषधालय में बैठना पड़ता है। किन्तु इससे वैद्यों को घबराना नहीं चाहिए। चाहे जितना भी विलम्ब हो, यह तय है कि आयुर्वेद ही भारत की राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति के रूप में प्रतिष्ठित होगा। सम्प्रति भले ही कोई ऐलोपैथी, होम्योपैथी, क्रोमोपैथी आदि किसी भी पद्धति से चिकित्सा करने का दावा करे, किन्तु अंग्रेजियत मिट जाने के बाद उसे कहना पड़ेगा कि वह आयुर्वेदिक चिकित्सक है। जो वैद्य अपने को डाक्टर कहते या लिखते हैं, बड़ी भूल करते हैं। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि आगे चलकर डाक्टरों को भी वैद्य शब्द लिखना पड़ेगा। क्योंकि राष्ट्र भाषा हिन्दी की उन्नति के साथ-साथ डाक्टर शब्द का भी अन्त होना निश्चित है। अतः वैद्यों को स्वयं डाक्टर न लिखकर डाक्टरों को वैद्य शब्द लिखने के लिए विवश करना चाहिए। किसी देशी औषधि को यदि विदेशी नाम से पुकारते हैं तो वह बिदेशी नहीं हो सकती है। चिरायता और कुनैन दोनों ही ज्वर को नष्ट करते हैं किन्तु इसके प्रयोग के लिये त्रिदोष सिद्धान्त का ज्ञान आवश्यक है। यदि डाक्टर लोग भी त्रिदोष सिद्धान्त का ज्ञान कर लें तो उन्हें अपने व्यवसाय में सफलता मिल सकती है। आयुर्वेदीय चिकित्सा द्वारा ६० प्रतिशत रोगी आज भी लाभ उठाते हैं किन्तु सरकार उस चिकित्सा पद्धति पर २० प्रतिशत भी नहीं खर्च करती है। सरकार ने अबतक अनेकों समितियों का निर्माण किया है और सभी ने आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहन देने की सिफारिस की है, किन्तु अबतक इस दिशा में जो कुछ भी हुआ है वह नहीं के बराबर है। चाहे आयुर्वेद पर कितने ही कुठाराघात क्यों न हों, वह अमर है,

उसे कोई भी शक्ति मिटा नहीं सकती है। मेरा विश्वास है कि देहातों के लिये देशी चिकित्सा पद्धति ही उपयोगी सिद्ध हो सकती है। क्योंकि ग्रामीण वातावरण के लिये डाक्टर एकदम अनुपयुक्त सिद्ध हुए हैं। गांव में जाने के पूर्व ही डाक्टर स्टेशन, पोस्टआफिस, पक्की-सड़कें आदि की सुविधाओं का ख्याल करता है। इन साधनों के बिना कोई भी डाक्टर देहात में जाने को तैयार नहीं होता—जब कि हमारे वैद्य इसकी परवाह किये बिना ही सहस्रों वर्षों से देहातों में चिकित्सा कार्य करते चले आ रहे हैं।"

अपने भाषण का उपसंहार करते हुए श्रीकुलकर्णी ने कहा कि वह समय अब आ गया है, जब कि हमें आगे बढ़कर सरकार के सामने डाक्टरों के समान अपना सम्मान प्रदर्शित करना है। इसके लिए सब से पहले आवश्यकता होगी योग्य वैद्यों की तथा आयुर्वेदिक कालेजों की। हम नहीं चाहते कि कोई भी आयोग्य वैद्य चिकित्सा कार्य करे या साधन विहीन आयुर्वेदिक कालेज झूठमूठ पढ़ाने का ढोंग रचे। अच्छा होता कि सरकार आयुर्वेद को आगे बढ़ाने का गौरव स्वयं प्राप्त कर लेती अन्यथा वह समय आए बिना नहीं रहेगा जब कि जनता आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति की गाँव-गाँव में मांग करेगी। उस समय सरकार को विवश होकर देशी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहन देना ही होगा।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के बिक्री केन्द्रों द्वारा

वनस्पति (घी) का विरोध

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि के पटना कार्यालय से प्राप्त एक सूचना के अनुसार ज्ञात हुआ है कि श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के प्रायः सभी बिक्री केन्द्रों के कर्मचारी और प्रमुख एजेन्टों ने वनस्पति घी विरोधी छपे फार्म पर काफी लोगों से हस्ताक्षर कराकर केन्द्रीय सरकार के पास भेजा है। जिन-जिन स्थानों से हस्ताक्षर किये हुए विरोधात्मक फार्म भेजे जाने की सूचना मिली है, उनमें भागलपुर, मुजफ्फरपुर, लहेरियासराय, छपरा, गया, रांची, सिवान, पूर्णियाँ, मुंगेर, मोतीहारी, टाटानगर, वैद्यनाथधाम, डाल्टनगंज, मेरठ, बस्ती, बनारस, गोरखपुर, जौनपुर, देवरिया, हाथरस, अलीगढ़, गोंदिया, अकोला, रायपुर, यवतमाल, अमरावती, जब्बलपुर, बिलासपुर आदि मुख्य हैं।

शास्त्रचर्चा—परिषद्

३० अगस्त १९५० को निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन की बैठक में पटना में होने वाली 'शास्त्र-चर्चा परिषद्' पर भी चर्चा हुई। इस निर्णय की पुनः पुष्टि की गयी कि कुछ चुने हुए विद्वान, वैद्य, डाक्टर, दार्शनिक और वैज्ञानिक पटना में एकत्रित होकर आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों पर विचार करें, उनका आधुनिक विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र के साथ समन्वय कहां तक हो सकता है, इसका विचार पूर्वक निर्णय करें और उन सिद्धान्तों की यथार्थता तथा उपयोगिता जगत् के सामने प्रमाणित करें। इस शास्त्रचर्चा-परिषद् का व्यय श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, पटना वहन करेगा और वही प्रतिनिधियों के स्वागत सत्कार की व्यवस्था करेगा, एतदर्थ उपस्थित विद्वानों ने श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के प्रतिनिधि को पटना में 'शास्त्रचर्चा परिषद्' के आयोजन के सत्प्रयत्न के लिए अनेकशः धन्यवाद दिये। इस तरह की शास्त्रचर्चा परिषद पहले एक बार काशी में हुई थी और फिर दूसरी बार पुण्यपत्तन (पूना) में। अब तीसरी बार यह पाटली पुत्र (पटना) में होगी।

राजस्थान सरकार के आयुर्वेदीय विभाग का १९५०-५१ का स्वीकृत वजट

३८, ए (इ)

डायरेक्टरेट विभाग

(१) आयुर्वेदीय और यूनानी इन्सपेक्टरेट
(विस्तृत विवरण १३३ पृष्ठ[1] पर देखें) ४६,८८७

३८-सी (बी)

(२) आयुर्वेदिक और यूनानी औषधालय
(विस्तृत विवरण पृष्ठ संख्या १६१ पर देखें)
६,२२,६५८

३८-सी (ii)

(iii) सेण्ट्रल औषधालय, उदयपुर २६३७६
(विवरण पृष्ठ १६१ पर देखें)

३८-सी (iii)

(iv) नेचर क्योरसेण्टर (प्राकृतिक-चिकित्सा केन्द्र), उदयपुर ८४१६
(विस्तृत विवरण २६१)

३८-डी

(v) दवा आदि के लिये ग्रान्ट ६५०५७

कुल जमा १०७५६६६

(vi) एक वर्षीय योजना के लिये २००,०००
१ चलते-फिरते औषधालय ०,००,०००
२ १०० वैद्यों के लिये ग्रान्ट ६०,०००
३! ग्रामीण क्षेत्रों के लिये औषधियां ४०,०००

२,००,००

(viii) मेडिकल ट्रेनिंग स्कूल, उदयपुर
३४, ७८

कुल रु० १३,१०,४७७

२. बोर्ड आफ इण्डियन सिस्टम आफ मेडसिन्स
(विस्तृत विवरण १३१ पृष्ठपर देखें) ६,१६७

फार्मेसी विभाग

(१) अफसरों का वेतन ६,०००
(२) आयुर्वेदिक फार्मसी, जोधपुर ६१,८५५
(३) आयुर्वेदिक फार्मसी, उदयपुर १३,७१६
(४) आयुर्वेदिक फार्मसी, जयपुर १०,०६६

कुल रु० ९१,६७७

आयुर्वेदिक कालेजों के लिये

(१) आयुर्वेदिक कालेज, जयपुर ८५,१५०
(२) आयुर्वेदिक कालेज, उदयपुर २०५००

कुल रु० १,०५,६५०

अ० शि० आ० कालेज वेगूसराय

ता० १७-६-५० को अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेद महाविद्यालय के छात्रावास में श्री कृष्णचन्द्र प्रसादजी, बी० एस० सी० की अध्यक्षता में छात्रों की सर्व साधारण बैठक हुई। जिनमें निम्न प्रस्ताव सर्व सम्मति से स्वीकृत हुए।

१—अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेद महाविद्यालयकी यह छात्र समिति बिहार सरकार का ध्यान गत ता० ३१ ८-५० को हुए भारत के स्वास्थ्य मन्त्रियों के सम्मेलन पर आकृष्ट करती हैं और (उसके प्रस्ताव सं० ६ को दृष्टिकोण में रखते हुए) यह अनुरोध करती है कि जिस प्रकार पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के स्नातकों (एम० बी० बी० एस०) को आयुर्वेद के ज्ञान के लिए एक वर्ष की अवधि रखी गई है, उसी प्रकार बिहार सरकार से स्वीकृत आयुर्वेद स्नातकों (जी० ए० एम० एस०) को भी पाश्चात्य विज्ञान जानने के लिए एक वर्ष की अवधि रखे, जिससे भारतसरकार के मूल लक्ष्य चिकित्सा समन्वय 'सिंथेसिस औफ मेडिसिन्स' में भी लोग सहायक बन सकें।

[1] पृष्ठ संख्या वजट की है।

२—यह समिति भारतसरकारके डिप्लोमा कोर्स के निर्णय का हृदय से स्वागत करती है और बिहार सरकार से अनुरोध करती है कि वे तदनुसार अधिकाधिक आयुर्वेद को संस्था खोल कर उस ध्येय की पूर्ति करे। साथ ही चालू विद्यालयों में तदनुसार अध्यापन का शीघ्र आयोजन करे। और सम्प्रति प्रथम वर्ष में प्रविष्ट सभी छात्रों को उक्त डिप्लोमा कोर्स के प्रथम वर्ष में निर्विवाद प्रविष्ट करले।

३—यह समिति बिहार सरकारसे साग्रह अनुरोध करतो है कि अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेद महाविद्यालय 'जिसमें बिहार में वतमान सभी विद्यालयों से अध्यापन के अधिक साधन मौजूद हैं, यथा शीघ्र केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्णीत डिप्लोमा कोर्स की स्वीकृति प्रदानकरे और इसे तदर्थ सभी उपकरण एवं सम्भारों से सम्पन्न करे।

मन्त्री

अन्तर्राष्ट्रीय चिकित्सा कालेज

बम्बई

भारत सरकार को स्वास्थ्य मन्त्रिणी राजकुमारी अमृतकौर ने ३० सितम्बर को यहां शल्य चिकित्सक अन्तर्राष्ट्रीय कालेज की भारतीय शाखा के प्रथम वार्षिकोत्सव का उद्घाटन करते हुए कहा कि भारतीय चिकित्सकों को चाहिये कि अपना दृष्टिकोण विस्तृत कर विश्व के चिकित्सकों से सम्पर्क कायम कर और उनके विस्तृत ज्ञान से लाभ उठावें और उसका उपयोग भारतीय जनता की सेवा में करें। बम्बई के प्रसिद्ध चिकित्सक डा० आर० एन० कूपर ने अधिवेशन की अध्यक्षता की।

यह अन्तर्राष्ट्रीय चिकित्सक कालेज १९३५ में जिनेवा में उपस्थित हुआ था। आज दिन विश्व के २२ देशों में इस कालेज की शाखाएँ स्थापित हैं। इस कॉलेज की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह है कि विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के प्रमुख चिकित्सक आपस में एकत्र होकर शल्य चिकित्सा-पद्धति के विकास का मार्ग निर्धारण करें। भारतीय शाखा को स्थापना सन् १९४७ में हुई है।

राजकुमारी अमृतकौर ने अपने वक्तव्य के सिलसिले में कहा कि भारतीय चिकित्सा-पद्धति ने वर्त्तमान कालमें बहुत उन्नति की है, फिर भी इसे और विकसित होने की जरूरत है। दिल और दिमाग की चिकित्सा का मार्ग अभी और विकसित करने की जरूरत है। भारतीय चिकित्सक अभी इस क्षेत्र में बहुत पीछे हैं। इन्हें चाहिए कि इस विषय के विदेशीय विशेषज्ञ चिकित्सकों से सम्पर्क कायम कर उनके अनुभव से लाभ उठावें। भारत सरकार अखिल भारतीय मेडिकल कालेज की स्थापना का विचार कर रही है जिसमें प्रथम श्रेणी के पोस्ट ग्रेजुएट के छात्र शिक्षा प्राप्त करेंगे। इस बारे में कार्यक्रम तैयार किया जा रहा है।

सभापति के पद से भाषण देते हुए डा० आर० एन० कूपर ने कहा कि इस कालेज को स्थापना का उद्देश्य बहुत ही ऊँचा है और पारस्परिक संपर्क से आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की उन्नति होगी। फिर भी यदि हम सुश्रुत की चिकित्सा प्रणाली को भी अपनावें तो हमें विशेष सहयोग प्राप्त होगा। आपने आशा प्रकट की कि भारतीय चिकित्सक भारत की प्राचीन चिकित्सा प्रणाली को अवश्य अपनावेंगे।

दो अभिनव बैद्यनाथ प्रकाशन

राजस्थान के आयुर्वेद-विभाग के डाइरेक्टर वैद्यरत्न, कविराज, डा० प्रतापसिंहजी रसायनाचार्य, डी० एस० सी० (आयु०), पी० सी० एस० की सम्मति :—

मानसरोग-विज्ञान

मूल्य—५॥)

लेखक—बालकृष्ण अमर जी पाठक

मानसरोग-विज्ञान का प्रकाशन कर श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ने आयुर्वेद के अध्ययनशील वैद्यों और विद्यार्थियों का बड़ा उपकार किया है। बड़ी खोज और परिश्रम से इसका सङ्कलन कर दिवंगत डा० बालकृष्ण अमरजी पाठक अपने यशःशरीर से अजर-अमर हो गये हैं।

रोगी मनुष्य का आशय समझे विना चिकित्सा करना अँधेरे में निशाना लगाना है और मनोविज्ञान के ज्ञान विना रोगी मनुष्य का आशय समझना दुष्कर है। इस ग्रन्थ के प्रकाशित हो जाने से मनोविज्ञान सम्बन्धी अनेक रोगों के समझने में सारल्य हो गया है। मनोविज्ञान का विषयवार अध्ययन-अध्यापन करने में भी ऐसे ग्रन्थ के अभाव से बड़ा कष्ट अनुभव हो रहा था। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन से उस अभाव की भी पूर्ति हो गयी है। मैं आयुर्वेद के विद्यार्थियों और वैद्यसमाज को इसका अध्ययन करने के लिए साग्रह परामर्श देता हूँ।

—

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान

मूल्य—५)

लेखक—वैद्य रणजितराय

अपना पृथक् प्रकाशन-विभाग स्थापित कर श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के सञ्चालक स्थायी साहित्य के प्रकाशन का जो कार्य कर रहे हैं, यह उनके बड़े सराहनीय कार्यों में से एक है। वैद्य रामरक्ष जी पाठक के 'पदार्थ-विज्ञान' का प्रकाशन करने के बाद तुरन्त ही वैद्य रणजितराय जी के 'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान' का प्रकाशन करना उनकी बड़ी ही उदारता और सत्साहस का परिचायक है।

वैद्य रणजितराय जी आयुर्वेद के सिद्धहस्त वैज्ञानिक लेखक के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। तर्क, मनन और लेखन की आपकी शैली ऐसी उत्तम है कि प्रत्येक पाठक को उसकी ओर वलात् आकर्षित होना ही पड़ता है। आपकी लेखन-शैली में अर्थगाम्भीर्य है, विवेक है, ओज है और है आयुर्वेद के भविष्य को उज्ज्वल बनानेवाला पथनिर्देश, जिसपर चलकर भविष्य के लेखक, परीक्षक और समीक्षक खोज (रिसर्च) कर सकेंगे।

इस ग्रन्थ के लेखक और प्रकाशकों को मैं हार्दिक धन्यवाद समर्पित करता हूं और वैद्य-बन्धुओं को इसका पठन-पाठन कर लाभ उठाने के लिए साग्रह परामर्श देता हूं।

—


SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD.
REGISTERED TRADE MARK
CALCUTTA

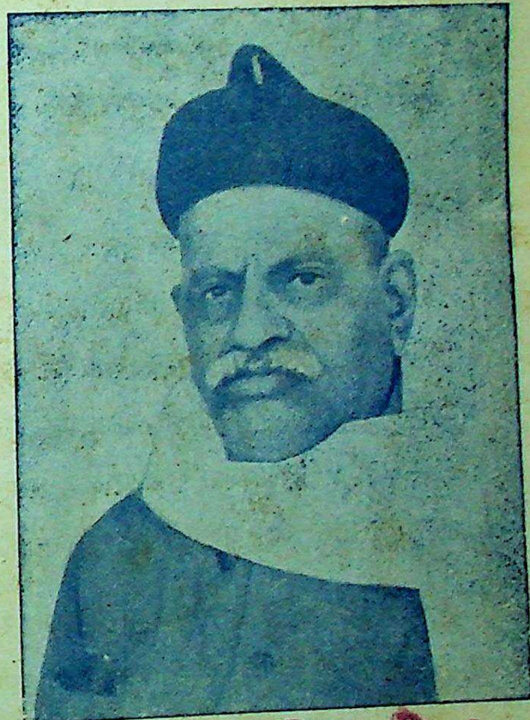
सचित्र
आयुर्वेद

कलकत्ता, नवम्बर १९५० [अङ्क

मनुष्य-जाति का पुण्य पर्व

"बहुत से विद्वानोंने यह निष्पक्ष रूप से स्वीकार कर लिया है कि चरक और सुश्रुत की संहिताओं पर आधारित जो चिकित्सापद्धति भारत-वर्ष में प्रचलित थी, उसे ही अरबों ने ग्रहण किया और वे उसे यूरोप ले गये। इस प्रकार धन्वन्तरि-जयन्ती-समारोह एक ऐसा पर्व है, जिसे समस्त सभ्य मानव-समाज को मनाना चाहिए।"

माननीय विहार-गवर्नर लोकनायक
श्री माधव श्रीहरि अणे



रसभस्मों की श्रेष्ठता

जनता और सरकार के सामने राष्ट्रीय चिकित्सापद्धति आयुर्वेद का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिए वैद्यगणों को आयुर्वेदीय रसभस्मों का अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिए, हमारे इस कथन से सभी वैद्यराज सहमत होंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। आयुर्वेदीय चिकित्सा में रसभस्मों का प्रयोग सबसे जल्दी फायदा करता है। शरीर के प्रत्येक परमाणु पर इनका प्रभाव इन्जेक्शन से भी ज्यादा होता है। परन्तु अनेक प्रचलित इन्जेक्शनों की तरह इनका कोई विषैला प्रभाव शरीर पर नहीं होता। इनकी १-२ रत्ती खुराक ही एक-दो घण्टे में अपना असर दिखाती है और इनकी छोटी-सी गोली लेने में अमीर स्वभाव के रोगी को भी अरुचि नहीं होती। इसीलिए आयुर्वेद शास्त्र में रसभस्मों द्वारा चिकित्सा करनेवाला चिकित्सक उत्तम माना गया है।

महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तों में तो रसभस्मों का प्रयोग काफी होता है। काष्ठादि दवा के साथ रसभस्मों का प्रयोग बहुत ही चमत्कारी फल दिखाता है। महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तों में जुकाम-सर्दी लग जाने पर अभ्रक भस्म दी जाती है, जिस से रोगी जल्द अच्छा हो जाता है। पाण्डु, संग्रहणी, शोथ, खून की कमी आदि में लोह या मण्डूर भस्म देना बहुत ही जरूरी है। राजयक्ष्मा के लिए स्वर्ण-भस्म से अच्छी कौन-सी दवा है? दिल को ताकत देने के लिए मोती और प्रवाल भस्म सर्वोत्तम हैं।

प्राचीन काल में हमारे देश में रसभस्मों का कितना प्रचार था, इसका पता इसीसे चलता है कि प्राचीन संहिताओं में बालक के जन्मते ही स्वर्णभस्म खिलाने का विधान किया गया है। इस प्रकार अनुभव से व शास्त्र से रसभस्मों की उपयोगिता निर्विवाद है। लेकिन गुणहीन, अशुद्ध, कच्ची भस्मों से तो लाभ के बदले हानि ही होगी; और रंगरूप से रसभस्मों का पहचानना प्रायः असम्भव ही है। इसलिए रसभस्में खरीदते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस कारखाने की रसभस्में आप खरीद रहे हैं, वह पूर्ण विश्वासी है या नहीं?

सचित्र आयुर्वेद

निर्देशक

संदिग्धवनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद-महामहोपाध्याय, रसायनशास्त्री

श्री पं० भागीरथ स्वामी, *आयुर्वेदाचार्य, भिषक्-चूडामाण*

प्रधान सम्पादक

पं० रामनारायण शर्मा, *वैद्यशास्त्री*

सहायक सम्पादक

पं० सभाकान्त झा, *आयुर्वेदशास्त्री*

वार्षिक मूल्य ४) साधारण अंक एक प्रति ।=)

यकृत्-अङ्क १) आयुर्वेद और सरकार अङ्क २)

प्राप्ति-स्थान

भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

की

४ निर्माण-शालाएँ

५० बिक्री-केन्द्र

और १४००० एजेन्सियाँ

सुख और स्वास्थ्य की कुंजी

आरोग्य-प्रकाश

— प्रत्येक घर में रहना ही चाहिए —

भारत-प्रसिद्ध श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री ने ५—६ वर्षों में बड़े परिश्रम से स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, सदाचार, उत्तम विचार आदि पूर्वार्द्ध के विषयों को पढ़ कर और तदनुसार चल कर सदा बीमार रहने वाला रोगी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होने वाले सभी रोगों की उत्पत्ति, कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि बड़ी सरल भाषा में लिखे हैं, जिन्हें पढ़ कर विद्वान् से लेकर साधारण पढ़े-लिखे तक सभी समान भाव से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे हैं, वे बहुत बार के परीक्षित, कभी भी फेल न होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात, सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुंचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके सात संस्करणों में ५३ हजार प्रतियाँ छप कर बिक चुकी हैं और यह आठवाँ संस्करण १५ हजार का अब समाप्त हो रहा है। इससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है, यह कहा जाय, तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ५१५ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य सिर्फ—१।।।), डाक खर्च ।।=), हमारे ४ निर्माण केन्द्रों, ५० बिक्री-केन्द्रों तथा १४ हजार एजेन्सियों से प्रत्यक्ष खरीदने पर या एक साथ तीन प्रति लेने से डाकखर्च नहीं लगेगा।

वैद्यनाथ प्रकाशन : द्वितीयावृत्ति : मूल्य ६) मात्र

सचित्र शरीर-क्रिया-विज्ञान

(दोष-धातु-मल-विज्ञान)

लेखक : वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालङ्कार,
उपाचार्य, श्री नाथ्कर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत

कुछ विशिष्ट सम्मतियाँ

आयुर्वेदाचार्य श्री हरदयाल वैद्यवाचस्पति, V. V., K. R., A. V., M. A. S., अध्यक्ष, पूर्वी पञ्जाब आयुर्वेद यूनानी चिकित्सा बोर्ड, अमृतसर की सम्मति :—

ऋषिप्रणीत संहिताओं के पश्चात् यह प्रथम ग्रन्थ है, जिसने आर्ष शैली को उपस्थित किया है। आयुर्वेदीय छात्रों के लिए यह शिक्षास्थानीय ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होकर साहित्य की श्रीवृद्धि का कारण बनेगा।

राजवैद्य नन्दकिशोर शर्मा भिषगाचार्य, आयुर्वेद-प्रधानाध्यापक, संस्कृत कालेज, जयपुर की सम्मति :—

मुझे विश्वास है कि शिक्षासंस्थाएँ इसे अपने विषय में प्रथम स्थान देने में गौरव मानेंगी।

आयुर्वेदाचार्य श्री रामरक्ष पाठक, F. A. I. M. (Madras), आचार्य, श्री अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय की सम्मति :—

इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद आयुर्वेद-विद्यालयों के पाठ्यग्रन्थों में 'ह्लेलीबर्टन' का स्थान नहीं रह जाता।

श्री पी० एम० मेहता, एम० डी०, एम० एस०, एफ० सी० पी० एस०, चीफ मेडिकल आफिसर, नवानगर स्टेट की सम्मति :—

शरीर-क्रिया-विज्ञानसम्बन्धी ज्ञान का निचोड़ इस ग्रन्थ में अत्यन्त सुन्दर शैली से दिया गया है।

आयुर्वेदाचार्य श्री शुकदेव शर्मा, साहित्य-सांख्य-योगाचार्य, M. O. L. (P. U.), G. A. M. S. (Bihar), प्रिंसिपल, राजकुमार सिंह आयुर्वेदिक कालेज, इन्दौर की सम्मति :—

It is a pioneer publication in the field of Ayurvedic physiology and tries to explain many phenomena elucidated by the ancients in the modern medical sense.

वैद्य श्री एस० एन० जोशी, प्रिंसिपल, एम० जी० आयुर्वेदिक कालेज, नाडियाद की सम्मति —

There is a happy blending of the modern information with the ancient one, without marring the entity, beauty and identity of the original.

आयुर्वेदाचार्य डा० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी M. B. (Cal.), M. D. (Berlin), निदानाध्यापक, कारमाइकेल मेडिकल कालेज, कलकत्ता की सम्मति :—

Kindly accept my sincere congratulations for bringing out the book शरीर-क्रिया-विज्ञान which has become very appropriate and has appeared at the right time. India is now passing through a stage of regeneration and reconstruction and your book will go a long way in the resusciation of Ayurved. I have the greatest pleasure to have a close study of your book.

अभिनव वैद्यनाथ प्रकाशन] [मूल्य २॥=)

त्रिदोषतत्त्व-विमर्श

लेखक---**वैद्य रामरक्ष पाठक,** आयुर्वेदाचार्य

वर्तमानकालिक विभिन्न आयुर्वेदीय पाठ्यक्रमों तथा पाठनशैलियों के कारण एवं आयुर्वेद के इस मूलभूत सिद्धान्त—त्रिदोष के अध्यापनार्थ उपयुक्त ग्रन्थ के अभाव के कारण आयुर्वेद के विद्यार्थियों की मनोवृत्ति को आयुर्वेद के स्तम्भभूत त्रिधातु-सिद्धान्त से विचलित होते देख यह आवश्यकता प्रतीत हो रही थी कि इस विषय पर समुचित प्रकाश डाला जाय। इस 'त्रिदोषतत्त्व-विमर्श' का प्रणयन करके आयुर्वेद-संसार के सुप्रसिद्ध विद्वान्, शिक्षक, ग्रन्थकार और कर्मठ कार्यकर्ता वैद्यराज पं० रामरक्ष जी पाठक, आयुर्वेदाचार्य, प्रिन्सिपल, श्री अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय, ने उस महती आवश्यकता की पूर्त्ति की है। आयुर्वेद के विद्यार्थियों और विद्वत्समाज के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं—"इस ग्रन्थ में वात-पित्त-कफ—ये मनुष्य शरीरस्थ अनेक द्रव्यों के तीन वर्ग हैं—इस तथ्य को ध्यान में रख कर वात-पित्त-कफ का सामान्य स्वरूप, इनके प्राचीन ग्रन्थोक्त भेद, प्रत्येक भेद का प्रधान स्थान (कार्यक्षेत्र) और उनकी क्रियाओं का सविस्तर वर्णन किया गया है। साथ-साथ में विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए आधुनिक शरीर-क्रिया-विज्ञान (फिजियोलोजी) के साथ तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है। वात-पित्त-कफ के प्राचीन ग्रन्थों में जो भेद वर्णित हैं, वे उस समय में विशेष रूप से आविष्कृत (ज्ञात) हुए भेद हैं। आधुनिक क्रिया-शारीर में इनके अतिरिक्त दूसरे अनेक द्रव्यों का वर्णन पाया जाता है। प्राचीन ग्रन्थोक्त भेदों में कुछ दोषों के भेद स्वतन्त्र नहीं, परन्तु अनेक अवान्तर भेदों के वर्ग हैं। जैसे—पाचक पित्त, दोषों के स्थान और कर्मों के विषय में संहिताग्रन्थों में जो वणन मिलता है, उसमें कहीं-कहीं विभिन्नता पायी जाती है। इन सब विषयों का भी इस ग्रन्थ में विचार किया गया है। पाठक जी का यह ग्रन्थ त्रिदोषतत्त्व के जिज्ञासु वैद्यों, आयुर्वेदाध्यापकों और आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त होगा, ऐसी आशा है।"

विषय-सूची

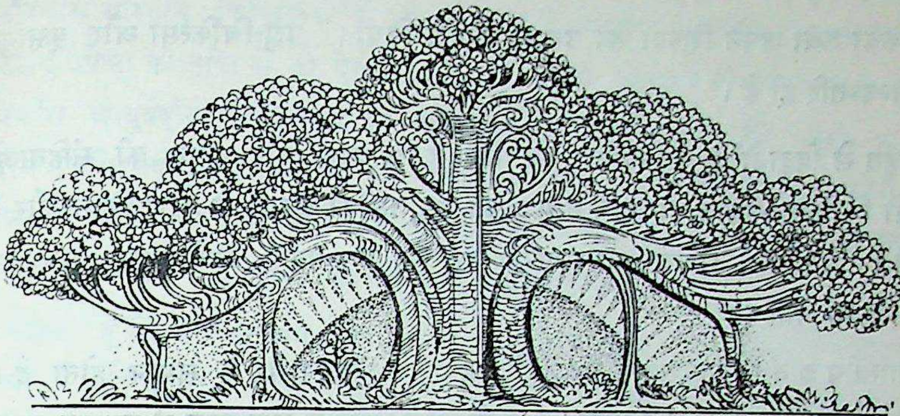


भगवान् धन्वन्तरि

७ नवम्बर को देश भर में वैद्य और आयुर्वेद प्रेमी भारतीय जनता आपकी जयन्ती मना रही है।

सुधा कुम्भं हस्ते दधदमरतार्थं सुमनसां, रहस्यं जिह्वाग्रे गदहरमथर्वोपनिषदां।
मणिं श्रीवत्सांके हृदि जलनिधेर्योऽजनि पुरा, विनिघ्नन् विघ्नं वः सुखयतु स धन्वन्तरि विभुः॥

* श्री धन्वन्तरये नमः *



सचित्र आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ३	कलकत्ता, नवम्बर १९५०	अङ्क ५

........अतः आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति दावा करती है : सबसे पहले और अविलम्ब, इसकी ओर

सरकार ध्यान दे

आयुर्वेद-प्रवर्तक धन्वन्तरि भगवान् विष्णु के अवतारों में से एक हैं। श्रीमद्भागवत में उनका ऐसा वर्णन आया है कि देवताओं और असुरों के द्वारा समुद्र-मन्थन होने पर उसमें से वे अमृत-घट हाथों में लेकर प्रादुर्भूत हुए थे। इससे पूर्व जितने रत्न समुद्र-मन्थन द्वारा निकले थे, उनमें से कुछ को देवताओं ने और कुछ को असुरों ने ले लिया था। अमृतघट पर भी देवताओं और असुरों में तनातनी होने लगी, और भगवान् विष्णु ने मोहिनीरूप धारण करके वह देवताओं को दे दिया। तब से देवता उसका उपभोग कर रहे हैं। यद्यपि वह अमृतघट धन्वन्तरि से ले लिया गया, परन्तु अपनी जिस प्रतिभा से उन्होंने अमृतनिर्माण का रहस्य खोज निकाला

था, वह तो उनसे नहीं ली जा सकी। और उस प्रतिभा के बल पर ही धन्वन्तरि ने आयुर्वेदशास्त्र का निर्माण किया तथा अपने शिष्यों को उसका उपदेश किया। पशु-चिकित्सा और वृक्षायुर्वेद के भी प्रवर्तक धन्वन्तरि ही हैं।

बहुत से विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है कि चरक और सुश्रुत की संहिताओं पर आधारित जो चिकित्सा-पद्धति भारतवर्ष में प्रचलित थी, उसीको अरबों ने ग्रहण किया और वे उसे यूरोप ले गये। अतः धन्वन्तरि-जयन्ती-समारोह एक ऐसा पुण्य पर्व है, जिसे समस्त सभ्य मानव-समाज को मनाना चाहिए।

शास्त्रीय ज्ञान का एक लक्षण यह है कि वह एक जीवित शरीर के समान होता है। वह बढ़ता है और फैलता है; स्थिर नहीं रहता। अपने चारों ओर के वातावरण से वह उन सब चीजों को ग्रहण करके आत्मसात् कर लेता है, जो उसके पोषण और वर्द्धन के लिए आवश्यक हैं। धन्वन्तरि द्वारा प्रवर्तित आयुर्वेद-शास्त्र भी निरन्तर बढ़ता और फैलता रहा है एवं यह भविष्य में भी नवीन पद्धतियों तथा नवीन औषधों को अपने अन्तर्गत समावेश करके बढ़ेगा और फैलेगा। ब्रह्मवैवर्त-पुराण में दी हुई नागों की कुलदेवी मनसा और भगवान् धन्वन्तरि के बीच हुई लड़ाई की कहानी से भी यही प्रकट होता है कि धन्वन्तरि द्वारा प्रवर्तित आयुर्वेद-सम्प्रदाय ने अन्य वैद्यक-सम्प्रदायों के उपयोगी ज्ञान को आत्मसात् कर लिया था। जैसा कि कहानी से पता चलता है, लड़ाई के अन्त में दोनों ने एक-दूसरे के प्रति सद्भावना और सम्मान के भाव प्रकट किये। ज्ञान की जीवित धारा जैसे-जैसे अपने मार्ग में आगे बढ़ती है, वैसे-वैसे अन्यान्य भूभागों और विभिन्न दिशाओं से आनेवाली विभिन्न धाराओं के जल को ग्रहण करती हुई वह शक्ति और स्थूलता में बढ़ती जाती है। वृद्धि का यही नियम है तथा शास्त्रीय ज्ञान की वृद्धि और विस्तार के विषय में भी यही नियम लागू है।

मैं आशावादी हूं। मेरा विश्वास है कि जीवनसंरक्षण के शास्त्र आयुर्वेद में स्वयं अपने भी संरक्षण के तत्त्व हैं। यदि विद्वान् वैद्य अपने ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन करेंगे, तो वे निश्चय ही अपने शास्त्र के उस सुदृढ़ आधार को पा लेंगे, जो दृढ़ता और अडिगता में किसी पद्धति से कम नहीं है। आयुर्वेद एक व्यापक शास्त्र है और यह आज भी पाश्चात्य विज्ञान द्वारा आविष्कृत उन नवीन पद्धतियों को ग्रहण करके आत्मसात् कर सकता है, जो जनता को रोगमुक्त करने के लिए उसने आविष्कृत की हैं।

अनादि काल से आयुर्वेद हमारे देश में रोगमुक्ति का साधन रहा है। परन्तु आज आयुर्वेद की जन्मभूमि में ही आयुर्वेदीय चिकित्सक का कोई सम्मानित स्थान नहीं है। स्वयं आयुर्वेद को भी विज्ञान के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं है। आयुर्वेदीय चिकित्सा की वर्तमान दुरवस्था का कारण है ब्रिटिश सरकार द्वारा जानबूझ कर की गयी देशी वैद्यक-पद्धतियों की उपेक्षा और विदेशी चिकित्सा-पद्धति का प्रचार, संरक्षण एवं प्रोत्साहन।

एलोपैथीय भारतीय चिकित्सकों ने भी आमतौर से आयुर्वेद को यदि घृणा की दृष्टि से नहीं तो अतिशय उपेक्षा की दृष्टि से तो देखा ही और कभी इसे समझने की चेष्टा नहीं की। उनमें से अधिकांश आयुर्वेदीय चिकित्सकों को अशिक्षित चिकित्सक मानते हैं। मेरी कामना है कि आयुर्वेदीय चिकित्सक युग के लक्षणों को ठीक से समझें। यदि आप लोग इस उपेक्षा के ज्वार को रोकने के लिये और अपने अर्थ तथा अपनी वृत्ति के अर्थ सम्मानित स्थान प्राप्त करने के लिये प्रयत्न नहीं करेंगे, तो सीधे शब्दों में, आप कालप्रवाह में बह जायँगे।

मैं चाहता हूं कि आप वर्तमान अवस्था का सावधानीपूर्वक और भावुकतारहित होकर अध्ययन करें: क्या आयुर्वेदीय पद्धति भविष्य में जीवित रहकर उन्नति कर सकती है, यदि इसके शास्त्रज्ञ और चिकित्सक इसके लिये कोई असामान्य प्रयत्न न करें?

आयुर्वेद की समुचित शिक्षा देने के लिये आप विद्यालय तथा महाविद्यालय खोलें एवं शिक्षा देने में आप का यह प्रयत्न हो कि आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्तों को आप विश्लेषण करके समझाएँ।

स्वतन्त्र भारत की सरकारों को आयुर्वेद के पुनरुत्थान में महत्त्वपूर्ण भाग लेना पड़ेगा। मैं हर प्रकार से आशावादी हूं कि वे आयुर्वेद की शिक्षा और प्रैक्टिस के प्रचार-प्रसार तथा इसके पुनरुत्थान में सहयोग देंगी, ताकि देश में प्रचलित चिकित्सा-पद्धतियों में यह अपना उचित स्थान ग्रहण कर सके। परन्तु जनतन्त्रीय सरकारें होती हैं जनता की प्रतिनिधि, अतः वे जनता की मांग को ही पूर्ण करती हैं। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० जैसी संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि ये आयुर्वेद की शिक्षा और प्रेक्टिस के पक्ष में प्रबल जनमत तैयार करें। पुनः आपका कर्तव्य है कि आप सरकारों के सामने आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार की सुविचारित योजनाएँ रखें। जनतन्त्रीय सरकार को आयुर्वेदीय प्रैक्टिस की उन्नति के लिए सुविधाएँ प्रदान करनी होंगी, उस कोटि-कोटि जनसमुदाय की खातिर, जिसकी कि रोगमुक्ति का एकमात्र सहारा आयुर्वेदीय चिकित्सक है, जो अक्सर गाँव में रहता है, या वहाँ जाता रहता है। मेरी राय में आयुर्वेद ग्रामोन्नति-योजना का एक आवश्यक अंग होना चाहिए। आयुर्वेदीय चिकित्सक ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति है जो ग्रामों में रोग-मुक्ति का सन्देश ले जा सकता है।

आयुर्वेदीय पद्धति चिकित्साकाल में रोगी के सामान्य जीवन में सबसे कम परिवर्तन करने की मांग करती है, जब कि अन्य पद्धतियाँ उसे सामान्य जीवनचर्या पूर्णतया छोड़ देने को कहती हैं। यह (जीवनचर्य्या में असाधारण परिवर्तन) अत्यधिक महँगा पड़ता है। जनता को शीघ्रतम और सुलभतम चिकित्सा आयुर्वेद की शिक्षा और प्रैक्टिस से ही मिल सकती है। और सरकार का प्रथम उद्देश्य है गरीब, दुखी, पददलित जनता को सुख और शान्ति पहुंचाना। अतः आयुर्वेदीय चिकित्सापद्धति दावा कर सकती है कि सरकार सबसे पहले और अविलम्ब इसकी ओर ध्यान दे।

—लोकनायक श्री माधव श्रीहरि अणे

(माननीय बिहार-गवर्नर)

सम्पादकीय

नमोब्रह्मप्रजापत्यश्विबलभिद्धन्वन्तरिसुश्रुतप्रभृतिभ्यः

मनुष्य जाति के इस पुण्य पर्व श्रीधन्वन्तरिजयन्ती पर मनुष्य मात्र को प्राणीमात्र के स्वास्थ्य की मंगलकामना करनी चाहिए। भारतीय जनता के लिए तो यह एक परमपवित्र धार्मिक पर्व है, क्योंकि धर्मप्राण भारतवर्ष धर्म को ही स्वास्थ्य का आधार मानता है। फिर, आरोग्यदान तो श्रेष्ठ दान माना गया है। और आरोग्यदान का सन्देश सर्वप्रथम इस भूमण्डल पर लाने वाले अग्रदूत, धार्मिकों में वरिष्ठ, वाग्विशारद भगवान् धन्वन्तरि की जयन्ती का यह दिवस है। आदिवैद्य भगवान् धन्वन्तरि की जयन्ती का यह दिवस वैद्यों के लिए तो पर्वराज ही है।

भगवान् धन्वन्तरि की परम्परा में वैद्यसमाज अनादिकाल से पुण्यभूमि भारतवर्ष की जनता की स्वास्थ्यसेवा करता आ रहा है। जनता ने भी वैद्य को उस के योग्य श्रेष्ठ सम्मान युगों तक दिया। परन्तु बराबर चल रहे देवासुर-संग्राम में एक ऐसी अवधि भी गत कई शताब्दियों में रही है जब कि देवगणों से असुरों का बल बढ़ा हुआ दिखाई दिया है। इस अवधि में अमृतशास्त्र आयुर्वेद के संरक्षक वैद्यों के बल में भी क्षीणता दिखायी पड़ी है। परन्तु हमें विश्वास है कि विजय देवगणों की ही होगी और अमृतत्व के शास्त्र आयुर्वेद का अमृत वैद्यगण पुनः छटपटाती मानवता को प्रदान कर के यशस्वी होंगे।

"आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति यह दावा कर सकती है कि सरकार सब से पहले और अविलम्ब इस की ओर ध्यान दे", इन शब्दों के साथ गत वर्ष धन्वन्तरि-जयन्ती के अवसर पर माननीय बिहार-गवर्नर लोकनायक श्री माधव श्रीहरि अणे ने अपना आयुर्वेद-विषयक सन्देश दिया था। कारण उन्होंने अनेक गिनाये थे, जिन्हें आदरणीय पाठक इसी अंक में अन्यत्र पढ़ें। परन्तु, हमें खेद होता है यह कहते हुए कि आज भी हमारी सरकारें राष्ट्रीय चिकित्सापद्धति आयुर्वेद के पुनरुत्थान और प्रचार-प्रसार की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दे रही है। यद्यपि, आज नहीं तो कल, भारत की कोटि कोटि जनता के कल्याण की कामना से नहीं तो वोट लेने की अभिलाषा से, हमारे राज्यसंचालकों को आयुर्वेद को राजकीय मान्यता देनी ही होगी, यह सुनिश्चित है।

जैसा कि हमारे अनेक मित्र कहते हैं, सावधानी रखनी है इस बात की कि आयुर्वेद की उन्नति के नाम पर कहीं आयुर्वेद को विनष्ट करने की कूटनीतिक चाल हमारे साथ न चली जावे, हम धोखे में न आ जायँ—"जानिन जाय निसाचर-माया"। 'सचित्र आयुर्वेद' के गत अंक में हम ने गत स्वास्थ्य-मंत्रि-परिषत् में आयुर्वेद की आंशिक विजय पर विजय के श्रेय के अधिकारियों को साधुवाद दिया था। परन्तु, आयुर्वेद का पक्ष-समर्थन करने वाले हमारे नेता कहीं कूटनीतिक चाल में न आ जायँ, इस की सावधानी हमें रखनी है।

आयुर्वेद के छात्रों की शिक्षा के विजय में जो नियम मंत्रिपरिषद् ने स्वीकृत किये हैं उन्हें देखने से यह सन्देह मूर्त रूप में उपस्थित हो जाता है। आयुर्वेदीय छात्र आयुर्वेदीय पद्धति से तो केवल

द्रव्यविज्ञान, निघण्टु, औषधगुण धर्मशास्त्र तथा चिकित्सा विषय ही पढ़ सकेंगे। शेष शरीर-रचना-विज्ञान, शरीर-क्रिया-विज्ञान, विकृतिविज्ञान, स्वस्थ वृत्त, न्यायवैद्यक, विषविज्ञान, शल्यतन्त्र आदि सभी विषय तो उन्हें पाश्चात्य विज्ञान के अनुसार ही पढ़ने होंगे, यदि स्वा० मं० परिषत् के ये तथा कथित आयुर्वेदोन्नति विषयक निर्णय कार्यान्वित किये जायं। इस अभ्यासक्रम में कितना अंश आयुर्वेद का रह जायगा, यह प्रत्येक विचारवान व्यक्ति सोच सकता है। इस में आयुर्वेद की श्रेष्ठता कहां शेष रह गयी। आयुर्वेद में जो अच्छाइयां हैं—उसका मूलग्राही दार्शनिक दृष्टिकोण, व्यावहारिक उपयोगिता, सभी विषयों की पारस्परिक सम्बद्धता या शृंखला—वे सब इस अभ्यासक्रम में कहां शेष रह जाती हैं ?

स्वास्थ्यमंत्री-परिषत् ने आयुर्वेदीय छात्रों की प्रवेशयोग्यता आई० एस० सी० रखी है (रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र और प्राणिशास्त्र के साथ)। परन्तु इन विषयों का जिस रूप में अध्ययन-अध्यापन पाश्चात्य ढङ्ग के आधुनिक कालेजों में चल रहा है, वह आयुर्वेद से कोसों दूर है। फिर आयुर्वेद के छात्र पर इनका बोझ वृथा क्यों लादा जा रहा है ? आयुर्वेद का दृष्टिकोण लेबोरेटरी में बैठ कर परीक्षण करने का नहीं, मुख्यतया मनुष्य के जीवित शरीर पर प्रयोग करने का है। इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच की खाई कितनी बड़ी है, इसका उदाहरण देते हुए 'जरनल आफ आयुर्वेद' के सितम्बर १९५० के अङ्क में सम्पादकीय 'स्वास्थ्यमंत्रि-परिषत्' के अन्तर्गत पृष्ठ ३४३ पर आये हुए निम्नोक्त वाक्य द्रष्टव्य हैं।

"भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र जिस रूप में साइन्स कालेजों में पढ़ाये जा रहे हैं, इस रूप में ये एलोपैथिक चिकित्सा विज्ञान की पृष्ठभूमि हैं ; परन्तु आयुर्वेदीय चिकित्सा शास्त्र से इनका सम्बन्ध नहीं के बराबर है। यह एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। एक केमिस्ट (पाश्चात्य पद्धति के रासायनिक) को शंखभस्म प्रवालभस्म और मुक्ताभस्म दीजिए और उनका विश्लेषण करके उनके बीच का अन्तर बताने के लिए कहिए। रासायनिक विश्लेषण से पता चलेगा कि ये तीनो एक ही चीज हैं, यानी कैलशियम-ऑक्साइड। परन्तु शारीरिक प्रयोग से उनका प्रभाव भिन्न-भिन्न होता ही है।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि भौतिक शास्त्र, रसायन-शास्त्र आदि का जो शिक्षण आजकल साइन्स-कालेजों में प्रचलित है, वह अन्य कार्यों के लिए उपयोगी हो सकता है, परन्तु आयुर्वेद के अध्ययन के लिए अनिवार्य नहीं। आयुर्वेद का सूक्ष्म अध्ययन-अन्वेषण करने वाले विद्वानों को तो इन सब शास्त्रों को गहराई में उतरना ही होगा, परन्तु प्रत्येक सामान्य छात्र को इन शास्त्रों में माथापच्ची करने की जरूरत नहीं।

अतः वैद्यों एवं आयुर्वेद-प्रेमी जनता को आयुर्वेद पर आघात करने वाले इन निर्णयों का जोरदार विरोध करना चाहिए।

जनता तो आयुर्वेद के पक्ष में है, यह हम आयुर्वेदीय औषधनिर्माण के अपने दीर्घकालीन अनुभव से बतला देना चाहते हैं। आज भारतीय जनता के बीच श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन का जो सम्मान हैं, वह आयुर्वेद का ही तो सम्मान है और वैद्यनाथ औषधों की जो मान्यता है, वह आयुर्वेद की ही तो मान्यता है। पिछले दिनों जब आयुर्वेदपंचानन पण्डित जगन्नाथप्रसादजी शुक्ल कलकत्ता पधारे थे, तो उन्होंने ठीक ही कहा था कि आयुर्वेद में स्वयं अपनी रक्षा करने की शक्ति है। परन्तु वैद्यसमाज को भी

इस विशाल देश के जनस्वास्थ्य के प्रति अपने धर्म का पालन करना है।

धन्वन्तरि-जयन्ती के शुभ अवसर पर हम में से प्रत्येक को आयुर्वेद के पुनरुत्थान का पवित्र व्रत लेना है। धन्वन्तरि-पूजन के विषय में अपना एक निजी दृष्टिकोण राजस्थान के आयुर्वेद विभाग के डायरेक्टर वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह ने अपने लेख 'सच्चा धन्वन्तरि-पूजन' में रखा है। उन्होंने भगवान् धन्वन्तरि के आयुर्वेदोपदेश को शल्यमूलक मानकर अपने विचार प्रतिपादित किये हैं तथा वैद्यसमाज को शल्यतन्त्र एवं शारीर के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देने के लिए परामर्श दिया है। उन्होंने इस पर खेद प्रकट किया है कि 'प्रत्यक्षशारीर, जैसे ग्रन्थ के होते हुए भी वैद्य समाज शरीर-रचना-विज्ञान का समुचित अध्ययन नहीं कर रहा है। यहाँ पर हम 'सचित्र आयुर्वेद' के आदरणीय लेखक वैद्य रणजितराय कृत 'शरीर-क्रिया-विज्ञान' का भी उल्लेख करना उचित समझते हैं, जिस पर सम्मति देते हुए स्वर्गीय डा० बालकृष्ण अमर जी पाठक ने लिखा था कि 'प्रत्यक्ष शरीर के साथ यह ग्रन्थ आयुर्वेदीय महाविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन के लिए उपयुक्त होगा।"

सच्चे धन्वन्तरि-पूजन का एक आदर्श पूज्य गुरुवर्य श्री मणिराम जी शर्मा उपस्थित कर रहे हैं। आप रतनगढ़ (राजस्थान) में एक धन्वन्तरि-मन्दिर की स्थापना का आयोजन कर रहे हैं, जिस में भावना का निषेध नहीं होगा, परन्तु पूजा प्रसाद तक सीमित नहीं रहेगी। मन्दिर को आयुर्वेदीय शिक्षण, अन्वेषण और प्रचार के एक केन्द्र के रूप में आप रखना चाहते हैं।

धन्वन्तरि-जयन्ती

भिषक्केशरी गोवर्धन शर्मा छांगाणी

आदरणीय छांगाणीजी ने सन् १९३१ की धन्वन्तरि जयन्ती के लिये जो वक्तव्य दिया था, उसके कुछ अंश 'छागाणी-अभिनन्दन ग्रन्थ से संकलित करके हम नीचे दे रहे हैं। आशा है, आदरणीय पाठक इससे समुचित लाभ उठाएंगे।

—स० सम्पादक

दिव्यस्त्री कुचपत्रवल्लय विरतोल्लासैक हेतुं सुधा
पूर्णं यः कलशं दधज्जलनिधेराविर्बभूवेच्छया।
नाना व्याधिभिरातुरा खिल जगज्जीवातुरायुः स्थिरं
दिश्याद्वो दुरितौघ कुञ्जर हरिर्देवः स धन्वन्तरिः॥

नाना व्याधि से पीड़ित जगत् के कल्याणार्थ भगवान धन्वन्तरि का अवतार हुआ था। अथर्व आदि वेदों में सूक्ष्मरूपेण जगज्जीवन-जीवातु आदि का वर्णन होते हुए भी, संसार में सम्यक्तया उसका प्रसार नहीं होने पाया था। इन वैदिक एवं दार्शनिक आयुर्वेदीय सिद्धान्तों की सांगोपांग छानबीन करके भगवान धन्वन्तरि ने ही सर्वप्रथम संसार के सामने वैद्यकीय ज्ञान को विशद रूप में उपस्थित किया। ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, इन्द्र आदि के समय तक जो आयुर्वेद देवताओं और ऋषियों तक ही सीमित था, उसे इन्द्र से सीख कर "मयात्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहित हेतोः" इस अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भगवान धन्वन्तरि ने ही सब लोगों की हितकामना से सर्वसुलभ किया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन सब के लिए परम पवित्र आयुर्वेद के ज्ञान के द्वार खोल दिये इसीलिए ये आदिवैद्य (First physician) माने जाते हैं।

जिन्होंने भगवान धन्वन्तरि के आयुर्वेदोपदेश को अच्छी तरह मन लगाकर पढ़ा या सुना है, वे जानते हैं कि सब विषयों को विशद रूप से समझाने की भगवान धन्वन्तरि की प्रासादिक वर्णन शैली अद्वितीय है और वह बहुत जल्दी सर्वसाधारण की समझ में आ जाती है। इतना ही नहीं, शरीर आदि के ज्ञान को सुबोध बनाने के लिए भगवान ने सांख्यशास्त्रके गूढ़ तत्त्वों का वर्णन इतना अच्छा किया है कि वह नितान्त अद्वितीय है। थोड़े में सब विषयों का वर्णन कर दिया गया है।

कार्तिक कृष्ण १३ भगवान की जयन्ती का दिन है। प्रत्येक खेट-खर्वाटक—नगर-निवासी वैद्य से हमारी साग्रह प्रार्थना है कि वे अपने यहां बड़े समारोह के साथ प्रति वर्ष धन्वन्तरि जयन्ती मनाया करें। उत्सव कम से कम दो-तीन दिन तक मनाया जावे। भगवान धन्वन्तरि की मूर्ति या चित्र की स्थापना की जाय और उसके आगे सभा-मण्डप में भगवान की संहिता (सुश्रुतसंहिता) का पारायण ही न हो, अपितु उसके भिन्न-भिन्न अंगों पर विद्वानों के प्रवचन या व्याख्यान होने चाहिएं।

पदार्थ-विज्ञान

लेखकः वैद्यराज पण्डित रामरक्ष पाठक

आयुर्वेदाचार्य, जी० ए० एम० एस० (पटना), एफ० ए० आई० एम० (मद्रास),
प्रिन्सिपल, श्रीअयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय।

कुछ विशिष्ट सम्मतियां

वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंहजी रसायनाचार्य, डायरेक्टर आयुर्वेद-विभाग बृहत् राजस्थान सरकार:—

श्रीमान् पण्डित रामरक्षजी पाठक की पुस्तक 'पदार्थ-विज्ञान' का मैंने साङ्गोपाङ्ग अनुशीलन किया। इसके प्रकाशन से पूर्व अध्यापक पाश्चात्य और पौर्वात्य का सम्मिश्रण कर किसी प्रकार पदार्थ-विज्ञान को छात्रों के गले उतारने का असफल प्रयत्न करते रहे थे। इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशन से इस विषय का उभयपद्धतिसम्मत पठन-पाठन सरल हो गया है। इस सफल लेखन-कला-कुशलता के लिए आचार्य पाठकजी धन्यवादार्ह हैं।

श्री बनवारीलाल आयुर्वेद विद्यालय, दिल्ली के प्रधानाध्यापक आयुर्वेद-भूषण पण्डित मनोहरलालजी वैद्य की सम्मति :—

पण्डित रामरक्ष पाठक कृत 'पदार्थ-विज्ञान' आयुर्वेदीय-साहित्य में ग्रन्थरत्न है। इसमें आर्ष ग्रन्थों से इस विज्ञान का संकलन अत्युपयुक्त और वैद्यों के लिए बोधप्रद है। प्रत्येक वैद्य इसको मंगाकर अनुशीलन करेंगे, ऐसी मेरी भावना है।

स्वर्गीय कविराज मणीन्द्रकुमारजी मुकर्जी, प्राणाचार्य की सम्मति :—

महाभाग श्री रामरक्ष पाठक कृत "पदार्थ-विज्ञान" मैंने परम प्रसन्नता से पढ़ा। शिक्षा-क्षेत्र में ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी। इससे छात्रों और अध्यापकों का उपकार होगा। इसमें ग्रन्थकार का संग्रह-पाटव और व्याख्यान सौष्ठव प्रदर्शित हुआ है। इस ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन के लिये मैं ग्रन्थकार और प्रकाशकों को साधुवाद देता हूं।

कान्यकुब्ज आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ के प्रिंसिपल, साहित्यायुर्वेदाचार्य पण्डित गिरिजादयालु शुक्ल, ए० एम० एस० की सम्मतिः—

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित 'पदार्थ-विज्ञान' का अवलोकन कर मुझे हार्दिक सन्तोष हुआ। मेरे विचार से आयुर्वेदीय विद्यालयों के पुस्तकालयों, अध्यापकों एवं छात्रों के लिये यह ग्रन्थ एक अपूर्व देन है। विषय-प्रतिपादन एवं विचार-समन्वय करते समय अपने विशिष्ट वक्तव्यों द्वारा ग्रन्थकार ने इसे बहुत उपयोगी बना दिया है।

सुप्रसिद्ध विद्वान, पत्रकार एवं नेता श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की सम्मतिः—

यह ग्रन्थ विद्वत्तापूर्ण और उपयोगी है। आयुर्वेदीय छात्र और वैद्य, दोनों के काम की चीज है। ग्रन्थकार ने मानो आयुर्वेद-शास्त्र का निचोड़ निकाल कर रख दिया है।

सच्चा धन्वन्तरि पूजन

कविराज प्रतापसिंह वैद्यरत्न

धन्वन्तरि-महोत्सव मनाने की परम्परा हमारे पूर्वजों ने सम्भवतः इसलिये चालू की होगी ताकि वर्ष में कम से कम एकबार दशहरे की शस्त्र-पूजा देखने के बाद अपने यन्त्र-शस्त्रों को देखने की परम्परा वैद्यों में कायम रहे। पर, हन्त! आज वैद्यों में शल्य-शालाक्य के लिए उपयोगी शस्त्रों के दर्शन दुर्लभ क्या, असम्भव हो गये हैं। केवल घण्टे-घड़ियाल बजाकर, कुछ श्लोकों का भजन कर, प्रसाद भगवान के सामने रख और फिर वितरण कर धन्वन्तरि-महोत्सव की इतिश्री मान ली जाती है। जब कि आयुर्वेद के सच्चे सपूत, भगवान धन्वन्तरि के सच्चे पुजारी प्राचीन काल के विद्वान वैद्य वर्षान्त में अपने यन्त्र-शस्त्रों को स्वच्छ करते थे और शस्त्रकर्म के अन्यान्य उपकरणों को सजाते थे तथा दीपावली से ही शस्त्रकर्म में हस्तकौशल दिखाना प्रारम्भ करते थे। इस प्रकार वर्ष भर मस्तिष्क से लेकर पादपर्यन्त शस्त्रसाध्य सब रोगों को दूर कर रोगी को सुख पहुंचाते थे और शस्त्रचिकित्सा की उच्चता का उद्घोष करते थे।

हम आत्रेय-जयन्ती नहीं मनाते, परन्तु आज तो हम केवल आत्रेय-संहिता से ही लाभ उठा रहे हैं। आज हम एकमात्र कायचिकित्सा-परायण हो गये हैं। क्वाथ, चूर्ण, गुटिका, अवलेह, आसव, अरिष्ट, रस, भस्म आदि का क्षेत्र ही हमारी क्रीड़ा का एकान्त स्थल बना हुआ है और इस प्रकार आधी चिकित्सा-क्रिया ही हमारे हाथ में रह गयी है। शेष आधी चिकित्साक्रिया हमारे हाथ से निकली जा रही है एवं वैद्य-व्यवसाय को प्रतिक्षण धक्का पहुंच रहा है।

वर्तमान संघर्ष के समय में क्या हम इस बात का निश्चय करेंगे कि प्रत्येक "वैद्य" नामधारी, जहाँ तक हो सके, शस्त्रकर्म सीख कर रोगी-परिचर्या की समुचित व्यवस्था करने का प्रयत्न करेगा?

मुझे यह लिखते खेद होता है कि आचार्यप्रवर महामहोपाध्याय कविराज श्री गणनाथजी सेन ने "प्रत्यक्ष-शारीर" जैसा ग्रंथ लिख कर "शरीर-रचना विज्ञान" के सुगम अध्ययन के लिये सामग्री उपस्थित कर दी, परन्तु वैद्यों ने इससे समुचित लाभ न उठा कर महर्षि चरक के निम्नोक्त वाक्य की अवहेलना की है—

> शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।
> आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम्॥

इस अवहेलना का प्रायश्चित्त किये बिना वैद्य-समाज का पुनरुत्थान सम्भव नहीं। जब तक वैद्यगण शरीर की रचना और क्रिया के विषय में समुचित ज्ञान प्राप्त कर शस्त्रकर्म में निपुणता नहीं प्राप्त करेंगे, तब तक वे वर्तमान संघर्ष के युग में प्रगति नहीं कर सकते।

नवीन आयुर्वेदीय विद्यालयों में रचनाशरीर और क्रियाशारीर के साथ शल्य-शालाक्य पढ़ाने की भी व्यवस्था की गयी है और इन विषयों के अध्ययन के लिए उपयुक्त ग्रन्थ भी योग्य विद्वानों ने लिखकर हमें दे दिये हैं। परन्तु योग्य अध्यापकों के अभाव में पाश्चात्य चिकित्सा दीक्षित, द्वेषपरा–

यण अध्यापकों के प्रभाव से नवयुग का आयुर्वेद विद्यार्थी बहक जाता है और अपने-आपको 'डाक्टर' कहने में गौरव का अनुभव करता है एवं अपने सुप्रसिद्ध औषधरत्नों को छोड़ कर पाश्चात्य व्यापारियों का एजेंट बन जाता है। परन्तु धोबी के कुत्ते की तरह "न घर का और न घाट का" रहता है। इस दुर्दशा को दूर करने के लिए भगवान् धन्वन्तरि के सच्चे अनुयाइयों को भगीरथ प्रयत्न कर के अष्टांग आयुर्वेद का आदर्श छात्रों के सामने उपस्थित करना पड़ेगा और उसके चत्कारों को प्रत्यक्ष कराकर छात्रों के हृदय में आयुर्वेद के प्रति गौरव उत्पन्न करना पड़ेगा, अन्यथा विदेशी चिकित्सा आयुर्वेद को कवलित कर जायगी।

समय पर चेतना ही बुद्धिमत्ता है और इस समय आयुर्वेद परम संकटापन्न अवस्था से गुजर रहा है। इस समय यदि वैद्य समाज संगठित होकर अपना मार्ग स्थिर नहीं करेगा और राज-कर्मचारियों के सहयोग से अपनी उन्नति नहीं करेगा, तो फिर वैद्यों के उत्थान की कोई आशा नहीं, चाहे आप कितने ही घण्टे-घड़ियाल बजा कर धन्वन्तरि-पूजा करते रहें। आपका भला सच्चे धन्वन्तरि-पूजन से होगा और वह है शस्त्रकर्म के यन्त्रशस्त्रों का यथार्थ ज्ञान और समुचित उपयोग।

शेषांश] निदान चिकित्सा हस्तामलक [३६८ पृष्ठ का

जा सकेगा। पञ्चमहाभूतोंके स्वरूपके सम्बन्धमें आधुनिक वैज्ञानिकोंका ज्ञान भ्रमात्मक है। वे आज भी नहीं जानते पञ्चमहाभूत क्या है? आयुर्वेदके सिद्धान्तका दर्शनशास्त्रोंमें वर्णित पदार्थविज्ञानसे क्या सम्बन्ध है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र अब तक यह निश्चय नही कर सका है कि शरीर-गत-चेतनाका विकास कहाँसे हुआ है? पर आयुर्वेदमें पञ्च-भौतिक देहके साथ चेतनाधातु (आत्मा) का सम्बन्ध स्पष्टतया व्यक्त किया गया है। इन गम्भीर विचारोंको सांख्य वैशेषिक और वेदान्त आदिके अध्ययनके बिना समझना कठिन है। संस्कृतका साधारण ज्ञान जिसकी इयत्ता निश्चित नही कि गई है—रखनेवाले छात्र पांच वर्षके पठन-कालमें एलोपैथिक विधिसे निर्धारित विषयोंकी शिक्षा लेने के साथ आयुर्वेदका कितना यथार्थ ज्ञान सम्पादन कर सकेंगे, यह परिषद्को तभी अवगत हो सकता था जब आयुर्वेदज्ञ भी—परामर्शदाता होते। पर हमारी सरकार तो आयुर्वेद को समझनेके लिये भी—उन्हीं का सम्पर्क करती है जो उसे नहीं जानते। और अज्ञानवश अवैज्ञानिक कहनेका दुःसाहस करते हैं। ऐसी शिक्षाका परिणाम यह होगा, आयुर्वेदीय विषयोंका यथार्थबोध न कर सकनेवाले अधिकारी छात्र केवल पाश्चात्य ज्ञानसे प्रभावित होकर स्नातक रूपमें निकलेंगे। वे न तो आयुर्वेदका तथ्य निर्णय कर सकेंगे और न आयुर्वेदका लुप्तांग संस्कार वा प्रतिष्ठा वर्द्धन ही कर सकेंगे। परिणाम यह होगा आयुर्वेद दस-वीस वर्षोंमें ही लुप्त हो जायगा। हमें स्वास्थ्य मन्त्रियोंकी परिषद्के निर्णयसे आयुर्वेदका भविष्यत् अन्धकारमय प्रतीत होता है। इस परिषद्में इच्छापूर्त्ति उन्हींकी हुई है जो आयुर्वेदको प्रोत्साहन देनेमें बाधक हैं।

छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा---४

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

वैद्य रणजितराय

नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते

ज्वर[1]

ज्वर सामान्यतः शारीर रोग माना जाता है, परन्तु आयुर्वेदमें इसे शारीर और मानस उभय प्रकारका माना है[2]। यह सत्य है कि दोनों ज्वरोंमें साम्य श्लेष-मूलक (द्व्यर्थक-शब्द जन्य) ही है, लाक्षणिक नहीं। दोनों ज्वरोंका मुख्य लक्षण सन्ताप है[3]। शारीर ज्वरके पक्षमें 'सन्ताप'का अर्थ 'स्वाभाविक शरीरोष्मा[4]में वृद्धि होना' तथा मानस ज्वरके पक्षमें इसका अर्थ 'विषाद (उत्साहाभाव), बेचैनी तथा हर्षका अभाव' होता है। मनके सन्तापसे इन्द्रियोंमें भी विषय-ग्रहणमें अप्रीति इत्यादि विक्रिया उत्पन्न हो जाती है। शारीर ज्वर बादको मनमें तथा मानस ज्वर बादको शरीरमें ज्वर उत्पन्न करता है, तथापि शारीर ज्वर प्रथम शरीरमें और मानस ज्वर प्रथम मनमें ही होता है, यह दोनोंमें भेद है। चिकित्सा भी शारीर ज्वरमें शारीर दोषोंकी और मानस ज्वरमें मानस दोषोंकी करनी चाहिये[5]। इस मानस ज्वरको लक्ष्यमें रखकर ही कहा है—जन्म और मृत्यु दोनों समयमें प्राणिमात्र ज्वरसे पीडित होता है[6]।' ज्वर शब्द सन्ताप अर्थके 'ज्वर' धातुसे बना है।

पौराणिकोंने ज्वरकी उत्पत्ति महादेवके क्रोधसे बतायी है। उसका अर्थ भी टीकाकारोंने[1] यही किया है कि ज्वर-मात्रमें पित्त या अग्निकी ही प्रधानता होती है। अतः उसीकी चिकित्सापर प्रथम तथा विशेष लक्ष्य देना चाहिये। कहा भी है—

ऊष्मा पित्ताद् ऋते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना।
तस्मात् पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिकेऽधिकम्॥

अ० हृ० चि० १।१६

एवं

शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु।
दुर्निवारतमं तद्धि ज्वरितेषु विशेषतः॥

सु० उ० ३९।२९४

समवाये हि दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।
ज्वरे चैवातिसारे च, सर्वत्रान्यत्र मारुतम्॥

सु० उ० ४०।१६१[2]

१—सु० उ० ३९; च० नि० १; च० चि० ३।

२—च० चि० ३।१२; च० चि० ३।४; च० चि० ३।३०; ३२।

३—च० सू० ११३१-३२।

४—Normal Temperature—नॉर्मल टेम्परेचर।

५—च० चि० ३।३६।

६—च० चि० ३।५; १२-१३; २५-२६; च० नि० १।३५; सु० उ०; ३९।१०।

१—च० नि० १।३५ पर चक्र०।

२—पुराणोंका ऐतिहासिक बुद्धिसे अनुशीलन करनेवाले कह सकते हैं कि, जिस प्रकार 'इनफ्लुएंजा' पहले भी होता था और अब भी होता है, परन्तु प्रथम विश्वयुद्धके पश्चात् किन्ही कारणोंसे सर्वभूतल पर उसका विशेष प्रकोप हुआ और इस घटनाको इतिहासमें अमरकर देनेके लिए, जानो पहले यह नहीं था इस बातको ध्वनित करनेवाला 'वार-फीवर' नाम उसे दे दिया गया, तद्वत् दक्षके साथ हुए युद्ध के पीछे देशमें ज्वर-का प्रसार सविशेष देखा गया, अतः उसे 'दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिः श्वाससंभवः' इत्यादि शब्दोंसे अलङ्कृत कर दिया गया। आज भी कोई अलंकार रसिक कवि 'वॉर-फीवर' का वर्णन 'कैसराह्वान संक्रुद्ध डवर्ड श्वाससंभवः' इत्यादि रूपमें कर सकता है।

ज्वरके उक्त दो भेद होते हुए भी काय-चिकित्सामें शारीर ज्वरका ही वर्णन विशेष रूपसे किया जाता है।

शारीर ज्वर के सामान्य लक्षण निम्न हैं

स्वेदावरोधः संतापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा।
विकारा युगपद् यस्मिन् स ज्वरः परिकीर्तितः ॥
सु० उ० ३९।१३

—अर्थात् स्वेदनाश, ऊष्माकी वृद्धि और सर्वाङ्गमें वेदना (शरीर टूटना) ये तीन लक्षण जिस रोगमें पाये जायँ उसे ज्वर कहते हैं। स्मरण रहे, पित्तज्वरमें स्वेदनाश नहीं होता। शेष दो लक्षण ही उसमें होते हैं।

ज्वरके कारण[1]

ज्वरके संनिकृष्ट कारण आठ हैं—पृथक्-पृथक् तीनों दोष, दोषोंके द्वन्द्व, दोषोंका संनिपात तथा आगन्तु।

निज ज्वरकी संप्राप्ति[2]

आगन्तु-भिन्न दोषज ज्वरोंको निज कहते हैं। संचित हुए दोषोंसे प्रकोपके कारणानुसार दो प्रकारके ज्वर होते हैं—प्रावृट्, शरद् और वसन्तमें क्रमशः वायु, पित्त और कफका प्रकोप होनेपर प्राकृत ज्वर तथा अति श्रमादि, क्रोधादि तथा दिवास्वप्नादि मिथ्या (असात्म्य) आहार-विहारोंसे क्रमशः इन्ही दोषोंका प्रकोप होनेसे वैकृत ज्वर उत्पन्न होता है।

उक्त दो प्रकारके कारणोंसे प्रकुपित हुए वातादि दोष पृथक् (अकेले), संसृष्ट (दो-दो मिलित) या संनिपतित (तीनों मिलित) हो, शरीरमें प्रसृत होते हुए आमाशय (आमाशय और ग्रहणी) में प्रविष्ट होकर आम रसके साथ संयुक्त होते हैं। आम रसके साथ संयुक्त हो, कोष्ठस्थ ऊष्माको अपने साथ लिये हुए ये दोष हृदयमें पहुंचते हैं। वहांसे रसके साथ-साथ समस्त शरीरमें संचार करते हुए, स्वेदवह तथा रसवह (रस-रक्तवह) स्रोतोंके छिद्रोंको अवरुद्ध करते हैं तथा अग्निको मन्द करते हैं। इस प्रकार कोष्ठगत ऊष्मा एवं दोषोंके ऊष्माको शरीरमें पहुंचाकर तथा रसवह और स्वेदवह स्रोतोंको अवरुद्ध शरीरोष्माको शरीरसे बाहर न निकलने देकर दोष शरीरको अत्युष्ण करके[1]—अर्थात् शरीरके प्राकृत ऊष्मामें वृद्धि करके ज्वरको उत्पन्न करते हैं।

ज्वर का कारण जो दोष हो, ज्वर का आरम्भ उस दोषके प्रकोपके प्रकृति-नियत काल पर होता है; किंवा ज्वर पहलेसे विद्यमान हो तो आरम्भक दोषके प्रकोप के काल में उसकी वृद्धि होती है; रोगारम्भक दोषोंके कारण

१—सु० उ० ३९।१४ ; च० नि० १।१७।

२—सु० उ० ३९।१५-२४ ; च० चि० ३।१२९-१३३। ज्वरकी संप्राप्तिके विषयमें माधवनिदानका निम्न पद्य प्रसिद्ध है। इसमें कोष्ठगत ऊष्माका शरीरके अन्य भागोंमें भेजा जाना इस एक ही कारणका उल्लेख है; दूसरे कारण; रस-रक्त तथा स्वेदके स्रोतों का अवरोध होनेसे शरीरोष्मा बाहर न निकल सकना; इसका उल्लेख इसमें नहीं है।

मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः ॥

१—आयुर्वेदमें रस शब्दका अर्थ 'लिम्फ' के अतिरिक्त रक्त (रक्तकण) का वाहक 'प्लाज्मा' भी होता है। अतः उसकी वाहक होनेसे केशिकाओं का भी 'रसवह' शब्दसे ग्रहण किया है। यह विषय 'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' में विस्तार से देखिए।

वात रस-रक्तवह स्रोतोंके कोषोंको क्षीण (Atrophied—एट्रॉफीड) करके अथवा उनका स्तम्भ (Spasm—स्पैज्म) करके पित्त उनमें शोथ उत्पन्न करके तथा कफ (पोषक सामग्री) उन कोषोंको अतिपुष्ट करके स्रोतोंके विवरको कम कर देते हैं। परिणामतया त्वचाकी ओर रक्त और उसके साथ उष्णता न्यून मात्रामें जाती है, अतः उसका वातावरणमें प्रसरण भी पूर्णतया नहीं होता। स्वेदवह स्रोतों (स्वेदग्रन्थि तथा उनकी प्रणालिकाएँ) में इसी प्रकार विकृति होने से स्वेद योग्य मात्रामें बनता नहीं, अतः शरीरकी उष्णताका यथायोग्य बहिर्गमन नहीं होता। इन दो प्रकारोंसे तथा कोष्ठकी उष्णता भी शरीरके शेष भागोंमें प्रसृत हो जानेसे ज्वरकी उत्पत्ति होती है। कोष्ठमें उष्णता दो डिग्री अधिक होती है, यह सुविदित है। यह सब विषय भी विस्तारसे जाननेके लिए 'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' देखिए।

त्वचा,नख, नयन, पुरीष, मूत्रादिमें अपना-अपना वर्ण-वातका श्याव-[1]अरुण, पित्तका पीत, कफका श्वेत तथा अन्य लक्षण देखे जाते हैं। इन लक्षणों को देखकर ज्वरारम्भक दोषका अनुमान किया जाता है।

सर्वज्वरों में दोष आमरसयुक्त (साम) होते हैं, तथा उनका संचय आमाशय में होता है, इस संप्राप्ति को देखते हुए ज्वरकी चिकित्सामें, सामान्यतः सर्वप्रथम अपतर्पण (लङ्घन) या लघ्वशन कराया जाता है तथा तदनन्तर दीपन-पाचन द्रव्य दिये जाते हैं।

आगन्तु ज्वरके कारण

अभिघात (शस्त्र, दण्ड आदिका प्रहार), अभिचार (कार्मण[3]), अभिशाप, अभिषङ्ग (१—काम, क्रोध, भय, शोक, चिन्ता आदि मनोभावों का आवेश ; अथवा २—भूत, प्रेत आदि दुष्ट योनियों का आवेश ; अथवा ३—विषयुक्त औषधियोंके पुष्पों या विषयुक्त वायुके गन्ध या अन्य स्थावर-जङ्गम विषोंका सम्पर्क), ग्रह—नक्षत्रोंकी प्रतिकूलता, ऋतु-परिवर्तन—इन आगन्तु कारणोंसे तथा विद्रधि, राजयक्ष्मा आदि रोगोंसे, अपप्रजाताओंमें असम्यक् प्रसवसे तथा प्रजाताओंमें अहित सेवनोंसे तथा स्तन्यावतरण (दूध आने) के समय,विरेचनादि कर्मों के मिथ्या या अतियोगसे एवं श्रम, अजीर्णादिसे दोष प्रकोप होकर आगन्तु ज्वर होता है।

आगन्तु ज्वरकी सम्प्राप्ति[4]

आगन्तु ज्वरमें तीनसे सात दिनके अन्दर दोषोंका अनुबन्ध होकर निज रोगोंके समान ही ज्वरका प्रादुर्भाव होता है। अभिघातसे वायु प्रकुपित होता है। यह सर्वधातुओं—विशेषतः रक्त—को दूषित करता है। यह रक्त सर्वशरीरमें प्रसृत होकर व्यथा (अङ्गमर्द), शोथ विवर्णता (फीकापन) और वेदना सहित ज्वर उत्पन्न करता है। श्रम तथा क्षय (धातुक्षय) में भी वायुका अनुबन्ध होता है।

काम, शोक और भयके अभिषङ्गसे जो ज्वर होता है उसमें वायु और पित्तका अनुबन्ध होता है। अर्थात्—इन ज्वरोंमें कभी वात प्रबल होता है, कभी पित्त। भूताभिषजङ्गज ज्वरमें तीनों दोषोंका विशेषकर वात-पित्तका अनुबन्ध होता है। अभिचार और अभिशापसे हुए ज्वरमें तीनों दोषोंका अनुबन्ध होकर घोर संनिपात ज्वर उत्पन्न होता है।

ज्वरोंके पूर्वरूप[1]

ज्वर उत्पन्न होनेके पूर्व, अर्थात् ज्वरके मुख्य लक्षण संताप—शरीरोष्माकी वृद्धि—के प्रादुर्भावके पूर्व निम्न अव्यक्त लक्षण (पूर्वरूप) होते हैं—श्रम, अरति (बेचैनी) अङ्गमर्द, विवर्णता (शरीर निष्प्रभ हो जाना), शरीरगौरव, तन्द्रा[2],निद्रा,आलस्य, दीर्घसूत्रता, मुखवैरस्य, अनन्नाभिलाष (क्षुधानाश), अरुचि, अजीर्ण, ठण्ढ लगना, रोमाञ्च, कम्प, अतिपिपासा, नेत्रदाह, नेत्रोंमें पानी आना ; शीत-उष्ण (सर्दी-गर्मी), आग-पानी, धूप-छाया, शब्द और वायुकी कभी अकस्मात् इच्छा होना और कभी अकस्मात् उनका अप्रिय और असह्य हो जाना ; अङ्गसाद, शरीरदौर्बल्य, मनोदौर्बल्य (अल्पप्राणता), जृम्भा, हर्षनाश, विनाम (शरीर नम जाना)[3], भ्रम, प्रलाप, जागरण, दन्तहर्ष, अभ्यस्त (दैनिक) कर्म करनेमें भी प्रीति न होना, बड़ोंके कथन तथा बच्चोंके प्रति द्वेष, धर्म-कर्मका ख्याल न रहना; भोजन,

---

१—स्लेटका वर्ण।

२—च० नि० १।३० ; च० चि० ३।१११—१७ ; सु० उ० ३९।१९—२२,८०।

३—द्वेषपात्रके मारण, उच्चाटन (आकाशमें उड़ा देना) आदिके लिए किये गए यज्ञादि प्रयोग। गुजरातीमें इनका एक नाम 'कामण' ही है।

४—च० नि० १।३० ; च० चि० ३।१११—१७ ; च० चि० ३।१२८-२९।

१--च० नि० १।३३-३४ ; च० नि० ३।२८-२९ सु० नि० ३९।२५-२८।

२--Drowsiness—ड्राउज़ीनेस।

३—Drooping attitude—ड्रूपिंग एटीच्यूड।

माला, लेपादिका दुःखद प्रतीत होना ; मधुर अन्नपानके प्रति विशेषतया तिरस्कार ; अम्ल, लवण और कटुरस द्रव्य-पर अभिरुचि। ये लक्षण देखकर अचिकित्सक—चिकित्सा जिसका विषय नहीं है, ऐसा पुरुष—भी कह देता है कि मुझे ज्वर आयगा ऐसा लगता है।

ये पूर्वरूप सामान्यतः सभी ज्वरोंके हैं। वातिक ज्वर की उत्पत्तिके पूर्व जृम्भा अधिक होती है, पित्तजसे नेत्रोंमें दाह और कफजमें अन्नपर अरुचि एवं क्षुधानाश।

वातज्वरका निदान, संप्राप्ति, पूर्वरूप और रूप[1]

रूक्ष-शीतादि गुणयुक्त द्रव्योंका अतिसेवन, वेगधारण, अति श्रम, भय, चिन्ता, काम आदि कारणोंसे वात प्रकुपित होकर आमाशयमें प्रविष्ट हो रस-धातुके साथ मिलकर कोष्ठाग्नि (पाचकाग्नि) को बाहर निकाल देता है, और स्वयं भी रसके साथ हृदयमें और वहाँसे समस्त शरीरमें जाकर रस-स्वेदवह स्रोतोंको अवरुद्धकर पूर्वकथित प्रकारसे वातिक ज्वरको उत्पन्न करता है। इसके सामान्य पूर्वरूप पहले आ गये हैं। इसमें विशेष करके जृम्भा होती है। वातिक ज्वरके लक्षण (रूप लिङ्ग) ये हैं—

ज्वरके आरम्भ (वेगोदय—ज्वर चढ़ना ; या वह पहले से विद्यमान हो तो उसमें वृद्धि) और मोक्ष (विसर्ग—ज्वर उतरना या कम होना) में विषमता—कोई नियम न होना ; अर्थात्—ज्वरके आरम्भ और मोक्षका काल सदा एक-सा न रहना ;

ज्वरके आरम्भ या वृद्धिमें लक्षण कभी शिरसे प्रारम्भ होना, कभी पीठसे, कभी जङ्घासे, इत्यादि ; मोक्ष या मन्दता होते हुए भी कभी शिर प्रथम ज्वरमुक्त (लघु) होना, कभी कोई अङ्ग, कभी कोई अङ्ग ;

ऊष्मा (ज्वरमान) की विषमता—अर्थात् किसी अवयवमें ऊष्मा अधिक होना, किसीमें न्यून होना, किसीमें सम होना इत्यादि[1] ;

ज्वरके संताप आदि लक्षणोंकी तीव्रता या मन्दताके कालका भी कोई नियम न होना—देखते-देखते ज्वर शुरू हो आना और देखते-देखते उतर जाना—इस प्रकार एक ही अहोरात्रमें अनेक बार ज्वरका आरम्भ और मोक्ष होना ; (अब तक कहे सब लक्षण वातके चलत्व—अस्थिरता—विषमता—के कारण होते हैं)[2] ;

बहुधा भोजन पचनेके पश्चात्, दिवसके अन्तमें, रात बीतनेपर अथवा चौमासेके प्रारम्भ (प्रावृट्) में ज्वरका आगमन, अथवा वह पहलेसे विद्यमान हो तो उसमें वृद्धि ; त्वचा, नख, नेत्र, मुख, ओष्ठ, मूत्र और पुरीषमें रूक्षता तथा अरुण (हलका गुलाबी) या श्याव (सलेट या राख जैसा) वर्ण होना ;

त्वचा आदि इन अवयवोंका फटना ;

मूत्र-पुरीष आदि मलोंकी अप्रवृत्ति अथवा मल गाढ़ होना ;

भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी चल (लुप्त हो जानेवाली या स्थानान्तर करने वाली) किंवा अचल वेदनाएँ ; उदाहरणतया—पैरोंमें सुप्ति (संज्ञानाश), नख मारनेका भी बोध न होना, या स्तब्धता (स्तम्भ) ; पिण्डलियोंमें उद्वेष्टन (बाँउटे) एवं श्रम (थकान) ; जानुओं तथा अन्य संधियोंमें विश्लेषण (वे छूटी जा रही हों ऐसी प्रतीति) ; ऊरुओं (जाँघों) में साद[3] (अपनी क्रिया करनेमें असमर्थता) ; कटिमें ग्रह (वह जकड़ी गयी हो

१—च० नि० १।१९-२१ ; सु० उ० ३९।२९-३० ; अ० हृ० नि० २।१०-१८ ; माधवनिदान-ज्वर निदान।

१—यह स्थिति कृमिज ज्वरमें भी देखी जाती है। उसमें प्रायः हाथ-पैर ठण्डे तथा कोष्ठ गर्म होता है।

२—अथवा यों कहें कि ज्वरादि रोगों तथा प्रकृतिमें वात-जनित यह विषमता देखकर ही उसमें चलत्व धर्म माना गया है।

३—Lassitude—लेसीट्यूड।

ऐसी अनुभूति); पृष्ठमें क्षोद[1] (कोई मसले देता हो ऐसी वेदना) उदरमें पीडन (पेट ठसा हुआ प्रतीत होना) अथवा मथन (कोई पेट को बिलोता हो ऐसा अनुभव), या आध्मान ; अस्थियों—विशेषतः पार्श्वास्थियोंमें छेदन (आरीसे चीरे जानेकी-सी वेदना); हृदयमें ग्रहण (जकड़); छातीमें तोद (चिऊँटी काटने या सुई चुभने के समान अनुभव); स्कन्धोंमें मथन ; बाहुओंमें भेद (फटनेकी-सी वेदना); अंसोंमें पीडन ; हनुस्तम्भ (हनुओंका भक्षण-रूप निज कर्म न कर सकना); कर्णनाद ; शङ्खोंमें तोद ;

शिरः शूल ; शरीर टूटना ;

मुखका स्वाद विरस (फीका) होना, जिससे अन्य रसोंकी प्रतीति न होना अथवा कषाय होना ;

ओष्ठ, मुख, तालु तथा कण्ठका शोष ; पिपासा[2] ;

शुष्क (मिथ्या) वमन [3] ;

शुष्क कास ;

रसमात्रकी अनिच्छा और अरुचि ;

प्रसेक (लालास्राव); अजीर्ण ; छींक और उद्गारका नाश ; जृम्भा ; कम्प ; विनाम ; विषाद (मनोदौर्बल्य); श्रम ; भ्रम ; प्रलाप[4] ; निद्रानाश (जागरण); रोमाञ्च ; दन्तहर्ष ; ऊष्ण वस्तुओं की इच्छा ;

निदानमें कही वस्तुओंका अनुपशय (उनके सेवनसे रोगके लक्षणोंमें वृद्धि) तथा विपरीतोंका उपशय होना ।

१—क्षोद शब्दका मूल अर्थ चूर्ण या चूर्णीकरण है ।

२—मुखादिकी वातजन्य शुष्कताके कारण पिपासाका अनुभव वात वृद्धिमें होता है । विशेषके लिये देखिये आयुर्वेदीय क्रियाशारीर—लालास्रावके कर्म ।

३—केवल वमनका वेग होना; उसमें शब्द विशेष होना; कोई द्रव्य न निकलना । यही शुष्क कासका भी अर्थ है ।

४—वातके प्रकोपसे तथा वात प्रकृति पुरुषोंमें ज्वरमान अधिक न हो तो भी प्रलाप होता है; यह स्मरण रखना चाहिये ।

पैत्तिक ज्वरका निदान, संप्राप्ति, पूर्वरूप और रूप[1]

ऊष्ण, अम्ल, लवणादि अन्नपानका अतियोगः ; अति ताप, श्रम, क्रोधादिसे पित्त प्रकुपित होकर आमाशय और ग्रहणीमें पहुंचकर रसके साथ संयुक्त हो उसके साथ हृदय और वहांसे सर्व शरीरमें पहुंच, रसवह और स्वेदवह स्रोतों को अवरुद्ध करता है, द्रव होनेसे अग्निको मन्द करता है और अपने प्रभावसे उसे कोष्ठसे बाहर शरीरमें निकाल देता है । इन कारणोंसे वह शरीरमें संतापकी वृद्धिकर ज्वर उत्पन्न करता है । इसमें नेत्रदाह यह विशेष पूर्वरूप होता है । पैत्तिक ज्वरमें लक्षण निम्न होते हैं—

ज्वरकी उत्पत्ति या वात ज्वरके समान अकस्मात् न होना ;

समस्त शरीरमें ज्वर समान होना—वातज्वरके सदृश किसी अङ्गमें न्यून, किसीमें अधिक किंवा उसका प्रादुर्भाव भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें आगे पीछे न होना ;

उत्पत्ति और वृद्धि प्रायः पित्तवृद्धिके कालोंमें अर्थात् अन्नके अम्ल अवस्थापाकके समय, दिन या रात्रिके मध्य भागमें या शरद्में होना ;

ऊष्मा (ज्वर-संताप) का वेग अति तीव्र (ज्वरमान उच्च)[2] होना ;

पित्तकी (खट्टी, खारी, कडुवी, पीली) वमन होना ;

तृष्णा ; स्वेद ; मुखका रस (स्वाद) तिक्त होना ; अल्पनिद्रता ; मद (नशा-सा होना) ;

नासिका, मुख, कण्ठ, ओष्ठ और तालुका पाक ;

भ्रम (वस्तुएँ घूमती दीखना या अपना शिर घूमता मालूम होना ; चक्कर); मूर्च्छा ;

मल द्रव होना किंवा अतिसार ;

अन्नद्वेष ; साद ; त्वचापर रक्तवर्ण कोठ[3] (ददोडे)

१—च० नि० १।२२-२४ ; सु० उ० ३९।३१-३२ ; अ० हृ० नि० २।१८-२० ; माधवनिदान; ज्वर-निदान ।

२—High temperature—हाइटेम्परेचर ।

३—Weals—वील्स ।

जैसे छपाकी—शीत पित्त तथा उदर्द[1]—में निकलते हैं, वैसे निकलना ;

नख, नेत्र, मुख, मूत्र, पुरीष और त्वचा पीली या हरी होना ;

अतिदाह[2] ; शीत वस्तुओंकी इच्छा ; अरति ;

रक्तवमन ; अम्लोद्गार ; श्वासमें दुर्गन्ध ;

निदानोक्त पदार्थ अनुपशय होना, विपरीत पदार्थ उपशय होना ।

कफज ज्वरका निदान, संप्राप्ति, पूर्वरूप और रूप[3]

स्निग्ध, गुरु, शीत आदि गुणयुक्त द्रव्यों या दिवास्वप्नादिके अतियोगसे कफ प्रकुपित होकर, आमाशय (आमाशय और ग्रहणी) में प्रविष्ट एवं रसके साथ संयुक्त हो, पाचकाग्निको वहाँसे भ्रष्ट (च्युत) कर, रसके साथ शरीरमें भ्रमण करता हुआ, रस वह और स्वेद वह स्रोतोंको अवरुद्ध कर सम्पूर्ण शरीरमें पहुंचता तथा पूर्वकथित प्रकारसे कफज ज्वर उत्पन्न करता है । इसमें अन्न पर अरुचि यह विशेष पूर्वरूप होता है । इसके लक्षण निम्नोक्त हैं—

ज्वर एक साथ (युगपत्) सम्पूर्ण शरीरमें चढ़ना—उतरना ;

ज्वरकी उत्पत्ति या वृद्धि प्राय कफवृद्धिके कालोंमें अर्थात् खानेके तत्काल पश्चात्, दिन या रात्रिके पूर्वभाग या वसन्तमें होना ;

वेग (ज्वरमान) मन्द होना ; वेग स्थिर होना ; शरीरमें आर्द्रता[4] ;

अन्नकी इच्छा न होना ; विशेष अरुचि ; तृप्ति ; शरीर गौरव ; आलस्य ; अति निद्रा ; तन्द्रा ;

मुखकी मधुरता ; श्लेष्म-प्रसेक ; हृल्लास (लालास्राव); उत्क्लेश ; हृदय श्लेष्मासे व्याप्त होना ; कफका वमन ; अग्निमान्द्य ; अजीर्ण ; स्तम्भ ;

कास ; श्वास ; प्रतिश्याय ; शीत ; रोमहर्ष ;

नख, नेत्र, मुख, मूत्र, पुरीष और त्वचा श्वेत (पूनी-जैसी) होना ; अङ्गपर श्वेत पिडकाएँ (फुन्सियां) तथा कोठ होना ;

स्रोतोरोध ; अङ्गसाद ;

निदानोक्त पदार्थ अनुपशय तथा विपरीत उपशय होना।

द्वन्द्वज तथा संनिपातज ज्वरोंका निदान[1]

विषमाशन (स्वस्थवृत्तोक्त नियमोंका भङ्ग करके भोजन), अनशन, अन्नका सहसा परिवर्तन, ऋतुविपर्यय, असात्म्य गन्ध, विषदूषित जलका सेवन, पर्वतोंमें निवास, स्नेहन आदि कर्मोंका मिथ्यायोग ; स्त्रियोंमें अपप्रसुति (गर्भ स्राव, पात), सम्यक् प्रसूताओंका मिथ्याहार विहार एवं एक दोषज ज्वरोंके प्रकोपक कारणोंके संसर्ग[2] या संनिपात[3] से कोई द्वन्द्व (दो दोष) या तीनों दोष कुपित होकर पूर्वकथित संप्राप्तिसे द्वन्द्वज या सांनिपातिक ज्वर उत्पन्न होते हैं । द्वन्द्व अर्थात् दो दोषोंसे उत्पन्न ज्वरको द्वन्द्वज तथा तीनों दोषोंसे उत्पन्न ज्वरको सांनिपातिक कहते हैं ।

क्रमशः

१—Uerticaria—अर्टीकेरिआ ।
२—Causalgia—कॉजेल्जा ।
३—च० नि० १।२५—२७, सु० उ० ३९।३३–३४ ; अ० हृ० नि० २।२१–२२ ; माधव निदान ज्वरप्रकरण ।
४—Clamminess—क्लैमीनेस ।

१—च० नि० १।२८
२-३—प्रकृति अथवा रोगकी उत्पत्तिमें किन्हीं दो दोषोंके मेलको संसर्ग तथा तीन दोषोंके मेलको संनिपात कहते हैं ।

स्वास्थ्य मन्त्रिपरिषद् और आयुर्वेदका भविष्य

वैद्य दुर्गादत्त शास्त्री, भूतपूर्व अध्यक्ष अ० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ

गत ३१ अगस्तसे २ सितम्बर तक भारतकी राजधानी नई दिल्लीमें केन्द्र और प्रान्तोंके स्वास्थ्य मन्त्रियोंकी एक परिषद् हुई, वह स्वतन्त्र भारतमें केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रणालय के प्रयाससे अपनी पद्धतिकी तीसरी थी। इसकी योजना मुख्यतः भारतीय चिकित्सा पद्धति (इण्डिजिनस सिस्टम) तथा होम्योपेथी पर विचार करनेका उद्देश्य बताकर की गई थी। पर इसका अन्तर्लक्ष्य स्वास्थ्य रक्षाके सम्बन्धमें नियमतः स्वतन्त्र प्रान्त राज्योंको केन्द्र राज्यके स्वास्थ्य सचिवालयकी स्वास्थ्य सम्बन्धिनी नीतिको यथातथा स्वीकार करानेका प्रयास था। भारतके केन्द्रीय तथा प्रान्तीय स्वास्थ्य शासन विभाग अंग्रेजोंके शासनकालसे ही एलोपैथी चिकित्साको मुख्य मानकर चलते आये हैं। स्वतन्त्रता प्राप्तिके बाद देशीय चिकित्सकोंकी यह मांग होने लगी कि ८० प्रतिशत जनताको प्राणदान करनेवाले आयुर्वेद को सरकार पर्याप्त सहायता, साधन और अवसर देकर विकास क्षेत्रमें आने दे तथा देशकी प्रकृति एवं आर्थिक स्थितिके अनुकूल होनेके कारण उसे ही व्यावहारिक परीक्षणों की कसौटीपर कसकर राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धतिके रूपमें प्रतिष्ठित होने दे।

कांग्रेस और मुस्लिम लीगके संयुक्त शासनकालमें देशी चिकित्सा पद्धतियोंकी वस्तुस्थिति और निष्कर्षको समझने के लिये चोपड़ा कमिटीकी योजना की गई। उसकी रिपोर्ट में आयुर्वेदकी उपयोगिता और परिवृद्धिकी आवश्यकता व्यक्त की गई। उसके विकासका कुछ पथ-प्रदर्शन भी किया गया।

कुछ प्रान्तोंके स्वास्थ्य मन्त्रियोंने अपने स्वास्थ्य विभागोंको सर्वसाधारणकी आवश्यकता पूर्तिमें असमर्थ देखकर आयुर्वेदको थोड़ा प्रश्रय देना प्रारम्भ किया और यह ध्वनि व्यक्तकी कि देशी चिकित्सा पद्धतियोंको भी आगे बढ़नेका अवसर दिया जाय। इन हलचलोंको देखकर मेडिकल कौंसिल और कान्फ्रेंसके अधिकारियोंको अपना एकातपत्र छीना जानेकी चिन्ता हुई। स्वास्थ्य मन्त्रणालय के परामर्शदाता एलोपैथी विद्वानोंने अपने अभीष्ट साधनका पथचिन्तन करना शुरू किया। उनकी सूझ हुई स्वास्थ्य और चिकित्साका विषय प्रान्तीय शासनके अधिकारसे केन्द्रीय शासनके नियन्त्रणमें चला जाय तथा मेडिकल कालेजोंके छात्रोंके लिये आयुर्वेदके भी एक दो प्रश्न पत्र रख दिये जाँय ताकि आयुर्वेदके प्रोत्साहनके लिये पृथक् प्रयास की आवश्यकता न पड़े।

हमारे प्रधान मन्त्रीजी तथा स्वास्थ्य मन्त्रिणी महोदय अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षाके संस्कारोंसे प्रभावित हैं। वे अपने ज्ञानचक्षुसे आधुनिक चिकित्सा पद्धतिको ही विज्ञानकी भित्ति पर व्यवस्थित देखते हैं। उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण एकमात्र पाश्चात्य शिक्षासे सम्बन्ध रखता है। उनके भाषणोंसे प्रतीत होता है, कि उन्होंने आयुर्वेदका अनुशीलन नहीं किया है और न आयुर्वेदीय चिकित्साका कभी अनुभव ही किया है। उनके परामर्शदाताओंमें भी न तो कोई आयुर्वेदके विद्वान हैं। और न कोई हिकमतके जानकार ही हैं। उनको सलाह देने वाले शुद्ध एलोपैथी डाक्टर हैं। जिनके परामर्श पर ही हमारे मन्त्रि महोदय स्वास्थ्य शासन विभागका संचालन करते हैं और आवश्यकता पड़नेपर अन्यान्य चिकित्सा पद्धतियोंके विषयमें अपने विचार भी व्यक्त किया करते हैं। संभवतः उन्हीकी सूझके अनुसार स्वास्थ्य मन्त्रि परिषद्में हमारे प्रधान मन्त्रीजीने आधुनिक चिकित्सा पद्धतिको वैज्ञानिक तथा आयुर्वेदीय वात-पित्त-कफके सिद्धान्तको अवैज्ञानिक व्यक्त किया है। और हमारी स्वास्थ्य सचिव महोदयाने भी—अध्यक्ष पदसे एक केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद् तथा एक अखिल भारतीय सेवा संघटनकी स्थापना की आवश्यकता बताई है जिसका लक्ष्य स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी यावत्कार्य प्रान्तोंमें केन्द्रोंके इशारे पर चलाना प्रतीत होता है। उनके भाषण देशी-चिकित्सा-पद्धतियोंको केवल अंगूठा दिखाने और एलोपैथिक पद्धतिके प्रति निरे अन्धविश्वासके सूचक थे। तथापि प्रान्तीय स्वास्थ्य सचिवोंने अपने अनुभव और विवेकका परित्याग नहीं किया। उनकी परिषद्में आयुर्वेद एवम् यूनानी को प्रश्रय और प्रोत्साहन देनेका निश्चय हुआ। पर उनमें

स्वयं कोई आयुर्वेदज्ञ न था। उनके परामर्शदाताओंमें भी बिहार और राजस्थानके सिवा किसीके साथ वैद्य वा हकीम न थे। सबके साथ सलाहकार केवल एलोपैथ डाक्टर थे जो आयुर्वेद वा यूनानी नहीं जानते। अतएव जो निश्चय हुआ उसको कार्यान्वित करनेके विचारमें वही संकेत काम कर गया जो प्रधान मन्त्री और स्वास्थ्यमन्त्रिणी महाभागाके भाषणोंमें व्यक्त कराया गया था। उनका आशय था यदि आयुर्वेद और यूनानीको प्रोत्साहन देना ही अभीष्ट हो तो तात्त्विक सिद्धान्तोंमें सामञ्जस्य हो वा न हो आधुनिक-चिकित्सा-पद्धतिको ही प्रधान रखकर उनकी भी शिक्षा दी जाय। मद्रासके स्वास्थ्य सचिव डा० टी० एस० एस० राजन् की अध्यक्षतामें एक उप-समिति बनाई गई, जिसमें बंबईके स्वास्थ्य सचिव डा० गिल्डर तथा माननीय डा० जीवराम मेहता भी सदस्य थे। इन विशुद्ध एलोपैथ विद्वानोंका आयुर्वेदानुराग वैद्य समुदायको अविदित नहीं है। उस सब कमिटीमें एक चिकित्सा-पद्धतिके ज्ञाता होनेके नाते प्रस्ताव रचनामें इन्हीका हाथ मुख्य समझा जाता है। कमिटीने डिग्री (स्नातक) और डिप्लोमा (उपाधि) कोर्सके लिये आयुर्वेद-यूनानीके कालेज तथा स्कूल खोलने का निर्णय किया। उनमें छात्रोंकी प्रवेश योग्यता स्नातक परीक्षाके लिये फिजिक्स (भौतिकविज्ञान) कमेस्ट्री (रस शास्त्र) और बायोलोजी (प्राणिविज्ञान) के साथ आई० एस० सी०, तथा उपाधि परीक्षाके लिये मैट्रिक्युलेसन पास होना आवश्यक रखा। साथ ही आयुर्वेदके विद्यार्थीके लिये संस्कृत और यूनानी के छात्रके लिये अरबी वा फारसी का पर्याप्त ज्ञान भी आवश्यक बताया। पर इनके ज्ञानका अंग्रेजीके ज्ञानकी तरह कोई निर्धारित स्वरूप नहीं रखा। दोनों ही प्रकारकी परीक्षाओंके लिये एनाटोमी (शारीर विज्ञान) फिजियोलोजी (शरीर-क्रिया-विज्ञान) विकृति-विज्ञान (पैथोलोजी), हाइजीन (स्वस्थवृत्त) रेडियोलोजी (क्ष—किरण विज्ञान) मेडिकल जुरिस प्रुडेंस (व्यवहारायुर्वेद) और टोक्सिकोलोजी (अगदतन्त्र) की तथा शल्यतन्त्र, शालाक्यतन्त्र, नेत्रविज्ञान, प्रसूतितन्त्र, (आवस्ट्रेटिक्स) स्त्रीरोग (जायनोकोलोजी) की शिक्षा माडर्न मेडिसिन (आधुनिक-चिकित्सा-पद्धति) के आधारपर देनी निश्चित की गई

पदार्थ-विज्ञान (फार्मोकोलोजी), द्रव्य-गुण-विज्ञान (मटेरिया मेडिका), रोग-विज्ञान (थीराप्युटिक्स) चिकित्सा-विज्ञान (क्लिनिकल मेडिसिन) की शिक्षा आधुनिक (माडर्न) तथा आयुर्वेद व यूनानी पद्धतिसे भी की जायगी।

इन सभी विषयोंकी शिक्षाका स्तर (स्टेंडर्ड) स्नातक परीक्षाके लिये इण्डियन मेडिकल कौंसिल द्वारा निर्धारित शिक्षाके मानदण्डानुसार तथा उपाधि परीक्षाका स्तर मेडिकल लाइसेंसियट कोर्सके समान होगा।

स्नातक परीक्षाके लिये ५ तथा उपाधि परीक्षाके लिये ४ वर्षका समय निर्धारित किया गया।

मेडिकल कालेजोंसे निकलनेवाले डाक्टरोंके लिये एक वर्षका स्नातकोत्तर शिक्षण (पोस्टग्रेजुएट कोर्स) रखनेकी भी सिफारिश की गई।

स्वास्थ्य-सचिव-परिषद्के इस निर्णयसे आयुर्वेदके छात्रों पर शिक्षाका भार इतना गुरुतर होगा कि वे आयुर्वेद कालेज में प्रविष्ट होनेका साहस ही न कर सकेंगे। यदि कुछ उत्साही छात्र आयुर्वेदानुरागवश प्रविष्ट भी हुए तो उनकी मुख्य शिक्षा एलोपैथिक पद्धतिसे ही होगी। आयुर्वेदका ज्ञान नाममात्रका होगा। जैसा कि एक वर्षके शिक्षण-कालमें डाक्टरोंको आयुर्वेदमें चञ्चु प्रवेश करनेसे होगा।

निर्दिष्ट निर्णयके आधारपर जो शिक्षा दी जायगी वह अधिकांश विषयोंकी पाश्चात्य पद्धतिसे समानान्तर रूपमें पृथक् होगी। केवल उस पद्धतिका समाश्रय रखकर शिक्षा देनेवाले शिक्षक भी—आयुर्वेदज्ञ न होनेके कारण शारीर आदिके शिक्षण कालमें आयुर्वेदीय संज्ञाओंका उच्चारणकर अङ्गप्रत्यङ्गादिका पूरावर्णन एवं परिचय नहीं कर सकेंगे, पाश्चात्त्य वैद्यक शास्त्रकी एक देशीय शिक्षा देंगे। वैसी शिक्षासे आयुर्वेद और आधुनिक पद्धतिके परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले सिद्धान्तोंका समन्वयात्मक ज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि इन पद्धतियोंके तात्त्विक सिद्धान्त भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णित हैं। आयुर्वेदका मूल सिद्धान्त त्रिदोषवाद, पञ्चमहाभूतोंका आधार रखता है। आधुनिक पद्धतिका सिद्धान्त ६२ वें मूलतत्त्वोंकी स्थापना करता है। अब इलेक्ट्रोन प्रोटोनके ज्ञानके आविष्कारके बाद तो रेडियमसे हाईड्रोजनके एटम निकलने लगे हैं और वे एटम (परमाणु) दूसरे हाईड्रोजनके एटमसे मिलकर हिलियमके रूपमें परिणत होने लगे हैं। साथ ही यह कहा जाने लगा है कि कभी सीसासे पारा और पारासे स्वर्ण भी बनाया

(शेषांश पृष्ठ ३५९ पर)

त्रिदोष-सिद्धान्त में अनुसन्धान : योजना४-

तृतीय प्रकरण

डा० ए० लक्ष्मीपति



त्रिधातु तथा त्रिदोष की पहचान

त्रिधातु—वात, पित्त, कफ का विचार बहुत किया गया है। यह सब विचार निम्न प्रकार से समझना चाहिये।

(१) भौतिक रूप में त्रिधातु—भौतिक रूप में वे घन, तरल और वायव्य, पदार्थकी इन तीनों अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। कफ, घन या ठोस अवस्था का, पित्त, तरल और वात, वायव्य (गैस) दशा का प्रतिनिधि है। कफ प्रधानतः अर्धसान्द्र (ठोस), पित्त प्रधानतः तरल तथा वायु अर्ध वायवीय तरल, यथा गैस, सोडावाटर आदि की बोतलें भरी हुईं तथा जल बहुत मिली होती हैं, समझनी चाहिये। वात में सब दिशाओं में व्याप्त होने की शक्ति है। अग्नि तथा आकाश की अवस्थायें, जिन्हें पाश्चात्य विज्ञान अभी तक नहीं जान सका है तथा जो पदार्थकी अति सूक्ष्म अवस्थायें हैं, वे भी इन त्रिधातुओं में सम्मिलित हैं। अग्नि पित्त में तथा आकाश वात में प्रमुखतया रहते हैं।

ये प्रकृति या पदार्थ की समग्र अवस्था में सापेक्ष हैं। तरल जल जमाने पर ठोस बर्फ (हिम) बन जाता है। यही ठोस हिम वाष्परूप में परिणत हो जाता है। पित्त तरल है और इसकी प्रवृत्ति भी तरल रहने की है। कफ अर्द्धतरल है और इसकी प्रवृत्ति ठोस होने की ओर रहती है। वात भी एक प्रकार का तरल पदार्थ है जिसमें वाष्पीभूत होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। कोई भी प्रवाही पदार्थ तरल कहा जा सकता है। इस प्रकार वायु भी एक विशेष प्रकार का तरल है। पदार्थ की विभिन्न अवस्थाओं को उनके सूक्ष्म रूप में पहचानना हमारे लिये अति कठिन है। बड़े से बड़े शक्तिशाली यन्त्र द्वारा भी यह संभव नहीं है। हां, योगी इन अतीन्द्रिय वस्तुओं को जानते हैं और अपनी अलौकिक मानसिक-शक्ति से वह पदार्थ की एक अवस्था को दूसरी अवस्था में परिवर्त्तित कर सकते हैं। अतः वायु का नियमन योगी अच्छी तरह कर सकते हैं। मेरी "Text book of Ayurveda" के दूसरे भाग में दर्शनों का प्रकरण देखें।

प्राणी सम्बन्धी रासायनिक (Biochemically) रूप में जीवित प्राणियों के शरीर में होनेवाले रासायनिक परिवर्त्तनों की दृष्टि से यदि त्रिधातु को देखा जाय तो ये त्रिधातु घटक (cell) और धातुओं को चारों ओर से घेरे रहते हैं और उन्हें तरल, सान्द्र तथा वायव्य, तीनों अवस्थाओं से युक्त सब पोषक पदार्थ पहुंचाते रहते हैं।

सामूहिक रूप में त्रिधातुओं को प्ररस (plasma) के घटक (रचना करनेवाले विभिन्न अंग) समझ सकते हैं। वह उन सब घटकों (cells) का पोषण करता है, जो शरीर धातुओं का निर्माण करते हैं।

स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों अवस्थाओं में त्रिधातुओं का अपना पृथक्-पृथक् संगठन होता है।

(१) मुख में रहनेवाला कफ एक स्राव है; जिसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। मधुर तथा लवण रस-युक्त आहार इस कफ के द्वारा परिपाचित होता है।

यह अर्ध तरल होता है तथा श्लेष्मा से भरा रहता है। इसका प्रमुख स्थान आमाशय अर्थात् मुख तथा आहाराशय (Stomach) के ऊपर का भाग है। इस विषय में मधुर विपाक का प्रकरण देखिये।

(२) पित्त अपनी स्थूल अवस्था में अम्ल होता है। यह ठोस की अपेक्षा अधिक तरल होता है। अर्थात् पूर्णतः तरल नहीं होता अपितु अर्द्ध तरल जैसा पाया जाता है। यह एक प्रकार का स्राव है जिसमें अम्लरसवाला आहार पाचन होता है तथा आत्मसात होता है। इसका मुख्य स्थान आमाशय का निचला भाग तथा पच्यमानाशय (संग्रहणी-छोटी अन्त्र का ऊपरला भाग) है। इस विषय में अम्ल विपाक का प्रकरण देखें।

(३) वायु भी अपनी स्थूल अवस्था में महास्रोतस् में स्राव के ही रूप में पाया जाता है। इसका रस कटु होता है। यह उड़नेवाला तरल है। इससे तिक्त कटु और कषाय रसवाला आहार पाचित और आत्मसात् हो जाता है। इसके लिये कटु विपाक का प्रकरण देखें।

शारीर क्रिया की दृष्टि से

त्रिधातु शरीरस्थ द्रव्य हैं जिनके प्रभाव से लसीका, रसादि का, भ्रमण तथा वातसंस्थान के समग्र कार्य होते हैं। इनमें कफ लसीका के कार्य के लिये, पित्त रसरक्तादि भ्रमण के लिये तथा वात वातसंस्थान की क्रियाओं के लिये उत्तरदायी है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से

(४) मनोविज्ञान की दृष्टि से कफ पित्त और वात आध्यात्मिक त्रिगुण के भौतिक सहयोगी हैं। ये त्रिगुण मन की विभिन्न दशा के कारण हैं। संसार के अन्य पदार्थों के समान त्रिधातु भी त्रिगुण से ही विकसित हुए हैं, दुःख, चिन्ता या शोक में वात बढ़ जाता है। क्रोध की दशा में पित्त वृद्धि तथा हर्ष से स्वस्थ कफ की वृद्धि हो जाती है और अवसाद में विकृत कफ की वृद्धि होती है। सत्व, रज और तम की समावस्था मानसिक तथा इन्द्रियों के पूर्ण स्वास्थ्य का कारण है। प्राकृतिक अवस्था में वात उत्साह को, तथा पित्त शक्ति और साहस को उत्पन्न करता है।

विकृति विज्ञान की दृष्टि से

(५) विकृतिविज्ञान की दृष्टि से वात, पित्त और कफ कुपितावस्था में हानिकारक होते हैं। कुपित होकर प्रथम तो वे शरीर-क्रिया सम्बन्धी गड़बड़ी करते हैं और यदि प्रकोपक कारण उनका प्रकोप करता चला ही जाये तो अंगरचना (धातुपाक) सम्बन्धी विकृति को उत्पन्न करते हैं। ये त्रिधातु जब स्वाभाविक स्रावों की अवस्था में पाये जाते हैं तो मलों का भाग हो जाते हैं यथा गुदद्वार से बाहर निकलनेवाला दुर्गन्धित वायु वात का मल, यकृत् से स्रवित होनेवाला पित्त (Bile) पित्त का मल और फुफ्फुस से निकलनेवाला कफ श्लेष्मा का मल है। इन मलों के अतिरिक्त सात स्थिर देह धातुओं के मल भी हैं। किन्तु प्रसाद-अवस्था में ये मल भी स्वास्थ्य-वधक होते हैं। केवल दूषित दशा में ही यह रोग उत्पन्न करते हैं। अपनी प्रसाद या विशुद्धावस्था में वे भी देह धारण का कारणभूत होते हैं अतः इस स्थिति को 'देहधातु' भी कहा गया है।

कायचिकित्सा की दृष्टि से

(६) कुपित त्रिदोष किन्ही विशिष्ट लक्षणों के वर्ग या श्रेणी के प्रतिनिधि स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। ये लक्षण विशेष प्रकार की व्याधि के परिचायक चिह्न हैं और उस विशिष्ट व्याधि की विविध अवस्थाओं को भी दर्शाते हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण या श्रेणी विभाजन, चिकित्सा में वैद्य को अत्यन्त सहा-

यक होता है। वात के प्रकोप के बिना वेदना, पित्त-प्रकोप के बिना शोथ में दाह, पाक और कफ प्रकोप के बिना पूय नहीं हो सकती। कायचिकित्सा की दृष्टि से कुपित कफ का लक्षण गुरुता (भारीपन) तथा क्लेद की वृद्धि है। वात नाडी सम्बन्धी लक्षण कुपित वात की प्रबलता के परिचायक है। तीव्रताप दाहादि पित्त के द्योतक हैं; ज्वर या रोग का मृदु आक्रमण कफ-प्रधान रोग का द्योतक है। मस्तिष्क सम्बन्धी लक्षण वात तथा उदर सम्बन्धी लक्षण पित्त प्रकोप के द्योतक हैं। श्वास संबन्धी लक्षण कफ-प्रकोप के ज्ञापक होते हैं। किन्तु श्वास संस्थान के लक्षणों के साथ तीव्रताप भी उपस्थित हो, तो पित्त तथा कफ का सम्मिलित प्रकोप समझना चाहिये। इसी प्रकार यदि श्वास संस्थानगत कफ के लक्षणों के साथ-साथ वातिक लक्षण भी हो तो वातकफज रोग समझना चाहिये। किन्तु यदि तीनों प्रकार के लक्षण हों तो 'त्रिदोषज' रोग समझा जाता है। यह सन्निपात या त्रिदोषज रोग गम्भीर त्रिदोष प्रकोप का चिह्न है। इस प्रकार यह विभाजन श्रेणियों, उपश्रेणियों में विभक्त होता हुआ ६३ प्रकार का हो जाता है। चिकित्सक को इसमें यह निर्णय करना पड़ता है कि प्रधान दोष कौन-सा है और गौण कौन सा।

वात-पित्त तथा कफ का अधिष्ठान

त्रिदोषों का प्रधान स्थान तथा गौण स्थान का ज्ञान चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वात-पित्त और कफ यद्यपि समस्त शरीर व्यापी हैं तथापि उन में से प्रत्येक के विशेष पांच स्थान या विभाग बताये गये हैं। इनमें से प्रत्येक विभाग का अधिष्ठान तथा कार्य पृथक्-पृथक् हैं।

धातु या त्रिदोषों का विभाग	अधिष्ठान
कफ (१) क्लेदक	मुख तथा आमाशय
(२) अवलम्बक	वक्षस्थल
(३) बोधक	मुख
(४) तर्पक	शिर
(५) श्लेषक	सन्धियाँ
पित्त (१) पाचक—पक्वाशय तथा आमाशय के मध्य	
(२) रंजक	यकृत् तथा प्लीहा
(३) साधक	हृदय
(४) भ्राजक	त्वचा
(५) आलोचक	नेत्र (दृष्टि retina)
वात (१) प्राण—शिर, ग्रीवा, तथा वक्ष अधोगतिवाला	
(२) उदान—वक्ष तथा ग्रीवा, ऊर्ध्व गति वाला	
(३) समान	नाभि
(४) व्यान	हृदय तथा सारा शरीर
(५) अपान	वस्ति तथा उससे नीचे

जब वात कहीं भी शरीर में कुपित हुआ हो तो हमारी विशेषदृष्टि वात के प्रधानस्थान पक्वाशय (यन्त्र) पर ही उसकी चिकित्सा करने की ओर होनी चाहिये। यह चिकित्सा विशेष प्रकार की वस्तियों द्वारा की जाती है। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ काटने पर वह सारा वृक्ष सूख जाता है, इसी प्रकार दुष्ट वात की उसके मूल स्थान पर चिकित्सा करने से वह शान्त हो जाता है।

इसी प्रकार शरीर में कहीं भी पित्त कुपित होने पर हम उसके मूल स्थान पच्यमानाशय पर ही उस पर आक्रमण करते हैं और विरेचन द्वारा उसे बाहर निकाल देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मूल स्थान में पित्त की न्यूनता हो जाने से अन्य स्थानगत पित्त स्वयं ही शान्त हो जाता है क्योंकि मूल स्थान से उसकी वृद्धि बन्द हो जाती है। इसी प्रकार कफ प्रकोप में हम उसके मूलस्थान आमाशय

की चिकित्सा करते हैं। साथ ही साथ रोगाधिष्ठानगत दोषों की भी विविध अवस्थाओं के अनुसार चिकित्सा की जाती है।

समन्वय का निरन्तर प्रयत्न

एक सच्चे वैज्ञानिक को धैर्य रखना चाहिये तथा सोचना चाहिये, कि क्या वह त्रिदोष तथा त्रिधातु का अध्ययन आयुर्वेद की दृष्टि से कर, कुछ विशिष्ट ज्ञान दे सकेगा जिससे रोगों के निर्णय में सहायता ली जा सके। आयुर्वेद में ज्ञान की विविध शाखाओं के दृष्टिकोणों के समन्वय का निरन्तर तथा स्थिर प्रयत्न किया गया है कि विभिन्न दृष्टिकोणों को त्रिदाष के अन्तर्गत लाया जा सके। इसके विपरीत पाश्चात्यचिकित्साविज्ञान में विश्लेषण को अधिक महत्त्व दिया गया है। अतः प्रत्येक नई खोज तथा रोगाणु के ज्ञान के साथ-साथ नये रोगों की संख्या बढ़ती जाती है। आयुर्वेद के अनुसार प्रत्येक नई खोज हमें त्रिदोष सिद्धान्त को विविधता में एकता के रूप में समझने में सहायता देती है।

सारांशतः त्रिदोष के प्रकोप से विकृति उत्पन्न होती है और उन्हें समावस्था में लाने से स्वस्थ शरीर पुनः स्वस्थ हो जाता है।

मैं भारतीय आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषकों से कहूंगा कि वे आयुर्वेद का अध्ययन करें। इसलिये नहीं कि यह हमारा अपना विज्ञान है जो हमें हमारे पूर्वजों से मिला है, अपितु इसलिये कि पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र की अपेक्षा अनेक बातों में यह उससे उच्च है।

उदाहरणार्थ—यद्यपि आयुर्वेद एक भौतिक विज्ञान है किन्तु साथ-साथ मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शक भी है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी आयुर्वेद संसार के विज्ञानों में उच्च स्थान पर विराजमान है। (क्रमशः)

जरा-कास

चरक और सुश्रुत दोनों ने जरा-कास (वृद्धों को होनेवाली खांसी) को लक्ष्य में रख कर कहा है—

वृद्धत्वमासाद्य भवेत्तु यो वै याप्यं तमाहुर्भिषजस्तु कासम्॥ सु० उ० ५२।१३

स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः॥ च० चि० १८।३०

अर्थात् वृद्धों को होनेवाला कास याप्य होता है। स्थिति इसमें यह होती है। वृद्धों को खांसी, अग्निमान्द्य, रससंवहन की मन्दता आदि के कारण दोषों के प्रकोप से हो सकती है किंवा एक अन्य रोग, जिसमें अपस्तम्भ (श्वासपथ तथा उसकी शाखा-प्रशाखाओं) में स्थायी विस्फार (फैलाव) आ जाता है, उसके कारण हो सकती है[1]। दूसरा रोग तो सर्वथा असाध्य है; प्रथम कारण की भी निवृत्ति वृद्धावस्था में अशक्यप्राय होती है।

सामान्यतः श्वासपथ में अणु मात्र भी बाह्य द्रव्य आ जाय तो उसका सहसा संकोच और कास का वेग होकर वह बाहर फेंक दिया जाता है। परन्तु इस पथ का विस्फार होने पर उसमें कफ संचित हो तो भी उसके निकालने के लिए होने वाला प्राकृत संकोच इतना नहीं होता कि संपूर्ण फूले हुए श्वासपथ को दबा सके और कफ को बाहर निकाल सके। परिणाम में कफ थोड़ा-थोड़ा करके पर्याप्त प्रमाण में संचित हो जाय तभी संकोच की पकड़ में आकर निकाला जाता है। परन्तु इतनी देर संचित होने के कारण उसमें कोथ (सड़ांद) और दौर्गन्ध्य भी हो जाता है। इस प्रकार कफ का प्रचुर प्रमाण और उसमें दौर्गन्ध्य—ये दो इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं। जीव जब देह छोड़ने लगता है तो कफ को निकालने की उक्त प्रक्रिया भी क्रमशः क्षीण होती जाती है। अन्त में कफ का प्रमाण इतना हो जाता है कि वायु के जाने-आने के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता और रोगी जैसे अपने कफ में आप डूब जाता है।

—वैद्य रणजितराय।

१—अंग्रेजी में इस रोग को Bronchiectasis ब्रौंक्एिक्टेसिस कहते हैं।

यूनानी वैद्यक* तथा अरबी हकीम

हकीम ठा० दलजीत सिंहजी वैद्य

❀

मुझे भली-भांति अनुमान है कि प्राचीन यूनानी वैद्यक के विषय में साधारणतया जो अभिमत स्थिर किया जाता है, वह बहुतांश में पथभ्रष्टकारक एवं उसके प्रधान (मूल) लक्ष्य से बहुत ही निम्न है, जैसा कि आपको मेरे इन विविध विवरणों से अनुमान हो जायगा।

आप में से प्रत्येक व्यक्ति इस बात से परिचित हैं कि यूनानी वैद्यक (तिब्बे यूनानी) जिसके हम और आप नामलेवा हैं और जिसको इसलामी वैद्यक एवं अरबी वैद्यक भी कह सकते हैं, (Greek) इसके प्रादुर्भाव का प्राथमिक स्थल यूनान में अस्कलीब्यूस (Asclepios)का गृह है, जहाँ बुकरात (Hippocrates), फीसागोरस (pythagoras), अफलातून (Plato), अरस्तू (Aristotle) प्रभृति ने और उनके पश्चात् इलकंदरिया (Alexrandria) में इरोफैल्स और इरासीतरातस और सबसे अन्त में अन्तिम हकीम जालीनूस (Gabenus) ने इसकी पूर्ण सेवा की।

परन्तु जब इसलामी शासनकाल आरम्भ हुआ। और राजनीतिक एवं राष्ट्रीय दृढ़ता स्थापन के उपरान्त इसलामी खलीफा विद्या की ओर प्रवृत्त हुये, तो उस समय यूनान (Greece) पराजित वा विजित हो चुका था। उसका विद्याधन लुट चुका था। संपूर्ण देश रूमी शासन का एक अङ्ग बन चुका था और उनकी समस्त विद्यायें एवं कलायें तथा उनके समस्त विद्वान् रूम देश में स्थानान्तरित हो चुके थे। यूनानी विद्या एवं कला के लिये रोम की जलवायु कुछ अधिक उपयुक्त नहीं हुई अर्थात् रोम ने यद्यपि इन यूनानी (Greecean) विद्याओं को ग्रहण कर लिया, किन्तु रूमियों ने इन विद्याओं एवं कलाओं में कुछ उन्नति एवं परिवृद्धि नहीं की।

इस प्रकार यह यूनानी विद्यायें एक टिमटिमाते हुये दीपक की भांति यत्र-तत्र शेष थीं कि मुसलमान इस ओर प्रवृत्त हुये। उनका इस ओर प्रवृत्त होना था कि विद्या एवं विज्ञानजगत में एक ऐसी क्रान्ति उत्पन्न हो गई, जिसका उदाहरण न विगत काल के इतिहास में मिलता है और न भविष्य में इसके मिलने की आशा की जा सकती है।

---

* करांची से प्रकाशित 'हमदर्द सेहत' नामक यूनानी वैद्यकीय पत्र के अगस्त सन् १९४९ ई० के अङ्क में हकीम मु० कबीरुद्दीन महोदय लिखित एक उत्तम एवं उपयोगी लेख प्रकाशित हुआ है, उसीका यह हिन्दी भाषान्तर है। इससे यूनानी वैद्यक विद्या पर अरबों द्वारा किये गये विकास एवं परिवर्धन का यत्किञ्चित् आभास मिलेगा। साथ ही यह ज्ञात होगा कि यह कितना वैज्ञानिक है और अब पाश्चात्य वैद्यक इसके कितना समीपतर आता जा रहा है और वह दिन दूर नहीं कि यह उभय पद्धतियां एक ही दृष्टिबिन्दु पर स्थिर हो जायँ—एक ही पन्थ के पथिक बन जायँ। किसी अगले लेख में मैं यह दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि यह यूनानी वैद्यक भी किसी न किसी प्रकार आयुर्वेद से ही निकला है और समय-समय पर इससे पुष्ट एवं परिवृद्ध होता रहा है। अस्तु इनके सिद्धान्तों में कितना आश्चर्यजनक सादृश्य और सामंजस्य है। —लेखक

परन्तु इस समय यदि मैं उस कथा को छेड़ता हूँ तो मेरा मूल उद्देश्य नष्ट हो जायगा।

तात्पर्य यह कि जब मुसलमान शासक शासनारूढ़ होने के उपरान्त विद्याओं की ओर प्रवृत्त हुये, तब प्रथमतः उन्होंने यूनान का संपूर्ण विज्ञानकोष कोने-कोने से ढूँढ़ कर अरबी साँचे में ढाल लिया। इसके साथ ही अन्यान्य देशों के ज्ञान-विज्ञान एवं विद्यायें जो उस समय चतुर्दिक् विश्व में न्यूनाधिक विद्यमान थीं। जैसे भारतवर्ष का ज्योतिविद्या (इल्मेनजूम—Asrtology) और आर्यवैद्यक आदि) से मुकाबिला (तुलना) किया। इस प्रकार अरबों के पास यूनान, रोम, ईराक, श्याम ईरान और भारतवर्ष के ज्ञान-विज्ञान अरबी में रूपान्तरित होकर इन पुरातन ज्ञानकोषों का एक असली भाण्डार संगृहीत हो गया।

जब आरब्य विद्वान या शास्त्रज्ञ प्रतिलिपि और अनुवादकार्य से विरत होने के उपरान्त ज्ञान-विज्ञान के पूर्ण अधिकारी बन गये तथा उनके समक्ष एक ज्ञानकोष संचित हो गया, तब अधिकृत रूप से इन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक प्राचीन सिद्धान्तों एवं समस्याओं की विवेचना, मीमांसा तथा अन्वेषण आरम्भ किया और उनके प्रत्येक अंगोपांग में अपने परिवर्धन एवं विकास किये।

अर्थात् अब यूनानी वैद्यक, अरबी वैद्यकका परिधान, वा वेष धारण करने लगा।

क्योंकि यह शुद्ध विद्याविज्ञान प्रेम का काल था और नाम एवं ख्याति की इच्छा तथा व्यापार वृत्ति से बढ़कर शुद्ध विद्योपार्जन की भावना लोगों के हृदय में अधिष्ठित थी। अतएव अरबी विकास एवं परिवृद्धि 'मूल ज्ञानकोष' के साथ कुछ इस प्रकार मिलकर ओतप्रोत हो गई कि तदुत्तरकालीन इतिहासकारों के लिये मूल ज्ञानकोष और उन पर किये गये विकास एवं परिवर्धनों में भेद करना और अरबों द्वारा की गई सम्पूर्ण उन्नतियों को पृथक् कर देना दुष्कर एवं दुरूह हो गया।

अतः अरबों के शासन के शान्ति एवं व्यवस्था-काल में जो वैद्यकीय ग्रंथ प्रणीत किये गये हैं, वे इतने उच्च कोटि के सिद्ध हुये कि विद्वज्जगत ने जिसमें पूर्व के साथ पूर्णतया पश्चिम भी सम्मिलित है, मूल यूनानी ग्रन्थों को मानो विस्मृति देवी को अर्पित कर दिया और समस्त वैद्यकीय विद्यालयों में चाहे वह स्पेन (अन्दलुस) के हों या फ्रांस, इटली या सिसली के, यही नूतन (अरबी) ग्रंथ पाठ्यग्रन्थ स्वीकृत हुये।

अरबों के परिवर्धन एवं अन्वेषण कार्य

तात्पर्य यह है कि यद्यपि अरबों के अनुसंधान कार्यों एवं परिवर्धनों की गणना करना इस समय मानो असंभव या अनहोनी बात है। फिर भी उदाहरणस्वरूप उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है, जो सागर में बिन्दु के बराबर है, उससे अधिक नहीं। उक्त कार्यों में अरबों के अनुसंधान एवं अन्वेषण कार्यों, सुभाषितों, कतिपय प्राचीन सिद्धांतों के खण्डन और मण्डन आदि कार्यों का समावेश होगा।

अरबों के खोज एवं प्रयोग और अनुभव प्रत्यक्ष की श्रेष्ठता

शास्त्रानुसंधान अर्थात् तत्त्वान्वेषण में प्रत्यक्ष प्रत्ययों अर्थात् प्रयोग एवं अनुभव का समावेश अरबों ने किया—'अल्मुशाहिदत अक्वा अद्दलाइल' अर्थात प्रत्यक्ष (मुशाहिदा) प्रबलतम प्रमाण है, यह अरबों की ही उक्ति है। इस विषय में वे अपने गुरुओं अर्थात् यूनानियों से बहुत तीव्र गति से आगे बढ़ गये। अस्तु, अरबों के अन्वेषण एवं अनु-

संधान कार्यों की संख्या यूनानियों के मुकाबिले अत्यधिक तथा उनकी अवधि अत्यल्प है अर्थात् तीन-चार शती में अरबों ने इतने अन्वेषण कार्य किये कि यूनानी इससे बहुत अधिक काल में नहीं कर सके थे।

उक्त प्रतिज्ञा के प्रबल एवं अकाट्य ऐतिहासिक प्रमाण खगोल विद्या (इलमहय्यत—Astronomy और रसायन विद्या (इलमकीनिया—Chemistry) हैं।

खगोलविद्या (इलम हय्यत)—यदि यूनानियों में ताराओं (सय्यारों) को अवलोकन या प्रत्यक्ष करनेवाले कठिनतासे दो-तीन निकलेंगे तो अरबोंमें ऐसे अन्वेषकों एवं प्रत्यक्ष करनेवालों की संख्या अत्यधिक मिलेगी।

रही रसायन विद्या, तो यूनानियों में रसायनिक प्रयोग एवं परीक्षण करनेवाला भी कोई नहीं मिलता। इसके विपरीत अरबों में ऐसे व्यक्ति शतशः मिलेंगे।

रहे मध्यकालीन ईसाई, वे तो इस सम्पूर्ण कालावधि में जो ५-६ सौ वर्ष से न्यून नहीं, केवल अनुगामी और पदानुसरणशील (मुकल्लिद) रहे। इनका कार्य केवल ग्रन्थ का पाठ करना और नेत्रोन्मीलित करके अपने पूर्व आचार्यों के विचारों एवं सुभाषितों का पारायण करना था।

इन सब तथ्यों की ऐतिहासिक साक्षियां विद्यमान हैं, जिसका संकलन एवं संग्रह यूरोपवासियों ने ही किया है और वे सबके सब इसी धर्म एवं विचार के इतिहासकार हैं। जिसमें अतिशयोक्ति एवं असत्यता का सन्देह भी नहीं किया जा सकता। इस विषय में मनीषी एवं विद्वान् लेबान तथा अन्यान्य अन्वेषकों की कुछ उक्तियां उद्धरण के रूप में यहां लिखी जाती हैं। अस्तु, विद्वान् गुस्तादलेबान लिखता है—यूनानियों की शिष्यता ग्रहण करने और उनके खोजों का अध्ययन करने के पश्चात् अरबों को बहुत शीघ्र मालूम हो गया कि प्रयोग और अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष (तजरिबा और मुशाहिदा) को उत्तम से उत्तम ग्रंथ पर श्रेष्ठता प्राप्त है। यद्यपि यह उक्ति साम्प्रत सिद्ध वाक्य बनी हुई है। परन्तु पहले ऐसा नहीं था। मध्यकालीन यूरोप देशीय विद्वानों ने एक सहस्र वर्ष के अनन्तर इस तथ्य (मसला) को सीखा।

(तमद्दुन अरब पृ० ३९९)

बेकन के विषय में मिथ्या निर्देश

इसके पश्चात् उक्त विद्वान इस अयथार्थ प्रसिद्धि का खण्डन करता है कि डॉक्टर बेकन ने तत्वान्वेषण अर्थात् वैज्ञानिक खोज में प्रयोग एवं अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रत्यय (मुशाहिदा) का सिद्धान्त स्थिर किया।

आप्त वचन या आगम प्रमाण के मुकाबिले में प्रयोग एवं अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष (तजरिबा व मुशाहिदा) को वैज्ञानिक खोज के सिद्धान्त स्वीकार करना साधारणतया बेकन की ओर निर्दिष्ट किया जाता है, परन्तु इस समय यह स्वीकार करना चाहिये कि इसके अधिष्ठाता (अन्वेषक) अरब थे।

अपने उक्त विचार के समर्थन एवं पुष्टि में वह हेम्बोल्ड का निम्न वचन उद्धृत करता है—"समस्त यूरोप देशीय अन्वेषणकर्ता विशेषतः हेम्बोल्ड जिन्होंने अरबी खोजों का निरीक्षण किया है, अब इस बातके अनुमोदक हैं। यह लिखने के पश्चात् कि तात्विक उत्कर्ष (इलमी तरक्की) की चरम सीमा या पराकाष्ठा यह है कि मनुष्य स्वयं अपनी इच्छा से अर्थात् प्रयोग एवं अनुभव के द्वारा प्राकृतिक घटनाओं को उत्पन्न कर सके, हेम्बोल्ड दृष्टान्त के रूप में लिखता है कि

'अरबों ने यह चरमोत्कर्षावस्था जिससे प्राचीन विद्वान् सर्वथा अपरिचित थे, प्राप्त कर ली थी।'

(तमद्दुन अरब पृ० ४००)

बुगदाद के विद्यालय की शास्त्रीय तर्कणा पद्धति

मूसियोसदियो लिखते हैं: —

"बुगदाद के विद्यालय की शिक्षा में बहुत बड़ी बात यह है कि उसकी तर्कणा पद्धति सर्वथा वैज्ञानिक वा शास्त्रीय सिद्धान्त पर आधारित थी अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा अप्रत्यक्ष को मालूम करना—घटनाओं एवं वस्तुस्थिति का प्रत्यक्ष अवलोकन करके उक्त ज्ञानके द्वारा कारण (अलल) को निकालना। उन ही वाक्यों को मानना जो प्रयोग द्वारा सिद्ध हो चुके हों।

"उक्त आचार्यों (गुरुओं) की अन्वेषण पद्धतियाँ थीं।" नवीं शती के अरबों को यह उपयोगी एवं परिणामकारी अन्वेषण पद्धति ज्ञात थी, जा दीर्घ काल के पश्चात् हमारे आधुनिक अन्वेषकों के हाथों में बड़े-बड़े अन्वेषणों एवं खोजों का साधन बन गई।"

(तमद्दुन अरब पृ० ४००)

मध्यकालीन विद्वानों से अरबों का मुकाबिला

इसके पश्चात् गुस्तादलेबान मध्यकालीन विद्वानों से अरबों की तुलना करता है—

"अरबों की अन्वेषण पद्धति प्रत्यक्ष प्रयोग एवं अनुभव थी। इसके विपरीत मध्यकालीन यूरोप की अन्वेषण पद्धति आचार्यों के वचनों का पाठ और उनके मतों का बार-बार वर्णन करनी थी। इन दोनों में बहुत ही सैद्धान्तिक भेद है और उक्त भेद को बिना दृष्टिगत हुए हम अरबों के तात्विक वा वैज्ञानिक खोजों का पूर्णतया मूल्यांकन नहीं कर सकते।"

(तमद्दन अरब पृ० ४००)

यूनानियों से अरबों की तुलना

मनीषी लेबान इस विषय में अरबों का यूनानियों से इस प्रकार मुकाबिला करता है—"अतः अरबों ने वैज्ञानिक शोधों में प्रत्यक्ष (तजरिबा) का समावेश किया और एक दीर्घ कालावधि तक केवल अरब ही थे जो इस पद्धति की मान प्रतिष्ठा एवं मूल्य जानते थे।"

अरब यूनानियोंसे बाजी मार ले गया

मूलियोडेलामीर अपने ज्योतिर्विद्या के इतिहास में लिखते हैं कि यदि यूनानियों में कठिनता से दो-तीन आकाशीय ग्रहों (अजराम समावी) के निरीक्षण कर्ता थे, तो अरबों में इसके विपरीत विपुलता से ऐसे लोग विद्यमान थे।"

"यनानियों में रसायन विद्या का अभ्यास करने वाला कोई न था, इसके विपरीत अरबों में शतशः ऐसे लोग. थे।"

(त० अ० पृ० ४००)

प्रत्यक्ष के कारण आविष्कार--यूनानियों पर

लेबान की उक्ति "प्रत्यक्ष ही के द्वारा जिसको उन्होंने जारी किया था, अरब बहुत महत्त्वपूर्ण आविष्कार एवं अन्वेषण कर सकते थे और उनके वैज्ञानिक शोध विषयक जिस विवरण का उल्लेख हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है, उससे ज्ञात होगा कि उन्होंने तीन या चार शती में इससे बहुत अधिक आविष्कार किये जो यूनानी अन्वेषक इससे कहीं अधिक काल में कर पाये थे।"

(त० अ० पृ० ४०१)

ग्रन्थों में चित्र

सर्व प्रथम अरबों ने ग्रन्थों में चित्रों का प्रचलन वा रिवाज दिया। अस्तु, हुनैन बिन इसहाक की किताबुलऐन अर्थात नेत्रचिकित्सा विषयक ग्रन्थ

(अल्अश्र मकालात फिलऐन) विश्व में सर्वप्रथम पुस्तक है, जो सचित्र पाई जाती है। अबुल्कासिम जहरावी की जगत्प्रसिद्ध रचना अत्तसरीफ का शल्य-तन्त्र विषयक विभाग सचित्र है, जिसमें शस्त्रकर्मोपयोगी यन्त्रोपयन्त्रों आदि के चित्र दिये गये हैं।

बालचिकित्सा पर प्रथम रचना

राज़ी ने बालरोगों पर एक पुस्तक की रचना की है जो इस विषय की प्रथम पुस्तक है। बालरोगों तथा बालचिकित्सा पर इससे पूर्व किसी ने लेखनी नहीं उठाई।

चतुर्महाभूत और इसलामी दार्शनिक

इसलामी दार्शनिकों ने जब स्वतन्त्रतापूर्वक यूनानियों के महाभूत विषयक सिद्धान्त पर दृष्टिपात किया और उन समस्त प्रमाणों पर ध्यानपूर्वक विचार किया, जो महाभूत के चार होने के सम्बन्ध में दिये जाते हैं, तब उसमें उन्हें अनेकानेक त्रुटियाँ दृष्टिगत हुई। अस्तु, उक्त सिद्धान्त पर जब इनकी निर्भीक लेखनी चली तब सन्देह एवं संदिग्धता की एक शृंखला स्थिर हो गई।

फलतः इसलामी दार्शनिक यूनानियों के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि महाभूत चार हैं। इसी प्रकार यूनानी कायल हैं कि एक भूत दूसरे भूत में परिवर्तित हो सकता है। इसलामी दार्शनिक उक्त परिवर्तन एवं परिणति के भी विरोधी हैं। अस्तु, विद्वान अबुल्बरकात ने इस मत का भलीभाँति खण्डन किया है।

यदि किसी पात्र के भीतर बर्फ रख दी जाय, तो उक्त पात्र के बाहर की ओर शीत के कारण जल के बिन्दु संचित हो जाते हैं। यूनानी दार्शनिकों का इसके सम्बन्ध में यह मत था, कि बाह्य वायु जल के रूप में परिवर्तित हो जाती है। परन्तु अबुल्बरकात का मत है कि वह बूंदें वस्तुतः जलके उन बाष्पों से प्राप्त होती हैं, जो वातावरण में पूर्व से विद्यमान होते हैं, वस्तुतः बाह्य वायु जल के रूप में परिवर्तित नहीं होती।

इसके अतिरिक्त चतुर्महाभूत का खण्डन करते हुये मुसलमान दार्शनिकों ने अग्नि के सम्बन्ध में यह मत स्थिर किया है कि अग्नि कोई स्थायी तत्त्व नहीं, अपितु एक "उष्ण वायु" है। यदि खोजपूर्ण दृष्टि से देखा जाय तो यही मत सत्य है और इसका खण्डन नहीं किया जा सकता, (देखो सादुद्दीन तफ्ताजानी लिखित शरह मकासिद पृ० ३५१ प्रथम संचिका)।

पुनः इन्हीं इसलामी दार्शनिकों में से जो महाभूतके चार होने से इन्कार करते हैं खलीत[1] संप्रदायवादियों का यह मत है कि—

(१) महाभूत वा तत्त्व चार से बहुत अधिक हैं।

(२) कितनी संख्या में हैं? इसका उत्तर वह यह देते हैं कि उनकी संख्या को हम मर्यादित नहीं कर सकते। हमारा सीमित ज्ञान उनके परिगण एवं संख्या निर्धारण में विवश है।

(३) विश्व में जितने पदार्थ निसर्गतः पाये जाते हैं वे इन्ही महाभूतों के घटकों से न्यूनाधिक समवेत हुआ करते हैं। जल को हम जल समझते हैं, यह एक भ्रान्त धारणा है जो हमारी संकुचित दृष्टि के कारण हो रही है, वरन् वस्तुतः उक्त जल के साथ अन्यान्य तत्त्व भी पाये जाते हैं। इसी कारण वह वहिर्गत जल को जो अपनी स्वाभाविक अवस्था में हो मिश्रण (खलीत—मिक्स्चर) कहते हैं और इस पर समस्त औद्भिद, खनिज और प्राणिज द्रव्यों को अनुमान करते हैं।

---

१. मौलाना अब्दुल्ला अलअमादी के कथनानुसार यह इसलामी दार्शनिकों में से मूअत्ज़ला का सम्प्रदाय है।

वर्तमान महाभूत विज्ञान या रसायनविद्या के विचार 'खलीत सम्प्रदायवादियों'—असहाब खलीत' के मत की व्याख्या वा टीका कहा जाय तो बहुतांश में सत्य होगा। वस्तुस्थिति यह है कि तत्त्वों की संख्या दिनों दिन उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है और कोई व्यक्ति यह प्रतिज्ञा नहीं कर सकता कि अमुक संख्या पर तत्वों की संख्या का अन्त हो जायगा।

तात्पर्य यह कि इसलामी दार्शनिकों ने ज्ञान-विज्ञान और अन्वेषण के क्षेत्र में कहीं निरा अनुकरण से काम नहीं लिया है। वे अफलातून (Plato) और अरस्तू (Aristotle) को भी अपनी ही भाँति एक मनुष्य समझते थे जिनसे प्रतिक्षण भूल होना सम्भवनीय है।

प्रकृति की समस्या और आरब्य दार्शनिक

परन्तु "महाभूत की समस्या" की भाँति "प्रकृति की समस्या" पर जब आरब्य विद्वानों ने दृष्टि निक्षेप किया, तब उक्त सिद्धान्त में भी उन्होंने कोई कम-जोरी नहीं पाई। अतएव उन्होंने इसका खण्डन नहीं किया। सुतरां आज भी विश्व की कोई शक्ति प्रकृति को अस्वीकार नहीं कर सकती, चाहे तत्त्व चार ही स्वीकार किये जायँ अथवा उनकी संख्या (खलीत सम्प्रदायवादियों के मत के अनुसार) मर्यादित नहीं की जा सके और अस्सी, नब्बे या सौ से अतिक्रान्त हो जायँ। आधुनिक तत्वविद्या (इल्मुलअनासिर) भी स्वीकार करता है कि जब विभिन्न तत्त्व न्यूनाधिक अनुपात से परस्पर मिलते हैं तब उनकी क्रिया और प्रतिक्रिया के उपरान्त योग में नवीन गुण उत्पन्न हो जाता है, जिससे नूतन गुण-कर्म प्रगट होते हैं।

प्राचीन दार्शनिकों का भी प्रकृति (मिज़ाज) के विषय में यही मत है। गुण-कर्मों (खबास) की भिन्नता 'प्रकृति' की भिन्नता के बिना असंभव है। इस वास्तविक या सत्य सिद्धान्त को अस्वीकार करने का किसे साहस हो सकता है ?

मानव स्वभाव या मानव प्रकृति

यूनानी चिकित्सक इस बात के अनुमोदक थे कि मानव शरीर के भीतर एक शक्ति पाई जाती है, जो प्रतिकार एवं सुधार (तदबीर व इसलाह) का कार्य सम्पादन करती रहती है। आरब्य मनीषियों ने यूनानियों की इस उपपत्ति को ग्रहण किया और उसका समर्थन एवं पुष्टि की। अरबों का यह सिद्धान्त भी ऐसा कमजोर नहीं है कि सहज में उसका खण्डन किया जा सके। कानून नामक अरबी ग्रन्थ के अंगरेजी उलथाकार डाक्टर ग्रोनर (एम० डी० लण्डन) ने तो इस उपपत्ति को जीवाणु विज्ञान विषयक उपपत्ति से अधिक गम्भीर निदर्शित किया है और इस पर दिलोजान से फिदा है। वे कहते हैं कि मैंने समस्त अरबी ग्रन्थों में से "कानून शैख" को केवल इसलिये चुना कि शैख प्रकृति की उपपत्ति के अनुमादक हैं।

आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक उत्तरोत्तर जितना वयोवृद्ध होता जा रहा है और उसके प्रयोग एवं अनुभव परिपक्वता प्राप्त करते जा रहे हैं, उतना ही वह प्रकृति की समस्या से दूर होता जा रहा है, जिसमें वर्तमान जीवाणु शास्त्र से अधिकाधिक सहायता मिल रही है। जीवाणु के शरीर के भीतर प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् रक्त एवं शरीर में स्वभावतः रोगप्रतिषेध वा रोग क्षमता के जो सामग्री का साधन उत्पन्न हो जाते हैं, वह सबके सब प्राकृतिक रोगप्रतिषेधात्मक चेष्टाओं के उत्तम उदाहरण हैं जो एक सत्यशील हृदय के क्षेत्र में अधिष्ठित हो जाते हैं।

क्रमशः

आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणाली की श्रेष्ठता

आयुर्वेदाचार्य कविराज हरिवक्ष जोशी, काव्य, सांख्य, स्मृति तीर्थ



'चिकित्सा' शब्द का अर्थ रोग-निवृत्ति करना है। 'कित् रोगापनयने' धातु से 'चिकित्सा' शब्द बना है। संसार में जितने प्राणी उत्पन्न हुए हैं, चाहे वह स्थावर हों या जङ्गम, रोग सब को होता है। इन रोगों की निवृत्ति करने का नाम चिकित्सा है। चिकित्सा शास्त्र अनेक देशों में अनेक प्रकार से विस्तृत और प्रचलित है। मनुष्यों की तो बात ही क्या—पशु, पक्षी, बन्दर, नकुल आदि जानवरों को भी प्राणिशास्त्रवेत्ताओं ने अपनी चिकित्सा करते हुए देखा है। एक नकुल जब किसी बलवान सर्प से युद्ध करते हुए मर-सा जाता है, दूसरा नकुल उसको आकर कोई जड़ी सुंघाता है और वह जीवित होकर दूसरे नकुल की सहायता से सर्प पर विजय पा लेता है। गाय, भैंस आदि पशु बीमार पड़ने पर लङ्घन करते हैं। अपथ्य का परिहार और पथ्य-बनस्पतियों का सेवन स्वयं जङ्गल में कर लेती है। ऐसी ही बहुत-सी धाराएँ प्राणिशास्त्रियों की है। खैर, जो कुछ भी हो, दुःख के प्रतिकार के लिये थोड़ी बहुत बुद्धि सृष्टिकर्त्ता ने सब को दी है—यह तो मानना ही पड़ेगा। हमारा आज का विषय मानव-चिकित्सास्त्र से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि चरक, सुश्रुत इत्यादि आर्यग्रन्थों में चिकित्साशास्त्र का विषय प्राणिमात्र को ही माना है तथापि उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो चिकित्सा लिखी है, वह पुरुष (मानव) को ही इङ्गित करके लिखी है।

चिकित्साशास्त्र का विषय तो मन, आत्मा और शरीर—इन तीनों के संयोग से तिपाई की तरह अन्योन्याश्रित प्राणिमात्र ही है। इन सब की चिकित्सा की जाती है। अश्वायुर्वेद, हस्त्यायुर्वेद आदि ग्रन्थ इनके विषय में स्पष्ट प्रमाण हैं, और न जाने इस विषय के कितने ग्रन्थ-रत्न समय और आक्रान्ताओं के दुराचार से नष्ट हो गये हैं। इस लिए भारतीय आस्तिक विद्वानों की यह दृढ़ धारणा है कि जिस प्रकार सृष्टि रचना करने के पहले उसके सम्यक् सञ्चालन के लिए ईश्वर ने वेदों को प्रकट किया, उसी प्रकार आयुर्वेद भी नित्यसिद्ध ईश्वरीय ज्ञान है। कहीं भी किसी भी आचार्य ने जहाँ आयुर्वेद की सम्प्रदाय-परम्परा का वर्णन किया है, वहाँ यही लिखा है कि इस ईश्वरीय ज्ञान को ब्रह्मा ने स्मरण करके प्रजापति को दिया, वहाँ से शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा द्वारा यह सर्वसाधारण तक पहुँचा।

सुश्रुतकार ने कहा है कि इसे मन्त्र की तरह बिना कोई शङ्का किये प्रयोग करो। ज्ञानपूर्वक आयुर्वेद-औषधियों के प्रयोग करने पर फल में सन्देह का काम नहीं। 'मन्त्रवत् सम्प्रयोक्तव्यम्'।

न्यायदर्शनकार ने वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये आयुर्वेद की सत्यता को प्रमाण रूप में उपन्यस्त किया है। ऐसे ही वेदोक्त सब कर्मों एवं उनके फलों की सत्यता प्रमाणित की है—'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यम्'! अर्थात् जिस प्रकार मन्त्र सत्य है, वेद सत्य है, उसी प्रकार आयुर्वेद भी सत्य

है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद की तरह आयुर्वेद भी ईश्वरीय ज्ञान है और यह किसी-न-किसी रूप में प्राणिमात्र में अन्तर्हित रहता है।

भारत में आयुर्वेद की अष्टांग-चिकित्सा अनन्त-काल से अविछिन्न रूप से चलती आ रही थी; परन्तु इसके बहुत अंश मुस्लिम बर्बर आक्रमणकारियों की बर्बरता की भेंट होकर अग्नि में सदा के लिये भस्मसात् हो गयी। फिर अंग्रेजी राज्यकाल में अवशेष अंश भी राज्य द्वारा असम्मानित होने के कारण काल की कृपा से दीमक-कीटों की भेंट हो गयी। अब भी जो उपलब्ध है, वह अपनी तुलना में संसार की किसी भी चिकित्सा-प्रणाली को अपने से आगे बढ़ने नहीं देती।

युक्तप्रान्त की सरकार ने आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा-प्रणाली की पुनः सङ्गठन-समिति स्थापित की है। उस समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए लिखा है कि "यह सर्व विदित सत्य है कि अंग्रेजों ने अनेक दुरुपयोग से न केवल हमारे देश पर राजनैतिक विजय प्राप्त की, किन्तु हमारी आत्मा का भी चिरदासता की शृङ्खला में बांधने के कुत्सित उद्देश्य से हमारी प्राचीन संस्कृति, भाषा, साहित्य एवं विज्ञान को नष्ट करने तथा उसका हीनत्व सिद्ध करने का भी सतत् प्रयत्न किया, ताकि उसका वास्तविक महत्त्व स्वयं हमारी ही दृष्टि में गिर जाय। उन्होंने हमारी कला और विज्ञान के उन्नति-मार्ग में रोड़े अटकाने के सभी प्रयत्न अपनी शक्ति भर किये और जहां तक हो सका, हमारे प्राचीन साहित्य और विज्ञान की संस्थाओं को राजकीय सहायता और मान्यता नहीं दी। निस्सन्देह यह हमारे विदेशी शासकों की नीति का मूल था कि हम ऐलोपैथी की तुलना में अपने अन्य शास्त्रों की भांति आयुर्वेद से भी घृणा करने लगें।"

अंग्रेज व्यापारी थे। व्यापारी को अपने व्यापार के प्रचार के लिये हर एक भला-बुरा उपाय काम में लाना पड़ता है।

उससे जनता में अज्ञानता बढ़ेगी या उसके स्वास्थ्य पर बुरा से बुरा असर पड़ेगा, इसकी व्यापारी को परवा नहीं होती। चाय के प्रचारक यहां तक प्रचार करते हुये देखे गये हैं कि 'गर्मी में चाय कलेजे को ठण्डा करती है'। डाल्डा (जमे हुए तेल) के प्रचार में पहलवान का छाया-चित्र देकर लिखा रहता है कि इनकी रसोई डाल्डा से बनायी जाती है। जब अपने सीधे-सादे देश के व्यापारियों में स्वार्थ की इतनी कुत्सित भावना आ गयी, तब विदेशी अत्यन्त चतुर अंग्रेज व्यापारियों ने हमारे उद्धार के लिये नहीं, अपने व्यापार को फैलाने के लिये करोड़ों रुपये के औजार, यन्त्र, औषधि के मार्केट भारत में तैयार करने को तथा न केवल स्वस्थावस्था में, अपितु आतुरावस्था में भी हमें पराधीन बनाने को यह सब किया, तो आश्चर्य ही क्या है। गान्धीजी का भी ऐसा ही मत था। उन्होंने 'यंग इन्डिया' में लिखा था, 'अंग्रेजों ने निश्चय ही चिकित्सा-व्यवसाय का उपयोग हमें दासता में बाँध रखने के लिये सफलता-पूर्वक किया है। पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करना हमारी दासता बढ़ाना है। यह प्रणाली बहुत खर्चीली है, इसे स्वयं डाक्टर भी जानते हैं। इसमें रोग-परीक्षा के लिये 'रक्त-परीक्षा, मल परीक्षा, मूत्रपरीक्षा, कफपरीक्षा आदि कितने ही' प्रकार की परीक्षाएँ चलती हैं, जिन पर काफी खर्च पड़ जाता है। डाक्टरों की फीसें बहुत लम्बी होती हैं। इसका विकास यूरोपीय देशोंमें हुआ है; तथा उन्हीं देशों के जलवायु में पली हुई जनता के रहन-सहन आहार विहार को दृष्टि में रख कर ही यह बनायी गयी है।" परिणामस्वरूप ये औषधियां भारतीय

जनता की प्रकृति, जल-वायु सम्बन्धी दशाओं के बिलकुल अनुपयुक्त सिद्ध हुई है। रोगियों पर इनका कुप्रभाव देखने में आता है। ऐलोपैथिक ओषधियों के तैयार करने में प्रायः तीव्रसुरा, स्पिरिटका उपयोग होता है, जिसका प्रयोग प्रायः अपने यहाँ निषिद्ध माना जाता है। ओषधियों का प्रयोग रोग निरोध के लिये किया जाता है। रोगपरीक्षा में भूल हुई तो विपरीत परिणाम अवश्यम्भावी है। यह दोष आयुर्वेद में नहीं है; क्योंकि इसमें दोषों के विपरीत औषध-प्रयोग होता है। अतः रोग का नाम निश्चित न होने पर भी दोष विपरीत ओषधि लाभ कर जाती है।

यदि राष्ट्र के स्वास्थ्य को सुधारना है और देश के दूरतम भागों में निवास करनेवाले दरिद्रतम व्यक्ति के लिये भी चिकित्सा-सम्बन्धी सहायता सुलभ करनी है तो शीघ्र-से-शीघ्र आयुर्वेद के आधार पर, जो चिकित्सा, स्वास्थ्य और दीर्घजीवन के क्षेत्र में हमारे पूर्व पुरुषों की सर्वोपरि सिद्धि है और जो ऐलोपैथिक या अन्य चिकित्सा प्रणालियोंमें विद्यमान दोषों से सर्वथा मुक्त है, हमारे राष्ट्र की चिकित्सा और स्वास्थ्य के ढाँचे का भवन गढ़ा जाना चाहिये। इसे अविलम्ब 'राष्ट्रिय चिकित्सा प्रणाली' स्वीकृत कर लेना चाहिये। ऐसा करने से शीघ्र ही इस प्रणाली का उच्चतम विकास होगा।

भारतवर्ष के लिये विशेष करके आयुर्वेदीय चिकित्सा ही उपयुक्त है, क्योंकि :—

(१) यह उन्हीं जड़ी-बूटियों के आधार पर की जाती है, जो प्रायः भारत या उसके पड़ोसी के समान आब-हवावाले मुल्कोंमें पैदा होती है, यह अटल सत्य है कि जिस भूमि में जो प्राणी पैदा होता है, उसी भूमि में उत्पन्न औषध तथा अन्न उसके लिये विशेष उपयुक्त होता है।

(२) आयुर्वेदीय औषधियाँ सर्वसुलभ और सस्ती है।

(३ आयुर्वेद-चिकित्सा-प्रणाली में द्रव्यों का प्रयोग सम्पूर्ण रूप से होता है, न कि कार्यकारी तत्त्वों का।

(४) आयुर्वेदकी रोग-परीक्षा-प्रणाली सहज स्वल्प व्ययसाध्य एवं अकाट्य युक्तिपूर्ण है।

(५) आयुर्वेद में रोगों की चिकित्सा दोषानुबन्ध होने से रोग का पूर्ण परिचय न होने पर कुपित दोष का उपशम कर देने से ही रोग निवृत्त हो जाता है।

(६) आयुर्वेद चिकित्सा सत्व रजः तमः प्रधान प्रकृति के आधार पर है। पिण्ड ब्रह्माण्ड न्याय से जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त तत्त्व हैं, वे ही पिण्ड में हैं। इन तत्त्वों का क्षय और वृद्धि होना ही रोग है। उन्हें सम अवस्था में कर देना ही चिकित्सा है। उनमें विषमता न हो, ऐसा उपाय कर देना ही 'स्वास्थ्याभिरक्षण' है। अतः आयुर्वेद में जैसा वर्णन किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं किसी भी चिकित्सा-में नहीं मिल सकता।

(७) आयुर्वेद में हेतु व्याधि विपरीत चिकित्सा का वर्णन है, न केवल ऐलोपैथिक की तरह व्याधि विपरीत चिकित्सा का ही। यही कारण है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणाली से चिकित्सा कराकर स्वस्थ हुये रोगी पूर्ण स्वास्थ्य सुख का स्थायी लाभ प्राप्त करते हैं; क्योंकि उनकी बीमारी केवल उग्र ओषधि एवं इंजेक्शनों से दबायी नहीं जाती, किन्तु समूल नष्ट की जाती है, जिससे न तो वह दूसरे रूपसे न अपने रूपसे फिर प्रगट हो सकती है।

(८) आयुर्वेद में शरीर-शुद्धि करने के लिये पञ्च कर्म-प्रणाली वर्णित की गयी है—जिसमें स्नेह, वमन विरेचन, नस्य, अनुवासन, धूम्रपान आदि सब ऐसी वैज्ञानिक क्रियाएँ हैं, जिनके द्वारा शरीर में संचित

सभी प्रकार के विकार जो शरीर में मिथ्या आहार विहार से सञ्चित हो जाते हैं, शरीर से एकदमबाहर निकाल दिये जाते हैं और शरीर को शुद्ध कर दिया जाता है। ऐसी प्रणाली अन्य चिकित्सा-शास्त्र में नहीं मिलेगी। आयुर्वेद जब अपनी उन्नति अवस्था में था, यहां के मनुष्य जब धन कमाने की चिन्ता में रात-दिन आज की तरह व्यग्र नहीं थे, तब प्रतिवर्ष वसन्त, शरद और वर्षामें उक्त प्रणाली के द्वारा शरीर शुद्ध करा लिया करते थे, जिससे वे रोगरहित होकर पूर्णायु प्राप्त करते थे।

(९) ऋतुचर्या— किस ऋतु में कौन दोष प्रबल रहता है और उसके उपशम के लिये क्या आहार-विहार करना चाहिये, कैसे वस्त्र पहनने चाहिये, कब सोना चाहिये, कैसे मकान में रहना चाहिये इत्यादि भिन्न-भिन्न ऋतुओं की भिन्न चर्या इतनी महत्वपूर्ण है, जो अन्य चिकित्सा-प्रणालियों में कहीं भी नहीं मिल सकती।

(१०) ऐसे ही इसकी दिनचर्या, रात्रिचर्या, भोजन विधि, आहार-विज्ञान, पथ्यापथ्य विज्ञान अपूर्व है।

(११) आयुर्वेद का औषध-भण्डार तो इतना विशाल है कि जिसकी गणना करना ही मानव-शक्ति के बाहर है। चरक ने लिखा है कि 'नानौषधं जगति किंचित' अर्थात् जगत में ऐसा कोई भी पदार्थ (वस्तु) नहीं है, जो औषध के काम में न आता हो। रस चखकर अज्ञात औषधियों के गुण जानने की जो विधि आयुर्वेद में बतलायी है वह आयुर्वेद की विशिष्टता है।

(१२) आयुर्वेद की औषध-निर्माण प्रणाली इतनी वैज्ञानिक है कि इसमें कोयले से लेकर हीरक पर्यन्त खनिज द्रव्य, स्वर्णादि धातु, सींगीमाहरा (वत्स नाभ) से लेकर कालकूट पर्यन्त विष सब प्रकार के रत्न, पारद, गन्धक आदि रसों का शोधन-मारण कर के वे इतने सात्म्य (शरीर में जज्ब होने लायक) बना दिये जाते हैं जो कभी भी कोई विकार पैदा नहीं करते और जिस उद्देश्य से उनका प्रयोग किया जाता है, उसे पूर्ण कर देते हैं।

(१३) वाजीकरण औषधियों का जितना सुन्दर संग्रह आयुर्वेद में है, वह बहुत ही उपयोगी और आशुफलप्रद है।

(१४) जरा-व्याधि को दूर करने वाले दिव्य-रसायन इसी में विद्यमान है।

आयुर्वेद के जो कुछ उपादेय अंश समय केप्रभाव से या अनभ्यास से अदृश्य हो गये हैं, वे ऐलोपैथिक या अन्य किसी भी चिकित्सा-प्रणाली को लेकर उस का प्रतिसंस्कार करके उनसे खण्डित अंगों की पूर्ति कर लेनी चाहिये। जैसे व्रण की चिकित्सा ऐलोपैथी में की जाती है, आयुर्वेद उससे अपनी मौलिक भिन्नता रखता है ; यथा—वातिक व्रण, पैत्तिक व्रण कफज व्रण, द्वन्दज व्रण, सान्निपातज व्रण—इस सब की धोने की, सेंक करने की, लेप की, विदारण की, विम्लापन की, चीरने की भिन्न-भिन्न ओषधियां एवं भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। परन्तु शस्त्राचरण का अभ्यास डाक्टरों से लेना चाहिये। इसी प्रकार शालाक्य और प्रसूति-तन्त्र में आंख, कान, नाक, गला, दांत आदि चिकित्सा में तथा बच्चा पैदा कर वाने में भी अभ्यास-पाटव डाक्टरों से लेना चाहिये।

आयुर्वेदीय चिकित्सा पूर्ण सत्य ज्ञान है, लाखों वर्षों की अनुभूति है। इसमें ऐलोपैथिक की तरह प्रति तीसरे वर्ष बदल जानेवाली ओषधियां नहीं हैं, जो विज्ञानके नाम पर धुआंधार प्रचार करके रोगियों के शरीर में उँडेल दी जाती है, और थोड़े ही दिनों के बाद अज्ञान के गर्त्त में समा जाती हैं। कुछ दिनों पूर्व एम० वी० ६९३ (M. B. 693) को निमो-

निया के लिये अचूक माना जाता था। उसका व्यवहार अब डाक्टरों में कितना कम हो गया है। उसके स्थान में 'सल्फोनिमाइड' ग्रूप की अन्य दवाइयाँ निकल गयी है। अब सुना जाता है अमेरिका के यूनाइटेड स्टेट्स से चिकित्सकों के नाम एक सरकुलर (विज्ञप्ति) निकाला है, जिसमें पेनिसिलिन एवं उक्त ग्रूप की औषधियों का स्वल्प व्यवहार करने का आदेश है। माता के टीके का वहाँ कितना भयङ्कर विरोध किया जाता है। सारांश कि मानव ज्ञान सदा अधूरा एवं त्रुटिपूर्ण है—खासकर इन सूक्ष्म विषयों में, जो इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हैं। ऐसे विषयों में तो आप्तोपदेश ही प्रमाण हैं। आप्त कौन है ?

इसके विषय में शास्त्रकार लिखते हैं कितप एवं ज्ञान के बल से जो रज एवं तम से सर्वथा मुक्त हो गये हैं, जिन्हें त्रिकाल का ज्ञान है और वह ज्ञान भी निर्मल तथा अव्याहत है, वे ही आप्त हैं, वे ही शिष्ट एवं विबुद्ध कहलाते हैं। इन आप्त पुरुषों के वचन संशय रहित एवं सच्चे होते हैं। वे रज एवं तम से मुक्त आप्त पुरुष असत्य क्यों कहेंगे ?"

चिकित्सा जैसे सूक्ष्म विषय में इन महापुरुषों की निश्चित एवं अमोघ प्रणालीं यदि भारत के स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी राष्ट्रिय चिकित्सा-प्रणाली नहीं ठहरायी जाय, प्रत्युत प्रतिदिन परिवर्तनशील और प्रयोगात्मक ऐलोपैथिक-प्रणाली पर राष्ट्र के स्वास्थ्य को बलिदान किया जाय तो यह बड़े दुर्भाग्य की बात होगी। आशा है हमारी राष्ट्रिय सरकार केवल धुआँधार प्रचारों के फेर में न पड़ कर देश के अनुभवी वैद्यों की सलाह से इसे शीघ्रातिशीघ्र आयुर्वेद को राष्ट्रिय-चिकित्सा के रूप में स्वीकार करेगी।

मधुमण्डूर

पाण्डुरोग तथा कोष्ठ शाखाश्रित कामला की चिकित्सा के प्रकरण में सुश्रुत ने एक योग दिया है—

मण्डूर लोहाग्नि विडङ्ग पथ्या व्योषांशकः सर्वसमानताप्यः।
मूत्रासुतोऽयं मधुनाऽवलेहः पाण्ड्वामयं हन्त्यचिरेण घोरम्॥ सु० उ ४४।२३

टीकाकार डल्हन ने इसे पाण्डुरोग में 'सिद्धतम योग' कहा है। इसका पाठ यह है—मण्डूरभस्म, लोहभस्म, चित्रक, हरीतकी, शुण्ठी, मरिच, पिप्पली — प्रत्येक १ भाग, माक्षिक सर्वसम; गोमूत्र की ७ भावनाएँ दें। अनुपान-मधु।

पाण्डुरोगहर आयुर्वेदीय योगों में यह विशेषता देखी जाती है कि उनमें लेखन (कफ के आवरण को दूर करनेवाले), दीपन, पाचन द्रव्य अवश्य होते हैं। ये द्रव्य अपने इन गुणों से आमाशय तथा ग्रहणी में पचन की क्रिया को सुधार कर रस और उसके द्वारा रक्त की उत्पत्ति का प्रमाण बढ़ाते हैं; साथ ही रञ्जक पित्त के उत्पादन में सहायक होने से भी रक्त की वृद्धि करते हैं। यह विषय क्रियाशारीर के ग्रन्थों में विस्तार से देखना चाहिये।

साथ ही इन योगों में बिरेचन भी होते हैं, जो मल, मूत्र तथा पित्त की शुद्धि करते हैं। मधुमण्डूर में भी ये विशेषताएँ हैं।

इन योगों के साथ यकृत् के सेवन का भी उपदेश है। रञ्जक अधिष्ठान होने से पाण्डुरोगादि में इसके सेवन के महत्त्व का दर्शन प्राचीनों ने किया था। ऐतिहासिक कारणों से हम इस पथ्य से दूर जा पड़े यह और बात है। अब डाक्टर बन्धु इसीका कई प्रकार से उपयोग कर पाण्डु रोग में यश का उपार्जन करते हैं।

मधुमण्डूर का महाराष्ट्र में विशेष प्रचार है। अन्य राज्यों के वैद्य भी इसे अपना सकते हैं।

आयुर्वेद में संशोधन और सम्बर्द्धन-३

वैद्य ब० स० येरकुँटवार

ये सब बातें निरीक्षण और प्रयोग के बिना जानी नहीं जा सकतीं। वनस्पति और प्राणी की विविधता और उनके विभिन्न अंग-उपांगों के गुण-धर्म मूलक परिचय तत्वतः प्रायोगिक पद्धति द्वारा ही मिल सकते हैं। खनिज पदार्थों का गुणधर्मात्मक निघण्टु पढ़ते हुए आधुनिक Industrial diseases के समान जो प्रत्यय आता है, वह ध्यान देने योग्य ही है। प्रयोग किये बिना शोधित और अशोधित धातुओं के परिणाम क्या होंगे, कहना असम्भव ही है। प्रश्न होता है कि व्याधियों का पूर्वरूप, रूप, उपद्रव इत्यादि की निश्चित प्रायोगिकता और तत्सम्बन्धी अनुगमन शात्र के अभाव में इस विषय का प्रतिपादन कर सकना क्या संभव है? निदानार्थ बहुत स्थानों में पशुपक्षादिकों का उपयोग किया हुआ प्रतीत होगा। शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध इनकी आतुर विषयक प्रतीति वैद्यों को हो सकती है, किन्तु रस-संवेदना की नहीं। 'मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात्' (चरक इ० अ० २, २०) ऐसा कहते हुए चरक ने मक्षिका, यूक, दंश, मशक इत्यादि के वर्तावों से रसानुमान निश्चित करने का अनुशासन दिया है। इसमें प्रायोगिकता और अनुगमन शास्त्र का स्पष्ट साक्षात्कार होता है। Animal or biological assay इस तत्व का परिचय भारतीयों को था साथ ही उन्हें human assay का भी परिचय था। आधुनिक शास्त्रज्ञों को भी प्रयोगशालाओं में निश्चित किये हुए चमत्कारों का प्रयोग मानव पर करने के पश्चात् ही अन्ततः सत्यासत्य का निर्धारण करना पड़ता है। इस दृष्टि से ही ऐसा बार-बार कहा जाता है कि आयुर्वेद की संशोधन पद्धति विशेषता और श्रेष्ठता में अपनी सानी नहीं रखती। इसी विशेषता के कारण आयुर्वेद का सिद्धान्त-निगमन, तथा उसकी परिभाषा, आधुनिक वैद्यक से भिन्न जा पड़ती है। सम्पूर्ण रस-संवेदना की प्रतीति ही आयुर्वेद की मूल भित्ति है। इसका भी कारण उपर्युक्त वैशिष्ट्य ही है। इस दृष्टि से देखा जाय तो आयुर्वेद और होमियोपैथी में बहुत साम्य दिखायी देता है। होमियोपैथी में द्रव्य सिद्धि की (proving) जो पद्धति है, वह आयुर्वेदीय रसविज्ञान का ही एक प्रकार है। आयुर्वेद में हरेक रस का गुण और कर्म दिया है और उसके प्रतियोग से शरीर पर होनेवाले परिणाम भी दिये हैं। उसमें होमियोपैथिक similia simibibus curantur के समान कुछ प्रकार दिखाई देगा। उदाहरण के तौर पर प्रवाल द्रव्य को ही लीजिये। प्रवाल का उपयोग आयुर्वेद में जितना है उतना अन्य किसी भी चिकित्सा-पद्धति में नहीं है, यह बात बिलकुल सत्य है। फिर भी होमियोपैथी में प्रवाल एक महत्व का द्रव्य गिना गया है।

आयुर्वेदोक्त ग्रन्थानुसार प्रवाल मधुर, कषाय और अम्ल रसात्मक है। इन रसों को गुणधर्मों की स्थूल मात्रा में व्याधियों में प्रयोग करके आयुर्वेद ने फायदा उठाया है। होमियोपैथी ने थोड़ा भिन्न मार्ग स्वीकृत किया है। प्रवाल की सूक्ष्म पिष्टि के

अति प्रयोग के बाद मानव शरीर पर जो परिणाम देखने में आते हैं, उन्हें ध्यान में रखकर उसी परिणाम सदृश लक्षण होनेवाले रोगी को उसके पिष्टी की सूक्ष्म मात्रा देना ही उसकी विशेषता है।

प्रवाल के अति प्रयोग से प्रतिश्याय, नाक से खून बहना, भयानक आक्षेपिक खांसी, रक्तमिश्रित कास, व्रण, त्वग्रोग इत्यादि विकार होते हैं। आयुर्वेद और होमियोपैथी इन दोनों चिकित्सा-पद्धतियों में भी इस एक ही द्रव्य का इन विकारों पर इलाज करते हैं।

आयुर्वेद में प्रतिष्ठित रसवीर्यविपाक प्रभाव के सिद्धान्त पंचमहाभूताधिष्ठित शारीरादि विवेचन इस सबका मूल (human assay) में ही है। प्रयोग का, अनुभव का, और अनुगमन निगमन का माध्यम मानव शरीर ही है यह आयुर्वेद की भूमिका है। आधुनिक वैद्यक का प्रवाह सदैव विरुद्ध दिशा की ओर है। लिटमस पेपर, क्षार और अम्ल गुणधर्म को निर्णय करने के लिये जिस तरह माध्यम द्वारा उपयोगित किया जाता है, उसी तरह अन्यान्य प्रयोग-साधन का आश्रय लेना ही शास्त्रीय है—यह आधुनिक वैद्यक की भूमिका है। अतः मूलभूत कल्पना और सिद्धान्त में विभिन्नता कैसे पैदा होती है, यह बात एक उदाहरण से ध्यान में आयेगी। आधुनिक वैद्यक के शरीर-विज्ञान के कथनानुसार निरोग मनुष्य का मूत्र अम्ल प्रतिक्रियात्मक (acid in reaction) होता है। सुश्रुत ने प्रमेही व्यक्ति का मूत्र...'अपिच्छिल मनाविलम्'—विशदं तिक्त कटुकं ऐसा हुआ हो, तभी 'तदारोग्यं प्रचक्षते' (चि० स्था० अ० १२ २०) ऐसा बताया है। अर्थात् आयुर्वेद की दृष्टि से विकार रहित मूत्र अम्लधर्मीय नहीं हो सकता, वह तिक्त, कटु, ही हो सकता है और वही सत्य है। ऐसा भेद और संभ्रम होने का कारण मूलभूत कल्पनाओं की भिन्नता और भाषान्तर कारों का विभ्रम ही है। पाश्चात्य रसायन शास्त्र की मूलभूत कल्पनाएँ human assay में सम्पन्न नहीं हुई—जड़ माध्यम में से ही सम्पन्न हुई हैं। अतः acid alkali इत्यादि शब्दों का भाषान्तर 'human assay' की पद्धति से देना अशास्त्रीय है। यह विषय बहुत बड़ा और व्यापक है इसलिये जितना आवश्यक जान पड़ा उतना ही यहां विवेचन किया गया।

वस्तुतः 'human assay' अर्थात् मानव का अनुभव ही शास्त्र का स्रोत है—ऐसा आधुनिक शास्त्रज्ञोंका कथन है। थॉमसनने अपने 'Introduction to science' नामक ग्रंथ में कहा है कि विज्ञान का संवाद 'Experimental terms' में होना चाहिए। इस दृष्टि से देखा जाय तो आयुर्वेद ही कसौटी पर सफल उतरता है। न कि आधुनिक विज्ञान। क्योंकि उसका संवाद अपरिचित, नवनिर्मित कल्पनामय भाषा में ही अधिक है। अतएव अबतक, के प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार आयुर्वेद और आधुनिक शास्त्र दोनों की प्रायोगिकता तत्वतः एक रूप ही है। वर्त्तमान काल में जिसे 'Logic of science' कहते हैं, वह भी आयुर्वेद में है, यह सत्य उसमें आने वाले न्याय-शास्त्र से अवगत होता है। इस न्याय-शास्त्र के आधार पर ही अनेक प्रकार के अनुभवों से कई निर्णीत सिद्धान्त बनाये गये हैं। इस दृष्टि से रक्ताभिसरण का शोध करने वाला हार्वे उदाहरणास्पद है। कुछ प्रयोगों और कुछ निरीक्षणों को आधार पर प्रत्यक्ष न देखते हुए भी, उसने केशवाहिनियों का अनुमान किया था। उसकी मृत्यु के चार वर्ष के अनन्तर तत्कालीन सर्व श्रेष्ठ शरीर रचनाशास्त्रज्ञ और सूक्ष्म शारीर शास्त्र (histology) का जनक माल्पीघी ने सूक्ष्म दर्शक

यंत्र के द्वारा प्रकट तौर पर दिखाया था कि केश-वाहिनियां रोहिणी और नीला में परस्पर प्रवाहित होते हुए कैसा निर्माण करती हैं।— "Harvey made the existence of capillaries a logical necessity, Malpighi made it a histological certainty." ऐसा थॉमसन ने वर्णन किया है। (Introduction to Science P. 74) आगे बढ़ कर वह यह भी कहता है 'The system works, there fore the unseen bridge across the gap must be there. "यह उस विषय का रहस्य भी प्रकट करता है। आयुर्वेद के अनेकानेक सिद्धान्तों के विषय में यही प्रकार विशुद्ध रीति से सिद्ध किया जा सकता है। त्रिदोष सिद्धान्त, पंच महाभूत सिद्धान्त, शारीर सिद्धान्त, निदान चिकित्सादि सिद्धान्त तत्व 'The system works इस प्रकार के अवश्य ही हैं। 'Logical necessity' का रूपान्तर किसी न किसी शास्त्र के 'certainty' में अभीतक हुआ भी नहीं—भविष्य में होने की संभावना भी नहीं—इसलिए इस मिथ्या आग्रह को क्यों ग्रहण किया जाय—?

आयुर्वेद के निगमन-अनुगमन के शास्त्र में आधुनिक पद्धति की संख्याशास्त्र (Statistics) आलेख (graph), संख्या गणन वा अन्यतत्सम जटिल बातों की शिष्टता नहीं है—यह सत्य है। साथ ही इस सत्य को भुलाया भी नहीं जा सकता कि इन सब बातों के मूल में जो विचार सरणि है, वह निश्चित रूप से आयुर्वेद में भी है। पहले किए गए विवेचन के अनुसार यह ध्यान में रखना चाहिए कि पाश्चात्यों ने भी इस सन्बन्ध में शास्त्र-रचना की है। परन्तु यह उनके समान वर्धन का परिणाम है। आजकल के 'formulation' के युग का बहुविलास है।

परन्तु उसके चलते विचार-पद्धति में एकांगिकता कैसे पैदा होती हैं, इसका एक नमूना उदाहरण के रूप में दिया जा सकता है। चरक ने विमान स्थान के अष्टम अध्याय में परीक्षण करने का आदेश दिया है। उसका यह कहना है कि विकृति, रोगी का बल इत्यादि बातें ध्यान में लेकर ही तीक्ष्ण सौम्य औषधियों की योजना करनी चाहिए। विशेषतः स्त्रियों के वारे में उसने हेतुपूर्वक सूचना दी है (विशेषतश्च नारीः)। इसका कारण चरक यह बताते हैं कि ताहि अनवस्थित मृदु विवृत विक्लव हृदयाः प्रायः सुकुमार्योऽबलाः पर संस्तभ्याश्च—"इस पंक्ति का प्रत्येक शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण और अर्थ गौरवपूर्ण है। अब यह सिद्धान्त संख्या शास्त्र (Statistics) का अबलंब कर मानस शास्त्र, प्राणिशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, इत्यादि शास्त्रों में इसका हिंस्र संचार बहुत हो रहा है, यह ध्यान में रखने योग्य है। लेकिन मूल में ऋषियों ने न्यायशास्त्र को रक्खा है। अतः उनका सिद्धान्त आधुनिकों की अपेक्षा अधिक व्यापक और गंभीर हुआ है। इस सत्य की John Langion-Davices के 'A Short history of women' नामक पुस्तक में चर्चा की गयी है। कैल्शियम के चयापचय (Calcium metabolism) शरीर में कैसा होता है, यह बात दिग्दर्शित करके उसने कहा है

> Two interesting results follow these facts: first, women need to have more calcium salts than men; Second, they sometimes require for more calcium than at other times. The latter result brings about a periodical un evenness producing more calcium and at times less. The extra calcium which can not normally be used by a woman is passed out of her body every month; thus she is forced by nature to be less steady, more changable, than a man.........

(शेषांश ३६० पृष्ठपर)

आयुर्वेद व देवप्रतिमा

वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी आयुर्वेद शास्त्राचार्य

❀

'सचित्र आयुर्वेद' के जुलाई-अगस्त अङ्क में प्रकाशित 'धार्मिक कृत्य व आयुर्वेद' शीर्षक लेख पढ़ने के बाद मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इसके लेखक महोदय ने बहुत ही संकीर्ण रूप में इस विचार को रखने का प्रयास किया है। यद्यपि इस विषय पर लेख लिखने का प्रथम श्रेय माननीय लेखक ने प्राप्त किया है और इस नाते वे धन्यवाद के पात्र हैं; किन्तु उनकी उपस्थापना मेरी सम्मति में निम्न प्रकार से होनी चाहिए।

महादेव

धार्मिक पुस्तकों में महादेव का स्वरूप दिगम्बर या वाघाम्बरधारी, सर्प आभूषण, सिर पर गंगा, रुद्राक्ष की माला, धत्तूर, भंग, गाँजा, विल्वपत्र का सेवन, नन्दी का वाहन तथा साध्वी पार्वती द्वारा संरक्षण, हाथ में त्रिशूल यह साधारण विवरण है। अक्षत, चन्दन, पुष्प द्वारा भी अर्चन का निर्देश प्राप्त है। डमरू वश्रृंगी (सींग की तुरही) साथ में प्रसिद्ध वाद्य हैं। ऐसा चित्र अङ्कित है! यह कामारि कहे जाते हैं इत्यादि—इनकी नर्मदा में प्राप्त होनेवाले पत्थर की मूर्ति की अधिक विशेषता है और धारा का गिरते रहना शंकर की पूजा का प्रधान अंग है।

इन उपर्युक्त बातों पर एक चिकित्सक की दृष्टि से विचार किया जाय तो यों कह सकते हैं कि महादेव की देवाकृति रचना का रहस्य धार्मिक जो भी हो, वह गूढ़ या अगूढ़ क्यों न हो आयुर्वेदिक दृष्टि कोण से इस प्रकार माना जा सकेगा—

१—भंग, धत्तूर व गाँजा खानेवाला व्यक्ति अपना अपनत्व खो देता है और उसे शरीर की सुधि नहीं रहती वह नंगा हो सकता है, हो जाता है। अतः दिगम्बर बन सकता है। इन मादक वस्तुओं का सेवन करनेवाला व्यक्ति घर में न रह कर शीत-प्रदेश हिमालय जैसे पर्वतीय प्रान्तों में आवास बना सकता है। क्योंकि यह द्रव्य बहुत उष्ण होते हैं।

२—वह निर्भीक होकर सर्प का आभूषण बना सकता है। क्योंकि गाँजा, भांग, संखिया, धत्तूर खाने वाले को सर्पविष का भय नहीं रहता। जंगम विष इन स्थावर विषों का प्रतिरोधक होता है। अतः सर्प विष का कोई भी प्रभाव जो नित्य स्थावर विष खाते हैं, उनपर नहीं होता। स्थावर विष अधोगामी आहार द्वारा आमाशय में जाकर आहार रस के साथ पवित्र होकर हृदय द्वारा सर्वाङ्ग में पहुंचता है और जंगम विष उर्ध्वग (रक्त में मिश्रित हो शीघ्र सर्वाङ्ग में) होकर फैलता है अतः क्रिया में परस्पर विरोधी होने से सर्पविष का कोई भी भय नहीं रहता। अतः निर्भीक हो सर्प को आभूषण बना सकता है।

द्वितीय यह कि सर्प वातपायी होने से कम ताप का होता है, शरीर उसका शीतल होता है और विष भक्षी मानवका शरीर गर्म होता है अतः सर्प के लिपटने से वह शीत स्पर्श का सुखद अनुभव भी प्राप्त करता है। सर्प के आभूषण बताने में यही दो प्रधान हेतु हैं।

३—(i) धतूर, गांजा व भांग के नशा की प्रधान औषधियां निम्न हैं।

१—धतूरादि से उन्मत्त, व्यक्ति को खूब शीतल जल की धारा गिरा कर स्नान कराते हैं। स्नान देर तक कराने से उसका वेग समाप्त हो जाता है। यही भावना शीश पर गंगा के धारण करने में है। साधारण जल का प्रयोग नहीं अपितु लगातार इतना स्नान कराना पड़ता है कि रोगी व्यक्ति शीत का अनुभव करने लगेतो प्रभाव कम समझा जाता है अतः—गंगा जैसी नदी के धारण का विवरण है।

(ii)—नर्मदेश्वर महादेव व नर्मदा नदी के भीतर प्राप्त होने वाले शालिग्राम की मूर्ति का गुण हृद्य होता है। अर्थात् गंगाजल, पंचामृत या शुद्ध जल में स्नान कराकर (मूर्ति को डुबोकर) थोड़ी देर उसमें डूबे रहने देने पर विशेष शक्ति पानी में आ जाती है। उसका पान हृदय को बलकारक व शक्तिप्रद है। अतः उसमें यह गुण लगातार इस काले पत्थर के नर्मदा नदी के पवित्र शीतल जल में पड़े रहने से गुण उत्पन्न होता है। यदि इस पत्थर पर बराबर पानी की धारा पड़ती रहे तो यह अपने बलकारी गुण को बना रखता है किन्तु उसे शुष्क रखा जाय तो वह गुणरहित हो जाता है। अतः शंकर के लिंगरूप पर जल को चढ़ाने का विधान है और गर्मियों में धारा द्वारा सम्मानित कर जल–धारा रखने का धार्मिक विवरण है। इस अर्थ में गंगा का धारण व जलधारण का प्रयोग है। संक्षेप में काले कसौटी वाले पत्थर (नर्मदेश्वर महादेव) को कुछ देर पानी में डुबाये रखकर उस जल को पिलाया जाय तो यह हृद्य, वल्य, दाह शामक व हृदय के स्पंदन (धड़कनकी वृद्धि को दूर करता है। यदि यह सूत्र त्रिकाल तक पड़ा रहे और उसे जल में डालकर उस जल को पी लिया जाय तो लाभ नहीं होगा। इस जल की विशेषता शंख के बजने से नाद तरंग सेविद्युतीकरण होने के कारण होती है। इस तरह जलधारा का महत्व एवं शंकर के शिर पर गंगा धारण करने के मूल में यही अभिप्राय है।

३—धतूरा, गांजा व भांग के विष के लिए नाशक औषधि गोबर का रस होता है। ताजे गोबर के रस में पिपरमेंट (Meuthol), एमोनिया फेनोल इंण्डोल व फार्मेलीन की बहुत हल्की मात्रा पाई जाती है, यह रस इनसे युक्त हाकर शीघ्र विघ्नका रोधक होता है। गोबर का रस कइयों में पीते ही वमन लाकर विषका प्रभाव दूर करता है। कुछ लोगों में वमन न लाकर बिषशामक प्रभाव करके मादकता को कम कर देता है। अतः गोबर तभी मिल सकता है जब वृषभ साथ हो ताकि कभी मात्रा अधिक हुई तो प्रयोग सुकर होकर निरापद हुआ जा सकता है। नांदिये का होना शंकर के साथ इस प्रकार जहां बाहन का कार्य करता है निरापद बाहन बनता है, धतूरादि खाकर भी चढ़ने पर यह अपने शांत प्रभाव से चलायमान न होकर जहां रक्षा करता है गोबर द्वारा मादकता का हारक भी होता है। घोड़े की लीद के रस में भी विषहारक व मदनाशक गुण है किन्तु चंचल प्रकृति होने से घोड़े की अपेक्षा वृषभ की सवारी ही शंकर को प्रिय लगती है यही प्रधान कारण है।

४—भंग धतूर सेवी पुरुष को कोई रोग शीघ्र नहीं होते। यदि होते हैं तो दो भयंकर रोग होते हैं जिनसे बचना बहुत ही असंभव होता है। वे हैं अतिसार व मधुमेह। इनकी दवा भी एकमात्र है विल्व। अंतः शंकर को वेलपत्र प्रिय हैं। भंग व धत्तूर तीव्र दीपन, पाचक, ग्राही व मादक होते हैं आँतों में शोषण की शक्ति बढ़ा देते हैं। मल शुष्क या बंधा हुआ आता है किन्तु इस प्रकार के शरीर में

अतिसार होने पर साधारण ग्राहक औषधि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतिसार व संग्रहणी की उत्पत्ति होने पर वेलगिरी का प्रयोग ही इसे रोकता है वह चाहे चूर्ण रूप में हो या क्वाथ रूप में। इसके प्रयोग से अतिसार व ग्रहणी दूर हो जाती है। धतूरे व भांग के सेवन-कर्ता को प्रमेह नहीं होता किन्तु कुसंगति में पड़कर ऐसे व्यक्ति जब अपने वीर्य का नाश करते हैं तो भयंकर प्रमेह होकर मधुमेह या बहुमूत्र का रूप ले लेता है।

इसकी औषधि विल्वपत्र का स्वरस है जिसे लगातार कुछ समय तक दिन में तीन बार एक-एक छटांक पीने से मूत्र की गति रुक जाती है शर्करा का आना कम हो जाता है। अग्न्याशय व वृक्क के भाग जो निष्क्रिय हो गये होते हैं वे सचेत होकर अपना कार्य करते हैं। इनस्यूलिन व एड्रेलिन पूर्ण मात्रा में तैयार होने लगता है व्याधि दूर हो जाती है। यही रहस्य विल्वप्रिय होने में है। वेल के पत्र में ताम्र का भाग होता है इस कारण यह स्वयं विष होने से सर्प विष व जीवाणु विष नाशक होता है।

मधुमेह होने पर कई प्रकार की पिडिकाएँ होती हैं और व्रण बनते हैं। विल्वपत्र के शुष्क चूर्ण को छिड़क देने से ये पिडिकायें व व्रण दूर हो जाते हैं, ताम्रांश के कारण यह होता है। मधुमेह में कारवंकिल बनते हैं विल्वपत्र के स्वरस का सेवन इसका नाशक होता है।

सर्प विष में भी विल्वपत्र स्वरस लगातार पिलाना लाभप्रद व विषहारक होता है अतः विल्व-पत्र का महत्व शंकर के साथ है।

५—धत्तूर व भांग खानेवाले पुरुष की कामवासना कम हो जाती है अतः इस रूप में कामारि कहलाता है। यदि कामवासना उसे हो गई तो फिर इस विष-सेवन के प्रभाव से बहुत देर में वीर्य-स्खलन होता है। अतः प्रियावल्लभ होता है। धत्तूर व भांग के गुणों को जाननेवाले स्वतः इसे जानते हैं।

६—मादक वस्तु भोजी को चिल्लाकर या हिला-कर जगाना सम्भव नहीं—अतः शृङ्गी व डमरू को बजाकर के उसे उठाने का निर्देश है। या आमो-दार्थ भी यह वाद्य ऐसे व्यक्तियों को लाभप्रद होते हैं।

७—भंगधतूर जैसे मादक वस्तु सेवी व्यक्ति के लिये जो सदा दिगम्बर व बेहोश रहता हो, ऐसे सेवक की आवश्यकता है जो तन मन धन से प्रेम-पूर्वक सेवा करे। अतः सती का साथ में होना, या पार्वती की रक्षा में रहना कितना सुन्दर है। सती-साध्वी स्त्री ही ऐसे व्यक्ति को सेवा कर सकती है। जो कामवासना की पूर्ति के लिये स्त्री होगी वह ऐसी सेवा नहीं कर सकती। अतः ऐसे देव की सेविका सती जैसी साध्वी स्त्रियां ही रह सकती हैं यह निष्कर्ष निकलता है।

८—जो व्यक्ति नित्य भंग व गांजा का प्रयोग करता हो वही व्यक्ति एकान्तचित्त, निर्लिप्त होकर के एकांतचिन्तन द्वारा इहलौकिक बंधन के तीन शूल दैहिक, दैविक, व भौतिक तापों को दूर करके मोक्ष-प्राप्त कर सकता है। अतः त्रिशूल द्वारा व्याधि मोक्ष या कष्ट मोक्ष का विवरण प्राप्त है। जो इसे न कर लौकिक कृत्य में जुट जाता है वह व्यक्ति इस त्रिशूल का शिकार बनकर संसार की दावाग्नि में भस्मसात हो जाता है। उसका परलोक व इहलोक भी नष्ट होकर नरक की तरह कष्टप्रद हो जाता है।

९—जो व्यक्ति नियमपूर्वक इन भांग, गाजा आदि विषों का सेवन करके उपयुक्त आहार-विहार करता है वह बहुबलशाली होकर नर-व्याघ्र हो व्याघ्र का नाश कर उसके चर्म को पहनकर शत्रुसंहारक का

स्वतः स्वरूप बनकर बाघम्बरधारी बन सकता है अतः व्याघ्राम्बरधारी का यह रूप है।

१०—शंकर का ताण्डव नृत्य इसीलिये प्रधान नृत्य है कि मादकता की स्थिति में उटपटांग कृत्य या नृत्य निर्बाध रूप में चलते हैं; अन्य अवस्थाओं में यह नृत्य नहीं चल सकता अतः ताण्डव प्रिय है।

११—अक्षत के द्वारा पूजन का महत्व बहुत प्रौढ़ और उचित है अक्षत तण्डुल को जल में धोने से बनता है। चावल के ऊपर के भाग में के छिलके में विटामिन बी होता है जो नाड़ीवलय व अतिसार नाशक है। अतः वैद्य समुदाय जानकर या अज्ञानावस्था में परम्परा के रूप में तण्डुलोदक का अनुपान अतिसार में देते हैं और लाभ होता है।

इस प्रकार शंकर भगवान की रूप कल्पना में इन सबों को एक स्थान पर होना उनकी समुचित गुणावली का निदर्शक है। ऐसा समझ करके जो वैद्य भगवान शंकर का स्वरूप ध्यान कर कार्य में निमग्न होते हैं शंकर उनका कल्याण करते हैं और रक्षा करते हैं।

यह हमारी समझ से शंकर की प्रतिमा के निर्माण में चिकित्सा की दृष्टि से एक महान आधार रखकर कल्पना की गयी है। यह आयुर्वेदिक आधार है, इतना ही नहीं हरएक देवी-देवता की प्रतिमा के निर्माण में आयुर्वेद का वैज्ञानिक आधार है। आयुर्वेद भारतीयों के प्रत्येक जीवनक्षण में ओत-प्रोत होकर उनके धार्मिक बंधन के रूप में अवतीर्ण होता है। यही कारण है कि इतना भयंकर प्रचार व सभ्यता संस्कृति नाशक उद्योग होते हुए भी आयुर्वेद भारत में जीवित है। जबतक भारतीय जीवन है उनमें जीवित रहकर आयुर्वेद जीवित रहेगा। यह दूसरी बात है कि हम उसे न पहचानें और मृगमरीचिका के पीछे दौड़कर कल्याण की चाह में संहार की तरफ बढ़कर अपनापन खो दें, किन्तु समझकर चलने पर आयुर्वेद को भारतवर्ष से कोई भी मेट नहीं सकता।

आगे अवसर मिलने पर प्रत्येक मूर्ति के आकार की वैज्ञानिक कल्पना के आधार को यदि पाठकों ने पसन्द किया व उत्साह दिखलाया तो रखने का प्रयास करूँगा।

शेषांश]

आयुर्वेद में संशोधन और सम्वर्द्धन

[३८६ वें पृष्ठ का

Moreover, a woman, we have seen, is more erratic in her metabolism—she is periodical in her use of calcium salts, for example—and if one of the differences between a radical youth and conservative age is nothing more than calcium then we may expect that women are, not only because of social habits, but also because of chemical instability less likely to be even, uncontradictory, reliable mortals. That is, in short, same little biological ground for the theory of the relative instability of women as women........ ...." (P.P. 32-33)

इस लेखक का प्रतिपादन असत्य है ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु इस प्रश्न का रहस्य अकेले कैलशियम के चयापचय में ही है, ऐसा प्रतिपादन करने का जो दृढ़ प्रदर्शित किया है, वह निसन्देह अतिमात्र है। इस प्रकार-विविक्तता से देखना गणितागत पद्धति का ही परिणाम है। अस्तु, प्रस्तुत लेख में प्रत्यक्षदृष्टता पर विचार किया गया है आगे शास्त्रदृष्टता के सम्बन्ध में विचार करना समीचीन होगा।

नपुंसकता और शक्ति ह्रास का भय

प्रो० लालजीराम शुक्ल एम० ए० बी० टी०



देखा गया है कि कितने ही किशोर बालकों को नपुंसक होने तथा मानसिक शक्ति नष्ट हो जाने का भय त्रास देते रहते हैं। वह अपने आपको छोटी-छोटी बातों के लिये भी कोसा करता है। किसी काम का प्रारम्भ करने के पहले ही उसके मन में ऐसे विचार आने लगते हैं कि वह उसे पूरा नहीं कर पावेगा। कोई काम हाथ में लेते ही अनेक कल्पित नैतिक बाधाएँ भी उसके मन में आने लगती हैं—फलतः वह सदैव मानसिक अस्थैर्य की स्थिति में अपने को पाता है। वह कभी-कभी यहां तक सोचने लगता है कि वह बिल्कुल निकम्मा हो गया है। इस प्रकार का मनोभाव मानसिक नपुंसकता कहा जा सकता है। यह शारीरिक नपुंसकता से भिन्न वस्तु है। जिस व्यक्ति को इस प्रकार का भय हो जाता है, वह दूसरों से अपने आपको छिपाने की चेष्टा करता है। अतएव, उसकी मानसिक ग्रन्थि जटिल होती जाती है। यदि वह अपने आप को किसी अपने मित्र के समक्ष स्पष्ट रूप में खोल दे तो उसका सारा भ्रम और भय ही नष्ट हो जाय।

नपुंसकता के भय की मानसिक स्थिति में मनुष्य आत्म-भर्त्सना का अनुभव करता है। उसके मन में अपने से बड़े लोगों के प्रति झिझक रहती है-युवतियों से वह स्वाभाविक तौर पर नहीं मिल सकता। उनके सामने होने में वह बड़ा ही संकोच अनुभव करता है। फलतः वह अपने आप में अनेक प्रकार के रोगों की कल्पना किया करता है। इतना ही क्यों, उसे अपनी जननेन्द्रिय छोटी दिखायी देने लगती है। ऐसे व्यक्ति अपने आप में स्मृति का ह्रास, सभा-समितियों में बोलने में कठिनाई, भाषण देते समय हृदय का कम्पन आदि अनुभव करने लगता है। इस प्रकार का रोग प्रायः प्रतिभावान किशोर बालकों को हो जाता है। यह युवा काल में भी जारी रहता है। इसके चलते व्यक्ति लड़कियों से मिलने अथवा विवाह करने से वंचित ही रहता है।

नपुंसकता और शक्ति ह्रास के भय के कारण मनुष्य के मानसिक विकास में रुकावट पड़ जाती है—इससे उसका व्यक्तित्व पूर्णतया विकसित नहीं हो पाता। वह अपने में अनेक प्रकार की कमियां की कल्पना करने लगता है—किसी सुधार की संभावना अपने अन्दर वह देख नहीं पाता। इसलिए, वह निराश होकर कभी-कभी आत्म-हत्या करने तक की बात सोचने लगता है। ऐसे व्यक्ति अपने रोग की चर्चा किसी से नहीं करते। वे अपनी आत्म-यंत्रणा को अपने ही अन्दर छिपाए रखते हैं और सदैव मानसिक कष्ट भोगते रहते हैं। धीरे-धीरे ऐसे लोगों का सम्पर्क समाज से भी छूट जाता है और उनके स्वभाव में बड़े ही दुखदायी परिवर्त्तन हो जाते हैं। यदि ऐसे मानस रोगियों की समय रहते चिकित्सा नहीं हुई तो वे अपने आपको वास्तव में निकम्मा बना लेते हैं। आत्म-पीड़न से छुटकारा

पाने के लिये कभी-कभी ऐसे लाग आत्म-हत्या भी कर लेते हैं।

नपुंसकता तथा शक्ति ह्रास के भय का कारण प्रायः हस्तमैथुन की आदत और समलिंगी कामकृत्य होते हैं। इस कारण स्वप्नदोष की वृद्धि हो जाती है। रोगी ऐसा महसूस करने लगता है कि उसका सभी तत्व चला गया है और अब वह शक्तिहीन हो चुका है। वह प्रतिदिन हस्तमैथुन नहीं करने का संकल्प करता है, पर फिर भी किये जाता है। यह अभ्यास उससे छूटता नहीं। इस प्रकार वह अपना आत्म-विश्वास खो देता है। ऐसी अवस्था में किसी प्रकार की अभद्र कल्पना उसके मन में उठ आती है और फिर वह उसके मन से नहीं जाती। ऐसा व्यक्ति अपने किसी भी निश्चय पर दृढ़ नहीं रह पाता। अतएव, उसका मानसिक विकास सभी प्रकार से से रूक जाता है। यदि ऐसे व्यक्ति को उसकी भ्रमात्मक कल्पनाओं से मुक्त कर दिया जाय तो उसका खोया हुआ बल फिर से प्राप्त हो सकता है। मनुष्य जैसी कल्पना अपनी मानसिक शक्तियों के सम्बन्ध में करता है, उसकी शक्तियाँ उसी प्रकार बन जाती हैं। आत्म-विश्वास के अभाव में शेर भी गीदड़ बन जाता है और आत्म विश्वास के होने पर गीदड़ भी शेर का काम कर जाता है।

यहाँ एक रोगी विद्यार्थी का वर्णन दिया जाता है। रोगी अपने आप में अनेक प्रकार के कल्पित शारीरिक रोगों का अनुभव करने लगा था। इस रोगी के रोग का उपचार इसके प्रति प्रेम और सहानुभूति दर्शाकर किया गया। उससे उसके अतीत की आत्म-स्वीकृति करायी गयी–उसे सन्निर्देश भी दिया गया। रोगी प्रतिभावान, शरीर से सुन्दर, सुडौल और हट्टा-कट्टा है और स्थानीय कालेज की बी० ए० कक्षा का छात्र है। यह सदा प्रथम श्रेणी में अपनी परीक्षाएँ पास करता रहा है। पिछली परीक्षा में उसे दो विषय में विशेषता (डिस्टिंक्शन) भी मिली है। इसकी अवस्था १८ वर्ष की है। यह सुसम्पन्न घरका बालक है। उसके माता-पिता और ६ भाई और बहन हैं। घर में सबसे अधिक सम्मान इसी व्यक्ति का है, जो घर का पाँचवाँ लड़का है।

इस विद्यार्थी के दिल में यह सन्देह घर कर गया था कि उसकी सारी शक्ति नष्ट हो गई है। उसकी स्मृति-शक्ति भी जाती रही और अब वह पढ़ लिख भी नहीं सकता। वह कभी-कभी हृदय के कम्पन का भी अनुभव करता है। अपने से बड़ों के साथ बातचीत करने में, प्रोफेसरों द्वारा किए गए प्रश्नों के उत्तर देने में, वह कठिनाई का अनुभव करता--उत्तर देते समय या कुछ बोलते समय उसकी पेशानी में बल पड़ जाते। अतएव वह कक्षा में चुपचाप बैठा रहता था। उत्तर जानते हुए भी वह प्रोफेसर से कुछ नहीं कह पाता था। सुन्दर लड़कों को देखने पर उसे लज्जा का अनुभव होता था और वह ऐसे लड़कों से बातचीत करने का अवसर सदा टालता रहता था। उसकी समझ में उसे स्वप्नदोष बहुत होते थे। वह यह भी सोचने लगा था कि उसका लिङ्ग छोटा हो गया है। एक बार उसके लिङ्ग पर कुछ फुन्सियाँ हो आयीं तो, उसने समझा कि उसे गर्मी अथवा सुजाक हो गया है—वह इस कल्पना से कई दिनों तक पीड़ित भी रहा।

रोगी के पिछले जीवन के अध्ययन से यह पता चला कि वह बारह वर्ष की उम्र से ही हस्तमैथुन करने लगा था। उसे स्वजाति रति (Homosexuality) करने का भी कई बार अवसर पड़ा। वह दो बार वेश्याओं के यहाँ भी गया किन्तु दोनों ही बार वह असफल होकर (कामकृत्य में) लौटा।

इस रोगी में विवाह के प्रति उदासीनता के भाव लक्षित होते और लड़कियों के प्रति यौन आकर्षण का सर्वथा अभाव इसमें पाया जाता था। रोगी ने कुछ दिन पहले एक प्रतिष्ठित व्यक्ति की पुस्तक में पढ़ा था कि हस्तमैथुन करने से मनुष्य की सारी शक्ति नष्ट हो जाती है--स्मृति क्षीण हो जाती है, उसे स्वप्नदोष होने लगते हैं, चेहरा पीला पड़ जाता है और शरीर रोगग्रस्त और निस्तेज हो जाता है। समाज में वह बुद्धू जैसा आचरण करने लग जाता उक्त पुस्तक की बातें ज्ञापित होने के बाद यह रोगी धीरे-धीरे इन सारी बातों को स्वयं अपने ऊपर घटते देखने लग गया।

रोगी के मन में एक बार चरित्र बनाने का भाव आया। इस अभिप्राय से वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सदस्य बन गया और बड़े जोर-शोर से उसने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया और शीघ्र ही संघ का एक शिक्षक बन गया। संघ के काम से उसे अक्सर घर के बाहर जाना पड़ता था। इसके पिता संघ के बिरोधी थे और उसका संघ में सक्रिय भाग लेना उन्हें एकदम पसन्द नहीं था—वह उसे संघ में काम करने से रोकते भी थे--अतएव उसे अपने पिता से छिपाकर ही संघ के सारे कार्य करने पड़ते थे। वह पिता को धोखा देता रहा। उसके पिता सवेरे ही दूकान चले जाते थे और ६ बजे रात में लौटते थे। जब उसके पिता उससे अपने काम के लिये पूछते तो उसे अनेक झूठी बातें कहनी पड़ती थीं। अतएव, उसने पिता के दूकान से वापस आने के पहले ही सो जाता ओर दूकान जानेके बाद उठने का अभ्यास कर लिया। कुछ समय बाद उसे अपने पिता से बातचीत करने में झिझक होने लगी। वह अपने मनमें अज्ञात भयका अनुभव करने लगा फिर यह भय सभी बड़े लोगों के प्रति हो गया।

बनारस आने पर उसकी मानसिक व्यथा और भी बढ़ गयी। अब वह प्रोफेसरों से बातचीत करने में भय और झिझक का अनुभव करने लगा। बाद में तो उसे अपने साथियों के साथ भी खुलकर बातचीत करने में कठिनाई का अनुभव होने लगा। किसीसे भी मिलने जुलने अथवा बातचीत करने में उसे लज्जा का बोध होने लगा। फलतः अब वह मिलना जुलना छोड़ एकान्तवास की तरफ झुका। वह अब एकान्त कमरे में रहने का अभ्यासी हो चला। इसका कारण रोगी ने स्वयं अपने ही शब्दों में लिखा है। उसके मन में उसके कमरे में आने-वाले कुछ लड़कों के प्रति कामवासना की उत्तेजना हो गयी थी—तभी से उसमें लज्जा की भावना समा गयी थी। जब कभी सुन्दर लड़के उसके कमरे में आते तो वह किसी बहाने कमरा छोड़कर बाहर चला जाता था। पीछे उसके मन में प्रबल भावना हुई कि उसे दूसरे साथी बुद्धू समझने लगे हैं और दरअसल वह बुद्धू हो गया है। इस विचार ने उसके स्वास्थ्य को बहुत धक्का पहुँचाया। अब उसे कई प्रकार के पेट के रोग होने शुरू हो गये।

अपने विचारों से पीड़ित होने पर वह जीवन से निराश हो गया। निकम्मा, बुद्धू और रोगी बनकर जीने की अपेक्षा मरना बेहतर है—वह मरने की योजना बनाने लगा। परन्तु आत्महत्या करने की हिम्मत उसे नहीं होती थी। वह दो बार गङ्गाजी के पुल से कूदकर आत्म-हत्या करने भी गया; पर कुछ सोच विचार कर वापस आ गया। इसी बीच इस विद्यार्थी ने लेखक की 'आधुनिक मनोविज्ञान' नामक पुस्तक पढ़ी। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद उसने लेखक को पत्र लिखा। लेखक ने उसे अपने पास बुलाया और सहानुभूतिपूर्वक उत्साहवर्द्धक बातचीत की। इसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे

रोगी के विचारों में और उसके शारीरिक स्वास्थ्य में सुधार होने लगा और कुछ दिन के बाद वह पूर्ण स्वस्थ हो गया।

रोगी बार-बार इस बात को कहता था कि वह बारह वर्ष की उम्र से ही हस्तमैथुन के कुकृत्य में लग गया है—अतएव उसकी सारी शक्ति का नाश होना स्वाभाविक है। फलतः उसके स्वस्थ होने की कोई आशा नहीं। लेखक को अनेक दृष्टान्त देकर उसे समझाना पड़ा कि इस आदत के कारण न तो किसी व्यक्ति का शरीर बिगड़ता है और न मस्तिष्क ही। अपनी कल्पना का ही शरीर पर प्रभाव पड़ता है। यदि वह अपनी कल्पना को उदात्त बना सके तो उसकी गयी हुई शक्ति पुनः प्राप्त हो सकती है।

एक विचार जिसने रोगी को अत्यधिक प्रभावित किया, वह आध्यात्मिक अणु का विचार है। मनुष्य का शरीर करोड़ों जड़ अणुओं से तो बना ही है, फिर उसकी चेतना की शक्ति इन जड़ अणुओं से भी अधिक शक्ति रखती है। एक जड़ अणु के विस्फोट से एक पूरा शहर ध्वस्त हो गया फिर चैतन्य अणुओं की शक्ति का तो अनुमान ही क्या किया जा सकता है। मनुष्य अपनी अभद्र कल्पना से ही अपनी शक्ति को सीमित कर लेता है। यदि वह अपनी आध्यात्मिक शक्ति पर प्रतिदिन विचार करे तो वह संसार का महापुरुष बन जाय। कोई रोग ऐसी अवस्था में भला कैसे ठहर सकता है। परन्तु चैतन्य अणु की शक्ति का साक्षात्कार उसी को होता है जो उसे विश्व कल्याण के निमित्त खर्च करना चाहता है अर्थात् जिसके जीवन के आदर्श ऊँचे होते हैं। अपने आपको मनुष्य भले काम में लगावे तो उसके सभी प्रकार के रोग और दुर्बलताएँ अपने आप मिट जावेंगी।

इसी बीच एक ज्योतिषी ने रोगी से कहा कि २० वर्ष की अवस्था में बहुत धन प्राप्त करेगा और आगे चलकर समाज का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति बन जावेगा। इस विचार ने भी रोगी के नकारात्मक तथा ध्वंसात्मक विचारों को बदलने में सहायता की। उसके विचार रचनात्मक हो जाने से वह पहले जैसा अपने अध्ययन-मनन में मनोयोगपूर्वक जुट गया और परिश्रम करने लगा। अब वह अपनी सभी प्रकार की कल्पित और वास्तविक कमजोरियों से अपने को मुक्त हुआ अनुभव करने लगा। जब कोई व्यक्ति एक बार मनोयोग से रचनात्मक कार्य में लग जाता है तो सभी प्रकार के मानसिक रोग उससे कोसों दूर हो जाते हैं। जब तक कोई व्यक्ति किसी रचनात्मक कार्य में नहीं लगता तभी तक उसे किसी रोग द्वारा आक्रान्त हो जाने की सम्भावना रहती है—बाद में नहीं।

सर्वत्र सर्वाः

नदीषु शैलेषु सरःसु चापि, पुण्येष्वरण्येषु तथाऽऽश्रमेषु।
सर्वत्र सर्वाः परिमार्गितव्याः, सर्वत्र भूमिर्हि वसूनि धत्ते ॥ —सु० चि० ३०।४०

—नदियों, पर्वतों, जलाशयों, वनों, उपवनों तथा आश्रमों में और अन्य सर्वत्र सर्व वनस्पतियों का अन्वेषण करना चाहिये। वसुन्धरा सर्वत्र 'वसुओं' को सम-भाव से धारण किये है।—वैद्य रणजितराय

राजयक्ष्मा से बचने का उपाय–२

क० उपेन्द्रनाथ दास काव्य, व्याकरण सांख्यतीर्थ, उपाध्यक्ष नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ



एक विज्ञ अनुभवी चिकित्सक रोगी की अच्छी तरह से परीक्षा करके भी जहाँ रोग निर्णय नहीं कर सकता, वहाँ एक कीटाणु परीक्षक केवल रोगी के थूक की परीक्षा करके उसमें यक्ष्म-कीटाणु प्रत्यक्ष करके यक्ष्मा रोग का निर्णय कर देता है—अतएव इन कीटाणुओं के विषय में सन्देह करने का अवकाश भी नहीं है।

यह कीटाणु रोगी के निःश्वास, सहभोजन आदि द्वारा जब रोगी शरीर से स्वस्थशरीर में संक्रमित होते हैं और उस स्वस्थशरीर में अपनी वृद्धि की अनुकूल परिस्थिति को प्राप्त करते हैं तो बहुत अधिक संख्या में बढ़ जाते और शरीर में हानिकर पदार्थ उत्पन्न करते रहते हैं; उस हानिकर पदार्थ द्वारा शरीर धारक पदार्थ विकृत होते हैं। इस प्रकार कीटाणु द्वारा ही राजयक्ष्मा रोग का प्रसार होता है। इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को सत्य मानकर यक्ष्म-कीटों के संहार द्वारा इस रोग के प्रसार को कम करने का अब वैज्ञानिक उपाय समझा जाता है। इस उपाय को कार्यान्वित करने के लिये सम्प्रति बी० सी० जी० का इन्जेकशन की परीक्षा हो रही है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि बचपन में उस इन्जेक्शन का प्रयोग करने से उस मनुष्य को यौवन-काल में यक्ष्मा रोग नहीं हो सकेगा। उनका यह विश्वास कहांतक सत्य निकलेगा, वर्तमान काल में उसका निर्णय नहीं हो सकता है। यह तो एक परीक्षा है और हिन्दुस्तानी पर यह परीक्षा करना भी सरल है कारण उनके जीवन का मूल्य बहुत कम है।

विचारशील मनुष्यों को पक्षपात रहित होकर विचार करना चाहिये कि आयुर्वेद में यक्ष्मा रोग के जो चार कारण बताये गये हैं वह ठीक है या आधुनिक जो कीटाणुओं को कारण माना जाता है वह ठीक है। पक्षपातरहित लिखने का अभिप्राय यह है कि कुछ प्राचीन-पन्थी विद्वान कीटाणु नाम से चिढ़ते हैं उनका अभिप्राय यह है कि भ्रम व प्रमादरहित आर्ष वचनों में जिन चार कारणों से यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति वर्णित हुई है, उनको छोड़कर आधुनिक वैज्ञानिकों की परिवर्तनशील थ्योरी को महत्त्व देकर कीटाणु को यक्ष्मा रोग का कारण मानना आर्ष सिद्धान्त का अपमान करना है। अतः हम कीटाणु को यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति का कारण नहीं मान सकते हैं।

यक्ष्मा रोगी में जो कीटाणु प्रत्यक्ष होते हैं वे भी यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति के पश्चात् रोगी-शरीर में दोष और दूष्यों की विकृति से उत्पन्न होते हैं। अतः कीटाणु यक्ष्मा रोग का एक लक्षण हो सकता है। यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति की केवल चार ही व्यवस्थित कारण हैं यथा – साहस, सन्धारण, धातुक्षय और विषमाशन, इसके अतिरिक्त कीटाणु पञ्चम कारण नहीं है। नव्य विज्ञान में ही विश्वास रखनेवाले कुछ विद्वान समझते हैं कि जबतक अणुवीक्षण यन्त्र का आविष्कार नहीं हुआ था तबतक यक्ष्मा रोग के कीटाणु का ज्ञान किसी को नहीं था। इसलिये प्राचीन शास्त्र-

कारों ने उस समय के स्थूल ज्ञान से साहसादि चार कारण से राजयक्ष्मा की उत्पत्ति समझते थे किन्तु अब अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा यक्ष्मा रोग के कीटाणु प्रत्यक्ष होते हैं। यक्ष्मा रोगी के थूक आदि में ये प्रत्यक्ष योग्य हैं इनकी अनुपस्थिति में अर्थात् जिस रोगी में यह कीटाणु नहीं मिलता है उसको राजयक्ष्मा रोग ही नहीं माना जाता है। जिस घर में एक मनुष्य को यह रोग हो जाता है उस रोगी से उस घर के अन्य व्यक्ति में भी कीटाणु द्वारा ही यह रोग फैलता रहता है। रोगी को विना देखे ही केवल थूक की परीक्षा करके उसमें कीटाणु प्रत्यक्ष कर केवल यक्ष्मा रोग का ही निर्णय नहीं होता, अपितु यह यक्ष्मा उग्र अर्थात् शीघ्रघाती है या मृदु इसका भी निर्णय हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष दृष्ट कारण विवाद का अवकाश ही नहीं रहता, अतएव प्रत्यक्ष दृष्ट कीटाणु ही राजयक्ष्मा की उत्पत्ति के लिये एकमात्र कारण है।

इस प्रकार से दो प्रकार के विभिन्न सिद्धान्त विचारकों के सम्मुख आ जाते हैं। एक तो साहसादि कारण से शरीर में वातादि दोष कुपित होकर उन तीनों दोषों से राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है। इस बात को शास्त्र में स्पष्ट लिखा है—

वेगावरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतु चतुष्टयात्॥

दूसरा सिद्धान्त यह है, कि किसी स्वस्थ मनुष्य के अन्दर जब यक्ष्म-कीटाणु प्रविष्ट हो जाते हैं और उस शरीर में वृद्धि के अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करके अत्यधिक संख्या में बढ़ जाते हैं तब शरीर के अन्दर फुफ्फुस, अन्त्र आदि विशिष्ट अङ्ग में अपना स्थान बना लेते हैं। वहाँ रहकर बढ़ते रहते हैं और शरीर में घातक विष उत्पन्न करते रहते हैं। कीटाणु की वृद्धि से रोग-लक्षण की वृद्धि और कीटाणु के ह्रास से रोग लक्षण का ह्रास होता है। यदि क्रमशः कीटाणु का ह्रास होकर शरीर, कीटाणु रहित हो जाता है तो रोग शान्त होकर रोगी स्वस्थ हो जाता है। यदि कीटाणु क्रमशः बढ़ते रहते हैं तो रोग-लक्षण बढ़कर शरीर का क्षय हो रोगी की मृत्यु हो जाती है।

कुछ विचारशील विद्वान इन दोनों सिद्धांतों के समन्वय करने के लिये कीटाणु को बीजस्थानीय और शरीर को भूमिस्थानीय मानकर समझाना चाहते हैं कि जिस प्रकार ऊसर भूमि में बीज अंकुरित नहीं हो सकते; किन्तु ऊर्वर (उपजाऊ) भूमि में बीज अंकुरित होकर फलता-फूलता है। इसी प्रकार वेगरोधादि कारण से शरीर भी बीज के लिये उपजाऊ भूमि जैसी कीटाणु के लिये वृद्धि की अनुकूल परिस्थिति युक्त बन जाता है। इस प्रकार शरीर में कीटाणु प्रविष्ट होकर शीघ्र ही रोग उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार से विचार किया जाय तो प्राचीन वर्णित वेगरोधादि चार तथा आधुनिक वर्णित कीटाणु दोनों राजयक्ष्मा के लिये अपरिहार्य कारण समझा जाता है। जैसे अंकुर के लिये सुक्षेत्र और बीज दोनों ही अपरिहार्य कारण है, वैसा ही राजयक्ष्मा के लिये वेगरोधादि विकृत शरीर (क्षेत्र) तथा यक्ष्मा रोग के कीटाणु (बीज) दोनों ही अपरिहार्य कारण है।

स्थूल दृष्टि से यह व्याख्या अच्छी तरह मालूम हो सकती है। किन्तु प्रश्न यह रह जाता है कि आयुर्वेदाचार्यों ने कीटाणु को बीजवत् अपरिहार्य कारण क्यों नहीं माना है? क्या वे कीटाणु से अपरिचित थे? यह तो नहीं माना जा सकता है:—

प्रसङ्गाद्गात्र संस्पर्शात् निःश्वासात् सहभोजनात्।
एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात्।
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्।

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि शोष अर्थात् राजयक्ष्मा रोग प्रसङ्गादि कारण से एक शरीर से दूसरे शरीर में संक्रमित होता है, किन्तु प्रसङ्गादि कारण से एक शरीर से दूसरे शरीर में रोग स्वयं संक्रमित नहीं हो सकता। केवल रोग के कीटाणु ही संक्रमित हो सकते हैं। अदृश्य (साधारण चक्षु से) कीटाणु को देखने का साधन प्राचीनों के पास नहीं था यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कुष्ठ कीटाणु को सूक्ष्मता के कारण अदृश्य कहकर भी उनके वर्णनमें "अपादाःवृत्त ताम्राश्च" अर्थात् पादहीन गोलाकार और ताम्र वर्ण करके वर्णन करने से सिद्ध होता है कि साधारण चक्षु से अदृश्य कीटाणु को देखने का साधन भी प्राचीनों के पास विद्यमान था। फिर भी आयुर्वेदाचार्यों ने अंकुर के लिये बीजवत् यक्ष्मा रोग के लिये कीटाणुओं को कारण क्यों नहीं माना? इसके उत्तर में कहना पड़ता है कि बीज के लिये अंकुरवत् रोगके लिये कीटाणु कारण नहीं है।

यह प्रत्यक्ष सत्य है कि एक क्षेत्र में १० बीज डाला जावे तो दश ही अंकुर होते हैं। हजार बीज डालें तो हजार अंकुर। इस प्रकार प्रत्येक बीज एक अंकुर उत्पन्न करने के लिये स्वतन्त्र कारण है। किन्तु एक स्वस्थ मनुष्य के शरीर में जितने यक्ष्मा कीटाणु आ जाते हैं उतने रोग तो कर ही नहीं सकते वहाँ सब मिलकर एक रोग भी उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। जिस शरीर में कीटाणु प्रविष्ट होते हैं यदि कीटाणु की वृद्धि के अनुकूल परिस्थिति हो तो अत्यधिक संख्या में बढ़कर ही रोग उत्पन्न कर सकते हैं अन्यथा मर जाते हैं। बढ़े हुए कीटाणु से भी साक्षात् सम्बन्ध से रोगकारण नहीं बनते हैं; किन्तु कीटाणु से जो विष उत्पन्न होते हैं उस विष से रोग उत्पन्न होता है। अतएव कीटाणु भी बीजवत् स्वतन्त्र कारण नहीं है।

शरीर में कीटाणु की वृद्धि की अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करना कीटाणु के अधीन नहीं है। ऐसा होता तो सभी शरीर में अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर लेते—अतः सिद्धान्त यह है—वेग रोधादि चार कारणों से शरीर धातु वातादि और रसादि में इस प्रकार विकृति आ जाती है कि उस समय प्रसङ्गादि कारण से यक्ष्मारोग के कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होते ही वृद्धि के अनुकूल परिस्थिति को प्राप्त करके शीघ्र ही अत्यधिक संख्या में बढ़ जाते हैं। इन कीटाणुओं के जीवित शरीर से और मृत शरीर से एक प्रकार घातक विष उत्पन्न होकर वातादि दोषों को विशेष रूप से विकृत करता है। उन विकृत वातादि दोषों से राजयक्ष्मा रोग उत्पन्न होता है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम पड़ता है कि (१) वेग-रोधादि चार कारण (२) वातादि तीन दोष तथा (३) राजयक्ष्मा के कीटाणु ये तीन ही यक्ष्मा रोग के कारण हैं। यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से कारणों में प्रधान-अप्रधान की कल्पना हो सकती है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से सब ही कारण प्रधान है क्योंकि जिसको अप्रधान कारण कहना चाहेंगे उसको छोड़कर भी जब कार्य की उत्पत्ति असम्भव है फिर वह अप्रधान क्यों कहलायेगा।

इस पर एक प्रश्न रह जाता है कि यदि वेग-रोधादि, कीटाणु और दोष ये तीनों ही समान कारण हैं, तो यक्ष्मा रोग के निदान में वेगरोधादि और त्रिदोष इन दो का उल्लेख है, किन्तु कीटाणु का उल्लेख क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि रोग से बचने के लिये, चिकित्सोपयोगी विशेष ज्ञान के लिये तथा रोगावस्था में परहेज के लिये रोगनिदान को जानना पड़ता है। इनमें से रोग से बचने के लिये प्रसङ्गादि कारण को बता दिया है जिससे कीटाणु का संक्रमण होता है। परहेजके लिये चार कारण बताए हैं, चिकित्सोपयोगी विशेष ज्ञान के लिए त्रिदोष को बताये हैं।

रोगावस्था में कीटाणु संक्रमण से बचने का प्रयोजन नहीं रहता। चिकित्सोपयोगी विशेष ज्ञान के लिये त्रिदोष के साथ यदि कीटाणु को भी कारण माना जाता तो रोग शान्ति के लिये कीटाणुओं को मारना चाहिए, ऐसा चिकित्सा सूत्र बन जाता है; किन्तु जीवित शरीर के अन्दर कीटाणुओं को मारने का यत्न करना हानिकारक है। इसलिये आयुर्वेद कीटाणु घातक विषौषधों के प्रयोगको चिकित्सा नहीं मानता। इसका कारण यह है कि कीटाणु साक्षात् रोगोत्पादक नहीं है, कीटाणु शरीर से जो विष उत्पन्न होता है वह दुष्ट वातादि दोष ही आयुर्वेद मत में रोग का कारण है। जीवित शरीर के अन्दर कीटाणु को मारनेवाले विषौषध से दो प्रकार की हानियां होती हैं। एक तो यह है कि जीवित शरीर के घटक प्रत्येक सूक्ष्म कण (कोष) में भी जीव है, इसलिये कीटाणु घातक विष कीटाणुओं को मारते हैं साथ ही शरीर के घटक कोषों को भी मारते हैं। जैसे किसी नगर में शत्रु सैन्य प्रविष्ट हुआ है, उसको मारने के लिये नगर पर बम गिराने से जैसे शत्रु सैन्य मरते हैं, ऐसे ही नगरवासी भी मरते हैं। दूसरी हानि यह है कि विषौषधि के प्रभाव से मरे हुये कीटाणुओं के शरीर से तथा कोषों से जो विष उत्पन्न होता है, उससे वातादि दोष दुष्ट होकर एकबार रोग लक्षणों को बढ़ा देते हैं। इस रोग वृद्धि को आधुनिक चिकित्सक औषध की प्रतिक्रिया कहते हैं।

आयुर्वेदमें राजयक्ष्माको त्रिदोषज माना गया है। उसके अनुसार चिकित्सा सूत्र से समझा जाता है कि त्रिदोष की शान्ति करनी है। त्रिदोष की शान्ति करने के लिये आवश्यक है कि त्रिदोष की दुष्टि के कारण क्या है इसको जान लेना चाहिये। जब चिकित्सक जान लेगा कि कीटाणु विष से त्रिदोष पुष्ट हुये हैं, तब उनके लिये यह आवश्यक होगा कि कीटाणु विष जितने उत्पन्न हुए हैं उसको निष्क्रिय करे, नूतन विषकी उत्पत्ति को रोके तथा विष के उत्पादक कीटाणुओं को क्रमशः दुर्बल करके मारे भी, किन्तु साथ ही उसको देखना है कि इन कार्यों को करनेका वास्तविक अधिक औषधि दी जावे तो वह औषधि जीवित शरीर के अन्दर दूसरी हानि भी करेगी। इसलिये इन कार्यों को करने का स्वाभाविक अधिकार रखनेवाली जीवनी-शक्ति को औषध द्वारा बढ़ाने का यत्न करना ही वास्तविक चिकित्सा है। आयुर्वेदोक्त च्यवनप्राश, द्राक्षारिष्ट आदि औषध केवल औषध नहीं है; किन्तु जीवनी शक्तिवर्धक पुष्टिकर भोज्य भी है। मृगाङ्क, वसन्तमालती, जयमङ्गलरस आदि में स्वर्ण मुक्तादि वस्तु कीटाणु नाशक होकर भी शरीर के लिये जीवनी शक्तिवर्धक रसायन वस्तु है। नीरोग मनुष्य भी इनको सेवन करके बल और पुष्टि प्राप्त कर सकते हैं। इनकी तुलना में अपने को वैज्ञानिक कहानेवालों की अधिक औषधी स्वस्थ मनुष्य के लिये हानिकारक विष है। रोगी के लिये भी प्रतिक्रियाकारक है। अब विचारवान् विचार करें कि कौन-सी चिकित्सा वास्तव में विज्ञान सम्मत है और कौन-सी विज्ञान के नाम से लाभ उठाने वाली है।

अब के राज्याधिकारी आधुनिक विज्ञान को मोह से उद्भ्रान्त होकर केवल कीटाणुवाद पर ध्यान रखकर राजयक्ष्मा के निरोध के लिये देश की विपुल धनराशि का अपव्यय करने में कृतसंकल्प हो रहे हैं किन्तु राजयक्ष्मा के प्रसार के जितने कारण हैं उनको दूर करने का प्रयत्न नहीं करके केवल कीटाणु को मारने के लिये धन का दुरुपयोग करना नितान्त भूल है, इस बात को समझाने के लिये यहां कीटाणुवाद का विवेचन किया है।

(१) जबतक नगरवासियों के लिये मल-मूत्र त्याग की स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी।

(२) जबतक ब्रह्मचर्य पालन की सुशिक्षा नहीं देकर थियेटर, सिनेमा, छात्रसाहित्य, अश्लील चित्रादि द्वारा केवल कामोत्तेजना दिलाकर स्वाभाविक और अस्वाभाविक रूप में शुक्रक्षय कराने की सहायता दी जावेगी। अथच भरपेट पोषक अन्न नहीं दिया जावेगा। गेहूं के स्थान पर मूंगफली की खली वह भी भरपेट खाना या पेट भरने की चेष्टा करना जहाँ कानूनन अपराध है। "आयुर्वैघृतं" जहाँ का कहावत थी वहाँ घी के स्थान में वनस्पति, दूध के स्थान में निःसन्देह जलमिश्रित श्वेतद्रव इस प्रकार जहाँ धनिकों के लिये भी शुद्ध अन्न दुर्लभ है और जहाँ के ६० प्रतिशत मनुष्य निर्धनताके कारण पुष्टिकर खाद्यों से वंचित रहते हैं। जिस देश की सरकार और वैज्ञानिक, वनस्पति हानिकारक नहीं है ऐसा प्रमाणपत्र देकर वनस्पति मिल मालिकों को प्रचार करने का छूट देते हैं, जहाँ के मनुष्यों को परिस्थिति से विवश होकर शक्ति से अधिक परिश्रम करना पड़ता है, क्षुधा से व्याकुल होकर चाय या पानी पीकर पेट की आग को दबाने की चेष्टा करनी पड़ती है, जहाँ के अधिवासी परिस्थिति से विवश होकर असमय में अर्थात् भूख लगने से पहिले ही अनिच्छा से कुछ खा लेते हैं, फिर भूख के समय जिनको कुछ खाना नहीं मिलता है। जहाँ बाजार में बिकनेवाले भोज्यद्रव्य मिठाई, मेवा, फल, आदि बाजार की धूल से और मक्खी आदि से विष बनकर खानेवालों के पेट में पहुंचते हैं, जहां के अधिकांश अधिवासी को अस्वास्थ्यकर घर में रहना पड़ता है, एक घर में एक व्यक्ति को राजयक्ष्मा हो जावे तो मजबूर होकर घर के और सबको भी उसके साथ एक ही घर में रहना पड़ता है।

मिल का धूआं, नल का पानी और विषौषधों के सूची वेधसे जिनकी जीवनी शक्ति और रोगक्षमता अत्यन्त क्षीण हो गई है—उन सब भारतवासी को राजयक्ष्मा से बचाने के लिये डाक्टरों की 'वैज्ञानिक' सम्मति से वी० सी० जी० के इन्जेक्शन को स्वीकृत करने वाले यदि अपने मस्तिष्क को ठीक करने के लिये कुछ वैज्ञानिक इन्जेक्शन का पहिला प्रयोग कर लेते तो भारतवासी का अधिक कल्याण होता। जिन वैज्ञानिक डाक्टरों ने वी० सी० जी० के लिये सम्मति दी है, उनसे यदि पूछा जावे कि वी० सी० जी० का उपादान क्या है? उसकी निर्माण रीति क्या है? गुण-धर्म क्या है और इसके विषय में आप के व्यक्तिगत अनुभव कितने दिन का है, तो पता चलेगा कि इनकी सम्मति का मूल्य क्या है? वास्तव में जिनकी सम्मति राजमान्य होती है, उद्योगपति उनकी सम्मति प्राप्त करने का उपाय भी जानते हैं। इसी उपाय का प्रभाव है कि अब वनस्पति भी वैज्ञानिक सम्मति से पुष्टिकर, निर्दोष स्नेह घोषित हो रहा है यद्यपि इसके सेवन से तीसरी पीढ़ी में चूहा अन्धा हो गया किन्तु वह दोष वनस्पति का नहीं है, उनको वनस्पति नहीं देने से भी अन्धा हो जाता। क्यों होता तो उत्तर यह है कि जब राजमान्य वैज्ञानिक कहते हैं। फिर सन्देह करने वालों का क्या अधिकार है कि सन्देह करे। वी० जी० सी० बेचने वाला कहते हैं कि इससे ८५ प्रतिशत रक्षा होती है अर्थात् १०० मनुष्य को इसकी टीका लगाने से ८५ प्रतिशत मनुष्य सुरक्षित रहेंगे। उनसे पूछिये कि टीका नहीं लगाने वाले १०० मनुष्य में से कितने मनुष्य राजयक्ष्मा से पीड़ित होते हैं? उसका उत्तर से पता चलेगा कि यह कैसा उपयोगी द्रव्य है?

हमारे स्वास्थ्याधिकारी विज्ञानके मोहमें नहीं पड़ कर प्रतिवर्ष जितने रुपये अपने विदेश भ्रमण में लगा रहे हैं और जितने रुपये इस वैज्ञानिक इन्जेक्शन के लिये खर्च करेंगे उनसे यदि प्रतिवर्ष इस अभागे देश

में १०-२० गौशाला खोलने की कृपा करें तो देश में दूध, घी सुलभ होगा। खाद और पशुशाला की वृद्धि होने से पुष्टिकर अन्न अधिक उत्पन्न होगा और इन पशुशाला की आमदनी से आगे और बहुत पशुशाला बन सकेगी। बेकारी दूर भागेगी, भारतवासी की जीवनी शक्ति और रोगक्षमता बढ़ेगी, वे सबल-स्वस्थ और दीर्घायु हो सकेंगे। इससे केवल राजयक्ष्मा का ही नहीं और सब रोगों का भी प्रतिरोध होगा।

हमारे अधिकारी आंख से वैज्ञानिक चशमा उतार कर एक बार पीछे की ओर दृष्टि डालें तो मालूम पड़ेगा कि जब भारत में अन्न और दूध-दधि का अभाव नहीं था, जब वेगारोध की आवश्यकता नहीं थी, जब तक विदेशी सर्वनाशी सभ्यता नहीं आयी थी, जब जीवित रहनेके लिये शक्ति से अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता था, जब ब्रह्मचर्य नष्ट करने के साधन का प्रचार नहीं था किन्तु गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने से पहिले सब को ब्रह्मचर्याश्रम में रहना पड़ता था। उस समय का भारतवासी शेर से भी नहीं डरते थे और जब हमको कीटाणु से डरना पड़ता है। इसका मूल कारण क्या है इसपर स्थिर धीर होकर विचार करके समाज से उन कारणों को हटाने की चेष्टा करे तब तो भारत का कल्याण है—नहीं तो राजयक्ष्मा के चार कारण—वेगरोध, धातुक्षय, साहस और विषमाशन जबतक अधिक मात्रा में सेवित होंगे तब तक एटमबम से दुनियां के सारे राजयक्ष्मा कीड़ों को मारने से भी भारतवासी स्वस्थ सबल और दीर्घायु नहीं रह सकेंगे। यदि दुनियां में एक भी यक्ष्माकीटाणु नहीं रहेगा। फिर भी पहले कहे गये चार कारणोंके सेवन करनेवाले क्षय, (राजयक्ष्मा नहीं) नामर्दी, संग्रहणी, उदर आदि-आदि सैकड़ों रोग से मर सकेंगे। कृश, दुर्बल, जीवनी शक्तिहीन,दुर्भाग्य के मारने के लिये यमराज के सैनिकों की कमी नहीं रहेगी।

अब भारत स्वाधीन हो गया है। स्वाधीन देश के प्रत्येक मनुष्य को जीवन का मूल्य समान मान कर अधिकारीवर्ग को चलना चाहिये। वास्तव में हम जिनको अधिकारी मानते हैं वे अपने को अधिकारी नहीं समझ कर जनता के सेवक समझें तो बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। जो वनस्पति को निर्दोष और पोषक स्नेह करके प्रमाणपत्र देते हैं, वे चूहा को नहीं खिलाकर स्वयं दो-चार वर्ष खावें अपने बच्चोंको खिलावें तथा वनस्पतिके प्रचारक भी ऐसा करें तो सत्य का आविष्कार अनायास ही हो सकता हैं।

सरकार के हाथ में अधिकार है। वह हमारी बात को सुनेगी नहीं किन्तु जनता से प्रार्थना है कि वे राजयक्ष्मा से बचना चाहे तो राजयक्ष्मा के पूर्वोक्त चार कारणों का परित्याग करे तथा यक्ष्मारोगी के संसर्ग से यथासम्भव बचती रहे, क्योंकि साधारण गलती का भी भयावह परिणाम होता है।

नेत्ररोगों का मूल

प्रायेण सर्वे नयनामयास्तु भवन्त्यभिष्यन्द निमित्तमूलाः ॥ सु० उ० ६।५

सभी नेत्ररोग प्रायः (अधिकांश) अभिष्यन्द (आंख आना) के कारण उत्पन्न होते हैं। इसे छोटा मानकर कभी इसकी उपेक्षा न कर, तत्काल उपचार करना चाहिए, विशेष तया बालकों में।

—वैद्य रणजित राय

भारत की राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति क्या हो ?

कविराज सुखराम प्रसाद बी० एस्० सी० आयुर्वेदाचार्य

❀

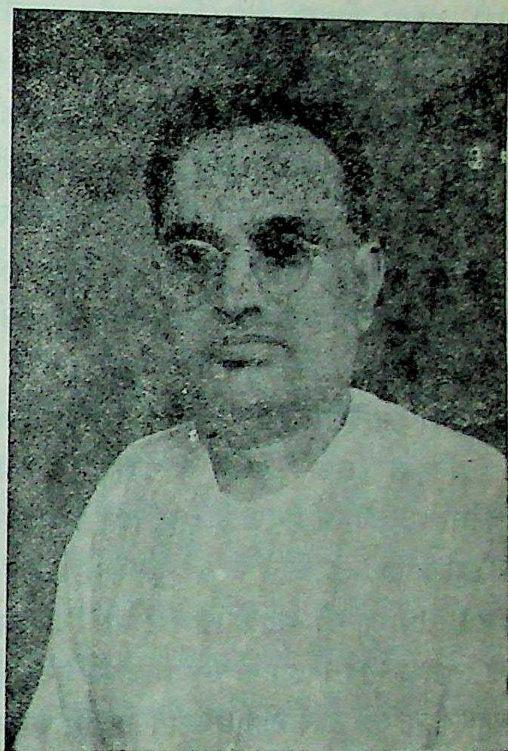
आज हमारे देशमें मुख्यतः चार प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियाँ चल रही हैं-(१) आयुर्वेद, (२) यूनानी या हकीमी (३) होमियोपैथी और (४) एलोपैथी या पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति जिसे आजकल डाक्टर लोग पाश्चात्य न कहकर आधुनिक कहते हैं। इन चारों में अभीतक प्रधानता सरकार एलोपैथीको ही देती है यद्यपि अनेक प्रान्तों में सरकार के द्वारा आयुर्वेद और तिब्बीके विद्यालय खोले गये हैं और थाड़ी बहुत आर्थिक सहायता भी मिलती है।

देशके सामने एक प्रश्न ?

आज देशके सामने यह प्रश्न उपस्थित है कि देशकी राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति क्या हो ? एलोपैथी या आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जिसे अभी सरकारी मान्यता है यही हो या आयुर्वेद जो इस देशकी अपनी चीज है उसे समुन्नत कर इस उच्च पदपर आसीन किया जाय। यह प्रश्न बड़ा जटिल है और इसपर स्थिर बुद्धिसे विचार करना चाहिये। हमारे देशके नेताओं का कर्तव्य है कि वे इस विषय पर हर दृष्टिकोण से विचार करें, क्योंकि इस पर हमारे करोड़ों देशवासियों का स्वास्थ्य और चिकित्सा निर्भर है। यूनानी और होमियोपैथी को मैंने जान बूझकर छोड़ दिया है। मैं हृदयसे इनकी उन्नति चाहता हूं किन्तु मेरे विचारमें ये हमारे देशकी राष्ट्रिय चिकित्सापद्धति नहीं हो सकती, यद्यपि इनके द्वारा भी हमारे देशवासियों की सेवा कम नहीं होती।

एलोपैथीके पक्षमें तर्क

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के पक्षमें कहा जाता है कि इसकी भित्ति एक उन्नतशील विज्ञान पर स्थित है।



लेखक

इसमें नये-नये आविष्कार हो रहे हैं। रोगके निदान करने की विधि इसमें बहुत ही उत्तम और विश्वस्त है। जनस्वास्थ्यवर्धक और रोग-निवरण के उपाय इसमें बहुत ही अच्छे हैं। इस विज्ञानकी सब शाखाएँ काफी समुन्नत हैं। प्रत्येक विषयके अलग-अलग विशेषज्ञ हैं, जो दिनरात अनुसन्धानमें लगे हुए

हैं। अभी हालमें ही इन लोगोंने ऐसी ऐसी ओषधियाँ निकाली हैं जो दुःसाध्य और कठिन रोगोंमें लाभ-पहुंचाने का दावा रखती हैं। इस विज्ञानकी उत्पत्ति नयी सभ्यताके साथ है। अतः प्रायः सभी देश जो नयी सभ्यताको अपना रहे हैं, अपनेको इससे अलग नहीं रख सकते। इसका एक अन्तर्राष्ट्रिय स्थान हो गया है।

आयुर्वेदके विषयमें कुतर्क

आयुर्वेदके विषय में कहा जाता हैं कि यह हजारों वर्षका पिछड़ा हुआ विज्ञान है। इसमें बहुत दिनोंसे अनुसन्धानका काम नहीं हुआ। इसकी बहुतसी शाखाएँ लुप्त हो गयी हैं और राष्ट्रकी चिकित्सा की सारी आवश्यकताएँ इससे पूरी नहीं हो सकती। यद्यपि इसके औषध बहुत ही लाभप्रद हैं किन्तु इसमें रोगके निदान करनेका ढंग पुराना है और जनस्वास्थ्यके लिए उपचारकी कमी है। इसी प्रकारकी बहुत-सी बातें इसके विरुद्ध कही जाती हैं!

अयुर्वेद इस देशका विज्ञान है, इसे सभी मानते हैं। इतिहास इसका साक्षी है कि यह सभी चिकित्सा पद्धतियोंकी जननी है। कुछ दिन पहले डा० लोग इसे अवैज्ञानिक कहने का भी दुःसाहस करते थे। यह एक साधारण-सी बात है कि कोई भी चिकित्सा शास्त्र जिसकी नींव विज्ञानके सत्य सिद्धान्तोंपर नहीं है बहुत दिनोंतक ठहर नहीं सकता। विज्ञान अनन्त है यदि कोई समझे कि जितना हम जानते हैं; वही विज्ञान है, जो हम नहीं समझते वह विज्ञानसे परे है तो इससे बढ़कर अवैज्ञानिकता और क्या हो सकती है? सच्चे वैज्ञानिकोंका दिमाग सदा खुला रहता है और वे सत्य की तुला पर प्रत्येक विषय को तौलते हैं। अतः जिन्हें अभी भी संदेह है कि आयुर्वेद वैज्ञानिक है या नहीं; वे कृपया इसके मूल सिद्धान्तों का अध्ययन निष्पक्ष भाव से जिज्ञासु की तरह करें तो मालूम होगा कि वे आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के सिद्धान्तों से किसी भी हालत में कम वैज्ञानिक नहीं हैं।

आयुर्वेद की विशेषता

आयुर्वेद की औषधियाँ अधिकतर हमारे देश की ही जड़ी-बूटियां हैं। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि जो मनुष्य जहाँ पर पैदा होता है वहीं की उत्पन्न औषधियाँ उसे अधिक लाभदायक सिद्ध होती हैं। हमारे देश में वनस्पतियों और औषधियों की कमी नहीं है। हमारे देश की सरकार और वैज्ञानिकोंका ध्यान अभी इस ओर गया ही नहीं है। यदि उनकी उचित रूप से देखभाल की जाय तथा उनपर अनुसंधान किया जाय तो हमारे देश में भी पेन्सिलिन से भी अधिक लाभप्रद और शक्तिशाली औषधि निकल सकती है।

विदेश का मुँह क्यों तार्के

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की औषधियों के लिये आज हमें विदेशों का मुँह देखना पड़ता है। गत महायुद्ध के समय में ऐलोपैथिक दवाओं की कितनी कमी हो गयी थी यह सर्वविदित है। भला यह कैसे हमारी राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति हो सकती है, जिसकी औषधियों के लिये हम विदेशों पर ही निर्भर करें। कुछ लोगों की धारणा है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की औषधियां अधिक शक्तिशालिनी और शीघ्र लाभप्रद होती हैं। किन्तु यह सभी मानते हैं कि बहुत से रोगी जो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से अच्छे नहीं होते, वे आयुर्वेद, तिबी या होमियोपैथी से अच्छे हो जाते हैं। तो क्या इन पद्धतियों की दवाएँ कम शक्तिशालिनी हैं। आयुर्वेद की दवाएँ यदि उचित रीति से बनायी जायँ तो वे किसी भी पद्धति की दवाओं से मुकाबला

कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त हमारे देश में सैकड़ों वनस्पतियां हैं, जिनपर अभी तक कोई अनुसन्धान नहीं हुआ है। आयुर्वेद के पुस्तकों में भी उनका वर्णन नहीं है। यदि इनपर अनुसन्धान किया जाय तो सम्भव है कि हम अच्छी से अच्छी औषधि प्रस्तुत कर अन्तर्राष्ट्रीययश प्राप्त कर सकते हैं।

आयुर्वेद के प्रति उपेक्षानीति

यह बात हम मानते हैं कि आयुर्वेद के बहुत से अंग अभी लुप्त हो गये हैं। शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) प्रसव बिज्ञान (मिडवाइफरी) और नेत्र, कान इत्यादि के रोगों में हम अभी बहुत पीछे हैं। किन्तु इसपर यदि ध्यान से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि आयुर्वेद के इस पतन का मूल कारण क्या है? राजनीतिक दासता ही इसका मूल कारण है। जिस देश का राजनीतिक पतन होता है, उसकी भाषा, विज्ञान, कला-कौशल सब नष्ट हो जाते हैं। आयुर्वेद भी इस आक्रमण से बच नहीं सका और आज इसलिये इसकी ऐसी दशा है।

गांव गांव में आयुर्वेद

यह बात सत्य है कि आयुर्वेद की अभी जैसी अवस्था है, उसमें यह देश की चिकित्सा की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। किन्तु अभी भी हमारे देश की अधिकांश जनता इसी अधूरी, अनुन्नत आयुर्वेद से ही लाभ उठा रही है। आज भी आप भारत के किसी प्रान्त के गांव में जाइये, वहां आपको आयुर्वेद का चिकित्सक अवश्य मिलेगा। आयुर्वेद का भारतीय जीवन से ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वह अलग हो ही नहीं सकता। आज भी हमारे देश के उन गरीब भाइयों को जिन्हें दोनों समय खाने को भी पूरा नहीं मिलता है यदि कुछ भी टूटी-फूटी चिकित्सा की सहायता मिलती है तो इसी आयुर्वेद से। ऐलोपैथी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सहयोग प्राप्त करके २०० वर्षों में भी हमारे गांव तक नहीं पहुंच सका।

आज यह विज्ञान केवल शहरों में कुछ धनीमानी शिक्षित समाज तक ही पहुंचा है। यह इतना खर्चीला है कि नगर के मध्यम वर्ग के लोग भी इससे सदा पूरा लाभ नहीं उठा सकते। गांव के गरीब किसान और मजदूर तक तो इस अवस्था में इसका पहुंचना असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। तो क्या हमारे देश की राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति यही होगी जिससे नगरों के कुछ धनीमानी शिक्षित व्यक्ति लाभ उठा सकें। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान कितना ही समुन्नत और उत्तम क्यों न हो किन्तु यदि यह हमारे सम्पूर्ण राष्ट्र को कल्याण नहीं पहुंचाता और हमारे दूर देहात के गरीब भाइयों तक नहीं पहुंच पाता, तो हम इसे कैसे राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति के उच्च आसन पर बैठा सकते हैं?

आयुर्वेद को उन्नति आवश्यक

अब हम यदि स्थिर बुद्धि से विचार करें तो इसी निर्णय पर पहुंचेंगे कि आयुर्वेद ही एक ऐसी चिकित्सा-पद्धति है, जिसे हम सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये कल्याणकारी बना सकते हैं। किन्तु वह कौन आयुर्वेद! क्या वही आयुर्वेद जो आज वैद्यों के हाथ में है? नहीं, कदापि नहीं। इससे तो चिकित्सा की सारी आवश्यकता पूरी नहीं होती। इसके तो अनेक अङ्ग लुप्त हैं। इसको हमें समृद्ध करना होगा। इसकी त्रुटियां दूर करनी होंगी। इसको समयानुकूल बनाना होगा। हम आधुनिक विज्ञान के विरोधी नहीं। हम उनकी अच्छी चीजों को अवश्य लेना

(शेषांश ४०५ वें पृष्ठपर)

दोषों तथा ओजकी द्रव्यरूपता

वैद्य रणजितराय

❀

स्वाध्याय-शीलोंको सुविदित है कि आयुर्वेदके बहुत से तत्त्व ऐसे ग्रन्थों में भी मिलते हैं, जिनका प्रधान विषय आयुर्वेद नहीं है। उदाहरणतया प्रत्येक दोष की वर्गरूपताका द्योतक वाक्य हमें हरिवंश पुराण से प्राप्त होता है। ऐसा ही आयुर्वेदीय सिद्धान्त को विशद करने वाला एक वचन हमें पद्मपुराण में मिलता है। दोष तथा ओज द्रव्यरूप हैं, इस बात की सिद्धि में यह बहुत सहायक हो सकता है। पटना में होने वाली त्रिदोष-संभाषा के सभ्यों के समक्ष अभी से इसे प्रस्तुत कर देना उपयुक्त है। इस वचन के प्रति ध्यान आकृष्ट करने के लिए मैं श्रीगोपाल शास्त्री गोडबोले आयुर्वेद-बृहस्पति (झांसी) का कृतज्ञ हूं।

च० शा० ७।१५ में शरीरमें दोषों, धातुओं और मलों का अञ्जलियों के रूपमें प्रमाण बताते हुए श्लेष्मा की छः, पित्त की पांच तथा ओज की आधी अञ्जलि कही गयी है। वात का इसमें निर्देश नहीं है, यह सत्य है। यह प्रमाण-निर्देश इस बात का गमक (द्योतक) है कि कमसे कम कफ, पित्त ये दो दोष तथा ओज मूर्त होने से द्रव्य (मैटर) हैं, शक्ति नहीं।

इसके सिवाय, तीनों दोषों तथा ओज के अमुकामुक गुण-कर्मका जो आश्रय हो वह द्रव्य ही होता है, शक्ति नहीं, यह आयुर्वेद तथा दर्शनमात्र का सिद्धान्त है। इस दृष्टिसे वात-सहित तीनों दोषों और ओजकी द्रव्यरूपता स्वतः—सिद्ध है।

वातका द्रव्यत्व सिद्ध करने में संग्रहकार का वचन भी उपयोगी हो सकता है। शारीर स्थान के १७ वें अध्यायमें वृद्ध वाग्भट में कहा है—

वायुः पुनरग्नेराहारस्य वा बहुलतया तस्मात्तस्मान्मूर्च्छनाविशेषादमूर्तः शब्दवानीषच्छब्दः प्रचुरोऽल्पो वा पश्चात्मा कोष्ठे प्रादुर्भवति।—

यहाँ अधोमार्गसे प्रवृत्त होनेवाले, आहार-जन्य न्यूनाधिक शब्दवाले वायुको ही पञ्चविध वायु कहा गया है। नव्य क्रियाशारीर से संवाद (एक-रूपता) हो या न हो, आयुर्वेद का सिद्धान्त इस वचन में स्पष्ट कहा है। यह हो सकता है, कि पञ्चविध वायुओं की उत्पत्ति और प्राप्ति के अन्य भी स्रोत हों, पर उनमें एक पक्वाशयगत अन्नपान या मल हैं, यह निश्चित है।

अस्तु। इन तथा अन्य वचनों का सम्यक् अनुशीलन कर १९३० में परिषद् ने यह निर्णय दे दिया था—

शक्तेर्द्रव्याधिष्ठितत्वेन स्वतन्त्रावस्थित्यभावात् वातादीनां न शक्तित्वं, किन्तु द्रव्यत्वमेव॥

—शक्ति द्रव्य के आश्रय से ही रह सकती है, स्वतन्त्र नहीं। वातादि में जो शक्तियाँ (गुण-कर्म) कहे हैं उनके आश्रय होने से वातादि द्रव्य हैं, शक्ति नहीं।

ऊपर जिसका संकेत किया है वह पद्मपुराण का वाक्य अब उद्धृत करता हूँ। यह इस पुराण के भूमिखण्ड नामक द्वितीय खण्ड के ६६ वें अध्याय के ६२—६५ श्लोकों में है—

पित्तस्य कुडवं ज्ञेयं कफस्यार्धाढकं तथा।
वसायाश्च पलत्रिंशत् तदर्धं कललस्य वा॥
वातार्बुदपलं ज्ञेयं पलानि दश मेदसः।
पलत्रयं महारक्तं मज्जा रक्ताच्चतुर्गुणा॥
शुक्रार्धकुडवं ज्ञेयं तदर्धं देहिनां बलम्।
मांसस्य चैकपिण्डेन पलेसाहस्रमुच्यते॥
रक्तं पलशतं ज्ञेयं विण्मूत्रं चाप्रमाणतः॥

इन पद्यों में वात का भी प्रमाण बताया गया है, यह विशेषता है। पित्त शरीर में एक कुडव, कफ आधा आढक, वसा तीस पल, कलल १५ पल, वात सब मिलाकर एक पल, मेद दस पल, महारक्त (?) तीन पल, मज्जा बारह पल, शुक्र आधा कुडव, ओज पात्र कुडव, मांस सब मिलाकर हजार पल तथा रक्त सौ पल होता है। मल और मूत्र का कोई प्रमाण नहीं है।

शरीर में यत्र-तत्र बिखरे मांस का प्रमाण बताते हुए इस बचन में 'एक पिण्डेन' शब्द का व्यवहार करके कहा है कि समूचे मांस को यदि समूहित करके उसका एक पिण्ड बनावें तो उसका प्रमाण सहस्र पल होता है। जैसे समस्त मांस का प्रमाण इस रीति से बताया है वैसे ही सब शरीर में संचारी वात का प्रमाण-निर्देश करने के लिए ग्रन्थि-वाचक (पुञ्ज-वाचक) 'अर्बुद' शब्द का व्यवहार किया है। अर्थात् सम्पूर्ण वात को एकत्र कर उसको अर्बुदवत् पुञ्जित करें तो उसका प्रमाण एक पल होगा, यह इस बचन का आशय है। कुछ भी हो, इस बचन में वात की भी मात्रा बतायी है, जो उसके द्रव्यत्व की प्रतिपादक है।

बल शब्द ओज का वाचक है। "रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्रसिद्धान्तात्"—सु० सू० १५। १९—इस सुप्रसिद्ध बचन में बल और ओज की परस्पर पर्यायरूपता शास्त्रसिद्ध कही है। पद्मपुराण के बचन में महारक्त किसे कहा है जान नहीं पाया हूँ।

विशेषतः नव्य क्रियाशरीर के प्राकृत विकृत द्रव्यों के साथ तुलना कर आयुर्वेदीय द्रव्यों के स्वरूप का निर्णय करने की दिशा में प्रयत्न करनेवाले विद्वान् इन वचनों का विचार करें, यह नम्र प्रार्थना है।

शेषांश] भारत की चिकित्सा पद्धति क्या हो ? [४०३ रे पृष्ठ का

चाहते हैं। उनकी सहायता से अपने विज्ञान को उन्नत करना चाहते हैं। विज्ञान सार्वभौमिक है। अच्छी बात किसी भी देश की हो, उसे ग्रहण करने के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये। किन्तु साथ ही साथ अपनी अच्छी चीजों को चाहे वह पुरानी ही क्यों न हो छोड़ना नहीं चाहते। हम उन्हें नष्ट होते नहीं देख सकते। जिस समय संसार में अविद्या का अन्धकार था, उस समय हमारे पूर्वजों ने जो इस प्रकार के महत्वपूर्ण विज्ञान की खोज की, इसपर किस भारतीय को अभिमान और गौरव नहीं है ?

हमारा कर्तव्य

हम अब स्वतन्त्र हैं। हमारी जनप्रिय सरकार और दूरदर्शी नेताओं को चाहिये कि वे एक ऐसी योजना बनायें जिससे हम अपने प्राचीन विज्ञान को समुन्नत करें। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की भी अच्छी चीजों को लेकर एक ऐसी चिकित्सा प्रणाली बनायें, जिससे हमारे देश के प्रत्येक व्यक्ति धनी, गरीब, नगर या ग्राम निवासी सभी लाभ उठा सकें। वह प्रणाली राष्ट्र के लिये कल्याणकारी हो, शोषक नहीं हो। यही सच्चा आयुर्वेद होगा और इसे ही केवल अपने देश को राष्ट्रीय चिकित्सापद्धति के आसन पर बैठने का गौरव हो सकता है।

धनुर्वात

कविराज सत्यनारायण प्रसाद शास्त्री साहित्यायुर्वेदाचार्य

❀

धनुर्वात एक प्रसिद्ध व्याधि है और सभी देशों में होती है। कहीं इसे 'धनुस्तम्भ कहीं धनुर वात' और कहीं 'धनकिया बाव, के नाम से पुकारा जाता है। अंग्रेजी में इसे "टिटेनस" (Tetanus) कहते हैं। यह महाभयङ्कर रोग प्रायः असाध्य होता है, परन्तु यदि रोग प्रारम्भ होते ही कुशल चिकित्सक की देखरेख में चिकित्सा प्रारम्भ की जाय तो कहीं-कहीं सफलता के दर्शन हो जाते हैं।

धनुर्वातमें क्या होता है यही पहले लिखा जाता है। धनुर्वात में शरीर धनुष की तरह कुछ टेढा हो जाता है अर्थात् वायु स्नायु जाल को एकदम स्तब्ध कर देता है, उनमें गतिका अभाव होनेसे शरीर का वह भाग जहाँका स्नायु जाल स्तब्ध हो गया हो एक दम स्तब्ध हो जाता है अर्थात् उसमें गति नहीं हो सकती। इसमें बार बार झटके आते हैं। झटके आने के समय रोगी बहुत चीखता है। परन्तु कहीं-कहीं ऐसा भी देखा जाता है कि रोगी एकदम स्तब्ध हो जाता है। इस रोग की पहचान ग्रीवासे होती है, अर्थात वही जकड़ जाती है। धनुर्वात के २ भेद होते हैं। यदि ग्रीवा भीतर को ओर जकड़ जाती है तो, "अन्तरायाम" होता है; और यदि बाहर की ओर जकड़ जाती है तो "बहिरायाम, या "वाह्यायाम" कहलाता है। "अन्तरायाम; में अंगुली, रखने, उदर, हृदय और वक्ष गलमें स्थित वायु, स्नायु जालको संकुचित कर देता है और उसमें कफ वमन, चक्षु और हनुकी स्तब्धता तथा पार्श्व देश मानों टूट गया हो ऐसा मालूम पड़ता है। "बहिरायाम' में वायु वाह्य स्नायु जाल को स्तब्ध कर देता है और ऐसा मालूम पड़ता है मानों वक्ष जंघा और कटि टूटी जा रही हो, यह असाध्य होता है।

चिकित्सा

चिकित्सा में सर्वप्रथम यह ध्यान देने की बात है कि रोगी को पूर्ण आराम से स्वच्छ विस्तरे पर लिटा दिया जाय। उस कमरे में स्वच्छ वायु का प्रवेश होना चाहिए। रोगी के पास भीड़ नहीं रहनी चाहिए। कहीं घाव आदि हो तो उसे निम्ब जल से अच्छी प्रकार धोकर उस पर विशुद्ध मधु या गोघृत का पिचु रखकर ऊपर से साफ कपड़े की पट्टी बाँध दे। फिर स्निग्ध उष्ण वात शामक रक्त और स्नायु प्रसादक चिकित्सा करे। गाय के गरम दूध में गोघृत मिलाकर २-२ घण्टे पर पिलाए। ग्रीवा पर सूखी मालिश करे। हाथ-पाँव आदि पर भी हाथ फेरता रहे। पंखे से रोगी को हवा करता रहे। रोग की चिकित्सा जितनी जल्दी प्रारम्भ की जायगी उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी। आयुर्वेद में निम्न ओषधियों का प्रयोग उस पर पाया जाता है कालकूट रस, लक्ष्मीनारायण रस, बृहद्वातचिन्ता-मणि, चन्द्रशेखर, महावात विध्वंसन, विषमुष्टिवटी,

कस्तूरी भैरव, मल्लचन्द्रोदय, ताप्यादि लौह, दशमूल क्वाथ, दशमूलाघृत आदि।

ऐलोपैथी में इसके आक्रमण को रोकने के लिए क्षत होते ही "एण्टी टिटेनिक सीरम" (Anti tetanic serum) २० सी० सी० की मात्रा में प्रविष्ट करते हैं। ३ रे या ५ वें दिन फिर इन्जेक्शन देते हैं। यदि फिर भी धनुःस्तम्भ के लक्षण व्यक्त होने लगें तो १०० सी० सी० मात्रा को शिरागत (Intravenously) प्रविष्ट कर देते हैं। उसके अतिरिक्त टिटेनस एण्टो टाक्षन (Tetanus anti toxin) सोडियम एमिटाल (Sodium amytal) नेम्बुटाल (Nembutol) इत्यादि औषधों का प्रयोग भी किया जाता है। परन्तु इनका भी प्रभाव आरम्भ से प्रयोग किया जाय तभी होता है। ज्यों-ज्यों देरी होती है त्यों-त्यों सफलता की आशा दूर होती जाती है।

धनुर्वात का एक रोगी

पिछले वर्ष जब कि मैं तारानगर (बीकानेर) में चिकित्सा कार्य किया करता था तब मुझे 'बहिरायाम' के एक रोगी की चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने का अवसर मिला। एक १३ साल के बच्चे का पैर मोटर से कट गया था। उसे अस्पताल ले जाया गया। स्थानीय डाक्टर ने केस को साधारण बताते हुए पट्टी बान्ध दी और उसके घरवालों को खूब सान्त्वना दी।

५-६ दिन बाद घाव दूषित होकर उसे धनुर्वात हो गया। डाक्टर के पास "एण्टी टिटैनिक सीरम" का कोई इन्जेक्शन नहीं था, अतः वह बहुत घबड़ाया और उसके घरवालों को यह आदेश दिया कि वे रोगी को शीघ्रातिशीघ्र बीकानेर ले जायें। डाक्टर से हताश होकर घरवाले उसको घर ले आये। रोगी की अवस्था चिन्ताजनक थी अतः उन्होंने बीकानेर न ले जाकर आयुर्वेदिक चिकित्सा करवाने की सोची और एतदर्थ मुझे बुलाया गया। मैं जिस समय पहुंचा था उस समय रोग को हुए करीब ४-५ घण्टे व्यतीत हो चुके थे। रोगी को बार-बार झटके आ रहे थे, वह जारों से चिल्ला रहा था। ग्रीवा बाहर की ओर एकदम जकड़ गई थी। मैंने उसके घर वालों को सान्त्वना देते हुए कहा कि आप परमात्मा का भरोसा कर चिकित्सा कराइये। ईश्वर की दया से अवश्य सफलता प्राप्त होगी।

मैं ने सर्व प्रथम उसके घाव को निम्ब जल से धुलाया और उस पर विशुद्ध मधु का पिचु रखवा कर साफ कपड़े को पट्टी बँधवा दी। इसके बाद निम्नलिखित औषधियों को चार मात्रा बनाई। ३-३ घण्टा पर एक-एक मात्रा मधु और घृत के साथ चटा कर ऊपर से प्रसारणी का रस पिलाया। मात्राओंके बीच के समय में गरम दूध गो-घृत डालकर पिलाया गया। औषध ये हैं।

औषध		मात्रा
स्वर्णचन्द्रोदय (प्रसिद्ध)	२ रत्ती	४
महावातविध्वंसन (रसचण्डांशु)	२ गोली	
ताप्यादि लौह (औषधगुणधर्म शास्त्र)	४ रत्ती	

इस चिकित्सा क्रम से उसे काफी लाभ हुआ। आक्षेप धीरे-धीरे और कम आनेलगे। रोगी निद्राका सा अनुभव करने लगा। परन्तु सूर्योदय के एक घण्टा पहले फिर बड़ी जोर से आक्षेप आने लगे, रोगी जोर से चिल्ला रहा था। घरवाले बड़े हैरान थे। मैं भी किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो रहा था पर ईश्वर का नाम लेकर निम्न औषधों की २ मात्रा बनाई।

औषध		मात्रा
कालकूट रस	२ रत्ती	२
मल्ल सिन्दूर	१ "	
कस्तूरी	१ "	

(शेषांश ४०९ वें पृष्ठपर)

जीवेम शरदः शतम्

वैद्य रामेश वेदी आयुर्वेदालङ्कार

❀

शृतु को घुटनों में सिमट कर, दिन में सूर्य की धूप सेक कर और दिन रात की सन्धिवेलाओं में आग ताप कर सरदियां बितानेवाले (रात्रौ जानु दिवा भानुः कृशानुः सन्ध्योर्द्वयोः। इत्थं शीतं मया नीतं जानुभानुकृशानुभिः।) अभागों के लिए तो मैं नहीं कहता परन्तु सर्व साधारण के लिए शक्ति संचय करने के उद्देश्य से यह सर्वश्रेष्ठ ऋतु है। अनुकूल आवास, पर्याप्त गरम वस्त्र और पुष्टिकर भोजन यदि व्यक्ति जुटा सकता है, तो स्वास्थ्य बनाने के लिए यह आदर्श समय है। हमारे धर्म-ग्रन्थों में 'जीवेम शरदः शतम्' यह वाक्य बार-बार आया है। सौ साल की स्वस्थ आयु के लक्ष्य की पूर्ति में सरदियों का महत्वपूर्ण स्थान है। मेरा विश्वास है कि इस वैदिक लक्ष्य की प्राप्ति की चाह करनेवालों को इस लेख में दिये गये निर्देशों का पालन करने से लाभ हो सकेगा।

शयनागार में ताजी हवा

सरदी से बचने के लिए मुंह ढककर सोना अच्छा नहीं। सोने के कमरे में ताजी हवा आने के सब मार्गों का बन्द करना भी ठीक नहीं। सीधी तेज हवा से बच्चों को हानि पहुंचने का भय होता है क्योंकि बच्चों के ऊपर से सोते समय बहुधा कपड़ा उतर जाया करता है। इसलिए झरोखे तो खुले रखिये ही, खिड़कियों तथा दरवाजे को इस तरीके से पूरा या आधा खुला रखिये कि हवा का झोंका सीधा न लगे। सोते समय शरीर पर अधिक कपड़े नहीं पहनने चाहिए। पाजामा तथा कमीज सामान्यतया काफी रहता है, और उपयुक्त भी है।

ब्राह्म मुहूर्त्त में जागना

सरदियों की लम्बी रातों में सोने के लिए समय पर्याप्त होता है। रात को यदि आप साढ़े आठ बजे भी सो जांय तो आठ घण्टे की ताज़गी देनेवाली नींद के बाद सुबह साढ़े चार बजे जाग सकते हैं। शीतल वायु बहुत तेजी से बह रही होती है। शयनकक्ष को छोड़ने से पहले स्वेटर या किसी दूसरे गरम कपड़े से शरीर को ढक लीजिये और तब आंतों की सफाई और मुख की शुद्धि के लिए बाहर निकलिये। शौच, दातुन, मालिश, स्नान, हलका व्यायाम आदि में एक घण्टा लग जाता है।

ताजा पानी का स्वास्थ्यप्रद स्नान

प्रातःकालीन भ्रमण में गङ्गा के घाटों पर जब मैं भक्तों को बर्फीले नीले पानी में धीरे-धीरे शान्त भाव से डुबकियां लगाते देखता हूं तो मेरे साथी अकसर कहा करते हैं 'इन्हें निमोनियां या सरदी न लगने में कौन सा डाक्टरी सिद्धान्त काम करता है?" सरदी से हम जितनी दूर भागते हैं इतनी ही जोर से हमें चिपटती है और ये लोग तो जैसे सरदी को चिपट रहे हैं। इसीसे सरदी उन्हें नहीं सताती। इस बात में बहुत सच्चाई है।

स्नान मैं सुबह का पसन्द करता हूँ और वह भी ताजा पानी से। इसका एक बड़ा लाभ मैंने यह देखा है कि स्नान के बाद सरदी इतना अधिक नहीं

अनुभव होती। स्नान कर चुकने पर ऐसा प्रतीत होता है कि त्वचा पर खून वेग से गति करने लगा है। ताजगी, काम करने की इच्छा, आलस्य का निराकरण, शीत का कम लगना, आदि लाभ गरम जल से स्नान करने की अपेक्षा ठंडे जल में अधिक प्राप्त होते हैं। रोगी और निर्बल व्यक्ति गरम पानी में स्नान कर सकते हैं। पानी का तापमान शरीर के तापमान से ऊंचा नहीं होना चाहिए।

दातुन करने के बाद बन्द कमरे में (रोशनदान खुले रहें) सारे शरीर पर तेल की मालिश कीजिये और नल के नीचे बैठ कर अथवा पात्र से शरीर पर पानी उंडेलने के साथ-साथ हाथों से शरीर को अच्छी तरह मलते जाइये। एड़ियों को फर्श पर रगड़ कर या झाँवे से रगड़ कर प्रतिदिन साफ करते रहेंगे तो बिवाई नहीं फटेगी। अंगोछे से बदन को भली-भांति सुखा लीजिये। जांघिया पहन कर शरीर को कपड़े से सपेट लीजिये और व्यायाम वाले कमरेमें आ जाइये।

व्यायाम

कमर के ऊपर तक के अवयवों की व्यायाम यहां करलें। दिन भर मस्तिष्क का कार्य करने वाले के लिए ४०-५० दंड काफी होते हैं। गले और मुख की मांसपेशियों की व्यायाम करने के बाद कपड़े पहन लें और सैर के लिए निकल जांय। गंगनहर के साथ साथ या बस्ती से बाहर जाने वाली किसी एकान्त धूलिरहित सड़क पर डेढ़ दो मील तक तेजी से चले जांय। लौटते हुए आध एक मील दौड़ लें। इस बात का ध्यान रखें कि जाते समय हवा का रूख आपके सन्मुख हो, क्योंकि वापसी पर दौड़ते समय हवा का प्रवाह आप के अनुकूल होना आवश्यक है। इस प्रदेश में प्रातः काल छह - साढ़े छः बजे तक एक प्रकार की तेज शीतल वायु पूर्वीय बर्फीले पहाड़ों से आया करती है, इसे ढाढू कहते हैं। सुबह की सैर में मैंने प्रायः देखा है कि चेहरे पर ढाढू के लगने से आंखों और नाक से पानी बहने लगता है। नाक में यह इस वेग से घुसती है कि कई बार गोते से आ जाते हैं। सैर करते समय गहरे अन्तः श्वास लेने से फेफड़ों को तो स्वास्थ्य लाभ होता ही है सरदी भी कम लगती है। घूमने और दौड़ने में एक घंटा लग जाता है। साढे चार बजे उठ कर साढे छ बजे तक आप अब तक के सब नित्यकर्मों स निवृत्त हो चुके हैं।

(शेषांश ४०७ वें पृष्ठ का)

उनकी एकमात्रा को मधुसे चटाकर गरम पानी में अहिफेनासव की १० बून्द डाल कर पिलाई। इससे उसे कुछ आराम हुआ। ३ घण्टे बाद फिर १ मात्रा और दी गई, उससे अवस्था बहुत कुछ सुधर गई। फिर पूर्वोक्त ओषधियों की उसी ढंग से मात्रा बनाई गई और प्रयुक्त कराई गई। प्रातःकाल होने से ३ घण्टे पहले पिछली दवा की एक मात्रा दे दी गई इससे प्रातःकाल कोई विशेष गड़बड़ नहीं हुई। इस प्रकार यह क्रम ४ दिन तक चलता रहा। रोगी को पूर्ण आराम हो चुका था फिर भी दो दिन तक—

ताप्यादि लौह ४ र.
लक्ष्मीनाराणरस २ गो मात्रा ४
कस्तूरी १ र

इन औषधों को दिनमें ४ बार शहद के साथ चटाते रहे; बादमें रोगी को बीकानेर भेज दिया गया वहां उसके घावकी कई दिन तक चिकित्सा हुई और वह ठीक हो गया।

वस्त्रों के दाग छुड़ाने के उपाय

श्री विद्यारत्न विद्यालङ्कार



तेल, घी, मक्खन ग्रीज क्रीम वैस्लीन आदि के दाग।

ये सब चीजें पेट्रोल में घुलनशील हैं। इसलिये इनके लिये पेट्रोल का ही प्रयोग होना चाहिए। यदि दाग किसी ठोस चीज का हो, तो पहले किसी खुण्डे चाकू से रगड़ कर जितनी ग्रीज वगैरह उतर सके उतनी उतार लेनी चाहिए। यदि दाग बहुत पुराना हो तो उसके लिए कार्बन टैट्राक्लोराइट का प्रयोग करना चाहिये। इन पदार्थों से दाग दूर करने के लिए ड्रापर काम में लाया जाता है। रेशम सूत या अन्य सभी प्रकार के कपड़ों के लिये एक ही तरीका है।

तारकोल और साइकिल की ग्रीज के दाग।

ये दाग भी पेट्रोल और कार्बन टेट्राक्लोराइट से दूर हो जाते हैं, किन्तु इन दागों के लिये बेन्जीन सब से अच्छी रहती है। मसाला लगाने से पूर्व ठोस चीज जितनी सम्भव हो सके चाकू से खुरच देनी चाहिये। यदि दाग बहुत पुराना हो तो उस पर कुछ बून्द मिट्टी के तेल को डाल कर रगड़ो, और कुछ देर बाद पेट्रोल से साफ कर लो, और स्याही चूस से सुखा लो। बाद में यदि हो सके तो उस स्थान को साबुन और पानी से धो लो।

नेल पालिश का दाग

नेल पालिश का दाग बेन्जीन और ऐसीटोन या अकेले ऐसीटोन से उतर जाता है।

बूट पालिश का दाग

बूट पालिश तारपीन के तेल में बड़ी सुगमता से घुल जाता है। तारपीन को सावधानी के साथ कोयलाकी आग पर गरम कर दाग उड़ाओ। शेष बचा हुआ रंगदार दाग साबुन से धो डालो। यदि आवश्यकता पड़े तो सोडियम हाइड्रोसलफाइट के घोल का प्रयोग करो।

टिञ्चर आयोडीन के दाग

इन दागोंको सोडियम थायोसल्फोट या हाइपोसे दूर किया जा सकता है। वह न मिलने पर पोटाशियम सायनाइड (एक विष) का घोल प्रयोग करो, अमोनिया के साथ धोने से भी दाग उतर जाता है। जो कपड़े धोबी की भट्ठी पर चढ़ाये जाते हैं, उनका दाग धोबी से वापिस आने पर प्रायः नहीं रहता।

प्राटागर्ल-आर्जिरोल के दाग

ये दवाइयां आंख में डाली जाती हैं, जिनके कपड़े पर पड़ने से काले दाग पड़ जाते हैं। इन दागों को दूर करने के लिए पोटाशियम सायनाइट या हाईपोका प्रयोग किया जाता है। यदि दाग पर पहले टिञ्चर आयोडिन लगाई जाय, और बाद में हाइपोका प्रयोग किया जाय, तो दाग सुगमता से उतर जाता है।

स्याही के दाग

लिखने को रङ्गदार साधारण स्याही इसके दाग सोडियम हाइड्रोसलफाइट या रङ्ग काट से दूर होते हैं।

लिखने की पक्की स्याही (बैंकइङ्क, फाउण्टेनपेन इङ्क आदि)...इनके दाग दूर करने के लिये आग्जालिक एसिडका तेज गरम घोल लगाना चाहिये। कुछ देर बाद जगह को पानो से धोना आवश्यक है। यदि बाद में कोई नीला सा रङ्ग शेष रह जाये तो उसे रङ्ग काट के घोल से दूर करो।

आम का दाग

कच्चे पक्के दोनों तरह के दाग रंग काटके घोलसे दूर हो जायेंगे। बाद में अच्छी तरह पानीसे धो लें। हाइड्रोजन परोक्साइड अकेला या पोटाशियम परमैंग्नेट (कूएं में डाली जानेवाली दवाई) के घोलके साथ प्रयोगमें लाया जा सकता है।

केले का दाग

सोडियम हाइड्रोसलफाइटका घोल लगाना चाहिए। बाद में कपड़े को कई बार ठण्डे पानी से धो डालना चाहिए।

मेंहदी का दाग

हाइड्रोजन परोक्साइट या रंगकाट से दूर हो जाता है। दाग पर कबूतर की बींठ को पानी में गरम करके लगाने से भी वह दूर हो जाता है।

दूध, चाय, कहवा आदि के दाग

पहले ठण्डे पानी से धो डालो। बाद में २ प्रतिशत कपड़े धोने के सोडे के घोल में गरम करो और पानी से धो डालो। रेशमी और ऊनी कपड़ों और नीबू का रस लगा कर रगड़ना चाहिए। इससे दाग धीरे २ उतर जायगा। सफेद कपड़े पर सोडियम हाइड्रोस फाइटका घोल लगाना चाहिए।

पान का दाग

यदि कपड़े का रंग सफेद हो, तो उस जगह को साबुन के साथ अच्छी तरह से साफकर सोडियम हाइड्रोसलफाइट के घोल या हाइड्रोजन परोक्स इटका प्रयोग करो। बाद में साबुन से दुबारा धो डालो रंगदार कपड़ों और दूसरे बहुत से नाज़ुक कपड़ों की सूरत में खसखस को मुख में चबा कर या खरलमें पानीके साथ रगड़ कर मलें। यदि इससे दाग न उतरे तो कच्चा अमरूद काटकर दागवाली जगह पर मलें। दाग दूर हो जायगा। बाद में इस जगह को पानी से या यदि हो सके तो साबुनके साथ धोकर साफ कर लो।

जामुन, अमरूद आदि दूसरे फलों के दाग

फलों के दाग प्रायः ताजी हालत में सिर्फ पानी से ही दूर हो जाते हैं। पुराने हो जाने पर सोडियम हाइड्रोसल्फाइट का घोल प्रयोग में लावें।

खून का दाग

ताजा दाग केवल पानी या साबुन से धाने से दूर हो जाता है। यदि दाग पुराना हो तो उसे ५ मिनट के लगभग ठण्डे दूध में भिगोकर बाद में गरम दूध से धो लो। यदि दाग न उतरे तो पोटाशियम परमेंग्नेटका घाल लगाकर उस पर सोडियम बाइसल्फाइटका घोल लगाओ।

हल्दी का दाग

साबुन से धोने पर दाग लाली पर आ जायगा। अब उस पर सोडियम हाइड्रोसल्फाइटके घोलकी कुछबूदें लगाओ रंग उड़ जायगा।

जंग का दाग

गरम आग्जालिक एसिड के घोल के प्रयोग से दूर हो जाता है। ताजे दाग नीम्बू के सत या टार्टरी से भी दूर हो जाते हैं। नीम्बू को काटकर भी रगड़ा जा सकता।

नमक के नवीन अनुभव

वैद्य रवीन्द्र शास्त्री



रोजमर्रा के काम में आनेवाली नमक जैसी साधारण वस्तु केवल खाद्य पदार्थों को जायकेदार ही नहीं बनाती—बल्कि कई रोगों में भी अपना विलक्षण चमत्कार दिखलाती है। पेट सम्बन्धी प्रायः सभी विकारों में जो भी चूर्ण काम में आते हैं—उनमें नमक का अंश जरूर होता है, रोटी और दाल शाक तो नमक के बिना गले के नीचे ही नहीं उतरते।

अपने चिकित्सा कालीन अनुभव में नमक के कुछ ऐसे अनोखे परीक्षण सामने आये, जिनकी कल्पना भी दिमाग में नहीं थी,—और न गुणधर्म के लिहाज से नमक से ऐसी आशा ही की गई थी। ऐसे ही कतिपय अनुभव यहाँ दिये जा रहे हैं।

नीमझाणा के एक सज्जन हिचकियों से परेशान हो के स्थानीय मेल हास्पिटल में चिकित्सार्थ आये, और ४८ घंटेतक मिक्सचर और इंजेक्सनोंके प्रयोग से भी जब उनकी हिचकियों में तनिक भी शांति नहीं आई तो वे जयपुर हास्पिटल जाने के उद्देश्य से चल दिये। रास्ते में सिविलजज महोदय जो आयुर्वेद में प्रकांड श्रद्धा रखते थे,—उन सज्जन को मिल गये और उन्हें कुछ आयुर्वेदिक औषधियों के परीक्षण के लिहाज से ही मेरे पास भेज दिया। रोगी को बहुत उतावली थी, और ५-७ घंटे टिकने के बजाय—जयपुर पहुंचने में ही अपना कल्याण समझ रहे थे। २ घंटे तक औषधि का फल देखने के उद्देश्य से वे टिके। पेट और रोग की स्थिति को देखते हुये यह समझा गया कि पहिले वमन कराके सूतशेखर जैसी औषधि दी जाय। वमन के उद्देश्य से उन्हें तो २ तो० सेंधा नमक छटांक भर पानी में डाल के पिलाया गया। आशा तो यह की गई थी कि नमक का पानी—पीने से वमन होगा, किन्तु विपरीत इसके उल्टी तो हुई नहीं, पेट में नमकीन जाने के तत्काल बाद ही हिचकियां ऐसी बंद हो गईं, मानो किसी ने जादू के डंडे से रोक दी हो। मिनट मिनट में आनेवाली तीव्र हिचकियों को इस तरह रुकने में रोगी को ही नहीं मुझे भी विस्मय विमुग्ध कर दिया। १।। घंटे तक १ भी हिचकी नहीं आई, और रोगी बड़े हर्ष के साथ जयपुर हास्पिटल के बजाय अपने गांव चले गये। इस छटांक भर नमकीन पानी ने रोगी को इतना विश्वस्त बना दिया कि और दवा की उसने स्वतः ही कोई जरूरत नहीं समझी। दूसरे दिन समचार मिला कि बाद में भी कोई हिचकी नहीं आई।

इस तरह नमक का यह पहिला विलक्षण अनुभव हुआ। बाद में एक स्थानीय वकील भी तीन दिन तक हिचकियों से परेशान होने के बाद इस तरह की दो मात्राओं से रोग-मुक्त हुये।

इसके बाद नमक का प्रयोग किया गया, मसूढ़ों की सूजन पर। मसूढ़ों के सूजने पर दुःख पानेवाले रोगी प्रायः ही औषधालय में आते हैं—बाज-बाज रोगियों को कई-कई दिन तक परेशानी रहती है।

(शेषांश ४१४ पृष्ठपर)

भूमि और प्राणियों के अभिभावक: वृक्ष

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी



वृक्षों के महत्त्व को भलीभांति समझते हुए ही, मैंने वन-महोत्सव मनाये जाने की घोषणा की थी। वृक्षों से ही हमारा जीवन पला और वृक्षों से ही पृथ्वी पर मनुष्य सम्भव हो सका। पृथ्वी पर मनुष्य के अस्तित्व के लिये वृक्ष जरूरी हैं, क्योंकि वे ही मिट्टी के मुख्य रक्षक हैं और उसे स्थिर एवं सिंचित रखते हैं। यही कारण था कि मैं वनों के हरे-भरे सौंदर्य की पुनरावृत्ति के लिए एक राष्ट्रीय आन्दोलन चाहता था।

आर्य्य सभ्यता

वृक्षारोपण की मेरी अपील पर देश पर्यन्त जो ध्यान दिया गया, उससे लोगों में वृक्षों के प्रति प्रेम की भावना जाग्रत हो उठी है, ऐसा होना स्वाभाविक भी था। आखिर हम उस आर्य सभ्यता के ही तो उत्तराधिकारी हैं, जो वनों में ही पल कर विकसित हुई थी। महामहिम राष्ट्रपति से लेकर छोटे किसान तक ने इस आन्दोलन में भाग लिया। महोत्सव के दिनोंमें जो पेड़ लगाये गये, यदि वे १५-१५ फुट की दूरी पर एक साथ लगाये जाते, तो उनसे १ लाख एकड़ भूमि घिर जाती।

प्रत्येक देश की साधारण अर्थ-व्यवस्था में इन पेड़ों का समुचित स्थान है। वन-व्यवसाय कृषि की दासी मात्र नहीं है। हमारे बढ़ते हुए जन-समुदाय के आश्रय एवं निर्वाह के लिये, वन, एक अक्षय निधि हैं। क्योंकि वृक्षों का अर्थ है जल, जल का अर्थ है अन्न और अन्न का अर्थ है जीवन।

गोबर से खाद

हमारे 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलनसे भी, पेड़ों का गहरा सम्बन्ध है। हम विदेशों से करोड़ों रुपये की रसायनिक खाद मंगाते हैं, और इसके विपरीत, स्वयं देश में, हमारे ग्रामवासी, अपनी आवश्यकता एवं अज्ञान के कारण, पशुओं के गोबर को खाद बनाने के काम में लेने के बजाय जला डालते हैं। प्रायः कुछ गांवों के हर समूह के लिए एक-एक छोटा वन होना चाहिये, ताकि उससे उन गांववालों की ईंधन, इमारती लकड़ी तथा पशुओं के चारे की आवश्यकताएँ पूरी होती रहें। यदि हमें अधिक अन्न उपजाना है, तो हमें गोबर की खाद के लिए बचाना ही होगा। गांववाले के ईंधन के लिये पेड़ों की लकड़ी होनी चाहिये, ताकि वे गोबर को ईंधन के काम में न लावें। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईंधन वाले पेड़ों के बिना, हमारी भूमि फिर से उर्वर नहीं बनायी जा सकती। इसीलिए भारत सरकार ने सभी राज्य-सरकारों से प्रार्थना की है कि विधि द्वारा अथवा आदेश निकाल कर, वे इस बात की व्यवस्था करें कि खेती के काम न आनेवाली सभी प्रकार की भूमि में ईंधनवाले पेड़ लगाये जायँ।

हमारे वन-महोत्सव आन्दोलन का न केवल हमारे देशवासियों ने ही स्वागत किया है वरन् अन्य देशों ने भी इसके महत्त्वका अनुभव किया है। इसीसे पाकिस्तान तथा मिस्र को भी ऐसे ही आन्दोलन चलाने की प्रेरणा मिली है। इस आन्दोलन ने साथ

एवं कृषि संगठन की वन्य शाखा का भी ध्यान आकर्षित किया है। अतएव हमें वृक्षों के प्रति अपनी श्रद्धा के कारण लज्जित नहीं होना चाहिये। वृक्ष हमारे लिये ईश्वर के समान हैं। हम पीपल अथवा पवित्र अश्वत्थ वृक्ष की पूजा करते हैं, जो स्वयं श्रीकृष्ण का प्रतिरूप है। बड़ का वृक्ष पवित्र होता है और स्त्रियां पारिवारिक समृद्धि के लिये प्रति वर्ष बट वृक्ष की पूजा करती हैं। अपनी आधुनिकता के दम्भ में हमारे देश के शिक्षित लोग अब यह विश्वास नहीं करते कि वृक्ष ही देवता हैं। वे इन्हें केवल लकड़ी समझते हैं, किन्तु इस प्रकार हमारी आधुनिकता हमें मंहगी पड़ रही है।

भूमि का महत्व

भूमि पर वायु, जल, भूमि तथा पौधे के मध्य एक संतुलन होता है। प्राकृतिक व्यवस्था में वृक्षों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वृक्ष पर्वतों को स्थिर रखते हैं, वर्षा तथा अंधड़ का शमन करते हैं, नदियों को अनुशासित करते हैं, बाढ़ों को नियंत्रित करते हैं, झरना को कायम रखते हैं, आन्धी को छिन्न-भिन्न कर देते हैं, पक्षियों का पालन करते हैं; पवन को ठण्डा तथा शुद्ध रखते हैं; सदा बहने-वाले जलस्रोतों के अभिभावक हैं; अंधड़ के प्राकृतिक प्रतिरोधक हैं; आंधी तथा जल से भूमि के कटाव को रोकते हैं, भूमि की उपजाऊ शक्ति को सुरक्षित रखते हैं; हमें ईंधन देते हैं ताकि हम गाय तथा सुरक्षित रह सकें; रेल-व्यवस्था के लिये आवश्यक लकड़ी प्रदान करते हैं; कागज, पतवार-लकड़ी, तथा दियासलाइयां आदि उपलब्ध करते हैं; हमारी विद्युत् योजनाओं को सम्भव बनाते हैं तथा मानव जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक तेल, गोंद, जड़ी बूटियां शहद तथा लाख देते हैं।

संसार के बड़े-बड़े भू-क्षेत्र मरुभूमि में परिवर्तित होते जा रहे हैं। बहुत से भारतीय बन काट डाले गये हैं, और तो और, स्वार्थी आधुनिकतावादियों ने वृक्षों को धन कमाने का केवल एक साधन-मात्र माना है। किन्तु मनुष्य का वृक्षों से घनिष्ठ सम्बन्ध है और वह घनिष्ठ ही बना रहेगा। जब तक हम भूमि के उपजाऊपन के स्रष्टा इन वृक्षों की पुनः पूजा आरम्भ नहीं कर देंगे, हम प्रकृति के नियमों के विरुद्ध पाप करते रहेंगे और हमारे सब महान कार्य धूल में मिल जायंगे।

शेषांश] नमक के नवीन अनुभव [४१२ वें पृष्ठ का

अमृतधारा—लवंग तैल आदि से पानी निकलने पर थोड़ी शान्ति जरूर मिलती है, लेकिन बाद में फिर वहीं पीड़ा हो जाती है। इसके लिये यह किया गया कि नमक के पानी के कुल्ले कराये गये, और नमक की छोटी-छोटी पोटलियां बना के उनसे गर्म सेंक कराई गई। पोटली के सेक के बाद सूजन इस तरह बैठ गई—जैसे किसीने नश्तर लगा के दर्द को निकाल दिया हो यहां तक कि दुबारा सेक की जरूरत नहीं पड़ी।

एक रोगी को दाढ़ के दर्द के साथ मसूढ़ों की सूजन ने इतना परेशान किया कि तालु प्रदेश में भी सूजन आ गई, और उतना ही नहीं पानी पीना भी हराम हो गया। पेन्सिलिन के इन्जेक्सन भी कुछ लाभ नहीं कर सके—अन्तमें पोटली के सेक ने ही उसकी सारी पीड़ाएँ दूर की।

नीमचमेली, गुलमौर और सुवर्णपुष्प

श्री भानु देसाई

❀

नीम चमेली

देश (भूमि) और जल की अनुकूलता के कारण कई बार परदेशी उद्भिद् भी अन्य देशों में ऐसी खूबी से फैल जाते हैं कि पीछे से उनकी वैदेशिकता का ख्याल भी मुश्किल से आता है। भारत में इस प्रकार बस गये सुन्दर और उपयोगी वृक्षों में एक नीमचमेली है। इसका मूल स्थान ब्रह्मदेश है। डेढ़-दो शताब्दियों में ही इसका भारत में इतना प्रसार हो गया है। गुजराती में इसका प्रसिद्ध नाम 'बुच' है। बुच का शब्दार्थ कॉर्क है। यों कॉर्क का पृथक् वृक्ष होता है, परन्तु नीमचमेली की त्वचा कॉर्क सरीखी होने से इसे 'बुच' कहा जाता है। कई स्थानों पर इसकी ऊँचाई और निम्ब-सदृश पत्रों के कारण इसे 'आकाशनीम' या 'आकाश-लीमडो' भी कहते हैं। हिन्दी में इसे निम्ब-तुल्य पत्रों तथा चमेली जैसे फूलों के कारण 'नीमचमेली' कहा जाता है। यह नामकरण भाषा की लचक और नयी-नयी संज्ञाओं के निर्माण और आत्मसात्करण के सामर्थ्य का उत्तम द्योतक है।

महाराष्ट्र में इसे 'लटक चमेली' कहा जाता है। यों इसके फूल चमेली जैसे नहीं होते; सुगन्ध अवश्य प्रभूत होती है। फूल परिपक्व हो जाते हैं, तो झड़ जाने के पूर्व कुछ काल वृक्ष पर लटके रहते हैं। संभव है, इस नामकरण का यह मूल हो। यह भी हो सकता है कि, फूल श्वेत और लम्बे होते हैं, तथा बड़े गुच्छों के रूप में वृक्ष पर लटके रहते हैं, इससे इसे यह नाम मिला हो।

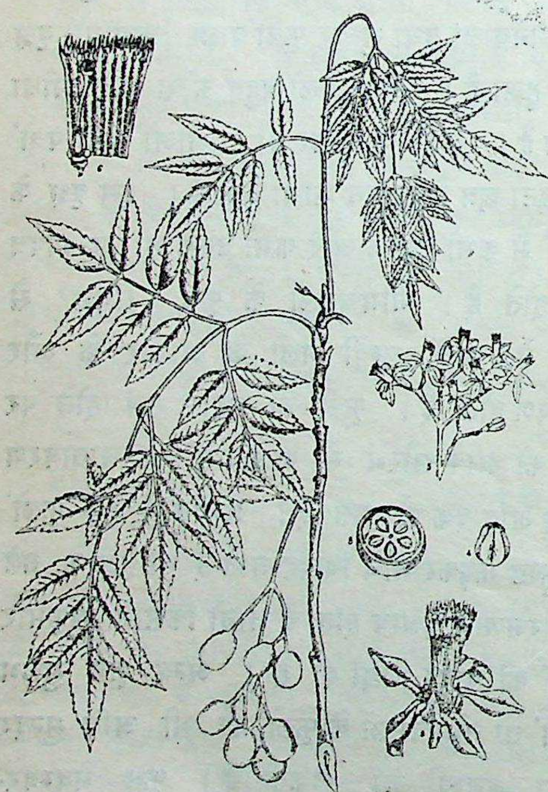
भारत में नीमचमेली का प्रवेश नया ही होने से संस्कृत वाङ्मय, आयुर्वेद अथवा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इसका निर्देश नहीं पाया जाता। सो, इसके गुण-धर्मों के विषयों में तो हाल मौन ही मार्ग है।

नीमचमेली इस सामान्यता के द्योतक नाम के साथ एक अत्यन्त शोभमान, हमारे देश में सुगमता से उगनेवाला तथा सुन्दर फूलोंवाला उपयोगी वृक्ष जुड़ा हुआ है। नीमचमेली बहुत ऊँचा और सीधा जाता है। सर्वोच्च शिखर पर शाखाओं तथा पत्रों की छटा छत्र के समान शोभा देती है। इस वृक्ष के पत्तों में कभी उपपत्र और कभी उनके भी उप-उपपत्र लगे होते हैं। नीमचमेली के फूल रजनीगंधा[1] से बहुत मेल खाते, लम्बी नली के आकार के और श्वेतवर्ण होते हैं। फूलों की बहार खूब होने पर रात को उसके सौरभ से आसपास का वातावरण अति आह्लादक हो जाता है। प्रभात में जब फूलों के झुण्ड झड़कर नीचे बिखर जाते हैं तो वृक्ष के तले ऐसा रमणीय देखाव होता है जानो किसीने सुकुमार फूलों की चादर बिछा दी हो। अन्य फूल सुलभ न हों तो नीमचमेली के फूलों की भी अति सुन्दर माला बनायी जा सकती है। फूल नवम्बर-दिसम्बर में खिलते हैं।

नीमचमेली का प्रकाण्ड (तना) पतला, सीधा

१—Tubero e—ट्युबरोज।

ऊँचा बढ़नेवाला होता है। त्वचा कुछ पिलाई लिये श्वेत कॉर्क के रङ्ग की, मृदु और मुलायम होती है। इससे निकृष्ट कोटि के कॉर्क (डाट) बनाये भी जाते हैं। काष्ठ (अन्दर की लकड़ी) कर्कश होने से मार्गों के दोनों ओर लगाने योग्य वृक्षों में नीमचमेली की गणना नहीं। उद्यान में यत्र-तत्र लगाने की दृष्टि से यह बहुत उपयुक्त है। छाया वृक्ष के रूप में इसकी सर्वथा उपयोगिता नहीं कारण, शाखाओं और पत्रों का प्रसार केवल शिखर पर होता है। तथापि सुन्दर आकृति, एक विलक्षण प्रकार की शिखरगत छटा तथा फूल आदि के कारण यह उद्यान-वृक्षों में स्थान पाने का अधिकारी है।



नीमचमेली की लकड़ी नक्काशी तथा फर्नीचर बनाने के काम भी आती है। भारत भर की सब प्रकार की हलकी, पथरीली अथवा काली भूमि में एवं समुद्र-सम धरातल से तीनेक हजार फुट की ऊँचाई तक यह बखूबी फूलता-फलता है।

इसके बीज बोकर पौधे तय्यार कर वे दो फुट के हो जायँ तो लगाये जा सकते हैं। परन्तु इसके मूल, जो दूर-दूर तक भूमि में प्रसृत होते हैं, उनसे फूटे हुए अङ्कुरों को भी उखाड़कर यथा स्थान लगा उत्तम वृक्ष तय्यार किये जा सकते हैं। कई बार अन्धड़ के कारण अथवा किसी दुर्घटनावश नीम-चमेली उखड़कर गिर पड़ता है तो मूल वृक्ष के आस-पास बड़ी संख्या में उसके छोटे-छोटे पौधे उग निकलते हैं। किसी खेत के निकट किंवा उद्यान में फूलों की क्यारियों में यह घटना हो तो मूल से निकलनेवाले छोटे पौधे अन्य पौधों को बहुत क्षति पहुँचाते हैं और सुन्दर वृक्षों के स्थान पर निलाई का काम खड़ा करते हैं।

अपनी इस विशेषता के कारण मध्यप्रदेश में तथा गोदावरी के कच्छ में नीमचमेली वनों में भी होने लगा है। इस पर लम्बी, सूखी लोबिये की-सी फलियाँ लगती हैं, जिनमें से पतले, चपटे तथा कागज के से पक्षवाले बीज निकलते हैं, जो हवा में उड़ते हुए बहुत दूर-दूर जाकर वृक्ष का प्रसार करते हैं।

गुलमौर

जो वृक्ष विदेश से भारत में आकर खूब अच्छी तरह फूले-फले हैं उनमें एक गुलमौर है। इसके जैसी शान, शोभा और जनप्रियता विदेश से भारत आये अन्य किसी उद्भिद में देखी नहीं जाती।

गुलमौर वर्ग के केवल तीन भेद एशिया और अफ्रीका में प्रसृत हैं। अपने यहाँ उनमें एक ही भेद कोई सौ वर्षों से बड़ी संख्या में उगाया जाता है।

सब कोई जानते हैं, गुलमौर की वृद्धि अति वेगसे होती है। इसका तना थोड़ी ऊँचाई तक

सीधा जाता है। बाद में चारों ओर शाखायें निकलती हैं और वृक्षका विस्तार होने लगता है। कुछ ही वर्षों में बड़ा शोभित और घटादार वृक्ष खड़ा हो जाता है। तने की छाल खुरदरी, गाढ़े नसवारी वर्ण की तथा कभी-कभी तरेड़ों वाली होती है। गुलमौर की शाखाओं पर छोटी-छोटी प्रशाखाएँ निकलती हैं और ऊपर पंख-सरीखे मुलायम और बड़े पत्ते आते हैं। पत्तों की मध्यवर्ती डंडी-पर अन्य डंडियाँ लगती हैं। इन पर इमली के पत्तोंके समान उपपत्र लगते हैं। मूलभूत पत्ते की डंडी पर उपदण्ड तथा उपदण्ड पर उपपत्र बहुत ही पास-पास निकलते हैं। इससे पत्ते का स्वरूप एक बड़े पंख-जैसा होता है। पत्तों का रङ्ग चमकीला हरा न होकर फीका हरा होता है।

ग्रीष्म के आदि में गुलमौर के सभी पत्ते झड़ जाते हैं। इस प्रकार जब हमें छाया की विशेष आवश्यकता होती है तभी इसकी छाया चली जाती है, यह एक त्रुटि गुलमौर में है। पर जानो इस दोष को छुपाने के लिए इसी समय गहरे लाल रङ्ग के फूल एक के पीछे एक खिलकर अल्प काल में ही सारे वृक्ष को फूलोंसे लाद देते हैं। बागमें, मार्गों के किनारे या वनमें जहां भी उगा हो इस प्रकार खिला हुआ गुलमौर दृष्टि पथ में आते ही चित्तको हठात् आकृष्ट कर लेता है। गुलमौर का पेड़ अकेला हो तब खिलने पर इतना सुन्दर दीखता है और कहीं इसकी वीथिका (पंक्ति) अथवा झुण्ड लगा दो तब इसकी शोभा आह्लादक नहीं तो आकर्षक तो आवश्य होती है।

अप्रैल के आरम्भ में सूखी-सी दीखती, शाखाओं पर पत्ते निकल आते हैं, तो भी ये लगभग चौमासे के आरम्भ तक रहते हैं। सामान्य तया फूलों का रङ्ग लाल होता है। पर कई वृक्षों पर गहरे लाल, गहरे नारंगी या लाल-पीले मिश्र रङ्ग के फूलों की भी बहार देखने में आती है। फूल की पांच पंखड़ियों में चार लाल अथवा नारंगी होती हैं, जबकि पांचवीं मध्यवर्ती पंखड़ी पर श्वेत या पीली चितकबरी सिराएँ होती हैं। फूल के दसों पुंकेसरों के तन्तु लम्बे, लाल रङ्ग के होते हैं। बीचका स्त्री केसर भी लाल चपटा होता है। इसमें जब बीज तय्यार होने लगते हैं तो बीचका भाग चपटा और खूब लंबा होकर फलियां बन जाती हैं। फलियां लगभग डेढ़ इञ्च चौड़ी और सूखने पर बहुत कठिन होती है। सूखने पर ये फलियां गिर नहीं जाती; किन्तु एकाध वर्ष तक भी पेड़ पर ही लटकी रहती हैं।

कई स्थानों पर छोटे बच्चों को गुलमौर बहुत प्रिय होता है। कारण, इसके फूल की कलियां मीठी होने से वे इसे बड़े चावसे खाते हैं, तथा फलियां आकार में लकड़ी की छोटी तलवार-जैसी होने से उनसे खेलने में बड़ा आनन्द आता है।

गुलमौर की लकड़ो बहुत मृदु होती है, अतः इसका विशेष उपयोग नहीं होता। मूल भी इसके बहुत गहरे न होने से कभी-कभी वर्षा या आंधी में समूचा पेड़ ही उखड़ आता है।

गुलमौर बगीचे में लगाया गया हो और इसे बारहों महीने आर्द्रता (नमी) मिलती रहे, अथवा सर्वदा पानी पिलाया जाय तो फूलों के स्थान पर पत्ते अधिक आते हैं। गुलमौर के जो वृक्ष निकृष्ट भूमि में उगते हैं, अथवा जिन्हें चौमासे के सिवाय अन्य ऋतुओं में पानी असुलभ होता है। उनमें फूलों की जैसी बहार होती है वैसी प्रचुर पानो के लाभवाले वृक्षों में नहीं होती।

गुलमौर समुद्र के कच्छ तथा सूखी जमीन में भी खूब उगता है। परन्तु जहां पाले का यत्किंचित् भी भय हो वहां इसे बहुत हानि होती है। गुलमौर

को काली, रेतीली और अनेक प्रकार की भूमि अनुकूल होती है।

वृक्ष की वृद्धि सामान्यतः बीज बोकर पौधे उगाने के द्वारा की जाती है। परन्तु जहाँ वर्षा खूब होती हो वहाँ यदि पास ही कहीं गुलमौर का पेड़ हो तो उसकी डाल काटकर गाड़ देने से नया पेड़ तैयार किया जा सकता है।

गुलमौर के बीज लम्बे, धूसर और श्वेत रेखाओं वाले तथा बहुत ही कठिन होते हैं। इन्हें उगने में कभी-कभी दो से तीन वर्ष भी लग जाते हैं। परन्तु सामान्यतः चौमासे के प्रारम्भ में इन्हें बोया जाय तो दो-तीन मास में ही छोटे पौधे खड़े हो सकते हैं। यदि ऐसा लगे कि बीजों द्वारा पौधे तैयार करने में बहुत समय निकल जायगा तो चौमासे में दो-तीन वृष्टियों के पीछे गुलमौर के नीचे मूल में से छोटे-छोटे बहुत से पौधे निकल आते हैं; उन्हें सावधानी से थोड़ी मिट्टी के साथ उखाड़ कर गमलों में डाल देना चाहिये तथा पर्याप्त पानी देते रहना चाहिये। इस विधि से थोड़े श्रम से बहुत से पौधे प्राप्त हो सकेंगे, जिन्हें बड़ा होने पर बगीचों में अथवा रास्तों पर लगाने के काम में लाया जा सकता है।

सुवर्ण पुष्प

भारत में अनादि काल से उगते आये तथा बाहर से आये वृक्षों में कई अति आकर्षक और उपयोगी हैं, इनमें एक सुवर्ण पुष्प है।

'सुवर्ण पुष्प' वृक्ष का मूल नाम नहीं है। वैदेशिक को अपने उच्चार-सौकर्य के लिये जैसे वाराणसी को बनारस, भरुच को ब्रोच तथा गुलमौर को गोल्ड मोहोर कहने का अधिकार है; वैसे ही हम भी इस वृक्ष को सुवर्ण पुष्प कह सकते हैं। इस नाम में कुछ अर्थ भी निहित है।

उद्भिद्वेत्ताओं ने इस वृक्ष को दो-तीन नाम दिये हैं। इन दिनों 'पेल्टोफोरम इनर्मी'[1] का नाम अधिक शास्त्रीय समझा जाने लगा है। पहले 'इनर्मी' अर्थात् निःशस्त्र के स्थान पर 'फेर्युजोनियम' अर्थात् ताम्र-वर्ण कहते थे जो इन नामों का अर्थ है। इस वृक्ष के काँटे नहीं होते अतः निःशस्त्र तथा शिम्बियाँ (फलियाँ) चपटी और ताम्रवर्ण होती हैं अतः 'फेर्युजीनियम' कहते हैं। पेल्टोफोरोस का अर्थ है अफ्रीकन ढाल। शिम्बियाँ तत्तुल्य आकृति की होने से इस वर्ग को पेल्टोफोरम नाम दिया गया है।

पेल्टोफोरम वर्ग के फूल पीले होते हैं। परन्तु सुवर्ण पुष्प या पेल्टोफोरम इनर्मी के फूल शुद्ध सुवर्ण के रङ्ग से हूबहू मिलते हैं, अतः हम इस वृक्ष को सुवर्ण पुष्प यह यथार्थ संज्ञा दे सकते हैं। सुवर्ण-पुष्प आस्ट्रेलिया, मलाया, श्रीलङ्का तथा अण्डमान द्वीपों में भी होता है। इन स्थलों की प्रकृति भारत के अधिकांश की प्रकृति के समान होने से इस वृक्ष को यहाँ स्थिर होने में जरा भी कठिनाई नहीं हुई। तथापि किसी-किसी कारण से ग्रामों में इसका अच्छा प्रसार नहीं हो पाया है। मुम्बई तथा अन्य नगरों में यह मार्गों के किनारे खूब देखा जाता है।

भव्य तथा बारहों मास हरे रहनेवाले इस वृक्ष का स्कन्ध (तना) मटमैले तथा नसवारी रङ्ग का होता है। शाखायें छोटी, पत्ते गहरे हरे रङ्ग के तथा गुलमौर के पत्तों से खूब मिलते होते हैं। इस साम्यवश कोई इसे 'पीला गुलमौर' भी कहते हैं। इसके पत्ते बड़े पत्ते की मध्य-वर्ती शाखाओं से निकलती प्रशाखाओं पर उपपत्र और उन पर भी इमली जैसे लघुपत्र होते हैं। लघुपत्र एक दूसरे के बहुत ही निकट और प्रचुर होने

(शेषांश ४२१ पृष्ठ पर)

1—Peltophorum inerme.

दालचीनी

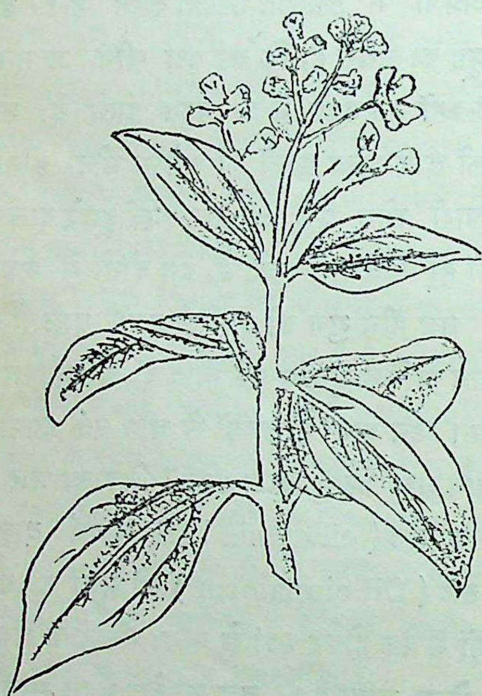
CINNAMON

वैद्य खेमराज शर्मा छांगाणी आयुर्वेदाचार्य

दालचीनी के वृक्ष सिंहलद्वीप, कोचीन, चीन, सुमात्रा, जावा आदि देशों में विशेष होते हैं। भारतवर्ष में भी ब्रह्म देश, मद्रास प्रान्त इत्यादि में साधारण पाये जाते हैं। हिमाचल प्रदेश से भी एक प्रकार की दालचीनी आती है, जिसे तेजपात की छाल या पहाड़ी तज के नाम से जाना जाता है; यह दालचीनी से न्यून गुणयुक्त होती है। दालचीनी का वृक्ष सदैव आर्द्र अर्थात हरा (ताजा) रहने वाला होता है। इस वृक्ष के हर भाग से दालचीनी की सुगन्ध आती है। यह सुगन्ध अति मधुर एवं मनमोहक होती है। इसके पत्ते अंडाकार साधारण लंबाई लिये होते हैं; इन पत्तों में तीन-तीन रेखाएँ प्रतीत होती हैं। पत्तों के लगने का स्थान वृक्ष के चारों ओर विशेषकर ऊपरी भाग में अधिक लगते हैं। पत्ते शुष्क हो जाने पर झड़ जाते हैं एवं इनसे लौंग के समान सुगन्ध निकलती है। वृक्ष के ऊपरी छोर पर श्वेत वर्ण के फूलों के गुच्छे निकलते हैं, जिनमें गुलाब के फूल की-सी सुगन्ध आती है। इसके फल करौंदे अथवा झड़बेरी के समान होते हैं। इन्हे अंग्रेजी में uassia Bads कहते हैं। इनमें भी दालचीनी के समान सुगन्ध एवं स्वाद में चरपरापन होता है। इन फलों से भी 'तैल' निकाला जाता है साथ ही कई रासायनिक लोग अर्क एवं अत्तर भी बनाते हैं।

इस वृक्ष की छाल का नाम ही "दालचीनी" है। इसकी कई जातियां पाई जाती हैं। सिंहलद्वीप में पाई जाने वाली जाति का नाम निघंटुकार ने "सिंहली" दिया है। इसकी छाल को अंग्रेजी में cassia bask. कहते हैं। डाक्टर बर्डवूड का कथन है, कि यह वृक्ष चीन, जापान एवं कहीं-कहीं भारतवर्ष में की बहुत होता है; क्योंकि इसकी छाल अन्य छालों की अपेक्षा मोटी होती है। व्यापारी लोग एक तो तज एवं दूसरे दालचीनी, दोनों ही विक्रियार्थ रखते हैं, इन दोनों में महदन्तर है। तज हीन गुण की होती है इसमें दालचीनी के समान अधिक सुगन्ध एवं स्वाद में चरपरापन नहीं होता। इन दोनों ही द्रव्यों से चीन एवं जापान में रासायनिक क्रिया द्वारा "तैल" निकाला जाता है। तज का तैल (oil cassia bark) एवं दालचीनी का तैल (Oil cinnamom) जो मनों की तदादमें ड्रामों में पैक होकर वहां से प्रायः संसार के सब देशों में भेजा जाता है। तज का तेल बहुत सस्ता और दालचीनी का तेल मंहगा होता है। इन्ही वृक्षों से मिलते जुलते अन्य वृक्ष यथा तेजपत्र, तमालध्वज, नीलध्वज आदि भी जवा एवं आंबोयना द्वीपों में पाये जाते हैं जो इनके समान ही गुणों में थोड़े बहुत होते हैं। उपरोक्त तीन चार प्रकार के वृक्ष जावा से सिंहल द्वीप में ले जाये गये हैं ऐसा लिनियस साहब का कथन है, किन्तु इसका वर्णन राजनिघंटुकार ने प्रथम अपने ग्रन्थ में करदिया है, अतः यह सर्वथा संभव है कि इसका शोध डच लोगों के पूर्व ही हो चुका है। सुश्रुत संहिता में इसे

शिरोविरेचनार्थ उपयोग में लिया है। राजनिघंटुकारने सिंहल, रामवल्लभ, बहुगंध इनके वृक्ष अलग वर्णित करके तमाल पत्र उसके पत्ते हैं ऐसा लिखा है। तामिल भाषा एवं अन्य कई भाषाओं में जो इसे (दालचीनी को) कड़वा लौंग कहते हैं वह एक अन्य जाति है; उसकी उत्पति उत्तरी कैनेडा प्रांत, खंडाला के किनारे पर तथा त्राबणकोर के जंगल में होती हैं ऐसा डॉ० मेत्री का कथन है।



दालचीनी के वृक्ष

सिंहलद्वीप में उत्पन्न होनेवाली दालचीनी सबसे उत्तम मानी गई है; उसका वर्ण फीका पीलापन लिये (लगभग स्वर्ण के रङ्ग का सा) पतली एवं चमकदार होती है। चीन में प्राप्त होनेवाली दालचीनी भी गुणों में श्रेष्ठ और उच्च मानी जाती है। अधिकतर बाजार में मिलनेवाली सस्ती दालचीनी तैल निकाली हुई और गुण रहित ही मिलती है। अतः उच्चतम दालचीनी देखकर ही औषधोपयोग में लेनी चाहिये।

दालचीनी के गुण

दालचीनी उष्ण, अग्निदीपक एवं वातनाशक है किन्तु यदि मोटी दालचीनी हुई तो वह आम-नाशक, सारक एवं शुक्रनाशक होती है। फीके पीत वर्ण की, चमकदार एवं पतली दालचीनी बल तथा धातुवर्द्धक है साथ ही स्तम्भक गुण होने से अति-सार में लाभदायक है और गर्भाशय को आकुंचन एवं उत्तेजक असर पहुंचाती है। दालचीनी मन को प्रसन्न रखनेवाली, रक्त में रहे हुए श्वेताणुओं के वर्धक, शारीरिक उत्तेजना, उबकाई एवं वमनादि में अत्यन्त लाभदायक है।

दालचीनी का औषधियों में उपयोग

(१) सिर में चक्कर आना, भ्रम (नींद के समय अथवा लेटते ही पृथ्वी घूम रही है ऐसा त्रास होना) तथा मस्तिष्क विकार में :—१ से ३ माशा तक दालचीनी का कपड़छान किया हुआ चूर्ण घृत एवं शक्कर के साथ लेना अत्युत्तम है; पूज्यपाद श्री छाँगाणीजी का यह चिर परीक्षित योग है।

(२) दांतों की रक्षा के हेतु :—दालचीनी, सैंधव एवं थोड़ा कपूर मिलाकर इसका बारीक चूर्ण दांतों पर मलना दांतों के लिये नितान्त उपयोगी है।

(३) पित्त की वमन होती हो तो :—दालचीनी का क्वाथ करके पिलाना लाभदायक है।

(४) जुखाम के कारण सिर दर्द हो तो :—दाल-चीनी को घिसकर (चन्दन की तरह) थोड़ा गरम करके लगाने तथा अधोलिखित दालचीनी का अर्क पिलाना हितकारी है।

(५) पेचिश एवं अतिसार में :—दालचीनी तथा सफेद कत्था दोनों को समभाग मिलाकर मधु के

साथ आधे माशे की मिकदार में देने से लाभ होता है।

(६) शूलसह आमातिसार में:—दालचीनी तथा बढ़िया राल २-२ माशा एवं बेल गिरी ३ माशा इनका चूर्ण गुड़ और दही के साथ दिन में चार-पांच बार लेना लाभदायक है।

(७) प्रसव वेदना एवं योनिमार्ग से रक्तश्राव होता हो तो:—दालचीनी का कपड़ छान चूर्ण १ माशे से ३/४ माशे तक उचित अनुपान से देना नितान्त लाभदायक है।

(८) वमन एवं जी मचलाने में:—दालचीनी मुंह में रखना या इसका क्वाथ लेना लाभदायक है।

(९) प्रतिश्याय (जुखाम), ज्वर युक्त कास एवं वातश्लेष्म ज्वर में:——दालचीनी, लौंग, सोंठ, जायफल, इलायची, सुखे हुए नागर बेल का पान, तुलसी, घास की चाय इन को थोड़ा-थोड़ा लेकर इसका क्वाथ बनाकर थोड़ी शक्कर मिलाकर पीना बहुत लाभकारी है। हमारा जहाँ तक अनुभव है कि इस क्वाथ को नूतन ज्वर में देने पर किसी प्रकार के अन्य उपद्रव न होते हुए ज्वर स्वयमेव स्वेद के द्वारा निकल जाता है। जुखाम को पकाने में इसके समान लाभकारी कोई प्रयोग देखने में नहीं आया।

क्रमशः

शेषांश]

नीमचमेली, गुलमौर और सुवर्णपुष्प

[४१८ वें पृष्ठ का

से वृक्ष की छाया खूब होती है। फूल आने पर गुलमौर के पत्ते झड़ जाते हैं, पर सुवर्ण पुष्प के पत्ते लगभग बारहो मास हरे रहते हैं। गुलमौर के पत्ता की मध्यशाखा तथा उपशाखायें हरी ही होती हैं; परन्तु सुवर्णपुष्प की शाखा के नीचे के भाग में कत्थई रंग की सुकुमार रोमावली होती है।

इस वृक्षके सुवर्ण वर्ण पुष्प केवल मनोहर ही नहीं होते, मधुर सौरभ भी उनमें होता है। सुवर्ण पुष्पों से परिपूर्ण लम्बी छड़ी के समान ये फूल शाखाओं के शिखरों पर ठसाठस लगते हैं, तब वृक्ष बड़ा मनभावना होता है। फूलों की कलिकाएँ भी सुकुमार और कत्थई रंग की होती हैं। फूल झड़ नेपर ताम्रवर्ण, चपटी, तीन-चार इञ्च लम्बी, डेढ़ इञ्च चौड़ी फलियों के झुण्ड के झुण्ड शाखाओं पर लगते हैं। वृक्ष की शोभा इनके कारण परिवर्तित और नये अनोखे आकर्षणवाली हो जाती है। ये हलकी, चपटी शिम्बियां पवनाहत हो उड़कर अनुकूल स्थान पर जा पड़ें तो कालक्रम से नये वृक्ष उत्पन्न हो सकते हैं। पर होता यह कदाचित् ही है। शिम्बियां शुष्क हो जाने पर उनसे बीज निकाल कर ही नया पौधा लगाया जा सकता है।

इस घटादार रमणीय वृक्ष में साधारणतया मार्च से मई तक फूल आने लगते हैं। अगस्त-सितम्बर में इस पर दुबारा फूल आते हैं। छोटे वृक्षों पर तो चाहे जिस ऋतु में बार-बार फूल आते हैं। इस प्रकार फूलों तथा ताम्रवर्ण फलियों के कारण यह सुवर्णपुष्प सर्वदा शोभित रहता है। नये पत्ते अधिकतः फरवरी में ही फूटते हैं। गुलमौर के समान बच्चे इसके फूलों को भी बड़े चाव से खाते हैं।

वृक्ष का स्कन्ध मध्य में दृढ़ और कालापन लिये होता है तथा घरेलू वस्तुएँ बनाने में व्यवहृत होता है। चारों ओर की छाल तथा उसके अन्दर का कुछ भाग मृदु अतः अनुपयुक्त होने से निकाल देना पड़ता है।

उद्यानों में यह वृक्ष हरियाले लोनों में भी लगाना निरापद है। कारण, अन्य वृक्षों के समान हरियावल के उगने और बढ़ने में यह बाधक नहीं होता।

अभिनन्दन समारोह

गत १६ आश्विन तदनुसार ता० १६-१०५० शुक्रवार के सायंकाल ४ बजे आमहर्स्ट स्ट्रीट स्थित आयुर्वेद गवेषणापीठ में बंगाल प्रान्तीय आयुर्वेद महा सण्डल और आयुर्वेद गवेषणापीठ की तरफ से अ० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ के भूतपूर्व सभापति पण्डित प्रवर श्रीयुत् दुर्गादत्त जी शास्त्री के अभिनन्दन में एक महती सभा हुई।

सभा के प्रारम्भ में डा० धीरेन्द्र नाथ शास्त्री के प्रस्ताव और क्षितिशचन्द्र पंचतीर्थ के समर्थन से श्री हरिवक्ष जी जोशी ने सभापति पद का आसन ग्रहण किया। इसके बाद सभापति तथा अन्यान्य कविराज विशिष्ट आगत सज्जनों को मालाऐं पहनायी गयीं।

तदुपरान्त गवेषणा पीठ की ओर से श्री विजय काली भट्टाचार्य ने वैद्य दुर्गादत्त जी शास्त्री का मार्मिक शब्दों में स्वागत किया। फिर उद्‌भिद शास्त्र के अध्यापक डा० टी० सी० नन्दी ने कहा कि इस दरिद्र देश के लिये आयुर्वेद ही सस्ती और सुलभ चिकित्सा है—इसलिये, इसकी उन्नति होनी चाहिए। डा० कार्तिकचन्द्र वसु ने वैद्य दुर्गादत्तजी का अभिनन्दन किया। महामहोपाध्याय पं० भागीरथ स्वामी ने अपने भाषण में कहा कि स्वाधीन भारत में आयुर्वेद के उत्थान का दायित्व यहां की सरकार पर है। 'सचित्र-आयुर्वेद' के सहकारी सम्पादक पं० सभाकान्त झा शास्त्री ने दुर्गादत्त जी का परिचय देते हुए यह चर्चा की कि श्री दुर्गादत्त जी ने भारत की स्वास्थ्य-मंत्रिणी श्रीमती राजकुमारी अमृतकौर से यह कहा था कि जब विज्ञान का ही आधार अब तक स्थिर नहीं हो सका है, तब आयुर्वेद को वह किस आधार पर अवैज्ञानिक ठहराती है।

पं० केशवदत्त जी शास्त्री ने आयुर्वेदोन्नति के लिये बंगाल के बंगलाभाषा भाषियों और इतर बंगला भाषा भाषियों एवं समस्त आयुर्वेद प्रेमियों से अनुरोध किया कि सभी लोग आयुर्वेदोन्नति के लिए इस दिशा में सचेष्ट हों।

श्री राजेन्द्र नाथ सांख्यतीर्थ ने कहा कि बड़ौदा सम्मेलन में आयुर्वेद महामण्ल ने चोपड़ा समिति की रिपोर्ट को स्वीकृत कर गलत काम किया। उन्होंने श्री दुर्गादत्त जी से अनुरोध किया कि आयुर्वेद महामंडल को वह चोपड़ा समिति की रिपोर्ट पर पुनः विचार करने के लिए प्रेरित करें।

उस दिन के सम्मानित अतिथि वैद्य दुर्गादत्त जी शास्त्री ने अपने भाषण के प्रारंभ में केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रिणी श्रीमती अमृतकौर के साथ हुइ बातचीत का उल्लेख करते हुए बतलाया कि स्वाथ्य मंत्रिणी पर डायरेक्टर जनरल डा० राजा की सलाह बहुत काम कर गयी है—इसी कारण वह एलोपैथी के मुकाबले आयुर्वेद को वैज्ञानिक मानने के लिये तैयार नहीं है। श्री दुर्गादत्त जी ने आगे कहा कि जिसे स्वास्थ्य मंत्रिणी विज्ञान समझे बैठी हैं, उससे साधारण हिंगुल और मकरध्वज का भेद भी नहीं जाना जाता। विज्ञान, अनुभव सिद्ध व्यस्थित ज्ञान पर ही आधारित होता है। आज से ढ़ाई हजार वर्ष

पूर्व का समय आधुनिकों की दृष्टि में अज्ञान का हो सकता है, किन्तु वही समय आयुर्वेद के चरमोत्कर्ष का था। उस युग में आयुर्वेद साहित्य बड़ा विशाल था।

भाषण का क्रम जारी रखते हुए शास्त्री जी ने कहा कि स्वास्थ्य मंत्रिणी से अपील की गयी है कि एलोपैथिक अस्पतालों में बीस प्रतिशत सीटें आयुर्वेद के लिये नियत करदें-तभी आयुर्वेद की वैज्ञानिकता का ज्ञान उन्हें हो सकेगा। उड़ीसा, आसाम, बिहार आदि राज्यों के स्वास्थ्य-मंत्रियों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने इस बात पर हर्ष प्रकट किया कि राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के हृदय में आयुर्वेद के लिए बड़ा सम्मान पूर्ण स्थान है।

तत्पश्चात् सभापति जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि अयुर्वेद स्वतः अपनी शक्ति पर आज तक जवित रहा है, और आगे भी जीवित रहेगा।

अन्त में श्री किशोरी मोहन शास्त्री ने समागत सज्जनों को धन्यवाद दिया और सभा विसर्जित की गयी।

त्रिची (हैदराबाद) आयुर्वेद सभा

त्रिची आयुर्वेद सभा की एक असाधारण बैठक से गत सितम्बर १६५० को, दिल्ली में ३१ अगस्त से २ सितम्बर को तृतीय स्वास्थ्य-मन्त्री सम्मेलन के अवसर पर नियुक्त समिति द्वारा प्रस्तावित एवं स्वीकृत सिफारिशों पर विचार करने के लिये हुई। सभा की अध्यक्षता श्री एस० एम० सुन्दर राजा चारियर ने की।

निम्नलिखित प्रस्ताव सर्व सम्मिति से काफी विचार-विमर्श के बाद स्वीकृत किये गये।

प्रस्ताव नं.१—त्रिची आयुर्वेद सभा, गत ३१ अगस्त १६५० को नयी दिल्ली में तृतीय स्वास्थ्य-मन्त्री सम्मेलन के अवसर पर भारत के प्रधान मन्त्री पं०जवाहर नेहरू तथा भारत की स्वास्थ्य-मंत्रिणी राजकुमारी अमृतकौर द्वारा दिए गए वक्तव्यों के सर्वथा भ्रान्ति-सूचक और आयुर्वेद के हित के प्रतिकूल समझती और उन पर खेद प्रकट करती है। सभा की राय में प्रधान-मन्त्री का यह वक्तव्य कि वात, पित्त, कफ का त्रिदोष-सिद्धान्त मध्ययुगीन यूरोपीय विचारों खास कर ह्यूमरथ्योरी के सिद्धान्तों से मिलता जुलता है तथा त्रिदोष सिद्धान्त के निरूपण में आधुनिक चिकित्साशास्त्र को विभिन्न दृष्टियाँ भी सहायक रही हैं सर्वथा निराधार और असत्य है।

इतना ही नहीं, कर्नल आर० एन० चोपड़ा और कैप्टेन जी० श्रीनिवास मूर्ति सरीखे आधुनिक चिकित्साविज्ञान के बड़े व्याख्याता एवं कलकत्ता के डा० डी० एन० बनर्जी जैसे लोगों के प्रधानत्व में नियुक्त समिति आयुर्वेद की गहरी छानबीन करने के बाद इस निष्कर्ष पर आयी कि आयुर्वेद पूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है तथा भारत की विशाल जन-संख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति, निषेधात्मक एवं औपचारिक दोनों ही दृष्टि से आयुर्वेद ही करता रहा है और अब भी पूर्णतया कर सकता है।

प्रस्ताव नं.२—केन्द्र और राज्यों के स्वास्थ्य-मंत्रियों के प्रति देशी दवाओं के सम्बन्ध में नियुक्त-समितियों की रिपोर्टों पर विचार करने, स्टेट हेल्थ आर्गनाइजेस" में देशी चिकित्सकों को शामिल कर लेने की सिफारिश देने तथा भारत सरकार को आयुर्वेद में बृहत् अधार पर इस दक्षता के साथ कि आयुवद का कोई अङ्ग छूटने न पाये—शोधका काम शुरू करने के लिये, सभा ने धन्यवाद दिया। साथ ही

प्रस्ताव के पिछले अंश में सरकार से सिफारिश की गयी कि आयुर्वेदीय-साहित्य और आयुर्वेदीय पाठ्य-पुस्तकों का सम्पादन और प्रकाशन इस कुशलता और विविधता के साथ किया जाय कि आयुर्वेद का कोई भी अङ्ग अछूता नही रहे।

स्वास्थ्य-मन्त्री सम्मेलन द्वारा भारत भर में शिक्षण कार्य चलाने के सम्बन्ध में लिये गये निर्णय पर भी सभा ने खेद प्रकट किया और बताया कि शिक्षण पाठ्यक्रम गलत विवेचन पर आधारित है, और निश्चय ही यह कदम निम्नलिखित कारणों में से आयुर्वेद की वृद्धि में सहायक होने की अपेक्षा आयुर्वेद को पीछे ले जाने वाला ही सिद्ध होगा।

प्रस्तावित डिग्री और डिप्लोमा कोर्स में अध्ययन के लिये जो विषय निर्धारित किये गये हैं, वे सब के सब आधुनिक चिकित्सा शास्त्र सम्बन्धी ही हैं। कोर्स में अनिवार्य तौर पर निदान शास्त्र (पैथोलोजी) शरीर क्रिया विज्ञान (फिजियोलॉजी) फारमोकोलाजी, मेटेरिया मेडिका, थेराप्युटिक्स जैसे विषयों का ही बाहुल्य है। आयुर्वेद के विकास में ये सहायक नहीं होगें बल्कि आयुर्वेद के वे अङ्ग जो अब तक अविकसित अवस्था में हैं, वे भी उपेक्षित ही रहेंगे—साथ ही जो कुछ भी आयुर्वेद विषयक पाठ्यक्रम है भी, वह भी नहीं रह पायेगा—अन्त में इस प्रणाली से आयुर्वेद का ह्रास ही होगा।

स्वास्थ्य मन्त्री सम्मेलन ने जिस शिक्षण प्रणाली को अपनाने पर विचार किया है, उसके लिये आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र के एम० बी० बी० एस० और एल० एम० पी० स्टैण्डर्ड के विद्यार्थी ही अध्ययन के लिए भर्ती किए जायँगे—जो अनिवार्य तौर पर आयुर्वेद से अनभिज्ञ रहते हैं-अतः ऐसे लोगों का अपने को आयुर्वेदज्ञ घोषित करना निश्चय ही विडम्बना है।

प्रस्ताव नं.—२ त्रिची आयुर्वेद सभा इन बातों पर जोर देती है और केन्द्र तथा राज्यों की सरकारों एवं समस्त सम्बन्धित अधिकारियों से अनुनय करती है कि जब तक पूर्ण विवेचन और गवेषण के बाद आयुर्वेद के अंग-उपांगों का स्वरूप आयुर्वेदीय वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर शोधित नहीं हो जाता, तब तक के लिये आयुर्वेद विषयक शिक्षण कार्य प्रारम्भ करने के लिये स्कूलों और कालेजों की स्थापना स्थगित रखें। सभा की यह राय है कि इस मध्य काल में आयुर्वेदीय साहित्य का प्रणयन एवं सम्पादन कार्य चलाया जाय - साथ ही आयुर्वेद के अधिकारी व्याख्याताओं के सहयोग से पाठ्य-पुस्तकों का प्रत्येक विषय क्रमानुसार संकलन किया जाय।

सभा की निश्चित राय है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित होनेवाली अनुसन्धान संस्था (In s[ituli of insearch) की सफलता के लिये उसके मुख्य स्थानों एवं व्यवस्था सम्बन्धी अन्य पदों पर भी केवल आयुर्वेदज्ञ वैद्यों को ही नियुक्त किया जाय। और तभी कालेजों को खोलने में एवं आयुर्वेद के मान-निर्धारण (Standari solian) का प्रश्न उठना चाहिए - क्योंकि तब तक आयुर्वेद की सभी शाखाओं पर प्रकाश डालनेवाली पाठ्य-पुस्तकें बन चुकी होंगी और आयुर्वेद विज्ञान अपनी मौलिक भित्ति पर आधारित दिखायी देगा और आयुर्वेद अपने अङ्ग-उपांगों को समृद्ध करने की स्थिति में भी होगा।

वैद्यनाथ रसभस्में

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की रसभस्म-निर्माणशाला में भस्में और कूपीपक्व रसायन शास्त्रोक्त रीति से बड़ी सावधानी के साथ तैयार कराये जाते हैं। फलस्वरूप वे माता के दूध की तरह निर्दोष और गुणकारी होते हैं। हमारी यह रसायनशाला कलकारखानों की भीड़ व हड़बड़ से बिल्कुल अलग, सुदूर देहात में है, जहाँ हमारा एजेन्सी-विभाग आदि कोई विभाग नहीं है, रसभस्मों के अतिरिक्त वहाँ किसी दवा का निर्माण भी नहीं होता। रसभस्मों के निर्माण के लिए उचित ध्यान और नितान्त एकाग्रता के साथ रसभस्में उचित ढँग से नियमानुकूल बन सकें, इसका सर्वोत्तम प्रबन्ध हमारी इस निर्माणशाला में है। प्रत्येक भस्म इस तरह सर्वाङ्गपूर्ण रीति से निर्मित होने के बाद ही इस निर्माणशाला से बिक्री का प्रबन्ध करने वाली हमारी शाखाओं और बिक्री केन्द्रों को प्राप्त होती है।

देहात में जहाँ पर हमारी यह भस्मनिर्माणशाला है, वहाँ से सब से नजदीक का रेलवे स्टेशन २४ मील पर है। परमात्मा की कृपा से भस्म और कूपीपक्व रसायन बनाने की बहुत-सी सुविधाएँ यहाँ पर हमको अपने आप मिल गयी हैं। इस जगह मकान भाड़ा नहीं लगता; गोमूत्र, घृतकुमारी, अर्कक्षीर आदि की कीमत नहीं लगती, मजदूरी बहुत सस्ती है, वन्योपल हजारों मन बिना कीमत के मिलते हैं। रसायनशाला के पास में ही हजारों मन मण्डूर पड़ा हुआ है। यह मण्डूर निश्चय ही सौ वर्ष से ज्यादा पुराना है। प्राचीन काल में यहाँ लोह बनता था। इन सहूलियतों के कारण बहुत कम खर्च में वैद्यनाथ रसभस्में उत्तम से उत्तम तैयार होती हैं।

शास्त्र में कहा है कि आसव, भस्में और रस पुराने होने पर अधिक गुण करते हैं। इस रसायनशाला में प्रतिवर्ष लोह, मण्डूर, अभ्रक आदि भस्में ५-५, ७-७ मन से ज्यादा तैयार होकर पुरानी होने पर ही बिक्री की जाती हैं।

इन रसभस्मों का शास्त्रीय निर्माण इतना झंझटपूर्ण है कि चिकित्सक (वैद्य) यदि स्वयं इनका निर्माण करने बैठे तो उसकी प्रैक्टिस में भी बाधा पड़ती है और भस्मों के शास्त्रीय निर्माण में भी सन्देह बना रहता है। वैद्यों को इस झंझट से बचाने के लिए हमारा बराबर यह उद्योग है कि स्वयं बनाने में जितना खर्च होता है, प्रायः उसी खर्च में हम वैद्यों को भस्में दें। ग्राहकों की सुविधा के लिए जहाँ हम कीमती भस्मों की एक आना भर तक छोटी पैकिंग देते हैं, वहाँ चिकित्सक वैद्यों के लिए बड़ी-बड़ी पैकिंगों की भी सुविधा की गयी है। उसके पूर्ण नियम और मूल्य अलग से पत्र लिखकर मँगा सकते हैं।

Regd. No. C. 3142

आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति की रक्षा और उन्नति के लिए

इस संस्था को सहयोग दें

"विशेष रूप से जो महत्त्वपूर्ण बात मुझे जान पड़ी, वह है इस लिमिटेड संस्था (श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०) के संचालकों द्वारा प्रकाशित वह ओजस्वी वक्तव्य, जिसमें इन्होंने उन उद्देश्यों को स्पष्ट किया है, जो इस संस्था के संचालन में इन्होंने अपने सामने रखे हैं। यह केवल एक व्यापारिक कारखाना ही नहीं है। इसलिए यह सिर्फ धनोपार्जन के लिए नफा कमाने की ही स्कीम नहीं बनाता। इसका उद्देश्य है देश में आयुर्वेद की शिक्षा और आयुर्वेदीय औषधियों के प्रचार को प्रोत्साहन देकर जनता का कल्याण करना। मेरे विचार में यह बिहार की एक प्रमुख संस्था है। आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति की रक्षा और उन्नति से जिन्हें भी दिलचस्पी हो, उन्हें चाहिए कि वे इस संस्था के संचालकों को हर प्रकार की सहायता और सहयोग प्रदान करें, ताकि ये इस संस्था द्वारा वैज्ञानिक अनुसन्धान और आविष्कार के क्षेत्र का उत्तरोत्तर विस्तार कर सकें।"

गत वर्ष श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की पटना-शाखा द्वारा आयोजित श्रीधन्वन्तरि-जयन्ती-समारोह में भाषण देते हुए माननीय बिहार-गवर्नर लोकनायक श्री माधव श्रीहरि अणे ने अपना उपर्युक्त मत प्रकट किया था। भारत की राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद के आप महान् पृष्ठपोषक हैं और आयुर्वेद के पुनरुत्थान के विषय में आपके जो महत्त्वपूर्ण विचार "सचित्र आयुर्वेद" के इसी अंक में अन्यत्र उद्धृत हैं, वे प्रत्येक वैद्य और आयुर्वेद-प्रेमी के लिए मननीय हैं।



सचित्र आयुर्वेद

] कलकत्ता, दिसम्बर १९५० [अङ्क

हमारी आशा के केन्द्र

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन के अध्यक्ष आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य की सत्प्रेरणा से आयुर्वेद महासम्मेलन ने २४ दिसम्बर से २ जनवरी तक श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० पटना में निखिल भारतीय आयुर्वेद शास्त्र-चर्चा परिषद् का अधिवेशन करने का निश्चय किया है। आशा करनी चाहिए कि यह परिषद् अनेक विवादास्पद विषयों का निर्णय कर सकेगी।

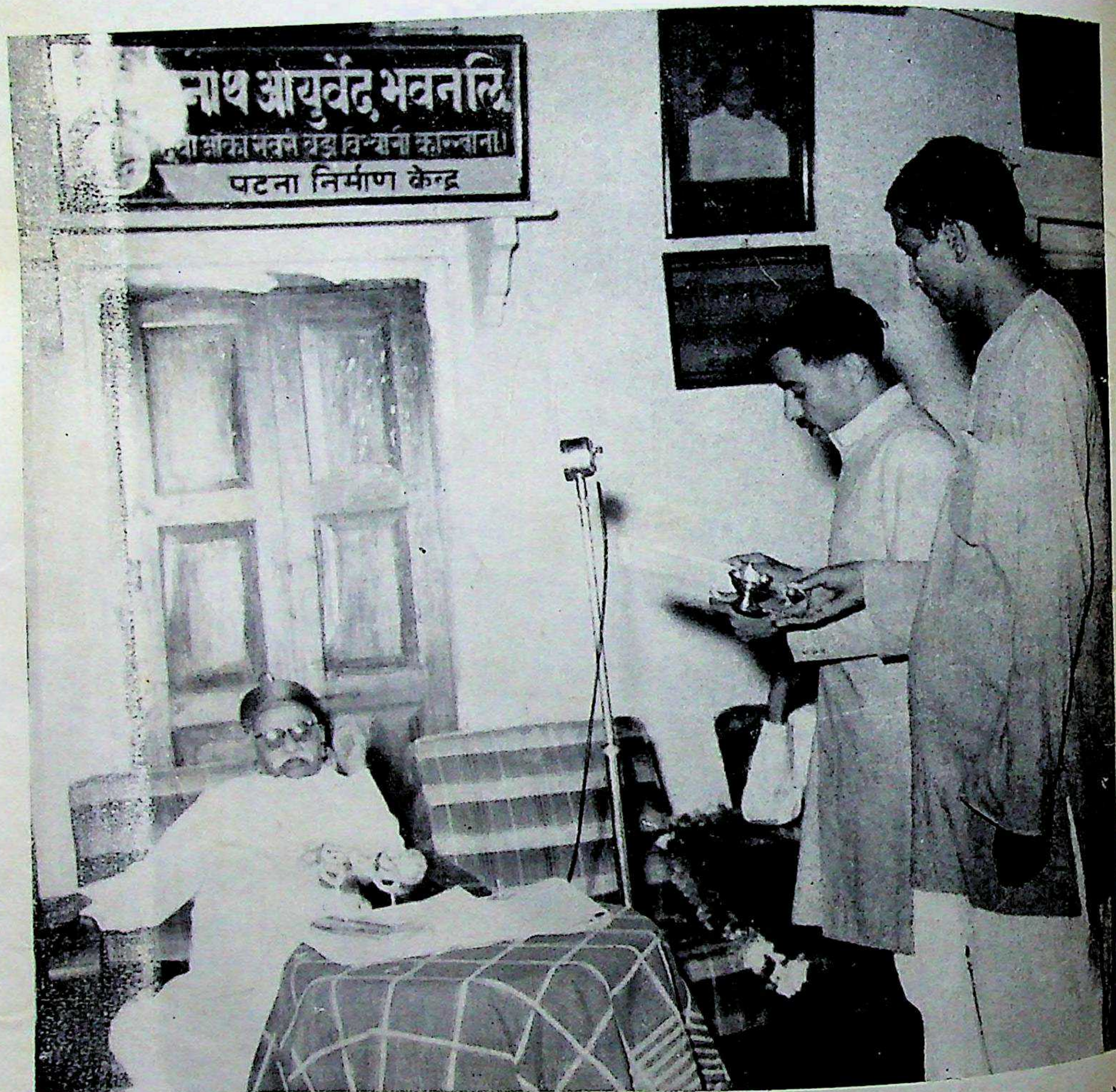


वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

विषय-सूची

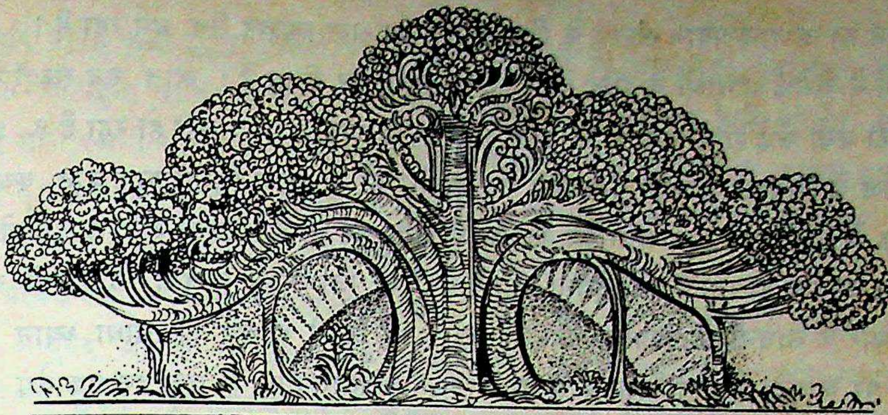
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के

पटना-निर्माणकेन्द्र में धन्वन्तरि-जयन्ती-महोत्सव



[illegible] को अभिनन्दन पत्र—पण्डित दुर्गाप्रसाद शर्मा (दायीं ओर खड़े हुए) अभिनन्दन-पत्र पढ़ रहे हैं जो [illegible] अध्यक्ष महामान्य बिहार-गवर्नर को श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की समस्त शाखाओं के संचालकों व [illegible] की ओर से समर्पित किया गया। लोकनायक अणे चित्र में बैठे हुए दिखायी दे रहे हैं।

* श्रीधन्वन्तरये नमः *



सचित्र आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ३	कलकत्ता, दिसम्बर १९५०	अङ्क ६

आयुर्वेदीय शिक्षा

भारतवर्ष के आचार्यों ने आयुर्वेद शब्द की कल्पना करके ही इस की क्षमता का प्रदर्शन कर दिया है।

'आयुर्वेत्ति विन्दत्यनेन इति आयुर्वेदः'। संसार में कौन ऐसा व्यक्ति है, जो आयु का ज्ञान नहीं चाहता ? इसलिए पीछे के आचार्यों ने आयुर्वेद की व्याख्या करते हुए स्पष्टीकरण किया है कि—

आयुर्हितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा।
विद्यते यत्र विद्वद्भिः आयुर्वेदः स उच्यते ॥

इस निर्णय को देख कर किस विद्वान वैद्य के अन्दर यह शंका रहेगी कि आयु का हिताहित और व्याधि का निदान और शमन जानने में यत्न न करना चाहिए।

यदि यह ज्ञान आज के वायुयान के गमनागमन के समय में भारत से अमेरिका तक व्यवहार में लाया जाय तो क्या वैद्यों की किसी प्रकार भी हानि होने की सम्भावना है ?

इस प्रकार, यदि अमेरिका निवासी इस सिद्धान्त का उपयोग करता है, तो क्या वह वैद्य नहीं कहला सकता है ?

सम्पादकीय

स्वाध्याय और प्रवचन

जीवन के द्वितीय सोपान पर पदन्यास करने के लिये उद्यत नव-स्नातक को सम्बोधन कर प्राचीन आचार्य अनेक जीवनोपयोगी सूत्रों का उपदेश करते थे। इन सूत्रों में एक था : स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् —अर्थात्—वत्स, कहने को तुम्हारा आगम-काल (शिक्षा-काल) समाप्त हो चुका है। परन्तु विद्या इतनी ही नहीं है। अतः निरन्तर स्वाध्याय द्वारा अपनी विद्या में वृद्धि किया करना। यह स्वाध्याय किंवा विद्या-ग्रहण स्वयं पुस्तकों के अनुशीलन से हो सकता है ; अथवा प्रयत्नोपार्जित विद्या का जन-कल्याण के लिए प्रसार करनेवाले अतिथि महात्माओं के उपदेश-श्रवण से भी हो सकता है। घर-घर विद्या की सरिता बहाने वाले इन अतिथियों का लाभ जनता ले इसी प्रयोजन से समावर्तन (दीक्षान्त) के समय यह भी उपदेश दिया जाता था : अतिथिदेवोभव—अर्थात्, माता-पिता आदि के समान अतिथि को भी देव मानकर उसकी अर्चना करना। परन्तु, विद्या की अभिवृद्धि का स्वाध्याय से भी बढ़कर उपाय है—उसका प्रवचन, प्राप्त विद्या का विभिन्न प्रकार से वितरण। नीतिकारों ने 'व्ययतो वृद्धिमायाति', 'व्यये कृते वर्धत एव नित्यम्' आदि वचनों द्वारा प्रवचन की ही महत्ता प्रतिपादित की है।

गृहस्थाश्रम में ही नहीं, आगम-काल में भी स्वाध्याय और उसके साथ प्रवचन की विद्या-ग्रहण में उपयोगिता का प्रत्यक्ष प्राचीनों ने किया था। तैत्तिरीयोपनिषद् में प्राचीन काल में पढ़ाये जानेवाले विषयों की एक सूची-सी दी है। प्रत्येक विषय के नाम के साथ 'स्वाध्याय और प्रवचन' ये दो शब्द समान रूप से जुड़े हैं। इसका आशय यह है कि इन विषयों के ग्रहण के दो अनुभवसिद्ध उपाय हैं: स्वाध्याय और प्रवचन। इसी से प्राचीन विद्यापीठों का जो वर्णन पाया जाता है उसमें यही पद्धति हम देखते हैं कि, आचार्य स्वयं थोड़े शिष्यों को पढ़ाते थे ; वे शिष्य अन्य छात्रों को और वे अन्यों को। इस प्रकार उत्तरोत्तर स्वाध्याय और प्रवचन (अध्ययन और अध्यापन) के क्रम से एक ही आचार्य अनेक सहस्र शिष्यों को पढ़ा सकते थे।

मुझे लगता है, वैद्यों तथा वैद्येतरों में आयुर्वेद के प्रसार के लिए स्वाध्याय और प्रवचन की युगानुरूप पद्धति का प्रवर्तन करने की अविलम्ब आवश्यकता है। इसका एक रूप इसी अङ्क में समाचार-विभाग में दिये एक समाचार में वाचक देख सकते हैं। सहयोगी आयुर्वेद-जगत् के सम्पादक श्री प्रतापकुमार भाई ने एक पाक्षिक व्याख्यान-माला की आयोजना की है। वे यह व्याख्यान-माला प्रति वर्ष चालू रखना चाहते हैं। परन्तु, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, यह व्याख्यान-माला तो स्वाध्याय और प्रवचन का एक रूप है। घर-घर और गली-गली में जहाँ भी कोई आयुर्वेद-प्रेमी रहता हो, यह पद्धति चलायी जा सकती है। अहमदाबाद के एक आयुर्वेद-भक्त डॉक्टर को मैं जानता हूँ, । किसी वैद्य से अधिक वे आयुर्वेद की सेवा कर रहे हैं। अन्य प्रयत्नों के अतिरिक्त वे आयुर्वेद का एक प्रचुर-सामग्रीयुक्त साप्ताहिक भी प्रकाशित करते हैं। आयुर्वेद की सेवा के

लिये उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत लिया है। इन महानुभाव ने यह नियम घोषित कर दिया है कि, इनके घर में आयुर्वेद को छोड़ अन्य किसी विषय की बात न होनी चाहिये। तदितर चर्चा करते हुए छोटे भाई या बहिन भी घर में नहीं रह सकते। चरक-संहिता का भाषान्तर भी आपने हाल ही में प्रकाशित किया है। आयुर्वेद के ही स्वाध्याय और प्रवचन का यह व्रत पूर्णतया नहीं तो अंशतया ही कोई भी आयुर्वेद-प्रेमी ले सकते और अनायास पाल सकते हैं।

यह किसे विदित नहीं कि काल-ग्रस्त होने से आयुर्वेद के कितने ही अंश अध्ययन और अध्यापन का विषय ही नहीं बनते—वे अछूते पड़े रहते हैं। कितने ही अंश दुर्बोध होने से किंवा आधुनिक विज्ञान के चाकचक्य में अयथार्थ और अविश्वसनीय प्रतीत होने से केवल अध्यापकों के व्याख्यान और परीक्षा में विद्यार्थियों के तद्वत् उद्वमन का विषय बने रहते हैं। स्वाध्याय में जिनकी रुचि और शक्ति है, वे मुहुर्मुहुः स्वाध्याय कर इन तथा अन्य वस्तुओं को प्रकाश में लायें, मित्रों के साथ चर्चा करें, जिनकी प्रैक्टिस अच्छी चलती हो अथवा जो आयुर्वेदिक हॉस्पिटलों में कार्य करते हों उन्हें किसी प्रकार इन वस्तुओं का प्रयोग कर देखने का अनुरोध करें और उनके सत्यासत्य के निर्णय एवं इतर पद्धतियों के साथ तुलना में सहायक बनें।

स्वाध्याय और प्रवचन का एक अन्य भी रूप हो सकता है। कितने ही प्राचीन वैद्यों और वैद्येतरों के पास परम्परागत अथवा अन्य प्रकार से प्राप्त अल्प अथवा अनल्प प्रयत्न से साध्य, अनुभवसिद्ध योग होते हैं। इनके समीप जा अनुरोधादि द्वारा उनकी उपलब्धि का प्रयत्न किया जा सकता है। अन्यथा, जैसा कि हम देखते हैं, यह अनुभव स्मृति-शेष होता जा रहा है—हो जायगा। आयुर्वेद से जिन्होंने कुछ भी प्राप्ति की है उन्हें और नहीं तो ऋषि-ऋण से मुक्त होने के लिए इतना तो करना ही चाहिये। वृद्ध वैद्यों की यशस्विता सदा योगों से ही नहीं होती। उपचार-पद्धति आदि में भी विशिष्टता हो सकती है, जिसका ज्ञान उनकी उपासना से प्राप्त किया जा सकता है।

विद्वान् वैद्यों के लिए ऋषि-ऋण से मुक्ति का और भी उपाय है। आनन्द का विषय है कि केवल आयुर्वेद-विषयक अगणित पत्र-पत्रिकाएँ इन दिनों प्रकाशित होने लगी हैं। इनमें कइयों के संचालक फार्मेसीवाले हैं, पर कई व्यक्तियों के उत्साह का ही परिणाम हैं। इन सभी पत्रों के कार्यकर्ताओं के सम्पर्क में आनेवाले महाशयों को सुविदित होगा कि, न्यूनाधिक दक्षिणा देने पर भी उन्हें लेखक नहीं मिलते। जिन्होंने कभी लेखनी नहीं उठायी उन्हें सतत अनुरोध द्वारा अपनी अन्तर्हित शक्तियों को पहिचानने के लिये पत्र-संचालकों को इस युग का 'जाम्बवान्' बनना है, यह ध्येय वे सदा सामने रखें। सिद्ध लेखकों से भी लेख प्राप्त करना कई कारणों से सुगम नहीं होता। पर यह किये बिना छुटकारा भी तो नहीं।

विद्वानों विशेषतः अध्यापकों, को इस दिशा में अन्य प्रकार से भी प्रयत्न करना होगा। शक्य हो नो वे अकेले और संभव हो तो अपना ही विषय अन्य विद्यालयों में पढ़ानेवाले शिक्षकों के साथ मिलकर अपने विषय पर ग्रन्थनिर्माण करें। ग्रन्थ-निर्माण आयुर्वेदीय विषयों के मूल-रहित या मूल-सहित संग्रह के रूप में, नये आयुर्वेदोपयोगी विषयों पर पृथक् ग्रन्थ के रूप में किंवा दोनों के समन्वय के रूप में किया जा सकता है। अध्यापकों और परीक्षकों का यह पुराना अनुभव है कि, विद्यार्थियों

की आयुर्वेद में अप्रवृत्ति का एक कारण ग्रन्थों का अभाव भी है। पर इस दिशा में भी चाहिए वैसा और उतना प्रयत्न नहीं हो रहा है।

अनुभव-प्रधान संभाषा के विषय में भी एक चेतावनी देना उपयुक्त-सा प्रतीत होता है। अत्युक्ति शायद हम वैद्यों को उत्तराधिकार के रूप में मिली है। एकाध या कुछ अधिक जीर्णज्वर के रोगी ठीक हो गये तो हम डिण्डिम-घोष करते हैं कि हमारे पास क्षय की रामबाण दवा है; पुराने व्रण के दो रोगी अच्छे हो गये तो हमारा यह दावा होता है कि हमारे पास कंन्सर का शत-प्रतिशत उपाय है। अधिक उदाहरण देकर अपने ऊपर आप कीच क्यों उछाला जाय? कदाचित् ऐसी ही थोथी घोषणाओं से उद्विग्न हो एक-डेढ़ वर्ष पूर्व हमारे राज्य के मुख्य मन्त्री श्री खेर ने एक वैद्यसम्मेलन में भाषण करते हुए अह्वान सा दिया था कि, मैं एक गांव वैद्यों को सौंपता हूँ; उसके आरोग्य की संपूर्ण जिम्मेदारी वैद्यों की रही। परन्तु उनका आह्वान उत्तर-शून्य रहा। प्रत्येक औषध का अनेक रोगियों पर प्रयोग, उस प्रयोग का लेखबद्ध विवरण (रेकर्ड), इसी समय उसी रोग के अन्य रोगियों पर अन्य औषध का उपयोग, दोनों रोगियों के वर्गों को दिये उपचार की तुलना, प्राप्त परिणाम का प्रकाशन, तदनुसार अन्य स्थलों पर इसी पद्धति से उस प्रयोग की परीक्षा, संक्षेप में इस पद्धति से आज के परीक्षक किसी औषध का अनुसंधान करते हैं। आयुर्वेदीय औषधों की भी इस प्रकार परीक्षा होगी, तब ही तो वैज्ञानिक-दृष्टि-प्राप्त अन्य पद्धतियों के चिकित्सक को उसमें कुछ जानने और विश्वास करने योग्य तत्त्व उपलब्ध होगा।

दिसम्बर के अन्त और जनवरी के आरम्भ में पटना में नि० भा० वैद्य महासम्मेलन की ओर से होनेवाली संभाषा में होनेवाली चर्चा अति गूढ़ विषयों पर होगी। परन्तु इसी पद्धति का अवलम्बन करती हुई प्रत्येक वैद्य-संस्था अपने यहाँ प्रति सप्ताह या प्रति पक्ष नियत रूप से अधिवेशन कर सकती है, जिनमें सम्भव हो तो विद्वानों और अनुभवियों के भाषण हों; इतना न हो तो एकाध रोग पर परस्पर चर्चा की जाय; यह भी संभव न हो तो कोई भी संहिता या अन्य ग्रन्थ ले उसका क्रमशः स्वाध्याय किया जाय। बने तो किन्ही आयुर्वेद-प्रेमी डॉक्टर को भी भाषण देने या चर्चा करने के लिए आमंत्रित किया जाय। कईबार आयुर्वेद का सिद्धान्त डॉक्टर बन्धु वैद्यों की अपेक्षया अधिक अच्छी तरह समझते देखे गये हैं।

मैं जानता हूं ऊपर की पंक्तियों में मैंने जो प्रार्थना की है, वह नयी नहीं है। कई स्थानों में इसके अनुसार यत्किंचित् कार्य होता भी है। पर जहाँ न होता हो, वहाँ प्रारम्भ करने के लिए तथा जहाँ होता हो वहाँ उसे सविशेष प्रगति देने के उद्देश्य से ही यह पुनरुक्त प्रार्थना की गयी है।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के

पटना-निर्माणकेन्द्र में धन्वन्तरि-जयन्ती-महोत्सव



...वीं ओर खड़े हुए—पण्डित दुर्गाप्रसाद शर्मा अभिभाषण पढ़ रहे हैं।

...ठे हुए, बाएँ से—पण्डित रामदयाल जोशी, मैनेजिंग डाइरेक्टर, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ; उत्सव के अध्यक्ष ...लोकनायक अणे ; बिहार के माननीय चिकित्सा व स्वायत्तशासन-मन्त्री पण्डित विनोदानन्द झा ; सुप्रसिद्ध विद्वान् बाबा साहब परांजपे ; श्री रामराज जजवाड़े एम० पी० और श्री मोतीलाल केजड़ीवाल।



प्रस्तावित पटना शास्त्रचर्चा परिषद में

विचार्य विषय

डा० डी० एन० बनर्जी, एम० बी० (कलकत्ता) एम० डी० (बर्लिन)

हमारे विद्वान् अध्यक्ष, वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने (सचित्र आयुर्वेद, अक्टूबर, १९५०). बहुत उपयुक्त ही, आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विषय में एक निश्चय पर पहुँचने की दृष्टि से विचारणीय विषयों का विस्तार किया है। साथ ही आपने अन्यों से भी इस विषय में अपना अभिमत देने के लिये और इस पत्रिका में प्रकाशित करने के लिये अनुरोध किया है। इसने मुझे निम्नोक्त पंक्तियाँ लिखने की प्रेरणा दी है।

क. हमारे अध्यक्ष ने हमारे सामने दस विषय रखे हैं। आइये, इन दस में से प्रथम तीन को हम एक साथ लें। ये विषय हैं—

१. पंचमहाभूतों का, वैदिक, दार्शनिक तथा आयुर्वेदिक साहित्य में प्रतिपादित यथार्थ स्वरूप क्या है ?

२. आधुनिक विज्ञान सम्मत ९२ तत्वों (एलिमेण्ट्स) के साथ पंच महाभूतों का समन्वय कहाँ तक और किस प्रकार शक्य है ?

३. पंच महाभूतों के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं—(क) पंच महाभूत स्वतन्त्र द्रव्य हैं ; (ख) पंचमहाभूत जड़ द्रव्यों की पाँच अवस्था विशेष हैं ; (ग) पंचमहाभूत आधुनिक विज्ञान सम्मत ९२ तत्वों के पाँच वर्ग हैं। इन तीन मतों में से आयुर्वेद प्रवर्तक आचार्यों को कौन-सा मत अभिप्रेत था ? यदि ९२ तत्वों का पार्थिव आदि पाँच वर्गों में समावेश हो सकता है, तो कौन से तत्त्व का अन्तर्भाव किस वर्ग में हो सकता है ?

यह एक बहुत ही जटिल और सूक्ष्म विषय है और जो इस विषय पर विचार-विमर्श करें, उनका ज्ञान द्विविध होना चाहिये। प्रथम तो उन्हें भौतिक शास्त्र, विशेष रूप से न्यूक्लीयर फिजिक्स का उच्च श्रेणी का ज्ञान होना चाहिए। दूसरे, उन्हें दर्शनों की उस विशिष्टता का भी ज्ञान होना चाहिये जिसे कि प्रौढ़ विद्वान B. N. Seal ने 'हिन्दुओं का पॉजिटिव सायन्स' कहा है, जिसका कि स्पष्टीकरण उन्होंने निम्नोक्त शब्दों में किया है—"सांख्य और पातंजल दर्शन विकासवाद के सिद्धान्तों के अनुसार सृष्टि के उत्पत्तिक्रम का वर्णन करते हैं, वैशेषिक और न्याय-दर्शन शास्त्रीय ज्ञान की पद्धति निरूपित करते हैं तथा मेकेनिक्स, फीजिक्स एवं केमिस्ट्री की धारणाएँ उपस्थित करते हैं वेदान्त और पूर्व मीमांसा, तथा कुछ कम अंशों में, बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शन यत्र-तत्र कुछ रोचक सामग्री प्रदान करते हैं, परन्तु इस विषय में उनका प्रमुख मूल्य आलोचनात्मक ही है।" (पी० सी० राय कृत "हिन्दू रसायन शास्त्र का इतिहास" खण्ड २, पृष्ठ ५९ में बी० एन० सील)

मेरा ख्याल है कि शास्त्रचर्चा परिषद् में जो दार्शनिक, विद्वान्, वैद्य, डाक्टर तथा अन्य वैज्ञानिक सम्मिलित होंगे, उनके लिये इन विषयों का निश्चय

करना शक्य नहीं होगा। दूसरे, यदि इन विषयों के विशेषज्ञों को यह कार्य सौंपा भी जाय, जो उपर्युक्त विषयों पर योग्यतापूर्वक निश्चय कर सकें, तो भी उनके निर्णयों का क्या होगा? वह ज्ञान उच्चश्रेणीय भौतिक विज्ञान पढ़ाने वाले सायन्स कालेजों के लिये उपयोगी होगा। आधुनिक चिकित्सा की या आयुर्वेद की किसी भी वैद्यकीय संस्था के लिये उसका कोई उपयोग नहीं होगा।

यदि आयुर्वेद के छात्रके लिये यह जानना जरूरी है भी कि मानवीय शरीर के साथ इन ९२ तत्त्वों का क्या सम्बन्ध है, तो, मैं समझता हूं, उसके लिये इतना जानना काफी होगा कि सृष्टि के उपादानभूत इन ९२ तत्त्वों में से केवल २९ मानवीय शरीर की रचना में भाग लेते हैं। इन २९ में भी कार्बन (C), हायड्रोजन (H), ऑक्सीजन (O), तथा नायट्रोजन (N) प्रमुख हैं। हमारे शरीर के सभी कार्बोहायड्रेट्स तथा वसाएँ कार्बन, हायड्रोजन एवं आक्सीजन से बनी हैं। प्रोटीनों को इनके अतिरिक्त नायट्रोजन की आवश्यकता पड़ती है। इन चार अनिवार्य तत्त्वों के बाद कैलशियम, फास्फोरस, सोडियम, पोटैशियम, ताम्र, सलफर, क्लोरीन तथा आयोडीन का स्थान है। शेष ६७ तत्त्व शरीर में खोजने पर ही मिलते हैं।

इस दृष्टिकोण से मुझे यह जँचता है कि उपर्युक्त तीन विषयों पर विचार-विमर्श का जो रूप हमारे अध्यक्ष ने प्रस्तावित किया है, उसका केवल शास्त्रीय मूल्य होगा, आयुर्वेद के छात्र के लिये उसकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं होगी।

ख. अब हम चौथे मुद्दे पर आते हैं—

४ पंच महाभूतों की स्वीकृति का चिकित्सा शास्त्रमें प्रयोजन और उपादेयता क्या है?

मेरे मत में यह सर्वाधिक महत्त्व का विषय है। चरक और सुश्रुत का उपदेश है कि आत्मा और पञ्चमहाभूतोंके विकार का समुदाय ही यह जीवित शरीर है। शरीर के अवयव यानी दोष, धातु और मल किंवा छहों अङ्ग—शिर, कोष्ठ तथा चारों शाखाएँ—पञ्चमहाभूतों से निर्मित हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पञ्च महाभूतों का आधार लिए बिना किया गया शरीर-रचना का कोई भी वर्णन आयुर्वेदीय शरीर रचना-विज्ञान नहीं होगा। यही बात शरीर-क्रिया-विज्ञान तथा निदान के विषय में भी सत्य है, क्योंकि हम आहार-द्रव्यों को पांचभौतिक मानते हैं, उनके पचन एवं परिपाक को भूताग्नियों का कार्य मानते हैं तथा साम्य एवं वैषम्य की अवस्था में शरीर की समस्त क्रियाओं का नियामक त्रिदोषों को मानते हैं; और ये भी पांचभौतिक हैं। भेषजद्रव्य भी पांचभौतिक हैं, अतः भेषज-निर्माण-शास्त्र एवं चिकित्सा भी पञ्चमहाभूत सिद्धान्त के अधिकार-क्षेत्र में आ जाते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद के प्रत्येक अङ्ग के ज्ञान के लिये पञ्च महाभूतों के स्वीकार का प्रयोजन और उपादेयता है। यह विषय क्योंकि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अतः मैं सुझाव देता हूँ कि यह विषयविशेष परिषद् के चार सदस्यों को विचार-विमर्श (यदि आवश्यकता हो तो पत्र-व्यवहार द्वारा) एवं निर्णयों को लेखबद्ध रूप देने के लिये दिया जाय, जिसका कि विस्तार करके एक पाठ्यग्रन्थ बनाया जा सके। परिषद् के सब सदस्यों में यह रूप-रेखा पहले से ही वितरित कर दी जाय, और परिषद् के अधिवेशन में प्रकरण-प्रति-प्रकरण विचार-विमर्श के लिये उपस्थित की जाय एवं अन्त में एक पाठ्यग्रन्थ के आधार के रूप में निर्णीत हो।

ग. अब हम आठवें विषय को लेते हैं, क्योंकि इसका विषय शरीर-रचना-विज्ञान है—

८ शरीर विषयक कुछ संज्ञाओं का आयुर्वेदीय

साहित्य में विभिन्न अर्थों में प्रयोग देखा जाता है तथा कुछ अन्य भी संज्ञाओं के अर्थ के विषयमें मतभेद पाया जाता है। इन संज्ञाओं के वास्तविक अर्थ का निर्णय करना आवश्यक है।

मैंने चौथे विषय को ऊपर बहुत महत्त्व दिया है, परन्तु उससे भी अधिक महत्त्व मैं प्रस्तुत विषय को देना चाहता हूं। हमारे समस्त शास्त्र का प्रथम आधार रचना-शारीर एवं द्वितीय आधार क्रियाशारीर है। यदि शारीर की संज्ञाएँ ठीक-ठीक नहीं समझी जातीं तो पूरी इमारत का आधार ही थोथा रह जाता है। आचार्यजी का अभिप्राय जिन संज्ञाओं से है, वे दुर्भाग्य से न केवल शारीर-विषयक ही हैं, बल्कि आधारभूत और आत्यन्तिक महत्त्व की हैं। कुछ उदाहरण लें। समस्त शरीर के तीन अङ्ग हैं—शिर (head), कोष्ठ (trunk) तथा शाखाएँ (extremities) इनके समानार्थक अङ्गरेजी शब्द, जो कि कोष्ठक में दिए हैं, बिल्कुल स्पष्ट हैं। परन्तु आयुर्वेद में शिर क्या है? उसके अङ्ग क्या हैं? चरक द्वारा दिए हुए शिर के वर्णन से हमें मालूम होता है कि यह प्राण और इन्द्रियों का आश्रयस्थल है। इन्द्रियाँ संख्या में पाँच हैं। वे निस्सन्देह शरीर में अवस्थित हैं। परन्तु प्राणी-शरीर के सबसे अधिक सप्राण अङ्ग मस्तिष्क (brain) के विषय में आयुर्वेद का मत क्या है? क्या रचनाशारीर की किसी भी संज्ञा से मस्तिष्क लक्षित होता है? आयुर्वेदीय साहित्य में 'मस्तिष्क' और 'मस्तुलुङ्ग' संज्ञाएँ दिखाई देती हैं, परन्तु उनके निर्दिष्ट धर्म में क्या कोई सामंजस्य है? शायद नहीं। बहुत ही थोड़े से आयुर्वेदज्ञ इस विषय में एक मत हैं कि 'हृदय' का अर्थ 'ब्रेन' है, परन्तु प्रबल बहुमत इस दृष्टि के विरुद्ध है। तो क्या इसका यह अर्थ है कि जिन आयुर्वेद-प्रवर्तकों ने मानवशरीर के शवच्छेदन पर आधारित शारीर का बहुत ही सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन किया है, वे सर्वाधिक सप्राण अङ्ग 'ब्रेन' को नहीं देख सके? महासागर ही उनके दृष्टिपथ से चूक गया? उत्तर के लिए मैं ठहरता हूं। यदि रचना-शारीर में 'ब्रेन' को नहीं पहचान लिया जाता, तो उसकी क्रिया का या उसके रोग और उनकी चिकित्सा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

अब हम शरीर के अगले अङ्ग कोष्ठ पर आएँ। जब हम कोष्ठाङ्गों के नाम देखते हैं, जो कि संख्या में पन्द्रह हैं, तो इस संज्ञा का भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि नाभि आदि पन्द्रह कोष्ठाङ्गों के अतिरिक्त क्या पशुकाओं और पृष्ठवंश सहित वक्ष की अस्थि-दीवार का भी समावेश 'कोष्ठ' में हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में आयुर्वेदज्ञ एक-दूसरे से बहुत अन्तर पर हैं। कोष्ठांगों में भी जो पहली संज्ञा 'नाभि' है, वह क्या है? चरक के प्रथम कोष्ठांग 'नाभि' का शरीर-रचनाकी दृष्टिसे स्वरूप पहचाने बिना छात्रको उपदेश देना बेकार है कि (क) नाभि आमाशय और पक्वाशय के मध्य में अवस्थित है (सु० सू० ६।५०) (ख) आमाशय, नाभि और स्तन के मध्य में अवस्थित है (च० वि० २), (ग) शरीर की सब शिराएँ नाभि से निकलती हैं (सु० शा० ७), (घ) २४ धमनियाँ नाभि से निकलती हैं (सु० शा० ९), इत्यादि, इत्यादि। छात्र निस्सन्देह अध्यापक से आग्रह करेगा कि इतने शब्दाडम्बर के बजाय वह छिन्न शव शरीर में नाभि-अंग पर अपनी अंगुली रखे और अध्यापक को छात्र की मांग पूरी करनी ही चाहिये। आधुनिक आयुर्वेदज्ञों द्वारा प्रस्तुत साहित्य को समझना असम्भव हो जाता है, जब हम विभिन्न लेखकों को विभिन्न प्रमुख शारीरिक संज्ञाओं से अलग-अलग

अंगों का अर्थ लेते देखते हैं। इस बड़ी तालिका में से हम यहाँ कुछ का ही जिक्र कर सकते हैं, नामतः, क्लोम, वृक्क, बस्ति, आमाशय, पक्वाशय, आदि, वास्तव में तो, शायद हृदय, यकृत और प्लीहा को छोड़कर शेष सभी कोष्ठांग। पुनः शाखाओं में धमनी, शिरा आदि प्रमुख हैं। प्रायः सभी 'धमनी' का अर्थ 'शुद्ध-रक्तवहा' (आर्टरी artery) लेते हैं। मैं इन सभी से प्रार्थना करूँगा कि ये सुश्रुत के 'धमनीव्याकरणीय' अध्याय (सु० शा० अध्याय ९) को सावधानी से पढ़ें और धमनी का 'आर्टरी अर्थ लेते हुए, उसके किसी भी एक प्रकरणका अर्थ करने का प्रयत्न करें। इस प्रयत्न में निस्सन्देह बुरी तरह असफलता मिलेगी। तब फिर आर्टरी (artery), वेन (vein), कैपिलरी, (capillary). लिम्फैटिक (lymphatic) आदिकों के लिये पृथक् पृथक् शारीरिक संज्ञाएँ क्या हैं? कुछ यह भी कह सकते हैं कि इनकी समानार्थक संज्ञाएँ आयुर्वेद में हैं ही नहीं। परन्तु यह बिलकुल गलत है। दूसरा प्रमुख अंग है नर्व (Nerve)। इसके लिये आयुर्वेदीय संज्ञा क्या है? क्या इसे नाड़ी कहें? आयुर्वेद की दृष्टि से 'नाड़ी' का अर्थ होता है 'नलिका' (नाली)। इसके अन्तर्गत blood channels, lymph channels, intestines, umbilical cord आदि का समावेश हो सकता है, जिनमें निस्सन्देह, nerve भी शामिल है। परन्तु क्या आयुर्वेद में कोई प्रकरण विशेष है, जहाँ पर कि नर्व की निश्चित परिभाषा की गयी है? शारीरिक अंगों के अतिरिक्त 'नाड़ी' के अन्तर्गत sinus, fistula इत्यादिका और नलिकाकार शस्त्रकर्मोपयोगी उपकरणों तक का समावेश होता है।

तो क्या इससे यह मालूम पड़ता है कि प्राचीन ऋषियों की दृष्टि-पथ में 'nerve' नहीं आयी, जैसे कि brain नहीं आया? परन्तु यह सत्य है कि चरक और सुश्रुत का प्रत्येक अध्याय इस प्रकार की पुष्कल सामग्री हमें देता है जिससे आधुनिक विज्ञान सम्मत आटोनौमिक नर्वस सिस्टम सहित समस्त नर्वस सिस्टम का संकेत मिलता है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के वेत्ताओं के लिये यह कुतूहल की वस्तु है कि अब से ४५०० वर्ष पूर्व ये प्राचीन ऋषि आटोनौमिक नर्वस सिस्टम के स्थान और कार्यों को इतने विस्तार से कैसे निरूपित कर सके, जिसे कि आधुनिक वैज्ञानिक केवल ५० वर्ष से ही जानने लगे हैं।

ऊपर की पंक्तियों में मैंने संज्ञाओं की ओर केवल शारीर की दृष्टि से ही ध्यान आकर्षित किया है। यदि इन आयुर्वेदीय संज्ञाओं का आधार रचनाशारीर की दृष्टि से ही दूषित है, तो इन पर क्रियाशारीर, निदान, चिकित्सा आदि की दृष्टि से विचार करने पर तो कोई इमारत इस आधार पर खड़ी नहीं की जा सकती।

First of Art without Thy light,
All the rest will sink in Night.

इस पर अब और अधिक आलोचना की जरूरत नहीं। केवल एक इसी विषय पर विचार करने के लिये काफी समय अपेक्षित है। मैं यह प्रस्ताव रखना चाहता हूँ कि इस विषय को विचार-विनिमय के लिये एकदम से परिषद् के सामूहिक अधिवेशन में ही न रख दिया जाय। मेरा सुझाव इसके लिये भी वही है, जो विषय संख्या ४ के लिये है, यानी, विचार-विनिमय के लिये और निर्णयों को लेखबद्ध रूप देने के लिये यह विषय चार योग्य अध्यापकों को सौंप दिया जाय। यह रिपोर्ट परिषद् के समस्त सदस्यों में पहले से ही वितरित कर दी जाय और तब अन्तिम निर्णय के लिये सामूहिक अधिवेशन में उपस्थित की जाय।

घ. अब हम छठे विषय को लेते हैं क्योंकि उस का सम्बन्ध सामान्य क्रियाशारीर से है। आचार्य जी ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर ध्यान आकर्षित किया है—

"विभिन्न शरीरावयवों की क्रियाओं का वर्णन आयुर्वेद में प्रायः त्रिदोष की क्रियाओं के नाम से किया गया है।" परन्तु त्रिदोषों की स्वयं अपनी-अपनी विशिष्ट क्रियाएँ हैं। अतः शरीरावयवों की क्रियाओं का स्वतन्त्र रूप से वर्णन आयुर्वेद में नहीं के बराबर है। जो कुछ वर्णन मिलता भी है वह शारीरस्थान के अतिरिक्त अन्य ही स्थलों में। एवं, पचन-प्रक्रिया का वर्णन चरकके चिकित्सास्थान (अ०१५) तथा वस्ति की क्रियाओं का वर्णन सुश्रुत के निदान स्थान (अ० ३) में पाया जाता है। मैं इससे पूर्णतया सहमत हूँ कि शरीरावयवों की क्रियाओं के स्वतन्त्र रूप से वर्णन के इस विषय पर एक पृथक् पाठ्यग्रन्थ होना चाहिये और परिषद् के विचारार्थ इस विषय पर ड्राफ्ट तैयार करने का कार्य अन्य चार योग्य व्यक्तियों को सौंपने का सुझाव मैं देता हूँ।

ङ. पाँचवाँ विषय है त्रिदोष, जो कि आयुर्वेद का 'ककहरा' है। मैं कह देना चाहता हूँ कि इस प्रश्न के आचार्य जी ने जो तीन भाग किये हैं, उनमें प्रथम ही प्रधान है, शेष दोनों गौण। प्रथम प्रश्न-भाग का समाधान मिल जाने पर शेष दो का समाधान स्वतः मिल जायगा। अतः मैं प्रथम प्रश्नभाग ही लेता हूं, जो कि इस प्रकार है—आयुर्वेद में दिये वर्णन के अनुसार त्रिदोष—वात-पित्त-कफ—का वास्तविक स्वरूप क्या है?

यही एक विषय समस्त आयुर्वेदशास्त्र की व्याख्या का आधार है। मैं सभी सम्बन्धित व्यक्तियों का ध्यान इस ओर केन्द्रित करना चाहता हूँ कि जब तक त्रिदोष-सिद्धान्त का पूरा स्पष्टीकरण नहीं हो जाता, तब तक—

(क) छात्रों को आयुर्वेद के किसी भी अङ्ग का समुचित अध्यापन सम्भव नहीं होगा, तथा

(ख) विवेकवान् समालोचक को इस आक्षेप का कोई उपयुक्त उत्तर नहीं दिया जा सकेगा कि आयुर्वेद अवैज्ञानिक है, क्योंकि उसके आधारभूत त्रिदोष-सिद्धान्त की कोई व्याख्या नहीं है।

यहाँ पर मैं अपने उन्हीं शब्दों को दोहराना चाहता हूं, जो कि मैंने अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के १९४७ के हरिद्वार-अधिवेशन से पूर्व जोर देकर कहे थे, कि हमारा प्रथम कर्त्तव्य है त्रिदोषों के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करना (क्योंकि वे शरीर में पांचभौतिक द्रव्य हैं) और यह जानना कि साम्य तथा वैषम्य की अवस्थाओं में वे अपने कार्य किस प्रकार करते हैं। मैंने महासम्मेलन के सभ्यों का ध्यान 'वृत्तम्' (१९३५ में बनारस में हुई पंचमहाभूत त्रिदोष चर्चा परिषद् का इतिवृत्त) की ओर आकर्षित किया था, जिसमें कि श्रीवामन शास्त्री दातार ने भारत भर के विद्वानों के १६० मतों का वर्गीकरण किया है और केवल त्रिदोषों के स्वरूप के विषय में ५५ पृथक् मत पाये हैं। साथ ही, महा सम्मेलन के सभ्यों को मैंने चेतावनी दी थी कि जब तक त्रिदोष-स्वरूप विषयक इन ५५ विभिन्न मतों का समन्वय नहीं किया जायगा, तबतक आयुर्वेद के विरोधियों के हाथ में यह वृत्त एक भयावह प्रमाणपत्र के रूप रहेगा।

यह विषय हमारे सामने आधी शताब्दी से है, सन् १९०१ से ही, जब कि श्री शंकर दाजी पदे शास्त्री ने सर्वप्रथम अनुभवी वैद्यों, दार्शनिकों, डाक्टरों तथा अन्य वैज्ञानिकों का एक त्रिदोष-कमीशन बुलाया

था। तब से अनेक त्रिदोष-चर्चापरिषदों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। दुर्भाग्य से, हम ठीक उसी स्थान पर खड़े हैं, जहाँ से हमने १९०१ में चलना शुरू किया था।

मैं नहीं समझता कि एक पटना परिषद् ही अन्तिम निर्णय तक पहुंचने में समर्थ हो सकेगी। तथापि हमें ठीक दिशा में बढ़ना चाहिए। इन परिषदों के बारे में मेरा व्यक्तिगत अनुभव यह है—जिन में से बहुतों के संयोजक के रूप में कार्य करने का सौभाग्य मेरा रहा है—कि इनकी कार्यपद्धति उपयुक्त नहीं थी। विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय करने और एक निश्चित निर्णय पर पहुंचने के स्थान में ये परिषदें भाषण देने की रङ्गभूमि के रूप में रहीं।

इस विषय को, यानी "त्रिदोषों का स्वरूप" को दो उपशीर्षकों के अन्तर्गत लेना चाहिये—

(१) उनके स्वरूप का निश्चय करना, तथा

(२) "वृत्तम्" (बनारस की त्रिदोष पंचमहाभूतचर्चा परिषद् का इतिवृत्त) में वर्णित (पृ० १५८-१५७) ५५ विभिन्न मतों का समन्वय करना।

च. मेरा सुविचारित मत यह है कि पटना परिषद् केवल उपरोक्त चार विषयों को ही अपने हाथ में ले, यानी, विषय-संख्या ४ (पञ्चमहाभूत) विषयसंख्या ८ (रचनाशारीर), विषयसंख्या ६ (क्रियाशारीर) तथा विषय-संख्या ५ (त्रिदोष)। जबतक इन विषयों का निश्चय नहीं हो जाता, तब तक अन्य प्रश्नों का समुचित समाधान नहीं हो सकता। ७ वें और ८ वें प्रश्न का विषय 'निदान' है और दसवें का द्रव्यगुणविज्ञान तथा चिकित्सा। इन प्रश्नों पर विचार करने के लिये आयुर्वेदीय रचना-शारीर, सामान्य तथा विशिष्ट क्रियाशारीर एवं निदान का दृढ़ आधार चाहिए।

परिषद् की कार्यपद्धति के विषय में मेरा सुझाव है कि विचार-विमर्श के आधार के रूप में विचार्य विषयों का एक निश्चित लेखबद्ध ड्राफ्ट सदस्यों के हाथ में रहे। मूल ड्राफ्ट में संशोधन-परिवर्द्धन के रूप में सदस्यों के विचार-विमर्श का मसविदा भी लेखबद्ध रूप में, परिषद् की कार्यवाही शुरू होने से पहले, मंत्री के हाथ में रहनी चाहिए। एकमात्र लक्ष्य यह होना चाहिए कि एक निर्णय पर पहुंचा जाय और विसंवादी मतों का उत्तर दिया जाय एवं निराकरण किया जाय।

इस प्रकार, सामूहिक अधिवेशन शुरू होने से पूर्व, बहुत-सा प्रारम्भिक कार्य करना है।

प्राचीका अमर सन्देश

अनेक छावनियों में विभक्त हो गये आज के विश्वके लिए यह बढ़िया संदेश है: सुखी, संपन्न पुरुषों के प्रति मनमें ईर्ष्या आदि भाव न लाकर मैत्रीभाव धारण करना; दुःखी पुरुष के प्रति घृणा, तिरस्कार आदि क्षुद्रता-सूचक भाव न लाकर कारुण्य का भाव लाना; पुण्यात्माओं के प्रति असूया (गुणोंको छिद्रान्वेषणतया दोष मानना) आदिके भाव न रखते हुए हर्ष अनुभव करना (मुदिता वृत्ति), एवं अपुण्यात्माओं — पापियों — के प्रति रोष आदि भाव चित्त में न लाते हुए उपेक्षा-भाव लाना—चित्तकी शान्ति के लिए यह अव्यर्थ सूत्र है।

चित्तशान्ति तथा उसके द्वारा परस्पर अवैरवृत्तिका जो नियम व्यक्तियों के लिए है वही समाजों, जातियों तथा राष्ट्रोंपर भी चरितार्थ होता है।

निखिल भारत आयुर्वेद शास्त्रचर्चा परिषद

मान्य महानुभाव,

गत नि० भा० आ० महासम्मेलन के ३७ वें अधिवेशन के समय स्वीकृत शास्त्रचर्चा सम्बन्धी प्रस्ताव एवं गत ७-४-५० के स्थायी समिति के निर्णयानुसार निवेदन है कि आयुर्वेद के निम्नाङ्कित मूलभूत सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श करने के लिये आगामी २४ दिसम्बर से २ जनवरी तक उपर्युक्त परिषद का अधिवेशन होगा। अतः आपसे सादर निवेदन है कि निर्दिष्ट विषयों पर अपना वक्तव्य तैयार कर ३० नवम्बर तक भेज दें जिससे उसकी कुछ प्रतिलिपियाँ तैयार कर अधिवेशन के समय प्रत्येक सदस्य को उसकी एक-एक प्रति विचारार्थ दी जा सके। आशा है, आप इस विचार से सहमत होंगे।

विवेच्य विषय :—

१—वैदिक साहित्य, दर्शनों और आयुर्वेद में प्रतिपादित पञ्च-महाभूतों का वास्तविक यथार्थ स्वरूप क्या है ?

२—आधुनिक विज्ञान सम्मत ९२ तत्त्वों (एलिमेंटस्) के साथ पञ्च-महाभूतों का समन्वय कहाँ तक और किस प्रकार शक्य है ?

३—पञ्च महाभूतों के सम्बन्ध में इस समय तीन मत प्रचलित हुए हैं—

(क) पञ्च-महाभूत स्वतन्त्र द्रव्य हैं।

(ख) पञ्च-महाभूत जड़ द्रव्यों की पाँच अवस्था विशेष हैं।

(ग) पञ्च-महाभूत आधुनिक विज्ञान सम्मत ९२ तत्त्वों के प्राचीनों के माने हुए ५ वर्ग हैं (अर्थात् आधुनिक विज्ञान सम्मत ९२ तत्त्वों का पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य और तामस इन पाँच वर्गों में समावेश हो सकता है।)

इन तीन मतों में से आयुर्वेद प्रवर्तक आचार्यों को कौन-सा मत अभिप्रेत था ? यदि ९२ तत्त्वों का पार्थिवादि पाँच वर्गों में समावेश हो सकता है, तो कौन-से तत्त्व का किस वर्ग में अन्तर्भाव हो सकता है ?

४—पञ्च-महाभूतों की स्वीकृति का चिकित्सा-शास्त्र में प्रयोजन और उपादेयता क्या है ?

५—आयुर्वेद वर्णित वात-पित्त-कफ इन तीन दोषों का वास्तविक स्वरूप क्या है ? त्रिदोष ये स्वतन्त्र (एकाकी) द्रव्य हैं या प्राणि शरीरस्थ आधुनिक क्रिया-शारीर (फिजियालोजी) में वर्णित अनेक पदार्थों के तीन वर्ग हैं ? यदि त्रिदोष ये वर्ग हैं ऐसा मान लिया जावे तो आधुनिक क्रिया-शारीर में वर्णित किस पदार्थ का किस दोष में अन्तर्भाव हो सकता है ?

६—आयुर्वेद में मस्तिष्क, हृदय, फुफ्फुस, यकृत, प्लीहा, आमाशय, अन्त्र, वस्ति आदि शरीर अवयवों की क्रियाओं का वर्णन प्रायः त्रिदोष की क्रियाओं के नाम से किया गया है, उनकी क्रियाओं का स्वतन्त्र वर्णन प्रायः नहीं पाया जाता। आधुनिक क्रिया-शारीर में प्रत्येक शरीर-अवयवों की क्रियायें स्वतन्त्र रूप से वर्णित हैं। इन दोनों का समन्वय करके त्रिदोषानुसार शारीर-क्रियाओं का वर्णन जिसमें हो ऐसे पाठ्य-ग्रन्थ का निर्माण करना उचित है या नहीं ?

७—आयुर्वेद में वर्णित ज्वर, प्रमेह, कुष्ठ, शोथ, विसर्प आदि स्वतन्त्र रोग हैं या भिन्न-भिन्न अनेक रोगों के वर्ग हैं ? यदि वे अनेक रोगों के वर्ग हैं तो वर्गान्तर्गत रोगों को स्वतन्त्र रोग मानकर अवयव-विकृति के अनुसार उनका स्वतन्त्र निदान और चिकित्सा लिखना आवश्यक है या नहीं ? अवयव-विकृति के वर्णन के साथ उन रोगों के दोष लक्षणानुसार वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, द्वन्द्वज और सन्निपातिक भेद तथा तदनुसार चिकित्सा लिखने की आवश्यकता है या नहीं ? यदि आवश्यकता स्वीकृत की जावे तो उसकी उपादेयता क्या है ? नवाविष्कृत रोगों के निदान और चिकित्सा का आयुर्वेद में समावेश किस प्रकार करना चाहिये ?

८—शरीरावयवय वाचक कुछ संज्ञाओं का प्राचीन ग्रन्थों में अनेकार्थ में प्रयोग देखा जाता है और कुछ संज्ञाओं के अर्थ में विद्वानों में मतभेद देखा जाता है; उनके निश्चित अर्थ का निर्णय करना।

९—आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र में जीवाणुओं को रोग कारण माना जाता है। आयुर्वेद मतानुसार उनका रोगकारणत्व किस प्रकार हो सकता है ? यदि जीवाणुओं को रोग का कारण माना जाय तो उनके भी वात-प्रकोपक, पित्त-प्रकोपक और कफ-प्रकोपक ऐसे तीन वर्ग माने जावें या नहीं ?

१०—रस-वीर्य-विपाक का वास्तविक स्वरूप क्या है ? नवीन द्रव्य के गुण-कर्मों का निर्णय रस-विपाक-वीर्य द्वारा किस प्रकार करना चाहिये ? आधुनिक-द्रव्यगुण विज्ञान में औषध द्रव्यों का शरीर के अवयवों पर होनेवाली उनकी क्रियाओं के अनुसार औषध द्रव्यों का वर्गीकरण किया गया है। उनका आयुर्वेदीय द्रव्यगुण विज्ञान में समावेश करना या नहीं ?

नोट—इस परिषद में कुछ नियतसंख्यक विद्वान ही निमन्त्रित किये गये हैं, परन्तु इसमें सब विद्वान अपनी लिखित सम्मति भेज सकते हैं। विद्वानों से सम्मति भेजने के लिये प्रार्थना की जाती है। उनकी सम्मति पर चर्चा के समय ध्यान दिया जायगा। अतः निर्दिष्ट स्थान पर अपनी सम्मति भेजें।

निवेदक—

गुरुदत्त आयुर्वेदाचार्य
प्रधान मन्त्री
नि० भा० आ० महासम्मेलन

रामरक्ष पाठक
संयोजक
नि० भा० आ० शास्त्रचर्चा परिषद

नोट—पत्र-व्यवहार का पता—संयोजक नि० भा० आ० शास्त्रचर्चा परिषद कार्यालय, श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, वैद्यनाथ भवन रोड, पटना—१।

नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते

५—छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

वैद्य रणजितराय

संसर्गज ज्वर[1]—

द्विदोषज ज्वरोंको संसर्गज या द्वन्द्वज कहते हैं। संसृष्ट (संयुक्त हुए) दोष जब प्रकृतिसमसमवेत[2] हों, अर्थात् उनका स्वाभाविक संयोग होकर ज्वरमें देखे जानेवाले लक्षण वही हों जो ज्वरोत्पादक दोषोंसे पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए ज्वरोंमें होते हैं, तो संसृष्ट ज्वरमें दोनों दोषोंके मिलित लक्षण होते हैं। पर जब ज्वरारम्भक दोष विकृतिविषमसमवेत[3] हों, अर्थात्—उनका विकृत या अस्वाभाविक संयोग होनेसे उनके द्वारा उत्पादित ज्वरके लक्षण विषम हों—वही न हों जो ज्वरोत्पादक दोषोंसे पृथक्-पृथक् उत्पन्न किये गये ज्वरोंमें दृष्टिगोचर होते हैं, तो संसृष्ट ज्वरोंमें ऐसे भी लक्षण देखे जाते हैं, जो संसर्गज ज्वरके उत्पादक एक-एक दोषसे उत्पन्न ज्वरमें नहीं होते। ऐसे ज्वरोंके लक्षण नीचे लिखे अनुसार होते हैं।—

वात-पित्तज्वर—शिरःशूल, पर्वभेद (सन्धिभेद), दाह, रोमाञ्च, कण्ठ तथा मुखमें शोष, वमन, आध्मान, तृष्णा, मूर्च्छा, मोह, भ्रम, मद, अरति, अरुचि, निद्रानाश, कम्प[4], प्रलाप, जृम्भा, क्षीणता, तापकी अधिकता।

वातश्लेष्मज्वर—शीतक (ठण्ड खूब लगना), गौरव, अरुचि, तन्द्रा, स्तैमित्य (शरीर भीने कपड़ेसे लपेटा हो ऐसी प्रतीति)[1], पर्वोंमें वेदना, शिरोग्रह (सिर जकड़ा-सा जाना), प्रतिश्याय, कास, श्वास, कफ-प्रसेक (मुखसे कफ पड़ना), स्वेदावरोध, कम्प, विबन्ध, संताप (ज्वरमान) का वेग मध्य या अल्प होना, तम, भ्रम।

श्लेष्मपित्तज्वर—कभी दाह और कभी शीत प्रतीत होना; कभी स्वेद होकर शरीर लघु होना, कभी स्वेदावरोध होकर स्तब्धता (स्तम्भ); मद, मोह, कास, मुख श्लेष्मासे लिप्त तथा तिक्त होना, अरुचि, तृष्णा, (मुखसे) श्लेष्माका स्राव, (मुखसे) पित्तका स्राव, तन्द्रा, अङ्गसाद।

सांनिपातिक ज्वर[2]—

तीनों दोषोंके समवायसे जो ज्वर होता है उसे सांनिपातिक या त्रिदोषज ज्वर कहते हैं[3]। इसके भी दो भेद हैं—प्रकृतिसमसमवायज तथा विकृतिविषमसमवायज। प्रथम प्रकार में, पृथक्पृ-थक् दोषज ज्वरोंके जो लक्षण कह आये हैं, वे ही मिलित देखे जाते हैं। विकृतिविषमसमवायज-में ऐसे भी लक्षण होते हैं जो पृथक् ज्वरोंमें नहीं पाये जाते। इन भेदोंके अतिरिक्त तत्-तत् दोषके प्रकोपके मन्द, मध्य और उल्वण (अति) भेदके अनुसार भी संनिपातके लक्षणोंमें

१—च० नि० १।२९; च० चि० ३।८४-८९; च० चि० ३।११०; सु० उ० ३९।४७-५०; अ० हृ० नि० २।२३-२६; माधव निदान, ज्वरनिदान।

२-३—इन संज्ञाओंका अर्थ वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य कृत 'द्रव्यगुण विज्ञान' (पूर्वार्ध) पृ० १९०-१९५ पर भी देखिये।

४—Tremor—ट्रेमर।

१—Clamminess—क्लैमीनेस।

२—च० नि० १।२९; च० चि० ३।८९-१०८; सु० उ० ३९।३५-४०; अ० हृ० नि० २।२७-३४।

३—गुजरातीमें 'संनिपात' शब्द 'प्रलाप' के अर्थमें मिथ्या प्रचलित है।

भेद होता है। इस प्रकार बल-भेदसे सांनिपातिक ज्वरके तेरह भेद होते हैं—त्र्युल्वण (तीनोंका कोप जिसमें समान हो ऐसा) वात-पित्त-कफ; वातपित्तोल्वण-कफमन्द; वातकफोल्वण-पित्तमन्द; पित्तकफोल्वण-वातमन्द; वातोल्वण-मन्दकफवात; पित्तोल्वण-मन्दवातकफ; कफोल्वण-मन्दवातपित्त; कफोल्वण-पित्तमध्य-मन्द (हीन) वात; पित्तोल्वण-कफमध्य-वातमन्द; वातोल्वण-कफमध्य पित्तमन्द; कफोल्वण-वातमध्य-पित्तमन्द; वातोल्वण-पित्तमध्य-कफमन्द; पित्तोल्वण-वातमध्य-कफमन्द। संनिपात ज्वर कृच्छ्रसाध्य होते हैं और कइयोंके मतमें असाध्य। इन भेदोंके पृथक् लक्षण निम्न हैं—

१—त्र्युल्वण संनिपात ज्वर[१]—घड़ी-घड़ी में कभी दाह (गरमी लगना) और कभी शीत; अस्थियों, संधियों (पर्वों), पिण्डिका (जाँघ), पार्श्व तथा शिरमें वेदना; आँखें अश्रुयुक्त, मलिन, रक्त, निष्प्रभ, ऊँची-नीची और फटी (विस्तृत) होना; तन्द्रा; दिनमें निद्रा खूब आना और रातको जागरण अथवा दिन-रात निद्रा बने रहना या निद्रा बिल्कुल न आना; प्रस्वेद खूब आना या सर्वथा न आना तथा स्तम्भ; मोह; मद; प्रलाप; गीत-नृत्य-हास्य आदि विकृत चेष्टाएँ करना, किंवा, स्वरभङ्ग एवं मूकता (अल्प वचन या अ-वचन); कण्ठमें निरन्तर कूजन[२]; दन्त मलिन होना; जिह्वा जानो जलकर कृष्णवर्ण हो गयी हो ऐसी, स्पर्शमें खर एवं गुरु होना; कानोंमें शब्द तथा वेदना; कण्ठमें शूक[३]-पूर्णता (गलेमें कुछ चुभता-सा हो ऐसी प्रतीति); कास, श्वास; अरुचि; भ्रम; अङ्गोंमें अत्यन्त शिथिलता; थूकमें रक्त[४], पित्त और कफ आना; सिर पटकना; तृषा; हृदयमें वेदना; स्वेद, मूत्र और पुरीषकी सर्वथा अप्रवृत्ति या चिरकालसे तथा अल्प मात्रामें प्रवृत्ति या अति प्रवृत्ति[१]; शरीरावयव अति दोषपूर्ण होनेसे बहुत कृश न होना; मुख स्निग्ध होना; श्याव (सलेटीके रंगके), रक्त कोठ तथा मण्डलों (चकत्तों) का प्रादुर्भाव; मुख, नासिकादि स्रोतोंका पाक; उदरगौरव[२]; दोषोंके अति साम होनेके कारण उनका पाक चिरकालमें (आगे कहे अनुसार सात, दस या बारह दिनोंमें अथवा इनसे द्विगुण मर्यादामें) होना; अतएव ज्वर भी चिरानुबन्धी होना; अवयवोंमें स्पर्शनाश।

शेष बारह संनिपात ज्वरोंके लक्षण ये हैं—

१—वातपित्तोल्वण-कफमन्द—भ्रम, पिपासा, दाह, गौरव, तीव्र शिरःशूल, प्रमीलक (आँखें मिची रहना)।

२—वातकफोल्वण-पित्तमन्द—शैत्य, कास, अरुचि, तन्द्रा, पिपासा, दाह, शूल, व्यथा।

३—पित्तकफोल्वण-वातमन्द—वमन, कभी दाह कभी शैत्य, तृषा, मोह, अस्थिवेदना।

४—वातोल्वण-पित्तकफमन्द (हीन)—संधि, अस्थि तथा शिरमें शूल; प्रलाप, गौरव, भ्रम, तृषा, कण्ठ और मुखकी शुष्कता।

५—पित्तोल्वण-वातकफमन्द—मल और मूत्र रक्त-युक्त होना; दाह, स्वेद, तृषा, बलक्षय, मूर्च्छा।

६—कफोल्वण-वातपित्तमन्द—आलस्य, अरुचि, हृल्लास, (लालास्राव), दाह, वमन, अरति, भ्रम, तन्द्रा, कास।

७—कफोल्वण-पित्तमध्य - वातमन्द — प्रतिश्याय, वमन, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि, अग्निमान्द्य।

१—च० चि० ३।१०३-१०९; सु० उ० ३९।३५-३८ अ० हृ० नि० २।२७-३३; माधवनिदान, ज्वर-निदान।

२—यह स्थिति अन्त्रज्वरसें आधुनिक बताते हैं। इसे Low muttering sound—लो मटरिंग साउण्ड कहते हैं।

३—शूकका मूल अर्थ गेहूँ आदिके बाल है।

४—यह स्थिति न्यूमोनियामें होती है। उसमें अल्प रक्तके कारण थूक जङ्गार-जैसा (Rusty—रस्टी) होनेसे लेकर रक्त-वमन पर्यन्त कोई भी अवस्था हो सकती है।

१—आधुनिकोंने भी अन्त्रज्वरके दो भेद किये हैं—विबन्धयुक्त और अतिसारयुक्त; इनमें प्रथम कम कष्ट साध्य कहा है।

२—यह लक्षण अन्त्रज्वर तथा पैरा-टायफॉयडमें विशेष होता है।

८—पित्तोल्वण-कफमध्य-वातमन्द—मूत्र और नेत्र हरिद्रावर्ण होना ; दाह, तृष्णा, भ्रम, अरुचि।

९—वातोल्वण-कफ मध्य-पित्त मन्द—शिरःशूल, कम्प, श्वास, प्रलाप, वमन, अरुचि।

१०—कफोल्वण-वातमध्य-पित्तमन्द—शीतक,गौरव, तन्द्रा, प्रलाप, अस्थि तथा शिरमें अति शूल।

११—वातोल्वण-पित्तमध्य-कफमन्द—श्वास, कास, प्रतिश्याय, मुखशोष, अति पार्श्वशूल।

१२—पित्तोल्वण-वातमध्य-कफमन्द — अतिसार, अग्निमान्द्य, तृष्णा, दाह, अरुचि, भ्रम।

आगे संतत ज्वर नामसे जिन ज्वरों का निर्देश किया है वे बहुधा सांनिपातिक ज्वर ही होते हैं।

अभिन्यास या हतौजस् (हतौजस्) ज्वर[1] संनिपातका ही एक भेद अभिन्यास ज्वर है। इसके लक्षण—शरीर न बहुत उष्ण न बहुत शीत होना ; संज्ञाकी अल्पता, पदार्थों का ज्ञान यथार्थ न होना ; स्वरसाद, जिह्वाकी खरता, कण्ठकी शुष्कता, स्वेदनाश, मलसंग (विबन्ध), मूत्रसंग, अश्रुपूर्णनेत्रता, हृदयकी कुटिलता (?), अन्नद्वेष, कान्तिनाश, रोगीका श्वाससहित मृतवत् पड़ा होना, अति प्रलाप।

संनिपात ज्वरोंकी अवधि[2]

मृत्युना सह योद्धव्यं संनिपातं चिकित्सता ॥[3]

—भालुकि[4]

संनिपात ज्वर में दो अवस्थाएं हो सकती हैं—१—मलों (दोषों तथा मल) का पाक होकर रोगमुक्ति ; किंवा, २—धातुओंका पाक होकर मृत्यु।

मलपाकके लक्षण[1]—ज्वरोत्पादक दोषके विपरीत लक्षणोंका उदय, ज्वरकी मन्दता, शरीरकी लघुता, इन्द्रियोंकी विमलता (अपना-अपना विषय ग्रहण करनेका सामर्थ्य) —ये मलोंके पक्व होनेके लक्षण हैं।

धातुपाकके लक्षण[2]—मलपाकके लक्षणोंके विरुद्ध निद्रानाश, हृदयका स्तम्भ, विष्टम्भ, गौरव, अरुचि, अरति (बेचैनी), बलहानि, मूत्रादिमें शुक्रादि धातुओंकी प्रवृत्ति—ये धातुओंका पाक होनेके लक्षण हैं।

शान्ति या मरण कोई भी परिणाम होनेके पूर्व ज्वर पूर्वापेक्षया अधिक घोर हो जाता है। वाताधिक संनिपातमें ज्वरके घोरतर होकर मुक्ति या मरण होनेकी अवस्था सात या चौदह दिन, पित्ताधिकमें दस या अठारह दिन एवं कफाधिकमें बारह या बाईस दिनके अन्तमें आती है। कफ आमतुल्य होनेसे उसका पाक अधिक दिनमें होता है। अतः उसकी अधिकतावाला ज्वर उतरता भी देरमें है[3]।

ज्वरोंके अन्य भेद—ज्वरोंके अनेक प्रकारसे भेद किये जाते हैं। इनमें शारीर, मानस, एकदोषज, द्विदोषज, (संसर्गज, संसृष्ट), त्रिदोषज (संनिपातज), प्राकृत, वैकृत—इन भेदोंका उल्लेख ऊपर किया गया है। अन्य प्रकारसे भी ज्वरका भेद किया जाता है। यथा—

अन्तर्वेग (गम्भीर)-बहिर्वेग ज्वर[4]

शरीरके अन्तरवयवोंमें अतिदाह, तृष्णा, प्रलाप, श्वास,

१—सु० उ० ३९।३८-४४

२—सु० उ० ३९।४५ तथा टीका।

३—संनिपातकी चिकित्सा करना जानो मृत्युके साथ युद्ध करना है।

४—टीकाकारों द्वारा तत्र-तत्र उद्धृत वचन।

१-२—ये लक्षण उक्त सुश्रुत वचनकी टीका तथा माधवनिदान, ज्वर-निदान, श्लोक ७२ की मधुकोश टीका में देखिये।

३—नव्य चिकित्साका टायफॉयड उतरनेकी मर्यादा एवं तन्द्रा, मोह, अरुचि आदि लक्षणोंको देखते हुए 'प्रायः' कफ प्रधान संनिपात माना जाना चाहिये। बहुधा आधुनिकोंकी यह संप्राप्ति देखकर कि इसमें क्षुद्रान्त्रों के अमुक भागमें पाक, व्रणादि हो जाते हैं, इसे पित्तप्रधान माननेकी वृत्ति आधुनिक वैद्योंमें है। तथापि, यह निश्चित है कि टायफॉयडमें इतर दोषोंके अनुबन्धमें तर-तम भाव (न्यूनाधिकता) हो सकता है।

४—च० चि० ३।२९—४१ ; सु० उ० ३९।९२ ; अ० हृ० नि० २।४८-४९।

कास, श्रम, सन्धिशूल, अस्थिशूल, स्वेदावरोध, दोषों तथा पुरीष-मूत्रादि मलोंका अवरोध, आनाह, ज्वर कृच्छ्रसाध्य या असाध्य होना—ये ज्वर अन्तर्वेग (गम्भीर) होनेके लक्षण हैं।

बहिरवयवोंमें संताप विशेष होना, तृषा आदि की अल्पता, ज्वरकी सुखसाध्यता—ये बहिर्वेग ज्वरके लक्षण हैं।

सौम्य-आग्नेय ज्वर[1]

शीतगुणयुक्त कारणोंसे हुआ ज्वर सौम्य तथा उष्णगुण कारणोंसे हुआ आग्नेय कहाता है। इनसे पीडित रोगी विपरीत गुणकी ही इच्छा करता है। यथा—केवल वात या कफसे हुए ज्वरमें उष्ण द्रव्यादिकी इच्छा होती है। केवल पित्तसे उत्पन्न ज्वरमें शीत द्रव्यादिकी ; वातपित्तारब्ध ज्वरमें शीतकी तथा वातकफारब्धमें उष्ण द्रव्यादि की इच्छा होती है।

रसादिधातुगत ज्वर[2]

ज्वरकी संप्राप्तिमें कहा गया है कि प्रकुपित दोषका प्रथम अन्नरससे संयोग होता है। उपाय न होनेपर कलाओंका अतिक्रमण कर यह क्रमशः उत्तर-उत्तर धातुओंके साथ संयुक्त होता है तथा कम साध्य होता जाता है। चिकित्सामें भी यह ध्यानमें रखना होता है कि, दोष जिस धातुमें स्थित हो उसकी विरोधिनी चिकित्सा न हो। इस दृष्टिसे प्रत्येकधातुगत ज्वरके लक्षण जानने चाहिये, जो निम्न हैं।—

रसगत ज्वर—गुरुता, दीनता, उद्वेग (हृदयोत्क्लेश-मितली), साद (ग्लानि—शरीर ढीला लगना), छर्दि (वमन), अरुचि, बाह्य ताप, अङ्गमर्द, जृम्भा।

रक्तगत ज्वर—त्वचापर रक्त और उष्ण पिडकाएँ ; तृष्णा, थूकमें वार-वार रक्त आना, वमन, दाह, राग (त्वचा-की रक्तता), स्वेद, श्रम, मद, प्रलाप।

मांसगत ज्वर—अन्तर्दाह, अन्तरूष्मा (शरीरमें अन्दर ज्वरमान विशेष होना), तृषा, मोह[1], साद (ग्लानि), अतिसार, अतिमूत्र, दुर्गन्ध, आक्षेप, पिण्डलियोंमें उद्वेष्टन (बांउटे)।

मेदोगत ज्वर—अति स्वेद, तीव्र पिपासा, मूर्च्छा[2], प्रलाप, वार-वार वमन, अपना गन्ध भी असह्य होना, ग्लानि (अंगसाद), अरुचि, चिड़चिड़ापन।

अस्थिगत ज्वर—वमन, अतिसार, अस्थिभेद[3], अस्थि-संकोच, कूजन (कण्ठमें ही अव्यक्त ध्वनि होना), अङ्ग-विक्षेप (अङ्ग पछाड़ना), श्वास।

मज्जगत ज्वर—हिक्का, महाश्वास, कास, अति तम, बाहर शीत अन्दर दाह, वमन, हृदयका छेदन[4]।

शुक्रगत ज्वर—शिश्नकी स्तब्धता, अति शुक्रमेह, प्राणनाश[5], तीनों दोषोंका क्षय, मरण।

धातुगत ज्वर भी आरम्भक दोषोंकी संख्यानुसार एक-दोषज, द्विदोषज या त्रिदोषज होते हैं।[6]

साम, पच्यमान तथा निराम ज्वर[7]

ज्वर जबतक साम हो—अर्थात् उसके आरम्भक (उत्पादक) दोषोंका लङ्घनादि द्वारा परिपाक[8] न हुआ हो--

---

१—च० चि० ३।३७-३८ ; अ० हृ० नि० २।४८-४९, २—च० चि० ३।७५-८३ ; सु० उ० ३९।८३-९१ ; माधव-निदान, ज्वर-निदान।

१-२—मोह और मूर्च्छा—अंग्रेजीमें जिसे Coma—कौमा या Stupor—स्टयूपर कहते हैं, वह आयुर्वेदका मोह है। इसमें संज्ञानाश होता है। मूर्च्छाका अंग्रेजी पर्याय Syncope—सिनकोप, Fainting—फेण्टिंग या Swooning—स्वूनिंग है। इसमें श्वसन और रक्तानुधावन कुछ कालको रुद्ध हो जाते हैं। यह इसमें विशेष है। संज्ञानाश भी इसमें होता ही है।

३—Cutting Pain—कटिंग पेन।

४—Tearing Pain—टेयरिंग पेन

५—वात-पित्त-कफ-सत्त्व-रज-तम, पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा जीवात्मा—इन्हें आयुर्वेदमें प्राण कहा है। (देखिये-सु० शा० ४।३) इनका यथायोग्य प्रमाण या कर्मशक्ति न्यून होना प्राणनाशका अर्थ है।

६—देखिये—सु० उ० ३९।९०-९१

७—च० चि० ३।१३२-३७ ; सु० उ० ३९।११५-१९ ; अ० हृ० नि० २।५४-५५ ; माधवनिदान।

८—दोष शिथिल (संचय-या प्रकोपके स्थानसे च्युत) हो स्व-मार्गसे प्रवृत्त होना तथा आगे कहे तदनुसारी लक्षण होना—यह दोषोंका परिपाक होनेका अर्थ है।

तब तक औषध न देना चाहिए, यह आयुर्वेदका मत है। कारण, ज्वरमें अग्नि यों ही मन्द होता है ; अतः तरुण ज्वरमें औषध (या अन्न) दिया जायगा तो उसका पाक—अग्नि द्वारा रूपान्तरित करके यथावत् उपयोग—न होनेसे आममें वृद्धि होकर, परिणाममें ज्वरकी वृद्धि ही होगी।

भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥

सु० उ० ३९।१२१

शमन औषध साम ज्वरको विषम ज्वरमें परिणत कर देता है[1]। स्थिति यह होनेसे साम आदि ज्वरोंके लक्षण जानने चाहिए।

अरुचि, क्षुधानाश, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, उदर-गौरव, हृदय—छाती—पर भार जैसा लगना या उसका उद्वेष्टन (मरोड़-जैसा अनुभव), तन्द्रा, आलस्य, निरन्तर और तीव्र ज्वर ; भ्रम, प्रलाप आदि उपद्रवोंकी अधिकता ; पुरीषकी तथा उसके साथ दोषोंकी (अधोवातादिकी) अप्रवृत्ति, किंवा पुरीषकी प्रवृत्ति हो तो वह आम होना[2], हृल्लास (लाला-प्रसेक, लालास्राव), छींक न आना, मुख विरस (स्वादानभिज्ञ) तथा अशुद्ध होना ; स्वेदावरोध ; अङ्गों की स्तब्धता, गुरुता तथा सुप्ति ; अरति ; बहुमूत्रता ; मांस क्षीण न होना (अग्लानि—शरीर फूला हुआ तथा रक्तवर्ण प्रतीत होना)—ये साम ज्वरके लक्षण हैं।

जैसे दिया बुझने लगता है तो उसकी ज्वाला सहसा तीव्र हो जाती है वैसे ज्वरके वेगमें वृद्धि, तृष्णा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, मलप्रवृत्ति और उत्क्लेश—ये पच्यमान ज्वरके लक्षण हैं।

निराम ज्वरके लक्षण—ज्वर निराम (पक्व) हो जाय तब औषध देना चाहिए यह ऊपर कहा है। ज्वरकी यह निरामता दो प्रकारकी है—लक्षणग्राह्य तथा कालग्राह्य। दोष जब अल्प होते हैं तो वे शीघ्र ही परिपक्व हो जाते हैं। तब सामज्वरसे विपरीत ये लक्षण देखे जाते हैं —क्षुधाका उदय, शरीर कृश (म्लान) हो जाना, अवयवों में लघुता, ज्वर तथा उसके उपद्रवोंकी मृदुता, पक्व पुरीषकी तथा उसके साथ पक्व दोषोंकी प्रवृत्ति, अल्पमूत्रता। (इस अवस्थामें सामान्यतया अधिकसे अधिक आठ दिन लगते हैं।) इन लक्षणोंके प्रकट होनेपर दोषोंका शमन औषध देना चाहिए। परन्तु—

संनिपात ज्वरोंमें दोषोंके उत्कट होनेसे उनका परिपाक इतना शीघ्र नहीं होता, न ही उक्त लक्षण शीघ्र दृष्टिगोचर होते हैं ; तथापि आठ दिनके पश्चात् ज्वर निराम हुआ माना जाता है। उस समय रोगीको दोषपाचनार्थ पाचन औषध देना चाहिए। आशय यह है कि—यों संनिपात ज्वरोंमें आठ दिन समाप्त होनेपर भी दोषोंका पाक पूर्ण नहीं होता—वे साम ही रहते हैं, परन्तु व्याधि निराम एवं औषध देने योग्य हो जाता है। दोष भी अन्य धातुओंको छोड़कर केवल रसमें शेष रह जाते हैं। (अन्य शब्दोंमें कहना हो तो संनिपात ज्वरोंमें भी पूर्वकथित लक्षणोंके उदयको निरामताका लक्षण मानकर उनकी प्रतीक्षाकी जाय तो इतना समय व्यतीत हो जाय कि उतने समय के दीर्घ लङ्घनसे रोगीके धातुओंका क्षय होकर उसका बल—कर्मशक्ति तथा रोगप्रतीकारशक्ति—भी क्षीण हो जाय। इस दुःस्थितिको उत्पन्न न होने देनेके प्रयोजनसे "अष्टाह"—आठ दिन पूर्ण होना—यही निरामता और औषध-प्रदान-योग्यताका लक्षण संनिपात ज्वरोंमें माना गया है।)[1]

१—देखिये—सु० उ० ३९।१२२

२—आम और पक्व पुरीषके लक्षण आगे अतिसाराधिकार में देखिये।

१—चक्रपाणि ने च० चि० ३।१३७ की टीकामें खरनाद का वचन उद्धृत करते हुए यह विषय स्पष्ट किया है। उपयुक्त होनेसे वह यहाँ दिया जाता है—

क्षुत्क्षामतेत्यादिना निरामज्वरलक्षणमाह। अत्र च क्षुदादयो दोषपाकाद् भवन्तो विनाप्यष्टाहं निरामदोषारब्धज्वर-लक्षणं भवन्ति। अष्टाहस्तु क्षुदादीन् विना दोषपाकेऽसत्यपि भेषजदानयोग्यां व्याधेर्निरामतां ब्रूते। अत एव—

पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम् ॥

च० चि० ३।१६०

इति विकल्पद्वयेन, यदाऽष्टाहे क्षुदादिदोषलक्षणाऽनुदयस्तदा दोषपाकार्थं पाचनीयं देयम् ; अथ क्षुदादिसमुदयोपि जातस्तदा शमनीयं देयं सर्वथा निरामत्वात्। ज्वरस्य एतामेव सर्वथा निरामतामुपदिशति। खरनादेनोक्तं यत्—

न च निःसृततैवैका निरामज्वरलक्षणम्।
चिरादपि हि पच्यन्ते संनिपातज्वरे मलाः ॥
सप्तरात्रातिवृत्तिं च क्षामतादि च लक्षणम्।
तस्मादेतद् द्वयं दृष्ट्वा निरामं ज्वरमादिशेत् ॥

अष्टाहादर्वाक् दोषपाकजनितक्षुदादिदर्शनाच्चिरामता सुश्रुते-

तरुण-मध्य तथा जीर्ण ज्वर

औषध देनेमें इन संज्ञाओंका आयुर्वेदमें बार-बार प्रयोग होता है। अतः इनकी मर्यादा जानना उचित है।

सात दिवसपर्यन्त ज्वर तरुण (या नव) कहाता है, इसके पश्चात् बारह दिवस तक मध्य और इसके पश्चात् जीर्ण (या पुराण या पक्व) कहा जाता है[1]।

जीर्ण ज्वर का एक अन्य लक्षण भी प्रसिद्ध है : जिस ज्वर को हुए दो सप्ताह व्यतीत हो जायँ, जिसका वेग मन्द हो जाय तथा जिसमें प्लीहावृद्धि और अग्निमान्द्य ये दो उपद्रव हो जायँ उसे जीर्ण ज्वर कहते हैं। (यह लक्षण विषम ज्वरों के जीर्ण होने का समझना चाहिए)।

विषमज्वर—संतत–सतत–अन्येद्युष्क–तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर[2]

संतत ज्वर—ज्वरोत्पादक दोषोंकी प्रबलता अथवा अल्पबलताके कारण कई ज्वरोंके मोक्ष (उतरने) का भिन्न-भिन्न नियत काल (मर्यादा, मुद्दत) होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, संनिपात ज्वर वातप्रधान हो तो सात (या चौदह) दिनमें, अति तीव्र होकर, धातुपाक द्वारा रोगी के प्राण लेता है, या मलपाक (दोष एवं मलका पाक) द्वारा शान्त हो जाता है। इसी प्रकार पित्त प्रधान और कफप्रधान संनिपात ज्वरमें क्रमशः दस (या अठारह) और बारह (या बाईस) दिनमें इन दोमें कोई परिणाम (मृत्यु या रोगशान्ति) होता है। इतने कालतक ये ज्वर निरन्तर बने रहते हैं। इन्हें संतत कहते हैं। ये प्रायः कष्टसाध्य अथवा असाध्य होते हैं।

स्मरण रहे, कभी-कभी एक अथवा दो दुर्बल दोषोंसे हुए ज्वर पूर्ववर्णित एकदोषज अथवा संसर्गज ज्वर भी संतत रहते हैं[1], परन्तु वे सुखसाध्य होते हैं। अपरं च, उनमें संनिपात ज्वर के ऊपर कहे तथा आगे कहे जानेवाले लक्षण नहीं होते[2]।

संतत ज्वरमें दोष अति बलवान्, सर्वशरीरव्यापी और स्थिर (जबतक पूर्वोक्तदिनपर्यन्त उनका पाक न हो जाय तबतक शरीरको न छोड़नेवाले) होते हैं ; काल, दूष्य तथा प्रकृति दोषोंके अनुकूल होनेसे[3] वे निष्कण्टक हो जाते हैं, जिससे ज्वरका वेग बड़ा विकट होता है ; समस्त दोषों, धातुओं, पुरीष और मूत्रमें ये दोष एक साथ व्याप्त होते हैं ; इसीसे तीन दोष, सात धातु तथा दो मल इन बारहको संतत ज्वरका आश्रय कहा जाता है। दोष-भेदसे सात, दस या बारह दिवसोंमें दोषोंका पाक होनेसे जब रसादि धातु, दोष तथा मल-मूत्र शुद्ध हो जाते हैं—अपने प्राकृत कर्म यथावत् करने लगते हैं, तो ज्वर उतरने लगता है, अन्यथा मृत्यु होती है। यदि सभी धातुओं, दोषों और मलोंको

नाष्टाहादर्वाग्भेषजदानं दर्शयता प्रतिपादिता। यदुक्तम्—
अर्वागपि च देयं स्याद्भेषजं दोषपाकतः॥
सु० उ० ३९।१२१

इति। तस्मात् क्षुदादयोऽष्टाहश्च व्यस्तं समस्तं च लक्षणं यथोक्तन्यायाज्ज्ञेयम्॥

अ० हृ० नि० २।५६ की टीकामें अरुणदत्त ने भी खरनाद का उक्त वचन उद्धृतकर यही प्रतिपादित किया है। स्पष्टताके लिए दो प्रकारकी निरामताके लिए लक्षणग्राह्य और कालग्राह्य शब्द मैंने रचे हैं।

१—देखिये च० चि० ३।१६० की टीकामें चक्रपाणि-धृत पुष्कलावत-वचन।

२—च० चि० ३।५३-७४ ; सु० उ० ३९।५९-७४ ; अ० हृ० नि० २।५८-७४ ; माधव निदान, ज्वर निदान।

१—इसीलिए ऊपर संनिपात ज्वरोंके लक्षणके अन्तमें कहा है कि, ये संतत ज्वर बहुधा सांनिपातिक ज्वर ही होते हैं। चक्रपाणि ने तो च० चि० ३।५६ की टीकामें संततको त्रिदोषारब्ध ही माना है—त्रिदोषारब्ध एवास्मन्मते संततः।

२—देखिये—एभिश्च धात्वादिद्वादशाश्रयित्व—दशाहादिव्यापकत्वादिभिर्धर्मैः संततो भिन्न एव वातादिज्वरेभ्यः कालानियमेन - द्वित्र्यादिदिनेषु व्यवच्छेदेनानुसक्तेभ्यः॥
च० चि० ३।६० पर चक्रपाणि।

३—अनुकूलता का अर्थ यहाँ यह नहीं कि काल आदि समानगुण होनेसे दोषोंके प्रकोपक होते हैं। किन्तु—दोष बलवान् होनेसे काल आदि विपरीति हों तो भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकते, अतः उन्हें अनुकूल ही कहा जाता है। जैसे, कोई राजा बलवान् हो तो उसके माण्डलिक मनमें वैरभाव रखते हुए भी कुछ कर न सकनेके कारण लोकमें अनुकूल ही कहे जाते हैं। देखिये—कालादीनां चासमानानामपि बलवता दोषेण परिग्रहीतानां प्रतीपाकरणासामर्थ्येनानुगुणत्वं भवति; यथा बलवतो राज्ञो हृदयेन प्रतिकूला अपि क्षुद्रराजानोऽनुगुणा एव भवन्ति। च० चि० ३।५५ पर चक्रपाणि

शुद्धि न हो—कुछकी हो, कुछकी न हो, अथवा सबकी शुद्धि हो, परन्तु पूर्णतया न हो तो ज्वर चालू रहता है और पूर्वोक्त मर्यादासे द्विगुण कालमें उतरता है—वातप्रधान संतत ज्वर चौदह दिनमें, पित्तप्रधान अठारह दिनमें और कफप्रधान संतत ज्वर बाईस दिनमें उतरता है। कभी-कभी दोषोंकी शुद्धि इतने कालमें भी संपूर्ण न होनेसे ज्वर बना रहता है—अथवा वेग उतर जानेपर भी अव्यक्त स्वरूपमें रहता है तथा कष्ट-साध्य होता है।

कभी-कभी तत्तत्कारणवश शान्त हुए भी ज्वरका पुनरावर्तन[1] होता है।

संतत ज्वर विषम ज्वर नहीं[2]—संतत ज्वरोंकी गणना यद्यपि सतत आदि विषम ज्वरोंके साथ की है, तथापि स्वयं संतत ज्वर विषम ज्वर नहीं। शेष ज्वर ही विषम ज्वर हैं। उनके साथ संततकी गणनाका कारण यह है कि संतत तथा संततादि ज्वरोंका लक्षण साथ-साथ दिया हो तो दोनोंमें तुलना करके विषम ज्वरोंकी विषमताका स्पष्टीकरण अच्छा होता है[3]।

१—Relapse—रिलैप्स।

२—देखिये—उक्तं च खरनादेन –

ज्वराः पञ्च मयोक्ता ये पूर्वं संततकादयः।
चत्वारः संततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः॥

च० चि० ३।७४ पर चक्रपाणि

३—देखिये—संततज्वरस्य विषमज्वरत्वं नास्ति, तत्संनिधौ पाठान्तरेण व्याख्यानान्तरेण च यद्ग्रहणं तत् संततापेक्षया सततादीनां विषमत्वाद् विषमत्व-प्रतिपादनार्थम्। अन्यथा, किमपेक्ष्यैषां विषमत्वं भवेत्॥ सु० उ० ३९।६७ पर डल्हन

संतत ज्वर विषम ज्वर नहीं, यह सिद्धान्त सामने रखें तो यह निर्णय करना सुकर हो सकता है कि, सतत आदि विषम ज्वर आधुनिकोंके मैलेरिया हैं तथा संततज्वर टायफॉयड, न्यूमोनिया आदि। शास्त्रीय वचनोंकी नव्य मतसे तुलना एवं रोगोंके प्रत्यक्षीकरणसे यदि इस प्रकरणमें यह प्रतिपादित हो जाय तो सिद्ध होगा कि संतत ज्वर किसी एक रोगका नाम नहीं; प्रत्युत अनेक रोगोंके वर्गका नाम है। अन्य संज्ञाओंका भी इसी प्रकार विचार करना चाहिये। पूज्य यादवजी भाईने वैद्य-समाजके समक्ष—रोगवाचक शब्द एक रोगके वाचक न होकर रोगोंके वर्गोंके वाचक हैं, यह प्रश्न उपस्थित किया है। प्रसंगवश उसके प्रति विद्वज्जनोंका चित्त आकृष्ट करता हूं। चिकित्सा सबमें दोषानुसार होना चाहिये, यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है, यह और बात है।

सतत आदि विषम ज्वरोंका लक्षण—ज्वरारम्भक (ज्वरोत्पादक) दोष जब अल्पबल होता है तब ज्वर बीच-बीचमें कुछ कालके लिए—परन्तु विशिष्ट नियमसे—उतर जाता है। उतरने और पुनः चढ़नेके कालके भेदसे इन्हें सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चातुर्थक नाम दिये गये हैं। सतत आदि चार प्रकारके ज्वरोंको विषम-ज्वर कहते हैं।

सतत ज्वर दिनमें एक बार तथा रातमें एक बार इस प्रकार एक अहोरात्र (चौबीस घण्टे) में दो बार चढ़ता-उतरता है; अथवा दिनमें दो बार और रातमें दो बार इस रीतिसे एक अहोरात्रमें दो-दो बार चढ़ता-उतरता है।

अन्येद्युष्क ज्वर एक अहोरात्रमें एक बार चढ़ता-उतरता है।

तृतीयक ज्वर तीसरे दिन—अर्थात् एक-एक दिन छोड़कर चढ़ता है[1]।

चतुर्थक ज्वर चौथे-चौथे दिन—अर्थात् बीचमें दो-दो दिन छोड़कर—चढ़ता है।

चतुर्थकका विपरीत एक विषम ज्वर चतुर्थक विपर्यय होता है। इसमें ज्वर बीच-बीचमें दो दिन रहता है, आरम्भके और अन्तिम दिन अर्थात् पहले और चौथे दिन उतरा रहता है। इसी प्रकार तृतीयक विपर्ययमें मध्यमें एक दिन ज्वर का वेग होता है, पहले और तीसरे दिन नहीं होता। अन्येद्युष्क विपर्ययमें पूर्वाह्न आदि दोष-प्रकोपक कालोंमें किसी एक कालमें ज्वर शान्त रहता है—शेष संपूर्ण कालोंमें सारे अहोरात्र चढ़ा रहता है[2]।

ज्वरोंके चढ़नेका समय प्रधान दोषके प्रकोपके अनुसार पूर्वाह्न (दिवसका आदि भाग), मध्याह्न आदि होता है। ज्वर जब उतरा होता है उस समय भी अपने-अपने आश्रयभूत धातुओंमें तो वह लीन रहता ही है[3]। कारण, रोगी उस काल भी म्लान (निष्प्रभ), गुरु शिर तथा गात्रवाला और कृश होता है, एवं उस काल भी उसमें अरुचि, मुखकी विरसता या तिक्तता होते हैं।

१—इसीसे गुजरातीमें इसे एकांतरियो कहते हैं।

२—विपर्यय ज्वरोंके लिये देखिये—सु० उ० ३९।५५

३—देखिये—सु० उ० ३९।६३ तथा डल्हन-टीका।

सततादि ज्वरोंका कारण—दोष जब अल्प होता है, परन्तु पुरुष कृश हो, ज्वरादि रोगोंसे कुछ काल पूर्व ही मुक्त हुआ हो, अहिताहारविहार करता हो तो दोष अल्प होनेपर भी काल, प्रकृति या दूष्य इनमें किसी एकका बल (आसरा) पाकर प्रकुपित हो जाता है, तथा तत्-तत् धातुमें स्थित होकर यथाकाल सतत आदि तत्-तत् विषम ज्वरको उत्पन्न करता है। बहुत वार मनके दौर्बल्यसे—अर्थात् ज्वरके वेगका समय हो गया है, अब ज्वर चढ़ेगा, इस आशङ्कासे भी यथाकाल ज्वर चढ़ता है। (मन इस काल सहसा तीव्रतासे अन्यत्र विक्षिप्त हो जाय, यथा किसी दुर्घटनावश या दुर्घटनाके समाचार-श्रवणसे, तो ज्वरका वेग अकस्मात् शान्त भी हो जाता है।)

सतत ज्वरमें दोष रस-रक्तका आश्रय करके अर्थात् उन्हें दूषित तथा मेदोवह स्रोतोंको रुद्ध करके ज्वर उत्पन्न करता है ; अन्येद्युष्कमें मांसको, तृतीयकमें मेदको दूषित तथा मांसवह स्रोतको अवरुद्धकर एवं चतुर्थकमें अस्थि और मज्जाको दूषित तथा मेदोवह स्रोतको अवरुद्धकर दोष ज्वर को उत्पन्न करता है। रस धातु ज्वरमात्रमें दूष्य होनेसे इन सभी विषम ज्वरोंमें दूषित होता ही है।

कइयोंका मत है कि विषम ज्वरोंकी उत्पत्ति भूताभिषङ्ग (भूतावेश) से होती है[२]।

शीत-उष्ण भेदसे विषम ज्वरोंके भेद—सततादि के दो भेद हैं—शीतपूर्वक तथा उष्णपूर्वक। शीतपूर्वक विषम ज्वरमें वेगके आरम्भके समय वात और कफ त्वचामें होते हैं, अतः उस समय त्वचामें शीत-प्रतीति होती है। ज्वरकी शान्तिके समय इन दोषोंके शान्त हो जानेसे पित्त प्रकुपित होकर त्वचामें दाह करता है।

उष्णपूर्वक ज्वरमें वेगके आरम्भमें त्वचामें पित्तका प्राबल्य होता है। अतः वह प्रारम्भमें त्वचामें दाह उत्पन्न करता है। शान्तिके समय कफ और वातका प्रकोप होनेसे उस समय त्वचामें शीत-प्रतीति होती है। दोनों भेदोंमें दाहपूर्वक ज्वर कष्टसाध्य होता है[१]।

कई वार शरीरका आधा भाग (ऊपरका आधा किंवा नीचेका आधा अथवा ऊपरसे नीचेतक कोई एक पक्ष)[२] उष्ण होता है—इस भागका स्पर्श उष्ण, इतनेमें ही तापमान[३]की अधिकता तथा रोगीको उष्णत्वकी प्रतीति होती है, शेष अर्धशीतल होता है। इसका कारण यह है कि अपक्व अन्नरस तथा दूषित कफ और पित्त वातकी प्रेरणासे शरीरमें अर्धार्ध विभक्त हो जाते हैं। परिणामतया, जहां पित्तकी अधिकता होती है, उस अर्धमें उष्णत्व और शेषार्धमें शैत्य होता है।

इसी प्रकार कई वार कोष्ठ अर्थात् मध्यकाय (धड़) में उष्णता होती है तथा शाखाएँ (हाथ-पैर) शीतल होती हैं। इस अवस्थामें मध्यकायमें पित्तका तथा शाखाओंमें श्लेष्माका प्रकोप होता है[४]। (कृमि-विकारमें भी यह स्थिति देखी जाती है)।

शीतपूर्वक तथा उष्णपूर्वक (दाहपूर्वक) ज्वरोंमें अन्य लक्षण यह भी होता है कि शीतादि ज्वरमें पित्त कफको स्रुत करके सुखा देता है ; कफके शान्त होनेपर पश्चात् अम्लोद्गार, मूर्च्छा, मद और तृष्णा होते हैं। इसके विपरीत दाहादि ज्वरमें अन्तमें तन्द्रा, कफनिष्ठीवन, वमन तथा क्लम (श्रम विना भी थकावट) होता है[५]।

क्रमशः

१—सु० उ० ३९।५१-५५; अ० हृ० नि० २।६४-६५ माधव-निदान।

२—कई पण्डित भूतका अर्थ प्राणी होनेसे प्राणी शब्दसे यहाँ आधुनिकों द्वारा प्रत्यक्षीकृत रोगजन्तुओंका ग्रहण करते हैं। इससे उनका प्राचीनताके प्रति अभिमान अवश्य व्यक्त होता है ; परन्तु केवल एक शब्दसे इतना बड़ा सिद्धान्त स्थापित करना दुर्घट है। भूत एक पृथक् योनि है। उसके सम्बन्धमें आयुर्वेदका एक पृथक् अङ्ग है। उस सारे अङ्गका जीवाणु-परक अर्थ घटाना चाहिये। इसके सिवाय भूतावेशके प्रसिद्ध अर्थके उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। यथा, देखिये—जुलाई ५० के 'सचित्र आयुर्वेद' में डॉ० भट्टाचार्यका लेख—आयुर्वेदोक्त भौतिक नाडी।

१—सु० उ० ३९।६१।

२—टीकाकार इसे स्पष्ट करनेके लिये क्रमशः नरसिंह तथा अर्धनारीश्वरके आकारकी उपमा देते हैं।

३—Temperature—टेम्परेचर। ऐसे रोगी अब भी कभी-कभी देखे जाते हैं। बहुत वार रोगियोंमें दोनों कक्षाओं (बगलों) में ज्वरमान थोड़ा-बहुत भिन्न होता है।

४—ज्वरकी अर्ध-विभक्तिका विषय अ० सं० नि० २ (अन्त) तथा माधव द्वारा उद्धृत उसके वचन और उनकी टीकामें विस्तारसे देखिये।

५—अ० हृ० नि० २।३६-३७

त्रिदोष-सिद्धान्त में अनुसन्धान : योजना-५

चतुर्थ प्रकरण

डा० ए० लक्ष्मीपति

रस कल्पना और दोष कल्पना

आचार्य चरक का कथन है:—

यः स्यात् रसविकल्पज्ञः, स्याच्चदोष विकल्पवित् ।
न स मुह्यति विकाराणां, हेतु लिंगोपशान्तिषु ॥

चरक सूत्र २५-२६

अर्थात् जो विभिन्न रसोंके कल्पों (रसयुक्त द्रव्य के कल्पों) को अच्छी तरह जानता है तथा विविध रोगों के कारणभूत दोषों की अंशांश कल्पना को जानता है; वह रोगों के हेतु तथा लक्षणों के ज्ञान में कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होता अपितु निश्चय ही उनकी शान्ति कर देता है।

चिकित्सक को औषधि तथा आहारों के रसों का तथा रोगोत्पादक दोषों का सम्यकृतया निश्चय होना चाहिये। प्रश्न होता है कि इन दोनों-रसों तथा दोषों के विषय में अनुसन्धान किस प्रकार किया जाए।

गांव में खेत पर एक अनुभव

विगत सप्ताह (६-७-४६) अवाडी नामक गांव में अपने खेत में मैंने दो धोबिनों को देखा। एक लगभग पचास वर्ष की वृद्धा थी तथा दूसरी १८ वर्ष की कन्या। खेत तालाब के किनारे था तथा वर्षा अभी हो चुकी थी। अतः उसमें खूब घास उगी हुई थी। इसमें हल नहीं चलाया गया था। दोनों स्त्रियां खेत में से आहार योग्य पत्ते और टहनियां एक कर रही थीं। मैं बुढ़िया के पास गया और उससे पूछा कि तुम किस प्रकार जानती हो कि कौन-सी वनस्पति भक्षणीय है और कौन-सी त्याज्य।

वह मेरे अज्ञान पर हँसने लगी क्योंकि उसे मालूम था कि मैं डाक्टर हूं। उसकी टोकरी की जांच करने पर पता लगा कि उसमें सात से भी अधिक प्रकार के पत्ते हैं। मैंने उन सबों को पृथक् पृथक् किया और उससे उनके नाम पूछे।

उसने तैलगू भाषा में उन वनस्पतियों के निम्नलिखित नाम बताये:—

(१) पल्ला कूरा (जीवन्ती)
(२) बला कूरा (बला)
(३) गोदगू कूरा (अपामार्ग)
(४) गल्जेरु (पुनर्नवा)
(५) अतिखमामिड़ी (संस्कृत नाम नहीं पहचाना गया)
(६) मठाकाटन (संस्कृत नाम नहीं पहचाना गया)

यह अन्तिम वनस्पति, उस धोबिन के कथनानुसार वातव्याधि में अति उत्तम है। यदि ताजे हरे रूप में भाजी की तरह इसका प्रयोग किया जाये तो इससे आमवात में जुड़ी हुई सन्धियां खुल जाती हैं। उक्त तामिल नाम का अर्थ भी यही होता है। उसके संग्रह में कुछ और भी वनस्पतियां थीं, जिनके

नामों का उसे भी पता नहीं था। किन्तु उसे यह ज्ञात था कि वे पोषक तथा स्वास्थ्यप्रद हैं। तदनन्तर उसने उन वनस्पतियों के रसों को मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु आदि तथा गुणों को उष्ण, शीत, रेचक, विबन्धकारक आदि को भी बताया। उसने उन वनस्पतियों को वात, पित्त और कफ नाशक या वर्धक रूप में विभक्त किया। उसने यह भी बताया कि कालाकूरा की कढ़ी बड़ी स्वादिष्ट एवं ऋतु में स्वास्थ्यवर्द्धक होती है। यह उसका सामूहिक (संयोग) प्रभाव का वर्णन था। उसने अपनी टोकरी में से 'गोदगू कूरा' (अपामार्ग) उठाकर कहा कि इसकी कढ़ी (भाजी) बड़ी मधुर और स्वादिष्ट बनती है। मैंने उसको दो आने दिया और अपने लिये भी एकत्र कराया तथा घर जाकर बनाया। हाँ, इसमें दाल और मिला दी। यह बड़ी स्वादिष्ट भाजी थी।

मैं ने उसे अपने साथ खेत में चलने के लिये कहा और मार्ग में आने वाली कई वनस्पतियों के पत्तों को तोड़कर उस धोबिन से उनके गुण आदि पूछे। उसने कई प्रकार के पत्तों को भक्षण के अयोग्य बताया और कई को स्वास्थ्य के लिये हानिकारक भी कई को उसने उपयोगी औषधियों के रूप में पहचाना परन्तु आहार द्रव्यों के रूप में नहीं। मैंने उससे पूछा कि यह सब तुमने कैसे जाना? उसने मुझे एक पत्ता देकर उसे मसलने तथा सूँघने को कहा। इसमें मल के समान दुर्गन्धि थी, तब उस ने उस पत्र को मुख में रखकर उसका रस जानने के लिये कहा। इसमें अरुचि कारक तिक्त रस था। उसने बताया कि यह विष है और सेवन करने पर वमन तथा रेचन कराता है। पत्ता लाल मिर्च के पत्तों जैसा लगता था पर मैं वानस्पतिक वा चिकित्सा शास्त्र के अनुसार उसको पहचान नहीं कर सका। तब मैंने सन्मुखस्थ भूम्यामलकी का पत्ता तोड़ा और उस धोबन से उसका गुण पूछा। उसने तुरत उत्तर दिया कि यह कड़वी वस्तु है तथा आहार के काम की नहीं है। औषधि के रूप में यह पित्त शामक है और कामला में व्यवहृत होती है। तब मैंने बला का पत्ता हाथ में लेकर उसके सम्बन्ध में प्रश्न किया उसने उसपत्तेको हाथमें लेकर मसला जिससे स्निग्ध-पिच्छिल पदार्थ स्रवित हुआ। उस स्राव को दिखाकर वह बोली, यह पदार्थ शक्तिदायक है और यदि गायों को खिलाया जाये तो दूध बढ़ाता है। यदि इसकी भाजी उचित प्रकार से बनाई जाये तो बड़ी स्वादिष्ट होती है और यह शीतल है। ये सब गुण आयुर्वेद में बृंहण' के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार लगभग एक घण्टा उसके साथ मैंने व्यतीत किया और विभिन्न घासों के रस तथा दोषों का अध्ययन किया। उसकी लड़की भी आहार योग्य और आहार अयोग्य पत्तों का अच्छा ज्ञान रखती थी।

मैं आयुर्वेद का विद्यार्थी होते हुए भी उनमें से अनेक चीजों को नहीं जानता था जिनका ज्ञान गांवकी बुद्धिमान् औरतों को था। गाँव के लोग इसके लिये विशेष अध्ययन नहीं करते अपितु परम्परा से ही उन्हें यह क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि बहुत-सा विशाल ज्ञान भण्डार मौखिक रूप में परम्परागत चला आता है। बहुत-सा ज्ञान-निघण्टुओं (Dictionaries) में संकलित है। इनमें सदियों का ज्ञान संचित किया गया है। गुण—यथा स्निग्धता, रूक्षता, खरता श्लक्ष्णता, गुरुता, लघुता आदि प्रत्येक पत्र में उपलभ्यमान रसों का ज्ञान, आज के नगरों के शिक्षित वर्ग को नहीं है, किंतु गाँव वालों के लिये सहज ही है। ये गाँव वाले भारतीय दर्शन के मूल भूत सिद्धान्तों को अभी तक नहीं भूले हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन सबके पीछे कोई भारी विज्ञान है।

उदाहरणार्थ वह धोबिन जानती थी कि विभिन्न पदार्थों में रस का प्रभाव क्या होता है। "यथा पूर्वं बलावहः"। यह सिद्धान्त वाग्भट्ट सूत्र स्थान अ० १ में देखो।

नगर में पालित एवं शिक्षित एक लड़का विद्युत् के बारे में बहुत सी बातें जानता है, जो एक गाँववाले लड़के के लिए समझना कठिन होगा। इसके विपरीत यदि नगर का लड़का गाँव में चला जाये और उससे प्रतिदिन व्यवहार में आनेवाली चीजें बैंगन, मिर्चों आदि के बारे में पूछा जाए तो बता नहीं सकेगा कि किस प्रकार इनको उत्पन्न किया जा सकता है। उक्त धोबन का उदाहरण यह दिखाने के लिये दिया गया है कि किस प्रकार भारत भूमि में आयुर्वेद तथा भारतीय दर्शनों की जड़ गहरी गई है। आधुनिक काल के कई तथाकथित महान् आविष्कार आयुर्वेद के लिये कुछ नये नहीं हैं यदि हम आयुर्वेद को ठीक प्रकार से समझ लें।

अमेरिका में डाक्टर सुब्बाराव के अनुसन्धान

उदाहरण के लिये डा० सुब्बाराव के अनुसन्धानों को ले लीजिये। यह अमेरिकाके प्रसिद्ध वैज्ञानिकों में गिना जाता था और लेडरल रसायनशाला का डायरेक्टर था। अमेरिका जाने से पूर्व दो वर्ष तक यह मेरा शिष्य रहा था। अमेरिका जाने से पूर्व वह मेरी देखरेख में पाण्डु, ग्रहणी तथा कामला के विषय में आयुर्वेद का विशेष रूप से अध्ययन कर रहा था। उसे इस विषय में इसलिये रस था कि स्वयं ग्रहणी का रोगी था तथा मेरी आयुर्वेदिक चिकित्सा से ठीक हुआ था। इससे पूर्व जनरल हास्पिटल के डाक्टरों ने उसे असाध्य बताकर छोड़ दिया था। उसने कहा था कि उसका जीवन मेरे द्वारा बचा है अतः मुझी को समर्पित है। उसने अपने इस वचन को निबाहा और चिकित्सा विज्ञान में अन्वेषण किया। यद्यपि यह अनुसन्धान शुद्ध आयुर्वेदिक विधि से नहीं किये गये थे।

वह मेरी साधारण चिकित्सा प्रणाली से बहुत प्रभावित हुआ। उसकी चिकित्सा साधारण वनस्पतियाँ भृंगराज, भूम्यामलकी, एरण्ड आदि द्वारा (अन्य पदार्थों में मिलाकर) वात पित्त और कफ के अनुसार की गई थी। आहार में केवल तक्र का प्रयोग था तथा अम्ल और कटु पदार्थों का बहिष्कार था। एलोपैथिक कालेज से ताजा निकला डा० ग्रेजुएट सुब्बाराव मेरी सरल चिकित्सा से तथा उसके अतिरिक्त अन्य रोगों पर किये गये सुफलों से अत्यन्त प्रभावित हुआ एवं इस विषय में आगे और अधिक अनुसन्धान करने के लिये उसने विदेश जाने का निर्णय किया। उसे भी अपने अन्य भाईयों के समान यही विश्वास था कि विदेशों में अनुसन्धान की सुविधा तथा क्षेत्र अधिक है क्योंकि हमारी सरकार भी हजारों छात्रों को बाहर विदेशों में इस कार्य को सीखने के लिये भेजती थी। वह यहाँ से पहले इङ्गलेन्ड गया और वहाँ से अमेरिका।

अनेकों वर्षों के कठोर परिश्रम तथा अनेकों वैज्ञानिक सहायकों की सहायता से डा० सुब्बाराव ने यह पता लगाया कि भृंगराज तथा भूधात्री ही नहीं अपितु अन्य अनेकों वनस्पतियों के ताजे पत्तों के हरितकणों में एक विशेष गुण यह होता है कि वे रक्त की कई व्याधियों में रक्त भ्रमण कर अपना प्रभाव दिखाती हैं। मेरे लिये तो यह सब पहाड़ खोद कर चूहा निकालने के समान था। इस द्रव्य का नाम उन्होंने "फॉलिक अम्ल" नाम दिया अर्थात् पत्र से प्राप्त होनेवाला अम्ल। इस नई औषधि का अनेक रोगों के लिये रामबाण के रूप में विज्ञापन किया गया। हमें अभी यह देखना है कि यह विज्ञापन

चिकित्सा फल की कसौटी पर कितना ठहरता है। मेरा अपना विचार तो यह है कि यदि यह अनुसन्धान भारत में, अमेरिका में प्राप्त सुविधाओं के साथ आयुर्वेदज्ञों के निरीक्षण में किया जाता तो इससे इस विषय पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता।

आयुर्वेद की आधारभूत संस्कृति

भारतवर्ष के पास कुछ उन विज्ञानों की कुञ्जी है; जिनके विषय में यूरोप अंधेरे में टटोल रहा है। यदि पाश्चात्य जगत् के पास जड़-पदार्थों का विज्ञान है तो भारत के पास जीवित पदार्थों का विज्ञान है। मोक्ष का विज्ञान भी भारत के पास ही है। त्रिदोष जीवित पदार्थों के कार्य करते हैं। उनका अध्ययन भी जीवित दशा में ही होना चाहिए। क्योंकि आत्मा वा जीवन के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'आत्मा' यह शब्द एक पाश्चात्य की समझ में आसानी से आनेवाला नहीं, किन्तु भारतके ग्राम-निवासी भी इससे परिचित हैं; मैं जिस बात पर जोर देना चाहता हूँ वह यह कि मनकी प्रवृत्ति वा दृष्टिकोण में परिवर्तन करना चाहिए और आयुर्वेद में आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के अनुसार ही अन्वेषण होना चाहिए। पाश्चात्य सिद्धान्तों के दृष्टिकोण से, उनसे मिलाने के लिये आयुर्वेद के वचनों को बलपूर्वक तोड़ना-मरोड़ना नहीं चाहिये। अनुसन्धान की सफलता के लिये सच्चाई तथा सच्चे अन्वेषणशील मन की आवश्यकता है। सुश्रुत का कथन है कि "रसदोष कल्पना या इनका वर्गीकरण प्रकृति में उपलब्ध विस्तृत तथ्यों पर प्रत्यक्ष करके करना चाहिये।"

"प्रसि प्रत्यक्ष लक्षण फलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
ना औषधि हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कराचन॥

सुश्रुत सूत्र २०-२१

समग्र औषधियाँ बृंहणीय, लेखनीय, जीवनीय वर्गों का विभाजन अत्यन्त वैज्ञानिक है जो जीवित शरीर को एक इकाई समझ कर और उसपर आहार तथा औषधियों के प्रभाव को देखकर किया गया है। बृंहणीय उपचयात्मक क्रियाओं (Metabolic action) को बढ़ाते हैं। आयुर्वेद की परिभाषा में कफ को बढ़ाते हैं, लेखनीय द्रव्य पैत्तिक क्रियाओं को बढ़ाते हैं और आयुर्वेद के अनुसार वे पित्तवर्धक हैं। जीवनीय आहार बिहार शरीर की शक्ति को बढ़ाते हैं। आयुर्वेद के अनुसार वे वातवर्धक हैं। अर्थात् शरीर की चेष्टाओं को बढ़ाते हैं। संक्षेप में कफ शरीर को शीतल, पित्त उष्णता तथा वात गति प्रदान करते हैं। हमें आधुनिक विज्ञान की भाषा को, जो निष्क्रिय एवं अचेतन द्रव्यों से सम्बन्ध रखती है तथा आयुर्वेद की भाषा से, जिसका सम्बन्ध जीवित पदार्थों से है, अलग (भेद) समझना होगा। आयुर्वेद की आधारभूत यह संस्कृति है जिसका मूल भारतभूमि में बहुत दूर तक चला गया है, और इसी पर भारत आजकल जीवित है। छत गिर सकती है किन्तु अनेकों तूफानों के होते हुए भी मूल स्थिर रहता है यदि सांस्कृतिक भारत जीवित रहता है तो वास्तविक भारत भी जीवित रहेगा। हम पीछे देख चुके हैं कि किस प्रकार गाँव की एक अनपढ़ स्त्री इस आयुर्वेदीय संस्कृति को सुरक्षित रख रही है। यद्यपि वैद्य भी पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध के कारण पृष्ठभूमि में चले गये हैं तथापि जनता, जो इस भारतीय संस्कृति की रक्षक है, अभीतक आयुर्वेद के साथ है। क्योंकि आयुर्वेद की सफलता, सत्यता और प्रयोजकता का अन्तिम निर्णय जनता ही करती है। सरकार भले ही आयुर्वेद की सेवा न करे किन्तु जनता इसे सहायता देगी ही।

गांधी जी का कथन

मुझे यहां पर गांधी जी के उस वक्तव्य की याद आ गई है जो उन्होंने एक विदेशी प्रचारक डाक्टरको कहा था। उसने गांधी जी से प्रश्न किया था कि भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात क्या वे चाहेंगे कि हम लोग रहें या चले जावें। गांधी जी ने उससे कहा कि "यदि वे भारतीय चिकित्सा प्रणाली (आयुर्वेद) में अनुसन्धान करें और भारतीय औषधियों का और भी उत्तम प्रयोग कर सकें तो वह यहां रहें। यदि वे विदेश की बनी औषधियों को मंगा कर यहां के गरीबों से पैसा निकालना चाहे तो उसका यहां से चला जाना ही अच्छा है। गांधी जी ने कहा कि उसके अन्वेषण को रसायनशाला भारत के जंगलों और परती-मैदानों में है, कीमती मकानों में नहीं जो नगरों में बनाए जाते हैं।" ये गांधी जी के शब्द हैं।

"बहुत कुछ तो पहले ही जाना जा चुका है तथा बहुत-सा ज्ञान रसायनशालाओं से जाना जा सकता है।" सुश्रुत कहता है कि सारे द्रव्यों में प्रकृति ने कुछ विशेष गुण रस-गुण-वीर्य विपाक प्रभाव आदि रखते हैं। इन गुणों को हजारों युक्तियों से भी परिवर्तित नहीं किया जा सकता, किन्तु कोई व्यक्ति यह प्रश्न नहीं कर सकता कि प्रकृति फलां पदार्थ में ही फलां-फलां गुण क्यों रखती है। हमारी सहस्रों युक्तियां भी अम्बष्ठादिगण को औषधियों को रेचक नहीं बना सकतीं, क्योंकि प्रकृति ने उनको विपरीत गुण दे रक्खा है। अतएव सुश्रुत का कथन है कि बुद्धिमान पुरुष को विज्ञान के अनुसार ही आचरण करना चाहिये और युक्तियों में व्यर्थ समय नहीं गंवाना चाहिये।

समग्र परीक्षणों तथा अन्वेषणों का प्रयोजन यह समझने का होना चाहिये कि विशेष परिस्थिति में प्रकृति किस प्रकार आचरण करती है न कि यह प्रकृति क्यों इस प्रकार कार्य करती है। क्रमशः

आयुर्वेद के लुप्त चिकित्साकर्मों के अनुसन्धान

"आयुर्वेद में पंचकर्म (स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्ति) चिकित्सा को विशेष महत्व दिया गया है। अनेक रोगों की चिकित्सा में पंचकर्म द्वारा चिकित्सा करना आयुर्वेद में लिखा गया है। बस्तिकर्म का प्रयोग केवल पेट साफ करने के लिए ही नहीं, अपितु अनेक रोगों के निवारण और वाजीकरण के लिए भी किया जाता था। परन्तु इस समय मलवार (केरल) प्रान्त को छोड़कर अन्यत्र इस चिकित्सा का प्रचार नहीं के बराबर है। इस प्रकार अग्निकर्म, क्षारकर्म, रक्तावसेचन, रसायन-चिकित्सा आदि चिकित्सा कर्म लुप्त से हो गये हैं। इन में अनुसन्धान और इन के पुनः प्रचार को आवश्यकता है। वर्तमान समय में जिन आयुर्वेद महाविद्यालयों में अच्छे आतुरालय हैं, वहां इन चिकित्साकर्मों का अनुसन्धान और प्रयोग हो सकता है। उन से यह कार्य हाथ में लेने का मेरा अनुरोध है।"

—वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

प्राचीन यूनानी वैद्यक तथा अरवी हकीम-२

ठाकुर दलजीत सिंह वैद्य

दोषविषयक उपपत्ति (ममलए अख्लात) और अरब दार्शनिक

बुकरात चिकित्सा-शास्त्र के जनक के रूप में इसलिये स्मरण किया जाता है कि उसने ही चिकित्सा सिद्धान्त के विकीर्ण वा विशृङ्खलित कड़ियों (तत्त्वों) को सुव्यवस्थित एवं सुशृङ्खलित करके उसे शास्त्र वा विज्ञान (सायन्स) का रूप दिया। ज्ञानोदय के प्रारम्भिक काल में दोषों (अख्लात) की उपपत्ति आधारशिला वैद्यक शास्त्र के पिता बुकरात ने रखी। बाद में जालीनूस ने उस नींव को सुदृढ़ बनाया और आरव्य मनीषियों तथा विद्वानों ने उस पर एक भव्य भवन का निर्माण किया। तात्पर्य यह कि दोषविज्ञान उन प्रभाव सिद्धान्तों में से है जिसका अरबों ने पूर्णतया समर्थन किया।

दोष-विज्ञान का सारांश निम्न प्रकार है।

(१) रक्त में जो एक रक्तवर्ण द्रव दृग्गोचर होता है, वह एक सादी वस्तु नहीं है, अपितु उसके भीतर रक्त सत्व (शुद्ध शोणित) के साथ श्वेत सत्व भी पाया जाता है, जिसका नाम श्लेष्मा (बलगम) है। इसके अतिरिक्त उसके साथ पीत उपादान भी पाये जाते हैं, जिनका नाम पित्त (सफरा) है, और कृष्ण उपादान (घटक) भी पाये जाते हैं, जिनका नाम सौदा है। रक्त के ये चारों आधारभूत उपादान (घटक) अखलाते अरब या अखलात (चतुर्दोष या दोष) कहलाते हैं।

इन्हीं उपादान चतुष्टय से समस्त प्राकृतिक शरीर क्रियायें जारी रहती हैं और शरीरके अन्यान्य समस्त द्रव इन्हीं से प्राप्त होते हैं।

(२) जब इन उपादानों में प्रमाण वा गुण की दृष्टि से गड़बड़ी वा कमीवेशी होती है, तब स्वास्थ्य स्थिर नहीं रहता। दूसरे शब्दों में दोषज व्याधियाँ (खिल्ती अमराज या माद्दी अमराज) उस समय उपस्थित होती हैं, जब उक्त उपादानों के प्रमाण में अथवा उनके गुण-स्वभाव में विकार उत्पन्न हुआ करता है। दुर्भाग्यवश यह समस्या उन समस्याओं के अन्तर्भूत है, जिस पर आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के प्रतिनिधियों ने बहुत काल तक व्यङ्गोक्ति और कटूक्ति की है और हमारे देश के परतन्त्र हृदयों में इसके कारण विभिन्न प्रकार की भ्रान्त आलोचनायें और निरर्थक बातें जारी रहती हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जा रहा है, यह निन्दात्मक स्वर मन्द पड़ता जा रहा है, यहाँ तक कि साम्प्रत नवीन स्वरों में समर्थन के भाव सम्मिलित होने लगे हैं। आपको यह जानकर महान आश्चर्य होगा कि—

पाश्चात्य वैद्यक के आधुनिक क्रियाशारीर (उमूरतबीइय्यः—फिजियालाजी) में अब स्पष्टतया ऐसी बातों को स्वीकार किया जा रहा है, जिनसे बड़ी सरलतापूर्वक इन सिद्धान्तों का समर्थन होता है कि—

(१) रक्त में पित्त पाया जाता है।

(२) रक्त में श्लेष्मा का अस्तित्व भी है।

(३) रक्त में सौदा (कृष्ण उपादान) का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

तात्पय यह कि आधुनिक (पाश्चात्य) वैद्यक पहले अपनी माता (प्राचीन वैद्यक विद्या) से जितना दूर हो गया था अब उतना ही मातृपार्श्व के समीपतर होता जा रहा है और जो तत्व उसे स्पष्टतः अमान्य थे, अब वे ही तत्व स्वीकार्य होने लगे हैं। मैं इस अवसर पर यह आवश्यक समझता हूँ कि उक्त दोष-त्रय (पित्त, श्लेष्मा और सौदा) में से प्रत्येक का रक्त में अस्तित्व है, संक्षेप में यह सिद्ध कर दूँ। इस अवसर पर इस विषय का निर्देश भी उचित है कि इतर सामान्य शास्त्रीय समस्याओं की भांति स्वभावतया अरबों ने उक्त समस्या में प्रत्यक्ष प्रयोग और अनुभव ही को अपना पथप्रदर्शक बनाया है।

प्रत्यक्ष द्वारा रक्त में श्लेष्मा का प्रमाण

विद्वद्वर अली हुसैन गीलानी, कानून के भाष्य-कार, जो सम्राट् अकबर और जहाँगीर के राजकीय चिकित्सकों (वैद्यों) में से थे, रक्त में श्लेष्मा का प्रमाण, इस प्रकार देते हैं कि सिरावेध के समय जो रक्त विस्रावित होता है, यदि उसे साधारण पात्र में ग्रहण करने के स्थान में ऐसे पात्र में ग्रहण किया जाय, जिस में खौलता हुआ उष्ण जल वर्तमान हो, तो जल के धरातल पर "अन्डे की सफेदी के सदृश जमी हुई एक श्वेत वस्तु दृष्टिगत होगी। यह श्लेष्मा है जो रक्त में पाई जाती है।"

यह प्रगट रहे कि अर्वाचीन वैद्यक मुक्त हृदय से यह स्वीकार करता है कि रक्त में ऐसे घटक पाये जाते हैं जो 'अन्डे की सफेदी' से मिलते-जुलते होते हैं। अतएव इन घटकों को शुक्लीय द्रव या शुक्लि (रतूबत बैजा या माद्दः बैंजियः—Albuminous substances या albumins) कहा जाता है जिनके लक्षणों में से एक व्यक्त लक्षण "उष्णता से जम जाना" है।

विद्वद्वर गीलानी के सन्दर्भ में सौभाग्यवश 'अन्डे की सफेदी' का शब्द विद्यमान है जिसको अंगरेजी अल्ब्युमिन (Albumin—शुक्लि) ही कहा जाता है।

मैं सम्प्रति प्राचीन वैद्यक (यूनानी) की ओर से विद्वज्जगत को इसके खण्डन के लिये अह्वान करता हूँ और इसकी घोषणा करता हूँ कि कोई योद्धा अन्वेषण क्षेत्र में अवतीर्ण होकर सहृदयतापूर्वक इस प्राचीन उपपत्ति को असत्य सिद्ध करे।

रक्त में पित्त का प्रमाण

आधुनिक वैद्यक की स्पष्ट स्वीकारोक्ति—

क्रियाशारीर (उमूरतबीइय्यः—Physiology) के आधुनिक ग्रन्थ जो नवीन शोधों से संस्कारित होकर विदेशों से हमारे देश में आ रहे हैं, पित्त के पोषण विषयक अनिवार्यता पर (कि शरीर पोषण में निस्सन्देह पित्त का भी काफी हाथ है) प्रबल अनुमान स्थिर किये जा रहे हैं, जिसकी विवेचना सम्प्रति अभीष्ट नहीं है। (स्टार्लिङ्ग की फिजियालाजी अवलोकन करें।)

उपलब्ध नवीन ग्रन्थों में आजकल यह स्वीकार किया जाने लगा है कि—

(१) पित्त की बहुत बड़ी राशि (न्यूनाधिक एक सेर) प्रत्यह यकृत से जो अन्त्र पर गिरा करती है, विष्ठा के साथ नाम मात्र ही उत्सर्गित होती है, शेष पुनः प्रचूषित होकर रक्तवाहिनियों में पहुँच जाती है जो पुनः पित्त के रूप में परिवर्तित होकर अन्त्रपर प्रपतित होती है और ऐसा चक्र सर्वदा जारी रहता है।

इस स्वीकारोक्ति से पैत्तिक घटकों का अन्त्र

द्वारा प्रचूषण और रक्त के प्रवाहित नदी में पुनः प्राप्त होना सिद्ध है।

(२) आधुनिक वैद्यकीय ग्रन्थ इन दिनों बड़ी ही समर्थक रीति से इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि "कभी पहले यह स्वीकार किया जाता था कि अन्त्र पर पित्त जो प्रपतित होता (अन्त्र में पित्त का अन्तर्भरण होता) है और जिसको लक्षणतः मल-मिश्र पित्त (सफरा बुराज—stereo bilind) कहा जाता है, वही पित्त वृक्कमार्ग से मूत्र में उत्सर्गित होता है, जिसका नाम अधुना मूत्रमिश्र पित्त (सफरा बौल—Urobilin) हो जाता है[1]।

इस स्वीकारोक्ति का अर्थ यही है कि रक्त में पित्त पाया जाता है, क्योंकि अन्त्र से प्रचूषित होकर वृक्कों तक पहुंचने के लिये इसके सिवा कोई अन्य मार्ग ही नहीं कि वह रक्तवाहिनियों में शोषित होकर वृक्कों की विशिष्ट प्रचूषण शक्ति (कुव्वत जाज़िबः) रक्त से पित्त के इन उपादानों को छांट-कर मूत्रमार्ग से उत्सर्गित कर देवे।

(३) कल्पना कीजिए कि रक्त में पीत वर्ण के उपादान (जिनका लाक्षणिक नाम हमारे वयोवृद्ध आदरणीय पुरुषों ने पित्त रखा है) यदि नहीं पाये जाते, तो न्यूनाधिक दैनिक मूत्र में पीतवर्णता किस वस्तु से प्राप्त हुआ करती है ? यह तो सबको ज्ञात है कि मूत्र वृक्क में बनता है और मूत्र वास्तव में वह द्रव है जो रक्त से छँटकर उत्सर्गित हुआ करता है। उक्त द्रव के साथ रक्त के अन्यान्य विशिष्ट मल भी आ जाते हैं जिनसे मूत्र की भौतिक स्थिति (किवाम) और वर्ण प्राप्त हुआ करता है।

१—संदर्भ हेतु क्रियाशारीर सम्बन्धी हेलीबर्टन स्टार्लिंग लिखित ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

रक्त में सौदा का प्रमाण

आधुनिक वैद्यक की स्पष्ट स्वीकारोक्ति

परन्तु सौदा के अस्तित्व से अज्ञान की स्वीकृति

यह एक प्रगट सत्य है कि रक्त जब बाहर निकालकर रख दिया जाता है, तब उसमें कुछ परिवर्तन उपस्थित होते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप उसकी सुर्खी, स्याही में परिवर्तित हो जाती है। उक्त परिवर्तन से जो श्याम तत्त्व प्राप्त हो जाता है उसे प्राचीन हकीम श्यामता के कारण सौदा (श्याम) कहते हैं। हमारे हकीम बन्धु इस बात के अनुमोदक हैं कि इस प्रकार के परिवर्तन अन्य वर्णीय पदार्थों में भी चाहे वह पीत वर्ण के हों या श्वेत वर्ण के, हुआ करते हैं—अर्थात् पित्त और श्लेष्मा भी श्याम तत्त्व में परिवर्तित हो सकती है।

प्राचीन हकीम इस बात के भी अनुमोदक हैं कि इस प्रकार की श्याम वस्तु न्यूनाधिक स्वास्थ्यावस्था में भी उत्पन्न होती रहती है और रुग्णावस्था में भी अर्थात् वाहिनियों से बहिर्गत होने के उपरांत जिस प्रकार के परिवर्तन रक्त के उपादानों में प्राप्त होते हैं और जिसके परिणाम में एक श्याम तत्त्व उत्पन्न हुआ करता है, उसी प्रकार शरीर के भीतर भी स्वाभाविक और अस्वाभाविक अवस्थाओं में इसी प्रकार के उलट-फेर हुआ करते हैं जिनको वैद्यकीय परिभाषा में परिणाम व परिवर्तन (इस्तिहालात) कहा जाता है। अब प्रश्न यह है कि क्या आधुनिक वैद्यक को ये प्राचीन सिद्धान्त अस्वीकार्य हैं ? इसका उत्तर यह है कि प्रथम जितनी उग्रता से ये सिद्धांत अस्वीकार्य थे, उतनी ही उग्रता से आजकल वे स्वीकार्य हैं। आधुनिक वैद्यक अब यह स्वीकार करता है कि—

(१) रक्त के मूलभूत रक्ततत्व (शोणवर्तु लि-हुमरते दम्विय्यः—Haemoglobin) के परि-

वर्तनों से श्याम वस्तुयें उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका नाम मेलानीन और हीमेटीन हैं। मेलानीन मूलतः यूनानी धातु मेलाल से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ सौदा अर्थात् श्याम है। इसी प्रकार हीमेटीन हीमा से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ रक्त है।

(२) आधुनिक वैद्यक अब इस बातको भी स्वीकार करता है कि पित्त के परिवतनों से उसमें श्यामता उत्पन्न हो जाती है; जिसको अप्रकृत पित्त या परिवर्तित पित्त (Altered bile) कहा जाता है। अस्तु, कृष्ण कामला (यर्कान स्याह—Black jaundice) रोग की सम्प्राप्ति यही है।

(३) ऐसे परिवर्तन में भी आधुनिक रसायन विद्या को अस्वीकार्य नहीं हैं कि अल्ब्यूमिन (शुक्लि जिसका अन्तर्भाव हम श्लैष्मिक पदार्थों में कर चुके हैं) ऐसे परिवर्तन उपस्थित हो सकते हैं, कि उनका वर्ण श्याम हो जाय।

(४) सौदात्मक द्रव्य (मेलानीन और हीमाटीन) के विषय में नवीन शोध (मालूमात) यह है कि यद्यपि इसका पूरा तथ्य और उत्पत्ति विषयक विवरण ज्ञात नहीं और न जाने यह श्याम तत्व कब तक अज्ञानतमसाच्छन्न रहेगा। किन्तु यह प्रगट सत्य है कि यह प्राकृतिक दशा में भी पाया जाता है और व्याधित अवस्था में भी।

प्राकृतिक दशाओं में यह बालों में, त्वचा और नेत्रमण्डल विशेष (तबक़ए मशीम Choroid) में तथा रक्त आदि में पाया जाता है और अप्राकृतिक (विकृत) दशाओं में न्यूनाधिक प्रत्येक शारीरिक द्रव और प्रत्येक अंग में संचित होकर सौदावियत (सौक्षत्मकता का प्रकाश कर सकता है।

अस्तु, आधुनिक वैद्यक के नवीन ग्रन्थों में सौदावी रोगों की बहुत बड़ी तालिका बनाई जाती है। यथा—

सौदातिसार (सौदावी अतिसार इसहाल सौदावी) Melena.

कालमेह (बौल सौदावी) Melanuria.

कृष्णस्वेद (अक सौदावी) Melanephidrosis.

कृष्णचर्म (जिल्द सौदावी) Melanoderma.

दुःस्वास्थ्य जनित कृष्णचर्मता (जिल्द सौदावी मिज़ाजी) Melanoderma bacheticorum.

जीवाणुजन्य कृष्णचर्मता (जिल्द सौदावी दूदी) Parasitic Melanoderma.

वार्द्धक्य जनित कृष्णचर्म (जिल्द सौदावी शैख़ूखी) Senile

सौदात्मकता (सौदावियत) Melasma.

„ सार्वदैहिक („ आम्मा) " Universale.

„ गर्भिणी („ हामिला) } gravidarum
„ जरायुज („ रहमिय्या) }

„ अधिवृक्कीय („ कज़रिया) suprarenale

एडीसन की व्याधि („ कुलाहे गुर्दा) Addison's Disease.

श्यावरक्त { खूनी सौदावी) Melanaersia
{ दमे „) Hematenaemia

कृष्णवर्ण कर्कटाबुर्द (सलआ सर्तानिया सौदाविया) Melano carsinoma

कृष्णवर्ण कर्कट (सर्तान सौदावी) melanotic cancer

कृष्णवर्ण कर्कट („ स्याह) Black cancer

कृष्णवर्ण कठिन घातकाबुर्द (सकीरूस सौदावी) Melano scirrhus

कालमेहि (सौदा कारोरा) Melanurin

श्यावनखता { जुफ़रा सौदाविया / नाख़ून सौदावी } Melanonychia

श्यावरोमता (सौदावी बाल)Melanochomous

श्यावमुखता (बुशर ए सौदाविया) Melancchroons

selerotic रह्मा Ochronosus

जिसमें रोगी का चेहरा कोयले की भाँति काला हो जाता है। त्वचा, कुरियाँ (तरुणास्थियाँ), नेत्र के श्वेतमण्डल (तबकए सुल्बिया) में श्यामता आ जाती है। आशुमृतक परीक्षा में पशु का की कुरियाँ, मुहरों के मध्य की कुरियाँ, स्वरयन्त्र (हंजरा) और कण्ठनाड़ी (कस्वतुरिया) की कुरियाँ निरी काली (संगेमूसा के रंग की) या दवात की स्याही के रंग की मिलती है। कभी हृदय के कपाट (अस्कार कल्बिय्य:—cardicavalves) और सूत्रकण्डिका (हृदय) (हबाल विन्रिया—chordac tendinac) भी काले हो जाते हैं।

सोदा के (सौदावी) रोग (मरजसौदावी) Melanopathy

सौदास्राव (इन्अजार सौदा) Melanorrhagia

सौदास्राव इदरार सौदा Melanorrhea

तवकए सौदाविय) Melanoplakia

कालमेह ज्वर { हुम्माबौल सौदावी } Black water { काले पानी का ज्वर } fever

कृष्ण कामला (यर्कान सौदावी) Black jaundice

" स्याह,

सिधजात कामला " सिंधी) इत्यादि इत्यादि

रक्त में द्राक्षाशर्करा (अंगूरी शकर)

बड़े आश्चर्य से आप यह श्रवण करेंगे—आरव्य हकीम इस लक्ष्य तक पहुंच चुके थे कि रक्त में द्राक्षा-स्वरस (असीरुल्इनब) जैसे मधुर उपादान होते हैं और जब इन उपादानों में परिवर्तन एवं सन्धान वा अभिषद की क्रिया होने लगती है, तब द्राक्षा-स्वरस के ये घटक भी सुरा में परिणत हो जाते हैं। अस्तु, विद्वद्वर बुर्हानुद्दीन नफीस इसी तथ्य की ओर इस प्रकार इंगित करते हैं कि रक्त का स्वाद द्राक्षा-स्वरस (असीरुलइनब) की भाँति मिष्ट है और जब उसमें अप्राकृत देहोष्मा की क्रिया से उफान (जोश) एवं परिवर्तन उत्पन्न होता है तब उसका स्वाद मद्य सरीखा हो जाता है। (शरह अस्वाब पंचम संस्करण पृ० ५६३, बहस खुनाक व जुबहा)।

रक्त हर समय परिभ्रमणशील रहता है

कानून के भाष्यकार विद्वद्वर अलीहुसैन गीलानी ने लिखा है कि—

रक्त हर समय परिभ्रमणशील (मुतहर्रिक) रहता है—"अद्म दायमुलहर्क।" यह कितनी मूल्यवान उक्ति (सुभाषित) है। क्या इस उक्ति में कोई त्रुटि है, किसी प्रकार का सन्देह है या कोई कह सकता है कि यह उक्ति किसी पश्चिमी विद्वान् से चुराई गयी है, जैसा कि हार्वे का ज्ञानचौर्य इतिहास से सिद्ध है, जिसका खण्डन किसी अंग्रेज द्वारा संभव नहीं। (संदर्भ हेतु जामउश्शरहैन प्रथम संचिका अवलोकन किया जाय)।

(अपूर्ण)

आयुर्वेद-परिभाषा

वैद्य दामोदर शर्मा गौड़ आयुर्वेदाचार्य, ए० एम० एस०



आयु (स्) शब्द का अर्थ है जीवन, विद् धातु जानने और प्राप्त करने के अर्थ में आता है। इस ज्ञान से जीवन को समझा जाता है व प्राप्त किया जाता है, इसीलिये (इसका नाम) आयुर्वेद है।

आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।

सु० सू० १।

इसमें आयु का वर्णन मिलता है अथवा इससे मनुष्य आयु को प्राप्त करता है, इसलिये (यह) आयुर्वेद है।

जो शास्त्र आयु को उसके लक्षण, सुख-असुख हित-अहित रूप चार प्रकार, तथा अवधि की इयत्ता या अनियत्तासे समझाता है; और क्योंकि वह आयु के लिये हितकर और अहितकर द्रव्यगुण-कर्मरूप भावों का उपदेश करता है—इसलिये भी वह आयुर्वेद है।

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥

च० सू० १।

हितमय-अहितमय सुखमय-दुःखमय—इस तरह चार प्रकार की आयु हैं, उस आयु का हित-अहित, और उसका प्रमाण, तथा वह आयु स्वयं लक्षण रूप से जिसमें कही गई है वह शास्त्र आयुर्वेद कहलाता है।

आयु का लक्षण—'तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिः, शरीरेन्द्रिय सत्वात्मसंयोगो वा आयुः' किया गया है। अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन और आत्माके संयोग के कारण चैतन्य का बना रहना ही जीवन है।

आयु के प्रकार—चार हैं, यथा सुखायुः—सुखी जीवन जैसे शरीर और मन की स्वस्थता, सब आवश्यक उपकरणों की सम्पन्नता तथा व्यक्तिस्वातंत्र्य।

असुखायुः—पूर्व से विपरीत दुःखी जीवन। हितायुः प्रशस्त जीवन जिससे आत्महित के साथ जनहित भी सिद्ध हो अर्थात् लोक और परलोक दोनों सुधरें। यथा प्राणीमात्र के हित की भावना, दूसरे का हक न मारना, सत्य भाषण, शान्तिपरायणता, आगा पीछा सोचकर कार्य करना, प्रमाद न करना, सदाचार का पालन, ईर्ष्या, राग, मद, मान आदि को रोकना, ज्ञान-विज्ञान, दान-तप, स्वाध्याय आदि में रत। अहितायुः—पूर्व से विपरीत गर्हित जीवन।

आयु का प्रमाण—प्रायः सौ वर्ष जीवन का प्रमाण माना गया है। अरिष्ट लक्षणों से रोगी के किसी निश्चित समय पर मरने का या शारीरिक-लक्षणों से व्यक्ति के दीर्घायु और अल्पायु होने का अनुमान करना ही आयु के प्रमाण अप्रमाण को जानना है।

आयु का हिताऽहित—जैसे कि दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि के रूप में स्वस्थ वृत्त का पालन सद्वृत्तका व्यवहार, रोगोंके कारण व प्रसारका निर्णय और चिकित्सा को समझना आदि।

आयु का हित-अहित, रोग का कारण (पहिचान भी) और चिकित्सा विद्वानों द्वारा जिस शास्त्र में वर्णित हो, वह आयुर्वेद कहलाता है। क्योंकि इसके

द्वारा मनुष्य आयु को प्राप्त करता और जानता भी है, इसलिये महर्षियों द्वारा यह शास्त्र 'आयुर्वेद' नाम से पुकारा गया है।

—'आयुर्वेद' शब्द आयुष् और वेद इन दो शब्दों के योग से बना है। आयु का अर्थ है जीवन और वेद जिस 'विद्' धातु से बना है उसका अर्थ है—होना, जानना, विचार करना और पाना।* ज्ञानार्थक के णिजन्त प्रयोग में बतलाना अर्थ हो जाता है। इस आधार पर आयुर्वेद शब्द का निर्वचन इतने तरह का हो सकता है—

(क) आयुर्विद्यतेऽस्मिन्—इसमें आयु का वर्णन मिलता है।

(ख) आयुर्वेत्ति विन्तेवाऽनेन—इससे आयु को समझता या उसका विचार करता है।

(ग) आयुर्विन्दति विन्दतेवाऽनेन—इससे आयु को प्राप्त करता है।

(घ) आयुर्विद्यते (ज्ञायते विचार्यते प्राप्यते वा) अनेन—इससे आयु जानी जाती है, विचार की जाती है या प्राप्त की जाती है।

(ङ) आयुर्वेदयति—इत्यायुर्वेदः। यह आयु को सब प्रकार से बतला देता है—इसलिये यह आयुर्वेद है।

इस परिभाषित अर्थ से यह स्पष्ट है कि 'आयुर्वेद' शब्द संकुचित अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है। न यह कुछ ग्रन्थों तक ही सीमित है। यह तो जीवन का विज्ञान (Science of life) है। सृष्टि में जब से जीवन चक्र, बुद्धिचक्र और सुख-दुख का चक्र प्रवृत्त होता है तभी से आयुर्वेद की यह ज्ञानधारा भी बहने लगती है तथा कालगति से ज्यों २ जीवनादि का चक्र प्रगति करता है; त्यों-त्यों यह ज्ञानधारा भी शाखा-प्रशाखाओं में प्रस्फुटित एवं समय समय पर इतस्ततः उठे मनस्वि-मेधों के नूतन ज्ञानोदक प्रस्रवर्ण से अभिप्लुत हो उमड़ती हुई विस्तीर्ण होने लगती है। प्राचीन ऋषियों ने इसीलिये आयुर्वेद को शाश्वत और अपार बतलाया है तथा उसमें निरन्तर लगे रहने व समग्र संसार को गुरु मानने का उपदेश किया है यथा—

साऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते; अनादित्वात् ··। न हि नाभूत्कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धि सन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदिता, अनादि च सुख दुःखम्। नह्यायुर्वेदस्याऽभूत्वोत्पत्तिरुपलभ्यतेऽन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम्। च० सू० ३०

आयुर्वेद अनादि होने के कारण नित्य माना गया है। ऐसा कभी नहीं हुआ कि जीवन या बुद्धि का प्रवाह अविच्छिन्न न रहा हो, आयु का ज्ञाता आत्मा भी नित्य है, तथा सुख-दुःख का प्रवाह भी अनादि काल से चला आ रहा है। आयुर्वेद पहले नहीं था फिर उत्पन्न हुआ, ऐसा कहीं नहीं मिलता, केवल व्यक्ति विशेष को बोध हुआ और उसने दूसरों को उपदेश किया, यही मिलता है।

आयुर्वेद का कहीं पार नहीं है, अतः निरन्तर सावधानी के साथ इसमें लगा रहना चाहिये। यह (जो कुछ यहां कहा गया है) तो करना ही है किन्तु इस तरह की और उत्तम बातें दूसरों से भी ईर्ष्यारहित होकर ले लेना है। सारा ही संसार बुद्धिमानों का गुरु है, शत्रु तो केवल मूर्खों का है। इसलिये बुद्धिमान् को चाहिये कि वह अच्छी तरह से सोच विचार कर विरोधी के भी अच्छे यशस्कर, आयुष्कर पुष्टिकर और लोकानुमत उपदेश वाक्य को सुने तथा पालन करे।

इस उदात्त भावना की चिकित्सा क्षेत्र में बड़ी

---

* सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ रूपार्थाद्धिविदः स्मृताः॥

आवश्यकता है। क्योंकि किसी देश, जाति व मत धर्म आदि को लेकर इस शास्त्र का प्रवर्त्तन नहीं हुआ है। अपितु भगवान् कृष्ण के—'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्' इस आदर्श को लेकर हुआ है। तभी तो भगवान् धन्वन्तरि से शिष्यों ने प्रार्थना की है कि—

भगवन्! शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक रोगों के कारण तरह-तरह की वेदनाओं और चोटों से पीड़ित, सनाथ होकर भी अनाथों की तरह तड़फते और चिल्लाते हुए मनुष्यों को देखकर हम-लोगों के मन को बड़ा कष्ट होता है; सुख की इच्छा से व्याकुल उन प्राणियों के रोगों को दूर करने तथा अपने भी सुखपूर्वक जीवन बिताने के लिये प्रजाहित की दृष्टि से आप के यहां पढ़ाये जानेवाले आयुर्वेद को सुनना चाहते हैं। इहलोक और परलोक का कल्याण इस आयुर्वेद के आधीन है; इसीलिये आपके पास शिष्य बनकर आये हैं।

आयुर्वेद का प्रयोजन—

प्रयोजनम्चास्य—स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य विकार—प्रशमनञ्च। च॰ सू॰ ३०।

अव्याहतशरीरायुरभिवर्धेत वा कथम्।
इत्यर्थं भेषजं प्रोक्तं विकाराणां च शान्तये।

का॰ सू॰ २७।

आयुर्वेद का प्रयोजन स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी के रोग का शमन करना है—चरक। शरीर और जीवन का क्रम गड़बड़ न हो ऐसा किस तरह रहा जाय, इसके लिये तथा रोगों की शान्ति के लिये चिकित्सा शास्त्र कहा गया है—काश्यप।

आयुर्वेदकी उपादेयता

आयुर्वेद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को पढ़ना चाहिये; प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिये ब्राह्मणों को, आत्मरक्षा के लिये क्षत्रियों को, आजीविका के लिये वैश्यों को अथवा साधारण तौर से धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिये सभी को पढ़ना चाहिये। आत्मज्ञानी, धर्मपथ के संस्थापक, व धर्म के प्रचारक जनों के अथवा माता-पिता, भाई-बन्धु और गुरुजनों के रोगों की चिकित्सा में मनुष्य जो प्रयत्न करता है, और जो आयुर्वेद—प्रतिपादित अध्यात्मज्ञान का मनन करता है—उपदेश करता है तथा उसके अनुसार चलता है—यह सब उसके लिये धर्म है, और जो राजा-रईसों या धनी लोगों से आरोग्यदान के बदले भेंट स्वरूप धनलाभ होता है, सहारा मिलता है, तथा जो अपने माने जानेवाले नौकर चाकर आदि प्राणियों की रोग से रक्षा होती है—वह इसका स्वार्थ है। और जो फिर इसको विद्वानों में आदर होने से यश मिलता है, पूछ होने लगती है, सम्मान मिलता है, तथा जो इष्ट विषयों के (स्त्री पुत्र आदि के अथवा स्वशरीर के ही) आरोग्य को बनाये रखता है—वह इसकी कामना है।

अतः धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग का साधक होने से आयुर्वेद सभी के लिये उपादेय है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों को आयुर्वेद पढ़ना चाहिये। अर्थ परिज्ञान, पुण्य, आत्महित और प्रजाहित के लिये ब्राह्मणों को, प्रजा की रक्षा व्यवस्था के लिये क्षत्रियों के; व्यापार के लिये वैश्यों को और धर्म के लिये तो सभी को आयुर्वेद पढ़ना चाहिये। सुख और जीवनदान को सब धर्मों से बड़ा मानते हैं। इस तरह आयुर्वेद तो पुण्यस्वरूप है। सुख और जीवन पाकर प्रसन्न हुए प्राणी कृतज्ञता की दृष्टि से वैद्य को एक उचित भेंट देते हैं और खुलकर प्रशंसा करते हैं, इस तरह यह सब उसके धर्म अर्थ और काम का साधक होता

जाता है। आयुर्वेद क्यों पढ़ना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में यह सब कहा गया है।

कुछ प्रकरणसङ्गत और भी है—

रोगाः कार्श्यकरा बलक्षयकरा देहस्य चेष्टाहरा,
दृष्ट्यादीन्द्रिय शक्ति सक्षयकराः सर्वाङ्ग पीड़ाकराः।
धर्मार्थाखिलकाममुक्तिषु महाविघ्न स्वरूपा बलात्,
प्राणानाशु हरन्ति सन्ति यदि ते क्षेमं कुतः प्राणिनाम् ॥

भावमिश्रः।

व्याधियाँ शरीर को कृश कर देती हैं, उसके बल को घटा देती हैं, हिलने-डोलने तक की शक्ति नहीं रहने देतीं। नेत्र-कर्ण आदि इन्द्रियों के सामर्थ्य को भी कम कर देती हैं ; सारे शरीर को कष्ट पहुंचाती हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष साधन में प्रबल विघ्न करती हैं, प्राण तक देखते-देखते ले लेती हैं, जब तक ये हैं—बेचारे प्राणियों की खैर कहां ?

धर्मार्थकाम मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसोजीवितस्य च ॥

च० सू० १।

धम, अर्थ, काम और मोक्ष के साधन का श्रेष्ठ आधार आरोग्य ही है। रोग उस आरोग्य तथा अनमोल जीवन को नष्ट करनेवाले हैं।

धारणं ह्यस्य तन्त्रस्य वेदानां धारणं यथा।
पुण्यं माङ्गल्यमायुष्यं दुःस्वप्नकलिनाशनम् ॥
धर्मार्थ काममोक्षाणां धर्म्यमायतनं महत्।
सुखप्रदं नृणां शश्वद् धनमान यशस्करम् ॥

का० सु० २७।

वेदों की धारणा की तरह इस तन्त्र का धारण भी पवित्र, मङ्गलकारी, जीवन के लिये हितकर, दुःस्वप्न और वाकलह का नाशक, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सबसे बड़ा कारण, तथा निरन्तर मनुष्यों के लिये सुख, धन, मान और यश का देने-वाला है।

शास्त्रज्ञान में निपुण विद्वानों को चाहिये कि स्वयं प्रमाण होने तथा प्रत्यक्ष फल देखने के कारण इस शास्त्र को वेदमन्त्रों की तरह (फल में सन्देह न रखते हुए) व्यवहार में लावें। लोक-पितामह ब्रह्मा जी ने स्वयं स्मरण करके प्राणियों की अकाल मृत्यु से रक्षा करने के लिये इस शाश्वत शास्त्र की मानो रचना की।

स्वस्थ और रुग्ण दोनों को सुख पहुंचानेवाला, अभीप्सित फल और धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय का साधक—यह आयुर्वेद शास्त्र भली प्रकार जानने पर अमृत के समान ही है।

वात संशमन वर्ग-३

वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी, आयुर्वेद शास्त्राचार्य

वातशूलघ्न

'सचित्र आयुर्वेद' के सितम्बर और अक्तूबर के अंको में मैं नाड़ीवल्य, नाड़ी अवसादक औषधियों का वर्णन कर चुका हूँ। इस वर्ग की औषधियां इनके अन्तर्गत ही आती हैं। वाताक्षेपघ्न, वातदोषघ्न औषधियाँ ही वातशूलघ्न होती हैं, किन्तु स्थान-भेद से रोग का स्वरूप कुछ और प्रतीत होता है। वास्तव में वात के कुपित होने से या वातवाहिनी नाड़ियों की विकृति से शूल उत्पन्न होता है। जिस स्थान पर यह विकृति होती है, उसी स्थान पर वहां की नाड़ी की संवेदना होने से वह उस स्थान का शूल कहलाता है। इनको दूर करनेवाली औषधियाँ शूलघ्न कहलाती हैं। वहां पर प्रयुक्त औषधियाँ स्थानीय नाड़ी दुर्बलताके साथ साथ दोष-शमन क्रिया भी करतीहैं। ऐसी औषधियों की कोटि में वे आती हैं, जिनमें विशेषतः पूर्वोक्त वातदोष शामक औषधियां मिश्रित हों। यथा—ताम्रभस्म, लौहभस्म, स्वर्ण, रजत, पारद, गन्धक, संखिया, जायफल, कर्पूर, कालीमिर्च, अफीम, अजवायन, अजमोद, एरण्ड, रसोन, पलाण्डु दशमूल, वल, विदारी, हींग, कस्तूरी, केशर आदि औषधियाँ आवश्यकतानुसार दो चार या अधिक मिलाकर बनी हों। शरीर के ऊपर नाड़ियों का जाल फैला हुआ है—अतः जहां भी दोष का जमाव हुआ, नाड़ी विकृति की संवेदना पहुंचाती है और वह वहां का शूल कहा जाता है। अब चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह स्वयं विचार करे कि वात-पित्तादि विकारों का कौन सा क्षेत्र है। ऐसा जान कर ही स्थान तथा दोषानुकूल औषधियों का संग्रह किया जाता है। दृष्टान्त स्वरूप शूल का क्षेत्र विशाल होने पर भी कुछ प्रधान औषधियों का यहां वर्णन किया जाता है।

उदरशूल में—उदरवातघ्न में पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। इसमें ताम्र, हींग, व संखिया प्रधान औषधियाँ कार्य करती हैं।

नाड़ी-दौर्बल्य के कारण आमाशय, पक्वाशय, ग्रहणी, अग्न्याशय, व आन्त्र की नाड़ियां दुर्बल होकर काम नहीं करती तो नाड़ीबल्य औषधियाँ (चतुर्मुख रस, चिन्तामणिरस, चिन्तामणि चतुर्मुख, बलारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट इत्यादि) उन रसों के सहयोग से दी जाती हैं। यथा—आमाशय की क्रिया हानि से उत्पन्न शूल में - ताम्राष्टक, शूलवज्रिणी, तारामण्डूर, शूलगजकेशरी, शम्बूक भस्म, हिंग्वादि चूर्ण, शंखवटी गन्धक बटी मिलाकर नाड़िवल्य औषधियाँ देने से आमाशय की नाड़ियाँ चैतन्य हो जाती हैं और शूल बन्द हो जाता है। इस प्रयोग से आमाशय स्वाभाविक कर्म करने लगता है—दीपन पाचन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और वह शूल समाप्त हो जाता है।

पक्वाशय की क्रिया शून्यता जन्य शूल—इसमें भी यही औषधियाँ लाभ करती हैं, किन्तु स्थान भेद होने से थोड़ा भेद करना पड़ता है।

रौप्यभस्म, यशदभस्म, लौहभस्म, मिश्रित औषधियाँ यहाँ अधिक लाभप्रद होती हैं। पक्वाशय (ecedeum) में अग्निरस (Pancreatic juice) व पित्त रस (Bile) आकर मिलता है और

ग्रहणी कला की क्रिया को सम्पन्न करता है। यदि यहाँ पर पित्तरस, व अग्निरस में से किसी की कमी के कारण ग्रहणी का कार्य 'धारण, पाचन, निष्कासन' के रूप में कम होता हो तो फिर ऊपर के रौप्य, यशद, लौह, ताम्र प्रधान औषधियों से यहाँ की नाड़ी अपना कार्य संभाल लेती है। यकृत की दुर्बलता, पित्त का उत्पादन सम्यक् रूप से नहीं होने पर ताम्र व रौप्य युक्त औषधियाँ लौह के योग से पूर्ण बल देकर शोधन संशमन कर कार्य सुधार देती हैं। यदि यकृत नितान्त क्रिया रहित होता है तो उसकी उत्तेजक औषधियाँ भी नाड़ीबल्य के साथ दी जाती हैं। यथा ताम्र, एलुआ, पित्त, चर्म्मभस्म, सोना, शृङ्ग गन्धक व रसयुक्त औषधियां। यकृत्प्लीहारिरस, यकृदरि लौह, अग्निकुमारलौह, व अग्निमुखरस, ताम्रपर्पटी, लौहपर्पटी, स्वर्णपर्पटी, विजयपर्पटी इत्यादि।

इस प्रकार कार्य सुधरने से नाड़ी क्रिया की सम्पन्नता बढ़ जाती है और सुधार हो जाता है। जब यकृत शिथिल होकर काम नहीं करता और पित्तरस की उत्पत्ति नहीं होती तो उस हालत में जयपाल, एलुआ आदि औषधियाँ देकर यकृत को उत्तेजित किया जाता है और पित्त निर्माण की क्रिया बढ़ाई जाती है।

पित्ताशय शूल में—क्षारत्व की कमी पित्तरस में होने पर क्षारबर्द्धक औषधि और क्षाराधिक्य होने पर अम्लताबर्द्धक अम्ल लवण का प्रयोग करके उसकी स्वभाविक स्थिति को उत्पन्न करना पड़ता है। इसकी कमी या अधिकता से उत्पन्न शूल, पित्त शूल की संज्ञा प्राप्त करता है। कटुरस, तिक्तरस प्रधान औषधियाँ, क्षारीयता को कम कर देती हैं—यथा—शतावरीस्वरस और मधु, शतावर्यादिकषाय, बृहत्यादि क्वाथ, त्रिफलादि क्वाथ।

क्षाराधिक्यता में यह योग लाभप्रद होता है। क्षार की कमी से पित्तरस की क्रिया कम होकर जब स्नेह का पचन नहीं हो पाता और अग्निरस (Pancreatic Juice) अपनी पूरी क्रिया को पित्त की लवणता में पचा नहीं पाता तो क्षारवर्द्धक औषधियां दी जाती हैं। नारिकेलक्षार, इक्षुरक क्षार, यवक्षार, खण्डामलकी, नारिकेलखण्ड, इत्यादि का प्रयोग या लवण प्रधान चूर्ण दिया जाता है।

पित्तरस के घटक पदार्थों को बिना जाने इन क्रियाओं को समझना सरल नहीं है—अतएव पित्तरस (Bile) के घटक द्रव्यों का उल्लेख यहां किया जाता है।

पित्त के घटक—लवण या क्षार—टारोकोलेट (Taurocholate) एवं ग्लाईकोलेट (glycocholate Sodium) यह दोनों लवण आमाशयिक रसस्थित लवण (cholic Acid and taurine) तथा गंधक से पित्त में प्राप्त होते हैं।

पित्त के रंजक द्रव्य—पीतरंजक—विलिरुबिन (Belirubin), पित्तहरित रंजक (Biliverdin) ये दो रंजक द्रव्य होते हैं। पीतरंजक लौहांश (Haemoglobin) से पीतकपिश (yellow & brownish) तथा हरितरंजक भी शाक सब्जियों के अंश व लौह से मिलता है। इसके अतिरिक्त इसके द्रव्यत्व को स्थिर रखने के लिए कुछ उत्तमांश Mecinoid Substance), कुछ वसा का अंश, और खनिज लवण तथा चूने की वस्तु (carbonate & Phosphates) मिली होती है।

अतः इन लवणों के यथोचित मात्रा में रहने से पित्त में सारे गुण आते हैं और इसकी कमी के कारण अग्न्याशय की क्रिया से शूल होता है। उसमें भी क्षार होते हैं—उसके भी घटक देखें—

अग्निरस (Pancreatic Juice) जल (water) ९७.६ प्रतिशत, सेन्द्रिय ठोस वस्तु (Organic solids) १.८ प्रतिशत, सेन्द्रिय लवण (Inorganic salts) ०६ प्रतिशत।

अतः पित्तरस व अग्निरस जब मिलते हैं, क्षार-प्रधान रस बनकर स्नेह का पाचन, विभाजन व शोषण कर देता है। अतः जब यह क्षार आमाशयिक रस की कमी, लवणांश प्रधान खाद्य वस्तु की कमी से होता है, तो उसकी पूर्ति क्षार प्रधान चूर्ण के प्रयोग से होती है। क्षारत्वाधिक्य से पित्त कटुरस प्रधान होता है—अतः क्षाराधिक्य में तिक्त रसाधिक औषधियां पित्तशामक होती हैं और कमी होने पर कटुरस प्रधान औषधियाँ उसकी दशा को सुधारती हैं।

शिरा से प्राप्त रस से यकृत रंजक द्रव्यों के (जो पित्त में है) नहीं प्राप्त करने पर, पित्त की गुण-हानि से पाण्डुत्व रोगज शूल होने पर लौह-प्रधान औषधियाँ दी जाती हैं और शूल प्रशमन किया जाता है। यथा रस मण्डूर, शर्करालौह, भीम बटक, मण्डूर मण्डूर बटिका, शतावरी मण्डूर, क्षीरमण्डूरादि। इनका वर्गीकरण भैषज्यरत्नावली में बड़ा सुन्दर किया गया है; किन्तु उसमें पित्तशामक मात्र कह कर ही उसका वर्णन आया है, फलतः उससे स्पष्ट नहीं होता। अतः यहाँ स्पष्ट लिखा दिया है।

वस्तिशूल—वस्तिशूल में वृक्क की क्रियावर्धक मूत्रल औषधियाँ देकर मूत्र की यूरिकाम्ल की मात्रा कम की जाती है—अतः यवक्षार, शिलाजीत, वदरी पाषाण, पुनर्नवा, पुनर्नवा मण्डूर व गोक्षुरादि गुग्गुल दिए जाते हैं। इनसे वृक्क मूत्रांश का अधिक छानकर तरल प्रधान मूत्र बनाता है। क्षार व लवण कम होने पर वस्ती का संवेदन कम हो जाता है, और उसकी पेशियां स्वाभाविक कार्य करती हैं।

गर्भाशयशूल—जब गर्भाशय की दीवाल की नाड़ियों में रक्त का भराव अधिक होता है अथवा गर्भाशय की श्लेष्मल कला का रसोद्रेचन अधिक बढ़ जाता है तब विगुणता उत्पन्न होने एवं संवेदना शक्ति के बढ़ने पर शूल का ज्ञान होता है—अतः नाड़ी उत्तेजक व बल्य औषधि हींग, कस्तूरी, सिन्दूर, एलुवा प्रधान औषधियां देकर इसकी शुद्धि की जाती है। कभी—कभी उत्तेजनाधिक्य में अवसादक औषधियों को संयुक्त कर देना पड़ता है और लाभ सन्तोषजनक होता है। उत्तेजक और अवसादक औषधियों में कर्पूर और अहिफेन का प्रयोग विशेषरूप से होता है।

कर्पूर—तीक्ष्ण, उष्ण कटु, ईषत्शीत, कफनाशक, कण्ठदोषनाशक, पाचक, कृमिनाशक, चक्षुष्य, पित्तशामक, विषघ्न, दाह, तृष्णा, मुखदोष नाशक व दुर्गन्धिहारक है।

यह कम मात्रा में हृदयोत्तेजक, अधिक में अव-सादक गुण करता है। गर्भाशयोत्तेजक, रजः स्राव कर व वेदनाहर और शूलघ्न होता है। यह सेवन करने पर त्वचा, वृक्क, श्वासनलिका द्वारा प्रस्वेद, मूत्र व कफ बनकर निकलता है। इस प्रकार नाड़ी शोधक व बल्य बनता है। यह मस्तिष्क उत्तेजक, मादक, आक्षेप निवारक, वेदनाहर, स्वेदजनक तथा जननेन्द्रिय उग्रता का नाशक माना जाता है। यह धमनियों में स्पन्दन की वृद्धि करता है। अतः इसके प्रयोग से आमाशय, पक्वाशय, यकृत्, प्लीहा आदि शूल की कई अवस्थाएँ शमित होती हैं। इसी प्रकार अफीम भी विशेष गुण रखता है। अतः इसका भी शूल प्रशमन में विशेष प्रयोग मिलता है।

अहिफेन—मस्तिष्क उत्तेजक, मादक, निद्राकारक, वेदना निवारक, आक्षेपहन, स्तम्भक, स्वेदजनक और वातदोषघ्न गुण रखता है।

भाव मिश्र ने त्रिदोषघ्न, वृष्य, बल्य, व मादक कहा है। यह शोषक, ग्राही, श्लेष्मघ्न, वातकर व पित्तकर गुण प्रधान होता है। अतः शूल में स्पर्श हानिकर गुण होने से शीघ्र वेदना स्थापक बन जाता है। आक्षेप निवारक, निद्राकर होने से शूल प्रशमन बनता दिखाई पड़ता है। अतः अहिफेन प्रधान औषधियाँ यथा—वेदना निवारक, वेदनास्थापक रस (रस तरंगिणी) ग्रहणी कपाट, ग्रहणी गजेन्द्रकेशरी, व मार्फिया, मार्फीन का प्रयोग शीघ्र वेदना स्थापक होता है।

नाड़ी अवसादक औषधियों में वत्सनाभ के प्रयोग भी बताये गए हैं। वातगजांकुश, महावात-गजाँकुश, समीर गजकेशरी इत्यादि पूर्वोक्त औषधियाँ बहुत ही शीघ्र वेदना स्थापक बन जाती हैं, किन्तु तभी बनती हैं, जब कि कर्पूर या अफीम के साथ वत्सनाभ का प्रयोग हो।

संधि स्थानों पर शूल—अस्थियों की संधियों में भी दोष-संग्रह, आम-संग्रह से शूल होने लगता है—इसमें रसोन, हींग, एरण्ड तैल का प्रयोग किया जाता है।

हिस्टीरिया जनित शूल—मस्तिष्क व गर्भाशय की डिम्ब ग्रन्थियों में या कमर में शूल होता है। इसमें भाँग, गाँजा, अजवायन, हींग, व एलुवा प्रधान औषधियाँ नाड़ीबल्य औषधियों के योग से सद्यः शूल प्रशमन करती हैं। यदि हृदय प्रदेश में शूल हो तो फिर उदर वातघ्न औषधियों के साथ नाड़ी-बल्य औषधियाँ देते हैं।

हृच्छूल व फुफ्फुस के शूल में—श्लेष्म प्रधान स्थान होने से शृंग भस्म, जहरमोहरा खताई, हृदयार्णव, सूतशेखर रस का प्रयोग शोषक व प्रत्यावर्त्तक क्रिया करके लाभ करता है। हृदय की पेशियों की कमजोरी में अर्जुन, अशोक व लोध्र प्रधान औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं। स्वर्ण, रौप्य, लौह प्रधान तथा अन्य औषधियाँ लाभकारक होती हैं। स्वर्ण और रौप्यभस्म—यह पूर्ण बलकारक, मस्तिष्क शक्ति-वर्द्धक होकर शिरःशूल, अपस्मार, उन्माद आदि रोगों में शीघ्र लाभ पहुंचाता है। रक्त प्रवाह शैथिल्य जनित दुर्बलता में यह शीघ्र व बलपूर्वक अपना कार्य करते हैं। वात, पित्त व श्लेष्म सम्बन्धी रोगों में चाहे वह नेत्र, मस्तिष्क, शिर, मूर्धा, या कहीं भी हो रहे हों, विकृति दूर करके व्याधि प्रशमन करते हैं—अतः इनसे युक्त रसों का प्रयोग नाड़ी बल्य होकर शीघ्र शूल प्रशमक बन जाता है।

विषम ज्वरज शूल—इसमें संखिया, हरताल, मैनसिल इत्यादि प्रधान औषधियां यकृत् व प्लीहा की स्थिति सुधार कर, रक्तकणों की कमी की पूर्ति लौह व मण्डूर के योगों के साथ मिलकर लाभ पहुंचाती है।

उपदंशज शूल—इसमें उपदंशज शूल नाड़ियों की विषाक्तता के कारण क्रियाहीन होकर शूलोत्पादक होते हैं। अतः विषनाशक संखिया, चोपचीनी, पारदभस्म, ताम्रभस्म, स्वर्ण भस्म के योग से निर्मित संयुक्त औषधियाँ अपना कार्य करके शूलघ्न बनती हैं।

तीव्र पीड़ा—तीव्र पीड़ा में अहिफेन, कोकेन, व इनके विशिष्ट सत्त्वों का प्रयोग नाड़ी बल्य औषधियों के साथ होता है और वेदना-स्थापक बन जाता है। इस प्रकार देश व काल के अनुसार शूल के विभिन्न भेद होते हैं और उनकी औषधियों का प्रयोग होता है।

मेधाकर (बुद्धिवर्द्धक)

मेधाकर औषधियों का प्रभाव यह होता है कि उससे संज्ञावाही नाड़ियाँ परिपुष्ट होती हैं और मनुष्य की धारणाशक्ति भी प्रबल होती है। मेधाकर

वा बुद्धिवर्द्धक अर्थ में जिन औषधियों का संग्रह है, वह तीन प्रकार की होती हैं। यथा—ज्ञानग्रहण शक्ति (समझने की शक्ति), स्मरण शक्ति, (धारणा शक्ति) और विवेक शक्ति (सत्यासत्य निर्णायिकी बुद्धि), ये तीन कर्म इसमें माने जाते हैं। यद्यपि तीनों कर्मों का मन-बुद्धि से घनिष्ट सम्बन्ध है, फिर भी तीनों एक साथ ही प्रयुक्त हों यह सम्भव नहीं। किसी में विवेक शक्ति तीव्र होती है तो किसी में स्मरण शक्ति और किसी में धारणा शक्ति। ये शक्तियाँ भिन्न-भिन्न लोगों में कुछ कम या अधिक मात्रा में पायी जाती हैं।

ये तीनों ही कर्म मस्तिष्क के हैं। मस्तिष्क के विभिन्न केन्द्रों से विभिन्न कार्य सम्पादित होते हैं। उन कार्यों के संचालन में भी इन शक्तियों का बड़ा हाथ रहता है। ये तीनों ही शक्तियाँ जन्मना प्राप्त होती हैं। ज्ञानग्रहण करने की शक्ति बाल्यावस्था से ही रहती है जिसका आगे चलकर पूर्ण विकास होता है। ज्ञानग्रहण करने की शक्ति का पूर्ण विकास ब्रह्मचर्य के बिना संभव नहीं। धारणा शक्ति के लिये भी ब्रह्मचर्य की तथा शुक्र संरक्षण की अतीव आवश्यकता होती है। क्योंकि शुक्रक्षय से स्मरण शक्ति का ह्रास होता है। अतः धारणा शक्ति के लिये शुक्र—वीर्य-वर्द्धक औषधियों का प्रयोग किया जाता है। जीवनीयगण और रसायन द्रव्य भी इनकी वृद्धि के प्रधान केन्द्र हैं।

मेधाकर औषधियाँ—स्वर्ण, रौप्य, वंग, मुक्ता, प्रवाल, यशद, आमलकी, हरीतकी, ब्राह्मी, शतावरी, वचा, जटामांसी, शंखपुष्पी, बला, गिलोय, केशर, शालिपर्णी, अनन्तमूल, हिंगु, कस्तूरी, हल्दी, दारुहल्दी, इत्यादि बहुत-सी औषधियाँ हैं। इनके अतिरिक्त दुग्ध, घी, दधि, मक्खन, पिस्ता, चिरौंजी, बादाम इत्यादि स्निग्ध वस्तुएँ भी मेधावर्द्धक हैं।

ज्ञान ग्रहण की शक्ति बढ़ाने के लिये—कल्याण घृत, महाकल्याण घृत, क्षीर कल्याण घृत, फल घृत, पैशाचिक घृत, महापैशाचिक घृत का प्रयोग अधिक किया गया है। सारस्वत चूर्ण, उन्माद गजांकुश, भूतांकुशरस, चतुर्मुखरस, उन्मादभंजनरस, व उन्माद सम्बन्धी सब प्रकार के योग लाभदायक होते हैं। उन्माद में ज्ञानग्रहणशक्ति का लोप हो जाता है, धारण व विवेक शक्ति भी नष्ट हो जाती है—तीनों कर्म एक साथ विलुप्त हो जाते हैं। फिर भी स्मरण व विवेक शक्ति में स्मरण की बड़ी हानि होती है। ऊपर जिन औषधियों का उल्लेख हुआ है, इसमें शीघ्र लाभप्रद सिद्ध होती हैं।

धारण शक्ति के लिये—स्वल्प पंचगव्य घृत, बृहत् पंचगव्य घृत, महा चैतस घृत, कुष्माण्ड घृत का प्रयोग होता है। इनमें प्रायः मेधाकर औषधियों का ही योग अधिकांश में किया गया है।

कल्याण चूर्ण, सूत भस्म, वातकुलान्तक, चतुर्मुख, चिन्तामणि चतुर्मुख, बृहत् वात चिन्तामणि भूत भैरव रसादिका, तथा नाड़ी बल्य, पूर्व के अध्याय में कथित रसों का प्रयोग लाभप्रद होता है। विवेक शक्ति; ज्ञान ग्रहण शक्ति व धारण शक्ति के आधार पर ही बनती है। अतः इन्हीं औषधियों का योग विशेष लाभप्रद होना है।

रसायन और बाजीकरण औषधियाँ भी इसी कार्य की पूर्ति में सहायक होती हैं। आमलकी, जीवनीयगण, शतावरी, हरीतकी, ब्राह्मी, वचा, सोम आदि ये अकेले भी घृत या दुग्धके साथ प्रयोग करने पर लाभप्रद सिद्ध होते हैं। नाड़ी बल्य औषधियों में इसकी प्रयोग विधि लिख चुके हैं। इन्द्रब्रह्म वटी, वातकुलान्तक, भूतभैरवरस, चतुर्मुज रस में स्वर्ण, ताम्र, रौप्य, कस्तूरी, मनःशिला का योग होने से ये औषधियाँ नाड़ियों की शिथिलता दूर करके स्मरण शक्ति की वृद्धि करती हैं और ये तीनों कार्य होते हैं।

आगे मस्तिष्क बल्य, मस्तिष्कावसादक, सुषुम्ना-उत्तेजक व अवसादक अर्थात् शामक और बल्य औषधियों का वर्णन किया जायगा। क्रमशः

मानसिक शैथिलीकरण

प्रो० लालजीराम शुक्ल एम० ए० बी० टी०

जिस प्रकार शारीरिक शैथिलीकरण शारीरिक रोगों का विनाशक है; उसी प्रकार मानसिक शैथिलीकरण मानसिक रोगों का विनाशक है। शारीरिक शैथिलीकरण शरीर को स्वस्थ रखने के लिये अनिवार्य है, इसी प्रकार मानसिक शैथिलीकरण भी मानसिक स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य है। शारीरिक शैथिलीकरण के बारे में अमेरिका के अनेक विद्वानों ने बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं परन्तु अभी तक मानसिक शैथिलीकरण की क्रिया का संसार के सभ्य देशों में भली प्रकार से अध्ययन नहीं हुआ है। शारीरिक शैथिलीकरण के साथ भी मानसिक शैथिलीकरण होता है। लोगों का ध्यान केवल इसी प्रकार के मानसिक शैथिलीकरण पर गया है।

शारीरिक शैथिलीकरण की क्रिया में देखा गया है कि शरीर को निर्जीव जसी अवस्था में छोड़ देने से मनुष्य की शारीरिक थकावट नष्ट हो जाती है। उसके अनेक प्रकार के शारीरिक रोग अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। जो व्यक्ति प्रतिदिन शवासन का अभ्यास करता है उसे जटिल शारीरिक रोग नहीं होते। शवासन करते समय मनुष्य को अपने शरीर सम्बन्धी समस्त चिन्ताएँ समाप्त कर देनी होती हैं। इस समय न तो वह बाहरी पदार्थों की चिन्ता करता है न अपने शरीर की। वह सदा अपने आपको यही आत्म-निर्देश देता है कि उसका प्रत्येक अंग शिथिल हो रहा है, अब शरीर के किसी भी अंग पर किसी तरह का खिचाव नहीं है। यह निर्देश शरीर की चंचलता को शान्त कर देता है। उसे स्वास्थ्य की ओर अग्रसर कर देता है। शारीरिक शैथिलीकरण के समय कभी-कभी शरीर के विषय में बिलकुल भूलकर अपने मन को श्वास-प्रश्वास पर लगा देने से अनेक प्रकार के शारीरिक रोग शीघ्र अच्छे हो जाते हैं। लेखक के एक शिष्य ने इस प्रकार शारीरिक शैथिलीकरण करके अपने क्षय रोग की पहली अवस्था से अपने आपको सरलता से मुक्त कर लिया। इस शारीरिक शैथिलीकरण के अभ्यास की उपयोगिता की चर्चा उसने गोरखपुर निवासी मुनिराज श्री शिवकुमार शास्त्री से सुनी थी। इस क्रिया को भी योगाभ्यास कहते हैं।

मानसिक शैथिलीकरण शारीरिक शैथिलीकरण से कहीं अधिक कठिन वस्तु है। जिस प्रकार शारीरिक शैथिलीकरण शारीरिक-क्रिया शीलता से अधिक दुःसाध्य है, इसी प्रकार मानसिक शैथिलीकरण मानसिक क्रिया-शीलता से अधिक दुःसाध्य है। हमलोगों का स्वभाव एक विशेष प्रकार का बन गया होता है। अपने स्वभाव में विकार हो जाने के कारण जो कार्य जितना ही प्राकृतिक और सरल है उसका करना उतना ही अस्वाभाविक और अधिक जटिल दिखाई देता है। अतएव, जो व्यक्ति जितना ही अधिक चतुर, व्यवहारकुशल और विद्वान होता है, उसे मानसिक शैथिलीकरण प्राप्त करना उतना ही अधिक कठिन होता है। ऐसे व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ मौजूद रहती हैं। ये मानसिक ग्रन्थियाँ ही उस व्यक्ति

की व्याधि है। मानसिक ग्रन्थियों के कारण वह सदा बेचैन बना रहता है और उसके लिए मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में आना दुर्लभ हो जाता है। लेखक के एक विद्वान् रोगी मित्र ने हाल ही में उसे लिखा है कि अब उसकी धारणा विद्याध्ययन से हटकर सत्यज्ञान प्राप्त करने के विषय में बदल गयी है। एक साधारण अशिक्षित जाट को जितना सच्चा ज्ञान रहता है; उतना एक महान दार्शनिक को भी नहीं होता। उक्त सज्जन अच्छे दार्शनिक हैं और इन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनोंका भली प्रकार से अध्ययन किया है। प्राचीन दर्शनों के तो वे पण्डित हैं ही, परन्तु मानसिक रोग ने इन्हें व्यथित कर दिया है, इनकी श्रद्धा दार्शनिक ग्रन्थों से उठ गई है। मनुष्य को तब तक शान्ति नहीं मिलती, जबतक उसके जीवन में सरलता नहीं आती। जैसे-जैसे मनुष्य के जीवन में सरलता आती जाती है वैसे-वैसे उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ नष्ट होती जाती हैं। मानसिक ग्रन्थियों का विनष्ट होना और सरलता का आना एक ही तथ्य के दो रूप हैं।

जब मनुष्य के मन में मानसिक ग्रन्थि रहती है तो उसका जीवन एकाङ्गी हो जाता है। जिस व्यक्ति का जीवन एकाङ्गी होता है, उसमें अहंकार, हठीलापन असहिष्णुता, अनुदारता और दूसरों का छिद्रान्वेषण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। ये मानसिक रोग मानसिक विकार के प्रतीक हैं। ये ही शारीरिक रोगों का रूप धारण कर लेते हैं। इस मानसिक शैथिलीकरण से मनुष्य के मन के भीतर का खिंचाव और अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था मिट जाती है और उसकी मानसिक ग्रन्थि का निराकरण हो जाता है। मानसिक ग्रन्थि के निराकरण के लिये रोग का उत्पन्न होना प्रायः अनिवार्य-सा होता है।

मानसिक शैथिलीकरण मन की वह अवस्था है, जिसमें मनुष्य अपने विषय में चिन्ता करना भूल जाता है। किसी प्रकार की चिन्ता करना मानसिक रोग की उपस्थिति का सूचक है। धन की चिन्ता, कुटुम्ब-परिवार की चिन्ता, मान-मर्यादा की चिन्ता और स्वास्थ्य की चिन्ता प्रायः संसार के बहुत से लोगों को सताती रहती है। ये चिन्तायें तो संसार के सामान्य लोगों को होती हैं। संसार के विशिष्ट लोगों को विशेष प्रकार की चिन्ता होती है! यह चिन्ता अपने चरित्र को स्वच्छ रखने की चिन्ता है। वे सदैव इसीलिये चिन्तित रहते हैं कि उनके चरित्र में किसी प्रकार का धब्बा न लग जाय। जब किसी ऐसे व्यक्ति से कोई वास्तविक अथवा कल्पित अनैतिक कार्य हो जाता है तो उसे उसके लिये भारी आत्मभर्त्सना होने लगती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपनी सच्चरित्रता का अभिमान रखता है, उसे आत्म-भर्त्सना करने के उतने ही अधिक अवसर आते हैं। ऐसे लोग अनायास ही किसी प्रकार का अनैतिक आचरण कर बैठते हैं। इसके कारण उन्हें आत्मभर्त्सना होती है और जब यह आत्म-भर्त्सना भोगवासना को दबाने में सफल होती है तो एक ओर मनुष्य के मन में अपनी साधुता के विषय में विशेष प्रकार का अभिमान हो जाता है और दूसरी ओर उसकी भोगवासना की शक्ति प्रतिगामिनी बनकर मानसिक रोगों में परिणत होने लगती है। प्राकृतिक रूप से ये रोग अपने ही समय में छूटते हैं। सत्संग के द्वारा मानसिक शैथिलीकरण करके इन रोगों का अन्त शीघ्रता से किया जाता है।

जिस प्रकार शारीरिक शैथिलीकरण शरीर को शववत् बनाने का अभ्यास है, इसी प्रकार मानसिक शैथिलीकरण मन को क्रियाहीन बनाने का अभ्यास

है। मन को क्रियाहीन बनाना उतना सरल काम नहीं है जितना सरल काम शरीर को क्रियाहीन बनाना है। जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ में अत्यधिक विश्वास करता है तथा संसार के समक्ष नये चमत्कार दिखाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहता है, जिसका आत्मप्रतिष्ठा का भाव बढ़ा-चढ़ा है; उसके लिये मन को क्रियाहीन बनाना दुःसाध्य कार्य है। जो व्यक्ति जितना ही विख्यात है, जो अपने आपको संसार का विशेष व्यक्ति मानता है, उसके मन की चंचलता अत्यधिक होती है। ऐसे व्यक्ति के मन को क्रियाहीन बनाना अत्यन्त कठिन कार्य है।

मन के शथिलीकरण की पूर्व अवस्था में मनुष्य अपनी बुद्धि की चतुराई से ऊब जाता है। उसे निश्चय हो जाता है कि उसकी बुद्धि ही उसका विनाशक है।

जो व्यक्ति अपने आप से परेशान हो चुका है वह अपने आप को किसी एक महान् सत्य के प्रति अर्पण कर देता है। यह आत्म-समर्पण का भाव ही मन के शैथिलीकरण की पूर्व अवस्था है। एक ओर इस अवस्था में मनुष्य के मन में दैन्यभाव आ जाता है, दूसरी ओर वह अपने आप में एक महान् शक्ति के जागरण की अनुभूति करता है।

जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति के ऊपर कोई भरोसा न रखकर इस शक्ति को महान् आत्मा के प्रति अर्पण कर देता है और अपनी सत्ता को महान् सत्ता में मिला देता है तो वह अपने भले-बुरे काम के लिये अपने आप को जिम्मेदार नहीं मानता। जिसमें स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नहीं, उसमें पाप-पुण्य भी नहीं। मनुष्य के अहंभाव की मनोवृत्ति ही उसे पाप और पुण्य का भागी बनाती है। जब कोई मनुष्य अपने भीतरी हृदय से कहने लगता है कि मैं किसी भी कार्य का कर्त्ता नहीं हूं, मेरे सारे कार्य महान् सत्ता के द्वारा संचालित हैं। जब वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को इस शक्ति में मिला देता है तो उसकी सभी मानसिक ग्रन्थियाँ घुलमिल कर नष्ट हो जाती हैं। यह मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था है। वह अपने भीतर एक महान् पवित्र शक्ति की उपस्थिति की अनुभूति करता है। यह अनुभूति उसे बाहर से न होकर अन्तरात्मा से होती है। ऐसा ही व्यक्ति कहता है:—

> जो कुछ किया, सो तू किया, मैं कुछ कीन्हा नाहीं।
> जो तू कहे कि मैं किया, तू ही था मुझ माहीं॥

जब मनुष्य की इस प्रकार की मनोवृत्ति हो जाती है तो उसे न किसी प्रकार के पुण्य के लिये अभिमान होता है और न किसी प्रकार के पाप के लिए आत्म-भर्त्सना होती है। सर्वोच्च कोटि के दार्शनिक, सन्त और कवियों ने इस अनुभूति को समझा है और इसका गुणगान किया। मनुष्य की सच्ची स्वतन्त्रता अपना अभिमान बढ़ाने में नहीं है वरन् इसे खोने में है। जिस व्यक्ति को अपनी आत्म-प्रतिष्ठा का जितना ही ध्यान रहता है उसे आत्म-भर्त्सना के उतने ही अवसर हाते हैं। अपने आप को संसार के मूल तत्त्व में मिला देने का भाव मनुष्य में मानसिक शैथिलीकरण उत्पन्न करता है।

आधुनिक मानसिक चिकित्सा के विशेषज्ञ श्री एम० ए० ब्रिल और चार्ल्स युंग महाशय का कथन है कि मनुष्यको स्थायी स्वास्थ्य रखने के लिये अपनी इच्छा-शक्ति के परे व्यापक इच्छा-शक्ति के अस्तित्व में विश्वास रखना अनिवार्य है। ब्रिल महाशय का कथन है कि जिस व्यक्ति में सच्ची धार्मिकता है अर्थात् जो अपने अहंकार से मुक्त है उसे मानसिक रोग नहीं होते। इसी प्रकार मनोविज्ञान के सब

से बड़े विशेषज्ञ युंग महाशय का कथन है* कि उन्होंने गत पैंतीस वर्षों में अनेक देश के अनेकप्रकार के मानसिक रोगियों की चिकित्सा की। उनमें से पैंतीस वर्ष की अवस्था के ऊपर का कोई एक भी ऐसा रोगी न था जिसके रोग का प्रधान कारण धार्मिक समस्याओं को हल करने में असफलता न थी और कोई भी रोगी स्थायी स्वास्थ्य तब तक लाभ नहीं कर सका, जब तक उसने अपने धार्मिक विश्वासों को दृढ़ नहीं कर लिया।

जिस मनुष्य का मन एक अचल सत्ता में लग जाता है वह चिन्ता रहित हो जाता है। सांसारिक जीवन स्थायी जीवन है। इसके सभी मूल्य अस्थायी हैं। दूसरे मूल्यों की अपेक्षा चरित्र स्थायी मूल्य का द्योतक है। परन्तु यह मूल्य भी उतना स्थायी नहीं जितना कि एक निश्चल सत्ता का ज्ञान होता है। अपनी मृत्यु के बाद चरित्र की चर्चा का होना भी बन्द हो जाता है। जो व्यक्ति अपने आपको एक नित्य तत्त्व की प्राप्ति में लगा देता है और अपने सभी काम उसके यन्त्र के रूप में करता है उसे किसी बात की परवाह नहीं रह जाती। उसे सांसारिक यश,, वैभव, धन इत्यादि के विनाश से कोई क्लेश तो होता ही नहीं; उसे अपने चरित्र के दोष भी उद्विग्न नहीं करते। वह जिस प्रकार दूसरे लोगों के चरित्र के दोष साक्षी भाव से देखते हुए मुस्कुराते रहता है; उसी प्रकार अपने दोषों को भी देखकर उनके विषय में चिन्तित नहीं होता। वह सदा अपने आपको कहा करता है कि सर्वशक्तिमान् सत्ता की उपस्थिति में किसी प्रकार का अनर्थ होना सम्भव ही नहीं। जो कुछ होता है सब ठीक ही है।

उक्त विचार मनुष्य को चिन्ता से मुक्त करने का विचार है। इससे मानसिक शैथिलीकरण प्राप्त होता है। यह शिव भावना का अभ्यास है। इस अभ्यास के करने से मन के भीतर चलने वाले देवासुर संग्राम का अन्त हो जाता है। संसार के दोष युक्त पदार्थ ही शिवजी के आभूषण हैं। शिव भावना के अभ्यास से सभी घटनाएँ शुभ दिखाई देने लगती हैं। मनुष्य जिन अनुभवों के लिये अपने आपको कोसते रहता है उन्हीं अनुभवों के लिये अपनी सराहना भी करने लगता है।

शिवभावना के अभ्यास की पृष्ठभूमि पर मन को सम्पूर्ण निश्चल कर देना और उसका परमतत्त्व से एकत्व कर देना सरल है। इसके लिये लययोग का अभ्यास परम उपादेय है। मानसिक शुद्धि के पश्चात् अर्थात् शिवभावना का अभ्यास करने के बाद मनुष्य के चित्त की एकाग्रता बहुत ही अधिक बढ़ जाती है। ऐसी अवस्था में मन को किसी ध्वनि ओ३म् जाप, अनहद नाद आदि में लगा देने से मन अपने आप का लाभ कर देता है। यदि एक बार भी मनुष्य को इस लय की अनभूति हो गई तो उस की मानसिक ग्रन्थियाँ अनायास ही समूल नष्ट हो जाती हैं। यह स्थिति परम शान्तिदायिनी है। स्पेनौजा महाशय ने इस स्थिति को अलौकिक भगवत्प्रेम की स्थिति कहा है। जब मन एक बार इस स्थिति में आ जाता है तो स्वभावतः ही वह उस ओर जाने के लिये अग्रसर रहता है। मन की ऐसी अवस्था में किसी प्रकार का मानसिक विकार ठहरना असम्भव हो जाता है। मन का निर्बल हो जाना उसका साम्य अवस्था प्राप्त करना मानसिक शैथिलीकरण के अभ्यास का परिणाम है। इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य के अनेक मानसिक और शारीरिक रोग सहज में उसके अनजाने ही नष्ट हो जाते हैं।

---

* During the past thirty years the people from all the civilized countries of the earth have consulted me. I treated many hundreds of patients. Among all my patients in second half of life—that is to say over thirty five—there has not been one whose problem in the last resort was not that of finding a religious out look on life. It is safe to say that every one of them fell ill because he had lost that which living religions of every age have given to their followers and none of them has been really healed. Who did not regain his religious out look. Jung—Quetod in 'your life'. My prayer cure for worry by dale carragie.

आश्रम-व्यवस्था

वैद्य अम्बालाल जोशी, साहित्यायुर्वेदरत्न

विज्ञजनों के मस्तिष्क में सदैव यह बात उठा करती है कि क्या बगैर दवा सेवन किये मनुष्य सदैव स्वस्थ रह सकता है? यदि इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक दिया जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगा। परन्तु मात्र इतना कह देने से ही समझदारों के मस्तिष्क में हलचल मच जायगी। उनके विचारशील मस्तिष्क में प्रश्न उठेगा कि भला यह कैसे संभव है। इसका उत्तर संक्षेप में दे सकना उतना आसान नहीं है। फलतः स्पष्टीकरण के लिये कुछ बातें कहनी ही पड़ेंगी।

मानव शरीर एक मशीन है, जिनके समस्त पुर्जों के घिसकर समाप्त हो जाने की अवधि सौ वर्ष है। फिर क्या कारण है कि वह उस निश्चित अवधि के पूर्व ही मृत्यु का शिकार हो जाता है?

जिस प्रकार एक मशीन किसी अनाड़ी या नवसिखुए व्यक्ति के हाथों में सौंप देने पर वह ठीक तरह से न चलकर खराब हो जाती है—ठीक उसी प्रकार यह मानव शरीर भी अच्छी तरह से काम में नहीं लाये जाने के कारण विकृत होकर अवधि से पूर्व ही विनष्ट हो जाता है और व्यक्ति की अकाल मृत्यु हो जाती है।

ऋषि-महर्षियों द्वारा कहा गया "जीवेम शरदः शतम्" वाक्य इस प्रसङ्ग में स्मरण हो आता है। दृढ़ भावना के साथ उन्होंने ये शब्द कहे हैं। मनुष्य की आयु को उन्होंने चार भागों में विभक्त किया था जो 'चार आश्रम' संज्ञा से पहचाने जाने लगे। चारों आश्रम २५-२५ वर्ष के समय तक के लिये निश्चित थे। इनका सम्यक्तया पालन करनेवाला व्यक्ति कभी बीमार नहीं पड़ता—यह सुनिश्चित-सा था।

चारो आश्रमों के स्वास्थ्य-विषयक उपनियम भी निश्चित थे, जिनका पालन अनिवार्यतः करना पड़ता था।

यहाँ विश्वबन्द्य बापू की उस इच्छा का, जिसमें उन्होंने सौ वर्ष तक जीवित रहने की बात कही थी, उल्लेख कर देना भी अनुचित न होगा। गाँधीजी सदैव दृढ़ता के साथ यह कहते रहे कि वह १२५ वर्ष तक जीवित रहेंगे। कारण, वे मानते थे कि संयम आदि नियमोपनियमों का सम्यक्तया पालन करनेवाला व्यक्ति पूर्ण आयु भोगता है—जिसकी अवधि एक शताब्दि है। अवश्य ही इससे पूर्वकाल-कवलित होनेवाला व्यक्ति अकाल मृत्यु के ग्रास में पड़ जाता है।

यह तो ध्रुव सत्य है कि यदि आधार मजबूत है अथवा वृक्ष की जड़ें सुदृढ़ हैं तो उसका कुछ भी नहीं बिगड़ सकता। ठीक यही बात मानव-शरीर के सम्बन्ध में जन्म से लेकर पच्चीस वर्ष तक की अवधि के लिये लागू होती है। इस अवस्था को शास्त्रमतानुसार ब्रह्मचर्यावस्था या ब्रह्मचर्याश्रम, ऐसा कहा जाता है।

जीवन के अक्षयज्ञान स्वरूप इस आश्रम का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस अवस्था में बालक को ऐसे साँचे में ढाला जाता था कि वह भावी जीवन के लिये शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता को रखते हुए जीवनयापन कर सके। जीवन के जिन अंग-

उपांगों की ओर उसकी रुचि हुआ करती थी, वही शिक्षा उसे दी जाती थी। यही कारण था कि वह अपनी मानसिक तथा शारीरिक स्वस्थता को नियमित रख सकता था। उसी समय उसे जीवन सम्बन्धी सभी विषयों का ज्ञान करा दिया जाता था, जिनमें आयुर्वेद का प्रारम्भिक ज्ञान भी सम्मिलित था।

इस प्रकार प्राचीन काल में संयम, ब्रह्मचर्य, सात्विकता तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य नियमों की उचित शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी पूर्णतया स्वस्थ रहा करता था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्हें औषधियों का ज्ञान न था। औषधियों का उन्हें ज्ञान था, परन्तु औषधियों का ज्ञान रखते हुए भी अपने स्वास्थ्य नियमों के अनुसार चलते रहने के कारण उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ करता था। अंग्रेजी में एक मसल मशहूर है—"अवरोधक शक्ति का संचय चिकित्सा से कहीं उत्तम होता है।"❀

एक शिक्षित कर्मचारी के हाथों मशीन अधिक सुव्यवस्थित रहती है—उसके तमाम कल-पुर्जे बिगड़ने नहीं पाते। ठीक यही बात ब्रह्मचर्य के नियमों के पालन करनेवाले शक्तिशाली लोगों के साथ लागू होती है।

अपने जीवन के दूसरे स्तर में प्रवेश करते समय होशियार—प्रौढ़ों पर पहले के अनुभव बहुत प्रभाव डालते हैं। पूर्णतया बली, परिश्रमी तथा संयमी मनुष्य आगे के जीवन में भी अपने गुणों को नहीं छोड़ता। निष्कर्ष यह होता है कि वह अपने गार्हस्थिक जीवन को अधिक आनन्दमय तथा पवित्र बना लेता। इस प्रकार उसे न तो शारीरिक व्याधियों का ही भय रहता था और न मानसिक रोग ही आकर सताते।

❀ Prevention isbetter than cure

२५ वर्ष की अवस्था में जब मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता तब भी उस पर कड़े सामाजिक नियमों की पाबन्दी रहती थी। केवल पुत्रोत्पत्ति के लिये ही संभोग करने की आज्ञा थी। गर्भ-स्थिति के बाद तथा ऋतु काल में कुछ और उपनियम थे जिनका उल्लंघन वह नहीं कर सकता था। स्वस्थ जीवन का असली कारण यही था।

यज्ञकर्म, सन्ध्यावन्दनादि द्वारा व्यक्ति के भौतिक जीवन में अध्यात्मवाद का पुट भी अनिवार्यतः रहता था। अध्यात्मवाद की निकटता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति एक नये जीवन में प्रवेश करता था जो गृहस्थ-जीवन के उत्तरकाल में प्रारम्भ होता था—यह गृहस्थ जीवन की क्रियाशीलता तो इस अवस्था में नहीं रहती थी, फिर भी सलाह-परामर्श देना और कौटुम्बिक जीवन का पथ-प्रदर्शन करना पड़ता था।

इस अवस्था तक आकर मनुष्य की जीवनीय शक्ति का ह्रास होना प्रारम्भ हो जाया करता था। इसी कारण वह पूर्णतया अपनी शक्ति का नाश किये बिना बन में कुटिया बनाकर ब्रह्मचारी बालकों के साथ रहकर शिक्षण, भ्रमण, ईश्वर भजन आदि द्वारा पवित्र जीवन व्यतीत किया करता था। उसके ये कार्य सन्यास जीवन में प्रवेश करने की पूर्व-पीठिका के रूप में होते थे।

इस तरह मनुष्य अपने पुनीत जीवन का तीन हिस्सा बिता चुकने के बाद जीवन का शेष दिन सन्यास होकर बिताया करता था। संसार से विरक्त वह 'स्वान्तः सुखाय' तथा 'बहुजनहिताय' में अपना जीवन व्यतीत करता था। इस अवस्था में पहले तो मनुष्य को व्याधि होती ही नहीं थी, यदि होती भी तो "सौ दवा एक हवा" तथा उपवास और

(शेषांश ४७६ पृष्ठ पर)

नेत्राभिष्यन्द

(Conjunctivitis)

कविराज पुरुषोत्तमदेव मुलतानी आयुर्वेदालंकार



नेत्रवर्त्म में शोथ के परिणाम-स्वरूप अन्य उपद्रव भी हो जाते हैं; जिनमें मुख्य निम्न हैं।

सिराज पिडका, वसन्तज नेत्राभिष्यन्द, अर्म, वर्त्माधः रक्तस्राव। प्रत्येक के लक्षण निम्नलिखित हैं।

सिराज पिडका*

इस रोग में एक दाना-सा पैदा हो जाता है, जो शोथ का परिणाम है और इस दाने में पस (पीब) पड़ जाती है। प्रारम्भ में यह दाना श्लैष्मिक कोष्ठकों का बना होता है परन्तु जब यह मृदु होकर फट जाता है तो व्रण में परिवर्तित हो जाता है। यह दाना नेत्रवर्त्म या अग्रश्वेत पटल के संधिस्थान पर उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी इन दोनों स्थानों पर उत्पन्न होने से और भी कई दाने हो जाते हैं।

ये दाने प्रायः उन बच्चों में अधिक होते हैं; जिन में क्षयरोग की प्रवृत्ति हो या जो ऐसे घरों में रहते हों जहां अन्धेरा तथा गन्दगी अधिक हो और उन्हें भोजन उत्तम न मिले। क्षयरोग के लक्षण शरीर के अन्य स्थानों में भी पाये जाते हैं। जैसे-ग्रीवा में लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि, गले बढ़ जाना, चिरस्थायी प्रतिश्याय व पामा इत्यादि। कभी-कभी यह रोग पलकों की सूजन के साथ भी होता है।

सम्प्राप्ति—इस रोग का प्रारम्भ दाने के रूप में होता है। यह दाना छोटा-सा भूरे या श्वेत रङ्ग का उभारयुक्त होता है, जो पिन (pin) के सिर से ज्यादा बड़ा नहीं होता। इसके इर्द-गिर्द शोथ की परिमित लालिमा होती है; जो सारे नेत्रवर्त्म में फैली हुई होती है। कुछ दिन बीत जाने पर इस दाने के शिखर पर व्रण दिखाई देता है। यह व्रण वैसे तो एक दो सप्ताह में स्वयं साध्य हो जाता है परन्तु कभी-कभी यह अग्रश्वेतपटल पर फैल जाता है और वास्तव में नेत्रव्रण[1] उत्पन्न कर देता है। कभी-कभी ऐसा देखने में आया है कि जब यह दाना अग्रश्वेत पटल पर होता है; तब इस परत पर विस्तृत शोथ आरम्भ हो जाता है, इस पर रक्तवाहिनियां आ जाती हैं और अन्त में यह अपारदर्शक हो जाता है।

लक्षण—इस दाने के उत्पन्न होने से रोगी को बहुत कष्ट होता है, प्रकाश असह्य होता है यहां तक कि परीक्षा के लिये भी नेत्र खोलना कठिन हो जाता है और पलकों में ऐंठन हो जाती है। नेत्रों से जल बहुत गिरता है यहां तक कि गालों पर अश्रु की बूंदें टपकती रहती हैं। चिकित्सा से दाने जल्दी ठीक हो जाते हैं परन्तु कभी-कभी साध्य होकर फिर निकल आते हैं। इस प्रकार कई बार निकलते हैं। इसमें कोई भयंकर परिणाम तो नहीं होता किन्तु जब तक दाने रहते हैं तब तक रोगी के लिये कार्य करना कठिन होता है और वह नेत्र नहीं खोल सकता।

चिकित्सा—पारद इसके लिये विशेष औषधि है।

* Pastular conjunctivites पैस्चुलर कन्जक्टिवाइटिस

1—Corneal ulcer कारनीयल अल्सर

इसकी सुगम विधि यह है कि रसकर्पूर (कैलोमल) छिड़क दिया जाए। रसकर्पूर में दाना कोई नहीं रहना चाहिये। क्योंकि यह दाना यदि नेत्रवर्त्म या अग्रश्वेत पटल पर गिर गया, तो इसके घुलने में देर लगेगी और तबतक वहाँ व्रण उत्पन्न कर देगा। रसकपूर अग्रश्वेत पटल के लिये बहुत क्षोभक है अतः बच्चों को लगाते समय इसमें समान भाग टङ्कणाम्ल मिला लेना चाहिये। जब तक रसकर्पूर रोगी की आँख में छिड़कें तब तक रोगी को न तो पोटाशियम आयोडाईड खिलाना चाहिए और नाहीं शरीर पर आयोडीन लगानी चाहिये।

रसकर्पूर के स्थान पर पारद पीतोविद् १ या २ प्रतिशत की शक्ति में भी बरत सकते हैं। निचली पलक उलटा कर इस पर थोड़ी-सी मरहम रख दें और पलक को छोड़ दें तथा बाहर से पलक को जरा मल दें। परन्तु यह मरहम भी क्षोभक है। इसलिये इन औषधियों के प्रयोग के बाद नेत्र को टंकण द्राव से धोना चाहिये या आँखों को ठण्ढक पहुंचाने के लिये मिट्टी की टिकरियाँ रखें। जब यह दाना अग्रश्वेत पटल पर हो तो इसे चिकित्सा के अतिरिक्त आँख में एट्रोपीन द्राव भी डाले और तब औषधि के क्षोभक प्रभाव को हटाने के लिये ठण्डक न पहुंचावें क्योंकि ठण्डक अग्रश्वेत पटल के पाषण को बन्दकर व्रणोत्पत्ति में सहायक होगी। इसलिये जब भी आग्रश्वेत पटल आक्रान्त हो तो सदा टकोर करनी चाहिए नेत्र पर कभी भी पट्टी न बाँधें क्योंकि इससे अश्रु रुके रहेंगे और नेत्रवर्त्म गल जाएगा। अश्रुओं से गालों की रक्षा के लिए गालों पर वैजलीन लगावें जिससे अश्रु तिलक कर गिर जाएँगे।

इस स्थानिक चिकित्सा के अतिरिक्त रोगी का स्वास्थ्य उत्तम करने का प्रयत्न करें। रोगी को अच्छे स्थान में रखें और उत्तम उपचार के अतिरिक्त च्यवनप्राश, चन्द्रप्रभावर्त्ती, महात्रिफलादि घृत आदि का सेवन करावें।

वसन्तज नेत्राभिष्यन्द

वसन्त ऋतु में जब फूलों से पराग गिरता है; तो वायु के साथ नेत्रों में भी इसके क्षोभक प्रभाव से नेत्रवर्त्म में शोथ हो जाता है। इस शोथ का मुख्य कारण विशेष प्रकार की प्रोटीन[1] के प्रति नेत्र की असात्म्यता है।

लक्षण—इस रोग के लक्षण साधारण तीव्र नेत्राभिष्यन्द जैसे हैं, लेकिन भेद यह है कि नेत्रों के अन्दर और बाहर के कोनों में शोथ अधिक होता है। वहीं पर गीद भी होती है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह रोग बिना कारण के भी वसन्त ऋतु में आरम्भ हो गया है। जिनमें थोड़ी-सी भी असात्म्यता होती है उनमें जब भी यह ऋतु आती है तब यह रोग हो जाता है। आँखों में जलन तथा अस्रु बहुत निकलती है। प्रकाश असह्य होता है ज्यों-ज्यों वर्षा ऋतु बढ़ती जाती है त्यों-त्यों लक्षण भी बढ़ते जाते हैं और शरद् ऋतु के आने पर घटने लगते हैं।

चिकित्सा—वास्तविक चिकित्सा यह है कि नेत्र में ताजा गोमूत्र या एड्रिनलीन टपकाया जावे तो इससे लक्षण शीघ्र शान्त हो जाते हैं। यदि नेत्र बहुत क्षुब्ध हो तो इसके लिये थोड़ा-सा नोवोकेन द्राव भी टपका दें। नेत्रवर्त्म को टंकणद्राव या पारदद्राव से धोवें और आँखों में ठण्डक पहुंचावें।

1—Polangram protien पोलन ग्राम प्रोटीन
जब प्रोटीन के लिए शरीर असात्म्य हो तो इसे 'एलरजी' (Allergy) कहते हैं। इस अवस्था में स्वतंत्र नाड़ी मण्डल (sympathetic nervous system) शान्त हो जाता है और इसके शान्त होने के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

अर्म*

प्रस्तार्यर्म तनुस्तीर्णं श्यावं रक्तनिभं सिते।
सश्वेतं मृदु शुक्रार्म शुक्ले तद्वर्धते चिरात्।
पद्माभं मृदुरक्ताभं यन्मांसं चीयते सिते
पृथु मृद्वधि माँसार्म बहलं च यकृन्निभम्।
स्थिरं प्रस्तारि माँसाढ्यं शुष्कं स्नाय्वर्म पञ्चमम्।

माधव निदान

इस रोग में श्लेष्मकला की तह बन जाती है जो प्रायः अन्दर की तरफ नाक की ओर बनती है और कभी-कभी बाहिर की ओर बनती है। यह तह त्रिभुजाकार है जिसका शिखर अग्रश्वेत पटल की ओर होता है और आधार परिधि की (नाक की बाहिर की) ओर होता है। वह पहिले छोटी फिर धीरे-धीरे इसका शिखर अग्रश्वेतपटल की ओर बढ़ता जाता है और अन्त में इस पटल के ऊपर आ जाता है। जब तक यह पुतली के आगे नहीं आता तब तक दृष्टि में फर्क नहीं पड़ता परन्तु जब यह पुतली के आगे आ जाती है तो दृष्टि मन्द हो जाती है बढ़ता हुआ शिखर एक श्वेत धब्बे की नाईं होता है जहाँ से तह पीछे की ओर फैलती हुई दिखाई देती है। ज्योंही यह तह बनती है त्योंही नेत्रवर्त्म की रक्तवाहिनियाँ भी इस पर चढ़ जाती है। इनकी संख्या अधिक होने से तह जो पहिले श्वेतरंग की थी अब लाल हो जाती है और इस तह में विस्तृत रक्तवाहिनियाँ दिखाई देती हैं। दृष्टिमान्द्य के कारण रोगी को कुछ कण्डू भी होती है और स्त्रियों में नेत्र का सौंदर्य बिगड़ जाता है।

कारण—यह रोग अधिकतर किसानों को होता है, जो तेज वायु, धूप और धूल में अधिक समय व्यतीत करते हैं। वायु, धूप और धूल ये तीनों नेत्रवर्त्म को क्षुब्ध करते हैं, जिससे नेत्र में क्षीणताजन्य वृद्धि होकर तह भी बन जाती है। किसानों के अतिरिक्त यह रोग गाड़ीवान, राज मजदूर और नाविकों को भी होता है।

चिकित्सा—वास्तविक चिकित्सा यह है कि इस तह को काट कर निकाल दिया जाए। तह को काटने के पीछे नेत्रवर्त्म के जो कटे हुए किनारे रह जाते हैं, उन्हें २-४ टांकों से सी भी देते हैं। बढ़ने वाला जो शिखर है उसे नष्ट करना आवश्यक है। इसके लिए टिंक्चर आयोडीन या कास्टिक की बत्ती बरती जाती है। आयोडीन की पतली-सी फुरेरी बनाकर छिड़क दें और थोड़ी-सी वायु में सुखाकर इससे इस शिखर को स्पर्श करें। जब यह शिखर अग्रश्वेत पटल पर हो तो स्पर्श करते हुए बड़ी सावधानी से काम लें जिससे स्वस्थ अग्रश्वेतपटल पर आयोडीन न लगे। यदि शिखर इस पटल से बाहिर हो तो इसे धार रहित चम्मच में खुरच भी सकते हैं। कई चिकित्सक कार्बन डायक्साईड की बत्ती से भी इस शिखर को नष्ट करते हैं। यह बत्ती तीसरे दिन १० सेकेण्ड के लिए लगानी चाहिए।

वर्त्माधः रक्तस्राव*

रक्तस्रावः शोणितोत्थो विकारः स्रवेद्दुष्ट तत्र रक्त प्रभूतम्।

जब नेत्र पर चोट लगती है, तो नेत्रवर्त्म की कोई रक्तवाहिनी फट जाती है। प्रायः अग्रश्वेतपटल से कुछ समीप फटती है। स्रवित रक्त वर्त्मकोण की ओर बह जाता है जिसमें त्रिभुजाकार-सी बड़ी चमकीली, गहरी, लालिमा दिखाई देती है। इस त्रिभुज का शिखर अग्रश्वेतपटल की ओर होता है। खाँसने से या नेत्र दबाने से यह त्रिभुज बड़ी हो जाती है क्योंकि रक्तस्राव अधिक होता है। यदि नेत्र को विश्राम दिया जाय और खांसी को शामक औषधि से शान्त रखा जाय तो इसकी कोई विशेष चिकित्सा नहीं है। स्रवित रक्त १-२ सप्ताह में अपने आप जज्ब हो जाता है।

---

* Pterygium टेरिजियम

* Sub conjunctival Haemorrhage.

कामला और हृदयरोग

कविराज अमलाचरण सेन

रोगी की उम्र ५० वर्ष। जाति का ब्राह्मण। ता० २१-६-४२ को आरोग्यशाला में प्रविष्ट हुआ।

रोगी युवावस्था में अत्यन्त दुराचारी था। अपरिमित मांसाहार, भाँग और मद्यपान, रात्रि-जागरण, वेश्या गमन आदि उसके स्वभाव के अंग बन गए थे। युवावस्था व्यतीत होने पर उसे अम्ल-पित्त हुआ। कुछ दिन के बाद यकृत में एक विद्रधि हुआ, बहुत दिन के बाद इस रोग से छुटकारा मिला परन्तु रोगी अपनी पहले की बुरी आदतों को छोड़ नहीं सका। अत्यन्त कटु एवं लवण रस उसे प्रिय थे। गनोरिया (सुजाक) के दोष से बीच-बीच में पेशाब के साथ खून भी गिरता था। इसी समय उसे बेरीबेरी रोग हुआ। बीच-बीच में पाँवों में सूजन भी हो जाती थी। किसी के कहने से आरोग्य के लिये व्यायाम शुरू किया पर इससे दुर्बलता अधिक बढ़ गयी। पैरों की सूजन भी बढ़ गई और शरीर का रंग हल्दी की तरह पीला हो गया। परन्तु इस अवस्था में भी रोगी का आहार-विहार पहले ही की तरह चलता रहा। धीरे-धीरे आँख, मुख आदि सभी अंग पीले पड़ गए। पाखाना दिनभर में बीस पच्चीस बार थोड़ा-थोड़ा होता था। पेशाब लाल-पीला या मल के रङ्ग का होता था। आनुषंगिक रूप में जोर की खाँसी, नींद न आना, दिल की धड़कन, स्वप्नदोष, अम्लता और अत्यधिक कमजोरी थी।

रोग की इस अवस्था में निम्नोक्त प्रकार से चिकित्सा की व्यवस्था की गयी। सबेरे "नवायस चूर्ण" एक रत्ती, शिलाजीत दो रत्ती तथा योगराज गुग्गुल एक आना भर को एकत्र कर तालमखाना के पत्तों का रस एवं मधु के साथ दिया, ताकि सूजन और मूत्र विकार दूर होकर यकृत् की क्रिया ठीक से हो। दोपहर को अम्लता की शान्ति के लिए भोजन के बाद पुननंवा का रस तथा भींगे हुए गोखरू के जल के साथ "अम्लारि योग" दिया गया। इस रोग में यकृत की खराबी ही प्रधान कारण है, अतः चार बजे (दिन) अल्प मात्रा में गुडुच के रस के साथ 'लोकनाथ रस" दिया गया। सन्ध्या के बाद आठ बजे मधु तथा तुलसी पत्र रस के अनुपान से "लक्ष्मी विलास" एवं "चन्द्रामृत रस" दिया गया क्योंकि रात में खाँसी का वेग अधिक होता था। नींद के लिए सिर में पुराने घी की मालिश की गयी तथा एक दिन के अन्तर से सबेरे आठ बजे "पुनर्नवाष्टक काथ" पिलाने की व्यवस्था की गयी।

दो सप्ताह यह चिकित्सा-व्यवस्था चालू रहने से रोगी क्रमशः स्वस्थ होने लगा। दिन पर दिन उसका पेट साफ होता रहा। खाँसी कम हो गयी, आँख, मुँह तथा शरीर का पीलापन कम हो गया। पेशाब की मात्रा में कुछ वृद्धि हुई अवश्य, दिन में पन्द्रह-सोलह बार पेशाब होने लगा। परन्तु रोगी का वर्ण (रङ्ग) दिन पर दिन ठीक होता जा रहा था। सूजन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था।

सूजन कम करने के लिये औषधि व्यवस्था में परिवर्तन किया गया। सवेरे मधु के साथ "त्रिकटूवादि लोह" देकर ऊपर से बकरी का दूध पिलाया गया। दोपहर को "अम्लारि योग" पहले की तरह चालू रहा। शाम को चार बजे भिगोए हुए गोखरू के जल के साथ 'चन्द्रप्रभा गुटिका' दी गयी और सूजन पर मालिश करने के लिये "शुष्कमूलादि तैल" का उपयोग किया गया। इस व्यवस्था से दो सप्ताह चिकित्सा करने के बाद रोगी स्वस्थ हो गया और आरोग्यशाला से चल गया।

रक्तहीनताजनित हृद्रोग

हृदयरोग से पीड़िता एक हिन्दू महिला ता० ८।८।४० को आरोग्यशाला में प्रविष्ट हुई। रोगिणी के रोग परिचय और उसके पूर्व विवरण से ज्ञात हुआ कि अनतिक्रान्त यौवनावस्था एवं गर्भावस्था में इसके स्वामी की मृत्यु हो जाने से इस रोग का प्रादुर्भाव हुआ। हृत्पिण्ड के अतिस्पन्दन के साथ, अजीर्ण, अग्निमान्द्य, शिर में चक्कर तथा हाथ-पैरों में जलन आदि उपद्रव तभी से होने लगे। कुछ दिन के बाद आसन्नप्रसवा होकर किसी अस्पताल में भर्ती हुई। प्रसवकालीन प्रचुर रक्तस्राव के कारण दो दिन तक अचैतन्यावस्था में पड़ी रही, कुछ दिनों बाद उसका वह बच्चा भी जाता रहा, इन कारणों से रोगिणी का रोग उत्तरोत्तर बढ़ने लगा और वातश्लेष्मोल्वण सन्निपात रोग से ग्रसित हो गई।

हमारी आरोग्यशाला में जिस दिन रोगिणी आई, उस दिन निम्न लक्षण थे—ज्वर, पतला दस्त होना, रक्तस्राव, हृदय का स्पन्दन बढ़ा हुआ, शिर में चक्कर, रक्तहीनता, हाथ-पांव में जलन, हृदय की दुर्बलता के कारण संज्ञा हीनता आदि। रोगिणी चलने-फिरने में भी असमर्थ थी।

चिकित्सा

हमने पहले इस रोगिणी को प्रातः "नवायस-लौह" तालमखाने के पत्तों के रस में मधु के साथ तथा मध्याह्न में भोजन के बाद 'भुवनेश्वर रस' की एक गोली जल के साथ, और चार बजे सायं-काल "नागार्जुनाभ्र' अर्जुन छाल चूर्ण और मधु के साथ (छाती की विशेष धड़कन रोकने के लिये यह दवा दी गयी) और रात में ८ बजे "कृष्णचतुर्मुख रस" बला (खरेंटी) पत्र स्वरस के साथ मधु मिलाकर देने की व्यस्था की। इसके अतिरिक्त पिपासा और हाथ-पांव में जलन-शान्त के लिये बीच-बीच में "षडंग पानीय" भी देते रहे।

उपरोक्त चिकित्सा लगातार तीन दिन तक चलने के बाद रोगिणी कुछ स्वस्थ-सी हुई, दुर्बलता कुछ कम गयी और संज्ञाहीनता का भाव भी कुछ कम हुए। परन्तु चिकित्सा पूर्ववत् ही चलती रही। एक सप्ताह के बाद औषधि-व्यवस्था में परिवर्तन किया गया—अब प्रातः 'नवायस लौह और मकरध्वज" एकत्र कर ताल मखाने के पत्तों का रस और मधु के साथ मध्याह्न में परिपाक शक्ति वृद्धि और प्रस्राव (मूत्र) परिष्कार के लिये "श्वेत चूर्ण" जल के साथ, छाती की धड़कन और शोणित को ध्यान में रखते हुए चार बजे "नागार्जुनाभ्र" और लक्ष्मी विलास रस एकत्रकर दूर्वा स्वरस और चीनी के साथ देने की व्यवस्था की गयी। पाचनशक्ति ठीक नहीं थी, एवं दस्त भी अनियमित समय पर होता था, अतएव रात में पथ्य खाने के बाद "भुवनेश्वर वटी" जल के साथ देते रहे।

इस तरह की चिकित्सा ५ रोज तक चलने के बाद उपरोक्त उपद्रवों में सब तो कम हो गये, परन्तु छाती की धड़कन और रक्तस्राव ये दोनों उपद्रव शेष रह गये, अतः नवायस लौह और भुवनेश्वर रस

का परिवर्तन कर अशोकारिष्ट, हृत्पिण्डका द्रुतस्पन्दन के समय पसीना आता था, अतः नागार्जुनाभ्र, प्रवाल और मकरध्वज एकत्र कर आयापान का रस और मधु के साथ दिया गया। (आयापान का रस खासकर रक्तस्रावावरोध के लिये दिया गया)।

इस प्रकार २ सप्ताह औषध सेवन करने के बाद रोगिणी को चलने-फिरने की शक्ति प्राप्त हुई। रक्त-स्राव और छाती की धड़कन तथा हाथ-पांव की जलन आदि उपद्रव बहुत कम हो गये। रोगिणी अभी भी पूर्ण स्वस्थ नहीं हुई थी, अतएव रक्त और बलवृद्धि के लिये तथा यकृत् को सक्रिय बनाने के लिये पुनः नवायस लोह और मकरध्वज पूर्वोक्त अनुपान के साथ, तथा गर्भाशय की क्रिया स्वाभाविक स्थिति पर लाने के लिये अशोकारिष्ट और हृत्पिण्डका विकार नाश करने के लिये नागार्जुनाभ्र रस पूर्वोक्त प्रकार से ही चालू रखा गया। हाथ-पांव में जलन की शान्ति के लिए "पंचतिक्त घृत" से मालिश करने की व्यवस्था की गई। कुछ दिन तक इस प्रकार की चिकित्सा करने के बाद रोगिणी स्वस्थ हो अपने घर गयी।

(४७३ वें पृष्ठ का शेषांश)

अन्य प्राकृतिक उपचारों के द्वारा व्याधियाँ दूर की जाती थी। फिर भगवन्नाम का अटल विश्वास तथा यज्ञ-याप द्वारा शारीरिक और मानसिक शुद्धता का साम्राज्य तो अगल-बगल फैला ही रहता था। गांधीजी भी कहा करते थे कि वे अपने जीवन में रामनाम के सिवाय अन्य औषधि का सेवन नहीं करते। यह आत्म-विश्वास नहीं तो और क्या था?

यद्यपि ये बातें प्राचीन युग की हैं और आज इनका पालन नहीं होता। परन्तु मनुष्य ही तो युग-परिवर्तनकारी होता है। आज भी वह संयमित रहकर क्या अपने स्वास्थ्य को सुरक्षित नहीं रख सकता? अवश्य, उसे इस दिशा में प्रयत्नशील होना चाहिए। यही मानव जीवन की सार्थकता है। मनुष्य अपना नाता प्रकृति से अवश्य जोड़े-प्रकृति से दूर रहकर अधिक दिन तक वह सुरक्षित नहीं रह सकता। यह विनाश का पथ है, अमरत्व का नहीं।

मण्डूर वटक

'सचित्र-आयुर्वेद" के गत अङ्क में दिये योग 'मधुमण्डूर' को टीकाकार डह्लन ने 'पाण्डुरोग में सिद्धतम-योग' कहा है। अगले पद्य में दिये योग मण्डूर वटक को भी टीकाकार सिद्धतम कहता है। दोनों योग उसने अपने गुरु द्वारा व्यवहृत कहे हैं। मण्डूर वटक आधुनिक वैद्यों में भी खूब प्रचलित है। इसका पाठ निम्न है।

> बिभीतकायोमलनागराणां चूर्णं तिलानां च गुडश्च मुख्यः।
> तक्रानुपानो वटकः प्रयुक्तः क्षिणोति घोरानपि पाण्डुरोगान्॥ सु॰ उ॰ ४४।२४

बहेड़ादल, मण्डूर, शुण्ठी तथा कृष्ण तिल प्रत्येक एक-एक भाग, गुड सर्वसम। अनुपान-तक्र यह योग घोर पाण्डुरोगों को भी नष्ट करता है।

—वैद्य रणजितराय

हमारे कुछ आचारों का एक शास्त्रीय अध्ययन

डा० ए० लक्ष्मीपति भिषग्रत्न

*

'आचारस्' शब्द का आशय यहां उन परम्परागत व्यवहारों से है। जिन्हें हिन्दू समाज में एक व्यक्ति नित के जीवन में बरतता है। हिन्दू विश्वासों (धारणाओं) के अनुसार इनका नियमित तौर पर पालन करने से सच्चरित्र का निर्माण होता है। सच्चरित्र निर्माण के ये नियम धर्म-शास्त्र की पुस्तकों में सूत्रवद्ध मिलते हैं—धर्म-शास्त्र की पुस्तकों से आचार सम्बन्धी नियमादि वैद्यक शास्त्र की पाठ्य-पुस्तकों में और कानून तथा नीतिशास्त्र की पोथियों में लिये गए और विधिवत् इन नियमों की शिक्षा भी लोगों को दी गयी। आचार धर्म के ये नियम धार्मिक गुरुओं द्वारा प्रचारित हुए, और अध्यापकों तथा आयुर्वेदिक चिकित्सकों द्वारा सर्वसाधारण तक आचार सम्बन्धी नियमों का प्रसार हुआ। पुराने जमाने में इन नियमों का थोड़ा भी उल्लंघन करने पर, न केवल इसे सामाजिक शिष्टाचार के विरुद्ध माना जाता था, अपितु इसके लिये मैजिस्ट्रेट द्वारा कठोर दण्ड देने की भी व्यवस्था थी। (देखिये-अर्थशास्त्र प्रथम भाग ८ वां और २६ वां प्रकरण)

इन आचारिक नियमों का महत्त्व और शास्त्रीय आधार क्या है, यह समझने के लिये हिन्दू विचारों के अनुसार स्वस्थ वृत्त की मूल भित्ति धारणा को स्पष्टतया समझना आवश्यक है।

आरोग्य की परिभाषा

एक स्वस्थ व्यक्ति की परिभाषा निम्नप्रकार है।

> समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
> प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥
>
> सुश्रुत

पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति वह है, जिसके तीनों दोष (वात, पित्त और कफ) सम हों, पाचन क्रिया जिसकी दुरुस्त हो, और मलोत्सर्जक प्रणालियाँ (excretory process) सामान्य अवस्था में कार्य करती रही हों, आत्मा स्वच्छन्द हो और मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियाँ पवित्र और प्रसन्न हों।

इन शब्दों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। राष्ट्र की महानता अथवा उच्चता व्यक्ति की शारीरिक या भौतिक सम्पन्नता पर नहीं, अपितु उसकी मानसिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सम्पन्नता पर निर्भर है। भारत में, सभ्यता का मूल्याङ्कन भौतिक मानों (मूल्यों) से नहीं किया जाता, बल्कि नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक मूल्यों से किया जाता है। इसलिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से राष्ट्र को सुसम्पन्न करके सन्तोष की साँस लें। प्रत्युत सब से बड़ी आवश्यकता नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना की है। पाशवी शक्ति भारत का कभी भी आदर्श नहीं रही है। भारत ने पाशविक शक्ति पर भरोसा कभी नहीं किया। प्राचीन हिन्दुओं का जोर भौतिकता से अधिक आध्यात्मिकता पर था - इसलिये उनका लक्ष्य व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास था न कि भौतिक का

क्योंकि उन्हों ने इस सत्य का साक्षात्कार कर लिया था कि मनुष्य का मनुष्यत्व हाड़-मांस में नहीं है।

शरीरेन्द्रिय सत्वात्म संयोगा आयुः

चरक

इनमें से अन्तिम (आत्मा) का विकास, व्यक्ति के विकास से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। भारतीय मनीषियों का सदा से इसपर जोर रहा है। धर्म और अर्थ, काम, मोक्ष—की साधना ही पुरुषार्थ माना गया है। धर्म का अर्थ यहाँ सद्व्यवहारों से है, अर्थ का आशय धन-संचय से है। काम का अर्थ सुखेच्छा और मोक्ष का आत्मा की मुक्ति—दार्शनिक भाषा में जीव की मुक्ति या जीवन-मुक्ति कहा गया है। मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य आत्मा की मुक्ति ही माना गया है। चिर-मानसिक शान्ति की प्राप्ति में ही जीवन का सुख निहित है। किन्तु यह शान्ति तब मिलती है जब व्यक्ति इस सत्य का दर्शन कर लेता है कि मनुष्य का वाह्य शारीरिक स्वरूप ही उसका असली रूप नहीं है।

इस दृष्टि से विचार करने पर ही आचारों का वैज्ञानिक आधार स्पष्टतौर पर समझ में आवेगा।

आरोग्य के नियम

प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के लिए पहला नियम यह है कि उषाकाल में ही वह शय्या का परित्याग करे।

ब्राह्मे मुहूर्त्तेबुध्येत स्वस्थोरक्षार्थमायुषः

वाग्भट्ट

एक स्वस्थ व्यक्ति को ब्राह्म-मुहूर्त्त में ही अर्थात सूर्योदय के ४८ मिनट पूर्व जग जाना चाहिए। प्रश्न है, किस लिये ? 'रक्षार्थं आयुषः'—अर्थात् जीवन की दीर्घता के लिये। प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति, यदि दीर्घ जीवन और सुन्दर स्वास्थ्य की इच्छा रखता है, तो उसको इस नियम का पालन करना चाहिए। भारत जैसे देश का प्रातःकालीन समय, बौद्धिक विकास, मौलिक अध्ययन, एवं चिन्तन-मनन के लिये बहुत उत्तम है। मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि उस सुहावने समय में मेरी बौद्धिक शक्तियाँ काफी प्रखर रहती हैं। एकबार प्रातः उठने का अभ्यास पड़ जाने पर फिर आगे इसे जारी रखने में दिक्कत नहीं होती। प्राचीन युग के आश्रमों में जो वस्तुतः हमारे सांस्कृतिक केन्द्र होते थे, प्रातःकाल ही कार्य होते थे। गुरुकुलों में विद्यार्थी उस समय पुस्तकाध्ययन में खुशी-खुशी जुटे रहते हैं।

किन्तु यह नियम केवल स्वस्थ लोगों के लिये है, क्योंकि एक बीमार आदमी को तो अधिक से अधिक आराम की जरूरत है।

इस प्रकार समस्त आचारिक नियमों पर टिप्पणी करने की आवश्यकता है, जिससे हमलोग उसके वास्तविक महत्त्व को समझ कर उसकी प्रशंसा कर सकें।

दाँत की सफाई

स्वच्छता ही आर्य-सभ्यता का मूल है। यह बिस्तरा छोड़ने के बाद ही दाँतों की सफाई से प्रारंभ होती है।

एकैकंघर्षयेद्दन्तं दन्तमांसान्यदूषयन्

सुश्रुत

खट्टे, मीठे या कडुवे नये दातून के ब्रश से दाँतों की सफाई कीजिये। नित नये दातून का प्रयोग ही उत्तम है क्योंकि ऐसा करने से पवित्रता रहती है। इन प्राकृतिक टूथब्रशों के साथ आप चाहें तो दातों की चमक बढ़ाने के लिये सुगन्धित पाउडर और नमकीन चॉकपाउडर (तेजोवटी चूर्णम्) का भी प्रयोग कर सकते हैं।

प्रत्येक दाँत को अलग अलग साफ करें, किन्तु यह ध्यान रक्खें कि जबड़ों को आघात न पहुंचे। आधुनिक दन्त चिकित्सकों का कहना है कि ब्रश

को भूलकर भी समानान्तर रूप में इस्तेमाल नहीं करना चाहिए, किन्तु पश्चिम के देशों से जो ब्रश आते हैं, उनकी बनावट ही कुछ ऐसी होती है कि उनका इस्तेमाल उसी रूप में ही किया जा सकता है। परन्तु हमारे देशी ब्रश जो पेड़ की टहनियों के बने होते हैं, लम्ब रूप में भी प्रयुक्त हो सकते हैं और इस तरह प्रत्येक दांत की अलग-अलग सफाई इनसे की जा सकती है। इस दृष्टि से देशी ब्रश अपने विदेशी प्रतिद्वन्द्वी (विदेशी ब्रश) से कहीं अधिक स्वास्थ्य-प्रद और वैज्ञानिक है।

प्रातः स्नान

तामिल भाषा में एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है, जिसका आशय यह है कि चिकित्सकों को जो पैसे दिये जाते हैं वह बनियों को दिया जाय ; क्योंकि इससे व्याधियों का पूर्णतः निरोध हो सकेगा।

प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को नित तेल लगाकर स्नान करना चाहिये। तेल लगाकर स्नान करने से शरीर की गन्दगी दूर होती है, शरीर स्वच्छ रहता है, शरीर के समस्त रोमछिद्र स्वच्छ हो जाते हैं। फलतः किसी संक्रामक बीमारी का भी खतरा नहीं रहता। इससे बुढ़ापा भी नहीं आता, और थकावट और पीड़ा दूर होती है। इससे आँख की रोशनी बढ़ती है और शरीरका वजन भी बढ़ता है। मनुष्य दीर्घायु होता है और रात में गाढ़ी निद्रा आती है। शरीर की त्वचा का रंग साफ होता और शारीरिक शक्ति भी बढ़ती है। सिर, कान और पैरों में तेल की मालिश अवश्य होनी चाहिए।

शिरः श्रवणपादेषु तं विशेषेणशीलयेत्।

—वाग्भट्ट

पवित्रतापूर्वक स्नान करने से भूख अधिक लगती है, तेज आता है, आयु बढ़ती है, और उत्साह तथा शक्ति मिलती है। इससे चर्म रोग नहीं होता, मन कभी थकता नहीं, सदैव उत्साह और तेज बना रहता है। तन्द्रा, प्यास, किसी तरह की स्नायविक उत्तेजना जो, हृदय की अपवित्रता के परिणाम हैं, बिल्कुल नहीं होती।

आयुर्वेदिक चिकित्सकों की दृष्टि में गरम जल से स्नान करना आँखो के लिए अहितकर है—किन्तु ठंडे जल से स्नान करने पर आँख की रोशनी बढ़ती है। ठण्डे जल का स्नान स्वस्थ लोगों के लिये सर्वोत्तम है। यह एक टानिक का काम करता है। शरीर या सिर को गरम जल का स्नान चिकित्सा के रूप में ही दिया जाता है, साधारणतः बीमार लोगों के लिए गरम जल का स्नान काफी आरामदायक सिद्ध होता है।

एक वाससा जलं न विशेत्

—गौतम सूत्र

जल में एक ही वस्त्र के साथ कभी मत पैठिए। आर्यों का यही नियम था। क्योंकि स्नान करने का हेतु तो शारीरिक गन्दगी को धोकर शारीरिक परिष्कार करना है। इसलिए एक होशियार व्यक्ति एक रूखड़े वस्त्र-खण्ड को लेना कभी नहीं भूलेगा—क्योंकि शरीर के मैल को छुड़ाने में यह वस्त्र-खण्ड बड़ा काम देता है और शारीरिक सफाई के साथ-साथ व्यायाम भी हो जाता है।

सामूहिक सफाई

गाँवों और शहरों के पास पड़ोस में, मन्दिर, श्मशान, चौरस्तों तथा अन्य उपयोगी स्थानों पर मल-मूत्र विसर्जन कभी नहीं करना चाहिए।

संक्रामक रोगों का निरोध

संक्रामक रोगों से स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करके तथा उनकी छूत से अलग रहकर व्यक्ति बच सकता है। उदाहरण के लिये भारत के कुछ हिस्सों में, यह देखा गया है कि किसी एक गाँव में

संक्रामक रोग फैलने पर, आसपास के गाँव उसकी चपेट से इसलिए बच जाते हैं, क्योंकि भारत के गाँव अलग-अलग स्थित होते हैं। गाँवों का यह दस्तूर है कि एक गाँव में संक्रामक बीमारी फैलने पर दूसरे गाँव के लोगों का वहाँ आना धार्मिक रूप से भी निषिद्ध समझा जाता है। जिस परिवार में संक्रामक रोग हो जाता है, उस परिवार से वस्तुओं का लेनदेन एकदम रोक दिया जाता है। मैं बोने के लिये कुछ धान के बीज एक ऐसे परिवार से लेना चाहता था, जिसमें एक प्राणी चेचक से पीड़ित था। गाँव वालों ने इसका बड़ा विरोध किया और किसी भी मूल्य पर मुझे बीज नहीं मिल सका। इस तरह गाँवों में छूत की बीमारियों से अलग-अलग रहने की प्रवृत्ति इतनी अनुशासित है कि एक पीड़ित परिवार का व्यक्ति दूसरे परिवार के सदस्यों का स्पर्श तक नहीं करता। संक्रामक रोग से पीड़ित परिवार के यहाँ की खान-पान की वस्तुओं को भी लोग स्पर्श नहीं करते। इसे 'मडो' Madi कहा जाता है। यह दिन के भोजन की समाप्ति के बाद किया जाता है। वस्तुतः, स्नानोत्तर कोई भी व्यक्ति अपने वायें हाथ से अपने शरीर के किसी हिस्से को स्पर्श नहीं करे—क्योंकि बाँया हाथ अपवित्र समझा जाता है, भले ही वह काफी साफ किया गया क्यों न हो।

संक्रामक रोगों से लोहा लेने के लिये जो निरोधक उपाय हिन्दुओं के पास हैं, वे पूर्णतया अहिंसक हैं—क्योंकि निरोध के लिये उनके जो आचरण होते हैं, उनके द्वारा रोगों के कीटाणु नष्ट नहीं किये जाते—प्रत्युत् संक्रामक रोगों के सम्पर्क से स्वयं लोग अपने को अलग रखते हैं। गन्दगी और कूड़ो को जमा कर के रखने और मक्खियों की संख्या-वृद्धि में सहायक बनने की अपेक्षा कहीं अच्छा उपाय यह है कि हम लोग अपने पास-पड़ोस को स्वच्छ रक्खें जिससे मक्खियों को अण्डे देने की जगहें नहीं मिल सकें—। यह हमारे स्वच्छ रहने की आदत पर निर्भर करेगा—क्योंकि गन्दी और अन्धेरी जगहों पर ही मक्खियाँ अन्डे देती हैं। प्रत्येक ऐसे बर्तन को जिसमें भोज्य पदार्थ रक्खे जाते हैं, सदा सतर्कता के साथ ढक्कन देकर गाँवों में रखने की परिपाटी है। कट्टर हिन्दू परिवारों में—भोज्य पदार्थों के रखने का ढंग यही है।

क्या हम अधिक सभ्य हैं ?

इस तरह मात्र ऐन्द्रिय सुख भोगने के लिये यह अभीष्ट नहीं है कि एक नागरिक किसी भाँति अपनी जिन्दगी ढो लें—अपितु ज्यादा अभीष्ट तो यह है कि जन्म से मृत्यु पर्यन्त, और दैनिक जीवन में सुबह से शाम तक आचारिक नियमों का पालन सभी ऋतुओं में पुरुष, स्त्री, बच्चे अनुशासित रूप में करें—इससे स्वस्थ सामाजिक जीवन की बुनियाद पक्की होगी। स्वतंत्रता और लोकतंत्र का अर्थ लम्पट या दुराचारी जीवन नहीं होता। आज आवश्यक है कि सदाचारी जीवन व्यतीत करने की दिशा में प्रवृत्त करने के लिए एक-एक व्यक्तिको शिक्षित बनाया जाय ताकि वह अपने आपके प्रति ही नहीं, प्रत्युत् स्टेट के प्रति भी उत्तरदायी रहे—क्योंकि व्यक्ति ही समाज का ईकाई होता है।

शरीर और मस्तिष्क की पूर्ण स्वच्छता, रहने के स्थान और उसके अगल-बगल के वायुमण्डल की स्वच्छता, अच्छी आदतें सुखाद्य पौष्टिक भोजन, व्यायाम, स्वस्थ मनोरंजन और निद्रा ये सबके सब, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को दीर्घायु, स्वस्थ और उल्लासपूर्ण बनाने में सहायक होते हैं। इसी अंतिम लक्ष्य तक पहुंचने के लिये आयुर्वेद संघर्षशील है।

सवाल उठता है, क्या आज हम अधिक सभ्य हैं ? जब कि दांतों को साफ किये बिना ही, प्रातः बिस्तरे पर पड़े-पड़े चाय की चुसकियां लेते हैं! अगर सभ्यता का अर्थ स्वच्छता, सच्चरित्र निर्माण, शक्ति सम्पन्नता और दीर्घ जीवन है, तो मानना होगा कि प्राचीन युग के हिन्दू हमलोगों से कहीं अधिक सभ्य थे।

राज्य का दायित्व

अभी पहले जितनी बातें कही गयीं, इन सबकी बड़ी जिम्मेवारी राज्य पर है। अब तक तो नैतिक सामाजिक और आचारिक नियमों के क्षेत्र में पूरी आराजकता थी। हमलोगों ने सद्वृत्त के प्राचीन नियमों को भुला दिया और आज सफाई के आधुनिक नियमों को जानने का कष्ट नहीं उठाते। यदि नेताओं के द्वारा सदाचार (धर्म) के नियमों का अतिक्रमण किया गया और जनता को अधर्म के पथ पर ले जाया गया तो महामारी और युद्धों का ऐसा निष्ठुर सिलसिला चलेगा कि देश बर्बाद हो जायगा।

अस्तु, हमलोगों को आशा करनी चाहिए कि राष्ट्रीय सरकार और जनता, दोनों ही पब्लिक हेल्थ एक्ट और इसी तरह के दूसरे एक्टस् को बनाने में एक दूसरे के सहायक बनें—जिसका एकमात्र मन्तव्य धर्म को प्रतिष्ठित करते हुए जनता की रक्षा करना हो। सिर्फ भयानक संक्रामक व्याधियों के आक्रमण से जनता की रक्षा करना ही हर्गिज अभिप्रेत नहीं होगा—बल्कि जनता को उसकी गन्दी आदतों से और समाज विरोधी अनैतिक पापों से भी बचाना सरकार का कर्तव्य होगा। जिस चुस्ती और सावधानी से हमारी रक्षा चोर बदमाशों से सरकार द्वारा की जाती है, वैसी ही सतर्कता हमें अधर्म की राह पर जाने से रोकने के लिये सरकारी प्रयत्नों द्वारा बरती जानी चाहिए।

आत्म संयम का महत्त्व

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथिर्यथा।
स्व शरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितोभवेत्॥

चरक

जिस तरह शहर का सुपरिनटेण्डेण्ट शहरी जीवन की बेहतरी के लिये तमाम शहरवासियों को अपने नियंत्रण में रखता है, जिस तरह रथ का वाहक (सारथी) रथ के पुर्ज-पुर्ज की फिक्र करता है—उसी तरह एक बुद्धिमान आदमी सतत अपने आन्तरिक और वाह्य अवयवों को स्वच्छ रखकर और इन्द्रियों को संयमित करके सदैव ही परिस्थितिजन्य अवस्थाओं के साथ सामञ्जस्य बनाये रखने का प्रयत्न करता है।

स्वास्थ्य रक्षा के कुछ अमूल्य नियम

श्रीदत्त भारद्वाज



स्वस्थ मनुष्य का जीवन ही वास्तव में सुखकर जीवन है। अस्वस्थ तथा रुग्ण व्यक्ति इसी जीवन में नारकीय यन्त्रणाएँ भोगते रहते हैं। सब साधन सम्पन्न होने पर भी अस्वस्थ व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह सकता। अस्वस्थता का प्रायः मुख्य कारण यही होता है कि अधिकांश व्यक्ति स्वास्थ्य रक्षा के नियमों से अपरिचित रहते हैं। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो जानबूझ कर भी स्वास्थ्यरक्षा के नियमों की अवहेलना करते रहते हैं। दोनों ही अपार कष्ट भोगते हैं। अतः पाठकों की जानकारी तथा लाभ के लिये स्वास्थ्यरक्षा के कुछ अमूल्य नियमों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है:—

१—तेल की मालिश—सप्ताह में कम से कम दो बार अवश्य शरीर में मालिश करनी चाहिए। तेल मालिश से शरीर में बल, कान्ति की वृद्धि तथा हड्डियों में दृढ़ता उत्पन्न होती है, एक छटांक शुद्ध सरसों का तैल को शरीर में पचाना, आधासेर घी खाने के समान लाभदायक है।

आयुर्वेद में लिखा है कि शिर, पाँव और कान में विशेषतया तैल लगावे। सिर में तेल लगाने से बाल जल्दी नहीं पकते, भौंरों के समान बाल काले और चिकने बने रहते हैं। मस्तक की थकावट दूर होती है। बुद्धि बढ़ती है, आँख की ज्योति पुष्ट होती है, तथा मस्तक सम्बन्धी रोग बहुत ही कम होते हैं। पांव में तेल मर्दन करने से पैरों का फूटना, या थकावट, पाँव की सूजन आदि रोग नहीं होते और निद्रा खूब आती है। कान में तेल डालने से कान का पर्दा तर रहता है और कान में कोई रोग नहीं होता।

२—ब्राह्म मुहूर्त्त में उठना—प्रातः सूर्योदय से एक घण्टा पूर्व सोकर उठना अत्यन्त हितकर है। बिस्तर से एकदम घबराहट के साथ नहीं उठना चाहिए। स्वस्थचित्त हो आलस्य त्याग कर उठना ही अधिक श्रेयस्कर है।

सूर्योदय से कुछ पहले समय को अमृतवेला कहते हैं, उस समय की हवा बहुत ही सुहावनी और तन्दरुस्ती के लिए अमृत समान होती है। उस हवा से लाल खून की तेजी बढ़ती है, शारीर में तेज और बल का संचार होता है। काम करने में उत्साह होता है, बदन में एक प्रकार की फुर्त्ती आ जाती है। अंग्रेजी में एक कहावत है "थोड़ी रात गये सोने और थोड़ी रात रहे जागने से आदमी तन्दुरुस्त, दौलतमन्द, और अक्लमन्द हो जाता है।"

३—गरम जल से स्नान करते समय गरम जल मस्तक पर नहीं डालना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से नेत्रों की दृष्टि क्षीण होती है।

४—गरम जल में ठंडा जल मिलाकर पीना हानिकर है।

५—नित्य प्रति स्नान करने से जठराग्नि तेज होती तथा बल, वीर्य, बुद्धि और चैतन्यता की वृद्धि होती है। निद्रा, दाह, जलन, थकान, पसीना, खाज-खुजली और प्यास को नष्ट करता है। स्नान-हृदय को हितकारक और मैल को दूर करने वाले

उपायों में सर्वोत्तम है। शीतल जल से स्नान करने पर शरीर के बाहर की गरमी दबकर भीतर जाती है, और इसी से मनुष्य की जठराग्नि प्रबल होती है, देखते हैं कि भूख कितनी ही कम क्यों न हो, स्नान के बाद कुछ न कुछ अवश्य बढ़ जाती है।

६—स्नान के बाद शरीर को तौलिये से खूब पोछ लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से शरीर के रोम छिद्र खुल जाते हैं। तथा शुद्ध वायु इन रोम-छिद्रों से शरीर में प्रविष्ट होकर रक्त को शुद्ध करती है।

७—स्वास्थ्य के इच्छुक व्यक्तियों को प्राणायाम नित्य प्रति करना चाहिए। ऐसा करने से श्वास रोग क्षयरोग, निमोनियाँ, और संग्रहणी आदि महा भयंकर रोगों के होने की सम्भावना बहुत कम रहती है। रक्त शुद्ध करने का सर्वोत्तम प्राकृतिक उपाय यही है।

८—व्यायाम करने से शरीर गठित, सुडौल, और हृष्ट-पुष्ट तथा चित्त प्रसन्न रहता है। कठिन से कठिन कार्य में भी सदैव उत्साह और रुचि बनी रहती है। ताकतवर या चिकने पदार्थ खाने वालों को कसरत करना हमेशा ही लाभदायक है। विशेष कर जाड़े और बसन्त के मौसम में कसरत (व्यायाम) करना बहुत हितकर है।

व्यायाम करने से गर्मी, सर्दी, परिश्रम, थकावट आदि के बर्दाश्त करने की शक्ति हो जाती है। व्यायामी मनुष्य खूब तन्दुरुस्त रहता है मुटापा नाश के लिए व्यायाम के समान दूसरा कोई उपाय नहीं है। व्यायामी मनुष्य को सहसा बुढ़ापा नहीं आघेरता, एवं उसके शरीर का माँस कड़ा और मजबूत हो जाता है।

९—क्रोधित या क्षुब्ध मानसिक अवस्था में भोजन करना लाभदायक नहीं। शान्त चित्त होकर ही भोजन करना चाहिए। भोजन के बाद तुरन्त शारीरिक परिश्रम करना हानिकर है।

भोजन तृप्ति देनेवाला, तत्काल ताक़त लानेवाला, देह को धारण करनेवाला है। आहार से ही देह का पोषण होता है। इससे ही स्मृति, आयु, शक्ति, शरीर का वर्ण, उत्साह, धीरज और शोभा की वृद्धि होती है।

भोजन की इच्छा को रोकने से शरीर टूटने लगता है, अरुचि उत्पन्न होती है। आँखें कमजोर हो जाती है, ऊँघ आने लगती तथा धातुओं की क्षीणता और बल का क्षय होता है। साफ़ मालूम होता है कि बिना खाये-पिये हम जिन्दा नहीं रह सकते। अत: भोजन के मामले में हमको बड़ी होशियारी से चलना चाहिए।

१०—खूब भूख लगने पर ही भोजन करना चाहिए। भूख लगने पर भोजन न कर पानी पीने तथा प्यास लगने पर पानी न पीकर भोजन करने से जलोदर और गुल्म रोग होने की सम्भावना रहती है—आयुर्वेदाचार्यों की भी आज्ञा है—

तृषितस्तु न च श्नीयात् क्षुधितस्तु न पिबेज्जलम्।
तृषितस्तु भवेद्गुल्मो क्षुधितस्तु जलोदरी॥

अतएव भूख लगने पर भोजन करना और प्यास लगने पर पानी ही पीना चाहिए।

११—वस्त्र (कपड़े) शरीर में कसा हुआ न होकर कुछ ढीले ही पहनना चाहिए। क्योंकि कसे हुए वस्त्र शरीर के विभिन्न अवयवों की वृद्धि में बाधक होते हैं।

मनुष्य को चाहिये कि अपनी शक्ति के अनुसार जहाँ तक बन सके मैले कपड़े न पहने, क्योंकि मैले कपड़ों में जूं पड़ जाती हैं। जिससे

शरीर में खाज-खुजली चलने लगती है, मैले कपड़ेवाले को कोई पास भी नहीं बैठने देता, उसका सब जगह निरादर होता है। आदमी कुरूप मालूम देता और यह दरिद्रता की निशानी है। अतः त्याज्यहै।

स्वच्छ-साफ वस्त्र पहनने से चित्त प्रसन्न रहता है, आयु बढ़ती है, जल्दी बीमार नहीं पड़ता, साफ कपड़े पहननेवालों से कोई घृणा नहीं करता। भावमिश्र कहते हैं—स्वच्छ—निर्मल और नवीन वस्त्र कीर्त्ति को देता है। श्री की इच्छा प्रदीप्त करता है। आनन्ददायक और श्रीवृद्धि कारक है। अतः प्रत्येक मनुष्य को स्वच्छ निर्मल ही वस्त्र पहनना चाहिए।

१२—प्रातःकाल तुलसी के दस-पांच पत्ते नित्यप्रति खाने से पाचनशक्ति बढ़ती है, और मलेरिया आदि ज्वरों का भय नहीं रहता।

१३—दूध, चाय या अन्य किसी भी गरम वस्तु का सेवन करने के बाद ही शीतल जल का प्रयोग (कुल्ले आदि) नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से दांतों की जड़ें ढीली पड़ जाती हैं।

१४—भोजन के बाद पान खाना लाभदायक है, इससे पाचन शक्ति बढ़ती है। पान चरपरा, रुचिकारक, कड़वा, कषैला हलका और दस्तावर होता है। यह कफ, मुँह की बदबू और मुँह का मैल नाश करता है। जीभ और दांतों के रोग को नाश करता है, पान कामोद्दीपक भी है।

अगर सबेरे पान खाना हो तो, जरा सुपारी अधिक रखे, दोपहर का कत्था और रात को चूना अधिक रखे। साधारणतया पान में चूना आधी रत्ती और कत्था आधी रत्ती तथा सुपारी ६ रत्ती एवं इलायची, लौंग, कस्तूरी, जायफल आदि मसाले ६ रत्ती मिलाकर खाना चाहिये। इस तरह मसाला डालकर बनाया हुआ पान बड़ा उत्तम है।

बहुत पान खाने से शरीर, आंख, बाल, कान, दांत, वर्ण, बल और जठराग्नि का नाश होता है। पित्त, वात और रक्त रोग की वृद्धि होती है।

पान की पहली पीक विष के समान होती है, अतः पहली पीक फेंक ही देनी चाहिये। दूसरी पीक दुर्जर होती है, इसे भी फेंक ही देना अच्छा है, तीसरी पीक रसायन और गुणकारी होती है।

१५—क्षौर कर्म (हजामत) के बाद मस्तिष्क पर तैल मालिश करने के बाद ही स्नान करना चाहिए, पुरुष को चाहिए कि जहाँ तक हो सके बाल कम रखे। बाल अधिक रखने में सिवा दुःख के सुख कुछ भी नहीं, बाल कम रखने से माथा हलका रहता है, सिर में दर्द नहीं होता और बुद्धि बढ़ती है, यही कारण है कि अच्छे-अच्छे विद्वान-सन्यासी सिर को सफाचट रखते हैं, जो अधिक बालों के शौकीन हों, उन्हें उचित है कि बालों को सोडा या मुलतानी मिट्टी, दही, हल्दी आदि से खूब साफ किया करें। बाल बनवाकर कोई खुशबूदार तैल तत्काल ही सिर में लगा दें, क्योंकि इससे नेत्रों के लिए परम उपकार होता है।

१६—मनुष्य को मल-मूत्रादि वेगों को कदापि नहीं रोकना चाहिए। ऐसा करने से स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त हानिकर है।

१७—प्रातःकाल उठते ही फलों का सेवन करना, अपेक्षाकृत कम लाभदायक है। भोजन के पश्चात् तीसरे पहर फल का खाना अच्छा है।

जयपाल (जमालगोटा)

वैद्यराज पु० वी० धामणकर आयुर्वेदभूषण

इतिहास

जयपाल, संस्कृत नाम होने से भारतीय पदार्थ प्रतीत होता है, परन्तु अधिक गहराई तक विचार करें तो यह प्रतिनिधि ही सिद्ध होगा। जैपाल प्रथम चीन में मिला और तिब्बत के मार्ग से इस ने भारत में प्रवेश किया, इसलिये इसे नैपाली भी कहते हैं। नैपाल का अपभ्रंश रूप जपाल या जयपाल हुआ, ये तीनों शब्द आज संस्कृत साहित्यमें मिलतेहैं।

चरक-सुश्रुत-वाग्भट काल में जैपाल की जगह दंतीबीज croton polyandrum का उपयोग किया जाता था। दंती बीज पर्शिया, अरब, इजिप्ट ग्रीस आदि देशों में भो जाता था और वे इसे and कहते थे। जब जयपाल का आयात भारत में अत्यधिक मात्रा में होने लगा और प्रयोग परीक्षण से जब यह दंती बीज के गुण कर्म-तुल्य सिद्ध हुआ, तब इसका गुणधर्म-शोधन आयुर्वेद परिभाषा में करके इसका समावेश आयुर्वेदीय द्रव्य संग्रह में किया गया।

जैपाल के बीज को दंती बीज से गुण में तीव्र व आकार में बड़ा होने के कारण लोग दंती को लघुदंती व जैपाल को वृहत्दन्ती (china and) कहने लगे।

जैपाल प्रथम-प्रथम ई० सं० १५७८ में आया था ऐसा डॉयमाकका मत है, लेकिन इसके पूर्व भी अर्थात् वाग्भट के 'रस रत्न समुच्चय' में जैपाल का उल्लेख है, इससे जैपालका आगमन ११ वां शतक तक मानना पड़ेगा। इस काल को ग्रन्थ संख्या भी पर्याप्त है तथा योग संख्या भी अधिक है। चालीस रोगों पर जैपाल वाली औषधियों का उपयोग करने का उल्लेख है, इसमें सेवनीय व लेपार्थ दोनों प्रकार के प्रयोग हैं।

द्रव्य विज्ञान

आयुर्वेदीय औषधिकरण में द्रव्य-विज्ञानको महत्वपूर्ण स्थान है, इसका सम्यक ज्ञान न होने पर प्रयोग सिद्धि नहीं होती है, इसलिये इसकी सर्वप्रथम जानकारी कर लेनी चाहिये।

जैपाल को पाश्चात्यों ने Enphorbiae वर्ग में माना है। आज बाजार में इसके बहुत से नकली व मिश्रित पदार्थ मिलते हैं, उसी प्रकार यह भी नकली या दूसरी चीजों की मिलावट के साथ मिलता है। बाजारू जयपाल में घनसर croto oblongifolia, (२) दन्ती croton polyandrum, (३) पांढ़री (श्वेत) croton reticulatus, (४) मोगली एरंड Tatropa curcus, (५) लाल एरंड Tatropa Glandulifera इनमें से जो भी मिले उसकी मिलावट की जाती है। इसीमें से प्राचीन संज्ञा दन्तीबीज व अर्वाचीन जैपाल छांट लेना चाहिये, तभी संशोधन हो सकेगा।

जयपाल के गुणकर्म

दोषों का अनुलोमन व शोधन कर ही रोगहरण किया जाता है। यह दोनों काय भिन्न-भिन्न मात्रा व घटकावयवों द्वारा ही होता है, इसीलिये वमन विरेचनार्थ यह सिद्ध द्रव्य माना गया है।

आयुर्वेदीय पृथक्करण—

रस—कटु

वीर्य—उष्ण

विपाक—कटु

प्रभाव विरेचन

कर्म—कफवातहर, दीपन

रोग—मलावरोध, कफ-संचय, वात-निरोध व उससे होने वाले शूलादि चालीस विकार नाशक।

इन चालीस विकारों में अधिमांस Myoma, कुष्ठ Leprosy तथा वृश्चिक व सर्पदंश का भी समावेश है।

तैल- मधुर, केश्य, उत्क्लेदक, वामक इत्यादि।

प्रथिन—कड़वा, चरपरा, उष्ण, विशेषतः विरेचक

जिह्वा—अत्यन्त प्राणघातकर तथा मरोड़ करने वाली होती है।

In E ropean medicine, oil is used in the diseases f skin externally as a counter irritant and causes abandant pastulor irruptions. Internally it is given in small doses as 1 to ½ minim as a purgative and is particularly valuable in those cases in which the condition of the patient prevents him from swallowing. It may be placed on the back of the tongue.

In modern pharmacy its chief cousumption is in the preparation of castor oil capsules. Dymock.

जयपाल की जिह्वा को आयुर्वेद ने भी अत्यन्त विषैली माना है, इसीलिये बाह्य प्रयोगों में इसका निषेध है। कारण (If the embryo be allowed to remain, it will cause violent griping and vomiting (Sir. Dr. E. John Waring, M. D., C. I. E) जयपाल के इसी स्वभाव के कारण उसका समावेश उपविषों में करके इसके शोधन की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है।

शोधन क्या है

प्रथम अनावश्यक भाग दूर करना, दोषों का नियमन व निर्मूलन करना, गुणवर्धन व विकसन करना, द्रव्य की कार्यकारिता अपेक्षित स्वरूप की बना लेना—इस क्रियासमुचय को ही शोधन विधि कहते हैं। शोधन में to cleanse, to distill, to filter, to strain, to wash, to clarify, to dehydrate, to peel, to sort, to unhusk, to fry का समावेश होता है।

शोधन आभ्यन्तरिक व बाह्य दो प्रकार से किया जाता है। इसके भी पुनः दो उपभेद हैं, एक कायिक (physical) और दूसरा रासायनिक(chemical) प्रत्येक पदार्थ के शोधन में अनेक हेतु होते हैं जिनकी साधना के लिये विविध क्रियाओं को अपनाना पड़ता है।

शोधन प्रकार

(१) सामान्य—चक्की (चकिया) में डालकर हल्के-हल्के निस्तुषीकरण करना अर्थात् उसके छिलके निकालना।

(२) कागजी नीबू को बीच से चीरकर दो भाग करले, और नीबू के बीज निकाल डाले, इन खाली स्थानों में ७ जैपाल बीज (निस्तुष किये) जमाकर नीबू के टुकड़ों को आपस में मिलाकर ऊपर से डोरा बांध दे तथा ७ दिन तक रख छोड़े, पश्चात् जैपाल बीज निकालकर धूप में रखकर सुखा ले। यह क्रिया ७ बार करनी चाहिये।

(वैद्यरहस्य, विषचिकित्सा)

(३) विधि ऊपर लिखे अनुसार ही है, इसमें जैपाल-बीज के दल पृथक् करके रखना चाहिये और ३ दिन तक रखे। यह क्रिया तीन बार करे, यही अन्तर है। (र० र० ; कौ, शूलचिकित्सा)

(४) शुष्क स्थान पर महिष के गोबर का चार अंगुल ऊँचा चबूतरा बना ले, स्वच्छ वस्त्र में जैपाल बीज लपेटकर इस पर रखे और इसे गोबर से ढक देना चाहिये। इस विधि में कुछ लोग, जैपाल छिलका सहित दबाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि जैपाल पर गोबर के पित्त, अल्ब्युमिन इत्यादि पदार्थों का परिणाम कराने के लिये यह क्रिया है, परन्तु यह क्रिया विशेषतः बीज फुलाकर जैपाल को जिह्वा आसानी से अलग करने के लिये है। इस क्रिया में देशकाल के उष्णत्व या शीतत्व के अनुसार तीन या सात दिन भी लग जाते हैं। बीजों के फूल जाने पर उष्णजल से धोकर, अर्धशुष्क हो जाने पर बीज के दलों को चाकू से चीरकर पृथक् कर लेना चाहिये और जिह्वा को दूर कर देना चाहिये। इस जिह्वा का रङ्ग हरा, पीताभ, आकार में पतला-गोल होता है। इन बीजों को सिल पर महीन पीसकर कोरे मटके पर लेप करके धूप में सूखने के लिये रख देना चाहिये। बीज सूख जाने पर उसे छुड़ाकर नीबू का रस डालकर खरल करना चाहिये व पुनः नये मटके पर लेप करना चाहिये। तैल शुष्क होने तक यह क्रिया करनी चाहिये। तैल निकल जाने पर बालू के समान भरभरा हो जायगा। यह क्रिया देश-ऋतु के अनुसार ३ से ७ बार करनी पड़ती है (१ र० ज० नि० (२) वृ० यो० त०, (३) यो० त०, (४) यो० र०, (५) शा० सं०।

निस्तुष जैपाल-बीजों को निम्नलिखित किसी भी द्रव में, दोलायन्त्र द्वारा एक प्रहर तक पकाना चाहिये, पश्चात् उसकी जिह्वा निकाल देनी चाहिये।

द्रव—(१) दूध—(यो० र०, यो० त०, शा० सं०, वृ० यो० त०)।

(२) गोमय रस—(र० चं०)।

(३) घृतकुमारी जड़ का क्वाथ—(र० ज० नि०, र० सा० सं०) और

(४) पञ्चगव्य रस, (५) अम्लरस, (६) क्षारजल, (७) घीकुमार रस (आ० प्र०)

दोलायन्त्र—हाँडी में गले के पास आर-पार छिद्र कर उसमें काठ की शलाका फँसा दे। शोधनीयद्रव्य की पोटली इस शलाका में बाँधकर इस प्रकार लटकावे कि वह द्रव में डूबी रहे, परन्तु हाँडी की तली में न लगे।

(६) निस्तुष जैपाल-बीज जिह्वा-रहित करके जैपाल-बीज-वजन के अष्टमांश भाग टंकणक्षार मिलाकर पोटली बनावे, इस पोटली को तीन अहोरात्र पर्यन्त गोमय (गोबर) में दबाकर रखे। पश्चात् बीजों को उष्णजल से धोकर गो दुग्ध में डालकर दोलायन्त्र विधि से पकाना चाहिये। (र० सा० सं०, र० त०)

शोधन विधि

उपरोक्त वर्णित विधि नं० २, ३, ४ आतप-सिद्ध विधियाँ हैं। कारण धूप की सहायता इसमें अभीष्ट है। इसमें भी न० २ व ३ में नीबू के रस में बीजों को शुद्ध करते हैं, इन विधियों में तैल व प्रथिन भाग अवश्य रह जाता है। दूसरा प्रकार मटके पर लेप न कर तैल निकाल देने का है। न० ५ व ६ अग्नि-सिद्ध प्रकार हैं। पाचन के लिये अग्नि की सहायता लेनी पड़ती है। इस विधि में भी तैल व प्रथिन रह जाते हैं, परन्तु उबालने से प्रथिन अकार्यकारी हो जाते हैं, इस कारण शरीर में यह अधिक नहीं फूलते हैं और न फूटते ही हैं, न शोषित ही होते हैं। इनका परिणाम भी शरीर-घटकों पर विशेष प्रकार का होता है।

नीबू रस

सर्व आतप सिद्ध प्रकारों में अम्ल—विशेषतः नीबू रस—का ही उपयोग अधिक किया जाता है। जयपाल से बमन-विरेचन होने पर दही, चावल, तक्र या अम्ल रस देने का आदेश है। इनमें नीबू रस शीघ्र गुणकारी सिद्ध होता है, इसीलिये प्राचीनों ने नीबू रस में जयपाल शुद्धि का वर्णन किया है। दूसरा लाभ, नीबू रस में जैपाल खरल करने से अवगुण नष्ट हो जाता है। जैपाल को अतियोग-प्रतिबन्धक (Preventive) तथा प्रतिकारक (Antidote) दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है।

Lime Juice should be given 4 to 5 oz. The patient gets relief quickly. Lime Juice is an antidote which should always be first tried because it is generally at hand and seldom fails to afford more or less relief.

Sir. Dr. E. J. Waring., C. I. E., M. D.

उपयोग—आतपसिद्ध में नीबूफल साधित जैपाल सर्व घटकावयवों से युक्त होने से सर्व प्रकारों में तीव्र है। सर्पदंश, वृश्चिकदंश जैसे आशुकारी रोगों में व वातरोग, उदर रोग जैसे क्रूरकोष्ठी रोगियों के लिये इसी प्रकार का जैपाल लाभकारी होता है। दूसरे प्रकारों में, तैल निकल जाने से अवशेष पदार्थ (अधोगामी) विरेचक स्वभाव के होने से (इच्छाभेदी जैसे सामान्य विरेचक होने से) पित्तहर योगों में निःस्नेह व रजःसंनिभ जयपाल प्रशस्त माना गया है (शा० सं०, र० सा० सं०)।

अग्निसिद्ध प्रकार में द्रव भिन्न है, परन्तु रासायनिक क्रिया एक ही प्रकार की होती है, अर्थात तैल पूर्णांश में निर्बंध रह जाता है, अन्य द्रव्य अकार्यकर स्थिति में होने से जैपाल का कार्य पक्वाशय व वातदोषों पर अधिकतर न होकर उरःस्थान व कफदोषों पर उत्क्लेदक व वामक स्वरूप का होता है। इसलिये कफ विकारों में यह मुख द्वारा प्रशस्त माना गया है। जिस तरह जयपाल का उपयोग सेवन में करते हैं उसी प्रकार लेपार्थ भी करते हैं, नेत्ररोग सर्पविष-बाधा में नेत्रों में डालते हैं, वृश्चिकदंश, अधिमांस, कोढ़, केशरोगों में बाह्य लेपके लिये भी काम में लाते हैं।

जैपाल में लगभग ४०% से ४६% तक तैल होता है। मटके पर लेप करने से तैल निकल जाता है। अग्निसिद्ध जैपाल में तैल कम होकर १६% तक रहजाता है, ऐसा श्रीकार्तिक चन्द्र बोस का कथन है, परन्तु पनवेल के रसायानाचार्य श्री० म० ह० गोखले जी, B. Sc. के मतानुसार तैल कम न होकर उसके रंग में परिवर्तन हो जाता है। कच्चे जयपाल का तैल तप्त स्वर्ण के समान तेजस्वी होता है व उबाले हुए जैपाल के तैल में रक्तिमा नहीं होती है। आधुनिक रसायनशास्त्रीय उपकरणों की सहायता से जैपाल का तैल व प्रथिन पृथक् किये जा सकते हैं और इसमें किसी भी प्रकार की हानि न होकर यह पदार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं (तैल-बीजों का तैल निकालने के लिये 'साक्स लेट ओपरेटस' का उपयोग अगर हम करें तो बड़ा लाभ हो)। ये बड़े कार्यकारी सिद्ध होते हैं। इस विधि से निकाले हुए प्रथिन की ३-४ रत्ती की मात्रा सेवन करने से ४ प्रहर ही में उत्तम प्रकार से मल निःसरण हो जाता है, यह हमारा अनुभव है।

संशोधन—अच्छे जैपाल की पहिचान, जैपाल के तैल व प्रथिन के मान व उनकी अवस्थाएँ व उनकी निश्चित साधना, विभिन्न रोगों की अवस्था, रोगी-प्रकृति के अनुसार जैपाल कल्पों का गुण सरंक्षण, इन विषयों में आधुनिक रसायनशास्त्र व उनके साधनों का उपयोग अवश्य करना चाहिये। आज तक जैपाल पर जितना भी कार्य किया गया, बड़ा ही मनोरञ्जक व उपयोगी सिद्ध हुआ है। फिर भी वैज्ञानिक कार्य इस विषय पर बहुत कुछ होना है और उनका होना आवश्यकीय भी है। तभी जैपाल के निर्दोष, टिकाऊ व अधिक कार्यक्षम कल्प बन सकेंगे।

(आ० म० से)

कटहल, पारसपीपल और गोरखइमली

श्री भानु देसाई



कटहल

भारत में, और कदाचित् समग्र भूमण्डल में, कटहल अपने सबसे बड़े फल के कारण प्रख्यात है। वैसे उद्भिद्-विद्या की दृष्टि से विचार करें तो जिसे हम कटहल का फल समझते हैं वह एक फल न होकर अनेक छोटे-छोटे फलों के गर्भाशय का समवाय होता है। अतः उसे सबसे बड़ा फल नहीं कहा जा सकता। तथापि व्यवहार में ऐसा कहना अयुक्त नहीं।

ग्रीक शब्दों 'आरटोस' (डबल रोटी) तथा 'कारपस' (फल) के संयोग से कटहल के कुटुम्ब के वृक्षों को 'आरटोकारपस' कहते हैं। परन्तु कटहल भारत ही में होने के कारण इसे कटहल, चक्कीफणस आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। संस्कृत में इसे 'पनस' कहते हैं। हमारी भाषा (गुजराती) में इसका अपभ्रंश 'फणस' नाम ही चलित है। कटहल, अंजीर, शहतूत, बरगद, पीपल ये सब एक ही कुटुम्ब के हैं। परन्तु प्रत्येक के फलों का आकार-प्रकार, रस (स्वाद) तथा विशेषताएँ अन्य वृक्षों से भिन्न होती हैं। इस कुटुम्ब के उपरिलिखित सभी वृक्षों से दूध निकलता है।

कटहल अधिकतया दक्षिणापथ के घाटों, कोंकण लङ्का, तथा बंगाल के अरण्यों में स्वयं उगता है। चार हजार फुट की ऊँचाई तक इसे उत्तम पोषण मिल सकता है, जिससे इसके विकास में अड़चन नहीं पड़ती।

कटहल काली सख्त तथा साधारण दोनों भूमियों में उग सकता है। गहरी मिट्टी में तथा चट्टानों पर भी उगने में इसे कोई कठिनाई नहीं होती। कम वृष्टिवाले या अतिवृष्टिवाले दोनों ही प्रदेश इसके लिये उत्तम हैं। संक्षेप में, कटहल सब प्रकार की भूमि तथा वृष्टि या जल की दृष्टि से किसी भी प्रकार की परिस्थिति में सरलता से लगाया जा सकता है।

कटहल की ऊँचाई मध्यम होती है। इसका काण्ड बहुत मोटा होता है। भूमि उपजाऊ हो तथा परिस्थिति अनुकूल हो तो इसका विस्तार पन्द्रह-बीस फुट तक होता है। इसका फल अधिक से अधिक दो मन (कच्चा मन) का होने तथा एक वृक्ष पर हजार से अधिक फल लगने के दृष्टान्त उपलब्ध हैं।

कटहल बारहों मास हरा रहता है। वृक्ष की छटा भी अच्छी होती है। इसके पत्ते गाढ़े हरे रङ्ग के, चमकदार, सिरे पर कुछ सँकरे, छोटी डंडीवाले और मध्य में मोटी मध्यसिरावाले होते हैं। इसपर नर और मादा दोनों प्रकार के फूल भिन्न-भिन्न शाखाओं पर अथवा दूर-दूर लगते हैं। पर दोनों प्रकार के फूल एक ही वृक्षपर आते हैं।

छोटे नर तथा बड़े मादा फूलों के गुच्छ तनेपर ठेठ जड़तक एवं शाखाओं पर सन्धियों के पास लगे होते हैं। इन फूलों का रङ्ग पहले हरा होता है। फूल पीले छत्र से ढके होते हैं। यह छत्र कुछ ही काल रहता है, बाद में झड़ जाता है। नर पुष्प

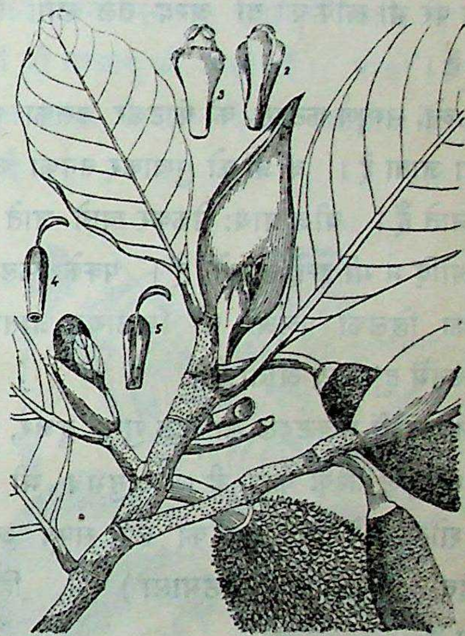
कुछ समय खिलकर, नसवारी रङ्ग के हो सूखकर गिर जाते हैं। मादा फूल हरे संयुक्त फल के रूप में परिणत हो उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं।

कटहल प्रायः सबने देखा होगा। ये ऊपर से खूब खुरदरे तथा अन्दर से श्वेत या पीले खण्डों में विभक्त होते हैं। ऊपर के खुरदरेपन के कारण संस्कृत में इसे 'कण्टकिफल' भी कहते हैं। फल में से गर्भ तथा उनके अन्दर से बीज निकलते हैं। हमारे यहाँ गुजराती में गर्भ को 'चापा' तथा बीज को 'गोटा' कहते हैं। पेड़ पर जब कटहल पकता है तो इसकी गन्ध बहुत तीव्र होती है। घर या बाजार में भी पके कटहल की मीठी गन्ध छुपी नहीं रह सकती। यह गन्ध चम्पा के फूलों की गन्ध से बहुत मिलती-जुलती होती है।

कटहल की अनेक जातियाँ हैं। परन्तु उनमें स्पष्ट भेद लक्षित नहीं होते। कई अन्दर से कठिन होते हैं, और कइयों के 'चाँपे' कठिन होते हैं। अन्दर के खण्डों के रङ्ग में भी कहीं-कहीं भेद होता है। सुनहरे रङ्ग से लेकर सर्वथा श्वेत रङ्ग के भी 'चाँपे' देखे जाते हैं। इसी प्रकार ऊपर को छाल कई फलों में अधिक खुरदरी और कइयों में लगभग मुलायम होती है। कठिन प्रकार के फल देरतक बिना खराब हुए रह सकते हैं।

कटहल का अनेक प्रकार से उपयोग होता है। अन्दर से जो चाँपे निकलते हैं उन्हें ताजा तो खाया ही जाता है, सुखाकर भी रखा जाता है। सूखे चाँपों का स्वाद छुहारों जैसा होता है। इन्हें सुखाने के लिए अन्दर के बीज निकाल कर धूप में रखा जाता है। वे सूखकर कठिन हो जाते हैं तब भर-णियों (मर्तबानों) में भर लेते हैं।

कटहल की एक और बनावट (कल्प) चाँपों को पीसकर उनका रस निकाल कर तय्यार की जाती है। इसके लिए बीज पृथक् करके चाँपों को इमाम-दस्तों में कूटा जाता है। अच्छी तरह चटनी होने के बाद उसे वस्त्र से छान लेते हैं। इस स्वरस को फट्टों पर ढालकर धूप में सुखाते हैं। रस फट्टों पर चिपक न जाय इसके लिये उनपर खोपे (नारियल) का तेल चुपड़ देते हैं। इसके पीछे रस छोड़ा जाता है। ज्यों-ज्यों रस सूखता जाता है त्यों-त्यों नया रस उसपर ढाला जाता है। पापड़ जैसी कठिन पपड़ियाँ बन जाने पर उन्हें तीन-चार दिन सूखने देकर फट्टों पर



से उखाड़ लिया जाता है। इनके टुकड़े करके भर-णियों में भर लेते हैं। शुष्क रस भरणियों में डालने के पूर्व उनमें दालचीनी तथा इलायची का चूर्ण बुरक दिया जाता है। कोई मिर्च का चूर्ण भी बुरकते हैं। चौमासे में बार बार जब धूप निकले तो इन पपड़ियों को सुखाना पड़ता है। अन्यथा इनके खराब हो जाने की आशङ्का रहती है।

कटहल के सुरक्षित करने का अन्य भी प्रकार है। फल को काटकर बीज अलग कर 'चाँपों' को भाफ में सेकते हैं। इसके बाद उनमें नमक-मिर्च

छोड़कर खलबट्टे या इमामदस्ते में कूटते हैं। कूटते समय उसमें थोड़ा खोपे (नारियल) का तेल भी डालते हैं। सारा माल एकजीव हो जाने पर उसका गोला बना लेते हैं तथा उसमें चावल या गेहूं का आटा मिला कर पापड़ के समान बेल लेते हैं। पापड़ बेलते समय प्रत्येक बार तेल का उपयोग करना चाहिये। इससे कटहल का रस हाथ अथवा फट्टे को चिपटता नहीं।

कटहल काटते समय भी उसका दूध हाथों में चिपक न जाय इस हेतु हाथों पर तथा काटने के साधन पर भी खोपे का या अन्य तेल लगा लिया जाता है।

कच्चे, सम्पूर्ण कटहल को काटकर उसका शाक बनाया जाता है। बीजों को सुखाकर उनका आटा भी बनाते हैं। बीज प्रायः सेककर खाये जाते हैं। दाल आदि में भी इन्हें छोड़ते हैं। पक्के फल का ऊपर का छिलका पशुओं को खिलाया जाता है, इससे उनमें दूध खूब आता है।

निघण्टुओं में कटहल का फल गुरु, दुर्जर, ग्राही तथा बलवृद्धिकारक कहा है। अनुभव भी यही है। शोढल* ने इसके मूल का लेप सपूय अथवा पूयरहित अपची (कण्ठमाला) में हितकर बताया है—

पनसशिफालेपो वा वायसनिम्बस्य चूर्णपिण्डी वा।
अपचीमपि कण्ठगतां पूययुतां हरति योगोऽयम्॥

प्रयोग करके देखना चाहिए।

कटहल के फूल शीतकाल में आते हैं। ग्रीष्म में वे पकते हैं। कटहल जब छोटा होता है तो उस पर केवल नर पुष्प आते हैं। वृक्ष पाँच-छः वर्ष का होने के बाद ही उस पर दोनों प्रकार के फूल आकर बड़ी भारी संख्या में फल आते हैं। सुनते हैं, कभी-कभी मूल पर भी फल आता है।

कटहल की लकड़ी भी बड़ी उपयोगी है। इसका वाद्य-यन्त्र बनाने में प्रयोग करते हैं। लकड़ी का रंग सामान्यतः हलका, हरापन लिये पीला होता है। बाद में वह गहरा लाल हो जाता है। ब्रह्म देश में इसकी लकड़ी से रंग निकाल कर बौद्ध भिक्षुओं के वस्त्र रंगने के काम में लाया जाता है।

कटहल उगाने के लिए बीज लगाये जाते हैं। सामान्यतः बीज स्थायी जगह पर लगाना ही अच्छा होता है। अथवा, पहले छोटे गमलों या टोकरियों में बीज बोकर बड़ा पौधा तय्यार होने पर, गमले को तोड़कर वृक्ष लगा देने से भी वह भलीभांति बढ़ जाता है।

पारसपीपल

समुद्र के किनारे रहनेवालों के लिए पारसपीपल नयी वस्तु नहीं। इस ओर गुजरात-कच्छ-काठियावाड़ की समग्र पश्चिम सीमा समुद्र से वेष्टित होने के कारण इन प्रदेशों में पारसपीपल के सुघटित वृक्ष लगभग सर्वत्र उगते हैं। संस्कृत में पारसपीपल को 'पारिष' इस संक्षिप्त नाम से पुकारा जाता है*।

* गुजरात के इस लेखक वैद्य का काल अबतक निर्णीत नहीं हुआ है। इसके लिखे दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं—गद-निग्रह तथा गुण-संग्रह या शोढल-निघण्टु। पहला ग्रन्थ दो भागों में वैद्य यादवजी त्रिक्रमजी आचार्य ने अपनी आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला में प्रकाशित किया था। यह अब अप्राप्य है। अन्य ग्रन्थों की अपेक्षया योगों की अधिकता और शैली की सरलता इस ग्रन्थ की विशेषता है। निघण्टु कदाचित् अब तक मुद्रित नहीं हुआ है। इसमें अन्य निघण्टुओं में अनुक्त, गुर्जर देश में विशेष प्रचलित कोई सौ द्रव्य अधिक लिखे हैं। किसी उत्साही प्रकाशन द्वारा ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित हों तो अच्छा हो।

*निघण्टुओं में तथा संहिताओं की टीकाओं में पारसपीपल का पर्याय 'गर्दभाण्ड' दिया है। परन्तु, 'रसयोगसागर' के प्रसिद्ध कर्ता स्व० पण्डित हरिप्रपन्नजी जिसे उद्भिद् विद्या में 'स्टर्क्युलिआ फीटिडा' (Sterculia Foetida)—

पारसपीपल का वृक्ष मध्यम डीलडौल का, परन्तु उत्तम छटावाला और बारहों महीने हरा होता है। पत्ते पीपल के पत्तों के आकार के पर उन से कुछ बड़े होते हैं। पीपल के पत्तों की सी नोक पारस पीपल के पत्तों में न होने से वे उतने रमणीय भी नहीं होते। तथापि गहरे हरे रंग और पत्तों की सिराओं के कारण वे नयनाभिराम प्रतीत होते हैं। पत्तों से भी बढ़कर पारसपीपल के पुष्पों की शोभा होती है।

पारसपीपल के फूल कपास तथा भिण्डी के फूलों से बहुत मिलते-जुलते होते हैं। कारण, कपास, भिण्डी और पारसपीपल तीनों का कुटुम्ब* एक ही है। फूल जब खिलते हैं तब उनकी बड़ी, पीली पंखड़ियों के मध्य गाढ़े लाल रंग की स्त्रीकेसर और पुंकेसर की संयुक्त नली बहुत आकर्षक होती है। फूल ताजे खिले हों तो उनका रङ्ग पीला होता है, पर कुम्हला जाने पर रङ्ग गहरा जामुनी हो जाता है।

पारसपीपल के फल हरे, सुपारी की आकृति के परन्तु ऊपर की ओर चपटे होते हैं। फल को काटने पर उनमें पाँच खण्ड दिखलाई देते हैं, जिनमें रोमयुक्त बीज होते हैं। बच्चे पके फलों की फिरनी बनाकर खेलते हैं।

गुजरात में तथा अन्यत्र भी शीघ्र थोड़े ही पानी से तथा खारी हवा में उगनेवाले वृक्षों में पारस-पीपल भी एक है। अपनी छाया तथा सुडौल और सुशोभित आकार के कारण यह उपयोगी वृक्ष है। अतः मुख्यतः मार्गों के दोनों किनारों पर गांव की सीमा पर एवं घर के पिछवाड़े या बागों में भी इसके पेड़ लगाये जाते हैं।

शोभा के अतिरिक्त पारसपीपल अन्य दृष्टियों से भी उपयोगी है। इसके फूलों तथा फलों से एक प्रकार का पीला रंग निकलता है। इसे कपड़े रंगने के काम में लाया जा सकता है। परन्तु इस कार्य में इसका विशेष उपयोग होता सुना नहीं गया। छाल को कूटकर उसके रेशों से रस्सियां बनाई जाती हैं। कई स्थानों पर इन रेशों से कहवे के लिए थैलियां भी तय्यार की जाती हैं। बीजों से तैल निकाला जाता है, जो दिया जलाने के काम आता है।



पारसपीपल थोड़े ही समय में बढ़कर खूब बड़ा हो जाता है, तथापि इसकी लकड़ी दृढ़ और कठिन होती है। यह बन्दूक के कुन्दे, गाड़ी के पहियों के अरे तथा जहाजों की बनावट के काम आती है।

प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में पारसपीपल का स्वतन्त्र उपयोग पाया नहीं जाता। न्यग्रोध (वट), उदु-

तथा मराठी में पून या पुनई कहते हैं, उस स्टर्क्युलिएसी (Sterculiacae) वर्ग के वृक्ष को 'गर्दभाण्ड' कहते थे। उसके फलों की आकृति गर्दभ के अण्डकोश से मिलती है, इसमें कोई संशय नहीं।

* Family—फेमिली।

म्बर, पीपल, पारसपीपल, और पाकड़ (प्लक्ष) इन पांच को क्षीरी वृक्ष तथा इनकी त्वचा को पञ्चवल्कल कहा है—

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारीषप्लक्षपादपाः।
पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षास्तेषां त्वक् पञ्चवल्कलम्॥

इन क्षीरी वृक्षों की त्वचा का तथा इनके सहित अन्य वृक्षों के योग से बने 'न्यग्रोधादिगण' का व्रण, यह योनिस्राव, मुखपाक, रक्तपित्त (किसी छिद्र से रक्तस्राव) आदि में व्यवहार होता है। आयुर्वेद में पारसपीपल को 'नन्दीवृक्ष' भी कहते हैं।

सुगमता से उगनेवाले इस वृक्ष की वृद्धि बीजों द्वारा की जाती है। इस पर फूल लगभग बारहों मास आते रहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में इनकी मात्रा अधिक होती है।

गोरखइमली

भारत में पाये जानेवाले सब वृक्षों में सबसे मोटा तना गोरखइमली का होता है। मूल में तो यह अफ्रीका का वृक्ष है। वहाँ से अरब लोक इसे लङ्का में लाये और वहाँ से यह भारत में आया। भारत में जहाँ जलवायु शुष्क होता है वहाँ इसकी वृद्धि अच्छी होती है। तथापि भारत में इसका अफ्रीका-जितना प्रसार नहीं दीख पड़ता। इस वृक्ष के काण्ड की परिधि चालीस फुट तक देखने में आयी है। भारत में यह वृक्ष अधिकतया बम्बई, कलकत्ता, पूना तथा अन्य नगरों के सार्वजनिक उद्यानों और बाटेनीकल गार्डनों में देखा जाता है। लोग इसकी चिकनी, मुलायम त्वचा पर नाम लिख जाते हैं। ये नाम कई वर्षों तक मिटे बिना, तने की छाल में एकरूप हो, छोटे-छोटे लिखे गये हों—ऐसे आकार में रहते हैं। गोरखइमली एक हजार से भी अधिक वर्ष जीवित रहता है।

देखने में विलक्षण इस वृक्ष का प्रकाण्ड नीचे बहुत चौड़ा होता है। दस से पन्द्रह फुट जाने पर इससे शाखायें फूटती हैं। मोटाई की तुलना में इसकी ऊँचाई बहुत कम होने से देखाव में यह छोटे से हाथी जैसा लगता है। इसका एक नाम 'रावणाम्लिका' भी है। वस्तुतः, विशेष कर इस पर पत्र न हों या अल्प हों उस काल, स्थूल प्रकाण्ड तथा उस पर निकली वैसे ही स्थूल शाखायें 'विंशतिभुज' रावण की ही प्रतीति कराती हैं। सुनते हैं, अफ्रीका में जब यह बहुत पुराना हो जाता है तो इस में बड़ा कोटर बन जाता है। इस कोटर में वर्षाका पानी भर जाता है। ग्रीष्म ऋतुमें जब ज़मीन में रस कम होता है तब यह पानी जीर्ण होने को आये वृक्षों को तृप्त करता है।

लेटिन में गोरखइमली को 'एडिनसोनिया डिजिटेटा' कहते हैं। समझा जाता है कि, इसके पत्तों की आकृति हाथ के पञ्जों के सदृश होने से यह नाम दिया गया है। पांच अंगुलियों के समान ही इसके पांच पत्रखण्ड निकले होने से उन्हें 'डिजिट' (मूल अर्थ—अंगुली) कहते हैं। उसके आधार पर वृक्षको 'डिजिटेटा' नाम दिया गया है। एडिन्सन एक बड़ा फ्रेंच उद्भिद्-वेत्ता था। उसकी स्मृति में इस वर्ग के तीनों विभागों के अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया में पाये जाने वाले वृक्षों को 'एडिसोनिया वर्ग' यह नाम दिया गया है।

यों ऊपर से देखने से गोरखइमली और भिण्डी, कपास, पारसपीपल तथा उन्हो के कुटुम्ब के अन्य उद्भिदों में साम्य नहीं प्रतीत होता, परन्तु गोरखइमली इन्हीं के कुटुम्ब 'मालवेसी' के अन्तर्गत है। यह बात बहुतों को विस्मयजनक होगी।

गोरखइमली के फूल एक पतली डंडीपर नीचे की ओर लटक ते होते हैं। पांच श्वेत पंखड़ियों पर मुड़कर रहा हुआ पुंकेसरों का गुच्छ खुला दिखाई

देता है। इस सुनहरे गुच्छके मध्य भाग में बहुत ही सुकुमार स्त्री केसर होता है।

गोरख इमली का फल भी पेड़ पर लटका होता है। वह रंग में हरा और मखमल सरीखा मुलायम होता है। फलके अन्दर कत्थई-रंगके बीज श्वेत गूदेके भीतर रहते हैं। सूखे फल तुम्बी के समान जलपर तैरते हैं। इनका उपयोग धीबर लोग अपने जालोंको पानी पर तैरता हुआ रखने के लिए करते हैं। गूदा अत्यन्त खट्टा होता है। इसका उपयोग भोजन में अम्लता लाने में या पानक (पना) बनाने में किया जा सकता है।

गोरख इमली की छाल के रेशोंसे उत्तम रस्से बनते हैं। ये रस्से हाथी पकड़ने के काम आते हैं। किंवदन्ती है कि, तनेकी लकड़ी हलकी और मृदु होने से छोटी-छोटी नौकाएँ बनाने के काम आती है। इंगलैण्ड में इसके शुष्क पत्रों का उपयोग मसाले के रूपमें होता है।

पेट के रोगों तथा संग्रहणी में इस के पत्र तथा फलका व्यवहार होता है। कभी-कभी छालका भी चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। कहते हैं, गोरख इमली के सेक कर चूर्ण किये हुए बीज दाँतों के दर्द में गुणकारी हैं।

इसके तनेका अद्भुत उपयोग तो अफ्रीका-निवासी करते हैं। कई जंगली जातियाँ मृत देहों को जलाने या गाड़ने के स्थानपर सुखाकर रखती हैं। यह सुखानेकी क्रिया शवोंको गोरखइमली के बड़े-बड़े वृक्षों के कोटरों में रखकर की जाती है। यह बात लिविंग्स्टन नामक साहसी पर्यटक के लेखों से विदित हुई है। उद्यानों और उपवनों में प्रकृति के अद्भुतालय के एक नमूने के रूपमें इसे लगाना योग्य है।

यों खटाई के तौर पर इस की फल-मज्जाकी प्राप्ति के लिए भी इसे लगाना अनुपयुक्त नहीं।

शीत ऋतुमें पतझड़ आने पर पत्ते गिर जाने के कारण गोरखइमली सूखे ठूँठ जैसा लगता है। परन्तु, मई में जब नयेपत्ते फूटने लगते हैं और जून-जुलाई में फूल निकलते हैं तब वृक्ष शोभित हो जाता है।

काय-संपत्

भूत-जय (पञ्चमहाभूतों पर विजय) का परिणाम बताते हुए पतञ्जलि मुनि योगदर्शन के विभूतिपाद में कहते हैं—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥

भूतजय के अनेक परिणामों में एक काय-संपत् (शरीर का उत्कर्ष) है। दर्शनीय रूप अङ्गों में लावण्य ; शारीरिक, मानसिक आदि श्रम तथा रोगों का वेग सहन करने का सामर्थ्य और वज्र-तुल्य दृढ़ता—ये कायसम्पत्ति के लक्षण हैं।

यों काय-सम्पत्ति को योगी की विभूति कहा है, परन्तु इसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदर्श शरीर का लक्षण कहना असंगत नहीं। काय-सम्पत्ति का यह निरूपण इस बात का भी गमक (द्योतक) है कि, हमारी प्राचीन संस्कृति में शरीर की उपेक्षा नहीं की गयी है ; प्रत्युत उसका उत्कर्ष सिद्ध करना आवश्यक कहा गया है।

—वैद्य रणजितराय

वैद्य श्री बापालाल भाई

❀

"सचित्र आयुर्वेद" में सन् १९४९ में प्रकाशित आयुर्वेद को श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाली सर्व श्रेष्ठ रचना के लिए वैद्यनाथ पुरस्कार प्राप्त करने वाले विद्वान् वैद्य श्री बापालाल भाई के जीवन की महनीयता पाठक उनकी संक्षिप्त जीवनी में यहाँ पढ़ें।

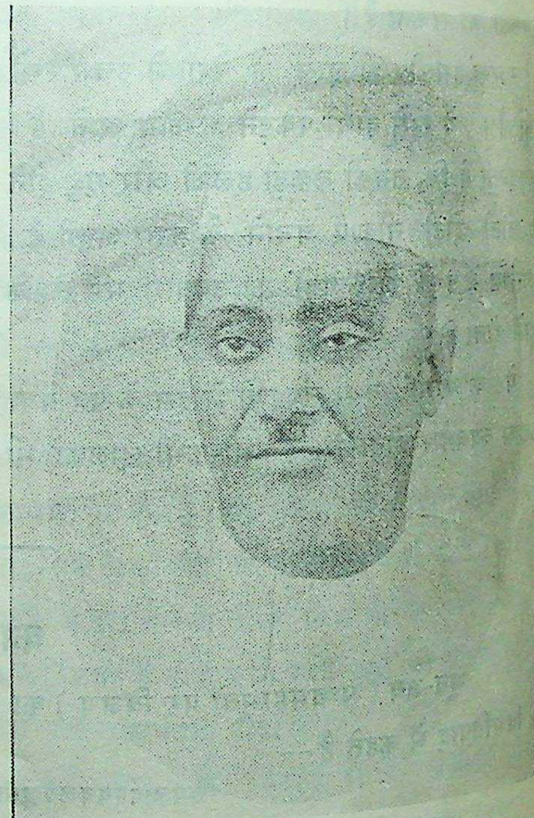
—स० सम्पादक

जन्म और वंश परिचय

आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत के वर्त्तमान आचार्य वैद्य श्री बापालालजी का जन्म सन् १८९६ के ९ सितम्बर को पंचमहल जिलान्तर्गत सणसोली नामक गाँव के एक निर्धन वैश्य परिवार में हुआ था। इनके पिता साधारण स्थिति के एक व्यापारी थे, किन्तु बड़े ही आत्मनिष्ठ और स्वाभिमानी व्यक्ति थे। अपने कठोर शारीरिक श्रम के बल पर वह उस छोटे से गाँव के नगरसेठ की स्थिति तक तरक्की करके पहुँचे।

शिक्षा

इण्टर स्टेण्डर्ड तक की शिक्षा बड़ोदा कालेज में हुई। फिर उन्होंने डाक्टरी पढ़ने का तय किया और इसी अभिप्राय से वह एम्० बी० बी० एस्० पढ़ने के लिये बम्बई गये। उस समय बम्बई शहर में इन्फ्लुएन्जा का भीषण प्रकोप था और बम्बई निवासी इसकी भीषणता से आक्रान्त थे। दुर्भाग्य से, बापालालजी भी इसकी चपेट में पड़ गये और बीमार हो गये। फलतः उन्हें बम्बई छोड़ देना पड़ा। इसके बाद उन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन शुरू किया। वह भड़ौच के समीप झाड़ेश्वर नामक स्थान पर गए, जहाँ श्री युत् अमृतलाल पत्तनी की देखरेख में एक सुसंचालित आयुर्वेदिक औषधालय था। श्री युत् अमृतलाल पत्तनी ही वस्तुतः उनके गुरू हैं—उन्ही के पास ३ साल तक रहकर इन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन किया। श्री पत्तनी महाशय बहुत ही कठोरकर्मी और ईमानदार वैद्य थे।



वैद्य श्री बापालाल भाई

वहाँ से बापालालजी वनस्पति शास्त्र का अध्ययन करने के लिये गुजरात के लब्धप्रतिष्ठ वनस्पति शास्त्र के पण्डित और 'बरडा डुंगरनी जड़ी बुट्टीओ' के लेखक श्री युत जयकृष्ण इन्द्रजी के पास गये। उनके पास बापालालजी लगभग छ मास रहे और

फिर शल्य क्रिया (सर्जरी) में गहरा ज्ञान प्राप्त करने के विचार से वह एक एफ० आर० सी० एस० के पास अहमदाबाद चले गये।

सार्वजनिक जीवन

१९२१ में भड़ौच जिला के हाँसोट नामक गाँव में बापालालजी एक सामाजिक और राजनैतिक कार्यकर्त्ता के रूप में गये। यहाँ पर उनके जीवन का बहुत बड़ा भाग बीता और हाँसोट में वह १८ वर्ष तक रहे। दरअसल, उनका कार्य-क्षेत्र यहीं था और जीवन की विभिन्न धाराओं में वे बहते रहे। सक्रिय राजनीति में भी उन्होंने भाग लिया और इस कारण उन्हें अनेक बार कारावास का कष्ट भी भोगना पड़ा। हाँसोट छोड़ने के बाद मुख्यतः एक चिकित्सक वैद्य के रूप में वह भड़ौच में रहने लगे। सन् १९४२ की इतिहास-प्रसिद्ध जनक्रान्ति के प्रवाह में वे फिर बह गये और उन्होंने सक्रिय हिस्सा लिया। फिर उन्हें लम्बी कैद हुई और १९४५ में वे कारागार से मुक्त हुए।

श्री तपी ब्रह्मचर्याश्रम के संस्थापक स्व० स्वामी आत्मानन्द सरस्वती की योजना एक आयुर्वेदिक कालेज स्थापित करने की थी। इस सम्बन्ध में स्वामीजी ने श्री बापालालजी से सहयोग मांगा और उन्होंने भरपूर सहयोग दिया। आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना होने पर कालेज के ट्रस्टी-मण्डल ने बापालालजी को कालेज का प्रिन्सपल नियुक्त किया। पिछले पाँच वर्षों से बापालालजी आयुर्वेदिक कालेज के प्रधानाध्यापक के पद को सुशोभित करते आ रहे हैं।

ग्रन्थ और अन्य प्रकाशन

वैद्य श्री बापालालजी निम्नलिखित पुस्तकों का प्रणयन किया, और ये सभी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

१—निघण्टु आदर्श (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दो भाग)।
२—वृद्धत्रयीनी बनस्पतिओ।
३—अभिनव काम-शात्र,।
४—घरगथु वैद्यक।
५—दिन चर्या।
६—वनस्पति शास्त्री जयकृष्ण इन्द्रजी नुं जीवन चरित्र।
७—गुजराती वनस्पतिओ।
८—कालिदासनी वनस्पतिओ।
९—भारतीय रस शास्त्र।
१०—अष्टाङ्ग हृदय-गुजराती अनुवाद (अप्रकाशित)

ऊपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त श्री बापालालजी ने गुजराती के प्रमुख पत्रों में कई महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं, जो कई भाग में शीघ्र ही पुस्तकाकार प्रकाशित होंगे।

सन् १९४८ में बम्बई में श्री बापालालजी गुजरात, कच्छ, और काठियावाड़ के संयुक्त वैद्य सम्मेलन के प्रधान निर्वाचित किये गये और अब तक अध्यक्ष पद का सेहरा श्री बापालालजी के ही सर पर है। निश्चय ही, श्री बापालालजी वैद्य, आयुर्वेद जगत् के चमकते हुए रत्न हैं—जो अपनी आभा से हमें आलोकित कर रहे हैं। जगदीश्वर से प्रार्थना है कि वह आपको दीर्घ जीवन प्रदान करे। जिससे आयुर्वेद तथा आयुर्वेद प्रेमी और जनता आपकी ज्ञान गरिमा से लाभ उठा सके।

डा० एन० आर० आप्टे

'जर्नल आफ आयुर्वेद' में सन् १९४९ में प्रकाशित आयुर्वेद की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाली सर्व श्रेष्ठ रचना के लिए बैद्यनाथ पुरस्कार प्राप्त करने वाले विद्वान वैद्यवर डा० एन० आर० आप्टे महोदय के जीवन की महनीयता पाठक उन की संक्षिप्त जीवनी में यहाँ पढ़ें।

—स० सम्पादक

डा० आप्टे के सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि वे एक 'वकील' परिवार के सदस्य हैं। आपके पितामह कोल्हापुर स्टेट के न्याय-विभाग में थे और उनके चचेरे भाई, श्री आर० एन० आप्टे (जो बाद में राजाराम आयुर्वेदिक कालेज के प्रिन्सिपल हुए) कोल्हापुर हाईकोर्ट के जज रह चुके थे। आपके पिता कोल्हापुर के और चाचा सतारा के प्रमुख वकील थे। आपके भाई कोल्हापुर ला कालेज में 'हिन्दू ला' के अध्यापक हैं। वस्तुतः ऐसे परिवार का सदस्य होने के कारण ही, बचपन से चिकित्साव्यवसाय डा० आप्टे के जीवनोद्देश्य के रूप में निर्दिष्ट हो गया—ऐसा कहा जा सकता है।

ग्रान्ट मेडिकल कालेज, बम्बई के स्नातक होकर कुछ समय तक औषध-शास्त्र के स्नातकोत्तर कोर्स में काय करने के बाद डा० आप्टे ने कोल्हापुर में अपनी प्राइवेट प्रैक्टिस प्रारम्भ की। उनके पिताजी की इच्छा थी कि डा० आप्टे भारत की सुप्राचीन चिकित्सा प्रणाली में गवेषणा करें। किन्तु बीच में ही जब कि डा० आप्टे स्नातक भी नहीं हो पाये थे, आपके पिता गोलोकवासी हो गये। इस तरह, डा० आप्टे को आयुर्वेद के प्रति रुचि, अवसर पाकर ही उत्पन्न हुई।

डा० आप्टे कभी-कभी अपने चाचा और परिवार के अन्य लोगों से मिलने सतारा जाया करते थे। यहीं डा० साहब की जान पहचान डा० एम० एन० आगाशे से हुई, जो उनके चाचा के मित्र और गृह-चिकित्सक भी थे। डा० आगाशे आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे और डा० आप्टे को इन्होंने ही आयुर्वेद अध्ययन के लिये उत्साहित किया। इस प्रकार डा० आप्टे को आयुर्वेद-संसार में लाने का पूरा श्रेय डा० आगाशे को ही है। डा० आगाशे ने एक विद्यालय खोला था, जिसमें एलोपैथिक और समन्वयपद्धति से वैद्यकशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। उस समय तक आयुर्वेद को सरकार द्वारा मान्यता नहीं दी गयी थी। डा० आगाशे ने डा० आप्टे को आर्यांग्ल वैद्यक विद्यालय के स्नातक विभाग के परीक्षक के रूप में काम करने का आग्रह किया। डा० आप्टे का इस आयुर्वेदीय विद्यालय से सम्बन्ध होना बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ, क्योंकि इसी का परिणाम था कि डा० आप्टे ने आयुर्वेद के विभिन्न विषयों की खोजपूर्ण चर्चा आरम्भ की। डा० आगाशे आयुर्वेद के पुनरुद्धार के लिये प्राणप्रण से सचेष्ट थे, इन्होंने जब भडकमकर आयुर्वेद संशोधन मन्दिर नामक संस्था संस्थापित की तो डा० आप्टे से उसमें रिसर्चस्कालर के रूप में सम्मिलित होने का आग्रह किया। यह सन् ४४ की बात है, और तब से डा० आप्टे वहां आयुर्वेद का गम्भीर अध्ययन कर रहे हैं। उसी मन्दिर में आयुर्वेदाचार्यों और न्यायाचार्यों की मदद से उन्होंने आयुर्वेदीय संहिताओं के आलोचनात्मक अध्ययन का काम शुरू किया और यह काम

हमारे बच्चों से कोसों दूर है—जिन्दगी की पहिली सीढ़ी पर पैर रखते ही अनेक रोगों से उनको सामना करना पड़ता है—और इसी का परिणाम है कि बहुत-से बच्चे तो असमय में ही काल के गाल में चले जाते हैं—और जो बचते हैं उनकी औसत आयु तो कम होती ही है। जिन्दगीके तूफानी दिनों (जवानी) में भी उनका विकास नहीं हो पाता और उनका जीवन घिस-घिसकर समाप्त हो जाता है। दुनियाँ के और देशों की तुलना में हिन्दुस्तान की औसत आयु इतना कम होने का कारण बच्चों के स्वास्थ्य की ह्रासावस्था ही है। एक फ्रांसीसी की औसत आयु ५७ वर्ष है—और हिन्दुस्तानी की २६ वर्ष तथा न्यूज़ीलैण्ड के लोगों की ६७ वर्ष। इसका मतलब हुआ कि फ्रांस के लोगों की आयु भारतीयों से दूनी है और न्यूज़ीलैण्ड के लोगों की ढाई गुनी अधिक। जिस देश के लोग "जीवेम शरदः शतम्" सौ वर्ष की पूर्ण आयु भोगते थे, उसी देश के लोगों की आज चौथाई उम्र पाते हैं—और असमय ही इहलोक लीला संवरण करते हैं।

दुनियाँ के और देशों के साथ हिन्दुस्तानके जन्म और मृत्यु के लेखे का मिलान करने पर कलेजा काँप उठता है। हिन्दुस्तान में प्रतिवर्ष प्रति हजार ४५ जन्म लेते हैं और ३२ मरते हैं: जब कि इङ्गलैण्ड और अमेरिका में क्रमशः १५ और १७ पैदा होते और १२ मरते हैं। अमेरिका में प्रतिवर्ष प्रति हजार ५५ और इङ्गलैण्ड में ५७ बालमृत्यु होती है—अर्थात् एक हजार बच्चों में सिर्फ ५५ या ५७ मरते हैं—जब कि हिन्दुस्तान में २४० मरते हैं। इसका मतलब हुआ अमेरिका में जितने बच्चे मरते हैं उससे पाँच गुने ज्यादा हिन्दुस्तान में मरते हैं। बालमृत्यु की सबसे बड़ी संख्या अभागे हिन्दुस्तान में ही है—यह कठोर और भयङ्कर सत्य हमारी आँखों के सामने रहना चाहिये।

बच्चों की अकाल मृत्यु देश और जाति के लिये भयानक अभिशाप है—और हिन्दुस्तान में होनेवाली बालमृत्यु को देखकर तो मौत का भी कलेजा काँप उठता है। १९२१ की जनगणना की रिपोर्ट के लेखक ने बच्चों की मृत्यु संख्या के विषय में लिखा था कि:—

"दो पैदा हुये बच्चों में एक बच्चा १२ महीने की आयु के पहिले ही मर जाता है। जन्म के पहिले सप्ताह में ४० प्रतिशत और जन्म के पहिले महीने में ६० प्रतिशत बच्चे मर जाते हैं।" ये आँकड़े कितने रोमांचकारी हैं।

भारत के ६ प्रधान शहरों के बच्चों की मृत्यु संख्या की तालिका को देखकर किस आदमी का दिल न रो उठेगा ?

शहर	मृत्युसंख्या	
बम्बई	५५६	प्रतिसहस्र
कलकत्ता	३८६	"
रंगून	३०३	"
मद्रास	२८२	"
कराँची	२४८	"
देहली	२३३	"

सारे भारत में प्रति वर्ष १ करोड़ २० लाख बच्चे पैदा होते हैं। इनमें से २४ लाख बच्चे तो साल भर के अन्दर-अन्दर ही समाप्त हो जाते हैं। हजार में २०५ बच्चों के मरने का हिसाब सरकारी आँकड़े बतलाते हैं।

दूसरे देशों की बालमृत्यु-संख्या के साथ अपने देश के बच्चों की मृत्यु-संख्या की तुलना करने पर रूह काँप उठती है।

देश	मृत्युसंख्या,	
न्यूज़ीलैण्ड	७०	प्रतिसहस्र
नार्वे	७०	,,
आस्ट्रेलिया	७८	,,
आयर्लैण्ड	९४	,,

देश	मृत्यु संख्या,	
इङ्गलैण्ड	११७	प्रतिसहस्र
अमेरिका	१२४	,,
फ्रान्स	१२६	,,
जापान	१५६	,,
सीलोन	१८९	,,
भारतवर्ष	२४०	,,

नार्वे में हजार में ७० बच्चे ही मरते हैं—और हिन्दुस्तान में २४०, न्यूजीलैण्ड से तिगुने और इङ्गलैण्ड से दुगुने बच्चे भारत में मर जाते हैं।

१९२८ की एक तुलनात्मक तालिका यहां दी जा रही है—जिससे मालूम होगा कि विभिन्न देशों में जन्म और मृत्यु का क्या अनुपात रहा ?

देशका नाम	जन्म-प्रतिहजार	मृत्यु-प्रतिहजार
इंगलैण्ड	१६·७	११·७
स्काटलैण्ड	१९·८	१३·७
न्यूजीलैण्ड	१९·६	८·५
अमेरिका	१९·७	१२·०
आस्ट्रेलिया	२१·३	८·५
अफ्रीका	२५·९	१०·०
मिश्र	४२·२	२४·१
हिन्दुस्तान	३६·७८	२५·५९

न्यूजीलैण्ड से तिगुने, इंगलैण्ड से दुगुने से अधिक और अफ्रीका जैसे असभ्य देश से अढ़ाई गुने अधिक आदमी हिन्दुस्तान में मरते हैं।

१९२८ के बाद इन २२ वर्षों में हिन्दुस्तान की मृत्यु संख्या ३२ तक पहुँच गई है।

शेषांश]

डा० एन० आर० आप्टे

[५०१ पृष्ठ का

और शक्ति) के सम्बन्ध में आधुनिक और प्राचीन धारणाओं में कहाँ तक एकरूपता है, यह दिखाया। इसको देखते हुए ऐसा लगता है कि आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े ही परिवर्त्तनकारी हैं। डा० आप्टे जहाँ अपने विचारों में कट्टरपन्थी नहीं हैं और अपने विचारों को ही अन्तिम सत्य नहीं समझते ; वहाँ वह आयुर्वेद के आचार्यों द्वारा दिए जाने वाले थोथे तर्कों के भी तीव्र आलोचक हैं—जैसा कि भडकमकर आयुर्वेद-मंदिर सतारा, से संचालित मासिक 'आयुर्वेद मीमांसा' में प्रकाशित' 'आयुर्वेदिक क्षितिज पर धूमकेतु' शीर्षक लेख से प्रकट है। वह आयुर्वेद के मूल ग्रन्थों के सिद्धान्तों की अन्तिम व्याख्या को लेकर 'शाब्दिक झगड़ों' में पड़ना व्यर्थ समझते हैं। बल्कि, वह इस बात पर जोर देते हैं कि निश्चय ही वह समय आ गया है, जब कि प्रत्युत आयुर्वेद के उन श्रद्धालुओं को, जो आयुर्वेद का एकांगी ज्ञान लेकर आयुर्वेद की वकालत करते हैं, न्यायाचार्यों और दर्शन शास्त्रियों को भी अपनी भ्रान्तियोंकी ओर ध्यान देना होगा। उन लोगों को वास्तविकता का पता तब चलेगा, जब कि आयुर्वेदीय सिद्धान्तों की परीक्षा आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में ली जाने पर सत्यासत्य का निर्णय हो सकेगा।

हम लोग डा० आप्टे के कुछ लेख 'सचित्र आयुर्वेद' में (उन लेखों की) 'परीक्षा और स्वीकृति या अस्वीकृति' के लिये, जैसा कि डा० आप्टे चाहते हैं, प्रकाशित करने की आशा रखते हैं। लेकिन, हम समझते हैं कि हमारे पाठक वृन्द आपके लेखों के पढ़ने के बाद पूना में हुई कान्फ्रेन्स में एक आयुर्वेद शास्त्री के निम्नोक्त कथन से पूर्णतया सहमत होंगे। उक्त आयुर्वेद शास्त्रीने कहथा—डा० आप्टे में और उनके सदृश लोगों में आयुर्वेद ने 'एक बड़ा सुदक्ष वकील' पाया है, और जहाँ तक डा० आप्टे का सम्बन्ध है, ऐसा लगता हैकि यह कथन डा० आप्टे की पारिवारिक परम्परा के अनुकूल ही है।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के

पटना-निर्माणकेन्द्र में धन्वन्तरि-जयन्ती-महोत्सव



आयुर्वेदप्रेमी चिकित्सा मंत्री माननीय पण्डित विनोदानन्द झा ने अपने भाषण में कहा—"शासनयन्त्र के परतन्त्र मनोवृत्ति वाले सलाहकार आयुर्वेद के उत्थान की चेष्टाओं में बाधा डाल रहे हैं। उनके साथ हमारा मानसिक संघर्ष चल रहा है, जिस में हमें धीरे-धीरे सफलता मिलती जा रही है।"

देश भर में

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की सभी शाखा-प्रशाखाओं द्वारा

धन्वन्तरि-जयन्ती समारोह सम्पन्न

जैसा कि गत वर्ष धन्वन्तरि-जयन्ती के शुभ अवसर पर बोलते हुए भारतीय संस्कृति के एकनिष्ठ पुजारी लोकनायक अणे ने कहा था, धन्वन्तरि-जयन्ती समस्त मनुष्य जाति का ही पुण्य पर्व है। फिर भगवान् धन्वन्तरि द्वारा प्रवर्तित सुप्राचीन आयुर्वेद की आर्य परम्परा को मानने वाले भारतीय वैद्य समाज एवं जनता के लिये तो इसका महत्त्व और भी अधिक है। इसीलिये श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की ओर से यह महान पर्व का दिवस देश भर में बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। इसमें सहस्रशः वैद्य-हकीम एवं आयुर्वेदभक्त डाक्टर तथा आयुर्वेदप्रेमी जनता भाग लेती है। इस अवसर पर वैद्यों में भ्रातृभाव एवं संगठन की एक नवीन लहर दौड़ जाती है तथा राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद के अभ्युत्थान और प्रचार प्रसार को बल मिलता है। गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी यह महोत्सव बैद्यनाथ की सभी शाखा-प्रशाखाओं में पूर्ण उत्साह के साथ मनाया गया। अब तक जिन केन्द्रों से उत्सव का कार्यविवरण पहुंच चुका है, वह संक्षेप से नीचे दिया जाता है।

बिहार

राजधानी पटना के अतिरिक्त बिहार राज्य में श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के गया, झरिया, समस्तीपुर, मोतिहारी, मुजफ्फरपुर, रांची, डालटेनगञ्ज, बिहार शरीफ, मुंगेर, ससराम, देवघर, सिवान, भागलपुर, आरा, छपरा, बेतिया, बेगूसराय आदि सभी बिक्री केन्द्रों एवं एजेन्सियों से समारोहपूर्वक धन्वन्तरि जयन्ती मनाने के समाचार आये हैं। सभी स्थानों पर विद्वानों के भाषण हुए तथा समागत सज्जनों का चाय-मिष्टान्न से स्वागत किया गया।

उत्तर प्रदेश

उत्तर प्रदेश में झांसी, बनारस, फैजाबाद, आजमगढ़, देवरिया, हाथरस, बस्ती, मुरैना, कानपुर, गोरखपुर तथा मेरठ आदि सभी केन्द्रों में धन्वन्तरि जयन्ती महोत्सव समारोहपूर्वक मनाया गया। सभी स्थानों में भगवान् धन्वन्तरि का पूजन, प्रसाद वितरण तथा विद्वानों के भाषण हुए। इन सार्वजनिक उत्सवों में वैद्यों के अतिरिक्त स्थानीय भद्रजन तथा जनसाधारण भी पर्याप्त संख्या में उपस्थित रहे।

बनारस के समारोह की अध्यक्षता गीता-मन्दिर के अध्यक्ष श्री स्वामी योगेन्द्रजी ने की तथा स्थानीय अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय के अध्यापक पण्डित काशीनाथजी आयुर्वेदाचार्य एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पण्डित शिवदत्तजी शुक्ल आदि विद्वानों के भाषण हुए।

मेरठ के उत्सव की अध्यक्षता कविराज पण्डित जयभगवानजी शर्मा ने की, जिनका आयुर्वेद की उपादेयता पर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण भाषण हुआ।

मध्य भारत

नागपुर, जब्बलपुर, आकोला, अमरावती, गोन्दिया, रायपुर, बिलासपुर, यवतमाल आदि स्थित श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के केन्द्रों में उत्साह के साथ श्री धन्वन्तरि जयन्ती उत्सव मनाया गया।

जब्बलपुर के उत्सव की अध्यक्षता आयुर्वेदाचार्य श्री लक्ष्मीनारायणजी पचौरी, बी० ए०, ए० एम० एस० ने की तथा वैद्य श्री यमुनाप्रसादजी, वैद्य भूषण श्री वीरभानुजी त्रिवेदी, वैद्य महादेवजी मिश्र, मनीषी श्री कपिलदेवनारायण आदि विद्वानों के भाषण हुए। ललितशब्दावली में श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की ओर से वैद्यभूषण बनवारीलाल गोस्वामी ने समागत सज्जनों का स्वागत किया।

श्री धन्वन्तरिजयन्ती के अवसर पर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के

४ निर्माणकेन्द्रों, ५० बिक्रीकेन्द्रों तथा १४ हजार से अधिक एजेन्सियों में सर्वत्र एक साथ पढ़ा गया

अभिभाषण

गजमुखममरप्रवरं सिद्धिकरं विघ्नहर्त्तारम्। गुरुमवगमनयनप्रदमिष्टकरीमिष्ट देवतां वन्दे॥

आदरणीय सभापतिजी, वैद्य बन्धुओ एवं समागत महानुभावो !

भगवान् धन्वन्तरि की जयन्ती के इस पुनीत और गौरवपूर्ण अवसर पर मैं श्रीबद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की ओर से आप महानुभावोंका हार्दिक अभिवादन करता हूं। धर्म-शास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि में जिस प्रकार भारत जगत् का गुरु था उसी प्रकार चिकित्सा-शास्त्र में भी यह संसार का गुरु और पथ-प्रदर्शक रहा है। धन्वन्तरि-जयन्ती के अवसर पर आज जब हम अपने स्मृति-पट पर भगवान धन्वन्तरि को लाते हैं तो स्मृति-पट के रङ्गमञ्च पर दक्षप्रजापति, अश्विनीकुमार, महर्षि सुश्रुत आदि सभी आर्य विभूतियां साकार होकर उतर पड़ती हैं। इन तपस्वी महर्षियों ने ही संसार को 'आयुर्वेद'—जीवन धारण-शास्त्र प्रदान किया। भूतल के विकास के साथ साथ प्राणियों की ज्ञानेन्द्रियों का भी विकास हुआ और यही विकास अप्राकृतिक जीवन-यापन का भी कारण हुआ। फलतः प्राणीमात्र में रोग होने लगे और वे उनसे कष्ट पाने लगे। अतः दयालु महर्षियों ने प्राणियों की पीड़ा नष्ट कर उन्हें दीर्घायु प्रदान करने और जीवन के सुख का पूर्ण उपयोग करने के निमित्त स्वयम् निर्मित अथर्ववेद-सर्वस्व ब्रह्मसंहिता के अध्ययन, मन्थन और मनन द्वारा अश्विनीकुमार संहिता, आत्रेय संहिता, भारद्वाज संहिता, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता आदि चिकित्सा ग्रन्थों को सम्पादन कर जगत् को अमूल्य तत्त्व प्रदान किया।

किन्तु आज हम अपने पुराने गौरव, वैभव या पराभव पर विचार करना नहीं चाहते। हमें तो आज वर्तमान की वास्तविकता को आधार बनाकर भविष्य का निर्माण करना है। आज न केवल हम पूर्णरूप से स्वतन्त्र ही हैं वरन् हमारी राजसत्ता के अधिकारी हमारे तपे-तपाये नेता हैं। अतः हमारा भविष्य आशा जनक ही नहीं, सुनहला है। लेकिन इससे हमारी जिम्मेदारी कम नहीं हो जाती वरन् और अधिक बढ़ जाती है। इस समय हमें आवश्यकता है ऐसे वैद्यों, ऐसे कर्मियों की जो आयुर्वेद के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हों। यह प्रत्येक वैद्य, प्रत्येक भारतीय को समझ लेना है कि यह समय आयुर्वेदके, हमारी सभ्यता और संस्कृति के एक सुन्दरतम अङ्ग के जीवन-मरण का समय है। स्थिति गम्भीर है और हमारी बुद्धिमत्ता एवं कार्यशीलता ही हमें इससे बचा सकती है। हमें इसके लिये भागीरथ प्रयत्न करना पड़ेगा कि आने वाली पीढ़ियों के प्रति हम कभी अपराधी या

अदूरदर्शी साबित न हों। इसका उत्तरदायित्व हम पर—हमारे वैद्यों, हमारे नेताओं पर है।

आयुर्वेद के पुजारियों के अन्दर अभी दो विचार-धारायें काम कर रही हैं। एक तो वे हैं जो आधुनिक विज्ञान से मुँह मोड़कर आयुर्वेद में कुछ शोधन, परिवर्त्तन पसन्द नहीं करते, वे नवीन आविष्कारों और मान्यताओं से कोई फायदा उठाना नहीं चाहते।

दूसरे लोग वे हैं जो वर्तमान वैज्ञानिक विस्तार की चकाचौंध में इतने अन्धे हो गये हैं कि वे आयुर्वेद के अस्तित्व को ही खतरे में डालकर वर्तमान विज्ञान में उसे विलीन कर देना चाहते हैं।

हमारी सम्मति में ये दोनों विचार धारायें आयुर्वेद के लिये घातक हैं। हमें वैज्ञानिक उन्नति से मुँह नहीं मोड़ना है। आयुर्वेद एक जीवन-विज्ञान है। और यदि वह वैज्ञानिक उन्नति-काल में पीछे पड़ा रह गया तो उसका कारण पराधीनता ही था। हमारा देश यदि स्वाधीन होता तो शायद आयुर्वेद का ऐसा रूप नहीं होता जैसा आज है। इसलिये हमें नवीन चिकित्सा-विज्ञान के जितने भी उत्तम उपयोगी अंश एवं साधन हैं—उन्हें ग्रहण करने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करना है। किन्तु साथ ही हमें सावधान रहना है, ताकि हमारी मौलिकता, हमारा लोक कल्याणकारी महत्व "व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च" ही नष्ट न हो जाय और हम भी विदेशी चिकित्सकों की तरह चिकित्सा-व्यवसायी ही न हो जांय।

आयुर्वेद सिर्फ चिकित्सा-पद्धति ही नहीं है वरन् एक जीवन शास्त्र है—ऐसा जीवन शास्त्र जो केवल आधिभौतिक शरीर का ही नहीं, मन और आत्मा का भी शास्त्र है। चरक में कहा है—

'शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।'

अतः हमें अपने मौलिक सिद्धान्तों का अक्षुण्ण रखकर नवीन अनुकूल और समुचित प्रणालियों, प्रयोगों और मान्यताओं को आत्मसात् कर लेना है। आयुर्वेद में इतनी विशालता और पचाने की शक्ति है।

अभी हाल में ही दिल्ली में स्वास्थ्य-मन्त्रियों का जो सम्मेलन हुआ था उसमें आयुर्वेद को समुन्नत और सुपुष्ट बना कर उसे देश का एक सर्वाङ्गपूर्ण चिकित्सा-विज्ञान बनाने के प्रश्न पर विचार-विमर्श हुआ। पर्याप्त विचार-विमर्श के पश्चात् जो कुछ वहाँ निश्चित हुआ है उससे निराश होने का कोई कारण नहीं। यह तो कम से कम संतोष की बात है कि लगभग एक हजार वर्ष पश्चात प्रथम बार स्वतन्त्र भारत में आयुर्वेद को समुन्नत बनाने के प्रश्न पर विस्तार के साथ विचार किया गया और एक योजना भी तैयार की गई।

इसमें कुछ सन्देह नहीं कि कुछ प्रतिगामी शक्तियां अब भी मौजूद हैं जो हमारी प्रगति में रोड़े अटकाने का प्रयत्न करती हैं। हमें इससे उत्साह-हीन या निराश नहीं होना है, उल्टे अधिक उत्साह और अध्यवसाय के साथ आगे बढ़ते चलना है। यदि आयुर्वेद में कुछ भी सत्य मौजूद है और इसमें हमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं, तो उसे दुनिया की कोई भी ताकत नहीं मिटा सकती। रहा सरकार की मान्यता का सवाल सो वह उसे एक न एक दिन देनी ही होगी, जनता की आवाज के आगे बड़ी से बड़ी शक्तियां झुकती हैं।

संक्षेप में हमारा तो यही निवेदन है कि आयुर्वेद को जांच का एक पूर्ण अवसर दिया जाय। आज भी आयुर्वेद ७५ प्रतिशत भारतीय जनता को जीवन-दान देता है परन्तु इसके आंकड़े सरकारी फाइलों में न होने की वजह से कुछ लोगों में भ्रम है। अतः

हम चाहते हैं कि प्रत्येक प्रान्तीय सरकार कम से कम एक सर्वाङ्गपूर्ण आयुर्वेदिक अस्पताल खोले ताकि आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति का सच्चा स्वरूप हमारे सामने प्रगट हो जाय। आयुर्वेद में अनुसंधान के लिये यह सबसे महत्त्वपूर्ण एवं ठोस कदम होगा। हमें देखना है कि सर्वप्रथम कौनसी प्रांतीय सरकार साहस के साथ इस योजना को कार्यान्वित करती है। तब तक हमें सारी शक्ति आयुर्वेद के प्रचार और प्रसार में लगानी चाहिये।

हम पूर्ण नम्रता के साथ यह कहना चाहते हैं कि श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन ने इस दिशा में जो कुछ किया है वह आप से छिपा नहीं है। हमने सर्व-प्रथम विशुद्ध मूल द्रव्यों से, शुद्ध शास्त्रीय रीति से, विश्वस्त और गुणकारी औषधियां तैयार कर आयु-र्वेद को लोकप्रिय बनाने की चेष्टा की। जनता में दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई हमारी औषधियों की बिक्री तो इसका सर्वोच्च प्रमाण है ही। साथ ही आयुर्वेद के प्रमुख वैद्यों ने हमारी निर्माणशालाओं को देखकर हमारी औषधि-निर्माण-पद्धति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। देश के सर्वमान्य नेता राष्ट्रपति देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद के प्रशंसा-भाजन बनने का सौभाग्य भी हमें प्राप्त है। परन्तु वास्तव में यह प्रशंसा हमारी नहीं एक आयुर्वेदीय संस्था की, आयु-र्वेद की है।

दूसरा काम जो हमने किया है वह है आयुर्वेद के भिन्न-भिन्न अंगों पर अधिकारी विद्वानों और चिकित्सकों से ग्रन्थ लिखवा कर उन्हें प्रकाशित करना। इसमें भी हमें आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। विद्वान लेखकों ने हमें इस कार्य में पर्याप्त सहायता दी है। यह कार्य भी इतना बड़ा है कि अकेला श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० इसे पूरा नहीं कर सकता। इस कार्य में भी देश की अन्यान्य प्रकाशन संस्थाओं को हाथ बटाना चाहिये।

तीसरा, विगत दो साल से इस संस्था द्वारा प्रकाशित 'सचित्र आयुर्वेद' ने जिस सुन्दरता और निर्भीकता के साथ आयुर्वेद की सेवा कर हमारे प्रमुख वैद्यों और नेताओं का आशीर्वाद व सहयोग प्राप्त किया है वह आयुर्वेद के लिये कम गौरव की बात नहीं। 'सचित्र आयुर्वेद' आज आयुर्वेद का सर्वमान्य प्रतिनिधि पत्र है।

इसके अतिरिक्त अनुसंधान और रिसर्च के काम, दैवी और प्राकृतिक प्रकोपों से पीड़ित जनसमुदाय का कल्याण, विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देकर उन्हें आयुर्वेद के अध्ययन में प्रोत्साहन देना, आयुर्वेदीय संस्थाओं और महाविद्यालयों को आर्थिक सहायता आदि देना आदि ऐसे कार्य हैं जिन्हें सम्पादित करने में भवन दिल खोलकर खर्च करता है। अपनी तुच्छ सेवाओं की चर्चा करने का हमारा मतलब यही है कि देश के आयुर्वेद-प्रेमी इस कार्य में सहायता करें, प्रोत्साहन दें और स्वयम् इस कार्य को करें तथा दूसरों को प्रेरित करें। तभी आयुर्वेद का उद्धार सम्भव है।

भगवान धन्वन्तरि के अवतरण के इस पुनीत अवसर पर हम सब लोग एक हृदय से संकल्प करें कि 'हम तब तक चैन से न बैठेंगे जब तक आयुर्वेद को भारत के जन-जन के बीच पहुंचाकर इसे उतना उन्नत न बना लें जिससे वह हमारी सरकार द्वारा राष्ट्र की सर्वांगसम्पन्न चिकित्सा-पद्धति मान लिया जाय।'

भगवान धन्वन्तरि की जय।

अभिनन्दन-पत्र*

महामहिम श्री माधव श्रीहरि अणे महोदय के पवित्र कर-कमलों में

भारतीय संस्कृति के अनन्य पुजारी !

मनुष्य जब से सामाजिक प्राणी हुआ और मानव-समाज की जब से स्थापना हुई तभी से आयुर्वेद इसके कल्याण कार्य में संलग्न है। जगत् को भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी देन शास्त्रीय चिकित्सा पद्धति है, जो आज संसार में नाना रूपों में मानव-समाज का कल्याण कर रही है। हम उसी महान् भारतीय संस्कृति की मूर्ति—आप—को जब आज अपने बीच देख रहे हैं तो हमारी प्राचीन गौरव-गरिमा, अपना शौर्य और वैभव, प्रताप और प्रतिभा लेकर हमारी,आँखों के सामने झूम रही है।

लोकनायक !

हम आज स्वतन्त्र देश के नागरिक हैं। इसका अनुभव होते ही आपकी महान् देशभक्ति, आप का अलौकिक त्याग, आपकी उज्ज्वल राष्ट्रीयता, हिमालय के समान आपका अचल सिद्धान्त, समाज और जाति के लिये जीवन-सुख को हँसते-हँसते होम देने की आपकी सहज प्रवृत्ति और, सबसे बढ़ कर, अनिष्टकर विदेशी तत्त्वों के लिये आपका स्वाभाविक और सुदृढ़ प्रतिरोध, एक-एक कर सामने आ जाता है, क्योंकि आप सरीखे महारथियों के इन गुणों ने ही भारत को स्वतन्त्र किया है।

राष्ट्रीय संकृति के विधायक देव !

अंग्रेजों ने अपने शासन काल में संस्कृति और सभ्यता को ही समूल नष्ट करने का प्रयास किया। शिक्षित और बुद्धिजीवी समुदाय उस ओर अति तीव्र गति से आकृष्ट हुआ। किन्तु आप सरीखे मनीषियों ने ही मानव समाज के इस मनोविज्ञान को समझा कि राष्ट्रीय चेतना का आधार राष्ट्रीय संस्कृति ही हो सकती है। अतः वास्तव में भारतीय राष्ट्रीयता के आप रक्षक हैं, और इसलिये हम अति आह्लादित चित्त से आपका बारम्बार अभिवादन करते हैं।

महाप्राण !

आज देश में जिस राष्ट्रीय जागरण की लहरें उमड़ रही हैं, आयुर्वेद का मुरझाया हुआ पौधा भी उससे फिर से लहलहा उठा है। आयुर्वेद के इस राष्ट्रीय जागरण-जनित उद्धार में आपकी प्रेरणा का कितना बड़ा हाथ है, इसका सब से बड़ा प्रमाण यही है कि बिहार सरकार आज आयुर्वेद के प्रचार और प्रसार में अग्रणी हो रही है। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० भी विशुद्ध आयुर्वेदीय औषधियों के निर्माण, आयुर्वेदीय साहित्य के प्रकाशन, अनुसन्धान तथा प्रचार द्वारा आयुर्वेद की यथाशक्ति सेवा कर रहा है। इसीलिये भारतीय राष्ट्रीयता के प्रतीक और आयुर्वेद के सच्चे समर्थक आप को अपने बीच देखकर आज हमारा हृदय पुनः आनन्द से उमड़ रहा है।

हे भारतीय जनता के हृदय !

हम आपका हृदय से अभिनन्दन करते हैं और आशा करते हैं कि आपके नेतृत्व में भारतीय संस्कृति, भारतीय साहित्य-कला और भारतीय चिकित्सा-पद्धति अबाध गति से उन्नति करेगी, जिससे देश-विदेश में आपके पुण्य एवं यश का सौरभ आकल्पान्त स्थायी रहेगा।

पटना
श्रीधन्वन्तरि जयन्ती
२००७ वि०

हम हैं आपके स्नेह-भाजन
श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०
(कलकत्ता, पटना, झांसी और नागपुर) के
संचालक, सहयोगी तथा कार्यकर्त्ता गण

* श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के पटना-निर्माणकेन्द्र में श्री धन्वन्तरि जयन्ती के शुभ अवसर पर समारोह के अध्यक्ष महामान्य राज्यपाल अणे जी को रजतपेटिका (चाँदी के कास्केट) में दिया गया।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० (चिरैयाटाँड) पटना में
धन्वन्तरि जयन्ती समारोह के अवसर पर
बिहार के महामहिम राज्यपाल लोकनायक अणे का

अध्यक्षीय भाषण

श्री जोशीजी, सज्जनो और महिलाओ !

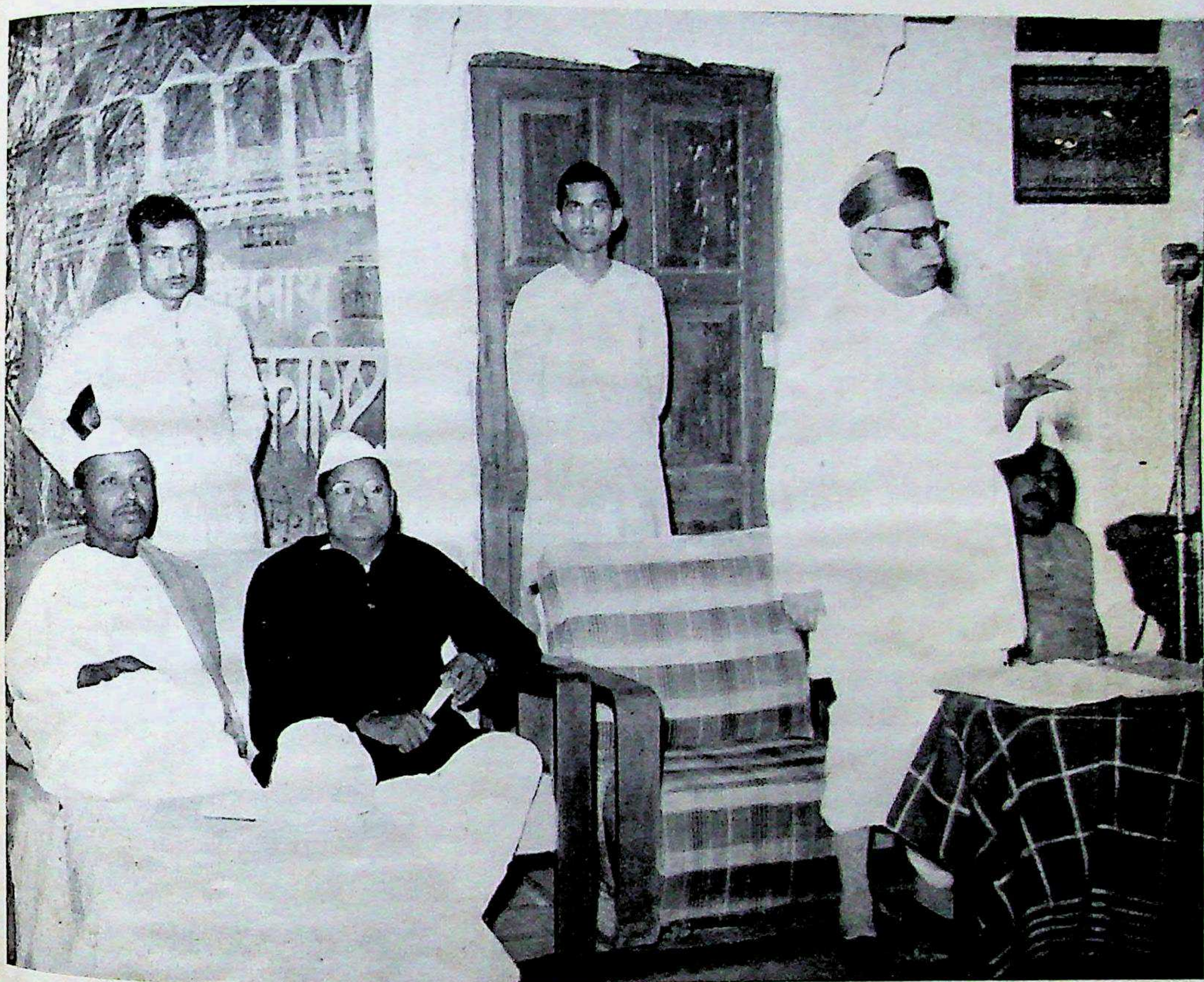
बिहार की राजधानी प्राचीन पाटलीपुत्र में आज दूसरी बार श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के तत्त्वावधान में श्रीधन्वन्तरि जयन्ती समारोह में सम्मिलित होना मैं अपने लिये परम सौभाग्य का विषय समझता हूं।

प्रातःस्मरणीय भगवान् धन्वन्तरि की जीवनी पर प्रकाश डालने का प्रयास करना मुझे अभीष्ट नहीं। बिहार की सुदूरवर्त्ती आयुर्वेदिक शिक्षाशालाओं और चिकित्सा-केन्द्रों से आगत विद्वानों को उस महान आत्मा की जीवन-गाथा सुनाने की अपेक्षा उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर लेना कहीं अधिक श्रेयस्कर और बुद्धिमत्तायुक्त होगा। आयुर्वेद का हमारे जीवन से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अपने प्रवर्त्तक भगवान धन्वन्तरि द्वारा पल्लवित किये जाने के समय (अनादि काल) से आयुर्वेद हिन्दू संस्कृति का प्रधान अङ्ग माना गया है। मैं पण्डित दुर्गाप्रसाद जोशीजी के विचारों से पूर्ण-रूपेण सहमत हूं कि आज इस मङ्गलमय अवसर पर इस विषय पर विचार-विनिमय करना लाभदायक होगा कि इस अङ्ग का भविष्य किस प्रकार उज्ज्वलतर हो। अभी कुछ पहले यहाँ पर तीन-चार विद्वानों के भाषण हुए हैं। एक वक्ता का कथन है कि उनका आयुर्वेदशास्त्र प्रतिष्ठित है, लेकिन आधुनिक विद्वान्, जो पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता की चकाचौंध में पड़कर आयुर्वेद का सम्यक् ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं, इसकी महत्ता को हृदयङ्गम करने में असमर्थ हैं। यही कारण है कि कुछ दिन पूर्व नई दिल्ली के अखिल भारतीय चिकित्सा सम्मेलन में उन्होंने आयुर्वेद के विकास के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों के मार्ग में रुकावटें डालीं। बात यहाँ तक बढ़ी है कि आयुर्वेद को मिथ्या-शास्त्र कहने वालों के साथ उसके शुभेच्छुओं का आज संघर्ष छिड़ा हुआ है, और जैसा कि आज कहा गया, यह संघर्ष कुरुक्षेत्र के संघर्ष-सा हो चला है। कुरुक्षेत्र के प्रांगण में न्याय एवं अन्याय, सत एवं असत् वृत्तियों का संघर्ष हुआ था। इतिहास इस बात का साक्षी है, और इसीलिये आपको सन्तोष भी होना चाहिये कि जो सत्य होगा, उसकी विजय होगी।

हमारे राष्ट्रपति देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद की चिकित्सा के लिये हाल ही में केवल एलोपैथिक पद्धति से चिकित्सा करने वाले डाक्टरों की ही नियुक्ति की गई। राजेन्द्र बाबू ने इस व्यवस्था का घोर विरोध किया और कहा—"मैं भारतीय हूं, भारतीय संस्कृति को छोड़ना मेरे लिये असम्भव है। हमें नई वस्तुओं को ग्रहण करने में हिचक नहीं, लेकिन पुरानी चीजों को हम छोड़ नहीं सकते। हमारे देश में आयुर्वेद, यूनानी, डाक्टरी और होमियोपैथी चिकित्सा पद्-

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के

पटना-निर्माणकेन्द्र में धन्वन्तरि-जयन्ती-महोत्सव



उत्सव के अध्यक्ष—महामान्य बिहार-गवर्नर लोकनायक श्री माधव श्रीहरि अणे ने अपने अध्यक्षीय भाषण में आशा प्रकट की कि वर्तमान संघर्ष में आयुर्वेद अवश्यमेव विजयी होगा। सम्पूर्ण भाषण "सचित्र आयुर्वेद" के इसी अंक में अन्यत्र पढ़ें। बैठे हुए, बायीं ओरसे श्री जगतनारायण लाल एम० एल० ए० तथा पण्डित रामदयाल जोशी, मैनेजिंग डायरेक्टर, श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०।

तियाँ प्रचलित हैं। इन सब से समय-समय पर मैं लाभान्वित हुआ करता हूँ। यदि सरकार को मेरे लिये व्यवस्था करनी ही है तो चारों प्रकार की व्यवस्थायें की जायं।" पाश्चात्य-विज्ञान के रङ्ग में रंगे विद्या के अभिमानियों को अन्ततोगत्वा उनके निर्णय के आगे नतमस्तक होना ही पड़ा।

जब राष्ट्रपति के लिये आयुर्वेद की व्यवस्था की गई तो इसका प्रभाव विभिन्न राज्यशासनों पर अवश्य पड़ेगा। यह तो आपके लिये उत्तेजक और आशापूर्ण बात है। भारत की पराधीनता का युग आयुर्वेद के लिये निविड़ अन्धकार पूर्ण काल रात्रि के समान रहा था। निराशा के गहन अन्धकार को भेद कर आयुर्वेद के क्षितिज पर आशा की यह नई रोशनी ब्राह्ममुहूर्त्त में धीरे-धीरे प्राची दिशा में दृष्टिगोचर होनेवाली प्रकाश रेखा-सदृश है। इसके बाद ही शनैः शनैः प्रगतिपूर्ण ऊषा और मङ्गलमय अरुणोदय की आशा आप कर सकते हैं। बिहार सरकार के मन्त्रिगण आपकी समस्या—आयुर्वेद के पुनरुत्थान—के प्रति उदासीन कदापि नहीं हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि राज्य-शासन आपके सत्प्रयत्नों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करते हुए आयुर्वेद के विकास के लिये उत्तरोत्तर योगदान देता रहेगा।

अन्त में मुझे आयुर्वेदज्ञों से कुछ शब्द अनुरोध और परामर्श के रूप में कहने हैं। बिहार के वैद्य-गण! आप जो कुछ भी करें निष्ठा-सहित करें। मैं मानता हूँ कि आयुर्वेद के प्रयाग में व्यक्तिगत लाभ आपके दृष्टिकोण में रहेगा ही। लेकिन स्वपोषण की भावना के साथ ही आपके प्रयत्नों का उद्देश्य दरिद्रों की सेवा होना चाहिये। भारत के कोने-कोने में अधिकाधिक संख्या में गरीब बिखरे पड़े हैं। उन्हें आपकी विशेष आवश्यकता है। दरिद्र और दलित की सेवा की मात्रा आपमें जितनी होगी उतनी ही अधिक तेजी के साथ आपको सफलता मिलेगी। उनके उपकार-मार्ग पर चलकर ही आप अधिकांश भारतीयों तक पहुंच सकेंगे और थोड़े ही दिनों बाद आयुर्वेद अपना पूर्व स्थान प्राप्त कर लेगा।"

अन्त में आपने श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के द्वारा किये जाने वाले कार्यों की प्रशंसा करते हुए अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की और अन्य आयुर्वेदीय संस्थाओं के द्वारा भी इसका अनुकरण किये जाने की राय देते हुए अपना भाषण समाप्त किया।

———

पटना-निर्माणकेन्द्र में

महामान्य राज्यपाल और माननीय चिकित्सा-मंत्री द्वारा

आयुर्वेद को प्रश्रय प्रदान करने का आश्वासन



गत ७ नवम्बर १६५० को संध्या समय श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के चिरैयाटांड स्थित भवन के विशाल प्रांगण में श्री धन्वन्तरि जयन्ती समारोह बड़े धूमधाम से मनाया गया। बिहार के महामहिम राज्यपाल श्री माधव श्रीहरि अणेने उत्सव का सभापतित्व किया। प्रान्त के विभिन्न क्षेत्रों से आए हुए अनेक विद्वानों, वैद्यों तथा गण्यमान्य नागरिकों ने समारोह में भाग लिया।

महोत्सव का प्रारम्भ वन्देमातरम् गान से हुआ।

स्वागत भाषण

उपस्थित विद्वन्मंडली का स्वागत करते हुए श्री दुर्गाप्रसाद शर्मा ने धन्वन्तरि जयन्ती के महत्व पर अपने भाषण द्वारा प्रकाश डाला। आपने बताया कि श्री धन्वन्तरि की स्मृति के साथ हमें प्राणीमात्र के कल्याणाथ आयुर्वेद के प्रणेता महर्षियों की याद आ जाती है।

आपने कहा कि हमें सम्प्रति अपने वर्तमान पर ही विचार करना है। राष्ट्र के तपे-तपाये नेताओं के शासनारूढ हो जाने के पश्चात आयुर्वेद का भविष्य न केवल आशाजनक, बल्कि सुनहला हो उठा है। साथ ही हमें समझ लेना है कि यह समय हमारी संस्कृति के एक सुन्दरतम अंग के जीवन-मरण से सम्बन्धित है। हमें वैज्ञानिक उन्नति से मुँह नहीं मोड़ना है। आयुर्वेद एक जीवन-विज्ञान है। हमें अपने मौलिक सिद्धान्तों को अक्षुण्ण रखकर नवीन अनुकूल और समुचित प्रणालियों, प्रयोगों और मान्यताओं को आत्मसात कर लेना है।

आगे आपने हाल में ही दिल्ली में हुए स्वास्थ्य-मंत्री-सम्मेलन का उल्लेख करके हर्ष प्रकट किया कि लगभग एक हजार वर्ष बाद आयुर्वेद को समुन्नत बनाने के प्रश्नपर विचार कर योजना तैयार की गयी। प्रतिगामी शक्तियों, जो हमारी राह में अड़ंगे लगा रही हैं, का आपने मुकाबला करने की सलाह दी। आपने प्रान्तीय सरकार से अनुरोध किया कि वह कम-से-कम एक सर्वाङ्गपूर्ण आयुर्वेदीय अस्पताल खोले ताकि आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति का सच्चा स्वरूप हमारे सामने प्रकट हो जाय।

इस दिशा में श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा किये गये प्रयत्नों का उल्लेख करते हुए श्रीदुर्गाप्रसाद शर्मा ने बतलाया कि हम आयुर्वेद को लोकप्रिय बनाने के लिये गुणकारी औषधियों का निर्माण कर रहे हैं। जनता तथा राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जैसे नेताओं ने हमारी प्रशंसा की है, जो आयुर्वेद की प्रशंसा कही जायगी। हम ने आयुर्वेद के विभिन्न अंगों पर चिकित्साग्रंथों का प्रकाशन भी कराया है। 'सचित्र आयुर्वेद' नामक प्रतिनिधिक पत्र भी हम प्रकाशित कर रहे हैं। अनुसंधान, रिसर्च और छात्रवृत्तियों द्वारा भी हम आयुर्वेद-प्रेमियों को प्रोत्साहन प्रदान करने की चेष्टा में रहते हैं।

अन्त में आपने उपस्थित महापुरुषों को आवाहन करते हुए अनुरोध किया कि इस पुनीत अवसर

पर वे शुद्ध हृदय से संकल्प करें कि वे तब तक चैन नहीं लेंगे जबतक आयुर्वेद का प्रचार घर-घर में नहीं हो जायगा। तभी यह इतना उन्नत हो सकेगा कि सरकार इसे राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति मान लेगी।

श्री विनोदानन्द झा

चिकित्सा मंत्री माननीय पं० विनोदानन्द झा ने श्री धन्वन्तरि के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए बताया कि सर्व प्रथम उन्हीं के द्वारा शल्यशास्त्र का सृजन किया गया। स्वाधीनता को खोने के साथ ही हम राष्ट्रीय संस्कृति भी खो बैठे और आयुर्वेद का विकाश रुक गया। विदेशी सरकार की ओर से इसके विनाश के प्रयत्न किये जाने लगे जिनके बावजूद भी बने रहना आयुर्वेद की विशाल जीवनी शक्ति का द्योतक है। अब राष्ट्रसंचालन राष्ट्र के हाथों में है। आयुर्वेद और हकीमी को प्रोत्साहन दिया जाने लगा है। चोपड़ा कमिटी ने सिफारिश की है कि इन वैद्यक की रक्षा की जाय तथा इनमें आधुनिक विज्ञान के प्रयोगों को सम्मिलित कर इन्हें और भी विकसित किया जाय। एलौपैथी चिकित्सा को ठुकराया नहीं जा सकता। वह भी युग की देन है जिसको उन्नत बनाने में भारतीयों का भी हाथ रहता है। आपने यह भी कहा कि आयुर्वेद के विकास की चेष्टा में कठिनाइयां लाई जा रही हैं। परतंत्र मनोवृत्तिवाले सलाहकारों के साथ हमारा मानसिक संघर्ष चल रहा है जिसमें धीरे-धीरे सफलता मिलती जा रही है।

पंडितजी ने आयुर्वेदज्ञो से अनुरोध किया कि वे डाक्टरों के दूसरे संस्करण बनने की चेष्टा न करें, अन्यथा इस मिथ्या प्रतिस्पर्द्धा में उनकी हार की आशंका है। वैद्यों को उचित है कि ग्रामीणों, दुःखियों और गरीबों को अपनी दवा उपलब्ध बनाने की चेष्टा में लगें।

श्री रामरक्ष पाठक

बेगूसराय आयुर्वेदिक कालेज के प्रिन्सिपल श्री रामरक्ष पाठक ने श्रीधन्वन्तरि के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की। आप ने अपने भाषण में कहा कि आज देश में राष्ट्रीय सरकार के सत्ताप्राप्त रहने के कारण राष्ट्रीय संस्कृति व विज्ञान के विकास की ओर प्रयत्न होनेलगे हैं। लेकिन शासन-यंत्र की परतंत्र मनोवृत्ति के कारण योजनाओं को सफलतानहीं मिलती। विदेशी शासन ने उनके दिल में अपनों के प्रति घृणों के भाव भर दिए हैं। जब हम सरकार के सामने अपनी बात रखते हैं तो वे रुकावटें पैदा करते हैं।

पाठकजी ने बताया कि हमारा विज्ञान बिना प्रश्रय पाये विकसेगा नहीं। इसे अवसर प्रदान किया जाना चाहिये। स्वायत्त शासन मंत्री के आश्वासन से हमें प्रसन्नता हुई। हमें संस्कृति के प्रतीक वर्तमान राज्यपाल श्री अणेसे भी पूर्ण आशा है।

कविराज सुखराम प्रसाद

कविराज श्री सुखराम प्रसाद ने वैद्यों को आत्म-निरीक्षण करने को कहा कि आज आयुर्वेद अपने जन्मस्थान भारत में ही हीनावस्था में क्यों है। आपने कहा कि अच्छे-अच्छे वैद्यों के अभाव का कारण आयुर्वेद की शिक्षा की समुचित व्यवस्था का नहीं रहना है। आपने कहा कि शहरी वैद्यों में ही अधिकांश डाक्टरों की नकल करने वाले और रुपये ऐंठने वाले होते हैं, देहात में हजारों वैद्य मुफ्त और सस्ती चिकित्सा करते हुए लोकोपकार में लीन हैं। आप ने सरकार से मांग की कि आयुर्वेद को भी अन्य चिकित्सा पद्धतियों की भांति समान अधिकार मिले ताकि हम विकाश का अवसर प्राप्त करें।

डाक्टर एन० एस० परांजपे

डा० परांजपे ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण द्वारा बताया कि अनादि काल से ही संघर्ष होता रहा है।

ब्रिटिश सरकार की नीति के कारण इसकी उन्नति अब तक रुकी हुयी थी। लेकिन अब इसके विरोधियों की नहीं चल सकेगी। राज्य चलाने वालों में दो प्रकार की विचारधाराएं हैं। श्री मावलंकर और राजेन्द्र बाबू सरीखे महापुरुष आयुर्वेद के हिमायती हैं। दोनों दलों के बीच कुरुक्षेत्र सरीखा मानसिक संघर्ष चल रहा है। लेकिन हाल में प्रतिगामियों को झुकना पड़ा है। भारतीय आयुर्वेद को मिटाने की क्षमता किसी में नहीं है।

राज्यपाल का अध्यक्षीय भाषण

बिहार के राज्यपाल महामहिम श्री माधव श्रीहरि अणे ने भगवान धन्वन्तरि के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि "श्री धन्वन्तरि प्राचीन हिन्दू संस्कृति के प्रधान अङ्ग आयुर्वेद के प्रवर्तक थे। सम्प्रति उनके इतिहास पर विचार करने की अपेक्षा इस पर विचार-विनिमय करना अधिक लाभदायक होगा कि इस अङ्ग का उत्थान किस प्रकार हो। अभी अनेक भाषण हुए हैं। एक वक्ता का कथन है कि उनकी विद्या प्रतिष्ठित है, लेकिन उसे समझ न पा सकनेवालों ने रुकावटें डालीं। बात यहाँ तक बढ़ी है कि आयुर्वेद को मिथ्याशास्त्र बतानेवालों के साथ उनका संघर्ष छिड़ा हुआ है और वह भी कुरुक्षेत्र सा। परन्तु संतोष करना चाहिए इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो सत्य होगा उसकी विजय होगी।"

श्री अणे ने बताया कि "राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू के लिये चिकित्सकस्वरूप केवल डाक्टरों की नियुक्ति की गयी थी। उन्होंने इस बात का विरोध किया और कहा कि मैं भारतीय हूं, प्राचीन आर्य संस्कृति को नहीं छोड़ सकता। हमें पुरनी चीजों को उखाड़ नहीं फेंकना है। अन्ततोगत्वा अपनी विद्या के अभिमानियों को उनके निर्णय के आगे झुकना पड़ा।

"जब राष्ट्रपति के लिये आयुर्वेद की व्यवस्था की गयी है तो इसका प्रभाव विभिन्न राज्यशासनों पर अवश्य पड़ेगा। यह तो आपके लिये उत्तेजक और आशा पूर्ण बात है। निराशा के अन्धकार के बाद यह एक नयी रोशनी है जिसके बाद ही ऊषा और मङ्गलमय अरुणोदय की आशा आप कर सकते हैं। आप जो कुछ करें, निष्ठा के साथ करें। स्वपोषण की भावना के साथ ही आपके प्रयत्नों का उद्देश्य गरीबों की सेवा होना चाहिये। दरिद्र और दलित की सेवा की मात्रा जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक तेजी के साथ आपको सफलता मिलेगी। थोड़े ही दिनों में आयुर्वेद अपना पूर्व स्थान प्राप्त कर लेगा।"

राज्यपाल ने श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के द्वारा की गयी आयुर्वेद की उन्नति तथा लोकोपकारी कार्यों की सराहना की तथा ऐसे सत्प्रयत्नों के लिये श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिङ्ग डायरेक्टर तथा जयन्ती समारोह के संयोजक पं० रामदयाल जोशी को धन्यवाद दिया। आप भवन के विभिन्न विभागों के संचालन तथा उनकी कार्यवाही की दक्षता से बहुत प्रभावित हुए।

तत्पश्चात् श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की कलकत्ता, पटना, झांसी एवं नागपुर शाखाओं के संचालक, सहयोगियों और कार्यकर्ताओं की ओर से एक संयुक्त अभिनन्दनपत्र एक रजतपेटिका में श्री दुर्गाप्रसाद शर्मा द्वारा राज्यपालको अर्पित किया गया।

अन्त में आगत अतिथियों का फल और चाय-पान आदि से स्वागत किया गया। पं० रामदयाल जोशी कर्मचारियों सहित अतिथियों के स्वागत में तत्पर रहे।

नागपुर-निर्माणकेन्द्र में

नागपुर-निर्माणकेन्द्र में आयुर्वेद जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं नेता श्री गोवर्धन जी शर्मा छांगाणी की अध्यक्षता में श्री धन्वन्तरि-जयन्ती महोत्सव समारोहपूर्वक मनाया गया। उत्सव का उद्घाटन मध्यप्रदेश के स्वास्थ्य मंत्री माननीय श्री वालिंगे जी ने किया। आफिस के सामने का सुसज्जित विशाल पण्डाल श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के एजेंटों, वैद्यबन्धुओं तथा आयुर्वेदप्रेमी जनता की उपस्थिति से भर गया था।

सायं ५ बजे उत्सव की कार्रवाई शुरू होने पर सर्वप्रथम नागपुर-निर्माणकेन्द्र के मैनेजर श्री घनश्यामदास जी चौबे ने समागत सज्जनों का स्वागत करते हुए एक संक्षिप्त भाषण दिया। आयुर्वेद के प्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरि को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए आपने भवन की नीति पर भी प्रकाश डाला तथा यह विश्वास प्रकट किया कि विद्वान वैद्यों के आशीर्वाद तथा मैनेजिंग डाइरेक्टर्स पण्डित रामदयाल जी जोशी एवं पण्डित रामनारायण जी शर्मा के सुयोग्य नेतृत्व में श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० आयुर्वेद की निरन्तर अधिकाधिक सेवा कर सकेगा।

माननीय स्वास्थ्य मन्त्री श्री वालिंगेजी ने अपने उद्घाटन भाषण में आयुर्वेद को राज्य की ओर से अधिकाधिक सहयोग देने का आश्वासन दिया। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, पटना में २४ दिसम्बर से आरम्भ होनेवाली अ० भा० आयुर्वेद शास्त्रचर्चापरिषद् की ओर संकेत करते हुए आपने चाहा कि वैसी ही आयुर्वेद शास्त्रचर्चा परिषद नागपुर में भी हो, जिसमें पूर्ण सहयोग देने का आपने आश्वासन दिया। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की दलबन्दी से अलग रहने की नीति की प्रशंसा करते हुए आपने आशा प्रकट की कि यह संस्था व्यापार करते हुए भी जिस प्रकार अब तक आयुर्वेद की सेवा करती रही है, उसी प्रकार भविष्य में भी आयुर्वेद के अभ्युत्थान में तत्पर रहेगी।

अन्त में निर्वाचित अध्यक्ष भिषग्रत्न पण्डित गोवर्धन शर्मा छांगाणी ने अपना विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया और कार्यालय की ओर से अध्यक्ष, माननीय स्वास्थ्य मन्त्रीजी तथा अन्य समागत सज्जनों को धन्यवाद देने के बाद सभा विसर्जित हुई।

झाँसी-निर्माणकेन्द्र में

झांसी निर्माणकेन्द्र में श्री धन्वन्तरि जयन्ती महोत्सव उत्तर प्रदेश के आयुर्वेद-यूनानी-बोर्ड के सदस्य पण्डित रामगोपाल जी शास्त्री की अध्यक्षता में बहुत ही समारोह पूर्वक सम्पन्न हुआ। इस में झांसी नगर तथा दूर-दूर के नगरों और ग्रामों के भी सवा सौ से अधिक वैद्यों और हकीमों ने भाग लिया। भवन के मैनेजिंग डाइरेक्टर पण्डित रामनारायणजी शर्मा वैद्यशास्त्री ने समागत सज्जनों का हार्दिक स्वागत-अभिनन्दन किया। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की ओर से श्री धन्वन्तरि जयन्ती का मुद्रित अभिभाषण पण्डित मंगलदत्तजी शास्त्री ने पढ़ा। तदुपरान्त विद्वान् वैद्यों ने राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति की उन्नति व प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में ओजस्वी भाषण दिये तथा सब ने आयुर्वेद के अभ्युत्थान का व्रत लिया। अन्त में अध्यक्ष महोदय के सारगर्भित भाषण के बाद कार्यालय की ओर से मधुर जलपान हुआ एवं समारोह सानन्द सम्पन्न हुआ।

कलकत्ता-निर्माणकेन्द्र में

कलकत्ता निर्माणकेन्द्र में श्रीधन्वन्तरि जयन्ती समारोह 'सचित्र आयुर्वेद' के निर्देशक आयुर्वेद महामहोपाध्याय पण्डित भागीरथ स्वामी रसायनाचार्य की अध्यक्षता में समारोहपूर्वक मनाया गया। हर वर्ष की भांति इस वर्ष भी कलकत्ता महानगरी के वैद्यों तथा आयुर्वेद प्रेमी जनता ने इस में उत्साह के साथ भाग लिया।

सायं ४ बजे स्थानीय श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के हरीसन रोड स्थित बिक्रीकेन्द्र में कारवाई शुरू हुई। अनेक विद्वान वैद्यों के भाषण हुए। कविराज हरिवक्ष जी जोशी ने वैद्यों से आयुर्वेद के प्रचार की ओर विशेष ध्यान

[शेषांश ५१६ पृष्ठ पर]

जबलपुर-बिक्रीकेन्द्र के समारोह के अध्यक्ष

आयुर्वेदाचार्य डा० लक्ष्मीनारायणजी बी० एस० सी०, ए०, एम० एस० का

अध्यक्षीय भाषण

सम्माननीय उपस्थित सज्जनो,

आज इस धन्वन्तरि जयन्ती समारोह का अध्यक्षपद प्रदान कर आप लोगों ने मुझे बहुत ही आभारी बना लिया है ; क्योंकि यहाँ मुझसे अधिक वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध सज्जन हैं, जिनकी उपस्थिति में मेरा इस आसन पर बैठना शोभा नहीं देता है। यह बात मैं केवल फर्जअदायगी के लिये नहीं कहता हूँ जैसा कि प्रायः निर्वाचित सभापति कहा करते हैं। मैं एक यथार्थ बात कह रहा हूँ क्योंकि ऐसा ही अनुभव कर रहा हूं। अस्तु, जो भी हो मैं इसके लिये श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संचालकों को धन्यवाद देता हूँ।

बड़ो प्रसन्नता की बात है कि हमारे नगर में भी श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का यह वृहत् विक्री केन्द्र स्थापित हो गया है। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन की विभिन्न शाखाओं और

शेषांश]

श्री धन्वन्तरि जयन्ती समारोह

[५१५ पृष्ठ का

देने की अपील की। 'सचित्र आयुर्वेद' के सहकारी सम्पादक पण्डित रमाकान्त झा ने भवन की ओर से इस अवसर के लिए मुद्रित अभिभाषण पढ़ा तथा राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति की उन्नति तथा प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये।

अध्यक्ष पण्डित भागीरथ स्वामी ने आयुर्वेद की श्रेष्ठता पर प्रकाश डालते हुए कहा कि "केन्द्र की स्वास्थ्य मंत्रिणी माननीया राजकुमारी अमृतकौर की आलोचनाओं से वैद्यों को जरा भी घबड़ाने की जरूरत नहीं क्योंकि आयुर्वेद के सिद्धान्त सहस्र वर्षों के सुपरीक्षित हैं।"

अन्त में बिक्रीकेन्द्र के स्टाकिस्ट श्री बनवारी लाल जी शर्मा ने समागत सज्जनों का धन्यवाद दिया एवं जलपान के साथ समारोह सानन्द सम्पन्न हुआ। कलकत्ता निर्माण केन्द्र के मैनेजर वैद्यराज बेणीप्रसाद जी शर्मा तथा अन्य कर्मचारीगण स्वागत व्यवस्था में तत्पर रहे।

केन्द्र नगरों में

दिल्ली के चान्दनी चौक स्थित बिक्री केन्द्र में पूजा-अर्चा एवं प्रसाद वितरण पूर्वक कविराज स्वामी चेतनानन्दजी की अध्यक्षता में सार्वजनिक सभा हुई। राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति की वर्तमान संकटापन्न अवस्था में वैद्यों का क्या कर्तव्य है, इस विषय पर वैद्य पण्डित ओंकार प्रसादजी, गोस्वामी मुन्नीलालजी आदि विद्वान् वैद्यों के बड़े ही प्रभावकारी भाषण हुए।

जबलपुर-बिक्रीकेन्द्र में

जबलपुर बिक्री केन्द्र में धन्वन्तरि जयन्ती समारोह उत्साहपूर्वक आयुर्वेदाचार्य डा० लक्ष्मीनारायण जी बी० ए०, एम० एस० के सभापतित्व में मनाया गया। सर्वप्रथम बिक्री केन्द्र व्यवस्थापक वैद्यभूषण बनबारी लाल गोस्वामी आयुर्वेद विशारद ने मुद्रित अभिभाषण पढ़ा। समागत विद्वानों में सर्व श्री वैद्य यमुनाप्रसादजी, भिषग्वर वैद्यभूषण वीरभानुजी त्रिवेदी, वैद्य महादेवजी मिश्र, साहित्य मनीषि कपिलदेव प्रभृति के भाषण हुए। अन्त में सभापति का सारगर्भित विद्वत्तापूर्ण भाषण हुआ।

शालाओं और बिक्री-केन्द्रों में यह आयोजन प्रतिवर्ष सम्पादित होता है और हजारों रुपये इस महत्त्वपूर्ण वार्षिक त्योहार में व्यय किये जाते हैं। यह भवन के मैनेजिंग डायरेक्टर्स की प्रगाढ़ धार्मिक भावना और वैद्यों के दृढ़ संगठन की प्रबल इच्छा का द्योतक है जिसके लिये वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

यह साधारण नियम है कि जिस महापुरुष की जयन्ती मनायी जाती है उसके जीवन की महानता तथा घटनाओं पर प्रकाश डाला जाता है किन्तु यह उत्सव इस नियम का प्रायः अपवाद है। प्रारम्भ में श्री धन्वन्तरि भगवान का पूजन व स्तवन तो अवश्य कर लिया जाता है किन्तु बाद में प्रत्येक वक्ता श्री धन्वन्तरि के सम्बन्ध में कुछ न कह कर अन्यान्य बातें करने लगते हैं। यदि संक्षेप में कहा जाय तो इस दिन विशेषकर दो बातों पर लोग बोलते हैं। पहली यह कि सरकार ने आयुर्वेद की उपेक्षा की और दूसरी यह कि आयुर्वेद का प्राचीन गौरव क्या था। हमने आयुर्वेद के लिये क्या किया, अब आयुर्वेद की क्या स्थिति है, और हम क्या कर रहे हैं—इस सम्बन्ध में यथावश्यक नहीं कहा जाता। यह हमारे नगर तथा देश के अन्यान्य स्थानों के भी अनेक उत्सवों का संक्षिप्त इतिवृत्त है। इस दिन भगवान धन्वन्तरि के सम्बन्ध में लोग जो प्रकाश नहीं डालते इसके दो प्रधान कारण हैं। पहिला यह कि समस्त वैद्यों को अपने व्यवसाय से अवकाश प्राप्त कर, एक साथ बैठ कर विचार-विमर्श करने का वर्ष में यही विशेष अवसर प्राप्त होता है क्योंकि यही सबसे बड़ा वैद्यकीय त्योहार है, जो सम्पूर्ण वैद्यों द्वारा मनाया जाता है। वैसे अन्यान्य पर्वों में भी बहुधा आयोजन हो जाते हैं किन्तु यह दिन चिरकाल से निश्चित रहता है, उपस्थिति सर्वाधिक होती है और हृदय में एक विशेष उत्साह और उमङ्ग रहती है—अतः वर्षभर की आयुर्वेदीय राजनीति की चर्चा करने का सर्वोत्तम अवसर इसी दिन प्राप्त होता है और यह निश्चित है कि इस जमाने में आयुर्वेद को राजनीति से अलग नहीं रखा जा सकता। दूसरा कारण यह है कि श्री धन्वन्तरि के सम्बन्ध में सब लोगों को यथार्थ जानकारी नहीं है और भगवान राम व कृष्ण के समान उनका विस्तृत जीवन-चरित्र कहीं मिलता भी नहीं है।

पुराण, इतिहास व आयुर्वेद में विभिन्न 'धन्वन्तरि' नामवाले महापुरुषों का वर्णन प्राप्त होता है। हम जो उत्सव मनाते हैं यह किससे सम्बन्धित है तथा इस त्रयोदशी का उनके जीवन से क्या सम्बन्ध है, अर्थात् यह जन्म दिवस है या निर्वाण दिवस, ये सब बातें सुविदित एवं निश्चित नहीं है। आश्चर्य इस बात का है कि जिन्हें हम आयुर्वेद-प्रवर्तक मानते हैं उन भगवान धन्वन्तरि की स्तुति का एक भी श्लोक आयुर्वेद के वैदिककालीन ग्रन्थों में नहीं है, फिर उनका जीवन चरित्र तो मिल ही क्या सकता है। तत्सम्बन्धी एकमात्र श्लोक जो सुश्रुत में मिलता है वह इस प्रकार है—

> अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो, जरारुजा मृत्युहरोऽमराणाम्।
> शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं, प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्॥
>
> सु० सू० अ० १

यदि धन्वन्तरि शब्द के विग्रह तथा चरक-सुश्रुतोक्त शिष्य-परम्परा पर विचार करें तो धन्वन्तरि समग्र आयुर्वेद के सामान्यतया तथा एक सम्प्रदाय के विशेषतया प्रवर्तक प्रतीत होते हैं। कहा है—धन्वं शल्यशास्त्रं तस्य अन्तं पारं इयति गच्छतीति धन्वन्तरिः। यदि शिष्य परम्परा देखें तो ब्रह्मा, दक्ष

प्रजापति, अश्विनीकुमार और इन्द्र तक चरक-सुश्रुत दोनों ग्रन्थों में समानता है। तत्पश्चात् इन्द्र से धन्वन्तरि ने आयुर्वेद का अध्ययन किया और औपधनेव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित और सुश्रुत सात प्रधान शिष्यों एवं,अन्य ऋषिगणों को पढ़ाया—यह सुश्रुतोक्त वर्णन है। चरक में लिखा है कि इन्द्र से भरद्वाज ने पढ़ा तथा उनने पुनर्वसु आत्रेय आदि अनेक ऋषियों को पढ़ाया। आत्रेय के अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि छै शिष्य हुए। अग्निवेश द्वारा लिखित संहिता बाद में चरक-संहिता के नाम से प्रचलित हुई। प्राचीन काल में वैद्यों के दो सम्प्रदाय थे—पहला धन्वन्तरि-सम्प्रदाय (Surgeons class) और दूसरा आत्रेय सम्प्रदाय (Physicians, class)। प्रथमवर्ग शल्य-शालाक्य-प्रधान तथा दूसरा काय-चिकित्सा-प्रधान था। सुश्रुत-संहिता धन्वन्तरि सम्प्रदाय का तथा चरक-संहिता आत्रेय सम्प्रदाय का प्रधान उपलब्ध ग्रन्थ है। यहां यह स्मरणीय है कि धन्वन्तरि अपने सम्प्रदाय के अनुकूल क्षत्रिय-कुल-भूषण राजर्षि और भगवान आत्रेय ब्राह्मण-कुलोद्भूत ब्रह्मर्षि थे। आजकल वैद्यवर्ग प्रायः काय-चिकित्सा-प्रधान होने के कारण आत्रेय-सम्प्रदायी है। ऐसी अवस्था में उसे धन्वन्तरि-जयन्ती के स्थान में अथवा उसके साथ-साथ आत्रेय या भरद्वाज-जयन्ती अवश्य मनाना चाहिये, किन्तु ऐसा न करके सिर्फ धन्वन्तरि-जयन्ती ही मनाई जाती है। ऐसा क्यों? इसका रहस्य आयुर्वेद में नहीं मिलता, बल्कि पुराणों में मिलता है।

श्रीमद्भागवत में अनेक स्थानों पर धन्वन्तरि का नाम आया है—एक स्थान पर समुद्रोत्पन्न चौदह रत्नों में, दो स्थानों पर भगवान् के चौबीस अवतारों में और एक स्थान पर क्षत्रिय राजाओं की वंशानुक्रमणिका में। जब देवताओं और दैत्यों के द्वारा समुद्र-मथन किया गया तो समुद्र से १४ पदार्थ निकले। सबके अन्त में अमृत का कलश लिये हुए भगवान् धन्वन्तरि का प्रादुर्भाव हुआ। उनका वर्णन इस प्रकार दिया है:—

अथोदधेर्मथ्यमानात्काश्यपैरमृतार्थिभिः।
उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः॥
दीर्घपीवरदोर्दण्डः कंबुग्रीवोऽरुणेक्षणः।
श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः॥
पीतवासा महोरस्कः सुमृष्टमणिकुण्डलः।
स्निग्धकुंचितकेशान्तः सुभगः सिंहविक्रमः॥
अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद्वलयभूषितः।
स वै भगवतः साक्षात् विष्णोरंशांशसंभवः॥
धन्वन्तरिरिति ख्यातः आयुर्वेदहगिज्यभाक्।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८। अ० ८ ३१-३५

जहां भगवान् के २४ अवतारों का वर्णन किया गया है वहां लिखा है—

धान्वन्तरं द्वादशमं।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध १ अ० ३ श्लो० १७

"अवतारों के ही वर्णन में अन्य स्थान पर लिखा है—

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्तिनाम्ना
नृणां पुरुभुजां रुज आशु हन्ति।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध
आयुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके॥

श्रीमद्भागवत स्कन्ध २ अ० ७।

हमारे आज के उत्सव के आराध्य देव यही भगवान् धन्वन्तरि हैं। उनका २४ अवतारों में तथा १४ समुद्रोद्भूत रत्नों में अलग-अलग वर्णन होने पर भी वे हैं एक ही। उनमें किसी प्रकार की भिन्नता समझने की आवश्यकता नहीं है।

अब प्रश्न होता है सुश्रुतोक्त काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि के सम्बन्ध में, कि वे कौन थे। इसका उत्तर तत्रोक्त श्लोक में ही मिल जाता है जिससे सिद्ध होता है कि आज के वन्दनीय धन्वन्तरि का अवतार तो यही है जो ऊपर कहा गया है तथा सुश्रुतोक्त धन्वन्तरि जिनके नाम से धन्वन्तरि-सम्प्रदाय चला है वे आदि धन्वन्तरि के अंशावतार थे। इस सम्बन्ध में जो वर्णन श्रीमद्भागवत में है वह इस प्रकार है—

काश्यस्य काशिस्तत्पुत्रो राष्ट्रो दीर्घतमः पिता।
धन्वन्तरिर्दैर्घतम आयुर्वेदप्रवर्तकः॥
यज्ञभुग्वासुदेवांशः स्मृतमात्रार्तिनाशनः।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ९ अ० १७

ये धन्वन्तरि त्रेतायुग में पुरुरवा वंश में उत्पन्न हुए थे और चन्द्रवंशी क्षत्रिय राजा थे। वहीं पर इनकी जो वंश-परम्परा का वर्णन दिया है वह इस प्रकार है—

काशी
|
राष्ट्र
|
दीर्घतमा
|
धन्वन्तरि
|
केतुमान
|
भीमरथ
|
दिवोदास

यह शंका होती है कि धन्वन्तरि, 'काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि' क्यों कहलाते हैं। मेरा अनुमान है कि नामों पर कोई प्रतिबन्ध तो है नहीं। एक ही नाम भिन्न-भिन्न समयों में तथा उसी काल में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हो सकते हैं। इसलिये इन धन्वन्तरि का वैशिष्ट्य बताने के लिये कालान्तर में उनके नाम के पहिले उनके प्रपितामह और प्रपौत्र का नाम जोड़ दिया गया है; जिससे नीचे और ऊपर की दो दो प्रतिपाद्य पीढ़ियों के बीच वाले धन्वन्तरि ही समझे जावें। महाराष्ट्र और मद्रास में आज भी अपने नाम के साथ पिता का नाम व कहीं-कहीं गांव का नाम तक लिखने का रिवाज़ है। 'काशिराज' से यह भी अनुमान होता है कि शायद वे काशी के राजा रहे हों अथवा काशी उनके राज्य की राजधानी हो, इसलिये नाम के आगे काशिराज लिखा गया है। धन्वन्तरि के प्रपौत्र दिवोदास के पुत्र का नाम प्रतर्दन था जो रामराज्याभिषेक के समय उपस्थित थे। काशिराज धन्वन्तरि का लिखा हुआ ग्रन्थ 'धन्वन्तरि-संहिता' के नाम से प्रख्यात है, जो अनुपलब्ध है।

इतिहास में एक और प्रसिद्ध धन्वन्तरि का नाम मिलता है। वे हैं राजा विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक। हिन्दी भाषा में एक कविता प्रचलित है—

विक्रमनृप को सभामधि को विधि रत्न समाज।
धन्वन्तरि, क्षपणक तथा अमरसिंह विद्वान्॥
बेताल भट्ट अरु शंख जी घटकर परि द्विजराज।
वररुचि मिहिर वराह जी कालिदास सिरताज॥

महापुरुषों के कुछ नामों का उपयोग उनकी गद्दी अथवा उपाधि के रूप में होता है। जैसे भगवान् शङ्कराचार्य का उपयोग गद्दी के रूप में। उपाधि का उपयोग दो प्रकार से होता है—वंश परम्परानुसार अथवा गुणानुसार। जैसे विक्रमादित्य, भारद्वाज आदि का उपयोग वंश-परम्परानुसार है तथा राममूर्त्ति को कलियुगी भीम कहना, यह उपाधि का गुणानुसार उपयोग है। ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमादित्य की सभा के धन्वन्तरि अपने चिकित्सा-

चातुर्य और वैद्यकीय ज्ञान-गरिमा के कारण इस उपाधि से विभूषित किये गये हों। आजकल भिषगाचार्य धन्वन्तरि की उपाधि सर्वसाधारण रूप से वितरित की जाती है जो सब लोग जानते ही हैं।

धन्वन्तरि के सम्बन्ध में आर भी कई बातें देखने में आई हैं किन्तु जब तक उनकी पूरी छानबीन न की जावे उस सम्बन्ध में कुछ कहना अनुचित है। गत वर्ष श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन पटना द्वारा आयोजित धन्वन्तरि जयन्ती-उत्सव पर बिहार के माननीय राज्यपाल श्री अणे महोदय ने अपने अंगरेजी भाषण में बताया था कि नागों की देवता Manasa और धन्वन्तरि में कुछ संघर्ष हो गया था और बाद में आपसी समझौता हो गया। यह उन्होंने ब्रह्मवैवर्त पुराण के आधार पर कहा है। इसी प्रकार 'कल्याण' के ब्रह्म पुराणाङ्क में भी भिन्न भिन्न स्थानों पर दो बातें लिखी हैं। किन्तु ब्रह्मववर्त पुराण तथा ब्रह्मपुराण यहां न मिल सकने के कारण बिना देखे इनके सम्बन्ध में कुछ कहना अनधिकार चेष्टा है। 'कल्याण' में लिखा है कि धन्वन्तरि ने तप कर के इन्द्रपद को प्राप्त किया और दूसरी बात लिखी है कि धन्वन्तरि ने भरद्वाज से आयुर्वेद का अध्ययन किया। ये दानों बातें काशिराज धन्वन्तरि के सम्बन्ध में हैं।

सुखसागर जो कि भागवत का विशद हिन्दी रूपान्तर है उसमें स्कन्ध १२ के ६ ठे अध्याय में लिखा है कि जब तक्षक राजा परीक्षित को डसने जा रहा था तब मार्ग में उसे कश्यप के द्वारा भेजे हुए धन्वन्तरि मिले जो परीक्षित को मृत्यु से बचाने के लिये जा रहे थे। भागवत में यह कथानक तो है किन्तु सिर्फ कश्यप का नाम दिया है, उनके द्वारा प्रेषित धन्वन्तरि का उल्लेख नहीं है। इसीलिये सुखसागर का कथन मान्य नहीं है और यदि ठीक भी हो तो ये कोई अन्य धन्वन्तरि हैं यह निश्चित है, क्योंकि इन्हें जाति का ब्राह्मण बताया गया है जब कि काशीराज धन्वन्तरि क्षत्रिय थे।

भगवान् धन्वन्तरि के सम्बन्ध में मुझे एक बात और कहना है और वह यह है कि धन्वन्तरि मंदिर भारतवर्ष में कहीं नहीं है। बीकानेर रियासत के रतनगढ़ के ख्यातनामा वैद्य श्रीमणिरामजी शर्मा इस सम्बन्ध में बड़ा प्रयत्न कर रहे हैं और उन्होंने कुछ द्रव्य-संग्रह भी किया है। उनका यह प्रयत्न सराहनीय है और मेरा निवेदन है कि सिर्फ वैद्यों को ही नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को उन्हें सहयोग देना चाहिये क्योंकि भगवान् धन्वन्तरि भारतीय संस्कृति के अनुसार स्वास्थ्य और जीवन प्रदान करनेवाले देवता हैं और उनके अमृतकलश से ही देवताओं को अमरत्व प्राप्त हुआ था अतः वे प्राणीमात्र के लिये उसी प्रकार पूज्य हैं जैसे धन के लिये लक्ष्मी और कुबेर, विद्या के लिये सरस्वती और गणेश तथा शक्ति के लिये दुर्गा और हनुमान।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० जिसके तत्वावधान में यह उत्सव मनाया जा रहा है उसकी कतिपय विशेषताओं के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डालना उचित है। श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० सिर्फ एक व्यापारिक संस्था नहीं है बल्कि एक आयुर्वेद प्रचारक तथा मानव सेवक प्रतिष्ठान है। आयुर्वेद के प्रचार के लिये तथा वैद्य समाज व जनसाधारण की सेवा के लिये इसकी तरफ से 'सचित्र आयुर्वेद' नामक एक उच्च कोटि की मासिक पत्रिका निकलती है। उस संस्था का प्रकाशन-विभाग बहुत सुन्दर है। उसके द्वारा आयुर्वेद के अधिकारी विद्वानों की उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, यथा शारीरक्रिया विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, मानसरोग-विज्ञान, सिद्धयोग

संग्रह, आरोग्य प्रकाशादि। भवन का एक रिसर्च विभाग भी है जो इस समय काशी विश्वविद्यालय के अनुभवी वनस्पति विशेषज्ञ प्रोफेसर श्री बलवन्तसिंह जी के निरीक्षण में वनस्पति सम्बन्धी रिसर्च में कार्यरत है। यह भवन का आयुर्वेदोद्धार विषयक कार्यक्रम है। अब उसके द्वारा मानव सेवा का जो धार्मिक कार्य हो रहा है उसका उल्लेख करना भी आवश्यक है। तद्यथा अनेक स्थायी धर्मार्थ औषधालय चलाना, श्वास, मधुमेह, अपस्मार आदि कष्टसाध्य रोगों की औषधि बिना मूल्य वितरण करना, मेले, बाढ़ आदि के समय तत्कालीन धर्मार्थऔषधालय खोलना, आयुर्वेद के विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देना इत्यादि। औषधियों की उत्तमता के सम्बन्ध में कुछ कहना ही नहीं है। उच्च कांग्रेसी नेताओं धर्माचार्यों और प्रमुख सरकारी अधिकारियों के अनेक प्रशंसापत्र इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और स्वतः मैंने भी इनका उपयोग संतोषप्रद पाया है।

"अन्त में आप सबके सहयोग के लिये मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिसके कारण आज का यह पर्व सफलतापूर्वक सम्पादित हो सका।"

आरा बिक्री केन्द्र में

७-११-५० को सायंकाल ७ बजे श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के स्थानीय बिक्री केन्द्र में शाहाबाद जिला आयुर्वेद सम्मेलन के सभापति श्री नारायण दत्तजी मिश्र आयुर्वेदाचार्य के सभापतित्व में धन्वन्तरि जयन्ती समारोह मनाया गया। नगर के विद्वान् वैद्य एवं अनेक प्रतिष्ठित सज्जनों ने भगवान् धन्वन्तरि को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

अनेक विद्वानों के भाषण के पश्चात सभी ने एक मत से आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा घोषित करने का प्रस्ताव स्वीकृत किया। अध्यक्ष महोदय ने आयुर्वेद के हितार्थ की गई सेवाओं के लिये श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की प्रशंसा की। अध्यक्ष ने जोरदार शब्दों में घोषित किया कि भारत में केवल श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० आयुर्वेदोन्नति के लिये प्रयत्नशीलों में अग्रणी है।

अन्त में बिक्री केन्द्र के अध्यक्ष पं० महादेव प्रसाद जी वैद्य ने विद्वान् वैद्यों एवं आगत सज्जनों को धन्यवाद-प्रदान किया। जलपानोत्तर समारोह समाप्त हुआ।

बस्ती

गत ७-११-५० को श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के बिक्री केन्द्र बस्ती में श्री धन्वन्तरि महोत्सव सायंकाल ५ बजे से पं० बाबूरामजी वैद्य के सभापतित्व में मनाया गया। आगत सज्जनों में सर्व श्री रामचरित्रजी वैद्य, पं० देवनाथजी वैद्य, पं० रामलखनजी वैद्य तथा पं० ब्रह्मशङ्करजी शास्त्री प्रभृति विद्वानों के व्याखान हुए। प्रसाद वितरण के पश्चात् सभा विसर्जित हुई।

गया

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के सोल एजेंट 'दी गया माहुरी ट्रेडिङ्ग कम्पनी, के विशाल भवन में धन्वन्तरि महोत्सव श्री बसुरिया बाबा के सभापतित्व में सोत्साह मनाया गया। वैद्य समाज ने आयुर्वेद की कठिन समस्याओं के हल पर विचार किया।

उज्जैन

ता०-७-११-५० को सायंकाल साढ़े सात बजे डाक्टर दुर्गाशंकरजी नागर, उज्जैन की अध्यक्षता में श्री अवन्तिका आयुर्वेद विद्यापीठ के तत्वावधान में धन्वन्तरि जन्मोत्सव मनाया गया। उत्सव में जनता, वैद्यबन्धु एवं छात्रों की उपस्थिति पर्याप्त थी।

उस दिन के प्रमुख वक्ताओं में, श्री रतन लालजी नौसलया एम० ए० साहित्यायुर्वेद रत्न, प्रो० डांगे, श्री कन्हैया लाल जी वैद्य (पत्र कार) तथा नगर काँग्रेस कमिटी के अध्यक्ष श्री शिवशंकर जी रावत थे। श्री कान्हरकर शास्त्री का आयुर्वेद के महत्व पर संस्कृत में भाषण हुआ।

अध्यक्ष महोदय का भाषण सामयिक एवं सारगर्भित था।

अन्त में प्रधान अचार्य श्री पं० वासुदेव जी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य ने समागत सज्जनों के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए अयुर्वेद की उपादेयता पर अपने विचार व्यक्त किए।

कटनी

श्री धन्वन्तरि महोत्सव प्राणाचार्य श्रीप्रयागदत्त राजवैद्य के यहाँ बड़े समारोह के साथ मनाया गया। नगर के सभी गण्यमान सज्जन एवं जन साधारण की उपस्थिति पर्याप्त थी। वैद्य महानुभावों के भाषण भी हुए। भगवान धन्वन्तरि के चित्र का पूजन, नीराजन एवं प्रसाद वितरण के बाद समारोह समाप्त हुआ।

राँची

ता० ७।११।५० को गणपति संस्कृत कालेज के आयुर्वेद विभाग में बड़े समारोह के साथ धन्वन्तरि जयन्ती मनायी गयी। सभापतित्व श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने किया। सभा में कई विशिष्ट नागरिक विद्वानों के भाषण हुए। "मानव और आयुर्वेद" विषय की लेख प्रतियोगिता में प्रथम, द्वितीय, तृतीय आए हुए लेखों का पाठ हुआ।

अध्यक्षीय भाषण के बाद एक छोटा सा संस्कृत का अभिनय भी दिखाया गया।

इस्लामपुर

श्री धन्वन्तरि जन्म महोत्सव वैद्यराज पं० विरंचि लाल जी शर्मा आयुर्वेदाचार्य के सभापतित्व में धूमधाम से मनाया गया। देवपूजादि कार्य सम्पन्न होने के बाद, धन्वन्तरि भगवान के अवतार की कथा हुई। तदुपरान्त एक प्रस्ताव द्वारा अयुर्वेद की प्राचीनता एवं महानता बतलाते हुए सरकार से प्रार्थना की गयी कि वह आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति स्वीकार करें। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि जनता राज्याधिकारी तथा नेताओं ने आयुर्वेदीय चिकित्सापर विश्वास प्रकट किया है—इस तरह जनमत इसके पक्ष में है। अतः सरकार को चाहिए कि वह केन्द्र तथा प्रान्तों में आयुर्वेद का स्वतंत्र विभाग खोले।

अन्त में धन्वन्तरि-मन्दिर रतनगढ़ के लिए उदारतापूर्वक दान देने की अपील की गयी और सधन्यवाद सभा विसर्जित हुई।

पानीपत

आयुर्वेद प्रवर्त्तक भगवान् धन्वन्तरि का जन्मोत्सवसोत्साह मनाया गया। प्रातः हवन तथा पूजन हुआ। रात में बाबू भगवान् जी बी० ए० एल० एल० बी० एडभोकेट के सभापतित्व में सार्वजनिक सभा हुई। इसमें शहर के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। उस अवसर भगवान धन्वन्तरि के जीवन तथा आयुर्वेद पर विद्वानों द्वारा प्रकाश डाला गया।

बाँदा

बाँदा में श्रीधन्वन्तरि जयन्ती महोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया गया, जिसमें स्थानीय एवं निकटवर्त्ती गण्यमान्य वैद्य तथा अन्य महानुभाव काफी संख्या में उपस्थित हुए। पं० मोहनलालजी आयुर्वेदाचार्य ने भगवान् धन्वन्तरिजी का स्तवन करते हुए आयुर्वेद की महत्ता पर सारगर्भित भाषण दिया।

रतनगढ़ (बीकानेर)

ता० ७-११-५० को सायं ४ बजे धन्वन्तरि मंदिर के स्थान पर माननीय श्री वैद्य सूर्यमलजी गौड़ के सभापतित्व में एक महती सभा हुई जिसमें नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की काफी उपस्थिति थी।

धन्वन्तरि पूजन के अनन्तर वैद्य श्री घनश्यामजी मन्त्री तहसील वैद्य सभा रतनगढ़ ने अपने भाषण में आयुर्वेद को सर्वाङ्गीण बनाने की आवश्यकता बतलाई. अनन्तर वैद्य धनाधीशजी ऋषिकुल आयुर्वेद फार्मेसी ने धन्वन्तरि के विषय में विवेचन किया।

पुनः अ० भा० विद्यापीठ के सभापति श्री मणिरामजी शर्मा भिषगाचार्य ने बननेवाले धन्वन्तरि मन्दिर की आवश्यकता बतलाते हुए आय-व्यय का विवरण सुनाया। अनन्तर सर्वसम्मति से आयुर्वेद-चिकित्सा राष्ट्रीय चिकित्सा होनी चाहिए यह प्रस्ताव पास करके प्रधान मन्त्री देहली, सभापति संसद देहली प्रधान मन्त्री राजस्थान और प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन जोधपुर तथा जिला वैद्य सम्मेलन को पत्र भेजे गये।

अन्त में सधन्यवाद सभापति जी की आज्ञा से कार्यवाही समाप्त की गई।

नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ

९०१८, कर्नाट सरकस, नई देहली।

सन् १९५१ वर्षीय परीक्षा संबंधी सूचनायें

१—परीक्षाएँ २६ मार्च, १९५१ से आरम्भ होंगी।

२—परीक्षा शुल्क (प्रतिखण्ड):—आयुर्वेदाचार्य १५) रु०, आयुर्वेद विशारद १०) रु०, आयुर्वेद-भिषक् ७) रु०।

३—परीक्षा सम्बन्धी आवेदन पत्र प्राप्त करने के लिये परीक्षा शुल्क अग्रिम कार्यालय में भेजना होगा शुल्क भेजते समय इसका विवरण तथा प्रेषक का पूरा पता (Address) मनीआर्डर कूपन पर स्पष्टतया लिखना चाहिये ताकि उसी अनुपात से आवेदन पत्र भेजे जा सकें। इसके अतिरिक्त प्रति आवेदन पत्र का मूल्य ≈) दो आना होगा।

४—कार्यालय शुल्क प्राप्ति रसीद संख्या (Receipt Number) मनीआर्डर की वापसी रसीद पर लिखी होगी। यही संख्या कार्यालय से भेजे जानेवाले आवेदन पत्र पर भी लिखित होगी। उक्त रसीद का सुरक्षित रखा जाना तथा पत्र-व्यवहार में इसका उल्लेख आवश्यक है।

५—शुल्क प्राप्ति की अन्तिम तिथि १५ दिसम्बर, १९५० है। इसके पश्चात् ता० ३१ दिसम्बर, १९५० तक १) रु० तथा १५ जनवरी, १९५१ तक २) रु० विलम्ब शुल्क सहित ही शुल्क स्वीकार किया जा सकेगा

६—आवेदन पत्र की कार्यालय में प्राप्ति की अन्तिम ता० ३१ दिसम्बर, १९५० होगी। तत्पश्चात् ता० १५ जनवरी १९५१ तक १) रु० दण्ड शुल्क सहित ही आवेदन पत्र स्वीकार हो सकेगा।

७—विद्यापीठ से सम्बद्ध-संस्थाओं तथा स्वीकृत अध्यापक महानुभावों को चाहिये कि वे (क) अपना सम्बद्धता, सदस्यता शुल्क ३१ दिसम्बर, १९५० तक अवश्य भेज दें तथा (ख) परीक्षार्थियों के आवेदन पत्रों को प्रत्येक अंश में भली प्रकार देखभाल कर उनपर हस्ताक्षर करें क्योंकि आवेदन पत्रों के भरने में की गई असावधानी और उससे होनेवाली हानि के उत्तरदायी सर्वथा वही होंगे।

८—इस वर्ष से जालन्धर, पटियाला, भटिण्डा, मेरठ, जालना तथा बीजापुर भी परीक्षाओं के लिये केन्द्र स्थापित किये गए हैं।

रामगोपाल शास्त्री
विद्यापीठ मंत्री

आयुर्वेदिक व्याख्यान माला

मुम्बई के प्रभुराम आयुर्वेदिक कालेज तथा महा गुजरात वैद्य मण्डल की ओर से सहयोगी आयुर्वेद जगत् के सम्पादक तथा मुम्बई प्रान्तीय आयुर्वेदिक बोर्ड के एक सदस्य श्री प्रताप कुमार वैद्य के प्रयत्न से मुम्बई में गत १० सितम्बर से आयुर्वेदिक व्याख्यान-माला की आयोजना हुई है। व्याख्यान विशेषतः वैद्यों और विद्यार्थियों के हितार्थ रखे गए हैं। एक-एक व्याख्यान पन्द्रह-पन्द्रह दिन के अन्तर से होता है। वक्ता तथा उनके विषय निम्नलिखित हैं—

वक्ता	विषय
१. श्री दुर्गाशंकर शास्त्री (गुजरात के प्रख्यात संशोधक)	आयुर्वेद के संशोधन में उपयोगी दृष्टि।
२. श्री वेणीमाधवजोशी (भूतपूर्व प्रिन्सपल आयुर्वेद महाविद्यालय, सातारा, सदस्य आयुर्वेदिक फैकल्टी तथा बोर्ड)	निदान चिकित्सा में दूष्य (धातुमल) का स्थान।
३. वैद्य बापालाल भाई (प्रिन्सिपल आयुर्वेद महाविद्यालय सूरत)	अश्वकंचुकी, आरोग्यवर्धनी और स्वच्छी एक दृष्टि
४. श्री भास्कर वि० गोखले (प्रिन्सिपल, आयुर्वेद महा विद्यालय पूना, सदस्य आयुर्वेद फेकल्टी	ज्वर का व्यावर्तक निदान
५. श्री गणेश शास्त्री जोशी (पूना के प्रसिद्ध विद्वान वैद्य)	दोष दृष्टिर्भवेद् वैद्यः
६. वैद्य लक्ष्मीशंकर शास्त्री (अहमदाबाद के विद्वान वैद्य)	अतिसारों का व्यावर्तक निदान और उनकी चिकित्सा।
७. वैद्य बलवन्त शर्मा दीक्षित--(जामनगर आयुर्वेद विद्यालय के अध्यापक आयुर्वेदिक बोर्ड के सदस्य अनेक शास्त्र विशारद)	पदार्थ विज्ञान और आयुर्वेद।
८. वैद्य नागरदास पाठक—(आयुर्वेद महाविद्यालय पाटण के भूतपूर्व प्रिन्सिपल)	त्रिदोष।
९. वैद्य सुन्दरलालजी जोशी—(प्रिन्सिपल आयुर्वेद महाविद्यालय नडियाद)	ब्लडप्रेसर।
१०. वैद्य विन्दुमाधव पण्डित (मराठी आयुर्वेद पत्रिका के सम्पादक प्रतिभाशाली वैद्य)	आयुर्वेद और मीमांसा।
११. डा० प्राणजीवन मेहता, एम० डी० एम० एस०, (प्रिन्सपल जामनगर आयुर्वेद महाविद्यालय, प्रसिद्ध आयुर्वेद प्रेमी)	प्राचीन और अर्वाचीन आतुर परीक्षा।
१२. वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य	दोष।

धन्वन्तरि मन्दिर, बीकानेर

ता० १५-१०-५० को सायंकाल ५ बजे पं० बालूरामजी की अध्यक्षता में श्री धन्वन्तरि मन्दिर समिति की बैठक हुई। जिसमें उपस्थित निम्न प्रकार थी।

श्री वैद्य मणिरामजी महाराज
पं० पूर्णानन्दजी, व्याकरणायुर्वेदाचार्य
,, नारायण प्रसाद शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य
,, गोविन्दराम शास्त्री

सर्व सम्मति से बैठक में निश्चय हुआ कि सभापति महोदय का सुझाव नहीं आने के कारण पुनः स्मृति-पत्र भेजा जाय। और उस दिन समिति की कार्यवाही स्थगित कर दी गयी।

पुनः १६-१०-५० को सभापति महोदय का स्मृति-पत्र प्राप्त होने पर समिति की बैठक हुई।

उपस्थिति इस प्रकार थी—

श्री वैद्य मणिरामजी, शर्मा भिषगाचार्य
" पूर्णानन्दजी आयुर्वेदाचार्य
" घनश्यामजी शास्त्री
" पं० नारायणदत्त शास्त्री
" गोविन्दरामजी शास्त्री

समिति की बैठक में निम्नलिखित सज्जनों की सम्मतियां पढ़ी गयीं।

श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक
" यादवजी महाराज
" सभाकान्तजी झा (संपादक सचित्र-आयुर्वेद)
" मंगलदासजी महाराज
श्री शंकरदत्तजी बीकानेर
" आचार्य नित्यानन्द पिलानी
" वैद्य वैजनाथ शर्मा आयुर्वेदाचार्य
" प० माधवप्रसाद शास्त्री (सम्पादक जय आयुर्वेद)

इन सज्जनों द्वारा बतलाये गए संशोधनों के बाद सर्व सम्मति से यह निश्चय किया गया कि प्रस्तावित धन्वन्तरि मन्दिर के उद्देश्य-पत्र में परिवर्तन किया जाय।

विद्यालय को पहले प्रायोगिक विशेषता दी जाय। औषधालय तथा आतुरालय आदि का संशोधित रूप किया जाय।

यह भी निश्चय हुआ कि संशोधित उद्देश्य-पत्र छपवा लिये जाँय। मन्दिर के सहायतार्थ अपील में नाम देने के लिये वैद्यों के पास अनुमति के लिये पत्र भेजे जाँय।

यक्ष्मा के टिकट डाकखानों में मिलेंगे

भारत सरकार के सूचना विभाग की ओर से प्रकाशित एक विज्ञप्ति में कहा गया है कि भारत के यक्ष्मा संघ की प्रार्थना पर, देश के समस्त डाकखाने यक्ष्मा विरोधी टिकटें बेचेंगे। टिकट का मूल्य एक आना है। इसका विक्रय ६ नवम्बर से आरम्भ हो गया और आगामी २६ जनवरी १९५१ को समाप्त हो जायगा। इन टिकटों के ताव भी होते हैं। प्रत्येक ताव में ३५ टिकट होते हैं, और ताव का मूल्य दो रुपये तीन आने होते हैं।

दमे के लिए दवा का मुफ्त वितरण

शरत्पूर्णिमा के अवसर पर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की सभी शाखाओं में बृहद् आयोजन

गत शरद् पूर्णिमा (आश्विन पूर्णिमा, २६ अक्टूबर १६५०) की रात्रि को श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के कलकत्ता, पटना और झांसी निर्माण-केन्द्रों में चित्रकूट की दमे की जड़ी का मुफ्त वितरण किया गया।" पटना-कार्यालय में उपस्थिति सब से अधिक रही। भवन को चिरैयाटांड स्थित बिल्डिंग के विशाल प्रांगण में इसका बृहद् आयोजन किया गया था। दवा सेवन करने के लिये खीर आदि का प्रबन्ध कार्यालयकी ओरसे ही किया गया था। प्रांत भर के दूर-दूर जिलों से सैकड़ों व्यक्ति दवा-सेवन करने के लिये आये हुए थे। रात भर भजन-कीर्तन होता रहा। औषध सेवन कर सभी व्यक्ति प्रातःकाल प्रसन्नचित्त अपने-अपने घर गये। इसी प्रकार के आयोजन कलकत्ता, झांसी और नागपुर कार्यालयों में भी किये गये। कार्यालयों में आकर दवा सेवन करने वालों के अतिरिक्त हजारों व्यक्तियों ने दवा मँगाकर अपने घर पर सेवन की।

हर साल शरद्पूनो के अवसर पर श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की सभी शाखाओं में यह पुनीत आयोजन किया जाता है। 'चित्रकूट की दमे की जड़ी' के नाम से प्रसिद्ध यह दवा वास्तव में तीन वृक्षों की छाल है। इस की एक खुराक शरद्पूनो की रात को खायी जाती है। इससे दमा के ७५ प्रतिशत रोगी अच्छे होते हैं। इस दवा में कुछ ऐसा असर है कि एक खुराक में ही बहुत पुराना दमा भी आराम हो जाता है। लगातार चार वर्ष तक हर शरद्पूनो पर इसका सेवन करने से फिर दमा होने का भय नहीं रहता।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के कलकत्ता, पटना, झांसी और नागपुर निर्माण-केन्द्रों में शरत्पूर्णिमा की रात्रि को क्षीर के साथ यह दवा मुफ्त दी जाती है। जो रोगी कार्यालय में आकर दवा सेवन करना चाहें, उन्हें १५ दिन पूर्व कार्यालय में सूचना दे देनी चाहिए। आजकल की यात्रा का कष्ट देखते हुए भवन ने निश्चय किया है कि यह योग श्वास-रोगियों को घर पर ही पहुंचा दिया जाय और इसका मूल्य न लिया जाय। अतः पोस्टेज के लिए ।≡) सात आने भेजकर भादों और आश्विन में हमारे किसी भी निर्माण-केन्द्र से यह दवा मंगायी जा सकती है।

यह दवा साल में सिर्फ एक दिन यानी शरद पूनो (आश्विन पूर्णिमा) को रात्रि में नीचे लिखी विधि के अनुसार सेवन की जाती है।

गाय के दूध की खीर बनाएँ। खीर में मिश्री, चीनी, गुड़ आदि किसी किस्म का मीठा नहीं मिलाना चाहिए। ठण्डी हो जाने पर आधा पाव खीर मिट्टी के नये बर्तन (सकोरा) में रखकर तथा उसमें दवा मिलाकर साफ-सुथरी खुली जगह में रख देना चाहिए, ताकि उसमें शरत्पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र की अमृत बरसानेवाली किरणें पूरी तरह से पड़ती रहें। रोगी को स्वयं भी खीर के सामने बैठकर ईश्वर का भजन-कीर्तन करते हुए रात भर जागरण करना चाहिए। प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त्त में ४-५ बजे शौच, दातुन आदि से निवृत्त हो, उस खीर को खाकर २-३ मील खुली हवा में टहलना चाहिए। तदुपरान्त इष्ट देवता का दर्शन करके अपने दैनिक कार्य में लगना चाहिए।

अभिनव वैद्यनाथ प्रकाशन

त्रिदोषतत्त्व-विमर्श

लेखक—**वैद्य रामरक्ष पाठक,** *आयुर्वेदाचार्य*

वर्तमानकालिक विभिन्न आयुर्वेदीय पाठ्यक्रमों तथा पठनशैलियों के कारण एवं आयुर्वेद के इस मूलभूत सिद्धान्त—त्रिदोष के अध्यापनार्थ उपयुक्त ग्रन्थ के अभाव के कारण आयुर्वेद के विद्यार्थियों की मनोवृत्ति को आयुर्वेद के स्तम्भभूत त्रिधातु-सिद्धान्त से विचलित होते देख यह आवश्यकता प्रतीत हो रही थी कि इस विषय पर समुचित प्रकाश डाला जाय। इस 'त्रिदोषतत्त्व-विमर्श' का प्रणयन करके आयुर्वेद-संसार के सुप्रसिद्ध विद्वान्, शिक्षक, ग्रन्थकार और कर्मठ कार्यकर्ता वैद्यराज पं० रामरक्ष जी पाठक, आयुर्वेदाचार्य, प्रिन्सिपल, श्री अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय, ने उस महती आवश्यकता की पूर्ति की है। आयुर्वेद के विद्यार्थियों और विद्वत्समाज के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं—"इस ग्रन्थ में वात-पित्त-कफ—ये मनुष्य शरीरस्थ अनेक द्रव्यों के तीन वर्ग हैं—इस तथ्य को ध्यान में रख कर वात-पित्त-कफ का सामान्य स्वरूप, इनके प्राचीन ग्रन्थोक्त भेद, प्रत्येक भेद का प्रधान स्थान (कार्यक्षेत्र) और उनकी क्रियाओं का सविस्तर वर्णन किया गया है। साथ-साथ में विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए आधुनिक शरीर-क्रिया-विज्ञान (फिजियोलोजी) के साथ तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है। वात-पित्त-कफ के प्राचीन ग्रन्थों में जो भेद वर्णित हैं, वे उस समय में विशेष रूप से आविष्कृत (ज्ञात) हुए भेद हैं। आधुनिक क्रिया-शारीर में इनके अतिरिक्त दूसरे अनेक द्रव्यों का वर्णन पाया जाता है। प्राचीन ग्रन्थोक्त भेदों में कुछ दोषों के भेद स्वतन्त्र नहीं, परन्तु अनेक अवान्तर भेदों के वर्ग हैं। जैसे—पाचक पित्त, दोषों के स्थान और कर्मों के विषय में संहिताग्रन्थों में जो वर्णन मिलता है, उसमें कहीं-कहीं विभिन्नता पायी जाती है। इन सब विषयों का भी इस ग्रन्थ में विचार किया गया है। पाठक जी का यह ग्रन्थ त्रिदोषतत्त्व के जिज्ञासु वैद्यों, आयुर्वेदाध्यापकों और आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त होगा, ऐसी आशा है।" मूल्य २॥=)

बैद्यनाथ प्राणदा की विशेषताएँ

बैद्यनाथ प्राणदा ही मलेरिया बुखार की सबसे अच्छी दवा है; क्योंकि:

१–तात्कालिक लाभ बैद्यनाथ प्राणदा की २-३ खुराक पीनेसे ही मलेरियाका आना रुक जाता है। यह तात्कालिक लाभ है।

२–स्थायी लाभ बैद्यनाथ प्राणदाकी बड़ी शीशी ४ अथवा छोटी शीशी ८ पीनेसे १०-१२ वर्षसे बराबर आनेवाला मलेरिया भी बिलकुल आराम हो गया, ऐसे सैकड़ों लिखित प्रमाण हैं। साल-छ महीने का मलेरिया तो लाखों का चला गया।

३–वैज्ञानिक प्रमाण सिर्फ ३ खुराक बैद्यनाथ प्राणदा पीनेके बाद ही अणुवीक्षण यन्त्र (खुर्दबीन) से देखने पर रोगी के खूनमें मलेरियाके कीटाणु नहीं पाये जाते।

४–निर्दोषिता जर्मनी, अमेरिकन, इङ्गलिश आदि मलेरियाकी विदेशी दवाओं से मलेरिया नष्ट होनेपर भी अन्यान्य उपद्रव हो जाते हैं। पर बैद्यनाथ प्राणदा से ऐसा नहीं होता।

५–विशेषता मलेरिया और मलेरियासे पैदा होनेवाले सभी उपद्रवोंमें बैद्यनाथ प्राणदा निश्चित फायदा दिखलानेवाली दवा है।

६–आरोग्यता बैद्यनाथ प्राणदाके सेवनसे भूख बढ़ती है, दस्त साफ होता है, खून बढ़ता है तथा शरीर बलवान् होकर पूर्ण तन्दुरुस्ती प्राप्त होती है, जिससे फिर मलेरिया का आक्रमण नहीं हो सकता।

७–उदर-शुद्धि अंतड़ियों में चिपटा हुआ पुराना संचित मल निकाल कर उदर-शुद्धि करने की क्षमता बैद्यनाथ प्राणदा में है। तिल्ली और लीवर (यकृत्) आदि उदर रोगोंकी यह सुन्दर दवा है।

८–कम खर्च इसके द्वारा पाँच-छह रुपयेमें ही बुखारका जैसा बढ़िया इलाज हो जाता है, वैसा डाक्टरों पर सैकड़ों रुपया खर्च करनेसे भी नहीं हो सकता।

९–सुलभता बैद्यनाथ प्राणदा सब जगह मिलता है। ४ कारखाने, ५० से अधिक बिक्रीकेन्द्र तथा १४ हजार से अधिक एजेन्सियों द्वारा सब जगह एक साथ एक ही कीमत में मिलता है।

मूल्य—४ औंस १।), २ औंस ॥-)

हमारे कुछ वैद्योपयोगी प्रकाशन

आरोग्यप्रकाश—वैद्य और सर्वसाधारण सभी के लिए परम उपयोगी है। इस ग्रन्थ की ६८ हजार से अधिक प्रतियाँ छपकर हाथोंहाथ बिक चुकी हैं। ५१५ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य प्रचार की दृष्टि से सिर्फ १।॥) रखा गया है। डाकखर्च ।॥=) है, परन्तु एक साथ तीन प्रति मँगाने पर डाकखर्च कार्यालय देगा।

आयुर्वेद-सारसंग्रह—विशेष रूप से वैद्यों के लिए ही वैद्योपयोगी ज्ञान का संकलन करवा कर इसको हमने प्रकाशित किया है। मूल्य—६) मात्र।

सिद्धयोग संग्रह—आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य के करकमलों द्वारा लिखित ग्रन्थरत्न। मूल्य—२॥) मात्र।

त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श—त्रिदोष सिद्धान्त का विद्वत्तापूर्ण विवेचन।

मूल्य—२॥=) मात्र।

पदार्थविज्ञान—लेखक—पण्डित रामरक्ष जी पाठक, आयुर्वेदाचार्य, प्रिंसिपल, अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कॉलेज, बेगूसराय। मूल्य—३।) मात्र।

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान—लेखक—वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालंकार। 'पदार्थ-विज्ञान' ग्रन्थ में आचार्य पाठकजी ने पदार्थविज्ञान पर अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से विचार किया है। इस ग्रन्थ 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' में पाठकों को आचार्य रणजितराय के स्वतन्त्र मौलिक विचार मिलेंगे। मूल्य—५) मात्र।

मानसरोगविज्ञान—(पूर्वार्द्ध)—स्वर्गीय डा० बालकृष्ण अमर जी पाठक कृत। इस ग्रन्थरत्न में आयुर्वेदीय मनोविज्ञान का विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन हुआ है।

मूल्य—५।) मात्र।

शरीर-क्रिया-विज्ञान—(सचित्र ; द्वितीय आवृत्ति)—'प्रत्यक्षशारीरम्' के साथ इस ग्रन्थरत्न ने आयुर्वेदीय शारीर के पाठ्यग्रन्थों का अभाव दूर कर दिया है।

मूल्य—६) मात्र।

Regd. No.



BAIDYANATH AYURVED BHAWAN
REGISTERED TRADE MARK
CALCUTTA

